डॉ. दीनदयालु गुप्त को
सादर, सविनय

निवेदन

हिंदी के कृष्णभक्त कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ हैं और हिंदी के समस्त कवियों में केवल गोस्वामी तुलसीदास ही उनके समकक्ष माने जाते हैं। इन्हीं महाकवि सूरदास की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत प्रबंध में किया गया है। यद्यपि पिछले लगभग पंद्रह वर्षों में सूर-साहित्य पर कई आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं तथापि उनके काव्य के अनेक पक्षों को विस्तार से लिखने की आवश्यकता अभी बनी ही हुई है। प्रस्तुत प्रबंध सूरदास की भाषा के अध्ययन की दिशा में एक प्रयास है। सूरदास व्रजभाषा के प्रथम प्रतिष्ठित कवि हैं—ऐसी स्थिति में उनकी भाषा के अध्ययन की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है।

यह प्रबंध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश के रूप में है। इसमें व्रजभाषा और सूरदास की भाषा के अध्ययन के इतिहास की रूपरेखा दी गयी है। इसके आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज के पूर्व सूरदास की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन नहीं किया गया था और इस दिशा में प्रस्तुत प्रबंध सर्वथा मौलिक प्रयास है। इस प्रकार का अध्ययन न किये जाने के कारणों पर संक्षेप में विचार करने के पश्चात्, प्रथम अध्याय में ही, प्रस्तुत प्रबंध का क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय से ग्रंथ का मुख्य भाग आरंभ होता है। यह अध्याय दो भागों में विभाजित है। प्रथम में व्रज और व्रजभाषा का संक्षिप्त परिचय, व्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार और साहित्य में उसके प्रयोग का आरंभ आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में सूरदास के पूर्ववर्ती हिंदी कवियों की कृतियों में प्राप्त व्रजभाषा-रूप की चर्चा है। इसके पश्चात्, सूरदास और व्रजभाषा के संबंध पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय भी दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में व्रजभाषा के ध्वनि-समूह और सूरदास के तत्संबंधी प्रयोग दिये गये हैं। इसके अंतर्गत स्वरों के सामान्य, अनुच्चरित, सानुनासिक और संयुक्त प्रयोगों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार व्यंजनों के भी सामान्य और संयुक्त रूपों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में सूरदास के शब्द-समूह का वर्गीकरण करते हुए पूर्ववर्ती भाषाओं, समकालीन बोलियों और विभाषाओं एवं देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों के साथ-साथ देशज और अनुकरणात्मक शब्दों की भी चर्चा की गयी है। सूरदास के तत्सम शब्द-प्रयोग के अध्ययन की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्व का है; क्योंकि प्रबंध के

अगले अध्यायों में सूरदास के अर्द्धतत्सम और तद्भव प्रयोगों की ही चर्चा विशेष रूप से की गयी है।

चतुर्थ अध्याय ने प्रबंध का सबसे अधिक भाग घेर लिया है। इसमें सूरदास की भाषा का व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। कवि के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय-प्रयोगों की विशेषताओं के साथ साथ उसकी वाक्य-विन्यास-पद्धति पर भी इसमें विचार किया गया है। इस भाग के संबंध में इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि विभिन्न शब्द-भेदों-उपभेदों के उदाहरणार्थ संकलित अनेक रूप इसमें ऐसे दिये गये हैं जिनकी चर्चा अभी तक व्रजभाषा-व्याकरणों में भी नहीं की गयी है।

पंचम अध्याय पुनः दो भागों में विभाजित है। प्रथम में सूरदास की भाषा के व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय में शास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम के अन्तर्गत विषय, पात्र और मनोभावों के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूपों तथा विभिन्न पात्र-पात्रियों के संवादों और प्रसंगों एवं सूक्तियों की भाषा की विवेचना है। द्वितीय भाग में सूर-काव्य में प्रयुक्त विभिन्न छंद, शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति और रस-भेदों के अनुसार भाषा-रूपों की समीक्षा की गयी है। इस अध्याय के अंत में शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से सूरदास की भाषा के खटकनेवाले प्रयोगों के भी कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में सांस्कृतिक दृष्टि से सूरदास की भाषा का अध्ययन है। इसमें सूर-साहित्य की मुख्यतः ऐसी शब्दावली का अध्ययन किया गया है जो तत्कालीन जन-जीवन और सांस्कृतिक विचारों का परिचय कराने में सहायक हो सकती है। भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण की जानकारी तो इस शब्दावली से होती ही है, तत्कालीन खानपान, वस्त्राभूषण, व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ, खेल-व्यायाम, वाणिज्य-व्यवसाय आदि का संक्षप्ति परिचय भी उससे मिलता है। साथ साथ कवि के समकालीन जनसमुदाय के सामाजिक, पौराणिक और धार्मिक विश्वासों, पर्वोत्सवों, संस्कारों आदि पर भी इस अध्याय से प्रकाश पड़ता है।

सप्तम अध्याय 'उपसंहार' के रूप में है जिसमें समकालीन और परवर्ती व्रजभाषा-कवियों से सूरदास की भाषा की संक्षेप में तुलना की गयी है और अंत में व्रजभाषा की समृद्धि में सूरदास के योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

प्रबंध के अन्त में प्रथम परिशिष्ट के अन्तर्गत सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या पर विचार किया गया है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—इनमें से सर्वनाम और क्रिया-रूप कवि-विशेष की भाषा का अध्ययन करते समय अपेक्षाकृत अधिक महत्व के समझे जाते हैं। अतएव इस परिशिष्ट में भी सूरदास की भाषा में प्रयुक्त संज्ञा, विशेषण और अव्यय शब्दों की संख्या सामूहिक रूप से बताना ही पर्याप्त समझा गया है; और सर्वनाम एवं क्रिया-रूपों की निश्चित संख्या देने का प्रयास किया गया है। सर्वनाम के मूल और विकृत रूपों की गणना चौथे अध्याय के आधार पर की गयी है और क्रिया-

रूपों की संख्या पर विचार करने के पश्चात् सूर के लगभग एक हजार ऐसे क्रिया-शब्दों की सूची दी गयी है जिनके विकृत रूपों का प्रयोग सूर-काव्य में निस्संकोच किया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में सूर-साहित्य और उसकी संपादन-समस्या की चर्चा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सूर-काव्य से लगभग नौ हजार उदाहरण दिये गये हैं। प्रायः प्रत्येक स्थल पर उदाहरणों की संख्या विशेष उद्देश्य से घटायी-बढ़ायी गयी है। जिस शब्द-रूप के साथ चार या अधिक उदाहरण दिये गये हैं, उसका प्रयोग सूरदास के समस्त काव्य में समझना चाहिए और जिसके तीन उदाहरण दिये गये हैं, वह रूप सर्वत्र तो नहीं मिलता, फिर भी उसका प्रयोग बहुत अधिक किया गया है। दो उदाहरण ऐसे शब्दों के साथ दिये गये हैं जिनका प्रयोग सूरदास ने अधिक नहीं किया है और एक उदाहरण बहुत कम अथवा अपवादस्वरूप प्रयुक्त होनेवाले रूपों के साथ दिया गया है। इस प्रकार उदाहरणों की संख्या से ही परोक्ष रूप से पता चल जाता है कि कवि का वह विशिष्ट प्रयोग है या सामान्य, उसके काव्य में वह अधिक प्रयुक्त हुआ है या कम अथवा अपवादस्वरूप ही। इन पंक्तियों के लेखक का निश्चित मत है कि ऐसा करने से प्रबन्ध के कलेवर की थोड़ी-वृद्धि भले ही हुई हो, परन्तु इससे अनेक उपयोगी सूचनाएँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। प्रबन्ध का कलेवर अवांछनीय रूप से बढ़ने न देने के लिए उदाहरणों का उतना ही अंश सर्वत्र उद्‌धृत किया गया है जितना स्थल-विशेष पर विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि अधिकांश स्थलों पर पूरा-पूरा पद या चरण न देकर केवल एक शब्द, वाक्यांश या उपवाक्य का ही उद्‌धृत करना पर्याप्त समझा गया है। भाषा-विज्ञान, व्याकरण अथवा साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ भी अनावश्यक समझकर प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं दी गयी हैं।

उदाहरणों के संकलन के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ एक से अधिक चरण या पद उद्‌धृत किये गये हैं, वहाँ प्रायः सदैव इसका ध्यान रखा गया है कि वे सभी, एक ही स्कंध के न होकर विभिन्न स्कंधों से दिये जायँ। यदि कारणवश कहीं एक ही स्कन्ध के उदाहरण देने पड़े हैं, तब उनका संकलन विभिन्न प्रसंगों से किया गया है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध : पूर्वार्द्ध से संकलित उदाहरण, इस पद्धति को अपनाने के कारण बहुत रोचक और उपयोगी हो गये हैं। प्रबन्ध के समस्त उदाहरणों को व्यवस्थित क्रम से ही देने का सर्वत्र प्रयत्न किया गया है। अधिकांश स्थलों पर तो अकारादि क्रम का निर्वाह किया गया है, परन्तु जहाँ यह क्रम नहीं निभ सका है, वहाँ स्कन्ध और पद-संख्या के क्रम का ध्यान रखा गया है। ऐसा करने में लेखक को कुछ समय अवश्य अधिक देना पड़ा, परन्तु इससे उदाहरण ढूँढ़ने में निश्चय ही विशेष सुविधा होगी।

'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर-सारावली' की प्रामाणिकता यद्यपि अभी सर्वमान्य नहीं है, तथापि प्रस्तुत प्रबन्ध में यत्र-तत्र उनकी भी भाषा की चर्चा की गयी है; क्योंकि विद्वानों का एक वर्ग इन दोनों को सूरदास की ही रचनाएँ मानता है। 'सूर-सागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के जिन संस्करणों को लेखक ने अध्ययन का

आधार बनाया है वे क्रमशः नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; और पुस्तकभण्डार, लहरियासराय से प्रकाशित हैं। अन्य स्थानों से प्रकाशित इन ग्रंथों के दूसरे संस्करणों से भी कहीं कहीं उदाहरण दिये गये हैं; परन्तु ऐसा प्रायः उन्हीं स्थलों पर किया गया है जहाँ पाठ में पूर्वनिर्देशित संस्करणों से कुछ भिन्नता या विशेषता दिखाने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

प्रस्तुत अध्ययन से यह तात्पर्य भी नहीं समझना चाहिए कि सूरदास के समकालीन और परवर्ती, अष्टछाप-संप्रदाय और अन्य व्रजभाषा - कवियों की भाषा-सेवा का महत्व लेखक की दृष्टि में कम है। वस्तुतः किसी भी साहित्यिक भाषा का निर्माण दस-बीस वर्षों में नहीं होता और न यह कार्य किसी एक व्यक्ति के लिए संभव ही है, चाहे वह कितना भी बड़ा लेखक या कवि क्यों न हो। अतएव सूरदास के समकालीन और परवर्ती सभी व्रजभाषा-कवियों के सम्मिलित उद्योग से ही इस भाषा की समृद्धि-वृद्धि होना मानना युक्तिसंगत है। सूरदास का इसमें विशेष योग यही था कि उनकी रचना ने व्रजभाषा की व्यापकता और उसके परिष्कार को द्रुत गति प्रदान की। व्रजभाषा के प्रति भक्तों, गायकों और काव्य-प्रेमियों की आकर्षणवृत्ति को स्नेह और सम्मानपूर्ण बनाने में भी सूरदास की सफलता अद्वितीय है, यद्यपि इसके लिए भूमि तैयार करने के कार्य-संपादन में दूसरों का योग भी कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अंत में लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति हृदय से कृतज्ञ है जिन्होंने समय समय पर उसकी सहायता की है। विशेष रूप से लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर दीनदयालु गुप्त का लेखक श्रद्धापूर्वक आभार मानता है जिनके कृपापूर्ण स्नेह का वह पिछले बारह वर्षों से पात्र रहा है और जिनके कृपापूर्ण निर्देशन और सौहार्दपूर्ण प्रोत्साहन से ही यह प्रबंध इस रूप में प्रस्तुत किया जा सका है। प्रसिद्ध विद्वान और साहित्यप्रेमी डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डाक्टर भवानीशंकर याज्ञिक; लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के रीडर डाक्टर भगीरथ मिश्र एवं सहयोगी अध्यापक श्री रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल का भी लेखक बहुत कृतज्ञ है। इन महानुभावों ने प्रबंध की विषय-सूची अथवा पांडुलिपि देखकर बहुमूल्य सुझाव दिये थे। जिन विद्वानों के ग्रंथों से इस प्रबंध में सहायता ली गयी है, उनके, विशेषकर डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। प्रबंध की 'नामानुक्रमणिका' प्रस्तुत करने का श्रेय, लखनऊ विश्वविद्यालय की रिसर्च स्कालर सुश्री मायारानी टंडन, एम० ए०, तथा मेरी पुत्री कृष्णा टंडन को है जिसके लिए मैं उन्हें सस्नेह आशीर्वाद देता हूँ।

— लेखक

विषय-सूची

(ख) शास्त्रीय दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

संकेत-सूची

ना० प्र० सभा	:	नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।
लहरी०	:	'साहित्यलहरी', लहरियासराय।
सा०	:	'सूरसागर', नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।
सागर	:	'सूरसागर', नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।
सा० नकि०	:	'सूरसागर', नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
सा० वें०	:	'सूरसागर', वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।
सा० वे०	:	'संक्षिप्त सूरसागर', डा० बेनीप्रसाद।
सारा०	:	'सूरसागर-सारावली', नवलकिशोर प्रेस और वेंकटेश्वर प्रेस के आरंभ में प्रकाशित।

संकेत-चिह्न

‿	:	क. ह्रस्व रूप।
	:	ख. अनुच्चरित रूप।
>	:	पूर्वरूप से पररूप में परिवर्तन-सूचक।
<	:	पररूप से पूर्वरूप में परिवर्तन-सूचक

१. व्रजभाषा और सूर की भाषा के अध्ययन का इतिहास

विषयप्रवेश--

प्रामाणिक पाठ के अभाव में प्राचीन कवियों की कृतियों के विधिवत् अध्ययन में कठिनाई पड़ती है। स्थूल रूप से यह अभाव उन सभी बातों की जानकारी में बाधक सिद्ध होता है जिनका संबंध अंतःसाक्ष्य से है। पाठ की अप्रामाणिकता के दो रूप होते हैं। एक, पाठ का अशुद्ध रूप और दूसरा, प्रक्षिप्त अंश। कवि के दृष्टिकोण, उद्देश्य, आदर्श, पांडित्य आदि से अवगत विज्ञ आलोचक को किसी ग्रंथ के प्रक्षिप्त अथवा अप्रामाणिक भागों का पता लगाने में अधिक कठिनाई नहीं होती। अतएव संदेहात्मक अंशों को निकाल देने के बाद शेष भाग में केवल पाठ की अशुद्धता का दोष रह जाता है, जिसके बने रहने पर भी भाषा-अध्ययन-कार्य किसी सीमा तक किया जा सकता है। भाषा के अध्ययन के प्रमुख पक्ष, उसका इतिहास, तत्कालीन स्थिति का प्रभाव, शब्द-भांडार, साहित्यिक और आलंकारिक विशेषताएँ, वाक्य-विन्यास, व्याकरण के नियमों का निर्वाह आदि हैं। इनमें से प्रथम पाँच विषयों का अध्येता, प्रामाणिक पाठ के अभाव में भी, किसी न किसी प्रकार अपना काम चला लेता है; परन्तु अंतिम अर्थात् व्याकरण-विषयक अध्ययन के कुछ पक्षों के सूक्ष्म अध्ययन में, वैसी स्थिति में, कुछ बाधा अवश्य पड़ती है। आज से लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व तक, सूर-काव्य का सर्वमान्य प्रामाणिक पाठ सुलभ न होने के कारण उनकी भाषा का अध्ययन उचित रीति से नहीं हो सका। फिर भी, हिंदी के विद्वानों ने इस दिशा में जो कार्य किया, उसका मूल्यांकन करने के पूर्व उक्त कठिनाई को ध्यान में रखना आवश्यक है।

सूर-साहित्य के आलोचकों ने उनकी काव्य-कला के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते समय भाषा के संबंध में, प्रसंगवश ही विचार किया है। स्वतंत्र रूप से और विस्तार के साथ सूरदास की भाषा के विषय में किसी भी विद्वान ने अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं। व्रजभाषा और उसके व्याकरण की विवेचना एवं सूरदास और उनके काव्य की आलोचना के रूप में जो सामग्री आज तक प्रकाश में आयी है, स्थूल रूप से उसे तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :---

क. हिंदी भाषा के इतिहास और व्रजभाषा के व्याकरण।

ख. सूर-काव्य के भूमिका-सहित स्फुट संकलन।

ग. सूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन।

क. हिन्दी भाषा के इतिहास और व्रजभाषा के व्याकरण—

किसी भाषा का इतिहास और उसका व्याकरण, दो स्वतंत्र विषय हैं। परंतु हिंदी में प्रकाशित तत्संबंधी अधिकांश ग्रंथों में सामान्यतया दोनों पर सम्मिलित या मिश्रित रूप से विचार किया गया है। आरंभ में, हिंदी ही नहीं, भारतीय भाषाओं से भी संबंधित इस प्रकार के ग्रंथ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये; परंतु कुछ समय पश्चात् भारतीय लेखकों का भी ध्यान इधर गया। हिंदी के साहित्यिकों ने उन्नीसवीं शताब्दी में तो, संभवतः साधनहीनता के कारण, इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया; परंतु बीसवीं शताब्दी में कुछ संतोषजनक कार्य अवश्य हुआ। हिन्दी भाषा और उसके व्याकरण पर प्रत्यक्ष रूप से और व्रजभाषा-विकास तथा उसके व्याकरण पर परोक्ष रूप से जिन हिन्दी-अहिन्दी ग्रंथों में विचार किया गया है, कालक्रमानुसार उनमें से प्रमुख का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. **तुहफ़तुल 'हिन्द' (व्रजभाषा व्याकरण)**— मिर्जा खाँ-कृत यह प्राचीन व्याकरण औरंगजेब के समय में फारसी भाषा में लिखा गया था। इसकी सूचना सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने सन् १७८४ में दी थी[1]। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १६७५ से कुछ पूर्व होना चाहिए[2]। इस ग्रंथ का एक संस्करण मार्च १९३५ में शांतिनिकेतन के श्री एम. जियाउद्दीन ने 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' के नाम से प्रकाशित किया था। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, इसका 'व्रजभाषा व्याकरण नाम ही भ्रामक है, क्योंकि प्राचीन व्रजभाषा का ठीक ज्ञान कराने में यह ग्रंथ बिलकुल भी सहायक नहीं होता'[3]। फिर भी, हमारी सम्मति में, यदि इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो जाय, तो प्राचीन हिन्दी भाषा-रूपों से सम्बन्धित कुछ विषयों की जानकारी में इससे अवश्य सहायता मिलेगी।

२. **हिन्दुस्तानी व्याकरण**—जैकब जोशुआ केटलेयर की यह पुस्तक सन् १७१५ के लगभग लिखी गयी थी। डेविड मिलिअस ने सन् १७४३ में इसका प्रकाशन किया था[4]। डा० चटर्जी के अनुसार यह 'लेडेन' से प्रकाशित की गयी थी[5]। व्रजभाषा से सम्बन्धित सामग्री इसमें नगण्य ही है और पुस्तक भी अब अप्राप्य है।

३. **व्रजभाषा व्याकरण**—सन् १८११ में प्रकाशित लल्लूलाल के इस ग्रंथ का नाम,

---

१. 'एशियाटिक रिसर्चेज' में प्रकाशित 'आन दि म्युज़िकल मोड्स आव दि हिंदूज' शीर्षक लेख, जिल्द ३, पृ० १।
२. शांतिनिकेतन से प्रकाशित 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ९।
३. 'व्रजभाषा व्याकरण' का 'वक्तव्य', पृ० २।
४. 'व्रजभारती', वर्ष ९, अंक १, पृ० ५।
५. 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० xi।

डा० ग्रियर्सन के अनुसार 'मसादिरे भाषा' था[1]। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने, संभवतः विषय के अनुसार, इसे 'ब्रजभाषा व्याकरण' कहा है[2]। श्री कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' में लल्लूलाल के नाम से 'क़वायद हिन्दी' नामक व्याकरण की चर्चा की गयी है। ये दोनों ग्रंथ सम्भतः एक ही हैं। यह पुस्तक अब अप्राप्य है।

४. **'कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज आव इण्डिया'**—श्री जॉन बीम्स-कृत यह ग्रंथ तीन भागों में प्रकाशित हुआ था—'ध्वनि' शीर्षक प्रथम भाग सन् १८७२ में, 'संज्ञा और सर्वनाम' शीर्षक द्वितीय भाग सन् १८७५ में और 'क्रिया' शीर्षक तृतीय भाग सन् १८७९ में। ग्रंथ के आरम्भ में लगभग सवा सौ पृष्ठों की भूमिका भी है। इस ग्रंथ का दूसरा संशोधित संस्करण आज तक नहीं प्रकाशित हो सका है और न किसी अन्य लेखक ने ही इस ग्रंथ की तरह का हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती मराठी उड़िया तथा बंगाली भाषाओं का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन ही प्रस्तुत किया है। अतएव इस ग्रंथ का मान आज भी पूर्ववत् है, यद्यपि व्रजभाषा-विषयक सामग्री इसमें अपेक्षाकृत बहुत कम है।

५. **'ग्रैमर आव दि हिन्दी लैंग्वेज'**—भारतीय आर्यभाषाओं में केवल हिन्दी से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो सन् १८७६ में प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक श्री कैलाग थे। इस ग्रन्थ में खड़ीबोली के तत्कालीन नवविकसित साहित्यिक रूप के साथ-साथ व्रजभाषा और अवधी का तो तुलनात्मक व्याकरणिक अध्ययन है ही; राजस्थानी बिहारी और मध्य पहाड़ी भाषाओं के नियम भी स्थान-स्थान पर दिये हुए हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में दिया गया व्याकरण-रूपों का विकास भी इसकी एक विशेषता है। सन् १९३८ में इसका संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। हिन्दी व्याकरण का विधिवत् अध्ययन करनेवालों के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रंथ है।

६. **'ग्रैमर आव दि ईस्टर्न हिन्दी'**—श्री रूडल्फ़ हार्नली-कृत यह ग्रंथ सन् १८८० में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि विद्वान लेखक इसमें पूर्वी हिन्दी अर्थात् बिहारी और हिन्दी के व्याकरण की ही विस्तृत विवेचना करना चाहता था, तथापि प्रसंगवश अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित विचार भी यत्र-तत्र इसमें प्रकट किये गये हैं। यही इस ग्रंथ के महत्व का कारण है।

७. **'सेविन ग्रैमर्स आव बिहारी लैंग्वेजेज़'**—सन् १८८३ से १८८७ तक प्रकाशित सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के इस ग्रंथ में यद्यपि बिहारी भाषा के ही व्याकरण की चर्चा मुख्य रूप से है तथापि यत्र-तत्र कुछ उदाहरण हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के भी मिल जाते हैं।

८. **प्राचीन भारतीय लिपिमाला**—म. म. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत यह महत्वपूर्ण ग्रंथ सन् १८९४ में पहली बार प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण चार

---

१. 'व्रजभारती', वर्ष ९, अंक १, पृ० ५।
२. 'व्रजभाषा व्याकरण' का 'वक्तव्य', पृ० १।

ग. सूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन।

क. हिन्दी भाषा के इतिहास और व्रजभाषा के व्याकरण—

किसी भाषा का इतिहास और उसका व्याकरण, दो स्वतंत्र विषय हैं। परंतु हिंदी में प्रकाशित तत्संबंधी अधिकांश ग्रंथों में सामान्यतया दोनों पर सम्मिलित या मिश्रित रूप से विचार किया गया है। आरंभ में, हिंदी ही नहीं, भारतीय भाषाओं से भी संबंधित इस प्रकार के ग्रंथ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये; परंतु कुछ समय पश्चात् भारतीय लेखकों का भी ध्यान इधर गया। हिंदी के साहित्यिकों ने उन्नीसवीं शताब्दी में तो, संभवत: साधनहीनता के कारण, इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया; परंतु बीसवीं शताब्दी में कुछ संतोषजनक कार्य अवश्य हुआ। हिन्दी भाषा और उसके व्याकरण पर प्रत्यक्ष रूप से और व्रजभाषा-विकास तथा उसके व्याकरण पर परोक्ष रूप से जिन हिन्दी-अहिन्दी ग्रंथों में विचार किया गया है, काल-क्रमानुसार उनमें से प्रमुख का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१. तुहफ़तुल 'हिन्द' (व्रजभाषा व्याकरण)— मिर्जा खाँ-कृत यह प्राचीन व्याकरण औरंगजेब के समय में फारसी भाषा में लिखा गया था। इसकी सूचना सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने सन् १७८४ में दी थी[1]। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १६७५ से कुछ पूर्व होना चाहिए[2]। इस ग्रंथ का एक संस्करण मार्च १९३५ में शांतिनिकेतन के श्री एम. जियाउद्दीन ने 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' के नाम से प्रकाशित किया था। डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, इसका 'व्रजभाषा व्याकरण नाम ही भ्रामक है, क्योंकि प्राचीन व्रजभाषा का ठीक ज्ञान कराने में यह ग्रंथ बिलकुल भी सहायक नहीं होता'[3]। फिर भी, हमारी सम्मति में, यदि इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो जाय, तो प्राचीन हिन्दी भाषा-रूपों से सम्बन्धित कुछ विषयों की जानकारी में इससे अवश्य सहायता मिलेगी।

२. हिन्दुस्तानी व्याकरण—जैकब जोशुआ केटलेयर की यह पुस्तक सन् १७१५ के लगभग लिखी गयी थी। डेविड मिलिअस ने सन् १७४३ में इसका प्रकाशन किया था[4]। डा० चटर्जी के अनुसार यह 'लेडेन' से प्रकाशित की गयी थी[5]। व्रजभाषा से सम्बन्धित सामग्री इसमें नगण्य ही है और पुस्तक भी अब अप्राप्य है।

३. व्रजभाषा व्याकरण—सन् १८११ में प्रकाशित लल्लूलाल के इस ग्रंथ का नाम,

---

१. 'एशियाटिक रिसर्चेज' में प्रकाशित 'आन दि म्युजिकल मोड्स आव दि हिंदूज' शीर्षक लेख, जिल्द ३, पृ० १।
२. शांतिनिकेतन से प्रकाशित 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ९।
३. 'व्रजभाषा व्याकरण' का 'वक्तव्य', पृ० २।
४. 'व्रजभारती', वर्ष ९, अंक १, पृ० ५।
५. 'ए ग्रैमर आव दि व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० xi।

डा० ग्रियर्सन के अनुसार 'मसादिरे भाषा' था[1]। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने, संभवतः विषय के अनुसार, इसे 'व्रजभाषा व्याकरण' कहा है[2]। श्री कामता प्रसाद गुरु के 'हिन्दी व्याकरण' में लल्लूलाल के नाम से 'क़वायद हिन्दी' नामक व्याकरण की चर्चा की गयी है। ये दोनों ग्रंथ सम्भवतः एक ही हैं। यह पुस्तक अब अप्राप्य है।

४. 'कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज आव इण्डिया'—श्री जॉन बीम्स-कृत यह ग्रंथ तीन भागों में प्रकाशित हुआ था—'ध्वनि' शीर्षक प्रथम भाग सन् १८७२ में, 'संज्ञा और सर्वनाम' शीर्षक द्वितीय भाग सन् १८७५ में और 'क्रिया' शीर्षक तृतीय भाग सन् १८७९ में। ग्रंथ के आरम्भ में लगभग सवा सौ पृष्ठों की भूमिका भी है। इस ग्रंथ का दूसरा संशोधित संस्करण आज तक नहीं प्रकाशित हो सका है और न किसी अन्य लेखक ने ही इस ग्रंथ की तरह का हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती मराठी उड़िया तथा बंगाली भाषाओं का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन ही प्रस्तुत किया है। अतएव इस ग्रंथ का मान आज भी पूर्ववत् है, यद्यपि व्रजभाषा-विषयक सामग्री इसमें अपेक्षाकृत बहुत कम है।

५. 'ग्रैमर आव दि हिन्दी लैंग्वेज'—भारतीय आर्यभाषाओं में केवल हिन्दी से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो सन् १८७६ में प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक श्री कैलाग थे। इस ग्रन्थ में खड़ीबोली के तत्कालीन नवविकसित साहित्यिक रूप के साथ-साथ व्रजभाषा और अवधी का तो तुलनात्मक व्याकरणिक अध्ययन है ही; राजस्थानी बिहारी और मध्य पहाड़ी भाषाओं के नियम भी स्थान-स्थान पर दिये हुए हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में दिया गया व्याकरण-रूपों का विकास भी इसकी एक विशेषता है। सन् १९३८ में इसका संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। हिन्दी व्याकरण का विधिवत् अध्ययन करनेवालों के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रंथ है।

६. 'ग्रैमर आव दि ईस्टर्न हिन्दी'—श्री रूडल्फ़ हार्नली-कृत यह ग्रंथ सन् १८८० में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि विद्वान लेखक इसमें पूर्वी हिन्दी अर्थात् बिहारी और हिन्दी के व्याकरण की ही विस्तृत विवेचना करना चाहता था, तथापि प्रसंगवश अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित विचार भी यत्र-तत्र इसमें प्रकट किये गये हैं। यही इस ग्रंथ के महत्व का कारण है।

७. 'सेविन ग्रैमर्स आव बिहारी लैंग्वेजेज़'—सन् १८८३ से १८८७ तक प्रकाशित सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के इस ग्रंथ में यद्यपि बिहारी भाषा के ही व्याकरण की चर्चा मुख्य रूप से है तथापि यत्र-तत्र कुछ उदाहरण हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के भी मिल जाते हैं।

८. प्राचीन भारतीय लिपिमाला—म. म. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत यह महत्वपूर्ण ग्रंथ सन् १८९४ में पहली बार प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण चार

---

१. **'व्रजभारती', वर्ष ९, अंक १, पृ० ५।**
२. **'व्रजभाषा व्याकरण' का 'वक्तव्य', पृ० १।**

वर्ष बाद छपा था। देवनागरी लिपि और अंकों के इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत महत्व का है; परन्तु इसमें भाषा की चर्चा नहीं के बराबर है।

९. **'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया'**— सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने सन् १८९४ से सन् १९२७ तक अर्थात् लगभग तेंतीस वर्षों के परिश्रम से यह ग्रंथ ग्यारह बड़ी-बड़ी जिल्दों में तैयार किया था। इसकी पहली जिल्द के प्रथम भाग में ग्रंथ की विस्तृत भूमिका है, छठी जिल्द में पूर्वी हिन्दी और नवीं जिल्द के पहले भाग में पश्चिमी हिन्दी की सोदाहरण विवेचना है। इस वृहत् ग्रंथ में हिन्दी की प्रमुख भाषाओं के ही नहीं, उत्तरी भारत की प्रायः समस्त भाषाओं, विभाषाओं और मुख्य-मुख्य बोलियों के भी व्याकरण की रूपरेखा उदाहरण-सहित प्रस्तुत की गयी है। प्रमुख भाषाओं-विभाषाओं के क्षेत्र-सम्बन्धी नक्शे प्रत्येक जिल्द में दिये हुए हैं जिनके कारण ग्रंथ का मूल्य बहुत बढ़ गया है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इस समय भी यह ग्रंथ प्रामाणिक माना जाता है।

१०. **हिन्दी व्याकरण**—सन् १९२० में प्रकाशित श्री कामताप्रसाद गुरु का यह ग्रंथ खड़ी बोली के साहित्यिक रूप का व्याकरण है। इसमें व्रजभाषा, अवधी आदि की चर्चा प्रसंगवश ही कहीं-कहीं पर है।

११. **'ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट ऑव दि बेंगाली लैंग्वेज'**—सन् १९२६ में प्रकाशित डा० सुनीति कुमार चटर्जी का यह ग्रंथ बंगाली भाषा के संबंध में होने पर भी प्रायः सभी आर्य-भाषाओं के अध्ययनों की रूपरेखा तैयार करने के विषय में उपयोगी रहा है। इसमें प्रकाशित आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का, जिनमें हिन्दी भी है, इतिहास प्रायः सभी भाषा-अध्येताओं के काम का है।

१२. **हिन्दी भाषा और साहित्य**--सन् १९३० में प्रकाशित बा० श्यामसुंदर दास के इस ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में हिन्दी भाषा का जो विकास दिया हुआ था, वह सन् १९२५ में प्रकाशित बाबू जी के 'भाषा-विज्ञान' नामक ग्रंथ का अंतिम अध्याय था। इस भाग के लिखने में तद्विषयक प्रायः सभी सामग्री का उपयोग तो अवश्य किया गया था, परन्तु विषय के प्रतिपादन में एक प्रकार से मौलिकता थी और इस रूप में अपने ढंग का हिन्दी में यह सर्वप्रथम प्रयास था।

१३. **हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास**—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के इस ग्रंथ के आरम्भ में हिन्दी भाषा का विकास दिया हुआ है। विषय के प्रतिपादन में स्पष्टता और व्रजभाषा-विकास की स्वतंत्र चर्चा होने पर भी आज यह ग्रंथ सामान्य मूल्य का ही है।

१४. **'इवोल्यूशन ऑव अवधी'**--डा० बाबूराम सक्सेना का यह ग्रंथ सन् १९३१ में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी. लिट्. की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। सन् १९३८ में यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। हिन्दी की किसी एक साहित्यिक भाषा के विकास पर यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था जिसमें वैज्ञानिक, साहित्यिक,

ऐतिहासिक और व्याकरणिक दृष्टियों से अवधी भाषा का विस्तृत विवेचन है। व्रज-भाषा और खड़ी बोली के अध्ययनों के लिए भी यह ग्रंथ उपयोगी है।

१५. **हिन्दी भाषा का इतिहास**—डा० धीरेन्द्र वर्मा के इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण सन् १९३३ में, द्वितीय सन् १९४० में और तृतीय सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ। पूर्व प्रकाशित सभी प्रामाणिक सामग्री का अध्ययन और मनन करने के पश्चात् विद्वान लेखक ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया था। साथ ही, लेखक के निजी अन्वेषण का परिचय भी इसमें मिलता है। आधुनिक साहित्यिक खड़ी बोली के ही व्याकरण और स्वरूप की विवेचना यद्यपि इसमें प्रधान रूप से की गयी है, तथापि व्रज और अवधी से संबंधित ऐतिहासिक सामग्री का भी इसमें सर्वथा अभाव नहीं है। प्रस्तुत प्रबंध के लिए यही इसकी उपयोगिता है।

१६. **'ला ऐंदो एरियन'**—जूल ब्लाक-कृत यह ग्रंथ सन् १९३४ में फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ था। भारतीय आर्यभाषाओं के संबंध में उपलब्ध सामग्री का पूर्ण उपयोग किये जाने के कारण यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी काम का है।

१७. **'ला लांग व्रज'**—डा० धीरेन्द्र वर्मा का यह ग्रंथ फ्रेंच भाषा में सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। इसी पर डा० वर्मा को पेरिस विश्वविद्यालय से डी. लिट्. की उपाधि मिली थी। डा० सक्सेना के 'अवधी के विकास' की तरह व्रजभाषा-संबंधी यह प्रथम वैज्ञानिक विवेचन था जो प्रस्तुत प्रबंध-जैसे व्रजभाषा-विषयक ग्रंथों के लिए आदर्श रूप है।

१८. **भाषा रहस्य (प्रथम भाग)**—बा. श्याम सुंदर दास और श्री पद्म नारायण आचार्य-कृत यह ग्रंथ सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ। इसमें 'ध्वनि' का विस्तृत विवेचन है। प्राचीन भारतीय विद्वानों के साथ साथ पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों के मतों का भी समावेश इसमें किया गया है।

१९. **व्रजभाषा व्याकरण**—डा० धीरेन्द्र वर्मा की यह पुस्तक सन् १९३७ में छपी थी। साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण की दृष्टि से यह सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रयास था। इसका दूसरा संस्करण भी छप चुका है।

२०. **व्रजभाषा का व्याकरण**—पं० किशोरीदास वाजपेयी की यह पुस्तक सन् १९४३ में प्रकाशित हुई थी। इसको लेखक ने 'विवेचनात्मक पद्धति पर एक मौलिक रचना' कहा है। व्रजभाषा-व्याकरण-संबंधी काम की कुछ बातें इसमें अवश्य हैं, परंतु पूर्व प्रकाशित तद्विषयक मतों के खंडन और अपने विचारों के मंडन के लिए लेखक ने ऐसी भाषा-शैली का प्रयोग किया है कि प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसकी एक प्रकार से उपेक्षा ही की है। इस ग्रंथ में एक खटकनेवाली बात यह है कि अधिकांश स्थलों पर लेखक ने अपने वाक्य गढ़कर विषय का विवेचन किया है। इससे अपना मत तो वे अवश्य दे सके हैं; परंतु विशिष्ट कवियों के प्रयोगों से उसकी पुष्टि नहीं हो सकी है। फिर भी इसमें कई बातें उपयोगी हैं।

२१. **व्रजभाषा**—डा० धीरेन्द्र वर्मा की फ्रेंच में प्रकाशित थीसिस 'ला लांग व्रज' का यह हिन्दी रूपांतर सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ में विद्वान लेखक के लगभग पंद्रह वर्षों के व्रजभाषा-विषयक अध्ययन का सार संगृहीत है। मध्य-कालीन साहित्यिक व्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से भी यह ग्रंथ बहुत महत्व का है।

ऊपर केवल ऐसे ग्रंथों के ही नाम दिये गये हैं जिनके लेखक प्रतिष्ठित विद्वान हैं, जिनका उल्लेख महत्वपूर्ण ग्रंथों में हुआ है अथवा जिनसे हिन्दी के लेखकों ने तद्विषयक ग्रंथ-रचना की प्रेरणा ली है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे महत्वपूर्ण स्फुट लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं— यथा डा० ग्रियर्सन का 'आधुनिक भारतीय भाषाओं में बलात्मक स्वराघात'[1] और श्री टर्नर का 'गुजराती ध्वनि समूह'[2]— जिनसे हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक-लेखकों ने बराबर सहायता ली है। यहाँ हिन्दी के उन छोटे-मोटे व्याकरणों की चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा गया है जो पिछले सौ वर्षों में समय समय पर, मुख्यतः विद्यार्थियों के लिए, प्रकाशित होते रहे हैं और आज जिनमें से अधिकांश अप्राप्य हैं।

उक्त ग्रंथों के आधार पर हिन्दी भाषा का विस्तृत इतिहास और व्रजभाषा-व्याकरण का तो अध्ययन किया जा सकता है, परंतु सूरदास की व्रजभाषा के अध्ययन और विवेचन में इनमें से अधिकांश ग्रंथों से कोई सहायता नहीं मिलती। इसके कई कारण हैं। सबसे पहले तो दो-एक ग्रंथों को छोड़कर सबमें व्रजभाषा की कम, हिंदी के इतिहास और उसके खड़ीबोली-रूप की विवेचना अधिक की गयी है। दूसरे, सन् १९३० के पहले तक साहित्यिक व्रजभाषा पर स्वतंत्र वैज्ञानिक विवेचनात्मक ग्रंथ लिखने की ओर लेखकों का ध्यान ही नहीं गया था और जिन लेखकों ने उसकी चर्चा की भी उनमें से अधिकांश ने उन प्रकाशित और प्राप्त, परंतु पाठ-शुद्धता की दृष्टि से असंपादित, ग्रंथों के आधार पर अपने विचार प्रकट किये जो सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे गये थे। तीसरी बात यह कि सूरदास की काव्य-भाषा का विवेचन उस परिस्थिति में संभव था भी नहीं, क्योंकि कवि-विशेष की भाषा का विस्तृत अध्ययन करने की परिपाटी का तब तक प्रचलन ही नहीं हुआ था। अतएव यदि किसी लेखक ने सूर की भाषा पर विचार भी किया तो बहुत चलताऊ ढंग से और सो भी बहुत प्रचलित पदों को ध्यान में रखकर। यह ठीक है कि सन् १८६५ के पश्चात् 'सूरसागर' सुलभ था और यदि कोई उसकी भाषा का अध्ययन करना चाहता तो उसे विशेष कठिनाई नहीं होती; परंतु कोई लेखक इस प्रकार के अध्ययन की ओर इस कारण प्रवृत्त न हुआ कि केवल भाषा-अध्ययन को इतना महत्व देने के लिए उस समय के साहित्यिक प्रस्तुत नहीं थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भी इस प्रकार के

---

१. **'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', सन् १८९५, पृ० १०९।**
२. **'रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल', सन् १९२१, पृ० ३२९ और ५०५।**

अध्ययन की प्रगति नहीं हो सकी; क्योंकि उस युग में स्वांतः-सुखाय साहित्य-सेवा में संलग्न रहनेवाले इने-गिने प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ साथ वे लोग प्रवृत्त होते थे जिनका संबंध अच्छे विद्यालयों से था। हिन्दी को उस समय तक विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में स्थान नहीं मिला था। अतएव सामूहिक रूप से हिन्दी भाषा का इतिहास लिखने का तो कुछ विद्वानों ने प्रयास भी किया, जो आज की दृष्टि से बहुत साधारण है; परन्तु हिन्दी भाषा के तीन प्रमुख साहित्यिक रूपों में से किसी एक के प्रतिष्ठित कवि की भाषा के विस्तृत और सांगोपांग अध्ययन की ओर किसी का ध्यान न जा सका। अतएव उक्त ग्रंथों में विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के साथ-साथ व्रजभाषा के वैज्ञानिक, व्याकरणिक और ऐतिहासिक अध्ययन की जो रूपरेखा दी हुई है, उससे सूरदास की काव्यभाषा के विवेचन की संकेत-सूची मात्र बनाने में सहायता मिल सकती है; उसकी संपूर्ण प्रामाणिक विवेचना किसी भी प्रस्तुत प्रबंध-जैसे ग्रंथ-लेखक को निजी ढंग पर ही करनी पड़ेगी।

ख. भूमिका सहित सूर-काव्य के स्फुट संकलन—

पिछले लगभग चालीस वर्षों में सूर-साहित्य के छोटे-बड़े अनेक संकलन ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिनमें संपादकों ने आरम्भ में कवि और उसके काव्य के संबंध में भी विचार प्रकट किये हैं। ऐसे कुछ प्राप्त संकलनों के नाम अकार-क्रम से नीचे दिये जाते हैं—

क्रम संख्या	संकलन का नाम	संपादक का नाम	भूमिका की पृष्ठ संख्या
१.	भ्रमरगीत-सार	पं० रामचन्द्र शुक्ल	७८
२.	संक्षिप्त सूरसागर	श्री वियोगी हरि	...
३.	संक्षिप्त सूरसागर	डा० बेनी प्रसाद	३९
४.	सूर-कृत गोपी-विरह और भँवरगीत	प्रेमनारायण टंडन	८०
५.	सूर-पंचरत्न	ला० भगवान दीन	१६४
६.	सूर-प्रभा	डा० दीनदयालु गुप्त	४०
७.	सूर-रामायण	प्रेमनारायण टंडन	१२
८.	सूर-विनयपदावली	श्री प्रभुदयाल मीतल	३६
९.	सूर-शतक	भारतेंदु हरिश्चंद्र	अज्ञात[1]
१०.	सूर-शतक	श्री श्रीनाथ पांडेय	१०
११.	सूर-सुषमा	पं० नंददुलारे वाजपेयी	१९

'सूर-पंचरत्न' की भूमिका को छोड़कर प्रायः इन सभी संकलनों में सूर की जीवनी

---

१. क. 'सूरसागर', (वेंकटेश्वर प्रेस) की भूमिका, पृ० ९।
   ख. 'साहित्यलहरी', खड्गविलास प्रेस, पृ० १६५।

और उनकी काव्य-कला पर ही मुख्यतः विचार किया गया है। 'भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका में भाषा-संबंधी कुछ उपयोगी सामग्री अवश्य दी गयी है, परंतु इसके विद्वान संपादक का ध्यान सूरदास की भाव-व्यंजना-विषयक विशेषताओं के सोदाहरण विवेचन की ओर जितना रहा है उतना कवि की भाषा का आलोचनात्मक परिचय देने की ओर नहीं। 'गोपी-विरह और भँवरगीत' की भूमिका में इन पंक्तियों के लेखक ने 'सूरदास की भाषा' शीर्षक पाँच-सात पृष्ठों की एक टिप्पणी दी है; पर उसमें भी तद्विषयक मोटी-मोटी विशेषताएँ ही बतायी गयी हैं; कोई मौलिक बात नहीं है। डा० दीनदयालु गुप्त की 'सूर-प्रभा' के आरंभ में, 'काव्य-परिचय' के अंतर्गत, भाषा-संबंधी विचार प्रकट किये गये हैं जो इस दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं कि किन्हीं कारणों से उनके वृहताकार महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' में सूर की काव्य-कला और भाषा की विस्तृत विवेचना नहीं है, परंतु उपयुक्त स्थान न होने के कारण विद्वान लेखक को तीन-चार पृष्ठ लिखकर ही संतोष करना पड़ा है। वस्तुतः उक्त प्रायः सभी ग्रंथ विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर समय समय पर प्रस्तुत किये गये हैं और उनकी भूमिकाओं में कवि और काव्य-संबंधी वे ही बातें बतायी गयी हैं जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हों और जिनसे उनमें सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने की रुचि जाग्रत हो।

केवल 'सूर-पंचरत्न' के संपादक लाला भगवानदीन ने, अन्य संकलन-कर्ताओं के सीमित दृष्टकोण से ऊपर उठकर, अपने संकलन की भूमिका में, व्रजभाषा की उत्पत्ति और विकास, उसकी पहचान और उपयोगिता पर, संक्षेप में प्रकाश डालने के उपरांत सूरदास की भाषा-शैली की परिचयात्मक आलोचना की है। यद्यपि व्रजभाषा-उत्पत्ति की कहानी के रूप में उन्होंने हिन्दी भाषा के जन्म की गाथा ही दी है और 'व्रजभाषा की पहचान'-संबंधी नियम पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'बुद्धचरित' की भूमिका के आधार पर लिखे हैं[1] तथा सूरदास की भाषा का विवेचन बहुत संक्षेप में किया है, तथापि आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व जब यह संकलन प्रकाशित हुआ था, तब निश्चय ही उसके संपादक के व्रजभाषा-अध्ययन पर हिन्दी-संसार मुग्ध हो गया होगा। अतएव स्पष्ट है कि 'सूर-पंचरत्न' के अतिरिक्त अन्य किसी संकलन की भूमिका सूरदास की भाषा के अध्ययन में, किसी भी रूप में सहायक नहीं हो सकती।

ग. सूर-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन—

नवल किशोर प्रेस, लखनऊ और वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई के 'सूरसागर' प्रकाशित हो जाने के पश्चात् सूरदास के काव्य की आलोचना का कार्य आरंभ हो गया था। बाबू राधाकृष्ण दास ने 'सूरसागर' के आरंभ में कवि के जीवन-चरित् और काव्य-परिचय-रूप में जो विचार प्रकट किये थे, वस्तुतः उन्हीं से इस विषय का सूत्रपात समझना चाहिए। डा० जनार्दन मिश्र ने जब सूर-काव्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया,

१. 'सूर-पंचरत्न' की भूमिका, छठा संस्करण, पृ० २२।

तब अन्य विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया। फलस्वरूप सूरदास और उनके काव्य के सम्बन्ध में जो ग्रंथ अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें से प्रमुख का जिनका परिचय प्रकाशन-क्रम से यहाँ दिया जाता है —

१. **सूरदास**—अँग्रेजी में प्रकाशित डा० जनार्दन मिश्र की यह पुस्तक सूर-साहित्य की समालोचना का संभवत: प्रथम मौलिक और स्वतंत्र प्रयास था। कवि के जीवन चरित्, उसकी रचनाओं और वल्लभाचार्य तथा सूरदास के धार्मिक सिद्धांतों, की परिचयात्मक विवेचना इस ग्रंथ में विशेष रूप से की गयी है; परन्तु सूरदास की भाषा के संबंध में सामान्य रूप से ही विचार किया गया है।

२. **सूर : एक अध्ययन**—सन् १९३८ में प्रकाशित श्री शिखरचंद जैन की इस पुस्तक में सूर-साहित्य की सामान्य आलोचना है। इसमें दो-तीन पृष्ठों में ही कवि की भाषा का परिचय दिया गया है।

३. **भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास**—श्री नलिनीमोहन सान्याल की यह पुस्तक सन् १९३८ में प्रकाशित हुई थी। इस में कवि के जीवन-चरित् के साथ-साथ वात्सल्य-चित्रण, माखन-चोरी, संयोग-लीला, राम- लीला, भ्रमरगीत आदि सूर-साहित्य के अंगों का सामान्य परिचय दिया गया है। भाषा-संबंधी विस्तृत विवेचना सान्याल जी का ध्येय नहीं है।

४. **सूरदास**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस ग्रंथ का संपादन पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने सन् १९४३ में किया था। पाँच वर्ष बाद इसका तृतीय संशोधित परिवर्द्धित संस्करण भी प्रकाश में आया। भक्ति का विकास, श्री वल्लभाचार्य, सूरदास का जीवनवृत्त और उनके काव्य की आलोचना, इस ग्रंथ के प्रमुख विषय हैं। अंतिम के अंतर्गत कवि की भाषा की आलोचना भी है; परन्तु यह अंश एक प्रक.र 'भ्रमरगीत-सार' के संशोधित संस्करण की भूमिका के रूप में प्रकाशित है और इसमें भाषा-संबंधी कोई नयी बात नहीं दी गयी है।

५. **सूर-सौरभ**—श्री (अब डाक्टर) मुंशीराम शर्मा की इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १९४३ में और तृतीय १९४९ में प्रकाशित हुआ था। सूरदास और उनके काव्य की, उक्त सभी ग्रंथों से अधिक विस्तृत समीक्षा इसमें मिलती है। कवि की जीवनी और उसके ग्रंथों की प्रामाणिकता पर तो इसमें बहुत विस्तार से विचार किया गया है, परन्तु भाषा की चर्चा बहुत संक्षेप में की गयी है जिसमें उसकी सामान्य विशेषताओं पर ही प्रकाश डाला गया है। इधर शर्मा जी ने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' नामक गवेषणात्मक प्रबंध प्रकाशित कराया है। विषय की भिन्नता के कारण इसमें भी सूर की भाषा का विवेचन नहीं-सा है।

६. **सूर : जीवनी और ग्रंथ**—यह छोटी सी पुस्तक इन पंक्तियों के लेखक ने सन् १९४३ में लिखी थी। जैसा नाम से स्पष्ट है, इस पुस्तक में सूरदास की भाषा-समीक्षा,

लेखक का अभीष्ट नहीं था, केवल 'परिशिष्ट' के छह-सात पृष्ठों में कवि की भाषा का सामान्य परिचय दिया गया है ।

७. **सूर-साहित्य की भूमिका**--श्री रामरतन भटनागर और वाचस्पति पाठक की इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १९४५ में प्रकाश में आया था। कवि की भाषा-संबंधी जो परिचयात्मक आलोचना इस पुस्तक में दी गयी है, वह संशोधित-परिवर्द्धित रूप में भटनागर जी की सन् १९५२ में प्रकाशित 'सूर-समीक्षा' नामक ग्रंथ में मिल जाती है। अतएव 'भूमिका' की भाषा-विषयक चर्चा का कोई महत्व नहीं रह जाता।

८. **सूर-साहित्य**--पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह पुस्तक सन् १९४६ में प्रकाशित हुई थी। सूरदास का परिचय और उनके काव्य का महत्व, इसका वर्ण्य विषय है, परन्तु भाषा के संबंध में सांगोपांग विवेचन इसमें भी नहीं है।

९. **अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय**--सन् १९४७ में प्रकाशित डा० दीनदयालु गुप्त के इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य सात कवियों के जीवन चरित्र, ग्रंथ, और दार्शनिक विचारों के गवेषणात्मक विस्तृत परिचय के साथ-साथ विद्वतापूर्ण समीक्षा भी दी गयी है। सूरदास के जीवन-चरित् और उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता पर विशेष विस्तार से विचार किये जाने पर भी विशेष कारणों से सूर-काव्य की समीक्षा इसमें नहीं की गयी है; नन्ददास की भाषा के साथ सूरदास की भाषा पर कुछ प्रकाश अवश्य डाला गया है।

१०. **सूरदास**--डा० व्रजेश्वर वर्मा के इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण सन् १९५० में प्रकाशित हुआ था। वस्तुतः सूर-साहित्य के सांगोपांग अध्ययन के विचार से यह एक महत्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। कवि की भाषा-समीक्षा की दृष्टि से द्वितीय संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' की भाषाओं का भी वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन जोड़ा गया है[१]। 'भाषा-शैली और छंद' शीर्षक इसका एक परिच्छेद पतालीस पृष्ठों का है जिसमें केवल भाषा की चर्चा लगभग एक चौथाई भाग में है। सूर-साहित्य के किसी भी समीक्षात्मक ग्रंथ में कवि की भाषा के संबंध में यद्यपि इतने विस्तार से विचार नहीं किया गया है और डा० वर्मा के ग्रंथ की विषय-सूची के अनुसार, अनुपात के विचार से भी, यह विस्तार उपयुक्त ही समझा जायगा; तथापि संभवतः स्थान-संकोच और काव्य के अनेक अंगों में से केवल एक होने के कारण भाषा और उससे संबंधित विषयों को, एक प्रकार से, छू भर लिया गया है; व्रजभाषा की उत्पति और विकास, सूर की व्रजभाषा को देन, सूर का व्याकरणिक दृष्टिकोण आदि आवश्यक प्रसंगों पर प्रकाश डालने का लेखक को अवकाश नहीं मिल सका है। संभवतः उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गये प्रबंध की निर्दिष्ट सीमाएँ ही इसका कारण हैं।

---

१. 'सूरदास' की 'प्रस्तावना, पृ० ६।

११. **सूर-निर्णय**--श्री द्वारका दास पारिख और श्री प्रभुदयाल मीतल के सन् १९४९ में प्रकाशित इस ग्रंथ में सूरदास के जीवन, ग्रंथ, सिद्धांत और काव्य की निर्णयात्मक समीक्षा देने का उल्लेख लेखक द्वय ने मुखपृष्ठ पर ही किया है। जीवन चरित्र और ग्रंथ-संबंधी समीक्षा के लिए तो 'निर्णयात्मक' विशेषण किसी सीमा तक सार्थक मानने की लेखकों को स्वतंत्रता हो सकती है, परन्तु सिद्धांत और काव्य की संक्षिप्त विवेचना को 'निर्णयात्मक' कहने का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। जो हो, 'काव्य-निर्णय' शीर्षक परिच्छेद के अंतर्गत केवल तीन-चार पृष्ठों में ही सूर-काव्य की भाषा पर इस ग्रंथ में विचार किया गया है और उसमें भी कवि का व्रजभाषा संबंधी कोई उदाहरण न देकर केवल उसकी खड़ीबोली-मिश्रित भाषा का एक लंबा उद्धरण दिया गया है जिसकी प्रामाणिकता ही संदिग्ध है।

१२. **महाकवि-सूरदास**--सन् १९५२ में प्रकाशित पं० नंददुलारे वाजपेयी के इस ग्रंथ में, सूरदास के काव्य, जीवन, भक्ति-सिद्धांतों आदि का अंतरंग विवेचन है; परन्तु भाषा के संबंध में विचार इसमें भी नहीं किया गया है।

१३. **सूर-समीक्षा**--डा० रामरतन भटनागर का यह ग्रंथ भी सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ था। इसमें सूर की भाषा-शैली का परिचय आठ पृष्ठों में दिया गया है। 'सूरसागर' के पदों में कवि की भाषा के कितने रूप मिलते हैं, संक्षेप में यही दिखाना लेखक का उद्देश्य है और उसने कोई नयी बात नहीं दी है।

१४. **सूरदास**--डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की इस छोटी सी पुस्तक का संपादन उनके स्वर्गवास के पश्चात डा० भगीरथ मिश्र ने किया था। सूरदास का केवल जीवन-चरित्र ही इसमें दिया हुआ है।

१५. **सूर-समीक्षा**--डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' की यह पुस्तक सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थी। इसमें सूर-काव्य की कुछ विशेषताओं पर तो गंभीरता से विचार किया गया है; परन्तु भाषा के संबंध में सामान्य बातें ही दी गयी हैं।

१६. **सूर और उनका साहित्य**—डा० हरवंश शर्मा का यह ग्रंथ सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ था। इसमें भी सूरदास की भाषा की चर्चा पंद्रह-सोलह पृष्ठों में ही है और कोई नयी बात नहीं दी गयी है।

उक्त प्रायः सभी ग्रंथ सूर-साहित्य का विस्तृत अध्ययन करने के लिए तो उपयोगी हैं, परन्तु कवि की भाषा का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने में सहायक नहीं हैं। कवि सूर की जीवनी और ग्रंथों की प्रामाणिकता की समस्या ने इनमें से अधिकांश ग्रंथों का इतना अधिक भाग घेर लिया है कि काव्य के सभी अंगों पर पर्याप्त विस्तार से विचार नहीं किया जा सका है। अतएव सूर-काव्य की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन करने में उक्त ग्रंथों से विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

सूरदास की व्रजभाषा के अध्ययन की रूपरेखा का जो परिचय ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि इस महाकवि की भाषा का अध्ययन जिस विस्तार से होना चाहिए था,

अभी तक नहीं हो सका है। काव्य-भाषा का अध्ययन ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्याकरणिक, व्यावहारिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से किया जाना चाहिए। इनमें से कुछ पक्षों पर ही हमारे आलोचकों ने बहुत संक्षेप में विचार किया है। अतएव उक्त सभी दृष्टियों से सूरदास की व्रजभाषा के विस्तृत और सांगोपांग अध्ययन का कार्य अभी शेष है।

सूर की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन न होने के कारण—

यहाँ स्वभावतः प्रश्न होता है कि जब सूर-साहित्य का सम्मान साहित्य-प्रेमियों में दिनों-दिन बढ़ता जाता है और पिछले लगभग पचीस वर्षों से उनकी काव्य-कला के विभिन्न पक्षों पर अनुसंधानपूर्ण प्रबंध और ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, तब व्रजभाषा के इस सर्वप्रथम अभिनन्दनीय कवि की भाषा का सर्वांगीण और विस्तृत अध्ययन क्यों नहीं किया गया? प्रस्तुत प्रबंध के लेखक की सम्मति में इसके निम्नलिखित पाँच प्रमुख कारण हो सकते हैं—

क.—सूर-काव्य का बहुत समय तक कोई अच्छा संस्करण सुलभ नहीं रहा। लखनऊ और बम्बई से 'सूरसागर' और 'सारावली' के जो संस्करण प्रकाशित हुए थे वे भी अधिक समय तक सर्वसुलभ नहीं रहे।

ख.—सूर-काव्य के प्रामाणिक पाठ का अभाव आरंभ से ही बना रहा। भाषा के अध्ययन का कार्य तभी प्रारंभ होता है जब कवि-विशेष की रचनाओं का प्रामाणिक पाठ उपलब्ध हो। अतएव उक्त 'सूरसागरों' के प्रकाशित संस्करणों के समाप्त हो जाने के पश्चात् सूर-काव्य के समालोचक बहुत समय तक उनकी रचनाओं के प्रामाणिक पाठ की प्रतीक्षा में रहे।

ग.—डा० बाबूराम सक्सेना-कृत 'अवधी भाषा का विकास' नामक विद्वत्तापूर्ण अँग्रेजी ग्रंथ के प्रकाशित होने के पश्चात् भी व्रजभाषा का कोई वृहत् इतिहास सुलभ न था जो समालोचकों को सूर-काव्य की भाषा का विस्तृत अध्ययन करने की प्रेरणा देता। डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'ला लाँग व्रज' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रंथ फ्रेंच भाषा में होने के कारण एक प्रकार से अप्राप्त ही रहा।

घ.—व्रजभाषा का कोई संपूर्ण व्याकरण भी सुलभ न था जो सूरदास की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन करने के लिए समालोचकों को प्रोत्साहित करता।

च.—सबसे प्रधान बात यह थी कि हिन्दी के अधिकांश समालोचकों की मनोवृत्ति प्रारंभ से ही कवियों की भाव-व्यंजना-विषयक विशेषताओं का सोदाहरण परिचय देने की ओर जितनी रही, उतनी भाषा के सर्वांगीण विवेचन की ओर नहीं। यही कारण है कि किसी भी प्रतिष्ठित कवि की भाषा का सर्वांगीण अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है।[1] यही मनोवृत्ति सूरदास की भाषा के सांगोपांग विवेचन में बाधक रही है।

---

१. डा० देवकी नंदन श्रीवास्तव ने 'तुलसी की भाषा' पर प्रबंध लिखकर लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. उपाधि पायी है। यह प्रबंध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है—लेखक।

प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य और क्षेत्र—

महाकवि सूरदास की भाषा के विस्तृत और सर्वांगीण अध्ययन का जो कार्य हिन्दी में अभी तक नहीं हो सका है, उसकी पूर्ति का एक प्रयास करना प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य है। साहित्यिक या काव्य-भाषा-सम्बन्धी विवेचन के जितने पक्ष हो सकते हैं—यथा ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्याकरणिक, शास्त्रीय, व्यावहारिक और सांस्कृतिक – उन सभी को लेकर इस प्रकार के कार्य को संपन्न करने की आवश्यकता तो निर्विवाद है ही; परन्तु सूर-साहित्य का सर्वमान्य प्रामाणिक संस्करण सुलभ न होने के कारण लेखक का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' की प्राचीन प्रतियों की तो अभी खोज नहीं हुई है, 'सूरसागर' की छोटी-बड़ी हस्तलिखित प्रतियों की संख्या ही तीन दर्जन से ऊपर है जो विभिन्न विद्वानों के पास और अनेक साहित्यिक संस्थाओं तथा पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। इनके पाठों को मिलाकर प्रामाणिक पाठ तक पहुँचना, एक व्यक्ति का नहीं, कई अध्येताओं की समिति का कार्य है। अतएव लखनऊ, बम्बई और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'सूरसागरों' का पाठ बहुत सामान्य दृष्टि से मिलाते हुए ही सूरदास की भाषा का यह अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. व्रजभाषा-विकास और सूर का भाषा-ज्ञान

व्रज और व्रजभाषा---

हिंदी के 'ब्रज' शब्द का तत्सम रूप 'व्रज' है जो 'व्रज्' (= जाना) धातु से बना है। मध्यदेश और उसकी भाषा का विशेष अध्ययन करके डा० धीरेंन्द्र वर्मा इस निष्कर्ष[1] पर पहुँचे हैं कि 'व्रज' शब्द का पहली बार प्रयोग 'ऋग्वेद-संहिता' में मिलता है[2]; किंतु यहाँ यह शब्द ढोरों के चरागाह या बाड़े अथवा पशु-समूह के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ-कुछ इससे मिलता-जुलता अर्थ संस्कृत की एक प्राचीन उक्ति—व्रजंति गावो यस्मिन्नित व्रजः—का भी है जिसके अनुसार 'व्रज' उस स्थान को कहा गया है जहाँ नित्य गाएँ चलती या चरती हों[3]। डा० धीरेंद्र वर्मा के अनुसार, 'हरिवंश आदि पौराणिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग मथुरा के निकटस्थ नंद के व्रज अर्थात् गोष्ठ-विशेष के अर्थ में ही हुआ है'[4]। कालांतर में, मथुरा का चतुर्दिक प्रदेश व्रज या व्रजमंडल के नाम से प्रसिद्ध हो गया जिसके अंतर्गत बारह वन[5] और चौबीस

---

१. 'नाम-माहात्म्य' का 'श्रीव्रजांक', अगस्त १९४० में 'व्रजभाषा' शीर्षक लेख और 'व्रजभाषा-व्याकरण' की भूमिका, पृ. ९।

२. जैसे ऋग्वेद मं० २, सू० ३८, मं० ८; मं० ५, सू० ३५, मं० ४; मं० १०, सू० ४, मं० २ इत्यादि---'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९।

३. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ५।

४. जैसे—तद् व्रजस्थानमधिकम् शुशुभे काननावृतम् (हरिवंश, विष्णुपर्व, अ० ९, श्लो० ३०) और कस्मान्मुकुंदो भगवान् पितुर्गेहाद्व्रजं गतः (भागवत, स्कं० १०, अ० १, श्लो० ९९)।

---'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० ९ की पादटिप्पणी सं० २।

५. क. व्रज के बारह वन---मधु, ताल, कुमुद, बहुला, काम, खदिर, वृन्दा, भद्र, भांडीर, बेल, लोह और महावन।

---'मथुरा मेम्वायर', (ग्राउज), पृ० ८०-८१।

ख. 'सूरसागर-सारावली' में भी वनों के नाम दिये गये हैं---

यहि बिधि क्रीड़त गोकुल में हरि निज बृन्दावन धाम।
मधुबन और कुमुदबन सुंदर बहुलाबन अभिराम।
नंदग्राम संकेत खिदरबन और कामबन धाम।
लोहबन माठ बेलबन सुंदर भद्र बृहद गन ग्राम ॥

—'सारावली', छंद १०८८-८९, पृ० ९८।

उपवन[1] कहे गये हैं तथा जिसकी परिधि चौरासी कोस की मानी गयी है[2]। इनका विस्तृत विवरण डा० गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' नामक ग्रंथ में दिया है[3]।

हिंदी-साहित्य में ब्रज या व्रज शब्द सबसे पहले मथुरा के निकटवर्ती प्रदेश अर्थात् व्रज-मंडल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है[4]। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हिंदी भाषा और साहित्य के प्रथम दो विकास-कालों में यहाँ की भाषा को 'व्रजभाषा' संज्ञा नहीं दी गयी। परंतु इतना निश्चित है कि कम से कम संस्कृत से, जन-भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए, किसी न किसी शब्द का प्रयोग अवश्य किया जाता होगा और वह शब्द है 'भाषा'। हिंदी के प्राचीन कवियों ने जब-जब भाषा-विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग किया, तब-तब उनका आशय जन-साधारण में प्रचलित उस बोली या विभाषा से रहा जो सहितियक भाषा की विशेषताओं से युक्त हो चुकी थी, जिसमें साहित्य-रचना भी होती थी और जो संस्कृत से भिन्न थी[5]। अतएव दसवीं शताब्दी से लेकर आज तक

---

१. व्रज के चौबीस उपवन --गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नंदगाँव, संकेत, परममंद्र, अरींग, शेषशायी, माट, ऊँचागाँव, खेलबन, श्रीकुंड, गंधर्वबन, परसौली, बिलछू, बछबन, आदिबद्री, करहला, अजनोख, पिसायोबन, कोकिलाबन, दधिबन, कोटबन, और रावलबन। --'मथुरा मेम्वायर', (ग्राउज), पृ० ८०-८१।

२, व्रजमंडल के विस्तार के संबंध में ये दो कथन विशेष प्रसिद्ध हैं--

क. इत बरहद इत सोननद, उत सूरसेन को गाँव।
ब्रज चौरासी कोस में मथुरा मंडल माँह॥

ख. पूर्वं हास्यवनं नीय पश्चिमस्योपहारिकं।
दक्षिणे जह्नु संज्ञाकं भुवनाख्यं तथोत्तरे।

३. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ७।

४. क. सो एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु अडेल ते व्रज को पाव धारे।
--'चौरासी वैष्णव की वार्ता', पृ० १७२।

ख. एक समय गोविंददास अंतरी ग्राम से ब्रज को आये।
--'२५२ वैष्णव की वार्ता', पृ० १।

५. डा धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रसंग में लिखा है--'बहुत समय तक वैदिक संस्कृत से भेद करने के लिए लौकिक संस्कृत 'भाषा' कहलाती थी। बाद को लौकिक संस्कृत से भेद करने के लिए प्राकृत तथा अपभ्रंश और फिर प्राकृत तथा अपभ्रंश से भेद दिखलाने के लिए आधुनिक आर्यभाषाएँ 'भाषा' नाम से पुकारी गयीं। 'भाषा' शब्द वास्तव में समकालीन बोली जानेवाली भाषा के अर्थ में बराबर प्रयुक्त हुआ है--'व्रजभाषा-व्याकरण', भूमिका, पृ० १० और ११, पादटिप्पणी २। मेरी सम्मति में हिंदी की उत्पत्ति और उसके विकास पर प्रकाश डालते समय आधुनिक विद्वानों ने भले ही 'भाषा' शब्द का प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश से भेद दिखाने के लिए किया हो, परंतु कबीर, तुलसी, केशव आदि का 'भाषा' शब्द से आशय केवल संस्कृत से ही उसका अंतर सूचित करना रहा होगा, प्राकृत और अपभ्रंश से नहीं--लेखक।

जिस स्थान और जिस समय में जो भाषा जन-साधारण में प्रचलित रही, उसी के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया। गोस्वामी तुलसीदास जब 'का भाषा का संस्कृत'[१] कहते हैं, तब उनका आशय सामान्य जन-भाषा से है; परंतु 'रामचरितमानस', के संबंध में 'भाषा भनिति भोरि मति भोरी'[२] कहते समय 'भाषा' से उनका तात्पर्य अवधी से है, यद्यपि उनके अनेक ग्रंथ व्रजभाषा में भी हैं। इसी प्रकार नंददास 'ताही ते यह कथा जथामति भाषा कीनी'[३] और केशवदास के—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति सठ कवि केसवदास।
रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास॥[४]

+ + + +

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास॥[५]

कथनों में 'भाषा' शब्द से आशय व्रजभाषा से है। इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के संस्कृतज्ञ पंडित जब आधुनिक हिंदी को 'भाषा कहते हैं, तब वे इसके द्वारा खड़ीबोली-रूप की ओर ही संकेत करते हैं।

व्रज-मंडल या प्रदेश की साहित्यिक भाषा के अर्थ में 'व्रजभाषा' शब्द का प्रयोग कदाचित् सबसे पहले भिखारीदास (कविता-काल सन् १७२५ से १७५०) -कृत 'काव्य-निर्णय' में हुआ है—

भाषा व्रजभाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होइ[६]॥

इसी के साथ-साथ अपने उक्त ग्रंथ में भिखारीदास ने अवधी के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग किया गया है—

व्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानि।
सहज पारसीहू मिलै, षट बिधि कवित बखानि[७]॥

इन दोनों अवतरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि व्रजभाषा के संबंध में उन्होंने एक बात और भी लक्ष्य की थी। वह यह कि व्रजभाषा, कम से कम उनके समय में, अपने शुद्ध रूप में प्रचलित नहीं थी और उसमें अनेक भाषाओं के शब्द मिल गये थे जिन्हें

१. 'दोहावली', दोहा ५७२।
२. 'रामचरितमानस', 'बालकांड', दोहा ९।
३. 'रासपंचाध्यायी', अं. १, पृ० ४०।
४. 'रामचंद्रिका', पहला 'प्रकाश', दोहा ५।
५. 'कविप्रिया', पृ० २१, छं० ७।
६. 'भिखारीदास', 'काव्य-निर्णय, पृ० ६।
७. भिखारीदास, 'काव्य-निर्णय', पृ० ६।

उसने आत्मसात् कर लिया था। भिखारीदास के पश्चात् व्रज-प्रदेश की बोली का यह नामकरण साहित्य-जगत् में स्वीकृत हो गया और आज उसका यह नाम उत्तरी भारत में सर्वत्र व्यवहृत होता है।

व्रजभाषा का क्षेत्र-विस्तार---

मथुरा नगर एक प्रकार से व्रजमंडल का केन्द्र स्थान है। इसके आसपास का भू-भाग प्राचीनकाल से श्रीकृष्ण के पितामह शूरसेन के नाम पर 'शौरसेन प्रदेश' कहलाता रहा है। इतिहासकारों के अनुसार, मथुरा नगरी इस प्रदेश की राजधानी थी[१]। सातवीं शताब्दी तक इस प्रदेश का विस्तार बहुत बढ़ गया था और पश्चिम में सिंधु नदी तथा दक्षिण में नरवर और शिवपुरी तक इसकी सीमाएँ पहुँच गयी थीं। उस समय भरतपुर, बरौली, धौलपुर, ग्वालियर आदि भी इसी के अंतर्गत थे[२]। मिर्जाखाँ के 'तुहफ़तुल हिंद' नामक व्रजभाषा व्याकरण में ग्वालियर के अतिरिक्त चंद्रवार[३] भी व्रजभाषी प्रदेश में ही माना गया है[४]।

डॉ० दीनदयालु गुप्त ने धार्मिक दृष्टि से आधुनिक व्रजमंडल की सीमाओं के संबंध में विचार करके, वर्तमान ज्ञात स्थानों और वनों के आधार पर, उसकी रूपरेखा इस प्रकार दी है--'उत्तर में गुड़गांव जिले की हद पर स्थित भुवनवन और कोटवन, पश्चिम में भरतपुर राज्य के कामवन और चरण पहाड़ी, पूर्व में अलीगढ़ के वरहद और हास्यवन (वर्तमान हसाइन) तथा दक्षिण की हद आगरे के निकट तक'[५]। इसी प्रसंग में उनका कथन है कि यदि मथुरा को केन्द्र मानकर उक्त स्थानों को स्पर्श करता हुआ एक गोला खींचा जाय तो व्रज की प्रसिद्ध चौरासी कोस की यात्रा की परिधि का मंडल बनता है और उसके अंतर्गत व्रज के सभी मुख्य स्थान आ जाते हैं[६]। उक्त मंडल के अंतर्गत डॉक्टर गुप्त द्वारा जो स्थान लाये गये हैं, उनको भाषा या बोली की दृष्टि से नहीं; प्रत्युत श्रीकृष्ण की सगुण लीलाओं को ध्यान में रखकर और प्रसिद्ध तीर्थ या धाम के रूप में प्रख्यात मान कर, यात्रा की सुविधा के उद्देश्य से, एक मंडलाकार परिधि द्वारा संबंधित कर दिया गया है जिसका महत्त्व धार्मिक अधिक है। साधारणतया इस मंडल

---

१. श्री नंदलाल डे-कृत 'दी ज्योग्रैफ़िकल डिक्शनरी आव एनशेंट ऐंड मेडिवल इंडिया' सन् १८९९--'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय में उद्धृत, पृ० ३।

२. 'हिंदी की प्रादेशिक भाषाएँ', सन् १९४९, पृ० २७।

३. चंदवार, छंदवार या जनवार जिला आगरे से पचीस मील पूर्व मथुरा से इटावा के मार्ग पर जमुना नदी के किनारे है जिसमें अधिकांशतः चौहानों की बस्ती है।

--'आइने अकबरी', जैरेट, पृ १८३।

४. श्री जियाउद्दीन, 'ए ग्रैमर आव व्रजभाषा' की भूमिका, पृ० ७।

५. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

६. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ४।

में अंतर्वर्ती प्रदेश में तो व्रजभाषा बोली ही जाती है; उसका क्षेत्र-विस्तार इस परिधि के बाहर भी है। वस्तुतः व्रजभाषा का विशुद्ध रूप मथुरा, आगरा, एटा, अलीगढ़, धौलपुर आदि स्थानों में पाया जाता है।

व्रजमंडल के चारों ओर अर्थात् गंगा-यमुना के मध्यवर्ती[1] और यमुना के दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेश में बोली जानेवाली भाषा भी व्रज की बोली ही है, यद्यपि स्थान के व्यवधान के फलस्वरूप उसपर थोड़ा-बहुत अन्य भाषाओं का प्रभाव भी पड़ने लगता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, 'गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी तथा बुंदेली की कुछ-कुछ झलक आने लगती है। बुलन्दशहर, बदायूँ और नैनीताल की तराई में खड़ीबोली का प्रभाव शुरू हो जाता है तथा एटा, मैनपुरी और बरेली जिलों में कुछ कन्नौजीपन आने लगता है। वास्तव में पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कन्नौजी की अपेक्षा व्रजभाषा के अधिक निकट हैं'[2]। वस्तुतः व्रजभाषा ने अपने क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए निकटवर्ती सभी प्रमुख बोलियों और विभाषाओं की उन मुख्य-मुख्य विशेषताओं को अपना लिया जो उसको अधिक सौष्ठव अथवा काव्यभाषोचित गुण प्रदान करने में सहायक हो सकती थीं। साहित्यिक भाषा के लिए इस प्रकार की ग्रहण-शीलता अनिवार्य होती है; इसी से उसमें जीवन-शक्ति बढ़ती है और तभी वह जीवित भाषा कहलाने की अधिकारिणी बनती है। परन्तु इसका एक परिणाम यह भी होता है कि विशुद्ध बोली से उसका संबंध क्रमशः कम होता जाता है। व्रजमंडल की विशुद्ध बोली और साहित्यिक व्रजभाषा में किस प्रकार अंतर होना आरंभ हुआ, यह बात सूरदास के समय से ही स्पष्ट होने लगती है। व्रजभाषा-भाषी होने और जीवन भर उसी क्षेत्र में रहकर रचना करने के कारण सूरदास ने उसके प्रकृत स्वरूप की रक्षा अवश्य की, फिर भी उनकी भाषा सर्वत्र ठेठ बोली की विशुद्धता से युक्त नहीं है। और उनके परवर्ती कवियों ने तो विभिन्न स्थानगत विशेषताओं का उसमें समावेश करके व्रजभाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ाने का जो प्रयत्न सोलहवीं शताब्दी से आरम्भ किया, उसकी निरंतरता का क्रम लगभग तीन सौ वर्ष तक अनवरत गति से चलता रहा। इसी कारण वह सूरदास की भाषा से, आगे चलकर, बहुत सी बातों में भिन्न हो गयीं। फिर भी साहित्यिक व्रजभाषा का मूलाधार व्रजप्रदेश की सामान्य बोली ही रही और अन्य विभाषाओं तथा भाषाओं की विशेषताओं का समावेश उसमें इतनी सहज गति से किया गया कि सामान्य पाठक को प्रथम और अंतिम विकास-कालों के भाषा-रूपों में अटपटापन नहीं जान पड़ता।

व्रजभाषा में केवल व्रजप्रदेशीय कवियों ने ही रचनाएँ की हों, सो बात भी नहीं है। सूरदास और उनके समकालीन कुछ कवि अवश्य व्रजभाषी थे; धीरे-धीरे

---

१. **मिर्जाखाँ के 'तुहफ़तुल हिंद' नामक व्याकरण में भी गंगा-यमुना के बीच के प्रदेश को 'व्रजभाषा-प्रांत' कहा गया है। देखिए—भूमिका, विश्वभारती संस्करण, सन् १९३५, पृ० ७।**

२. **'हिंदी भाषा का इतिहास', भूमिका, पृ० ६५।**

समीपवर्ती प्रदेशों के साथ-साथ व्रजभाषा में रचना करनेवाले दूरस्थ क्षेत्रीय कवियों की संख्या भी बढ़ने लगी। इनमें से अधिकांश कवियों ने व्रजभूमि में रहकर नहीं, उसके साहित्यिक रूप का अध्ययन करके ही व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त किया था और तदनंतर वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे। उनकी इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ही सन् १७४६ में भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' में लिखा था कि व्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्रज-वास की आवश्यकता नहीं है, केवल उसके कवियों की वाणी का विधिवत् अध्ययन कर लेने से ही काम चल सकता है—

व्रजभाषा हेतु व्रजबास ही न अनुमानो,
ऐसे - ऐसे कविन्ह की बानीहूँ से जानिए।

बात यह थी कि व्रजभाषा का प्रचार उस समय तक पूर्व बिहार से पश्चिम में उदयपुर तक और उत्तर में कमायूँ-गढ़वाल से दक्षिण में महाराष्ट्र तक हो गया था। इस विस्तृत भू-भाग में अनेक बोलियाँ, विभाषाएँ और प्रांतीय भाषाएँ थीं; परन्तु पाठकों के बहुत व्यापक समुदाय से आदर पाने का लोभ तत्कालीन कवियों को व्रजभाषा में ही रचना करने को प्रवृत्त करता था। जो कवि व्रजप्रदेश के आदिवासी नहीं थे, उनकी मातृभाषा निश्चय ही भिन्न थी। कन्नौजी, बुन्देली आदि बोलनेवाले तो मातृभाषा को व्रजभाषा से किसी सीमा तक मिलता-जुलता मान भी सकते थे, परन्तु दिल्ली, गढ़वाल, बनारस, रीवाँ, उदयपुर, गुजरात आदि स्थानों में और उनके समीपवर्ती प्रदेशों में बसनेवाले कवियों की मातृभाषा और व्रजभाषा में पर्याप्त अंतर था। फिर भी व्रजभाषा में सफलतापूर्वक रचना करके इन्होंने सिद्ध कर दिया कि उनके समय तक यह उत्तरी भारत की सबसे व्यापक काव्यभाषा थी और इसकी पुष्टि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है।

व्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग—

किसी भाषा का निर्माण दो-चार वर्षों में नहीं होता; सामान्य बोल-चाल की विभाषा से साहित्यिक भाषा बनने में दो-तीन शताब्दियाँ तक लग जाती हैं। इस व्यवधान में जो रचनाएँ होती हैं, प्रायः उनकी भाषा में दोनों रूपों का मिश्रण रहता है। आरंभ में पूर्व प्रचलित साहित्यिक भाषा के साथ-साथ विकासोन्मुख नवभाषा के थोड़े प्रयोग ही

---

१. भिखारीदास के छंद की प्रारंभिक पंक्तियाँ ये हैं—

सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामनि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए।
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।

—'काव्य-निर्णय', पृ० ६।

मिलते हैं; परन्तु धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती जाती है और अंत में अनुपात का क्रम बदल कर नवीन भाषा, काव्य या साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। ब्रजभाषा के विकास का क्रम भी यही है। परन्तु इस विषय में प्रामाणिक रूप से विचार करने के साधन आज इस कारण उपलब्ध नहीं हैं कि अपभ्रंश साहित्य की ओर हमारे विद्वानों का ध्यान पिछले पचीस-तीस वर्षों में ही गया है और अभी तक उसके इने-गिने ग्रंथों का ही प्रकाशन संभव हो सका है। भारत की सभी आधुनिक भाषाएँ जब अपभ्रंश से ही विकसित हुई हैं तब इसके प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाशित हो जाने पर ही हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और उसके व्रजभाषा आदि रूपों के विकास के संबंध से नयी बातों का सम्यक ज्ञान हो सकेगा[१]।

अपभ्रंश साहित्य में हिंदी भाषा के प्राचीन रूप किस अंश तक मिलते हैं, यह दिखाने का सर्वप्रथम प्रयास कदाचित् स्वर्गीय पं० श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने किया था और उन्होंने 'पुरानी हिंदी' शीर्षक एक लेखमाला भी प्रकाशित की थी[२]। इसके लिए उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के ग्रंथों से ऐसे उदाहरण संकलित किये थे जिनमें हिंदी-रूपों के बीज विद्यमान हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है, 'इस पुरानी हिन्दी (१२वीं से १४वीं शताब्दी) में, प्राकृत तथा अपभ्रंशपन की मात्रा पर्याप्त है; इसके अतिरिक्त आधुनिकता का जो थोड़ा पुट इस भाषा में मिलता है वह राजस्थानी-गुजराती भाषाओं के प्राचीन रूप की ओर संकेत करता है जैसे 'स' भविष्य का प्रयोग, मूर्द्धन्य वर्णों के प्रयोग की ओर झुकाव आदि। व्रजभाषा अथवा वास्तविक हिन्दी का प्राचीन रूप हमें करीब-करीब बिलकुल भी नही मिलता'[३]। वस्तुत: उन उदाहरणों में व्रजभाषा के दो-चार प्रयोग ही यत्र-तत्र दिखायी देते हैं और वे भी अपने शुद्ध रूप में नहीं, केवल ऐसे रूप में जो इस बात के द्योतक हैं कि उन शब्दों की प्रकृति अपभ्रंशत्व को छोड़कर व्रजभाषत्व को अपनाने की ओर झुक रही है। दो-एक उदाहरण यहाँ कथन की पुष्टि में उद्धृत हैं[४]—

अ. अम्मणिओ संदेसउओ तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिह डुब्बिउँ बलिबंधणह मुहिज्ज[५]॥

आ. जेह आसावरि देहा दिन्हउ। सुस्थिर डाहरज्जा तिन्हउ[६]।

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'श्री महावीर स्मृति ग्रंथ' में प्रकाशित जैन विद्या-संबंधी लेख', शीर्षक निबंध, पृ० १७३।

२. पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेखमाला, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २।

३. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० २९।

४. पं० रामचंद्र शुक्ल के 'बुद्ध-चरित' में उद्धृत, पृ० २-३।

५. भावार्थ—'हमारा संदेसा तारक (तारनेवाले) को कहना। जग दारिद्रय में डूबा है, बलि के बंधन छोड़ दीजिए।

६. भावार्थ—'जिसने आसावरि देश दिया, सुस्थिर डाहर राज्य लिया।

इ. जइ यह रावण जाइयउ दहमुह इक्कु सरीर[1]।

ई. झाली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छार पुंज।
हिंडइ दोरी बंधीअउ जिम मक्कड़ तिम मुंज[2]।

ये उद्धरण सन् ११८४ में श्री सोमप्रभाचार्य-कृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध' और सन् १३०४ में जैनाचार्य मेरुतुंग-कृत 'प्रबंध-चिंतामणि' नामक ग्रंथों के हैं। इनमें प्रयुक्त संदेसड़ओ (संदेसड़ो), डुब्बिड (डूब्यो), दिन्हउ (दीन्हो), लिन्हउ (लान्हो), जाइयउ (जायो), हुयउ (हुओ), बँधीअउ (बँध्यो) आदि रूप इस बात के द्योतक हैं कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में ही प्राचीन ढंग की कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगा था, जो व्रजभाषा के, किसी सीमा तक, आदि रूप माने जा सकते हैं। धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी; क्योंकि बोलचाल के सामान्य व्यवहार में तो इनका प्रयोग होता ही होगा, मौखिक गीत-परंपरा में भी इनकी प्रधानता रही होगी। अस्तु।

हिंदी साहित्य का आरंभ सिद्धों और योगियों[3] तथा जैनाचार्यों की रचनाओं से होता है। इन वर्गों की नवीं-दसवीं शताब्दियों में लिखी गयी रचनाओं की भाषा जैसे इस बात की द्योतक है कि अपभ्रंश नाम से प्रचलित साहित्यिक भाषा में तो रचना होती ही थी; साथ-साथ जनसाधारण की तत्कालीन बोली भी व्यंजना-शक्ति का अर्जन करके साहित्य-रचना के योग्य बनने में लगी हुई थी। सिद्धों की भाषा को 'संध्या भाषा' कहा गया है जिसका संकेत है कि जिस भाषा में उनकी रचनाएँ हैं वह मध्याह्न और अपराह्न का विकास-काल देखने के पश्चात् अब अवस्था के संध्या काल में पहुँच चुकी है। बिहार प्रदेश में बहुत काल तक रहने के कारण जिस प्रकार सिद्धों की भाषा में अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित मगही के कुछ शब्द अधिक मिलते हैं, वैसे ही गुजरात प्रांत से संबंधित होने के कारण अधिकांश जैनाचार्यों की भाषा में नागर अपभ्रंश से विकसित हुई तत्कालीन प्रांतीय भाषा का आदिकालीन रूप स्पष्ट दिखायी देता है, तथापि सामूहिक रूप से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस युग के लेखकों और कवियों की भाषा एक प्रकार से वही थी जिसका प्रचार पश्चिम में गुजरात और

---

१. **भावार्थ——जब यह दसमुँह और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ।**

२. **भावार्थ——टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा, क्षार पुंज क्यों न हो गया जैसे डोरी में बँधा बंदर, वैसे घूमता है मंजु।**

३. **सिद्धों और योगियों के साहित्य की ओर हिंदी-जगत का ध्यान विशेष रूप से आर्कषित करने का श्रेय डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल [क.नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९३०, भाग ११, अंक ४, में प्रकाशित, 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक लेख। ख. सन् १९४२ में प्रकाशित 'गोरखबानी' नामक ग्रंथ] और श्री राहुल सांकृत्यायंन [क. 'पुरातत्व निबंधावली, सन् १९३७ और ख 'हिंदी काव्यधारा', सन् १९४५] को है——लेखक।**

राजपूताने से लेकर पूर्व में बिहार तक था। व्रजभाषा अपने स्वतंत्र रूप में इस समय तक इतनी विकसित नहीं हो सकी थी कि उसमें काव्य-रचना की जा सकती। यह दूसरी बात है कि व्रजप्रदेश में मौखिक पद और गीत उसमें गाये जाते रहे हों; परंतु एक तो उनका कोई उदाहरण आज उपलब्ध नहीं है और दूसरे, उसका स्वरूप भी प्रांतीय प्रभाव से युक्त रहा होगा जिसके प्रमाण सिद्धों, योगियों और जैनाचार्यों की रचनाओं में यत्र-तत्र मिलते हैं।

सूर के पूर्ववर्ती कवि और व्रजभाषा—

'वीरगाथाकाल में राजस्थान, दिल्ली, कन्नौज, और महोबा साहित्य-रचना के प्रमुख केंद्र थे। साहित्यकारों में एक वर्ग चारणों का था और दूसरे में अन्य सभी कवियों को समझना चाहिए जो केवल पुरस्कार-प्राप्ति के लिए साहित्य या काव्य-रचना नहीं करते थे। प्रथम वर्ग के कवियों अर्थात् चारणों का साहित्य डिंगल भाषा[1] में है जो राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी, जिसमें पूर्व प्रचलित अपभ्रंश का भी मेल था और जो तत्कालीन वातावरण के अनुरूप वीररस की रचनाओं के लिए उपयुक्त समझी जाती थी। वीरगाथाकाल की अधिकांश महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी भाषा में मिलती हैं। नरपति नाल्ह-कृत 'बीसलदेव रासो'[2] 'चंद्रबरदायी-कृत 'पृथ्वीराज रासो', जगनिक-कृत 'आल्हाखंड' आदि जो काव्य इस युग में रचे गये, उनमें व्रजभाषा के इतने अधिक शब्द-रूप मिलते हैं कि उनकी भाषा को इतिहासज्ञों ने बहुत बाद की माना है। 'बीसलदेव रासो' के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है[3]।

---

१. डिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुंशी देवी प्रसाद का यह कथन है—'मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डीगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पाँगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और व्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मंद स्वरों में पढ़ी जाती है। इसीलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गयी जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची-नीची बोली की कविता कह सकते हैं—'चाँद', नवम्बर १९२९ में प्रकाशित 'भाट और चारणों का हिंदी भाषा सम्बन्धी काम' शीर्षक लेख, पृ. २०५।

२. श्री नरोत्तम स्वामी के अनुसार इस ग्रंथ का ठीक नाम 'वीसलदे-रास' हैं। देखिए—'वीसल दे-रास' शीर्षक उनका लेख, 'कल्पना', सितम्बर १९५३, पृ. ७०७।

३. लाला सीताराम और श्री नरोत्तम स्वामी (त्रैमासिक 'आलोचना' वर्ष २, अंक २ जनवरी १९५३ में प्रकाशित 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' शीर्षक लेख, पृ. ११०) सं० १२७२ (सन् १२१५); मिश्रबंधु सं. १२२०; सत्यजीवन वर्मा, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल सं. १२१२; गजराज ओझा (नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक १. पृ. ९९) और डा० रामकुमार वर्मा ('आलोचनात्मक इतिहास', पृ. २१०) सं० १०७३, 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल मानते हैं। श्रीअगरचन्द नाहटा ने इसे तेरहवी शताब्दी की रचना कहा है ('राजस्थानी', भाग

श्रीसत्यजीवन वर्मा ने जिस प्रति के आधार पर इसका संपादन किया था, वह संवत् १९५९ की थी[१]; परंतु इसकी सबसे प्राचीन प्रति संवत् १६६९ की लिखी मिलती है[२]। श्री नरोत्तमस्वामी ने इस काव्य की संवत् १६३३ की एक प्रति फूलचंद झावक संग्रह (कलौधी) में होने का उल्लेख किया है[३]। इस ग्रंथ की भाषा को श्री सत्य-जीवन वर्मा ने खड़ीबोली की नानी-दादी कहा है, क्योंकि इसमें उन्हें खड़ीबोली की प्रमुख विशेषताएँ मिलती हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने इस काव्य में कहीं-कहीं पर व्रजभाषा और खड़ीबोली को मिलाने का प्रयत्न किया जाना लिखा है[४]। उनका यह कथन इस दृष्टि से ही ठीक माना जा सकता है कि गेय होने के कारण इस काव्य की भाषा में बराबर परिवर्तन होता गया। वस्तुतः इस ग्रंथ की भाषा राजस्थानी है और प्रारंभिक प्रतियों में इसका प्राचीन रूप सुरक्षित है।

'पृथ्वीराजरासो' के रचनाकाल के संबंध में भी इसी प्रकार विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस ग्रंथ की प्राचीनतम प्रति संवत् १६४२ की लिखी मिलती है[५]। प्रो० रमाकांत त्रिपाठी ने चंदबरदायी के वंशधर नानूराम के पास संवत् १४५५ की लिखी एक प्रति होने की बात आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व कहीं थी[६]। परंतु वह प्रति न अभी तक प्रकाश में आयी है और न उसकी परीक्षा ही की जा सकी है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'रासो' की नौ प्राचीन प्रतियों के देखने का उल्लेख किया है;[७] परंतु उनमें केवल एक संवत् १७६० की है, शेष का लिपिकाल या तो अज्ञात है या इसके बाद का है। 'रासो' की कुछ अन्य प्रतियों का उल्लेख श्रीनरोत्तम-

---

३, अंक ३, पृ. २२)। श्री गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने बीसलदेव का समय संवत् १०३० से १०५६ माना है (हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृ. ३५८); परन्तु 'बीसलदेव रासो' की रचना वे हम्मीरदेव के समय में होना मानते हैं ('राज-पूताने का इतिहास', भूमिका, पृ. १९)। यदि इस काव्य में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रियाओं के आधार पर नरपति नाल्ह को बीसलदेव का समकालीन स्वीकार कर लिया जाय तो संवत् १०७३ तिथि ही किसी सीमा तक ठीक हो सकती है—लेखक।

१. 'बीसलदेव रासो' का नागरी-प्रचारिणी सभा से संवत् १९८१ में प्रकाशित संस्करण।
२. डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ. २७।
३. मासिक 'कल्पना', सितम्बर १९५३ में प्रकाशित 'बीसलदे-रास' शीर्षक उनका लेख, पृ. ७०९।
४. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. ४४।
५. डा. धीरेन्द्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ. २७।
६. 'चाँद' के 'मारवाड़ी अंक', वर्ष ८, खंड १, नवम्बर १९२९ में प्रकाशित उनका 'महाकवि चंद के वंशधर शीर्षक लेख, पृ. १४९।
७. श्री मोतीलाल मेनारिया द्वारा संपादित 'राजस्थान में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज', प्रथम भाग, पृ. ५५-७०।

स्वामी ने वृहत्, मध्यम, लघु और लघुतम रूपांतर के नाम से किया है; उनमें भी सबसे प्राचीन प्रति संवत् १७२३ की ही है[१]। श्री उदय सिंह भटनागर ने भी इस महाकाव्य की चारप्रतियों के मिलने की बात लिखी है जिनमें से एक अपूर्ण प्रति का लिपिकाल अनुमान के आधार पर उन्होंने संवत् १४०० माना है, दूसरी संवत् १७६१ की लिखी हुई है और शेष दोनों इसके बाद की हैं[२]। इनमें से प्रथम अपूर्ण प्रति महत्व की जान पड़ती है; परन्तु सुलभ न होने के कारण उसके संबंध में कुछ कहना अभी कठिन है। 'रासो' में दिये हुए विवरण और उसकी भाषा आदि देखकर श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा इसका रचनाकाल संवत् १५१७ और १७७२ के बीच में मानते हैं[३]। अन्य विद्वानों में से अधिकांश ने ओझा जी के मत का ही समर्थन किया है। परंतु मिश्रबंधु और बाबू श्यामसुंदरदास का मत इनसे भिन्न है और उनका कहना है कि इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में प्रक्षिप्त अंश कितना भी हो, है यह अवश्य प्रामाणिक ग्रंथ। जो हो, इतना निश्चित है कि 'रासो' की वर्तमान प्राप्त प्रतियों में व्रजभाषा शब्दों की ही अधिकता है[४]।

जगनिक-कृत 'आल्हाखंड' के संबंध में प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं कि इसका जो संस्करण आज प्राप्त है, वह बहुत बाद का, लगभग बिलकुल आधुनिक ही, है और इसके आधार पर उसके मूल रूप के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

यह सब होने पर भी इस युग के ग्रंथों की प्राप्त प्रतियाँ देखकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि राजस्थानी के साहित्यिक रूप डिंगल में काव्य-रचना करनेवाले कवि भी व्रजभाषा के प्राचीन रूप से परिचित अवश्य थे और कभी कभी उसके शब्द और प्रयोग अपनाने में संकोच नहीं करते थे। 'डिंगल' की ध्वनि पर उत्तरप्रदेशीय तत्कालीन काव्यभाषा——प्रारंभिक व्रजभाषा——का 'पिंगल'[५] नामकरण भी राजपूताने में ही इसी युग में हुआ और यह भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। राजस्थान के चारणेतर साहित्यिक प्रायः पिंगल में काव्य-रचना भी करते थे।

इस समय की व्रजभाषा के प्रारंभिक उदाहरण अमीर खुसरो (सन् १२५३——१३२४) की कुछ रचनाओं के रूप में ही आज उपलब्ध हैं[६] जिन्हें देखकर

---

१. 'राजस्थान-भारती', भाग १, अंक १, अप्रैल १९४६।
२. 'राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज',—तृतीय भाग, पृ. ९० – १०१।
३. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १० में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक लेख, पृ. ६२।
४. जर्नल आव दि बेंगाल एशियाटिक सोसाइटी', सन् १८७३ में प्रकाशित बीम्स का 'रासो की भाषा' सम्बन्धी लेख, भाग १, पृ. १६५।
५. 'पिंगल दि नेम गिवेन इन राजपूताना टु दि व्रजभाषा डायलेक्ट आव वेस्टर्न हिंदी'—श्री एफ. ई. के—'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर', पृ. ३।
६. श्री व्रजरत्न दास का 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक लेख, 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अंक ३।

(नंदजू) मेरैं मन आनंद भयौ, मैं गोबर्धन तैं आयौ।
तुम्हरैं पुत्र भयौ, हौं सुनि कै, अति आतुर उठि धायौ॥

× × × ×

हौं तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मोहिं नाऊँ[1]॥

बीच-बीच में, श्रीकृष्ण के विविध लीलोत्सवों में, वे मथुरा और गोकुल तक आते-जाते रहे; किसी अन्य स्थान पर उनके जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सम्राट अकबर से उनकी भेंट भी मथुरा में ही होना लिखा गया है[2]। 'सूरसागर' के अनेक पदों में वृन्दावन के श्रद्धापूर्ण वर्णन से यह ज्ञात होता है कि वे वृन्दावन भी गये थे। वस्तुतः वृन्दावन वल्लभ-संप्रदाय का केन्द्र नहीं है। इस संप्रदाय का न वहाँ कोई मंदिर है, न कोई गद्दी। वहाँ तो निंबार्क, माध्व, चैतन्य, हरिदासी और राधा-वल्लभीय संप्रदायों के मन्दिर और गद्दियाँ हैं। सूरदास के समय में भी वल्लभ-संप्रदाय का वहाँ कोई प्रचार-स्थान नहीं था; वैसे सभी भक्तजन वृन्दावन आते-जाते रहते थे। अतएव सूरदास का वहाँ जाना तो संभव हो सकता है, परन्तु वहाँ अधिक समय तक वे रहे हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इष्टदेव के अनन्य भक्त और भक्ति-उपासना में ही जीवन का सर्वोपरि आनन्द और उसकी सार्थकता माननेवाले परम उपासक के लिए उन्हीं के समीप रहकर कीर्तन-सेवा में लगे रहना स्वाभाविक भी जान पड़ता है। उनका देहांत गोवर्द्धन के निकट ही परासौली--'परम रासस्थली'--नामक स्थान पर हुआ, जहाँ प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण ने रासलीला की थी।

व्रजभाषा सूर की मातृभाषा थी---

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूरदास का जन्म व्रजभाषा-प्रदेश में हुआ और उनका समस्त जीवन भी व्रज-क्षेत्र में बीता। इसलिए व्रजभाषा उनकी मातृ-भाषा थी जिसकी पुष्टि उनकी रचनाओं से भी होती है,[3] और आजीवन वे उसी को बोलते भी रहे। वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व का जीवन अर्थात् आयु के प्रारंभिक तीस-बत्तीस वर्ष उन्होंने ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में बिताये जिनमें से कुछ तो व्रजप्रदेश के निवासी होने के कारण ठेठ व्रजभाषा-भाषी थे; कुछ व्रजभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषी साधु थे। तदनंतर उनका संबंध ऐसे व्यक्तियों से बढ़ा जो संस्कृत भाषा के विद्वान थे, उसके ग्रंथों का नियमित रूप से पारायण करते थे और भक्तों-उपासकों के लिए कथा-वार्ता, टीका-व्याख्या आदि में पर्याप्त समय दिया करते थे। कुछ समय के बाद वे अष्टछाप के उन कवियों से भी घिरे रहने लगे जो उन्हीं की तरह श्रीकृष्ण-लीलाओं का गान किया करते थे और चर्मचक्षुओं से युक्त रहने के कारण शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन, अध्ययन-पारायण आदि से लाभ उठाने का भी जिनको सूरदास की अपेक्षा कहीं अधिक अवसर था।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ३५।
२. 'अष्टछाप' (काँकरौली), पृ० २४।
३. डा० जनार्दन मिश्र, 'सूरदास', पृ० ३२।

सूर की शिक्षा-दीक्षा—

किसी कवि के ज्ञान और पांडित्य का परिचय उसकी रचनाओं से होता है। पश्चात्, जिज्ञासु पाठक उनके मूल स्रोत का पता लगाना चाहता है। सूरदास के संबंध में इस प्रकार की छान-बीन का विशेष अवसर ही नहीं रह जाता; क्योंकि जब तक उनके जन्मांध होने के विवाद का अंत नहीं हो जाता तब तक निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें किस प्रकार की और कितनी शिक्षा नियमित रूप से मिली थी तथा पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन उन्होंने किस प्रकार और कितना किया था। सूरदास की अंधता के संबंध में यहाँ तक तो सभी विद्वान एकमत हैं कि आयु का बहुत अधिक भाग उन्होंने अंधे रहकर ही बिताया; विवाद का विषय केवल यह है कि वे जन्मांध थे अथवा बाद में अंधे हुए। सूर-काव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी अंधता की ओर संकेत करती हैं—

१. सूरदास सौं कहा निहोरौ, नैंननि हूँ की हानि[1]।
२. सूर कूर आँधरौ, मैं द्वार पर्‌यौ गाऊँ[2]।
३. काटो न फंद मो अंध के, अब बिलंब कारन कवन[3]।
४. सूरजदास अंध अपराधी सो काहैं बिसरायौ[4]।
५. सूर कहा कहै दुबिधि आँधरौ, बिना मोल कौ चेरौ[5]।
६. इहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के नयन द्वै रहैं, नर देह पाऊँ[6]।
७. द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।
बिनु देखे कल परत नहीं छिनु, एते पर कीन्हीं यह टेऊ[7]।

बहिःसाक्ष्यों में भी दो वर्ग हैं—किसी ने सूरदास को केवल नेत्रविहीन लिखा है, यद्यपि उससे आशय कवि के जन्मान्ध होने से ही जान पड़ता है और किसी ने स्पष्ट ही उनकी जन्मांधता का उल्लेख कर दिया है। बहिःसाक्ष्यों में निम्नलिखित उल्लेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

१. जन्मांधो सूरदासोऽभूत[8]।
२. बाहर नैन बिहीन सो भीतर नैन बिसाल।
तिन्हैं न जग कछु देखिबौ, लखि हरि-रूप निहाल[9]।
३. प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरि-लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी[10]।

---

१. सा. १-१३५। २. सा. १-१६६। ३. सा. १-१८०। ४. सा. १-१९०।
५. सा. १-१६६। ६. सा. १६२४।
७. 'सूरसागर', पद २४६८।
८. श्रीनाथ भट्ट-कृत 'संस्कृत मणिमाला', श्लोक १।
९. श्रीप्राणनाथ कवि-कृत 'अष्टसखामृत'।
१०. भक्तप्रवर नाभादास जी।

४. जन्महि ते हैं नैन बिहीना । दिव्य दृष्टि देखहिं सुख भीना[१] ।

५. जन्म अंध दृग ज्योति बिहीना[२] ।

६. क. सो सूरदास जी के जन्मत ही सों नेत्र नाहीं हैं और नेत्रन को आकार गढ़ेला कछु नाहीं । ऊपर भोंह मात्र हैं[३] ।

ख. जन्मे पाछे नेत्र जायँ तिनको आँधरो कहिये, सूर न कहिये और ये तो सूर हैं[४] ।

सारांश यह कि अंतः और बहिःसाक्ष्य सूरदास की अंधता के संबंध में तो एकमत हैं ही, उनकी जन्मांधता की ओर भी उनमें प्रायः संकेत किया गया है । परंतु सूर-साहित्य के आधुनिक आलोचक, जिनमें सर्वश्री मिश्रबंधु[५], श्यामसुन्दरदास[६], डा० बेनीप्रसाद[७], जनार्दन मिश्र[८], डा० दीनदयालु गुप्त,[९] नंददुलारे वाजपेयी[१०], व्रजेश्वर वर्मा,[११] रामरतन भटनागर[१२] आदि मुख्य हैं, उनके काव्य में विविध रसों के अनुरूप मानवीय हाव-भाव, प्राकृतिक दृश्यों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र तथा विभिन्न रंगों के वर्णन देखकर अनुमान करते हैं कि वे जन्मांध नहीं हो सकते;[१३] अवस्था पाकर ही अंधे हुए होंगे । इस तर्क का उत्तर भी कुछ आलोचकों[१४] ने यह कहकर दिया है कि सूरदास सामान्य व्यक्ति नहीं थे कि लौकिक जगत के सामान्य दृश्य देखने के लिए उन्हें चर्म-चक्षुओं की आवश्यकता पड़ती । वे दिव्यदृष्टि-संपन्न उच्च कोटि के महात्मा थे जिनके ज्ञान-चक्षुओं में बहिः और अंतर्जगत के क्रिया-कलाप देखने की भी सामर्थ्य थी । परब्रह्म की अनुकंपा से

---

१. महाराज रघुराज सिंह-कृत 'रामरसिकावली' ।
२. मियाँसिंह-कृत 'भक्त-विनोद' ।
३. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग (श्रीहरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश'), काँकरौली, पृ० ४ ।
४. —'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग (श्री हरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश'), काँकरौली, पृ० ५ ।
५. 'हिंदी-नवरत्न', पृ० २३० ।
६. 'हिंदी-साहित्य', पृ० १८५ ।
७. 'संक्षिप्त सूरसागर', भूमिका, पृ० ६ ।
८. 'सूरदास' (अँगरेजी)' भूमिका, पृ० २७ ।
९. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' प्रथम भाग, पृ० ८२ और २०२ ।]
१०. 'सूर-संदर्भ', भूमिका, पृ० ३४ ।
११. 'सूरदास', पृ० ३१ ।
१२. 'सूर-साहित्य की भूमिका', पृ० १३ ।
१३. डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने अपने 'सूरदास' में पहले तो लिखा है—'अवश्य ही वे जन्मांध नहीं थे' और दूसरे ही पृष्ठ में इसका विरोध-सा किया है—'अधिक संभव यही जान पड़ता है कि वे जन्मांध थे'—पृ० १० और ११ ।
१४. डा० मुंशीराम शर्मा, 'सूर-सौरभ', प्रथम भाग, पृ० २४ ।

कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की अलौकिक दिव्य दृष्टि प्राप्त कर सकता है। इसकी पुष्टि स्वयं सूरदास के कुछ कथनों से होती है—

१. चरन कमल बंदौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कुछ दरसाई[1]।

२. हरि जू तुम तैं कहा न होई।
बोलै गुंग पंगु गिरि लंघै अरु आवै अंधौ जग जोई[2]।

वस्तुतः ब्रह्म की कृपा से सच्चा भक्त स्वयं-प्रकाश हो जाता है और तब उसे चर्म-चक्षुओं की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परंतु दिव्य दृष्टि-सम्पन्नता की यह अलौकिक महिमा सर्वसाधारण के अनुभव की बात नहीं है और न साहित्यिक तथ्यों के नीरस और शुष्क अनुसंधान में संलग्न व्यक्ति का सामान्यतः इन पर विश्वास ही जमता है। वह तो कारण-कार्य के प्रत्यक्ष और सर्वसिद्ध उन तथ्यपूर्ण कथनों में विश्वास करता है जो सर्वानुकूल हों और जिनके कारण किसी सत्यान्वेषक पर यह आरोप भी न लगाया जा सके कि वह आर्ष वाक्यों या आर्ष निष्कर्षों अथवा सच्चे साधु-संतों की अलौकिक क्षमता के प्रति अविश्वस्त है।

अतएव समस्त अंतः और बाह्य प्रमाणों पर विचार करके प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि सूरदास जन्मांध ही थे। यदि वे बाद में अंधे हुए होते तो इस संबंध में कोई न कोई उल्लेख या संकेत स्वयं उन्हीं के काव्य में, और चर्चा अथवा किंवदंती समकालीन अथवा परवर्ती बाह्य साक्ष्यों में अवश्य मिलती। कारण, कवि के जीवन की यह इतनी महत्वपूर्ण घटना होती कि सांसरिकता से कितना भी विरक्त होने पर वह इससे अप्रभावित न रह पाता और बहुत संभव है कि उसने कवि की जीवन-धारा को ही परिवर्तित कर दिया होता और तब निश्चित है कि बहिःसाक्ष्य भी इस संबंध में मौन नहीं रह सकते थे। नेत्रहीनता सामान्य ही नहीं, विशिष्ट व्यक्ति के लिए भी, विधि का भयंकर अभिशाप है जिसकी वेदना को बिलख-बिलख कर कहने पर ही वह थोड़े संतोष का लाभ कर सकता है। जन्म से ही नेत्रहीन प्राणी से कहीं अधिक मर्मांतक छटपटाहट का अनुभव इस सर्वोत्तम इंद्रिय को बाद में खोनेवाला करता है। अतएव यदि सूरदास बाद में अंधे हुए होते तो इस शाप या वरदान को——शाप इस कारण कि वह नेत्रेंद्रिय-सुख से वंचित रहा और वरदान इसलिए कि आँखें न होने से ही वह अनेक लौकिक प्रलोभनों और व्यसनों से सहज ही बचा रह सका——कवि ने मूक रहकर ही न ग्रहण कर लिया होता, प्रत्युत अँगरेज़ी कवि मिल्टन की भाँति उसने उस बात की चर्चा अवश्य की होती। हमारे आलोचक सूरदास के काव्य में विविध वर्णों, प्राकृतिक दृश्यों, मानवीय हाव-भावों आदि का चित्रण देखकर उनके जन्मांध न होने के पक्ष में यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जन्म से नेत्रहीन कवि को इन सबका ज्ञान कैसे हुआ होगा। इस विषय में निवेदन है कि

१. सा. १-१ । २. सा. १-९५ ।

प्रतिभासंपन्न कवि के संबंध में इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती; विशेषकर उस समय जब कवि ऐसे वातावरण में जीवन भर रहा जिसमें हर पहर कथा-वार्ता, कीर्तन-चर्चा, पूजा-पाठ आदि सबका एक ही विषय हो; कवियों, संगीतज्ञों और गायकों की गोष्ठी उसी के वर्णन में रत हो; ज्ञानी-योगी उसी के ध्यान में संलग्न हों तथा कथावाचकों, टीका-व्याख्याकारों, विद्वानों और अध्येताओं का समय उसी के अध्ययन, मनन और विश्लेषण में व्यतीत होता हो।

सूर-साहित्य के सभी मर्मज्ञ इस विषय में एकमत हैं कि उसके रचयिता का ज्ञान और अनुभव बहुत गंभीर और विस्तृत था; परंतु यह सब सहज दैवी प्रतिभा तथा अध्यवसाय की देन थी अथवा नियमित अध्ययन और विधिवत् शिक्षा का फल, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उनके कुछ आलोचकों का मत है कि सूरदास को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपेक्षित अवसर मिला होगा[1]। और एक महाशय ने तो यह भी लिख दिया है कि सूरदास काव्यशास्त्र के पंडित थे और उन्होंने पुराणों का अच्छा अध्ययन किया था[2]। परंतु न तो उन्होंने इसका कोई प्रमाण दिया है और न उनके समकालीन अथवा परवर्ती किसी भक्त या लेखक ने ही इस संबंध में कोई उल्लेख किया है। हरिराय जी ने सूरदास के पद बनाने[3]--और गान-विद्या में बहुत चतुर होने[4]--की बात कही है, परंतु इनका ज्ञान उन्हें कैसे हुआ, किससे उन्होंने पद बनाना सीखा, संगीत का कैसे अभ्यास किया अथवा सामान्य शिक्षा कितनी पायी, इस संबंध में वे भी मौन हैं। मियासिंह-कृत 'भक्त-विनोद' में माता-पिता के साथ बालक सूरदास का व्रज-यात्रा को जाना और वहाँ वैष्णवों के साथ ही रहने लगना, लिखा है; परंतु डा० दीनदयालु गुप्त-जैसे विद्वान उसे प्रामाणिक नहीं मानते[5]। ऐसी स्थिति में यही जान पड़ता है कि छोटी ही अवस्था में गृह त्याग कर, सीही ग्राम से चार कोस दूर, तालाब के किनारे सूरदास बस गये और जन्मांध होने के कारण संसार के आकर्षणों, प्रलोभनों और व्यसनों से दूर रहकर स्वतः सरस्वती की साधना में प्रवृत्त हुए। तालाब के किनारे विश्राम लेनेवाले किसी साधु, महात्मा या गायक ने कभी उनको संगीत संबंधी कोई निर्देश दे दिया हो तो दूसरी बात, अन्यथा यह उनकी निजी लगन और साधना थी जिसने उन्हें इतनी सफलता प्रदान की। हरिराय जी ने उनके कंठ की कोमलता की सराहना भी की है--'सूर को कंठ बहुत कोमल हतो'[6]। इस दैवी कृपा से भी चर्म-चक्षुविहीन उस युवक को बहुत

---

१. डा० व्रजेश्वर वर्मा, 'सूरदास', पृ० १५।
२. पं० रामनरेश त्रिपाठी, 'कविता कौमुदी', पहला भाग, (सं० १९९०), पृ० १७६।
३. 'अष्टछाप', काँकरौली, पृ० ९।
४. 'अष्टछाप', काँकरौली, पृ० १०।
५. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० १२४।
६. 'अष्टछाप', काँकरौली, पृ० १०।

उत्साह मिला होगा। तभी, वैराग्य होने पर, जब वह अपना समस्त लौकिक ऐश्वर्य और सुख-साधन त्याग कर गऊघाट पर आ बसा, उसकी काव्य और संगीत-साधना के लिए पहले से भी अधिक अवकाश मिलने लगा। अपनी प्रतिभा का आभास उसे मिल चुका था; अब आवश्यकता उसके नियमित और निरंतर विकास की थी जिसमें वह तीस- बत्तीस वर्ष की आयु तक निरंतर लगा रहा।

सारांश यह है कि किसी पाठशाला में अथवा गुरु के समीप रहकर सूरदास को नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। अपने संपर्क में आनेवाले सामान्य और विशिष्ट जन-समुदाय के वार्तालाप से ही उन्होंने किसी सीमा तक ज्ञानार्जन किया। साधु-संतों के समय-समय पर समागम ने उनको विशेष प्रेरणा प्रदान की। प्रसिद्ध संत कबीरदास ने भी सत्संग के आधार पर ही ज्ञान-वृद्धि की थी; परन्तु स्थिति के अन्तर ने दोनों के स्वभावों और मार्गों को समान न रहने दिया। कबीरदास की शारीरिक पूर्णता ने उन्हें पर्यटन-प्रिय के साथ-साथ अक्खड़ बनाकर जहाँ उनकी ज्ञान-विषयक संचय-वृत्ति को खंडनात्मक रूप भी दिया, वहाँ सूरदास की शारीरिक अपूर्णता ने उन्हें निरीहावस्था में डालकर एक ही स्थान पर पर्याप्त समय तक तटस्थ और अविरोधी रूप से काल-यापन करते हुए उपयोगी तत्वों के चयन के लिए सदैव सतर्क रहने को प्रेरित किया। फलस्वरूप विस्तृत जन-समुदाय के बीच रहनेवाले कबीरदास की खंडन-मंडनात्मक और समाज-सुधारक वृत्ति प्रखर हुई, तो सूरदास एकांत जीवन में ब्रह्म के लोकरंजनात्मक रूप का अन्तर्दृष्टि से दर्शन करते हुए, कभी अपनी अकिंचनता का गान करके उसे द्रवित करने में लगे और कभी उसकी मनोरम लीलाओं के वर्णन द्वारा अंतः सुख-वृद्धि में।

आयु के लगभग एक चौथाई भाग तक एकांत साधना में लगे रहने के पश्चात् सूरदास की भेंट वल्लभाचार्य जी से हुई। लौकिक सुख-साधनों से विरक्त इस युवक की विनम्रता से सन्तुष्ट होकर महाप्रभु ने उसे अपनी शरण में लिया और दीक्षा दी। हरिराय जी के अनुसार, आचार्य जी ने सबसे पहले 'श्रीमद्भागवत' की स्वरचित 'सुबोधिनी टीका' का ज्ञान कराया[१] और अपने संप्रदाय का रहस्य भी समझाया[२]। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में एक स्थान पर श्री गोंसाई जी का संस्कृत भाषा में एक पालना रचकर सूरदास जी को सिखाने का उल्लेख मिलता है[३]। इससे यह नहीं समझना चाहिए

---

१. "सो सगरी 'श्रीसुबोधिनी' जी को ज्ञान श्री आचार्य जी ने सूरदास के हृदय में स्थापन कियो तब भगवल्लीला-जस वर्णन करिबे को सामर्थ्य भयो"
—'चौरासी वार्ता,' हरिराय-कृत 'भावप्रकाश', 'अष्टछाप' (काँकरौली), पृ० १३।

२. श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौं।
—'सूर-सारावली' (वेंकटेश्वर प्रेस), छंद ११०२, पृ० ३८।

३. 'श्री गुसाई जी ने एक पालना संस्कृत में कीयो सो पालना सूरदास जी को सिखायो। सो पालना सूरदास जी ने श्री नवनीत प्रिया जी झूलत हुते ता समय गायो। सो पद—राग रामकली—'प्रेम पर्यंक शयनं'। यह पद सूरदास जी ने संपूर्ण करिके

कि सूरदास जी को संस्कृत भाषा का भी ज्ञान था। इसका संकेत केवल इतना ही हो सकता है कि वे बहुत तीक्ष्ण बुद्धि-सम्पन्न थे और इसी से संस्कृत के पद का उन्होंने सारांश स्वयं समझ लिया जैसा ऐसे वातावरण में रहनेवाले के लिए कठिन नहीं होता; तथा उसी का आधार लेकर तद्विषयक रचना भी प्रस्तुत कर दी।

हरिराय जी ने सूरदास को, 'सगुन बताइबे में चतुर' लिखा है[1]। 'सूरसागर' की कुछ पंक्तियों से[2] ज्ञात होता है कि ज्योतिष विद्या में उनकी गति अवश्य थी; परन्तु इसका भी उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया होगा, ऐसा नहीं जान पड़ता। उस विद्या के किसी जानकार के सत्संग से उन्होंने उसका कुछ परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा, यही तत्कालीन स्थिति में संभव था। चर्मचक्षुओं के अभाव में अन्य इंद्रियों की शक्ति सामान्यतया बहुत विकसित हो जाती है और संयम- साधना के फलस्वरूप उनकी आत्मिक क्षमता का विशेष रूप से वृद्धि पा जाना भी संभव है। अतएव अंधावस्था में जनसाधारण को आकर्षित और प्रभावित करने के लिए पद गाने और शकुन बतलाने में उन्होंने ख्याति प्राप्त करके उक्त दैवी अभिशाप-जन्य न्यूनता की यथासाध्य पूर्ति का मानवोचित प्रयत्न ही किया।

वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर सूरदास को ऐसा काव्यमय वातावरण प्राप्त हुआ कि उससे उनकी कवि-वृत्ति को प्रस्फुटित और विकसित होने की निरंतर प्रेरणा मिलने लगी। अष्टछाप के आठों कवियों में सूरदास सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और वे 'पुष्टि मार्ग के जहाज'[3] के रूप में प्रतिष्ठित थे। परन्तु इस बात का उन्हें अभिमान न था और अन्य सखाओं[4] से उन्हें बड़ा स्नेह था। मंदिर के उत्सवों के अतिरिक्त भी

गाय सुनायो श्री नवनीतप्रिय जी को। पाछे या पद के भाव के अनुसार बहुत पद कीये'।

—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', पृ० २८३।

१. 'अष्टछाप' (काँकरौली), पृ० १०।

२. (नंद जू) आदि जोतिषी तुम्हरे घर.कौ पुत्र-जन्म सुनि आयौ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ।

—'सूरसागर', १०-८६।

३. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३२।

४. 'श्री मद्भागवत' में श्रीकृष्ण ने अपने सखाओं को संबोधित करते हुए उनके ये नाम बताये हैं —
हे कृष्ण स्तोक, हे अंशो, श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप॥

दशम् स्कंध (पूर्वार्द्ध), अध्याय २२, श्लोक ३१, पृ० २७३।

इनमें से प्रथम आठ कृष्ण के ऋषभ तक के रूप में अष्टछाप के आठों कवि संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। सूरदास इनमें मुख्य थे और उन्हें कृष्ण कहा गया है—लेखक।

सूरदास इन सखाओं से मिलते-जुलते और धर्म तथा काव्य-चर्चा किया करते थे। अष्टछाप में कई वैष्णवों के साथ सूरदास जी का परमानंददास के घर जाना लिखा गया है[1] जो उक्त कथन का एक प्रमाण माना जा सकता है। इसी प्रकार नंददास का छह मास तक परासौली में सूरदास जी के साथ रहने का भी उल्लेख मिलता है[2]। 'वार्ता' के अनुसार सूरदास जी ने कृष्णदास अधिकारी को एक बार इस लिए टोंका भी था कि इनकी रचना में उनके भावों की छाया आ जाती है। कृष्णदास ने इस पर एक ऐसा पद रचने का निश्चय किया जिसमें उनकी छाया न आ सके और वह ऐसे विषय का हो जो सूरदास ने छुआ न हो[3]। यह प्रसंग भी संकेत करता है कि अष्टछापी कवि एक दूसरे से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रेरणा लिया करते थे।

आशय यह है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने से पूर्व सूरदास काव्य-रचना अवश्य करते थे; स्व-दैन्य-प्रकाशन मात्र उनका ध्येय होने के कारण उस समय की कविता काव्य-कला के समस्त आडंबरों से रहित होती थी। अपने सरल और अनावरित रूप में, शांत रस की दृष्टि से, भक्तों का सर्वस्व होने पर भी इस काल की रचना में रसात्मक लालित्य, काव्यात्मक चमत्कार और भाषा की प्रांजलता की एक प्रकार से कमी ही माननी चाहिए। श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा का सौभाग्य प्राप्त करने के पश्चात् इन अभावों को दूर करने में सूरदास इस कारण भी सफल हो सके कि अब वे साहित्यिक वातावरण के मध्य में थे जहाँ प्रतिदिन कवियों और संगीताचार्यों के समक्ष अपनी अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए सभी को प्रस्तुत रहना पड़ता था। सूर-साहित्य में रचना-शैली की विविधता भी इस बात का प्रमाण है कि सूरदास इस प्रकार की गोष्ठियों में सरुचि भाग लेने को सदैव प्रस्तुत रहते थे।

विनय-पदों की रचना में सूरदास की प्रतिभा का प्रर्याप्त निखार परिमित विषय की एकरसता के कारण भी न हो सका। श्रीकृष्ण-लीला-गान का निर्देश पाने के पश्चात् जो सरस विषय उन्हें प्राप्त हो गया, उसमें उनकी पूर्ण तल्लीनता हो गयी। जीवन के एकाकीपन में सांसारिक संघर्ष और क्रिया-कलाप से तटस्थ, आत्मनिवेदन में संलग्न कवि, महाप्रभु द्वारा जीवात्मा-रूपिणी गोपियों को स्व-साहचर्य से अपार आनंद देनेवाले रसिकप्रवर श्रीकृष्ण का आश्रय लेने की प्रेरणा पा, भटकते हुए-से जैसे राजमार्ग पर आ गया। लीलावतारी की भक्तवत्सलता की महिमा गाते-गाते

१. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ८९।
२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ३४०।
३. 'एक दिन सूरदास जी ने कृष्णदास सों कही जो कृष्णदास तुमने जितने पद किये तामें मेरी छाया आवत है। तब कृष्णदास ने कही जो अब के ऐसो पद करूँ सो तामें तिहारी छाया न आवे। पाछे कृष्णदास एकांत में बैठि कै विचार किये एकाग्र मन करिकै, जो सूरदास जो वस्तु न गाये होंय सो गावनो यह विचार'।
—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० २०५-६।

तन्मय हो जाने पर सूरदास की अंतरात्मा की वीणा से जो संगीतमय ध्वनि निस्सृत हुई उसमें हृदय की असीम मुग्धता थी। यह ऐसा आकर्षक विषय था जिसने परिवार के समस्त सुखों का सोल्लास अनुभव कवि को करा दिया। सुख-दुखमय जीवन की विविध परिस्थितियों की अनेकरूपता ने कवि को उन पर एक से अधिक दृष्टिकोणों से विचार करने का अवसर दिया। फलस्वरूप नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर कवि ने एक प्रसंग पर अनेकानेक उक्तियाँ प्रस्तुत कर दीं जिसके लिए विविध शैलियों के उपयुक्त भाषा-रूपों को अपनाने में कवि समर्थ हो सका।

सूरदास के प्रादुर्भाव के समय उत्तरी भारत के गिने-चुने स्थान ही भारतीय भक्ति-उपासना के प्रमुख केंद्र रह गये थे। व्रज और उसका समीपवर्ती प्रदेश कृष्णभक्ति का सर्वोपरि स्थान था। राधावल्लभी, हरिदासी आदि अनेक संप्रदायों के भक्त और उपासक दूर-दूर प्रदेशों से समय-समय पर वहाँ आते रहते थे और कुछ तो वहाँ सदा बने रहते थे। संभव है, सूरदास को प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा इन संप्रदायों के भी भक्तों से मिली हो। परंतु उनकी वृत्ति केवल अनुकरणात्मक नहीं थी। चर्मचक्षुओं का अभाव होते हुए भी प्रत्येक विषय को मौलिक कोण से देखने की पैनी अंतर्दृष्टि उनके पास थी जिसके आश्रय से हर प्रसंग और भाव को सर्वथा नवीन रूप देने में वे पूर्ण सफल हो सके।

सूर का ज्ञान और पांडित्य—

सूरदास की शिक्षा-दीक्षा भले ही व्यवस्थित न रही हो और नियमित अध्ययन का भी अवसर उन्हें चाहे न मिला हो, परन्तु निरंतर अध्यवसायपूर्ण अभ्यास और विस्तृत अनुभव के आधार पर जो काव्य उन्होंने रचा उससे उनके अगाध ज्ञान और प्रकांड पांडित्य का स्पष्ट परिचय मिलता है। सूरदास व्यावहारिक ज्ञान-संपन्न थे, साथ-साथ 'सूरसागर' में हमें उनके तीन रूप प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं—कवि, संगीतकार और सांप्रदायिक सिद्धांत-व्याख्याता रूप। इन तीनों क्षेत्रों में इस अंध कवि की कुशलता आज के पाठक को चमत्कृत करती है और चकित भी।

अ. कवि-रूप—काव्यकार के लिए भावुकता के अतिरिक्त वर्ण्य विषय तथा जड़ और चेतन प्रकृति के सभी तत्वों का पूर्ण परिज्ञान अपेक्षित है। सूरदास उच्च कोटि के कवि, प्रकृति के पुजारी एवं मानव स्वभाव के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों के ज्ञाता थे। काव्य के विविध प्रकारों के अनेक सुंदर उदाहरण उनके साहित्य में उपलब्ध हैं। अलंकार, रस, वृत्ति, गुण आदि काव्यगत आवश्यक तत्वों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन विषयों की यद्यपि शास्त्रीय व्याख्या उन्होंने नहीं की, तथापि उनके काव्य में इनका समावेश इस बात का स्पष्टतः परिचायक है कि वे उनके मर्मज्ञ थे। व्रजभाषा ही नहीं, उसके निकटवर्ती प्रदेशों में प्रचलित देशी-विदेशी अन्य भाषाओं की भी उनको सामान्य जानकारी थी और सभी के उपयुक्त तथा काव्योपयोगी प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलते हैं। इससे भी उनकी पर्यवेक्षक प्रकृति और ग्रहणशीलता का परिचय मिलता प्राप्त होता है।

आ. संगीतज्ञ-रूप—संगीत पर सूरदास का अद्भुत अधिकार था। महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने के पूर्व ही वे संगीत-कुशलता के लिए विख्यात हो गये थे। उनके पद सुनकर आचार्य जी का उनको दीक्षा देने के लिए सुगमता से प्रस्तुत हो जाना भी परोक्ष रूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि वे उनके कण्ठ-माधुर्य और संगीत-कौशल पर मुग्ध हो गये थे। आगे चलकर महाप्रभु का श्रीनाथ जी के मंदिर की कीर्तन-सेवा सूरदास जी को सौंपना भी इस कथन की पुष्टि करता है। संगीत के शास्त्रीय ग्रंथों में उनके पदों का सादर संगृहीत किया जाना तथा समकालीन और परवर्ती कुशल और प्रतिष्ठित गायकों का उनके पद गाने के लिए कंठस्थ करना भी इस बात का प्रमाण है कि भावपूर्णता के गुण से युक्त होने के साथ-साथ वे शास्त्रीय नियमों की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष हैं। संगीत-शास्त्र में वर्णित प्राय: सभी राग-रागिनियों के पद तो 'सूरसागर' में मिलने ही हैं, विषय और वातावरण के उपयुक्त राग का चयन भी उनके तद्विषयक ज्ञान का परिचायक है।

इ. सांप्रदायिक सिद्धांत-व्याख्याता-रूप—वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व रचे गये सूरदास के विनय-पदों से पता चलता है कि जीवन की क्षणभंगुरता तथा लौकिक सुख-साधनों की निस्सारता से वे परिचित हो चुके थे। सीही ग्राम से निकलकर अठारह वर्ष की अवस्था में स्वामी[1] बन जाने और बहुत-सा वैभव एकत्र कर लेने के पश्चात् उनको वैराग्य होना और कुछ सेवकों के साथ मथुरा की ओर उनका चल देना[2] सिद्ध करता है कि दूसरों के ज्ञानोपदेश से नहीं, प्रत्युत परिवारवालों की निर्धनता और निर्ममता[3], मनुष्य जाति की स्वार्थांधता, पाप-लिप्सा और अर्थ-परायणता तथा समस्त दृश्य जगत की अनित्यता एवं नश्वरता देखकर अंत:प्रेरणा से उन्होंने वैराग्य लिया था। ऐसे व्यक्ति की विचारधारा में पूर्वासक्ति के प्रति पश्चाताप और आत्मग्लानि से सम्बन्ध रखनेवाली दार्शनिकता की पुट से युक्त विरक्ति का भाव मिलना सर्वथा स्वाभाविक है और यही बात हम उनके विनय-पदों में देखते हैं।

---

१. 'सो सूरदास स्वामी कहवाये, बहुत मनुष्य इनके सेवक भये। जाके कंठी बाँधनी होय सो सूरदास को सेवक होये,—।

—श्रीहरिराय-कृत 'भावप्रकाश' ('अष्टछाप', काँकरौली), पृ० ९।

२. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), दूसरा भाग, पृ० १०।

३. सूरदास के पिता की निर्धनता और निर्ममता की पुष्टि श्री हरिराय-कृत 'भावप्रकाश' के इस अवतरण से होती है—'जो देखो एक तो बिधाता ने हमको निष्कंचन कियो और दूसरे घर में ऐसो (नेत्र-आकार हीन) पुत्र जन्म्यो। जो अब याकी कौन तो टहल करैगो और कौन याकी लाठी पकरैगो? सो या प्रकार ब्राह्मण ने अपने मन में बहुत दुख पायो'।

—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० ५।

महाप्रभु वल्लभाचार्य प्रथम ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे जिन्हें सूरदास ने आदर और श्रद्धा का दृष्टि से देखा। आचार्य जी ने अष्टाक्षर मंत्र —श्रीकृष्ण: शरणं मम—सुनाकर उनसे समर्पण कराया[1]। पश्चात् सगुण भक्ति और भगवल्लीला का महत्व, अपने संप्रदाय की उपासना-विधि का तत्व और रहस्य समझाने के लिए आचार्य जी ने सूरदास को 'श्रीमदभागवत्' के दशम स्कंध की अनुक्रमणिका तथा स्व-रचित 'सुबोधिनी टीका' सुनायी[2]। इन ग्रंथों के पारायण से सूरदास जी सगुण ब्रह्म की लीलाओं का अनुभव हृदय में करने लगे और उसका वर्णन करने की क्षमता भी सहज ही उन्हें प्राप्त हो गयी[3]।

---

१. दीक्षा के दो रूप वल्लभ-संप्रदाय में प्रचलित हैं -- प्रथम, नाम-दीक्षा जिसमें अष्टाक्षर मंत्र – श्रीकृष्ण: शरणं मम— कान में तीन बार सुनाया जाता है और द्वितीय, समर्पण-दीक्षा जिसमें व्यक्ति स्त्री, पुत्र, परिवार, धन-धान्य अर्थात् लौकिक संबंधियों और ऐश्वर्यों से व्यक्त अपने सर्वस्व के साथ शरीर और आत्मा को भी श्रीकृष्ण को समर्पित करके दास-भाव स्वीकार करता है। सूरदास की रचनाओं में दोनों प्रकार की दीक्षाओं के संकेत मिलते हैं —

क. नाम-दीक्षा की ओर संकेत—

अजहूँ सावधान किन होहि।
माया बिषम भुजंगिनि कौ बिष उतर्‌यौ नाहिंन तोहि।
कृष्न सुमंत्र जियावन मूरी, जिन जन मरत जिवायौ।
बारंबार निकट स्रवननि ह्वै, गुरु गारुड़ी सुनायौ ॥—सा० २-३२।

ख. समर्पण-दीक्षा की ओर संकेत—

इहिं बिधि कहा घटैगौ तेरौ।
नंदनँदन करि घर कौ ठाकुर, आपुन ह्वै रहु चेरौ ॥
कहा भयौ जौ संपति बाढ़ी कियौ बहुत घर घेरौ।
....
जो बनिता--सुत जूथ सकेले हय-गय बिभव घनेरौ।
सबै समर्पौ सूर स्याम कौं, यह साँचौ मत मेरौ ॥ सा० १-२६६।

२. 'अष्टाक्षर मंत्र सुनायो तासों सूरदास के सगरे जनम के दोष मिटाये और सात भक्ति भई। पाछे ब्रह्म संबंध करवायो, तासों सात भक्ति और नवधा भक्ति की सिद्धि भई। सो रही प्रेमलक्षणा, सो दसम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाये। तब संपूरन पुरुषोत्तम की लीला सूरदास के हृदय में स्थापन भई, सो प्रेमलक्षणा भक्ति सिद्धि भई'—'भाव-प्रकाश' (प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग), पृ० १३।

३. "सो सगरी 'श्रीसुबोधिनी' जी को ज्ञान श्रीआचार्य जी ने सूरदास के हृदय में स्थापन कियो। तब भगवल्लीला-जस वर्णन करिबे को सामर्थ्य भयौ। तब अनुक्रमणिका तें सगरी लीला हृदय में स्फुरी।"
—'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (कांकरौली), द्वितीयभाग, पृ० १३।

उक्त बातों से उनकी बुद्धि की कुशाग्रता और विषय की हृदयंगमशीलता पर तो प्रकाश पड़ता ही है, यह भी स्पष्ट होता है कि तीस-ब्रतीस वर्ष की अवस्था तक विरक्त जीवन बिताने के कारण उनका हृदय इष्टदेव के प्रति निष्ठा के भाव को सजग करने में समर्थ हो गया था तथा अनन्य भक्त का आदर्श और समर्पणमय जीवन बिताने की योग्यता भी उनमें आ गयी थी। इसी समय से स्वयं को महाप्रभु के चरणों में डालने में ही उन्होंने जीवन की चरम सार्थकता समझी और शेष आयु आचार्य जी के निर्देशानुसार बिताने का निश्चय किया। पश्चात्, उन्होंने 'श्रीमदभागवत' के लीला-संबंधी विषयों का ध्यान रखते हुए हजारों पद बनाये। 'श्रीमद्भागवत' भक्ति-विषयक प्रामाणिक ग्रंथ है; इसी प्रकार सूरदास के काव्य का भी सांप्रदायिक भक्तों में बड़ा मान रहा है। 'वार्त्ता'-कार ने तो उसे ज्ञान-वैराग्य विषयक भक्ति-भेदों से युक्त माना है[1] और हरिराय जी ने उनके 'मन रे, माधव सों करि प्रीति'[2] वाले पद के सुप्रभाव की ओर संकेत करते हुए एक अच्छा खासा प्रमाण-पत्र दे डाला है--'सो यह पद कैसो है, जो या पद को सुमिरन रहै तब भगवत् अनुग्रह होय और मन कूँ बोध होय और संसार सों वैराग्य होय श्रीभगवान् के चरणारविंद में मन लगै। तब दुःसंग से भय होय, सत्संग में मन लगे। सो देहादिक में ते स्नेह घटै लौकिक आसक्ति छूटै। जो भगवान् को प्रेम है सो अलौकिक है, ताके ऊपर प्रीति बढ़ै'[3]।

सूर-साहित्य का अध्ययन करके हम वल्लभ-संप्रदाय के धार्मिक और दार्शनिक नियमों और सिद्धांतों की रूपरेखा की स्पष्ट जानकारी पा सकते हैं। परन्तु सूरदास भावुक भक्त और कवि थे, दार्शनिक विवेचक नहीं। उन्होंने हृदय से सांप्रदायिक सिद्धांतों का मर्म समझा था, मस्तिष्क द्वारा उनका विधिवत् मनन और चिंतन नहीं किया था। अतएव उनका काव्य इस बात का तो परिचायक है कि जिस संप्रदाय में वे दीक्षित थे उसके सिद्धांतों का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान उन्होंने अवश्य प्राप्त कर लिया था और पूरी निष्ठा से उनको आचरित करने को भी वे सदैव प्रस्तुत रहते थे; अपने समय में प्रचलित विविध मत-पंथों के साधारण सिद्धांतों से भी वे परिचित थे। परन्तु उनकी शारीरिक स्थिति जहाँ उन्हें सांप्रदायिक नियमों-सिद्धांतों के 'प्रचारक' बनने का लोभ संवरण करने को विवश कर रही थी, वहाँ महाप्रभु द्वारा सौंपा हुआ कीर्तन और लीला-वर्णन का सेवा-कार्य इसी दायित्व के शक्ति भर निर्वाह के लिए उत्साहित कर रहा था। दार्शनिक और सैद्धान्तिक विवेचन को उन्होंने एक प्रकार से अनधिकार पूर्ण चेष्टा समझा और उनका भावुक हृदय उनके पारिभाषिक प्रतिपादन की गम्भीरता और शुष्कता से दूर रह कर ही संतुष्ट

---

१. 'सूरदास ने सहस्र बिधि पद किये हैं। तामें ज्ञान-वैराग्य के न्यारे न्यारे भक्ति-भेद अनेक भगवद् अवतार, सो तिन सबन की लीला को बरनन कियो हैं'। —'प्राचीन वार्ता-रहस्य' (काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० २३।

२. सा० १-३२५। यह लम्बा पद 'सूर-पच्चीसी' नाम से प्रसिद्ध है।

३. 'भाव-प्रकाश', 'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग', पृ० २५।

रहा; क्योंकि उस स्थिति में उन्होंने अत्यन्त सरस और कोमल भावपूर्ण रचना द्वारा सांप्रदायिक भक्तों और उपासकों को ही नहीं, मानव मात्र को अपने इष्टदेव के प्रति सहज ही आकर्षित करके, उनकी मनोरम और हृदय-मुग्धकारी लीलाओं का प्रशंसक और गायक बना दिया। इस दृष्टि से सैद्धांतिक और दार्शनिक विवेचना न करने पर भी सूरदास का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसका प्रभाव भी अधिक व्यापक और स्थायी है।

———

३. सूर की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन

(क) व्रजभाषा का ध्वनि-समूह और सूर के प्रयोग

व्रजभाषा का ध्वनि समूह—

व्रजभाषा की सामान्य ध्वनियाँ, जो हिन्दी की अन्य बोलियों की ध्वनियों से मिलती जुलती हैं, इस प्रकार हैं—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ए ओ औ ऐ = अए औ = अऔ।

व्यंजन—कंठ्य क् ख् ग् घ्
तालव्य च् छ् ज् झ्
मूर्द्धन्य ट् ठ् ड् ढ्
दंत्य त् थ् द् ध्
ओष्ठय प् थ् व् भ्
अनुनासिक (ङ्) (ञ्) (ण्) न् (न्ह) म् (म्ह) और अनुस्वर = ं।
अंतस्थ य् र् (र्ह) ल् (ल्ह) व्
ऊष्म (श्) (ष्) स् ह और विसर्ग :।
नयी ध्वनियाँ ड़् ढ़्

उक्त ध्वनि-समूह में कोष्ठक में लिखे लिपि-चिह्न अप्रधान हैं और शेष प्रधान। अप्रधान चिह्नों की स्थिति तो स्पष्ट करने की आवश्यकता है ही, प्रधान वर्णों में से भी कुछ के विषय में विशेष व्याख्या अपेक्षित है।

स्वर और सूरदास के प्रयोग—

'ऋ' व्रजभाषा का अप्रधान स्वर है। इसके स्थान पर सूरदास तथा व्रजभाषा के अन्य कवियों ने 'रि' अथवा 'इर्' का प्रयोग किया है। यदि सर्वत्र ऐसा किया गया होता और 'ऋ' की मात्रा (ृ) का भी प्रयोग न किया जाता तब तो व्रजभाषा के ध्वनि-समूह से 'ऋ' को सर्वथा वहिष्कृत किया जा सकता था, परंतु ऐसा हुआ नहीं है और अनेक शब्दों में 'ऋ' की मात्रा तो सुरक्षित है ही, उसका भी प्रयोग हुआ है। सभा के ही 'सूरसागर' में यद्यपि 'ऋचा' और 'ऋतु' के स्थान पर 'रिचा'[1] और रितु'[2] दिये

१. सा. ४०३६। २. सा. १०-३२८।

गये हैं; तथापि 'ऋतु',[1] 'ऋन',[2] 'ऋषिनि'[3] आदि में 'ऋ' भी सुरक्षित है और 'सूरसागर' के पुराने संस्करणों में तो उक्त शब्दों के अतिरिक्त 'ऋच्छ'[4] जैसे अपेक्षाकृत कम प्रचलित शब्दों में भी 'ऋ' दिखायी देती है। इसी प्रकार कृत[5], कृपा[6], गृह[7], तृषा[8], दृढ़[9], भृगु[10] मृतक[11] आदि अनेक शब्दों में उसकी मात्रा भी मिलती है। यह हो सकता है कि 'ऋ' का प्रयोग व्रजभाषा की प्रकृति न समझनेवाले लिपिकारों ने किया हो, परंतु उसकी मात्रा के संबंध में यह बात निश्चित है कि स्वयं कवियों ने अनेक तत्सम शब्दों को उनके मूल रूप में ही अपना लिया जिनमें 'ऋ' की मात्रा सुरक्षित है, यद्यपि इसका उच्चारण 'रि' या 'इर्' से मिलता-जुलता ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि 'ऋ' के प्रयोग को यदि लिपिकारों आदि की सामान्य भूल ही मान लिया जाय, तो भी उसकी मात्रा के ही प्रयोग-बाहुल्य के आधार पर इसे व्रजभाषा के स्वरों में गौण स्थान की अधिकारिणी अवश्य मानना चाहिए।

स्वरों के अनुच्चरित और लघूच्चरित प्रयोग—'सूरसागर' के अनेक पदों में चरण की मात्रा पूर्ति हो जाने पर गणना की दृष्टि से, 'अ' के अनुच्चरित प्रयोग मिलते हैं; जैसे--कपिलऽवतार[12], कुटुँबऽवगाहै[13], क्योंऽब[14], देहऽभिमान[15], प्रतापऽधिकाई[16], बिमुखऽरु[17], भागवतऽनुसार[18]। इनके अतिरिक्त सूर-काव्य में कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमें लघुमात्रिक व्यंजन का भी, जिसमें 'अ' संयुक्त रहा है, मात्रा की दृष्टि से, उच्चारण नहीं किया जाता। ऐसे प्रयोग में अनुच्चरित व्यंजन अर्द्धाक्षर माना जाता है। जैसे--नृप कह्यो मंत्र जंत्र कछु आहि[19], अति विपरीत तृनावर्त्त आयौ[20]। सूरदास प्रभु तुम्हारे गहत ही एक एक तैं होत बियौ[21]। आपु बँधावत भक्तनि छोरत बेद विदित भई बानी[22]।

अ की तरह अनुच्चरित इ और उ के उदाहरण समस्त सूर-काव्य में बहुत कम मिलेंगे; जैसे--इनहिं स्वाद जो लुब्ध सूर सोइ जानत चाखनहारौ[23]। परंतु साथ-साथ प्रयुक्त दो अनुच्चरित 'इ' का सूरसागर' में एक बहुल रोचक उदाहरण मिलता है--

वा भय तैं मोहिं इनहिं उबार्‌यौ[24]।

'सूरसागर' में ऊ के लघूच्चरित रूप के प्रयोग बहुत कम मिलते हैं, शेष स्वरों के कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं--

---

१. सा. ३४६९। २. सा. १--१९६। ३. सा. १-३४१। ४. सा. वें. ९-१०४। ५. सा. ७-२। ६. सा. १-१। ७. सा. १-९। ८. सा. १-१-९। ९. सा. १०-१६४। १०. सा. १-३। ११. सा. ७-२। १२. सा. ३-१२। १३. सा. ३-१३। १४. सा. ३६६। १५. सा. ३-१३। १६. सा. १-२२९। १७. सा. १-१२६। १८. सा. ३-१२। १९. सा. ७-२। २० सा. १०-७७। २१. [सा. १०-१४३। २२. सा. १०-३४३। २३. सा. १०-१३५। २४. सा. ६-४।

१. आ के लघूच्चरित प्रयोग--कहा कमी जाके राम धनी[१]। बड़े पतित पासंगहु नाहीं अजामिल कौन बिचारौ[२]। सत्य भक्तहिं तारिबे कौं लीला बिस्तारी[३]। कहा जानै कै वाँ मुवौ (रे) ऐसे कुमति कुमीच[४]। राजा इक पंडित पौरि तुम्हारी[५]।

२. ई के लघूच्चरित प्रयोग--तिनकी साखि देखि हिरनाकुस-रावन-कुटुंब भई ख्वारी[६]। अब आज तैं आप आगैं दई लै आइए चराइ[७]। माया-मोह-लोभ कैं लीन्हैं जानी न बृंदाबन रजधानी[८]। मातु-पिता-भैया मिले (रे) नई रुचि नई पहिचानि[९]।

३. ए के लघूच्चरित प्रयोग--प्रभु तेरौ बचन भरोसौ साँचौ[१०]। दर-दर लोभ लागि लिए डोलति नाना स्वाँग बनावै[११]। किते दिन हरि-सुमिरन बिनु खोए[१२]। नहिं रुचि पंथ पदादि डरनि छकि पंच एकादस ठानै[१३]।

४. ऐ के लघूच्चरित प्रयोग--इन्द्र समान हैं जाके सेवक नर बपुरे की कहा गनी[१४]। और को है तारिबै कौं कहौ कृपा ताता[१५]। और हैं आजकाल के राजा मैं तिनमैं सुलतान[१६]।

५. ओ के लघूच्चरित प्रयोग--अर्थ काम दोउ रहैं दुवारैं धर्म-मोक्ष सिर नावैं[१७]। जो कोउ प्रीति करै पद-अंबुज उर मंडत निरमोलक हार[१८]। पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ धर्म-सुधन लुट्यौ[१९]। कपट लोभ वाके दोउ भैया ते घर के अधिकारी[२०]।

६. औ के लघूच्चरित प्रयोग--अंबरीष कौं साप देन गयौ बहुरि पठायौ ताकौं[२१]। मरियत लाज पाँच पतितनि मैं हौं अब कहौ घटि कातैं[२२]। तो कहौ कहाँ

---

१. सा. १-३९। २. सा. १-१३१। ३. सा. १-१७६। ४. सा. १-३३५। ५. सा. ८-१४। ६. सा. १-३४। ७. सा. १-५१। ८. सा. १-१४९। ९. सा. १-३२५। १०. सा. १-३२। ११. सा. १-४२। १२. सा. १-५२। १३. सा. १-६०। १४. सा. १-३९। १५. सा. १-१२३। १६. सा. १-१४५। १७. सा. १-४०। १८. सा. १-४१। १९. सा. १-६४। २०. सा. १-१७३। २१. सा. १-११३। २२. सा. १-१३७।

जाइ करुनामय कृपिन करम कौ मारौ[1] । महा कुबुधि कुटिल अपराधी औगुन भरि लियौ भारी ।[2] हरि जू सौं अब मैं कहा कहौं[3] ।

दीर्घ वर्णों का लघु रूप में उच्चरित होना कवि की भाषा का एक दोष कहा जा सकता है। सूरदास के बहुत कम पदों में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं; परंतु बिलकुल न हों, सो बात भी नहीं है। जिन पंक्तियों में इस प्रकार के प्रयोग हैं, उनमें से अधिकांश ऐसी हैं जिनमें एक या दो दीर्घ स्वर लघु रूप में पाये जाते हैं। परंतु खोज करने पर कुछ ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जिनमें चार से सात तक लघूच्चरित दीर्घाक्षर मिल जाते हैं; जैसे—

तनकहि तनक जु सूर निकट आवै तनक कृपा कै दीजै तनकहि सरन[4]।

तनकहि तनक तनक करि आवै सूर, तनक कृपा कै दीजै तनक सरन[5]। मेरे माई स्याम मनोहर जीवन[6]। जोइ जोइ भावै मेरे प्यारे। सोइ सोइ तोहि देहुँ लला रे[7]।

सूरदास के कुछ पदों में इस प्रकार के प्रयोगों के रह जाने का कारण एक तो यह हो सकता है कि ये पद उन्होंने स्वयं लिपिबद्ध नहीं किये और दूसरा यह कि इनका संशोधन भी वे नहीं कर पाये। कुछ लिपिकारों की कृपा का भी यह फल हो सकता है। फिर भी संतोष की बात यह है कि सूर के 'सागर' में ऐसे प्रयोग बूँद से अधिक नहीं हैं जो काव्य-प्रेमी पाठक को खटकते हों।

स्वरों के सानुनासिक प्रयोग—

व्रजभाषा के प्रायः सभी स्वरों के अनुनासिक रूप भी सूर-काव्य में बराबर प्रयुक्त हुए हैं। 'सूरसागर' में ए के लघूच्चरित सानुनासिक रूप (एँ) के उदाहरण अधिक नहीं मिलते; शेष में से प्रत्येक के कुछ प्रयोग यहाँ संकलित हैं। स्थानाभाव से दीर्घ स्वरों के लघूच्चरित प्रयोगों के लिए तो पद का पूरा चरण उद्धृत किया गया है, क्योंकि इसके न देने से उच्चारण का रूप स्पष्ट नहीं हो सकता; शेष के साथ केवल शब्द देना ही पर्याप्त समझा गया है—

अँ—आनँद[8], बिलँब[9], सँग[10], सँतापै[11], सँपूरन[12], हँकारधौ[13]।

आँ—आँखि[14], उहाँ[15], जाँघ[16], दधिकाँदौ[17], बतियाँ[18], माँगि।[19]

---

१. सा. १-१५७। २. सा. १-२१८। ३. सा. ३-२।
४. सा. १०-१५०। ५. सा. १०-१५२। ६. सा. १०-१५४। ७. सा. १०-१८३।
८. सा. १०-३६। ९. सा. सा. ४-५। १०. सा. २-२४। ११. सा. ३-१३।
१२. सा. ३-१३। १३. सा. ४-६। १४. सा. ४-५। १५. सा. ३-१३।
१६. सा. ४-११। १७. सा. १०-४०। १८. सा. २-२५। १९. सा. ४-९।

इँ—उहिं[१], गोबिंदहिं[२], चीतंति[३], देहिं[४], माहिं[५], सिंहासन[६]।

ईं—उपजीं[७], गवनीं[८], तिहीं[९], नाईं[१०], नितहीं[११], लगाईं[१२]।

उँ—कुटुंब[१३], कुँवर[१४], गाउँ[१५], जाउँ[१६], तिनहुँ[१७], पहुँच्यौ[१८]।

ऊँ—अजहूँ[१९], जिवाऊँ[२०], ढूँढ़न[२१], मूँदि[२२], सुनाऊँ[२३] सूँघि[२४]।

एँ जेंवत[२५], बेंचि[२६], भेंट[२७], रेंगं[२८], सेंती[२९] सेंदुर[३०]।

ऐं—आगैं[३१], तातैं[३२], मुऐं[३३], संहरैं[३४], स्रवैं[३५], हिरदैं[३६]।

ऐं—ब्रज बधु कहैं बार बार धन्य रे गढ़ैया[३७]। पुनि सुरुचि कैं चरननि पर्‌यौ[३८]।

क्रुष्न-जन्म सु प्रेम-सागर क्रीड़ैं सब ब्रज लोग[३९]। निसि भऐं रानी पै फिरि आवै[४०]। तव उपदेस मैं हरि कौं ध्यायौ[४१]। साँचैंहि सुत भयौ नँदनायक कैं हैं नाहीं बौरावति[४२]।

ओ[४३]—कीन्हों[४४], गोंड़े[४५], ज्यों ज्यों त्यों त्यों[४६], दीन्हों[४७], दीनों[४८], पोंछति[४९], मोकों[५०]।

ओं— गूँगी बातन यों अनुरागति भँवर गुंजरत कमल मों बंदहिं[५१]।

औं— तीनौं[५२], घौं[५३], पसारौं[५४], भजौं[५५], मोसौं[५६], लैहौं[५७]।

---

१. सा. ४-५। २. सा. २-१३। ३. सा. १०-३२। ४. सा. ५-३। ५. सा. ३-११। ६. सा. ६,५। ७. सा. ४-४। ८. सा. १०-३२। ९. सा. ८-११। १० सा. ५-३। ११. सा. ३-६। १२. सा. ५-२। १३. सा. ३-१३। १४. सा. ४-९। १५. सा. ४-९। १६. सा. १०-४६। १७. सा. २-३०। १८. सा. ३-११। १९. सा. ४-९। २० सा. ८-८। २१. सा. ५-३। २२. सा. १०-४३। २३. सा. ३-१३। २४. सा. २-२६। २५. सा. १०-१६८। २६. सा. ४-५। २७. सा. ४-११। २८. सा. १०-७६। २९. सा. ९-१७४। ३०. सा. १०-२४। ३१. सा. ३-४। ३२. सा. २-२२। ३३. सा. ४-५। ३४. सा. ४-३। ३५. सा. १०-३०। ३६. सा. ४-५। ३७. सा. १०-४१। ३८. सा. ४-९। ३९. सा. १०-२६। ४०. सा. ४-१२। ४१. सा. ४-९। ४२. सा. १०-२३।

४३. ओं और उसके ह्रस्व रूप के उदाहरण 'सभा' के 'सूरसागर' में नहीं हैं; क्योंकि उसमें इनके स्थान पर ओं और औं का सर्वत्र प्रयोग किया गया है। 'सूरसागर' के पूर्व प्रकाशित संस्करणों में अवश्य ओं की भरमार है—लेखक।

४४. सा. बेनी. ८०८। ४५. सा. बेनी. १०८०। ४६. सा. बेनी. ११०६। ४७. सा. बेनी. ८०८। ४८. सा. बेनी. ९४५। ४९. सा. १०-९४। ५०. सा. बेनी. ९४४। ५१. सा. १०-१०७। ५२. सा. ३-१३। ५३. सा. २-१५। ५४ सा. १०-३७। ५५. सा. ६-५। ५६. सा. ५-४। ५७. सा. ३-१।

औं— कहौं हरि कथा सुनौं चित लाइ[1]। लाख टका अरु झूमका देहु सारी दाइ कौं नेग[2]। इहिं सराप सौं मुक्ति ज्यौं होइ[3]।

स्वरों के संयुक्त प्रयोग—

हिन्दी की अन्य बोलियों या विभाषाओं की तरह व्रजभाषा में भी कई स्वरों के संयुक्त रूपों का व्यवहार किया जाता है। सूर-काव्य में भी साथ-साथ आनेवाले स्वरों के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या दो स्वरों के संयुक्त प्रयोगों की है। यों तो व्रजभाषा के प्रधान और अप्रधान, सब स्वरों के परस्पर संयोग से अनेक युग्म बन सकते हैं; परन्तु यहाँ मुख्यतः वे ही संयुक्त प्रयोग दिये जाते हैं जिनके पर्याप्त उदाहरण सूर-काव्य में सरलता से मिल जाते हैं–

अइ—इकइस,[4] गइ,[5] भइ,[6] लइ[7]।

अई—अनुसरई,[8] करई[9], टरई[10], दई[11], नई[12], पुरई[13], बई,[14] बाढ़ई[15], भई[16], मुई[17], यहई[18], सरई[19]।

अई—बृथा होहु बर बचन हमारौ कैकई जीव कलेस सहौ[20] हौं। यह अनरीति सुनी नहिं स्रवननि अब नई कहा करौं[21]। ज्यौं बिट पर तिय संग बस्यौ रे भोर भए भई भीति[22]।

अउ—अनउतर[23],जउ[24]।

अऊ—कलऊ[25], तऊ[26]।

अए—जए[27], ठए[28], तए[29], दए[30], नए[31] पठए[32], बए[33] भए[34], लए[35]।

---

१. सा. ३-१। २. सा. १०-४०। ३. सा. ६-७। ४. सा. ९-१३। ५. सा. १०-६७। ६. सा. ६-२। ७. सा. ३८०३। ८. सा. १-४८। ९. सा. १-४८। १०. सा. १०-४। ११. सा ४-४। १२. सा. १-१८५। १३. सा. १-२६। १४. सा. १-१८५। १५. सा. १०-४७। १६. सा. १०-३८। १७. सा. ४-४। १८. सा. १-६९। १९. सा. १०-४। २०. सा. ९-३३। २१. सा. ९-९८। २२. सा. १-३२५। २३. सा. १०-३०७। २४. सा. १-९३। २५. सा. ९-१२३। २६. सा. १-५८। २७. सा. ३-८। २८. सा. १०-८। २९. सा. १-२८४। ३०. सा. १-११। ३१. १-२८६। ३२. सा. ९-४९। ३३. सा. १०-१७३। ३४. सा. १-७। ३५. सा. १०-११४।

अए--खोजत जुग गए बीति नाल को अंत न पायौ[1]। इतनौं जन्म अकारथ खोयौ

स्याम चिकुर भए सेत[2]।

अए--स्वायंभुव मनु सुत भए दोइ[3]

आइ--उताइली,[4] चढ़ाइ,[5] जाइ,[6] दाइज,[7] धाइ,[8] पाइ,[9] बगदाइ,[10] राइ,[11] लगाइ,[12] समाइ[13]।

आई--चराई,[14] ठकुराई,[15] दुहाई,[16] बधाई,[17] भरमाई,[18] लजाई,[19] लरिकाई,[20] सरनाई,[21] हरहाई,[22]।

आउ--आउज,[23] कताउ,[24] चबाउ,[25] चाउ,[26] जाउ,[27] पखाउज,[28] भाउ,[29] मढ़ाउ,[30] राउर,[31] ल्याउ[32]।

आऊ--बटाऊ[33], बलदाऊ[34]।

आए--अघाए,[35] आए,[36] उपजाए,[37] छाए,[38] जिताए,[39] धाए,[40] पुराए,[41] मुकराए[42] ल्याए[43]।

आई--सूर स्याम बिनु कौन छुड़ावै चले जाव भाई पोइसि[44]। कमल नयन कौं

कपट किए माई इहिं ब्रज आवै जोइ[45]।

इअ--बतिअनि,[46] जिअनि,[47] कबिअनि[48], बिटनिअनि[49]।

इआ--खिसिआनौ,[50] पतिआरौ[51]।

इए--किए,[52] जिए,[53] दिए,[54] पिए,[55] लिए,[56] हिए[57]।

---

१. सा. २-३६। २. सा. १-३२२। ३. सा. ३-१२। ४. सा. २०३१। ५. सा. १०-३९। ६. सा. १-११। ७. सा. ९-२७। ८. सा. १-१६। ९. सा. १-३५। १०. सा. १-६०। ११. सा. १०-४। १२. सा. १-५२। १३. सा. १०-१४। १४. सा. १-६। १५. सा. १-१९। १६. सा. १-२४। १७. सा. १०-१२। १८. सा. १०-५१। १९. सा. १-४०। २०. सा. १०-४। २१. सा. १-२७। २२. सा. १-५१। २३. सा. ९-७५। २४. सा. १०-४१। २५. सा. १-६०। २६. सा. ९-७८। २७. सा. १-२७४। २८. सा. ९-७५। २९. सा. ९-१२१। ३०. सा. १०-४१। ३१. सा. १०-२४८। ३२. सा. १०-४०। ३३. सा. ९-४५। ३४. सा. बेनी-११५०। ३५. सा. १-१३। ३६. सा. १०-४। ३७. सा. १-२६। ३८. सा. १०-३०। ३९. सा. १-२४। ४०. सा. १-७। ४१. सा. १-७। ४२. सा. १-१७१। ४३. सा. १०-१३। ४४. सा. १-१३३। ४५. सा. १०-५६। ४६. सा. ४०१६। ४७. सा. ४०६९। ४८. सा. ३०६६। ४९. सा. १७११। ५०. सा. १-१९६। ५१. सा. ४२००। ५२. सा. १-१३। ५३. सा. १०-९९। ५४. सा. १-१८। ५५. सा. १०-९९। ५६. सा. १-११। ५७. सा. १०-८८।

इए—सूरदास स्वामी धनि तप किए बड़े भाग जसुदा अरु नंदहिं[१]। आदर सहि

स्याम मुख नंद अनंद रूप लिए कनियाँ[२]।

इऐ—अवरेखिऐ,[३] आइऐ,[४] कीजिऐ,[५] देखिऐ,[६] बोइऐ,[७] बरनिऐ,[८] भजिऐ,[९] मथिऐ,[१०] मरिऐ,[११] लुनिऐ,[१२] सहिऐ[१३]।

इऐ—सूरदास प्रभु कौं यौं राखौ ज्यौं राखिऐ गज मत्त जकरि कैं[१४]।

उअ—आँसुअनि,[१५] गरुअ[१६], चुअत[१७], चेटुअनि,[१८] बधुअनि,[१९] महुअरि[२०]।
उआ—गरुआई,[२१] गभुआरे,[२२] दुआदस,[२३] दुआरी,[२४] भुआल,[२५] मालपुआ[२६]।
उइ—दुइगानौं[२७]।
उई—मुई[२८]।
उए—मुए[२९]।
एइ—जेइ-तेइ,[३०] देइ,[३१] भेइ,[३२] लेइ,[३३] सेइ[३४]।
एई—एई,[३५] खेई,[३६] येई[३७]।
एउ—ऐसेउ,[३८] छेउ-तेउ,[३९] देउ,[४०] पारेउ,[४१] लेउगे[४२]।
एऊ—कलेऊ,[४३] येऊ[४४]।
एए—सेए[४५]।
एए—द्वादस वर्ष सेए निसिबासर तब संकर भाषी है लैन[४६]।

ऐए—जैए[४७]।
ऐऐ—सकुचैऐ[४८]।

---

१. सा. १०-१०७। २. सा. १०-१०६। ३. सा. १०-३०७।
४. सा. १-५१। ५. सा. १-२८। ६. सा. १०-३०७। ७. सा १-६१।
८. सा. १-४४। ९. सा- १-६८। १०. सा. १०-३३। ११. सा. १-४४।
१२. सा. १-६१। १३. सा. १०-३४२। १४. सा. १०-३१। १५ सा. ४०७४।
१६. सा. २१३३। १७. सा. ४१०८। १८. सा. ७-२। १९. सा. ३६५१।
२०. सा. १४८७। २१. सा. ३५३९। २२. सा. १०-१३४। २३. सा. ३६२७।
२४. सा. १०-१३५। २५. सा. बेनी. १११२। २६. सा. १०-१८३।
२७. सा. बेनी- ११६६। २८. सा. ९-७७। २९. सा. ९-१४। ३०. सा. ३७२२।
३१. सा. ९-१७४। ३२. सा. १-२००। ३३. सा. ९-११५। ३४. सा. १-२००।
३५. सा. बेनी. ११८२। ३६. सा. ९-४२। ३७. सा. १०-८५।
३८. सा. बेनी. ११०१। ३९. सा. ३६९१। ४०. सा. ३-१३। ४१. सा. १-२५५।
४२. सा. १०-२७९। ४३. सा. १०-१६३। ४४. सा. ९-९५। ४५. सा. १-८२।
४६. सा. ९-१२। ४७. सा. बेनी. १०९३। ४८. सा. ४-५।

ओइ--कोइ,[१] कोइला,[२] जसोइ,[३] जोइ,[४] दोइ,[५] धोइ,[६] पोइ,[७] बिगोइ,[८] भरोइ,[९] रोइ,[१०] लोइ,[११] सँजोइ,[१२] सोइ,[१३] होइ [१४]।
ओई--कोई,[१५] खोई,[१६] गोई,[१७] रसोई,[१८] सोई,[१९] होई [२०]।
ओउ--दोउ,[२१] सोउ [२२]।
ओऊ--कोऊ,[२३] गोऊ,[२४] तोऊ,[२५] दोऊ,[२६] रोऊ,[२७] वोऊ,[२८] सोऊ [२९]।
ओए--सूरदास प्रभु सोए कन्हैया हलरावति मल्हरावति है [३०]।

ओइ--कब मेरौ अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै [३१]। दधिहिं बिलोइ सद माखन राख्यौ मिश्री सानि चटावै नँदलाल[३२]।

ओउ--कोउ जुवती आई कोउ आवति। कोउ उठि चलति सुनति सुख पावति [३३]। बदरिकासरम दोउ मिलि आइ [३४]।

ओआ--नौआ [३५]।
औई--सिरानौई[३६]।

दो स्वरों के उक्त संयोगात्मक प्रयोगों के अतिरिक्त बोलचाल की सामान्य भाषा में कुछ और भी वैसे रूप प्रचलित हैं; जैसे अओ, अओ, आए (=आय), आओ आओ, (=आव), इअ, इआ, इई, ईआ, उओ, उऔ, ऊई, ऊए, ऊओ, एआ, एओ, ओअ आदि। प्रयत्न करने पर इनमें से कुछ के दो-एक उदाहरण सूर-काव्य में मिल सकते हैं; परन्तु साधारणतः ये रूप काव्य-भाषा में कम ही आते हैं।

दो स्वरों के उक्त संयुक्त रूपों की तरह ही व्रजभाषा में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनमें तीन स्वरों का संयोग देखने में आता है। व्रजभाषा में स्वरों की अधिकता के कारण एक दरजन से अधिक त्रिस्वर संयोगात्मक रूप बन सकते हैं; यथा अइया, अइओ,

---

१. सा. १-२३०। २. सा. ३८४३। ३. सा. १०-५६। ४. सा. १-२८६। ५. सा. १-२४५। ६. सा. १-२६२। ७. सा. १०-१४८। ८. सा. १०-५६। ९. सा. १०-५६। १०. सा. १-२६२। ११. सा. ३-१३। १२. सा. १०-२६। १३. सा. १-३५। १४. सा. १-२३०। १५. सा. १०-३। १६. सा. ३-१३। १७. सा. १०-३२२। १८. सा. १०-५७। १९. सा. १-११७। २०. सा. १-१०। २१. सा. १-२६। २२. सा. बेनी. ११५३। २३. सा. १-३५। २४. सा. बेनी. ११५९। २५. सा. बेनी. ११५९। २६. सा. १-४०। २७. सा. १-१८६। २८. सा. बेनी. ११५९। २९. सा. १-१८६। ३०. सा. १०-७३। ३१. सा. १०-७६। ३२. सा. १०-८४ ३३. सा. १०-७०। ३४. सा. ३-२। ३५. सा. १०-१८०। ३६. सा. १-७३।

अउआ, आइउ, आइए, आइऐ, आइओ, आएउ, इअउ, इआई, इआऊ, इएउ, उइआ, एइआ, ऐएउ, ओआए, ओएउ, ओइआ आदि । इनमें से अधिकांश रूप सामान्य बोलचाल में ही अधिक प्रयुक्त होते हैं; यथा ओआए--जैसे सोआए;[1] एइए-- जैसे सेइए[2] । इन उदाहरणों की संख्या बढ़ सकती है यदि 'ये' और 'यै' को क्रमशः 'ए' और 'ऐ' का रूप मान लिया जाय; जैसे जइयै, पइयै, करइयै, बिछइयै, अइयै, मँगइयै, दुरइयै, छकइयै, अधिकइयै, बढ़इयै आदि प्रथम स्कंध के २३९वें पद में आनेवाले सभी शब्द 'अइऐ' के और गाइयै, पाइयै[3] आदि 'आइऐ' के उदाहरण बन सकते हैं ।

सामान्य स्वरों की तरह इन संयुक्त स्वरों के भी सानुनासिक रूप होते हैं । तीन स्वरों से बननेवाले मूल रूपों की तरह उनके सानुनासिक प्रयोगों की संख्या भी सूर-काव्य में नहीं के बराबर है । हाँ, दो स्वरों के प्रयोग उसमें बहुत मिलते हैं । ऐसे रूपों में कहीं एक स्वर सानुनासिक है, कहीं दोनों; यथा--

अऐं--भऐं[4]

अऐं--भऐं अपमान उहाँ तू मरिहै[5] ।

आँउ--इहाँउ[6] ।

आईं--गुसाईं,[7] छाईं-ताईं[8] नाईं-बनाईं[9] ।

आउँ--अगाउँ-छाउँ,[10] ठाउँ,[11] डराउँ[12] नाउँ-निभाउँ,[13] पाउँ,[14] बिकाउँ-लजाउँ, सुहाउँ ।[15]

आऊँ--कहाऊँ-गाऊँ,[16] चलाऊँ,[17] दुहाऊँ-घाऊँ-न्हाऊँ-पहिराऊँ,[18] पाऊँ,[19] बँधाऊँ,[20] बुलाऊँ,[21] लाऊँ ।[22]

आएँ--अन्हवाएँ,[23] आएँ,[24] कराएँ,[25], खाएँ,[26] गाएँ,[27] चुगाएँ-न्हवाएँ,[28] न्हाएँ-लाएँ ।[29]

इएँ--दिएँ ।[30]

ईएँ--कीएँ-जीएँ[31] ।

उँअ--कुँअर ।[32]

---

१. सा. १०-८ । २. सा. वें. १-१४५ । ३. सा. ३-११ । ४. सा. २-२२ । ५. सा. ४-५ । ६. सा. ३-२ । ७. सा. १-१४७ । ८. सा. १-४४ । ९. सा. १-१४७ । १०. सा. १-१६४ । ११. सा. १-१२८ । १२. सा. १-१६४ । १३. सा. १-१२८ । १४. सा. १-२० । १५. सा १-१२८ । १६ सा. १-१६६ । १७. सा. १-१४६ । १८. सा. १-१६६ । १९. सा. १-१४६ । २०. सा. १-१६६ । २१. सा. १-१४६ । २२. सा. १-१६६ । २३ सा. १-३३२ । २४. सा. १-२५६ । २५. सा. १-३३२ । २६. सा. २-३२ । २७. सा. २-६ । २८. सा. १-३३२ । २९. सा. २-६ । ३०. सा. २-६ । ३१. सा. ३७०० । ३२. सा. ४०९४ ।

उअँ—भुअँग[१]।
उएँ—हरुएँ[२]।
एउँ—देउँ[३]।
ओऊँ—सोऊँ[४]।

व्यंजन और सूर के प्रयोग—

जिन व्यंजनों को—यथा क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द ध न प फ ब भ म स ह और ढ़—व्रजभाषा-वर्गमाला में देवनागरी के समान ही स्थान मिला हुआ है, उनकी चर्चा यहाँ न करके केवल उन्हीं के संबंध में विचार करना है जिनमें कुछ अंतर है या जिनका प्रयोग उसमें विशेष रूप से किया जाता है।

ङ—शब्दों के आदि या अंत में पूर्ण अक्षर की तरह 'ङ' का प्रयोग हिंदी और व्रजभाषा में नहीं होता; हिंदी में शब्दों के बीच में अवश्य, संस्कृत के तत्सम शब्दों में विशेष रूप से अथवा नये शब्दों में इन्हीं के अनुकरण पर, यह वर्ण कवर्ग के चार अक्षरों—क ख ग घ—के पूर्व प्रयुक्त होता है; परन्तु ऐसा प्रयोग प्रायः उन्हीं लेखकों और कवियों ने अधिक किया है जो संस्कृत के विद्वान हैं अथवा उसकी शुद्धता को हिंदी में लाने के पक्षपाती रहे हैं। 'सूरसागर' के प्रायः सभी नये संस्करणों में 'ङ' के स्थान पर अनुस्वार से काम चलाया गया है; यथा गंगा,[५] पतंग,[६] भुवंग,[७] रंकन,[८] लंकपति,[९] संकल्प,[१०] संका,[११] संग[१२] आदि।

ज-य—व्रजभाषा वर्णमाला में ज को खड़ीबोली से अधिक आदर का स्थान प्राप्त है और य को उसी अनुपात में कम। संस्कृत और हिंदी शब्दों के ज का निश्चित स्थान तो व्रजभाषा में अक्षुण्ण है ही, अधिकांश तत्सम प्रयोगों में, शब्दों के मध्य में तो कम, परंतु आदि में लगभग सर्वत्र य के स्थान पर ज का ही प्रयोग इसमें किया जाता है। सूरदास ने भी शब्दों के आदि में आनेवाले य को प्रायः सर्वत्र ज से बदल दिया है; जैसे यंत्र—जंत्र[१३], यज्ञ—जग[१४] या जग्य[१५] या जाग[१६], याचक—जाचक[१७], यातना—जातना[१८] यादव—जादव[१९], याम—जाम[२०], यामिनी—जामिनी[२१], यावक—जावक[२२], युक्त-जुक्त[२३], युक्ति—जुक्ति[२४], युग—जुग[२५], युगल—जुगल[२६], या जुगुल[२७], यूथ—जूथ[२८], युवती—जुवती[२९], योग-जोग[३०], योद्धा—जोद्धा[३१], यौवन

---

१. सा. ३७७५। २. सा. १०-२५७। ३. सा. ३-१३। ४. सा. १-५१। ५. सा. १-२७०। ६. सा. १-५५। ७. सा. १-३९। ८. सा. १-३५। ९. सा. १-२५५। १०. सा. १-२६८। ११. सा. १-२८६। १२. सा. १-२६४। १३. सा. १-२६२। १४. सा. ८-१४। १५. सा. ४८७। १६. सा. ९-२। १७. सा. १०-३२। १८. सा. १-२८९। १९. सा. १-२८६। २०. सा. ९-३३। २१. सा. ९-१७२। २२. सा. वें. २७५८। २३. सा. १०-८६। २४. सा. २-२२। २५. सा. १-६०। २६. सा. १-९०। २७. सा. १०-५२। २८. सा. १-१०६। २९. सा. १-१०४। ३०. सा. १०-४०। ३१. सा. १-२४।

--जोबन[1], या जौबन[2] आदि । सभा के 'सूरसागर' में दो-एक शब्दों के आदि में य अपरिवर्तित रूप में मिलता है; जैसे यसुमति[3], युवति[4], परंतु ऐसे शब्दों को संपादन की भूल ही मानना चाहिए ।

शब्द के बीच में आनेवाला य सूरसागर में कभी ज में बदला गया है--जैसे दुर्योधन--दुरजोधन[5], संयम--संजम[6], संयोग-संजोग[7], कभी नहीं भी बदला गया है; जैसे 'वियोग' के स्थान पर 'विजोग' कहीं नहीं मिलता । इसी प्रकार शब्द के अंत में आनेवाला य बोलचाल की भाषा में ज से चाहे सर्वत्र बदल दिया जाता हो, परंतु 'सूरसागर' में ऐसे शब्दों का य कहीं-कहीं ही बदला हुआ मिलता है; जैसे आर्य--आरज[8], कार्य--कारज[9] ।

ञ--व्रजभाषा में 'ङ' की तरह 'ञ' का प्रयोग भी नहीं होता; और व्रजभाषा कवियों ने इसके लिए प्रायः सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग किया है । 'नाञ' (नाँय = नहीं), साञ (= सायँ = सन्नाटे की ध्वनि-विशेष) जैसे बोलचाल के शब्दों में 'ञ' की ध्वनि सुनायी पड़ने पर भी इसको वर्णमाला में स्थान नहीं मिल सका । सूर-काव्य में भी इसके लिए अनुस्वार का प्रयोग मिलता है; जैसे अंजलि[10], गुंजा[11], जंजार[12], पुरंजम[13], बिरंचि[14] आदि ।

ण--यह अनुनासिक व्यंजन, यद्यपि 'ङ' और 'ञ' की तरह अपने वर्गीय अक्षरों के पूर्व उच्चरित होने पर ही, संस्कृत व्याकरण से परिचितों अथवा उनका अनुकरण करनेवालों द्वारा प्रयुक्त होता है, तथापि उन अनुनासिकों से इसका प्रयोग इस कारण अपेक्षाकृत अधिक है कि अनेक तत्सम शब्दों के आदि में तो नहीं, बीच और अंत में पूर्ण व्यंजन के रूप में यह आता रहता है । व्रजभाषा-कवियों ने इसके स्थान पर प्रायः 'न' का ही प्रयोग किया है; यद्यपि कहीं कहीं 'ण' भी दिखायी देता है । 'सूरसागर' के कुछ संस्करणों में भी कहीं कहीं शब्दों के बीच या अंत में 'ण' के दर्शन हो जाते हैं; जैसे कारण[15], किंकिणी[16] कृष्ण[17], गुण[18], चरण[19], तृण[20], पूरण[21], प्राणपति[22], मणि[23], रणभूमि[24], श्रवणनि[25] आदि । अन्यत्र व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप 'ण' के स्थान पर सर्वत्र 'न' का प्रयोग किया गया है; जैसे गणिका--गनिका[26], दर्पण--दर्पन[27], पुराण--पुरान[28], प्राणायाम--प्रानायाम[29], शरणागत--सरना-

---

१. सा. ९-१७४ । २. सा. २-२३ । ३. सा. ८१० । ४. सा. ७६२ ।
५. सा. १-२४४ । ६. सा. ३७०९ । ७. स. १-२८४ । ८. सा. १२४८ ।
९. सा. १०- ५८ १०. सा. १-१४७ । ११. सा. १-६८ । १२. सा. ४-१२ ।
१३. सा. ७-४ । १४. सा. ७-४ १५. सा. ३६५ । १६. सा. बेनी. ७४६ ।
१७. स. ३९१३ । १८. सा. १-१५७ । १९. सा. ३३३३ । २०. सा. ३१५७ ।
२१. सा. वें. ९-२ । २२. सा. नकि० मथुरालीला ४८ । २३. सा. ८०९ ।
२४. सा. ४१९८ । २५. सा. बेनी ७३४ २६. सा. २.३० । २७. सा. २-२५ ।
२८. सा. २-२९ । २९. सा. २-२१ ।

गत[1] आदि । पूर्ण 'ण' के समान हलंत 'ण्' का प्रयोग भी 'संक्षिप्त सूरसागर', लखनऊ तथा वेंकटेश्वर प्रेस के संपूर्ण 'सूरसागरों' में कहीं-कहीं मिलता है; परंतु 'सभा' के संस्करण में इसके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करने की ही नीति अपनायी गयी है; जैसे कंठ[2], कुंडल[3], खंड-गंडकि[4], पंडित[5], पांडव[6] आदि ।

व और ब—देवनागरी वर्णमाला में व यद्यपि प्राचीन ध्वनि के रूप में स्वीकृत हैं, तथापि ब की ध्वनि के अपेक्षाकृत सरल होने के कारण व्रजभाषा-कवियों ने शब्दों के आदि के व को प्रायः सर्वत्र और मध्य या अंत में आनेवाले को विशेष अवसरों पर ब लिखा है । सूरदास भी शब्दारंभ के व को प्रायः सदैव ब ही लिखने के पक्ष में हैं; जैसे वचन–बचन[7] विधाता–बिधाता[8], विनोद–बिनोद[9], विबुध–बिबुध[10], वृद्ध–बृद्ध[11], वृष्टि–बृष्टि[12] आदि । शब्दों के मध्य में प्रयुक्त व को गोवर्द्धन––गोबर्धन[13], जैसे दो-एक शब्दों को छोड़कर प्रायः तभी वे ब से बदलते हैं जब उपसर्ग जोड़कर अथवा समास-द्वारा नया रूप गढ़ा गया हो; जैसे व्रज–वासी––ब्रजबासी[14], अथवा उसके पूर्व का व भी ब में बदला गया हो; जैसे विविध–बिबिध[15], । इसी प्रकार शब्दांत के व को ब में तब परिवर्तित किया गया है जब उसके पूर्व की अन्य ध्वनि को भी सरल रूप में लिखा गया हो, जैसे पूर्व––पूरब[16] । कुछ शब्दों में व के स्थान पर उ, जैसे ज्वर-जुर[17]; कुछ में औ, जैसे गवन–गौन[18], यादव--जादौ[19]; यादव-कुल —जादौ-कुल[20], पवन--पौन[21]; और कुछ में म, जैसे यवन--जमन[22] भी 'सूरसागर' में मिलता है । साथ ही अनेक शब्द ऐसे भी पाये जाते हैं जिनका व कवि ने सुरक्षित रखा है; जैसे कुतवाल[23], गँवायो[24], जीव[25], जुवा[26], ज्वाला[27], पावक[28], पावन[29], भगवंत[30]; भव[31], भागवत[32], भाव[33], सावक[34], सुवा[35], स्व[36], स्वान[37], स्वारथ[38] आदि ।

र और ल—यद्यपि इन दोनों व्यंजनों का उच्चारण-स्थान एक ही है और ल का उच्चारण र से सरल भी होता है, तथापि व्रजभाषा में शब्दांत के ल को कभी कभी र में बदल दिया जाता है । सूर-काव्य में भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं; जैसे—केला-

---

१. सा. २-२० । २. सा. ४-९ । ३. सा. ३-१३ । ४. सा. ५.३ ।
५. सा. ८. १४ । ६. सा. १-२५ । ७. सा. १०-११ । ८. सा. १०-२३ ।
९. सा. १०-४ । १०. सा. ३९३९ । ११. सा. १०-२१ । १२. सा. १०-११ ।
१३. सा. १०-३७ १४. सा. १०-३६ । १५. सा. १०-८४ । १६. सा. १०-८ ।
१७. सा वें. १४३३ । १८.सा. ३६९३ । १९. सा. १. २८८ । २०. सा. १०-३४ ।
२१. सा. ३६९० । २२. सा. ९-११ । २३. सा. १-६४ । २४. सा. १. ७९ ।
२५. सा. १-५४ । २६. सा. १-१०१ । २७. सा. १-४६ । २८. सा. १-५५ ।
२९ सा. १-९० । ३०. सा. १-.२ । ३१. सा. १-७६ । ३२. सा. १-६५ ।
३३. सा. १-६५ । ३४. सा १-१०६ । ३५. सा. १-८९ । ३६. सा. १-५० ।
३७. सा. १-९८ । ३८. सा १-५३ ।

केरा[1], चटसाल—चटसार[2], छत्र—छर[3], जंजाल—जंजार[4], जाल—जार[5], नालो—नारो[6], पुतली—पुतरी[7], बादल—बादर[8], बिकराल—बिकरार[9]। कहीं-कहीं शब्द के मध्य का ल भी र में बदला गया है; जैसे गालियाँ—गारियाँ[10], परन्तु ऐसा बहुत कम शब्दों में किया गया है। कुछ शब्दों में र का लोप भी मिलता है; जैसे—प्रिय—पिय[11], परन्तु ऐसा अधिक नहीं होता; यहाँ तक कि 'प्रिय' के स्त्रीलिंग रूप 'प्रिया'[12] का 'पिया' नहीं लिखा जाता। इसी प्रकार प्रीतम[13], प्रीति[14], प्रेम[15] आदि शब्द भी मूल रूप में ही 'सूरसागर' में मिलते हैं।

श, ष और स—व्रजभाषा को श और ष से स की मधुर ध्वनि अधिक प्रिय है। यद्यपि 'सूरसागर' के कुछ संस्करणों में अनेक शब्दों को 'श' से ही लिखा गया है तथा कुशल[16], क्लेश[17], दशन[18], दशमी[19], दिशि[20], निशान[21], प्रश्नहिं[22], शीश[23], शूल[24], शोभित[25] आदि; तथापि व्रजभाषा में इसके स्थान पर प्रायः सर्वत्र स ही लिखा जाता है। 'सूरसागर' के नये संस्करण में भी श के स्थान पर प्रायः सर्वत्र स ही मिलता है; जैसे अंश—अंस[26], कुशल - कुसल[27], जगदीश—जगदीस[28], त्रिशूल—त्रिसूल[29], दर्शन—दरसन[30], द्वादश - द्वादस[31], निशाचर—निसाचर[32], शरणागत-सरनागत[33], शस्त्र—सस्त्र[34], संदेश—संदेस[35] आदि। श को स में परिवर्तित करने के इस नियम का निर्वाह सूरदास ने जितनी कट्टरता से किया है, ष को स से बदलने में वह दृढ़ता नहीं दिखायी देती जिसके फलस्वरूप अनेक शब्दों में ष ज्यों का त्यों वर्तमान है। जैसे आकरषन[36], त्रिदोष[37], निर्दोष[38], पुरुष[39], पुरषारथ[40], पुरुषोत्तम[41], पोषै[42], बरष[43], बर्षौ[44], बिषम-बिषाद[45], बिष्नु[46], बृषभ[47], बेष[48], भाष्यौ[49], भेषज[50],

---

१. सा. ३८६३। २. सा. ७-२। ३. सा. २४५५। ४. सा. ७-२। ५. सा. २-४। ६. १-२०९। ७. सा. ६-५। ८. सा. १-३१९। ९. सा. १-२७९। १०. सा. १०७२। ११. सा. २४५९। १२. सा. २६०१। १३. सा. ३२३१। १४. सा. २०१८। १५. सा. ३५९७। १६. सा. ३८७। १७. सा. ४०९७। १८. सा. बेना. १४६५। १९. सा. वें ९-४। २०. सा. न. कि. रासलीला ९७। २१. सा. ३८१९। २२. सा. ३६६९। २३. सा. वें ९-२। २४. सा. न. कि. यमलार्जुन लीला, ३०। २५. सा. बेती. १६८१। २६. सा. ६-५। २७. सा. १-२३८। २८. सा. १०-८९। २९. सा. ६-५। ३०. सा. ९-८७। ३१. सा. ४-९। ३२. सा. ९-८४। ३३. सा. १-२६८। ३४. सा. ६-५। ३५. सा. १-२८६। ३६. सा. ९-२। ३७. सा ४१४७। ३८. सा. १-२१५। ३९. सा. ९-२। ४०. सा. १-२८७। ४१. सा. १-२६९। ४२. सा. ९-५। ४३. सा. ९-२। ४४. सा. १-२८६। ४५. सा. ९-७। ४६. सा. ९-१२। ४७. सा. १-२८६। ४८. सा. १-१३६। ४९. सा. ८-१६। ५०. सा. ४१४७।

मर्षत[१], रिषिनि[२] द्विषद[३], संतोष[४], हरषवंत[५] हरषि[६] आदि । सब शब्दों का 'ष' सुरक्षित रहा हो, सो बात भी नहीं है, कुछ में इसके स्थान पर स भी मिलता है; जैसे अवशेष—अवसेस[७], बिशेस–बिसेष[८], शेषनाग—सेसनाग[९] । इसी प्रकार शब्द के आदि का श यदि अर्द्धाक्षर के रूप में है और उसके आगे 'र' है तो कभी-कभी उसको नहीं बदला गया है; जैसे श्री[१०], श्रुति[११], शृंगी[१२], यद्यपि स्रम[१३], स्रवननि[१४], स्रुति[१५] आदि शब्द इसके अपवाद भी हैं ।

व्रजभाषा-काव्य के कुछ संस्करणों में ष के स्थान पर कहीं-कहीं ख और ख के स्थान पर ष लिखा मिलता है । सन् १९४९में छपी हुई 'साहित्यलहरी'में खण्डित, खरक, दुख, दुखिन, देखैहैं, बखाने, भख, मुख, लख, सखिन आदि शब्द षंडित षरक, दुष, दुषित, देषैहै बषाने, भष, मुष, लष, सषिन रूप में लिखे मिलते हैं[१६] । वेंकेट्श्वर प्रेस के 'सूरसागर' में भी मख के स्थान में मष[१७]–जैसे एकाध प्रयोगों में ख के स्थान ष मिल जाता है । सभा के संस्करण में यह परिवर्तन नहीं मिलता ।

ड़—देवनागरी वर्णमाला की यह एक नयी ध्वनि है जिसको व्रजभाषा ने कुछ शब्दों में तो अपना लिया है, परंतु कुछ में इसके स्थान पर 'र' लिखना उसे प्रिय है । सूरदास ने भी कुछ शब्दों में तो इस परिवर्तन को स्वीकार किया है ; जैसे ककड़ी, क्रीड़ा, खड़ाऊँ, घोड़ा, छड़ीदार, जोड़ी, पकड़ी, पड़ना, बेड़ौ, लकड़ी, लड़ाई आदि शब्द उन्होंने 'र' से लिखे हैं —ककरी[१८], क्रीरत[१९], खराऊँ[२०], घोरा[२१], छरीदार[२२], जोरी[२३], पकरी[२४], परतौ[२५], बेरी[२६], लराई[२७], लकरी[२८]; परंतु उड़न[२९], उड़ाइ[३०], उड़ि[३१], उड़िबे[३२], उड़िबौ[३३], उड़ैहै[३४], गड़े[३५], गारुड़ी[३६], छाँड़े[३७], छाँड़ै[३८], छाँड़ौगी[३९], छाड़्यौ[४०], डाँड़ी[४१], लाड़[४२], लाड़िली[४३] आदि शब्दों में 'ड़' को ही स्थान दिया गया है । जड़[४४], जड़ताई[४५], जड़ाई[४६], जड़ित[४७] आदि शब्द 'सूरसागर'

---

१. सा. १-२१५ । २. सा. ८-१६ । ३. सा. ४१६० ।
४. सा. १-२१५ । ५. सा. १०-८९ । ६. सा. १०-४५ । ७. सा. ४०७८ ।
८. सा. ४०७८ । ९. सा. १-२१५ । १०. सा. ७-२ । ११. सा. १-२८४ ।
१२. सा. ३८१२ । १३. सा. १-६९ । १४. सा. १-७२ । १५. सा. १-९१ ।
१६. 'साहित्यलहरी' लहरियासराय, पद संख्या क्रमशः २८, १४, ३३, १६, २२, ३, १३, ८, ६ और ७ । १७. सा. वें. १२४१ ।
१८. सा. ३९८८ । १९. सा. १२०० । २०. सा. वें ३४७७ । २१. सा. ९-९ ।
२२. सा. १-४० । २३. सा. ७६१ । २४. सा. ३९८८ । २५. सा. १-२९७ ।
२६. सा. ३९९४ । २७. सा. ३-९ । २८. सा. ३९८९ । २९. सा. १०-६५ ।
३०. सा. १२-२ । ३१. १० उ. ३१ । ३२. सा. ३६६ । ३३. सा. १-३३८ ।
३४. सा. १-८६ । ३५. सा. ४०७८ । ३६. सा. ७५६ । ३७. सा. ९-८३ ।
३८. स. १-२८६ । ३९. सा. १५११ । ४०. सा. ९-९६ । ४१. २-३८ ।
४२. सा. २-३० । ४३. सा. ७५९ । ४४. सा. ५-३ । ४५. सा. १-१८७ ।
४६. सा. ७९९ । ४७. सा. २५७३ ।

में 'ड़' से लिखे भी मिलते हैं और ये तथा इनसे मिलते-जुलते शब्द, 'र' से भी; जैसे जर-जड़[1], जराइ-जड़ाइ[2], जराउ-जड़ाऊ[3], जरि-जड़ि[4], जरिया-जड़िया[5] आदि ।

न्ह, म्ह, र्ह और ल्ह[6]—इन ध्वनियों को देवनागरी वर्णमाला में स्थान नहीं मिला है, यद्यपि इन्हें, तुम्हें आदि शब्दों में इनमें से प्रथम दो का प्रयोग किया जाता है। व्रजभाषा कवियों ने और सूरदास ने भी इनमें से अंतिम दो का प्रयोग तो बहुत कम किया है : परंतु प्रथम दो का अधिक; यथा —

न्ह– कन्हैया[7], कान्ह[8], कीन्हौ[9], दीन्हौ[10] न्हाउ[11], लीन्हे[12] ।

म्ह—तुम्हरौ[13], सम्हारति[14] ।

ल्ह कालिह[15]।

संयुक्ताक्षर—हिंदी में जिन संयुक्ताक्षरों का प्रयोग होता है उनमें क्त, क्ष, ज्ञ, त्र, त्म, द्ध, द्म, द्व, प्त, ष्ट, ह्न, ह्म, ह्य, ह्ल, ह्व मुख्य हैं । व्रजभाषा में इनका प्रयोग बहुत कम किया जाता है और जिन तत्सम शब्दों में ये प्रयुक्त होते हैं उनमें अर्द्धाक्षरों को पूर्ण करके अर्द्धतत्सम रूप प्रायः बना लिये जाते हैं। जहाँ ऐसा करने का अवसर नहीं मिलता वहाँ पूरे संयुक्ताक्षर के लिए ही सरल ध्वनिवाले मिलते-जुलते एकाक्षर या अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। सूरदास ने भी कुछ संयुक्ताक्षरों के अर्द्धाक्षरों को पूर्ण रूप से लिखा है, जैसे पद्म—पदुम[16], प्रह्लाद—प्रहलाद[17], प्राप्त—प्रापत[18], मुक्ति—मुकुति[19]; कुछ में उसे दूसरे अक्षरों से बदल दिया है; जैसे—

क्ष—छ—अक्षत—अछत,[20] अक्षम—अछम[21], क्षणभंगुर—छनभंगुर[22], क्षमा—छमा[23], क्षमी—छमी[24] ।

क्ष–च्छ—अक्षर–अच्छर[25], अभक्ष्य–अभच्छ[26], वृक्ष-वृच्छ[27], परीक्षित–परीच्छित[28], रक्षा—रच्छा[29], लक्षण—लच्छन[30], लक्ष्मी—लच्छमी[31], साक्षात—

---

१. सा. ९६३ । २. सा. १०-१३३ । ३. सा. १०- ४१ । ४. सा. १०-४१ ।
५. सा. १०-८८ । ६. डा० बाबूराम सक्सेना ने इन रूपों को स्वतंत्र व्यंजनों के समान मान लिया है—'इवोल्यूशन आव अवधी,' अनु० ६१, ६२ और ७२ ।
७. सा. १०-१२५ । ८. सा. १०-१५३ । ९. सा. १-१९० । १०. सा. १-२११ ।
११. सा. १०-१८६ । १२. सा १-१७७ । १३. सा. १-२०४ । १४. सा. १०-२३
१५. सा ३८०८ । १६. सा. १-९४ । १७. सा. ७-२ । १८. सा. ४-७ ।
१९. सा ३७३५ । २०. सा. ३७३२ । २१. सा. १-१२१ । २२. सा. १-८४ ।
२३. सा. १-२९० । २४. सा. १-३०९ । २५. सा. ४-९ । २६. सा. १-५६ ।
२७. सा. ६-५ । २८. सा. १-२८ । २९. सा. १-११२ । ३०. सा. ३-१३ ।
३१. सा. ७-२ ।

साच्छात[1], शिक्षा—सिच्छा[2]।
ज्ञ—ज—ज्ञानशिरोमणि—जानसिरोमनि[3]।
ज्ञ—ग—यज्ञ—जाग[4]।
ज्ञ—ग्य—अज्ञान—अग्यान[5]।

उक्त संयुक्ताक्षरों में क्ष विशेष कर्णकटु है, इसलिए इसके प्रयोग 'सूरसागर' के पुराने संस्करणों में बहुत कम हुए हैं; परन्तु बिलकुल न हुए हों सो बात भी नहीं है; जैसे—क्षत्रिआ[6], क्षीरोदक[7], क्षुद्रमति[8], मोक्ष[9], रक्षा[10] आदि। अन्य संयुक्ताक्षरों में से अधिकांश का प्रयोग सूरदास ने किया है। इनमें से प्रमुख के कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

क्त—अनुरक्ति[11], असक्त[12], जुक्ति[13], मुक्त[14], मुक्ति[15], साक्त[16]।
ज्ञ—अज्ञान[17], आज्ञा[18], आतमज्ञान[19], परतिज्ञा[20], सरवज्ञ[21], सर्वज्ञ[22]।
त्र—गात्र[23], त्रिविधि[24], त्रैलोकनाथ[25], दत्तात्रेय[26], धात्र-पात्र-मात्र[27], मित्राई[28], सत्रु[29]।
त्न—पत्नी[30]।
द्ध—उद्धार[31], जुद्ध[32], बिरुद्ध[33], बुद्धि[34], बृद्ध[35], सिद्धि[36], सुद्धासुद्ध[37]।
द्म—पद्म[38]
द्य—अविद्या[39], उद्यम[40], उद्योग[41], जद्यपि[42], तद्यपि[43], द्याऊँ[44], द्याल = दयालु[45], द्युति[46], द्योस[47], द्योसनि[48], बिद्यमान[49], बसुद्यो[50]।
द्व—द्वंद[51], द्वादस[52], द्विज[53], द्वै[54], द्विरेफ[55]।
प्त—अलिप्त[56], गुप्तहि[57], तृप्ति[58]।

---

१. सा. २८४। २. सा. ३-११। ३. सा. १-८। ४. सा. ८-१४। ५. सा. १-१५४। ६. सा. १० उ. १५१। ७. सा. वें. १६८९। ८. सा. वें. ९४४। ९. सा १-४०। १०. सा. ४३०९। ११. सा. ३-१३। १२. सा. १-१०२। १३. सा. १-६०। १४. सा. ३-१३। १५. सा. ३८१६। १६. ३-१२। १७. सा. ३-१३। १८. सा. ३-१३ १९. सा. ३-१३। २०. सा. १-३८। २१. सा. १-१२१। २२. सा. १-२८९। २३. सा. १-२१६। २४. सा. ३-१३। २५. सा. १०-१४६। २६. सा. ४-३। २७. सा. १-२१६। २८. सा. १-२८९। २९. सा. ३-९। ३०. सा. ४-६। ३१. सा. १-२०७। ३२. सा. ३-११। ३३. सा. १-८२। ३४. सा. १-४३। ३५. सा. १-११८। ३६. सा. ५-२। ३७. सा. १-२१६। ३८. सा. ४०७८। ३९. सा. ४-१२। ४०. सा. ३-१३। ४१. सा. ३९९३। ४२. सा. ४-५। ४३. सा. ६-४। ४४. सा ४-९। ४५. सा. ४-१०। ४६. सा. ८६९। ४७. सा. १-२८६। ४८. सा. ४२२२१। ४९. सा. १-१००। ५०. सा. ४१८६। ५१. सा. ३-१३। ५२. सा. १-६०। ५३. सा. १-८२। ५४. सा. ८-११। ५५. सा. ३९१७। ५६. सा. ३-१३। ५७. सा. ३७४६। ५८. सा. १-१०३।

ष्ट—अरिष्ट[1], अष्ट[2], अष्टम[3], त्वष्टा[4], दृष्टि[5], दुष्ट[6], मिष्टान्न[7], मुष्टिक[8], सृष्टि[9]।
ष्ठ—बसिष्ठ, सिष्ठ[10]।
ह्न—चिह्न[11], चिह्नानि[12]।
ह्म—ब्रह्म[13], ब्रह्मादिक[14]।
ह्य—कह्यौ[15], गह्यौ[16], निबह्यौ[17] पूछह्यौ[18]।
ह्व—विह्वल,[19] ह्वै[20]।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संयुक्ताक्षरों का प्रयोग भी सूर-काव्य में हुआ है; परन्तु वे बहुत सामान्य हैं और हिंदी में भी वे बराबर प्रयुक्त होते हैं। अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

अन्य परिवर्तन—स्वर और व्यंजन-सम्बन्धी सूरदास के उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ शब्दों में अन्य अक्षरों का भी परिवर्तन सूरदास ने किया है; जैसे—
ग—ई—लोग-लोइ[21]।
म—उ—नाम-नाउ[22]।
य—इ—आयु-आइ[23], उपाय-उपाइ[24], न्याय-न्याइ[25]।
व—इ—चाव-चाइ[26], भाव-भाइ[27]।
व—उ—घाव-घाउ[28], दावँ-दाउँ[29]।
व—औ—अवसर-औसर[30], स्रवन-स्रौन[31]।

परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों की संख्या इतनी कम है कि इनके आधार पर तद्विषयक नियम नहीं निश्चित किये जा सकते। फिर भी उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्रजभाषा की प्रकृति आरंभ से ही व्यंजनों से अधिक स्वरों को अपनाने की ओर रही। सूरदास ने भी इस रहस्य को पूर्णतया हृदयंगम कर लिया था। यही कारण है कि कुछेक तत्सम शब्दों को छोड़कर वे प्रायः सर्वत्र क्ष, ङ, ञ, ण और श के प्रयोग से तो बचे ही ज्ञ, य, व, ष और ड़ पर भी जैसे प्रतिबंध लगाते रहे, कम से कम शब्दारंभ में तो उन्होंने इनको नहीं ही जाने दिया। इस प्रकार मूल व्यंजनों की संख्या में जहाँ उन्होंने लगभग पंचमांश की कमी कर दी, वहाँ स्वरों में एक तिहाई बढ़ाकर और उनके

---

१. सा. १.१२१। २. सा. १.४०। ३. सा. ३.१३। ४. सा. ६.४।
५. सा. १.४४। ६. सा. १.१०२। ७. सा. १०.२१२। ८. सा. १.१२३।
९. सा. ३.८। १०. सा. ३.८। ११. सा. २७१७। १२. सा. २५४९।
१३. सा. ५.२। १४. सा. १.५२। १५. सा. ३.५। १६. सा. ६.४।
१७. सा. १.९६। १८. सा. ४.१३। १९. सा. ८.५। २०. सा. ८.१०।
२१. सा. २.५। २२. सा. ६.३। २३. सा. ७.२। २४. सा. ३.३।
२५. सा. ३७३६। २६. सा. ३.३। २७. सा. ३-५। २८. सा. ६.५।
२९. सा. ३.११। ३०. सा. ६.५। ३१. सा. ४.१२।

अनेकानेक नये संयुक्त रूप गढ़कर वे व्रजभाषा की जन्मजात कोमलता-मधुरता की सहज ही वृद्धि कर सके।

(ख) सूर का शब्द-समूह और उसका वर्गीकरण

किसी जनप्रदेश की बोली में जब साहित्य-रचना होने लगती है, तब स्वभावतः उसे पूर्ववर्ती और समकालीन भाषाओं के शब्द अपनाकर अपना भांडार भरना पड़ता है। ऐसा करने से उसकी व्यंजना-शक्ति विकसित होती है और धीरे धीरे वह समर्थ भाषा बनती है। सूरदास के पूर्ववर्ती कवि भी व्रजभाषा का शब्द-कोष बढ़ाने में प्रयत्न-शील रहे थे और उनकी लगन का यह सुफल था कि पन्द्रवीं शताब्दी तक शक्ति-संचय करनें के उपरांत, अपने सीमित क्षेत्र से ऊपर उठकर, वह साहित्यिक भाषा के प्रतिष्ठित पद पर आसीन हो सकी थी। परन्तु उनमें से अधिकांश कवि सामान्य कोटि के ही थे। परिस्थिति का अनुकूल न होना इसका कारण हो, चाहे प्रतिभा का अभाव, तथ्य यही है जिसका प्रमाण चौदहवीं शताब्दी अथवा उसके पूर्व के किसी भी व्रजभाषा कवि की रचनाओं का लोकप्रिय न होना माना जा सकता है। व्रजभाषा को वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न बनाने वाले सर्वप्रथम विख्यात कवि सूरदास ही हैं जिनकी अंतर्दृष्टि ने जड़ और चेतन प्रकृति की नैसर्गिक सुंदरता, मनोहर क्रिया-कलाप और मर्मभेदिनी अनुभूतियों को लक्ष्य किया और जिनके सत्प्रयत्न से व्रजभाषा इनके स्पष्ट चित्रण में समर्थ हो सकी। सूरदास का इसमें महत्वपूर्ण योग यह था कि उन्होंने व्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की सूक्ष्मताओं को समझा और पूर्ववर्ती तथा समकालीन देशी-विदेशी भाषाओं के शब्द एवं प्रयोग अपनाने की रीति को व्यवस्थित और नियमित किया। अतएव दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनाने की जो रीति सूरदास ने निर्धारित की, उसी का अनुसरण उनके समकालीन और परवर्ती व्रजभाषा कवियों को करते देखकर अध्येता को इस अंध कवि की अद्भुत प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

सूर-साहित्य के सभी समालोचकों ने कृष्ण-काव्य-परंपरा के इस सर्वश्रेष्ठ व्रजभाषा कवि की भावुकता, अनुभूतियों की व्यापकता, वाक्-विदग्धता और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की सराहना की है। इन गुणों या विशेषताओं के मूल में किसी सीमा तक दैवी देन थी। परंतु व्रजभाषा को व्यंजना की क्षमता प्रदान करने का सारा श्रेय उनकी लगन, संचय-वृत्ति, व्यावहारिक दूरदर्शिता और अभ्यास की अनवरतता को ही है जो उन्हीं की सी साधना वाले व्यक्ति के लिए संभव थीं। सारांश यह है कि सूरदास के हाथ में पड़कर व्रजभाषा सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो गयी और उसकी शाब्दिक समृद्धि किसी भी साहित्यिक भाषा के उपयुक्त मानी जाने लगी। यही नहीं, निकटवर्ती विभिन्न भाषाओं के शब्दों और प्रयोगों को अपनाने की नीति भी उन्होंने निश्चित कर दी; उदाहरण-स्वरूप मार्ग-प्रदर्शन कर दिया जिससे सदा के लिए संपर्क की घनिष्ठता बढ़ते रहने की आशा होने लगी। साथ-साथ जन-बोली से अपनी भाषा का सम्बन्ध-विच्छेद करना भी उन्हें नहीं रुचा और उसी से साहित्यिक व्रजभाषा को पुष्ट करने का लक्ष्य उन्होंने सदैव अपने सामने रखा। इस प्रकार भाषा का रूप स्थिर करने एवं

उसकी नीति और गतिविधि निश्चित करने का महत्वपूर्ण कार्य लगभग साठ वर्ष तक निरंतर काव्य-सृजन में लगे रहनेवाले इस अंध कवि के द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूर्ववर्ती और नवोदित भाषाएँ—

हिंदी के जन्म से पूर्व संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भारतीय भाषाओं में पर्याप्त साहित्य रचा जा चुका था। इसके पठन-पाठन का क्रम पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक चलता रहा। विधिवत् और नियमित शिक्षा न होने के कारण सूरदास प्रत्यक्ष रूप से इससे कोई लाभ न उठा सके। वीतराग-जन प्रायः साधु-सन्तों के सत्संग-समागम द्वारा तथा कथावाचकों और धर्मोपदेशकों के व्याख्यानों और प्रवचनों से भाषा-संबंधी ज्ञान प्राप्त करते हैं। तीस-बत्तीस वर्ष की आयु तक तो सूरदास को इसके लिए कम अवकाश मिला, परन्तु वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उनके लिए ऐसे अवसरों की संख्या यहाँ तक बढ़ी कि दिन-रात वे विद्वानों और पण्डितों के ही मध्य में रहने लगे। कीर्तन-सेवा का जो कार्य सूरदास को सौंपा गया था, उसने उनकी प्रसिद्धि बढ़ाने में बड़ा योग दिया और संगीत की कुशलता ने उनकी लोकप्रियता की वृद्धि की। वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित अनेक उपासक और भक्त कवि साहित्य-रचना के कार्य में उस समय बराबर लगे हुए थे। सूरदास ने इनसे प्रेरणा तो ली ही, परोक्ष रूप से वह वातावरण उनकी भाषा-समृद्धि बढ़ाने में भी सहायक हुआ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्रमुख पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त खड़ीबोली, अवधी, बुंदेलखंडी, कन्नौजी, राजस्थानी आदि बोलियों तथा विभाषाओं के व्रजप्रदेश में प्रचलित शब्दों और प्रयोगों से भी सूरदास सामान्य रूप से परिचित थे। उन्होंने स्वयं इन भाषाओं के क्षेत्रों की यात्राएँ नहीं की थीं। परन्तु समय-समय पर कुछ ऐसे व्यक्तियों से उनका सम्पर्क अवश्य रहा था, उक्त बोलियों या भाषाओं में से एक न एक जिनकी मातृभाषा थी। साथ ही, व्रजप्रदेश की तीर्थ-यात्रा के लिए आनेवाले भक्तों-उपासकों से भी उनका सम्पर्क हुआ और उनके साथ वार्तालाप करके सूरदास ने व्रजभाषा की प्रकृति से मेल रखनेवाले उपयोगी शब्दों और प्रयोगों को अपना लिया। प्रसिद्ध संगीतज्ञ सूरदास के निकट सम्पर्क में रहने का लोभ इन बोलियों के गायकों और कलाकारों को रहा हो और उन्होंने इनसे इनकी बोलियों के लोकगीत तथा गेय पद सुने हों, यह बात भी स्वाभाविक जान पड़ती है। सूरदास की रचना में इन बोलियों के शब्द और प्रयोग मिलने के ये ही सम्भव कारण हो सकते हैं।

अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्द ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से ही इस देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश में प्रचलित हो गये थे। संभवतः इसी से डा० केलॉग ने लिखा था कि हिंदी अपने जन्म से ही विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती रही है[1]।

---

1. Almost from its very origin Hindi has been subjected to foreign influence.—Rev. S. H. Kellogg, 'A Grammar of the Hindi Language', Chapter III, P. 36.

सूरदास के प्रादुर्भाव-काल तक व्रजमंडल की जनभाषा में ही नहीं, सामान्य काव्य-भाषा में भी अनेक विदेशी शब्दों को स्थान मिल चुका था। खुसरो की मिली-जुली भाषा में स्फुट रचनाएँ जनसाधारण को प्रिय थीं और उनका अनुकरण करनेवाले साधारण तुकबन्दीकारों की कमी कभी नहीं रही। सूरदास ने इन विदेशी भाषाओं— मुख्यतः अरबी-फारसी—के अनेक शब्दों और प्रयोगों को उदारतापूर्वक अपनाया जो इस बात का द्योतक है कि वे जन-भाषा की गति-विधि परखने में कुशल थे और अपने को सामान्य वर्ग से ऊपर समझने की अहंकारपूर्ण मनोवृत्ति का उनमें सर्वथा अभाव था। इन विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द और प्रयोग जनता की बोली में घुलमिल कर उसका अभिन्न अंग हो गये थे। अतएव सूरदास ने भी उन्हें उसी रूप से अंगीकार किया जिस रूप में जन-समुदाय उन्हें अपनाये था। इस दिशा में उनका सबसे महत्वपूर्वक कार्य यह था कि उन्होंने विदेशी भाषाओं के प्रयोग व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप बना कर, इसी के व्याकरण से उन्हें शासित करके, एक ऐसी नियमित व्यवस्था की जिसका समकालीन और परवर्ती कवियों ने भी अनुकरण किया। अनेक अरबी-फारसी शब्दों, अथवा उनके मूल रूपों, को लेकर उन्होंने नये रूप गढ़ने की प्रणाली का भी श्रीगणेश किया जिसने व्रजभाषा की व्यंजना-शक्ति की वृद्धि की, जो उसकी लोकप्रिपता बढ़ाने में भी सहायक हुई और जिससे भाषा के क्षेत्र में असहिष्णुता-जन्य विरोध भी बहुत कम हो गया।

सूर-साहित्य में कवि के भाषा-विषयक दृष्टिकोण अथवा आदर्श की व्याख्या करने वाले वैसे कथन नहीं मिलते जैसे गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में उपलब्ध हैं[1]। केवल एक पद में उन्होंने 'भाषा' रचना करने का उल्लेख भर किया है —

> श्रीमुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा कौं समुझाइ।
> ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद ब्यास सुनाइ।
> ब्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
> सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ[2]।

---

१. क. स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमतिमंजुलमातनोति।
—'मानस', बालकांड, श्लोक ७।

ख. भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
—'मानस', बालकांड, दोहा ९।

ग. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।
× × × ×
सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
—'मानस', बालकांड, दोहा १४ क।

घ. भाषा बद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।
—'मानस', उत्तरकांड, अंतिम श्लोक १।

२. 'सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद २२५।

इससे अनुमान होता है कि न तो उन्हें गोस्वामी जी की तरह संस्कृतज्ञ पंडितों के विरोध का प्रत्यक्ष सामना करना पड़ा और न केशवदास की तरह भाषा से रचना करने का लज्जामय संकोच[1] ही उन्हें था। प्रारंभिक विनय-पदों में उसके रचयिता के दैन्य और अकिंचनत्व को देखकर एक अंध कवि का विरोध करने की निष्ठुरता और हृदयहीनता हो ही किस विद्वान में सकती थी? ऐसी स्थिति से देशी-विदेशी बोलियों, विभाषाओं और भाषाओं के, सूर-काव्य में प्राप्त, प्रयोगों के आधार पर ही उनके तद्विषयक आदर्श पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

सूरदास का शब्द-भांडार—

साहित्य- शास्त्रियों ने काव्य के भाव और कला पक्षों में द्वितीय को अप्रधान माना है और भाषा की गणना इसी के अंतगर्त की है। संभवतः इसका कारण यह है कि प्रथम अर्थात् मुख्य पक्ष की प्रधानता जिस कवि की रचना में रहती है, उपयुक्त और समर्थ भाषा पर उसका अपेक्षित अधिकार सहज ही हो जाता है। वास्तव में भाव या हृदयपक्ष के समावेश के लिए, दैवी देन के रूप में, तद्विषयक स्वभावगत विशेषता, विषयानुकूल शब्द-चयन की योग्यता, स्वतः प्रदान कर देती है। कवि यदि शिक्षित और स्वाध्यायी हो तो यह योग्यता इतनी अलक्षित गति से आती है कि उसे अपने प्रयत्न का आभास भी नहीं मिल पाता। परन्तु यदि कारणवश वह अध्ययन की सुविधा से वंचित रहा हो और आगे भी नेत्रेंद्रिय का उपयोग करने की निसर्ग-सुलभ क्षमता उसमें न हो तो उसका कार्य कठिन हीं नहीं, विशेष श्रम-साध्य और प्रतिभा-साध्य भी हो जाता है। अतएव जब हम देखते हैं कि बाल्यकाल में अध्ययन की सुविधा से वंचित और जीवन भर नेत्रेंद्रिय से हीन रहने के अनंतर भी सूरदास का शब्द-भांडार बहुत विस्तृत और पूर्ण है, उनका शब्द-चयन बहुत उपयुक्त और विषयानुकूल है तथा उनकी भाषा में काव्य-भाषा के सभी साहित्यिक गुण विद्यमान हैं, तब हमें कवि की प्रतिभा, उसकी ग्रहणशक्ति और नाद तथा संगीत-विषयक उसके परिज्ञान का महत्व ज्ञात होता है।

जैसा पीछे कहा जा चुका है, इस अंध कवि ने भाषा का शास्त्रीय रीति से अध्ययन तो नहीं किया होगा, परंतु इसमें संदेह नहीं कि नेत्रों की सारी शक्ति श्रवणों के द्वारा जैसे उसके मस्तिष्क को मिल गयी थी जिससे कवि की स्मरण-शक्ति असाधारण हो गयी। एक ही विषय का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन करने के लिए प्रयुक्त शब्दों के केवल पर्यायों से ही कवि ने काम नहीं निकाला है, प्रत्युत सर्वथा नवीन प्रयोग करके पूर्ववर्णित विषय को सर्वथा नूतन-सा रोचक बना देने में कवि की सफलता अद्वितीय है। एक ही विषय की अनेक

---

१. क. भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल को दास।
भाषा कवि भो मंदमति सो कवि केसोदास।
—'कविप्रिया', पृ. २१, छंद ७।

ख. उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठ कवि केशवदास।
रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास॥
—'रामचंद्रिका', पहिला प्रकाश, छंद ५।

आवृत्तियाँ होने पर भी नये शब्दों और प्रयोगों की चयनशीलता-संबंधी क्षमता के बल पर ही कवि ने विषय को अरोचक और नीरस होने से बचा लिया है। सारांश यह कि सूरदास ने अपने शब्द-भांडार की पूर्ति के लिए बड़ी उदारता से काम लिया। मूलतः उनकी भाषा व्रजप्रदेशीय बोली है जिसको संपन्न बनाने के लिए उन्होंने पूर्ववर्ती और समकालीन देशी-विदेशी भाषा, विभाषा या बोली, सभी के शब्दों और प्रयोगों को लगन और सम्मान से अपनाया। उनके शब्द-समूह का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

क. पूर्ववर्ती भाषाओं— संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश - के शब्द।
ख. समकालीन देशी भाषाओं—पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी—के शब्द।
ग. समकालीन विभाषाओं और बोलियों—खड़ीबोली, अवधी, कन्नौजी और बुन्देलखंडी - के शब्द।
घ. विदेशी भाषाओं—अरबी, फारसी और तुर्की— के शब्द।
ङ. अन्य प्रयोग—देशज और अनुकरणात्मक अथवा ध्वन्यात्मक शब्द।

अ. पूर्ववर्ती भाषाओं के शब्द—

वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रारंभिक विकास-काल से ही संस्कृत भाषा का उनसे घनिष्ठतम संबंध रहा। ईसा के लगभग ५०० वर्ष पूर्व जैन और बौद्ध धर्मों के जन्म के पश्चात् बारह-तेरह सौ वर्ष तक इन क्षेत्रों में यद्यपि पाली और प्राकृत ने भी अपना अधिकार जमाया, तथापि इसके अनंतर बौद्ध धर्म की भारत में समाप्ति और जैन धर्म का क्षेत्र सीमित हो जाने के कारण वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ जिसके फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन ही नहीं, निर्माण भी द्रुत गति से होने लगा। इस समय तक विकसित तत्कालीन जन-भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

आधुनिक आर्य-भाषाओं के प्रादुर्भाव के समय, लगभग सन् १००० के आसपास, तो हिंदी में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश के भी शब्द और प्रयोग पर्याप्त संख्या में अपनाये गये थे; परंतु कालांतर में इस प्रणाली में परिवर्तन हो गया और कवियों की रुचि संस्कृत के आधार पर भाषा के समृद्धि-वर्द्धन के प्रति हो गयी। शुक्ल जी ने इसी को लक्ष्य करके हिंदी काव्य-भाषा-विकास के दो मुख्य काल-भेद—प्राकृत-काल और संस्कृत-काल—किये हैं[1]। इस रुचि-परिवर्तन का कारण संभवतः उस गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति की सजगता थी जो विदेशी इस्लामी विजेताओं की कट्टरता की प्रतिक्रिया कही जा सकती है। जो हो, सूरदास की भाषा में पाली के शब्दों का अभाव है; एवं प्राकृत और अपभ्रंश के वे ही शब्द और प्रयोग मिलते हैं जो व्रजभाषा की प्रकृति से मेल खाते थे और जिनका प्रचलन आगे भी काव्यभाषा में बना रहा।

संस्कृत के शब्द—

हिंदी की विभिन्न भाषाओं में प्राप्त संस्कृत शब्दों को तीन वर्गों में विभाज़ित किया

---

१. पंडित रामचंद्र शुक्ल, 'बुद्ध-चरित्', भूमिका, पृ० १२।

जा सकता है—तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव। सूरदास की भाषा में भी ये तीनों रूप मिलते हैं। इनके संबंध में इन्हीं उपशीर्षकों के अंतर्गत विचार करना उपयुक्त होगा।

तत्सम शब्द —

सूरदास के प्रादुर्भाव के पूर्व नवोदित भारतीय भाषाओं में प्राकृत और अपभ्रंश के कुछ शब्दों को अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ी हुई थी। वैष्णव धर्म के उत्थान और प्रचार-प्रसार के साथ इस मनोवृत्ति में परिवर्तन होने लगा। जन-साधारण में बढ़ते हुए इसलामी प्रभाव को रोकने और वैष्णव-विरोधी विभिन्न सांप्रदायिक आंदोलनों का मूलोच्छेदन करने के लिए शास्त्रार्थों और प्रवचनों का इतना अधिक आश्रय लिया गया कि अशिक्षित हिंदुओं में ही नहीं, उन मुसलमानों में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचार हो गया जिनका बाल्यकाल इसी देश में बीता था और जिनका पालन-पोषण यहीं हुआ था। संत और सूफ़ी कवियों की रचनाओं में भी अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की विद्यमानता इस बात का प्रमाण है कि सर्व-साधारण की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का उनके समय में अच्छा प्रचार था।

सूरदास और उनके समकालीन कवियों ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को विशेष रुचि और सम्मान से अपनी भाषा में स्थान दिया। इसके चार प्रमुख कारण थे। प्रथम तो यह कि जिस वातावरण में वे पोषित और शिक्षित हुए थे उसमें संस्कृत भाषा का पठन-पाठन प्रचलित था और प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के नियमित पारायण के साथ-साथ उनकी टीका-व्याख्या भी की जाती थी। कृष्ण भक्ति के मूल ग्रंथ—'गीता', 'नारद-भक्ति-सूत्र', 'भागवत', 'ब्रह्म वैवर्तपुराण' आदि—संस्कृत के ही प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। सूरदास ने विभिन्न उत्सवों आदि के अवसर पर इनकी व्याख्याएँ अवश्य सुनी थीं। अतएव संस्कृत शब्दावली के प्रति सूरदास के झुकाव का यह एक प्रमुख कारण है।

दूसरे, स्वधर्म और स्वसंस्कृति के प्रति उनकी आस्था ने उनसे घनिष्ठतम रूप से संबंधित इस प्राचीन आर्य-भाषा के प्रति उन कवियों में विशेष सत्कार और आत्मीयता की भावना जाग्रत और पल्लवित कर दी। वस्तुतः हमारी आस्था जिस सनातन धर्म के और हमारी श्रद्धा जिस आर्य संस्कृति के प्रति है, उन दोनों से संबंधित प्रामाणिक आर्ष ग्रंथ आदिकाल से संस्कृत में ही उपलब्ध रहे हैं। आर्य-जीवन के संस्कारों में से अधिकांश संस्कृत के आचार्यों और पंडितों द्वारा ही कराये जाते हैं। विद्यारंभ, उपनयन, विवाह आदि प्रमुख संस्कारों के मंत्र और श्लोक हिंदू जाति प्राचीन काल से संस्कृत में ही सुनती आयी है। इनमें प्रयुक्त अधिकांश शब्दों से शिक्षित ही नहीं, अशिक्षित ग्रामीण भी परिचित हो जाता है, भले ही वह उनका शुद्ध उच्चारण न कर सकें। आशय यह है कि धर्म और संस्कृति-संबंधी हमारी दैनिक चर्या और चर्चा संस्कृत भाषा के बिना संपन्न ही नहीं हो पाती। अतएव प्रारंभ से ही हिंदी भाषा और उसकी प्रमुख विभाषाएँ देववाणी संस्कृत के शब्दों से संपन्न होती आयी हैं; यह दूसरी बात है कि समय समय पर, सुविधानुसार उनका उच्चारण कुछ परिवर्तित कर लिया गया हो, परंतु यह परिवर्तन ऐसा भी नहीं होता कि शब्द के मूल रूप का पता न चल सके।

तीसरे, संस्कृत भाषा का ज्ञान, उसकी सूक्तियों का उद्धरण, उसके तत्सम और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विद्वता या पांडित्य का परिचायक समझा जाता था; जैसे बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में किसी रचना में अँगरेजी अवतरण और प्रयोग लेखक को विद्वान सिद्ध करने में सहायक होते थे।

अंतिम कारण यह था कि सूरदास के कुछ समय पूर्व ही प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी की व्रजभाषा और अवधी जैसी विभाषाएँ साहित्यिक भाषा बनने का प्रयत्न करती दिखायी देती हैं। इनके सामने प्रश्न था कि परंपरागत संपत्ति के रूप में प्राप्त शब्दकोश से संतुष्ट रहकर, ठेठ प्रयोगों के माधुर्य की रक्षा करते हुए, अपने सीमित क्षेत्र की संकुचित परिधि में ही विचरती रहें, अथवा पूर्ववर्तिनी प्रतिष्ठित भाषाओं का अनुकरण करके उनके और समकालीन समकक्ष विभाषाओं के उपयोगी तथा अपनी प्रकृति के अनुकूल शब्दों और प्रयोगों को अपनाने की उदारता का परिचय देकर निजी व्यंजना-शक्ति का विकास करें तथा अपने क्षेत्र-विस्तार की नीव डालें। व्रजभाषा के समर्थकों और प्रेमियों ने द्वितीय मार्ग को सामयिक समझा और उनकी दूरदर्शिता ने उसी को ग्रहण करने की प्रेरणा उन्हें दी। फलस्वरूप, संस्कृत के सैकड़ों शब्द तत्सम रूप में अपनाये गये। इस संबंध में सूरदास के काव्य का महत्व इस बात में है कि व्रजभाषा में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में लगभग अस्सी प्रतिशत को अपनाकर सर्वप्रथम उन्होंने ही अपनी दूरदर्शिणी बुद्धि का परिचय दिया था। उनके परवर्ती व्रजभाषा कवियों ने पंद्रह-बीस प्रतिशत से अधिक नये तत्सम शब्द नहीं ग्रहण किये और उनमें भी अधिकांश व्रजभाषा आत्मसात् नहीं कर सकी।

सूरदास के समस्त काव्य में आदि से अंत तक तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इन प्रयोगों के आधार पर, स्थूल रूप से, तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक, वे ऐसे वातावरण में रह कर साहित्य-रचना करते थे जिसमें संस्कृत भाषा का पठन-पाठन और प्रचार था। दूसरे, उनकी दूरदर्शिणी बुद्धि ने समझ लिया कि भाषा की व्यंजना-शक्ति की वृद्धि संस्कृत शब्दों के प्रयोग से ही हो सकती है और भविष्य में यही नीति कल्याणप्रद होगी। तीसरे, सूरदास केवल उपयोगी और आवश्यक प्रयोग अपनाने के ही पक्ष में रहे; केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए तत्सम शब्दों को अपना लेने के पक्ष में नहीं; क्योंकि ऐसा करने से अपना सहज माधुर्य और नैसर्गिक आकर्षण खोकर व्रजभाषा के बोझिल हो जाने और उसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचने की आशंका थी।

इसमें संदेह नहीं कि व्रजभाषा के कुछ कवियों ने तत्सम शब्दों का प्रयोग कभी कभी केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए किया है। यह दोष साधारणतः दो प्रकार से आता है—एक तो पारिभाषिक शब्दों की अधिकता से जो, उपयुक्त वातावरण के अभाव में, टाट में रेशम की बखिया-से, अलग ही चमकते और अपनी अनुपयुक्तता की ओर सरलता से ध्यान आकर्षित कर लेते हैं और दूसरे, भाव-गांभीर्य के अभाव में जहाँ वे बरबस घसीटे

जाकर निष्प्राण-से लगते हैं। वस्तुतः यह संतोष की बात है कि अपने साहित्यिक जीवन के आदि से अंत तक सूरदास पांडित्य-प्रदर्शन की मानवीय दुर्बलता पर कठोर नियंत्रण रखकर अपने इष्टदेव की प्रिय जन्मभूमि की प्रियतर बोली की मधुरता, सरलता और स्वाभाविकता की रक्षा करने में समर्थ एवं उसकी लोकप्रियता के वर्द्धन और प्रचार-प्रसार में सहायक हो सके।

'सूरसागर', 'साहित्य-लहरी' और 'सारावली'—तीनों ग्रंथों में स्थल-विशेष पर ही तत्सम शब्दों की अधिकता नहीं है, प्रत्युत आदि से अंत तक उनका प्रयोग किया गया है। अंतर यह है कि साधारण विषयों की चर्चा में वे यत्र-तत्र ही प्रयुक्त हुए हैं और भावपूर्व या रुचिकर स्थलों पर कवि ने अपने समृद्ध शब्द-कोश का मुक्तहस्त से उपयोग किया है, यद्यपि व्रजभाषा की प्रकृति का पूर्ण ध्यान उसे सर्वदा बना रहा है।

सूरदास ने जिन तत्सम शब्दों का प्रयोग किया, स्थूल रूप से, उनको निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है---व्यावहारिक, पारिभाषिक और भाषा-समृद्धि-द्योतक तत्सम शब्द।

व्यावहारिक तत्सम शब्द---प्रत्येक भाषा में भूख-प्यास, वेश-भूषा आदि की वस्तुओं, शरीर के अंगों, निकटतम पारिवारिक और सामाजिक संबंधों आदि के लिए बहुत से साधारण शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार मानव जीवन और प्रकृति के नैत्यिक-नैमित्यिक कार्य-व्यापार और स्थिति-सूचक अनेक शब्द भी प्रचलित रहते हैं। संस्कृत-जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक भाषा में इनके लिए सैकड़ों सरल और सीधे-सादे शब्द प्रयुक्त होते हैं। चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी से, विदेशी संस्कृति की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप, भारतीय संस्कृति को सरुचि अपनाने की भावना-वृद्धि के साथ-साथ, संस्कृत भाषा के प्रति हिन्दी कवियों और लेखकों की श्रद्धा इतनी बढ़ी कि सामान्य व्यवहार में साधारण प्रचलित शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्दों को ही आश्रय दिया जाने लगा। यह प्रवृति केवल व्रजभाषा के ही नहीं, हिन्दी की अन्य बोलियों के साथ साथ उत्तरी भारत की अन्य नवोदित आर्य भाषाओं के भी साहित्यकारों में स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। अतएव व्रजभाषी कवि सूरदास की प्रवृति भी स्वभावतः ऐसे तत्सम शब्द अपनाने की ओर रही जैसा कि उक्त विषयों से संबंधित तत्सम शब्दों के निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट होता है—

१. भूख प्यास, भोजन या खानपान-संबंधी तत्सम शब्द—

१. सकल स्रुति दधि मथत पायौ इतौई घृत-सार।[१]

२. मनु पय-निधि सुर मथत फेन फटि दयो दिखाई चंद।[२]

३. मधु मेवा पकवान मिठाई अपने हाथ जेंवावत।[३]

४. अरु हेसमि सरस सँवारी। अति स्वाद परम सुखकारी।[४]

---

१. सा. २-४। २. सा. १०-२०३। ३. सारा. १९५। ४. सा. १०-१८३।

५. अरु मेवा बहु भाँति भाँति हैं षटरस के मिष्टान्न।[१]

२. रहन-सहन, वेश-भूषा, वस्त्रालंकार आदि से संबंधित तत्सम शब्द—

१. केसर-तिलक-रेख अति सोहै।
मृगमद-बिंदा तामैं राजै।
मोर मुकुट पीतांबर सोहै।.........[२]

२. बदन सरोज तिलक गोरोचन लट लटकनि मधुकर गति डोलनि।[३]

३. किंकिन नूपुर पाट पटंबर मानौ लिये फिरैं घर-बार।[४]

४. पाटंबर अंबर तजि गूदरि पहिराऊँ।[५]

५. कुंतल कुटिल मकर-कुण्डल भ्रुव नैन बिलोकनि बंक।
सोभित सुमन मयूर-चंद्रिका नील नलिनि तनु स्याम।[६]

६. मुक्ता-विद्रुम नील-पीत मनि लटकत लटकन भाल री।[७]

७. जहँ जहँ जात तहीं तहिं त्रासत अस्म, लकुट, पद त्रान।[८]

८. हरि नख उर अति राजहीं, संतनि दुख मोचन।[९]

३. शरीर के तत्वों और अंगों से संबंधित तत्सम शब्द—

१. आमिष रुधिर अस्थि अँग जौलौं, तौलौं कोमल चाम।[१०]

२. दस इन्द्रिय दासी सौं नेह।[११]

३. अनायास बिनु उद्यम कीन्हें अजगर उदर भरै।[१२]

४. पहुँची करनि पदिक उर हरि-नख कठुला कंठ मंजु गजमनियाँ।
कुटिल भृकुटि सुख की निधि आनन कल कपोल की छबि न उपनियाँ।[१३]

५. माता अछत छीर बिनु सुत मरै अजा-कंठ-कुच सेइ।[१४]

६. कटि किंकिनि बर हार ग्रीव पर रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं सुठि भाए।[१५]

७. चरन चिकुर कर नख दए (रे) नयन नासिका कान।[१६]

८. तन पुर जीव पुरंजन राव। कुमति तासु रानी कौ नाँव।
आँखि नाक मुख मूल दुवार। मूत्र स्रौन, नवपुर कौ द्वार।
लिंग-देह नृप कौ निज गेह।[१७]

९. ज्यौं मृग-नाभि कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत।[१८]

१०. बहुतक जन्म पुरीष-परायन सूकर-स्वान भयौ।[१९]

११. वैसी आपदा तैं राख्यौ, तौष्यौ, जिय दयौ,

---

१. सा. १०-२१२। २. सा. ३-१३। ३. सा. १०-१२१। ४. सा. १-४१। ५. सा. १-१६६। ६. सा. १०-१५४। ७. सा. १०-१४०। ८. सा. १-१०३ ९. सा. १०-११६। १०. सा. १-७६। ११. सा. ४-१२। १२. सा. १-१०५। १३. सा. १०-१०६। १४. सा. १-२००। १५. सा. १०-१०४। १६. सा. १-३२५। १७. सा. ४-१२। १८. सा. १-४९। १९. सा. १-७८।

मुख-नासिका-नयन-स्रौन-पद-पानि ।[1]

१२. रसना द्विज दलि दुखित होति बहु तउ रिस कहा करै ।[2]

१३. तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित सिर सीमंत सँवारि ।[3]

४. पारिवारिक-सामाजिक संबंध और स्थिति के द्योतक तत्सम शब्द—

१. रावन अरि को अनुज बिभीषन ताकौं मिले भरत की नाईं ।[4]

२. तुम लायक भोजन नहिं गृह में अरु नाहीं गृह-स्वामी ।[5]

३. गृह दीपक धन तेल, तूल तिय सुत ज्वाला अति जोर ।[6]

४. जगतपिता जगदीस जगतगुरु निज भक्तनि की सहत ढिठाई ।[7]

५. गीध्यौ दुष्ट हेम तस्कर ज्यौं अति आतुर मति मंद ।[8]

६. मेरे मात पिता पति बंधू एकै टेक हरी ।[9]

७. रंक चलै सिर छत्र धराइ ।[10]

८. राखी लाज समाज माहिं जब, नाथ नाथ द्रौपदी पुकारी ।
तीनि लोक के ताप निवारन सूर स्याम सेवक सुखकारी ।[11]

९. पचि पचि रहैं सिद्ध साधक मुनि तऊ न बढ़ै-घटै ।[12]

१०. सुत कलत्र कौं अपनौ जानै ।[13]

११. सुत-संतान-स्वजन बनिता रति घन समान उनई ।[14]

१२. सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बंदौं तिहिं पाई ।[15]

५. मानवीय स्थिति, गुण, कार्य-व्यापार, मनोदशा, संस्कार आदि संबंधित तत्सम शब्द—

१. अनुभव जानही बिना अनुभव कहा, प्रिया जाकौ नहीं चित्त चोरै ।[16]

२. रहत अवज्ञा होइ गोसाईं चलत न दुखहिं मिती ।[17]

३. काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-बस अतिहिं किये अघ भारे ।[18]

४. यह गति-मति जानै नहिं कोऊ किहिं रस रसिक ढरै ।[19]

५. जड़-स्वरूप सौं जहँ तहँ फिरै ।[20]

६. पांडव कौ दूतत्व कियौ पुनि उग्रसेन कौ राज दयौ ।
दुखित जान दोउ सुत कुबेर के नारद साप निवृत्त कियौ ।[21]

७. धन-मद कुल-मद तरुनी कै मद, भव-मद हरि बिसरायो ।[22]

८. राजा निरखि प्रफुल्लित भयौ । मानौ मृतक बहुरि जिय लह्यौ ।[23]

---

१. सा. १-७७ । २. सा. १-११७ । ३. सा. २११८ ।
४. सा. १-३ । ५. सा. १-२४१ । ६. सा. १-४६ । ७. सा. १-३ ।
८. सा. १-१०२ । ९. सा. १-२५४ । १०. सा. १-१ । ११. सा. १-३० ।
१२. सा. १-२६३ । १३. सा. ३-१३ । १४. सा० १-५० । १५. सा. १-१ ।
१६. सा. १-२२२ । १७. सा. ११-१ । १८. सा. १-२७ । १९. सा. १-३५ ।
२०. सा. ५-३ । २१. सा. १-२६ । २२. सा. १-५८ । २३. सा. ९-२ ।

९. भ्रम-मद-मत्त, काम-तृष्णा-रस-बेग न क्रमै गह्यौ ।[१]
१०. अरु तिनसौं ममत्व बहु ठानै ।[२]
११. हिंसा-मद-ममता-रस भूल्यौ आसाहीं लपटानौ ।[३]

चेतन प्रकृति के सर्व प्रमुख अंग—मानव वर्ग—से संबंधित उक्त शब्दों की तरह के, सूरदास द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों की सूची बहुत लंबी है; परंतु उद्धृत उदाहरणों से ही कवि के तद्विषयक दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार अन्य चेतन प्राणियों—पशु-पक्षियों—से संबंधित अनेक तत्सम शब्द सूर-काव्य में मिलते हैं। पक्षियों की अपेक्षा मानव-वर्ग का पशुओं से अधिक निकट संबंध रहा है; अतएव पहले उन्हीं के नाम-द्योतक कुछ तत्सम शब्द यहाँ उद्धृत हैं—

१. तैं जड़ नारिकेल कपि-कर ज्यौं, पायौ नाहिं पयौ ।[४]
२. कामधेनु छाँड़ि कहा अजा लै दुहाऊँ ।[५]
३. हा करुनामय कुंजर टेरचौ, रह्यौ नहीं बल थाक्यौ ।[६]
४. खर कौं कहा अरगजा लेपन मर्कट (मरकट) भूषन अंग ।[७]
५. कनक-कामिनी सौं मन बाँध्यौ ह्वै गज चल्यौ स्वान की चालहिं ।[८]
६. कबहुँक चढ़ौं तुरंग महा गज कबहुँक भार बहौं ।[९]
७. गिरा रहित बृक ग्रसित अजा लौं अंतक आनि गह्यौ ।[१०]
८. रौवैं बृषभ-तुरग अरु नाग ।[११]
९. खग-मृग-मीन-पतंग लौं मैं सोधे सब ठौर ।[१२]
१० हय-गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि ध्याऊँ ।[१३]

पशुओं की तरह पक्षियों का उतना घनिष्ठ संबंध मानव वर्ग से भले ही न रहा हो; परंतु उपयोगिता और सौंदर्य में ये पशुओं से कम भी नहीं हैं। सूर-काव्य में इनके लिए भी अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है; यथा—

१. रवि की किरनि उलूक न मानत ।[१४]
२. दुरि गए कीर कपोत मधुप पिक सारंग सुधि बिसरी ।[१५]
३. ये जु मनोहर बदन-इंदु के सारद कुमुद चकोर ।
परम तृषा-रत सजल स्याम-घन-तन के चातक मोर ।
मधुप मराल जु पद-पंकज के गति-बिलास-जल मीन ।
चक्रवाक दुति मनि दिनकर के मृग मुरली आधीन ।[१६]
४. जैसे स्वान कुलाल के पाछैं धावै ।[१७]
५. केकी, कोक-कपोत और खग करत कुलाहल भारी[१८] ।
६. खंजन हूँ उड़ि जात छिनक में प्रीतम जहीं तहीं ।[१९]

---

१. सा. १-४९ । २. सा. ३-१३ । ३. सा. १-४७ ।
४. सा. १-७८ । ५. सा. १-१६६ । ६. सा. १-११३ । ७. सा. १-३३२ ।
८. सा. १-७४ । ९. सा. १-१६१ । १०. सा. १-२०१ । ११. सा. २-२८६ ।
१२. सा. १-३२५ । १३. सा. १-१६६ । १४. सा. १-१७४ । १५. सा. ६५९ ।
१६. सा. ३५६९ । १७. सा. २-९ । १८. सा. २८५३ । १९. सा. ३५७१ ।

७. सेमर-फूल सुरँग अति निरखत मुदित होत खग-भूप ।[1]
८. तजि कै गरुड़ चले अति आतुर नक्र चक्र करि मारचौ ।[2]

थल और नभचारी अन्य जीव-जंतुओं और कीट-पतंगों से भी मानव-समाज आरंभ से परिचित रहा है । सूर-काव्य में यत्र-तत्र इनके लिए भी तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है । इनमें से अधिकांश शब्द 'भ्रमर' के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—

१. ते अलि अब ये ज्ञान सलाकैं क्यों सहि सकति तिहारी ।[3]
२. जनु खद्योत चमक चलि सकत न, निसिगत तिमिर हिराने ।[4]
३. बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे ।[5]
४. लाभ-हानि कछु समुझत नाहीं ज्यों पतंग तन दीन्हौ ।[6]
५. सब सौं बात कहत जमपुर की गज पिपीलिका लौं ।[7]
६. कहा होत पय पान कराएँ बिष नहि तजत भुजंग ।[8]
७. कहि चकोर बिधु-मुख बिनु जीवत भ्रमर नहीं उड़ि जात ।[9]
८. स्याम बियोग सुनौं हो मधुकर अँखियाँ उपमा जोग नही ।[10]
९. जदपि मधुप तुम नंदनँदन कौं निपटहिं निकट कहत ।[11]
१०. कहु षट्पद कैसैं खैयतु है हाथिनि कैं सँग गाँड़े ।[12]

मानवेतर प्राणियों में एक वर्ग जलचारी जीव-जंतुओं का भी है जिनमें से कुछ को काव्य में स्थान मिलता रहा है । सूर-काव्य में जिन जल-जीवों के लिए तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से कुछ ये हैं—

१. लिए जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनंग ।[13]
२. तजि कै गरुड़ चले अति आतुर नक्र चक्र करि मारचौ ।[14]
३. नैन-मीन मकराकृत कुंडल भुज सरि सुभग भुजंग ।[15]

थल, नभ और जल के चेतन प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति का दूसरा बड़ा वर्ग जड़ पदार्थों का है जिसमें वन, पर्वत, सागर, सरिता, पेड़-पौधे, फल-फूल, सभी आ जाते हैं । मानव से इसका संबंध बहुत घनिष्ठ इसलिए है कि जन्म से ही वह इनके मध्य में पलता है और जीवन-धारण के लिए उसे बहुत-कुछ इन्हीं पर निर्भर रहना पड़ता है । कवि को इस प्राकृतिक अंग के कार्य-व्यापार से सदैव प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है । अतएव उसके विविध रूपों का सभी देशों के कवियों ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है । सूर-काव्य में प्राकृतिक चित्रण की विवेचना तो यहाँ विषयांतर होगी; अतएव यहाँ

---

१. सा. १-१०२ । २. सा. १-१०९ । ३. सा. ३५७० ।
४. सा. २६०१ । ५. सा. १०-२०५ । ६. सा. १-४५ । ७. सा. १-१५१ ।
८. सा. १-३३२ । ९. सा. ३५७२ । १०. सा. ३५७१ ।
११. ३५७४ । १२. सा. ३६०४ । १३. सा. १-९९ । १४. १०९ ।
१५. सा. ६२८ ।

केवल उन तत्सम शब्दों की एक संक्षिप्त सूची ही दी जा रही है जो सूर-काव्य में यत्र-तत्र प्रकृति के विविध अंगों के लिए प्रयुक्त हुए हैं—

१. जिहिं मधुकर अंबुज रस चाख्यौ क्यौं करील फल भावै ।[1]

२. मगन हौं भव अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि ।[2]

× × × ×

नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग ।

× × × ×

स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज कैं कूल ।

३. भय उद्धि जमलोक दरसै निपट ही अँधियार ।[3]

४. कीर कपोत मीन पिक सारँग केहरि कदली-छबि बिदली ।[4]

५. चरन- कमल बंदौं हरिराई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौ सब कछु दरसाई ।[5]

६. परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दुख कैं कूप ।[6]

७. सूरदास व्रत यहै कृष्न भजि, भव जलनिधि उतरत ।[7]

८. पुष्कर माल उतार हृदय ते दीनी सुंदर स्याम ।[8]

९. सज्जा पृथ्वी करी बिस्तार । गृह गिरि-कंदर करे अपार ।[9]

१०. व्योम, धर, नद सैल कानन इते चरि न अघाइ ।[10]

११. ज्यौं गयंद अन्हाइ सरिता बहुरि वहै सुभाइ ।[11]

१२. सलिल लौं सब रंग तजि कै एक रंग मिलाइ ।[12]

सूरदास द्वारा प्रयुक्त उक्त तत्सम शब्दों के साथ उद्धृत पद के पूरे चरण की भाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश स्थलों पर कवि ने साधारण पदों के बीच में ही दो-एक तत्सम शब्द इस प्रकार दिये हैं कि वे उसी में घुल-मिल गये हैं और सामान्य प्रचलित भाषा के शब्दों से भिन्न नहीं जान पड़ते । वस्तुतः कवि उनको व्रजभाषा की ही संपत्ति समझता है और ठेठ या तद्भव शब्दों से किसी प्रकार का अधिक सम्मान या महत्व उनको नहीं देना चाहता । ये व्यावहारिक तत्सम शब्द स्थल-विशेष पर ही नहीं, समस्त सूर-काव्य में—यहाँ तक कि उन पदों में भी जो काव्य की दृष्टि से बहुत साधारण हैं—बिखरे मिलते हैं । ऐसे कुछ शब्द यहाँ और दिये जाते हैं ।

अज्ञान[13], अवस्था[14], अविद्या[15], आजीविका[16], उत्साह[17], उद्धार[18], उद्यम[19],

१. सा. १-१६८ । २. सा. १-९९ । ३. सा. १-८८ । ४. सा. ७३९ ।
५. सा. फा. १-१ । ६. सा. १-१०२ । ७. सा. १-५५ । ८. सारा ५५४ ।
९. सा. २-२० । १०. सा. १-५६ । ११. सा. १-४५ । १२. सा. १-७० ।
१३. सा. ४-५ । १४. सा. ४-६ । १५. सा. ४-१२ । १६. सा. ४-११ ।
१७. सा. ४-१२ । १८. लहरी. ३० । १९. सा. ४-१२ ।

उद्यान[1], उपचार[2], उल्लास[3], कल्पना[4], किंजल्क[5], जीविका[6], त्रास[7], त्रिदोष[8], पन्नग[9], पुष्प[10], पुष्कर[11], प्रकोप[12], प्रतिबिंब[13], प्रतिभा[14], प्रतिष्ठा[15], प्रवाह[16], प्रस्वेद[17] प्रतिहार[18], भेषज[19], महंत[20], महिमा[21], मुक्ताहल[22], ललाट[23], व्यवहार[24], समाधान[25], सुमन[26], सुषमा[27], सौरभ[28] आदि।

पारिभाषिक तत्सम शब्द—सरस और भावपूर्ण कथा-प्रसंगों के वर्णन अथवा मार्मिक और सुंदर दृश्यों के चित्रण के अतिरिक्त कवि जब शास्त्रीय तत्वों के विवेचन में प्रवृत होता है तब उसे स्वभावतः पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। हिंदी के प्रायः सभी भक्त-कवियों ने पारिभाषिक विवेचन से बचने का प्रयत्न किया है; परंतु वल्लभ-संप्रदाय में मान्य 'भागवत' आदि ग्रंथों में वर्णित पौराणिक प्रसंगों को अपनाने के कारण, ब्रह्म, माया, ज्ञान, भक्ति आदि की कुछ शास्त्रीय परिभाषाओं का सारांश सूर-काव्य में मिल ही जाता है। ऐसे ही स्थलों पर उन्होंने पारिभाषिक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, ब्रह्म के लिए प्रयुक्त कुछ तत्सम शब्द यहाँ संकलित हैं—

१. सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
प्रकुति-पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गुपाल[29]।
२. अमल अकल अज भेद-विवर्जित सुनि विधि बिमल बिबेक[30]।
३. अविगत आदि अनंत अनूपम अलख पुरुष अविनाशी[31]।
४. आदि निरंजन निराकार कोउ हुतौ न दूसर[32]।
५. ब्रह्म अगोचर मन बानी तैं अगम अनंत प्रभाव[33]।

उक्त उदाहरणों में जो तत्सम शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं वे सामान्य रूप से प्रायः सभी भक्त-कवियों ने लिखे हैं। सूरदास ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण को परब्रह्म ही माना है; परंतु उनके सगुण रूप के लिए कुछ अन्य तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है; यथा अखिल अधिकारी[34], अखिल लोकनायक[35], अजित[36], कृपानिधान[37], कृपानिधि[38], कृपासागर[39], गोपाल[40], दयानिधि[41], दामोदर[42], परमानंद[43], मुकुंद[44],

१. सा. ४-१२। २. सा. ३८०९। ३. लहरी ६८।
४. सा. २४९२। ५. सा. १-३३९। ६. सा. ४-११।
७. लहरी २६। ८. सा. ४१४७। ९. लहरी २५।
१०. सारा ३०५। ११. सारा ५५४। १२. सा. ३७८०। १३. सा. २-३६।
१४. सा. २८२६। १५. सा २५४४। १६. सारा. ३०९। १७. सा. ३८०९।
१८. सा. ४-१२। १९. सा. ४१४७। २०. सा. ४०४६। २१. सा. ४-५।
२२. सा. ४१४७। २३. सा. ४-५। २४. सारा. ९१९। २५. सारा. ३०१।
२६. सा. ४१६६। २७. लहरी. ३९। २८. सा. २-२६। २९. सारा, पृ. ३८।
३०. सा. २.३८। ३१- सारा. पृ. २,। ३२. सा. २-३६।
३३. सा. ३-३४। ३४. सा. १-२१२। ३५. सा. १-१७७। ३६. सा. १-१८१।
३७. सा- १-१०९। ३८. सा. १-१२७। ३९. सा. १.२५३। ४०. सा. १-११४।
४१. सा. १-११७। ४२. सा. १-१०९। ४३. सा. १-१६३। ४४. सा. १-२४८।

लोकपति[१], श्रीनाथ[२], आदि ।

ब्रह्म के अतिरिक्त माया, ज्ञान, भक्ति, महत्तत्व आदि की जहाँ व्याख्या सूरदास ने की है, वहाँ भी कुछ पारिभाषिक तत्सम रूपों का प्रयोग मिलता है; यथा—उपाधि[३], पिंगला[४], प्रत्याहार[५], मन्वंतर[६], महत्तत्व[७], मिथ्यावाद[८], विज्ञान[९], व्यष्टि[१०], समष्टि[११], समाधि[१२] आदि ।

भाषा-समृद्धि-द्योतक तत्सम शब्द— तत्सम शब्दों के उक्त दोनों रूपों—व्यावहारिक और पारिभाषिक—के समावेश से किसी कवि की भाषा के संबंध में यह तो भले ही कह लिया जाय कि उसको संस्कृत भाषा का ज्ञान था अथवा उसकी भाषा में शिष्टता की छाप है; परंतु निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि उसकी भाषा साहित्यिक गुणों से युक्त है अथवा उसने भाषा की सुंदरता या व्यंजना-शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से उनका प्रयोग किया है । इस निष्कर्ष तक तो तभी पहुँचा जा सकता है जब कुछ पदों की प्रसंग या विषयानुकूल पंक्तियों में तत्समता-प्रधान शब्द-योजना द्वारा वैसा वातावरण उपस्थित कर दिया जाय कि पाठक भी भाव को हृदयंगम करने के लिए सामान्य भाषा-ज्ञान से काम न लेकर विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करने को बाध्य हो जाय । दूसरे शब्दों में, जिस सरस और भावपूर्ण पद-योजना का संपूर्ण अर्थं साधारण पाठक के लिए, शब्दार्थ जान लेने पर भी बोधगम्य नहीं होता, परंतु व्युत्पन्नमति, कलामर्मज्ञ, सहृदय पाठक ही जिसके पूर्ण रसास्वादन में सफल होते हैं, स्थूल रूप से, उसी को वस्तुतः साहित्यिक और सार्थक तत्समता-प्रधान समझना चाहिए । सूरदास के काव्य का अधिकांश ऐसी ही विशिष्टता से युक्त है । ऐसे स्थलों पर तत्सम शब्दों का प्रयोग कवि ने प्रायः दो उद्द्श्यों से किया है—विषयानुसार वातावरण उपस्थित करने के लिए और भाषा-शृंगार के लिए ।

१. विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करना - श्रीकृष्ण और राधा के प्रति सूरदास का वह सामान्य भाव नहीं है जो रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य के लौकिक नायक नायिकाओं, प्रेमी-प्रेमिकाओं अथवा उक्त युगल मूर्ति के ही प्रति प्रदर्शित किया है। वास्तव में वे उन्हें अपना ही आराध्य नहीं, प्रत्युत सचराचर जगत और ब्रह्मांड के सृष्टा, नियंता, पालक परम-पुरुष और परम शक्ति के रूप में देखते थे । इनकी सरस और मनोरम सामान्य लीलाओं का वर्णन करते समय तो नहीं, परंतु वात्सल्याधिक्य, रूप-शृंगार, प्रेमासक्ति, मुरली-वादन आदि की चर्चा होते ही कवि अपने पाठकों को भी उसी उच्चतम भाव-भूमि तक पहुँचा देता है जिससे प्रेरित होकर वह स्वयं उक्त कार्य में प्रवृत्त हुआ था । निम्नलिखित पदों की भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता का यही उद्देश्य है——

१. सा. १-१८१ । २. सा. १-२४८ । ३. २-११ और ३-१३ । ४. सा. ४२८९ ।
५. सा. २-२१ । ६. सा. ७-२ । ७ . सा. २-३६ । ८. सा. ३-१३ ।
९. सा. २-३८ । १०. सा. २-३८ । ११. सा. २-३८ । १२. सा. २-२१ ।

१. जागिए गोपाल लाल आनँदनिधि नंदवाल जसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति बापिका मराल मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे,
उगत अरुन बिगत सर्वरी, ससांक किरनहीन, दीपक सु मलीन छीनदुति समूह-तारे।
मानौ ज्ञान-घन प्रकास बीते सब भव-बिलास आस-त्रास-तिमिर तोष-तरनि-तेज जारे।
बोलत खग-निकर मुखर मधुर होइ प्रतिति सुनौ, परम प्रान जीवन धन मेरे तुम बारे।
मनौ बेद बंदीजन सूतवृन्द मागधगन बिरद बदत जै जै जै जैति कैटभारे।
बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे।
मानौ बैराग पाइ, सकल सोक गृह बिहाइ, प्रेम-मत्त फिरत भृत्य गुनत गुन तिहारे।
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे अतिसय दयाल, भागे जंजाल-जाल, दुख-कदंब टारे।
त्यागे भ्रम फंद द्वंद निरखि कै मुखारबिंद, सूरदास अति अनंद मेटे मद भारे[1]।

२. मुख छबि देखि हो नंद-घरनि।
सरद निसि कौ अंसु अगनित इंदु-आभा हरनि।
ललित श्री गोपाल लोचन लोल आँसू ढरनि।

× × × ×

कनक मनिमय जटित कुंडल जोति जगमग करनि।
मित्रमोचन मनहुँ आए तरल गति द्वै तरनि।
कुटिल कुंतल, मधुप मिलि मनु कियौ चाहत लरनि।
बदन कांति बिलोकि सोभा सकै सूर न बरनि[2]।

३. पीतबसन चंदन तिलक मोरमुकुट कुँडल झलक स्यामघन सुरंग छलक यह छबि तन लिए।
तनु त्रिभंग सुभग अंग निरखि लजत अति अनंग ग्वाल बाल लिए संग प्रमुदित सब हिए।
सूर स्याम अति सुजान मुरली धुनि करत गान ब्रज जन मन कौं महान संतत सुख दिए[3]।

४. नँदनंदन मुख देखौ माई।
अंग अंग छबि मनहुँ उये रवि ससि अरु समर लजाई।
खंजन मीन भृंग वारिज मृग पर दृग अति रुचि पाई।
स्रुति मंडल कुंडल मकराकृत, बिलसत मदन सदाई।
नासा कीर कपोत ग्रीव छबि दाड़िम दसन चुराई।
द्वै सारँग बाहन पर मुरली आई देत दुहाई।
मोहे थिर चर बिटप विहंगम ब्योम बिमान थकाई।
कुसुमांजलि बरसत सुर ऊपर, सूरदास बलि जाई[4]।

५. मुरली अति गर्व काहुँ बदति नाहिं आजु।
हरि कैं मुख-कमल-देस पायौ सुख-राजु।
बैठति कर पीठि ढीठि अधर छत्र छाँहिं।

---

१. सा. १०-२०५ । २. सा. ३५१ । ३. सा. ४६० । ४. सा. ६२६ ।

राजति अति चँवर चिकुर, सरद सभा माँहि।
जमुना के जलहिं नाहिं जलधि जान देति।
सुरपुर तैं सुर विमान यह बुलाई लेति,
स्थावर चर जंगम जड़ करत जीति जीति।
विधि की विधि मेटि करत अपनी नई रीति।
बंसी-बस सकल सूर सुर-नर-मुनि नाग।
श्रीपति हूँ की सुधि बिसारी याही अनुराग[1]॥

इस प्रकार के पदों में संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या अन्य विषयों के पदों से बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि प्रसंग-विशेष का वर्णन करते समय कवि विषय-लीनता के उच्च स्तर तक पाठकों की बोध-वृत्ति को उठाना चाहता है और इस उद्देश्य की सिद्धि में, अपेक्षाकृत गंभीर वातावरण प्रस्तुत करने में, तत्सम शब्दों से पर्याप्त सहायता मिलती है। साथ ही, इनके सहारे वह सहज ही भाषा को अनुप्रासमयी भी बना लेता है। उक्त पदों में यद्यपि उपमा, रूपक आदि अलंकारों का समावेश और निर्वाह वह अत्यंत स्वाभाविक रीति से कर सका है, जो सहृदयों को विशेष रुचिकर प्रतीत होता है, तथापि जिन स्थलों पर कवि ने रूपकों, उत्प्रेक्षाओं आदि की झड़ी सी लगा दी है, वहाँ की भाषा और भी तत्समता-प्रधान हो गयी है; यथा—

१. देखि री देखि आनँदकंद।
चित्त-चातक, प्रेम-घन लोचन-चकोरनि चंद।
चलित कुंडल गंड मंडल झलक ललित कपोल।
सुधा-सर जनु मकर क्रीड़त इंदु डह-डह डोल।
सुभग कर आनन समीपै मुरलिका इहिं भाइ।
मनु उभै अंभोज- भाजन लेत सुधा भराइ।
स्याम देह दुकूल दुति-मिलि लसति तुलसी माल।
तड़ित घन संजोग मानौ, स्रेनिका सुक-जाल।
अलक अबिरल चारु हास बिलास भृकुटी भंग।
सूर हरि की निरखि सोभा भई मनसा पंग[2]॥

२. प्रिया-मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की शोभा रही बिचारि बिचारि।
छीरोदक घूँघट हातो करि सन्मुख दियौ उघारि।
मनौ सुधाकर दुग्ध सिंधु तैं कढ़चो कलंक पखारि।
मुक्ता-माँग सीस पर सोभित, राजति इहिं आकारि।
मानौ उड़गन जानि नवल ससि आए करन जुहारि।

१. सा. ६५३। २. सा. ६२७।

भाल लाल सिंदूर बिंदु पर, मृग-मद दियौ सुधारि।
मनौ बंधूक कुसुम ऊपर अलि बैठ्यो पंख पसारि।
चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत जुग खंजन अनुहारि।
मनौ परस्पर करत लराई कीर बचाई रारि।
बेसरि के मुक्ता मैं झाँईं बरन बिराजति चारि।
मानौ सुरगुरु सक्र भौम सनि चमकत चंद मँझारि।
अधर बिंब बिच दियौ बिधाता रूप सींव निरुवारि।
तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित सिर सीमंत सँवारि।
जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए भयौ द्विधा तम हारि।
लाल माल कुच बीच बिराजति, सखियनि गुहीं सिंगारि।
मनहुँ धुईं निर्धूम अग्नि पर तप बैठे त्रिपुरारि।
सन्मुख दृष्टि परैं मनमोहन लज्जित भई सुकुमारि।
लीन्हीं उमँगि उठाई अंक भरि सूरदास बलिहारि[1]॥

इसी प्रकार प्रकृति के मनोरम रूपों, यमुनातटवर्ती कुंजों, ऋतुओं के नेत्राकर्षक दृश्यों, विविध उत्सवों और पर्वों का चित्रण करते समय भी कवि इतना तन्मय हो गया है कि सामान्य भाषा से उसका काम नहीं चलता और स्वभावतः उसके मुख से प्रसंग और वातावरण के उपयुक्त तत्समता-प्रधान शब्दावली की सरस धारा निःसृत होने लगती है। इन विषयों को लेकर सूरदास ने पूरे पद बहुत कम लिखे हैं। अतएव पदांशों द्वारा ही उक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है—

१. जागिए ब्रजराज कुँवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद बृंद संकुचित भए भृंग लता भूले[2]।
२. प्रगट्यौ भानु मंद भयौ उडुपति फूले तरुन तमाल[3]।
३. इहिं अंतर भिनुसार भयौ।
तारागन सब गगन छपाने अरुन उदित अँधकार गयौ[4]।
४. जागियै गोपाल लाल, प्रगट भई अंसु माल, मिट्यौ अंधकाल उठौ जननी सुखदाई।
मुकुलित भए कमल-जाल कुमुद-बृंद-बन-बिहाल, मेटहु जंजाल-जाल त्रिविध ताप तन नसाई[5]।
५. गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन झकझोरि चपला चमक चहुँ ओर स्रवन-तन चितै नँद डरत भारी[6]।
६. नये कुंज, अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिलोरी[7]।

---

१. सा. २११८। २. सा. १०-२०२। ३. सा. १०-२०६। ४. सा. ५७०।
५. सा. ६१९। ६. सा. ६८४। ७. सा. ६८५।

७. चपला चमकि चकचौंधति, करति शब्द आघात।
अंधाधुंध पवनबर्त्तक घन करत फिरत उत्पात।
निसि सम गगन भयौ आच्छादित बरषि बरषि झर इंद[1]।

८. सरद निसि देखि हरि हरष पायौ।
बिपिन बृंदा रमन सुभग फूले सुमन रास रुचि स्याम के मनहिं आयौ।
परम उज्जवल रैनि छिटकि रही भूमि पर सद्य फल तरुनि प्रति लटकि लागे।
तैसोई परम रमनीक जमुना पुलिन त्रिबिध बहै पवन आनंद जागे[2]।

तत्सम शब्दों की दृष्टि से उद्धृत अवतरणों की भाषा सामान्य रूप-वर्णन-विषयक पदों से मिलती-जुलती है। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण करना कवि का प्रधान उद्देश्य कभी नहीं रहा; प्रसंगवश ही उसने तद्विषयक कुछ विचार लिख दिये हैं जिनमें कहीं कहीं तो एक सी ही शब्दावली मिलती है। इसके विपरीत, यद्यपि नृत्य लीलाओं, उत्सवों, पर्वों आदि के विस्तृत वर्णन थोड़े ही पदों में मिलते हैं तथापि उनमें कवि की वृत्ति लीन हुई है और ऐसे स्थलों पर तत्सम-प्रधान भाषा का जैसे स्वतः प्रयोग हो गया है।

सूरदास ने परंपरागत रूप से जिस व्रजभाषा को प्राप्त किया था, वह उस समय तक सूक्ष्म भावों की व्यंजना में समर्थ नहीं बन पायी थी। परंतु अपने गेय काव्य की सफलता के लिए उन्हें ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो कठोर और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म, सभी प्रकार के भावों को सुगमता से व्यक्त करने की क्षमता रखती हो। व्रजभाषा में यह गुण लाने के लिए सूरदास ने कभी कभी तत्सम शब्दों का ही सहारा लिया है। अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय वृत्तियों और आन्तरिक हृदयोद्गारों तक उन्होंने अपनी पहुँच दिखायी—ऐसा वे उक्त भाषा-रूप को वांछनीय समर्थता प्रदान करने के पश्चात् ही कर सके। अपनी उच्च कोटि की कल्पना का चमत्कार-प्रदर्शन करने में भी तत्सम शब्दों से उन्हें बड़ा सहारा मिला। भाव-व्यंजना में सहायक तत्समता-प्रधान शब्द-योजना के ऐसे उदाहरण प्रायः सांग रूपकों और अन्योक्तियों में भी मिलते हैं; यथा—

१. चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम–बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा-प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुबास।
जिहिं सुर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ कहाँ रहि कीजै।
लछमी सहित होति नित क्रीड़ा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात बिषय-रस-छीलर वा समुद्र की आस[3]।

१, सा, ८७७। २, सा, ९८८। ३, सा, १-३३८

२. भृंगी री, भजि स्याम कमल-पद जहाँ न निसि कौ त्रास।
जहँ बिधु-भानु समान, एकरस, सो बारिज सुखरास।
जहँ किंजल्क भक्ति नव लच्छन, काम-ज्ञान-रस एक।
निगम सनक सुक नारद सारद मुनिजन भृंग अनेक।
सिव बिरंचि खंजन मन-रंजन छिन छिन करत प्रबेस।
अखिल कोष तहँ भर्‌यौ सुकृत जल प्रगटित स्याम-दिनेस।
सुनि मधुकर, भ्रम तजि कुमुदनि कौ, राजिवबर की आस।
सूरज प्रेम-सिंधु में पुलकित तहँ चलि करै प्रकास[1]।

३. देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे।
स्याम सुभग तनु चुवत गंडमद बरषत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे।
मनौ निकसि बग पंक्ति दंत उर अवधि सरोवर फोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल कुच कंचुकि बंद बोरे[2]।

इष्टदेव की दयालुता, स्वभाव की कोमलता, भक्त-वत्सलता आदि का स्मरण करते समय भाव-विभोर होकर, श्रद्धापूर्वक हृदयोद्‌गारों की व्यंजना के लिए, जिस शब्दावली का सूरदास ने प्रयोग किया है, कभी-कभी वह भी तत्समता से युक्त हो गयी है। निम्नलिखित उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि होती है—

१. अद्‌भुत राम-नाम के अंक।
धर्म-अँकुर के पावन द्वै दल मुक्ति-बधू ताटंक।
मुनि-मन-हंस-पच्छ जुग, जाके बल उड़ि ऊरध जात।
जनम-मरन-काटन कौं कर्तरि तीछन बहु बिख्यात।
अंधकार अज्ञान हरन कौं रवि ससि जुगल प्रकास।
बासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुखकरन हरन दुख बेद पुराननि साखि।
भक्ति-ज्ञान के पंथ सूर ये प्रेम निरंतर भाखि[3]।

२. ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसानाथ मनोरथदाता हौ प्रभु दीनदयाल।
चरनन चित्त निरन्तर अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन गर अंचल कर माल[4]।

३. हरि जू की आरती बनी।
अति बिचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँड़ी सहसफनी।

---

१. सा. १-३३९। २. सा. ३९२१। ३. सा. १-९०। ४. सा. १-१८९।

महीं सराव, सप्त सागर घृत बाती सैल घनी।
रवि ससि ज्योति जगत परिपूरन हरति तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ अंतर अंजन घटा घनी।
नारदादि सनकादि प्रजापति सुर नर असुर अनी।
काल कर्म गुन ओर अंत नहिं प्रभु-इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान मैं, अति बिचित्र सजनी[1]।

४. नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारे, मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह-निसा कौ लेस रह्यौ नहिं भयौ बिवेक बिहान।
आतम रूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि ज्ञान[2]।

२. भाषा शृंगार के लिए--भाषा की आलंकारिता-वृद्धि में वही कवि समर्थ और सफल होता है जो सरुचि इस दिशा में प्रवृत्त हो और जिसके पास सार्थक और उपयुक्त शब्दों का अक्षय भांडार हो। सूरदास ने यद्यपि अनेक स्थलों पर तत्सम शब्दों का प्रयोग करके भाषा को अलंकृत किया है, तथापि सप्रयास भाषा-शृंगार में उन्होंने सर्वत्र रुचि नहीं दिखायी। उदाहरणार्थ, उनका निम्नलिखित पद, जिसमें तत्सम शब्दों का निसंकोच प्रयोग किया गया है, उद्धृत किया जाता है--

यहई मन आनंद अवधि सब।
निरखि सरूप बिवेक नयन भरि या सुख तैं नहिं और कछू अब।
चित चकोर गति करि अतिसय रति, तजि स्रम सघन बिषय लोभा।
चिति चरन मृदु चारु चंद नख चलत चिन्ह चहुँ दिसि सोभा।
जानु सुजघन करभ कर आकृति कटि प्रदेश किंकिनि राजै।
हृद बिच नाभि उदर त्रिबली बर अवलोकत भव भय भाजै।
उरग इंद्र उनमान सुभग भुज पानि पदुम आयुध राजैं।
कनक बलय मुद्रिका मोदप्रद, सदा सुभग संतनि काजैं।
उर बनमाल बिचित्र बिमोहन, भृगु भँवरी भ्रम कौं नासै।
तड़ित-बसन घनस्याम सदृस तन, तेज पुंज तम कौं त्रासै।
परम रुचिर मनि कंठ किरनिगन, कुंडल-मुकुट-प्रभा न्यारी।
बिधु मुख मृदु मुसक्यानि अमृत सम सकल लोक लोचन प्यारी।
सत्य सील संपन्न सुमूरति, सुर-नर-मुनि-भक्तनि भावै।
अंग-अंग-प्रति-छबि-तरंग-गति सूरदास क्यों कहि आवै।[3]

उक्त पद सूरदास की आलंकारिक भाषा का सुंदर उदाहरण है। अनुप्रासमयी शब्द-योजना के ऐसे उदाहरण 'सूरसागर' के प्रथम से नवम स्कंध तक बहुत थोड़े हैं; दसवें

१. सा. २-२८। २. सा. २-३३। ३. सा. १-६९।

स्कंध में भी जिन प्रसंगों के पद ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं, उनको यदि छोड़ दिया जाय तो अन्यत्र उनकी संख्या अधिक नहीं है। इस प्रकार की भाषा के संबंध में ध्यान रखने की विशेष बात यह है कि नेत्र-दृष्टि से वंचित होने के कारण कवि स्वयं अपने पदों को लिख नहीं सकता था जिससे भाषा को अलंकृत करने के लोभ का उसे संवरण करना पड़ा। सूरदास के सीधे-साधे वाक्य-विन्यास से भी इस कथन की पुष्टि होती है। वस्तुतः वह युग ही भाषा के शृंगार का नहीं था; सफल और सुबोध भाव-व्यंजना का ध्येय लेकर ही उस समय के कवि काव्य-रचना में प्रवृत होते थे। यही लक्ष्य सूरदास का भी था और इसमें उन्हें अभीष्ट सफलता भी प्राप्त हुई।

तत्सम संधि-प्रयोग—संस्कृत की भाँति संधि-योजना व्रजभाषा की प्रवृत्ति नहीं है। इसमें जो संधियुक्त तत्सम शब्द मिलते हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो यौगिक रूप में ही संस्कृत से ग्रहण कर लिये गये हैं। सूर-काव्य में प्राप्त ऐसे संधि-प्रयोगों के कुछ उदाहरण यहाँ संगृहीत हैं जो संस्कृत व्याकरण के नियमों से बाधित हैं—

अधरामृत[१], इंद्रादिक[२], कमलासन[३], कर्मादिक[४], कुसुमांजलि[५], कुसुमाकर[६], कुसुमावलि[७], गजेंद्र[८], गोपांगना[९], जठरातुर[१०], ज्ञानेंद्रिय[११], त्रिसिरासुर[१२], दैत्यारि[१३], नीलांबर[१४], परमानंद[१५], पादोदक[१६], पीतांबर[१७], पुरुषोत्तम[१८], प्रथमारंभ[१९], प्रेमांकुर[२०], ब्रह्मादिक[२१], भारतादि[२२], भीमादिक[२३], महोत्सव[२४], मिष्टान्न[२५], मुखारविंद[२६], रुद्रादिक[२७], लोभातुर[२८], संतोषादि[२९] आदि।

ऊपर दिये गये उदाहरण स्वर-संधि के हैं। इसके नियमों में जटिलता न होने से सूर-काव्य में ऐसे लगभग पाँच सौ प्रयोग मिलते हैं। व्यंजन-संधि के उदाहरण सूर-काव्य में अपवाद-स्वरूप ही मिलते हैं; विसर्ग-संधि के अधिकांश उदाहरण भी ऐसे शब्दों में ही मिलते हैं जो यौगिक रूप में ही अपनाये गये हैं; जैसे दुर्जन[३०], निरुत्तर[३१], निर्दोष[३२], निर्मल[३३] निस्संदेह[३४], आदि। ये सब संधि-प्रयोग भाषा के प्रसादगुणत्व में योग देनेवाले ही हैं। अतएव, स्पष्ट है कि सूरदास ने अपनी भाषा को क्लिष्ट संधियों से दूर रखा; जिससे परुषता या जटिलता के दोष से वे उसको बचाने में सहज ही सफल हो सके।

सामासिक शब्द—सामासिक शब्दों के प्रयोग से, भाषा को संगठित करने में, प्रायः सहायता मिलती है। सूरदास ने इनके प्रयोग से भी लाभ उठाया है। उनके

---

१. सा. ३६६६। २. सा. २-२३। ३. सा. ३८८४। ४. सा. ४-१२
५. सा. ६२६। ६. सा. ३९४७। ७. सा. २८२६। ८. सा. ८-२।
९. सा. १०-११३। १०. सा. ३२१९। ११. सा. ४०६। १२. सा. ९८१।
१३. सा. ३०२४। १४. सा. २५०८। १५. सा. १-१६३। १६. सा. ९-१२।
१७. सा. ५७२। १८. सारा०न०कि०पृ० १९। १९. सा. १४८०। २०. सा. १७४४।
२१. सा. १-३२४। २२. सा. १-२३८। २३. सा. १-२८८। २४. सारा.न.कि. पृ.२८।
२५. सा. १०५५। २६. सा. १०-२०५। २७. सा. १-३२४। २८. सा. १-२९५।
२९. सा. ४-१२। ३०. सा. ४-६। ३१. सा. ११-४। ३२. सा. १-२१५।
३३. सा. १-३३८। ३४. सा. १-३४२।

अधिकांश सामासिक पद दो-तीन शब्दों से ही बने हैं; यथा—अलि-सुत[1], कंचनपुर-पति,[2] कमल-नयन[3], कुमुद-बंधु[4] गुरु-हत्या[5], गोकुल-नायक[6], जल-सुत[7], दारु-जात[8], दासी-सुत[9], दीनदयाल[10], दीनबंधु[11], दुष्ट-सभा[12], नंद-नंदन[13], पांडव-दल[14], पांडु-कुमार[15], भक्त-वत्सल[16], भक्त-वत्सलता[17], भगवंत-भजन[18], मति-मंद[19], मन-कामना[20], मुक्ति-क्षेत्र[21], रघुनंदन[22], रस-लंपट[23], रास-रस[24], संत-समागम[25], साधु-समागम[26], सुरसरि-सुवन[27], हरि-कथा[28], हेम-सुता-पति[29] आदि । यद्यपि 'सूर-सागर' के कुछ पदों में अधर-मधु-पान-मत्त[30], अहिपति-सुता-सुवन-सन्मुख[31], काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-बस[32], गोपी-ग्वाल-गाय-गोसुत-हित[33], सुत-संतान-स्वजन-बनिता-रति[34] जैसे कुछ बड़े समास भी मिलते हैं; तथापि ये भी पूर्ण स्पष्ट हैं और इनकी संख्या भी अधिक नहीं है । सामासिक पद-प्रधान भाषा की दृष्टि से सूरदास के निम्नलिखित पद प्रतिनिधि माने जा सकते हैं—

१. गिरिधर, बज्रधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ पीतांबरधर ।
संख-चक्र-धर, गदा-पद्म-धर, सीस-मुकुट-धर, अधर-सुधा-धर ।
कंबु-कंठ-धर, कौस्तुभ-मनि-धर, बनमाला-धर, मुक्त-माल-धर ।
सूरदास प्रभु गोप-बेष-धर, काली - फन पर चरन कमल - धर[35] ।

२. खर-दूखन - त्रिसिरासुर - खंडन । चरन - चिन्ह - दंडक-भुव - मंडन ।
बकी-दवन वक-बदन - बिदारन । बरुन - बिवाद - नंद - निस्तारन ।
रिषि-मख - त्रान ताड़का - तारक । बन बसि तात - बचन-प्रतिपालक ।
काली - दवन केसि-कर - पातन । अघअरिष्ट - धेनुक - अनुघातन ।
रघुपति प्रबल-पिनाक-बिभंजन । जग - हित जनक-सुता - मन-रंजन ।
गोकुल-पति गिरिधर गुन-सागर । गोपी - रवन - रास - रति - नागर ।
करुनामय कपि-कुल - हितकारी । बालि - बिरोधि कपट मृग - हारी ।
गुप्त-गोप - कन्या - ब्रत - पूरन । द्विज-नारी-दरसन-दुख - चूरन[36] ।

तत्सम शब्दों के आधार पर निर्मित, उक्त उद्धरणों में प्रयुक्त, लंबे सामासिक पदों की विद्यमानता में भी सूर की भाषा का प्रसाद-गुण अक्षुण्ण है और अर्थ-बोध में किसी

---

१. सा. ३९०६ । २. सा. ४२४१ । ३. सा. १-२४० ।
४. सा. ३९१५ । ५. सा. १-२६१ । ६. सा. ३७४९ । ७. सा. ३९०६ ।
८. सा. ४२०७ । ९. सा. १-२४२ । १०. सा. ३७४० । ११. सा. २-४९ ।
१२. सा. १-२५४ । १३. सा. ३८१० । १४. सा. १-२६९ । १५. सा. १-२४८ ।
१६. सा. ३७२१ । १७. सा. १-२६७ । १८. सा. १-२६३ । १९. सा. ३७७५ ।
२०. सा. २-१९ । २१. सा. १-३४० । २२. सा. ९-१२४ । २३. सा. सा. २-२५ ।
२४. सा. ४१०५ । २५. सा. १-२३३ । २६. सा. १-२९२ । २७. सा. १-२७१ ।
२८. सा. १-२६६ । २९. सा. ४२४१ । ३०. सा. ३४८१ । ३१. सा. १-२९ ।
३२. सा. १-२७ । ३३. सा. १-१७ । ३४. सा. १-५० । ३५. सा. ५७२ ।
३६. सा. ९८१ ।

प्रकार की कठिनाई नहीं होती । इसके विपरीत, सूरदास के 'साहित्यलहरी' नामक ग्रंथ में इसी प्रकार के जो सामासिक प्रयोग मिलते हैं, उनमें अभीष्ट अर्थ तक पहुँचना साधारण पाठक के लिए ही नहीं, विद्वानों के लिए कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है । इस ग्रंथ में तो प्रायः प्रत्येक पद एक जटिल पहेली बना हुआ है । इसके उदाहरण दृष्टकूट शीर्षक के अंतर्गत आगे दिये जायेंगे ।

तत्सम सहचर पद—द्वंद समास से बने सहचर या सहयोगी पदों का प्रयोग कवि की भाषा-समृद्धि का द्योतक है । साथ ही, इनका न्यूनाधिक प्रयोग प्रायः उसी अनुपात में जन-साधारण की भाषा से कवि या लेखक के संबंध की ओर भी संकेत करता है । सूरदास का संपर्क जन-भाषा से बहुत घनिष्ठ था; अतएव उन्होंने तत्सम सहचर शब्दों का प्रयोग भी बराबर किया है । कुछ पद यहाँ संकलित हैं—

अगम-अगोचर[१], अन्न-जल[२], अन्न-वस्त्र[३], गिरि-कंदर[४], ज्ञान-ध्यान[५], तेज-तप[६], दान-मान[७], दारा-सुत[८], देवी-देव[९], धन-दारा[१०], निगम-आगम[११], पुत्र-कलत्र[१२], माला-तिलक[१३], मित्र-बंधु[१४], रंग-रूप[१५], राग-द्वेष[१६], रुदन-विलाप[१७], लाभ-अलाभ[१८], सभा-समिति[१९], साधु-असाधु[२०] सुत-कलत्र[२१], सुर-असुर[२२] आदि ।

उच्चारण की दृष्टि से तत्सम शब्दों का वर्गीकरण—उच्चारण की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त उक्त तथा अन्यान्य तत्सम शब्दों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम में वे तत्सम शब्द रखे जा सकते हैं जो दो, तीन या चार अक्षरों से मिलकर बने हैं, उच्चारण में किसी प्रकार की कठिनता न होने के कारण जो प्रायः प्रचलित रहे हैं और अपनी सरलता के कारण हिंदी की प्रायः सभी बोलियों और विभाषाओं में जो सहज ही अपना लिये गये हैं । इनमें से अधिकांश शब्द व्रजभाषा के निजी प्रयोगों और तत्सम शब्दों से निर्मित तद्भवों की भाँति ही कोमल, मधुर और सरल हैं । सूरदास के काव्य में प्रयुक्त समस्त तत्सम शब्दों में एक-दो प्रतिशत को छोड़ कर शेष प्रायः इसी प्रकार के हैं । इनको अपनाने से व्रजभाषा को लोकप्रिय बनाने और उसका क्षेत्र बढ़ाने में पर्याप्त सहायता मिली है । कोमल और सरल ध्वनिवाले ये शब्द गीतिकाव्योपयोगी भाषा में सहज ही घुल-मिल गये । ऐसे अनेक शब्द ऊपर उद्धृत उदाहरणों में मिल जायेंगे ; कुछ अन्य[२३] यहाँ संकलित हैं—अंग, अंतःपुर, अंतर्गत, अति, अधम, अनुभव, अनुभवी, अपमान, अभिमानी, अभिराम, अवस्था, अविद्या, असत्कार, असाधु, अस्थिर, अहंभाव, आज्ञाकारी, आडंबर, आहुति, इंद्रिय, उत्साह, उद्यम, उद्यान,

१. सा. ३८७४ । २. सा. १-३४१ । ३. सा. १०-३६ । ४. सा. २-२० । ५. सा. ३८७४ । ६. सा. ६-५ । ७. सा. १०-३८ । ८. सा. १-३१७ । ९. सा. १-८६ । १०. सा. १-३१९ । ११. सा. १-३०८ । १२. सा. ६-४ । १३. सा. ६-६ । १४. सा. १-२०३ । १५. सा. १-८६ । १६. सा. १-२४२ । १७. सा. १-३१९ । १८ सा. १-२६२ । १९. सा. ३८७४ । २०. सा. १-२१७ । २१. सा. २-२० । २२. सा. १-२०१ ।

२३. ये और ऐसे ही तत्सम शब्द सूरदास ही नहीं, सभी व्रजभाषा कवियों द्वारा अपनाये गये हैं; अतएव इनके साथ पद-संख्या देने की आवश्यकता नहीं है । —लेखक

उन्मत्त, उपकार, उपचार, उपराग, कच, कपट, कुंजर, कुंड, कूल, क्रीड़ा, गति, गृह, चारु, जिव्हा, जीविका, दुर्जन, दृढ़, दोष, द्रुम, धूम, निगड़, निर्दोष, निस्तार, नृप, नीरस, पंथ, पति, परस्पर, परिपाटी, पारावार, प्रकोप, प्रतिबिंब, प्रतिहार, प्रथम, प्रपंच, प्रसन्न, प्रसाद, प्रसिद्ध, प्रारंभ, प्रेम, भेषज, मधुर, मनोरथ, महंत, महानुभाव, महिमा, मात्र, मुक्ता, मुक्ति, मुखर, मुख्य, मुद्रा, मृतक, रति, राजनीति, ललाट, ललित, लुब्धक, विद्यमान, विसर्जन, व्यापक, संकल्प, संचार, संताप, संसार, सकल, सत्कार, सप्तम, सबल, समाधान, सर्वज्ञ, सावधान, सुकुमार, सुखकर, सुधाकर, सुमन, सौरभ, स्वरूप, स्वल्प, स्वाद, हृदय आदि ।

दूसरे प्रकार के तत्सम शब्दों की ध्वनि इतनी सरल न होकर कुछ क्लिष्ट है । फलस्वरूप, उनका प्रयोग सामान्य व्रजभाषा-भाषियों में कम रहा और सामान्य बोलियों के काव्य में भी जो अपने तत्सम रूप से सरलता से प्रवेश नहीं पा सके । कोमल और सुकुमार भावों की व्यंजना में इनके प्रयोग से कभी-कभी बाधा ही पहुँचती है । ऐसे शब्दों का प्रयोग सूरदास ने कम ही किया है और जो शब्द उनके काव्य में प्रयुक्त भी हुए हैं वे भाषा की सरलता और सुकुमारता का विशेष ध्यान रखनेवाले कवियों द्वारा सहर्ष नहीं अपनाये गये । सूरदास स्वयं इस तथ्य से अवगत जान पड़ते हैं; संभवतः इसी से इनमें से अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने बार-बार नहीं दोहराया है । ऐसे शब्दों में कुछ ये हैं—आजीविका[1], आविर्भाव[2], आस्वादिनि[3], किंजल्क[4], क्वासि[5], गह्वर[6], दूतत्व[7], निमित्त[8], न्यास[9], प्रस्वेद[10], ममत्व[11], विद्वाचारि[12], विधुंतुद[13], व्युत्पन्न[14], सत्वर[15], सात्विकी[16] आदि ।

सारांश यह है कि व्रजभाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिए सूरदास ने ऐसे तत्सम शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया है जो काव्यभाषा को शाब्दिक और आर्थिक श्री-संपन्नता प्रदान करने में सहायक हो सकें । ये प्रयोग भावों के धारा-प्रवाह में थपेड़े खाकर भी अटक कर रहनेवाले पत्थर के भारी-भरकम ढोकों की तरह नहीं, वेग में और तीव्रता लाकर एक प्रकार का नाद-सौंदर्य उत्पन्न करनेवाली चिकनी और सुडौल बटियों की तरह हैं जिनकी छटा, धारा के साथ तो दर्शक को मुग्ध करती ही है, उससे विलग हो जाने के पश्चात् भी कलामर्मज्ञों को भक्तों की भाँति विस्मय-विमुग्ध कर देती है । तत्सम शब्दों के ऐसे प्रयोगों की मुख्य विशेषता यह है कि भाव-व्यंजना में सहायता देने के लिए बेगार में पकड़े गये, किसी भार से दबे हुओं की तरह नहीं, स्वच्छंदतायुक्त हँसी बिखेरते, सहकारिता और दायित्व-निर्वाह की भावना लिये आकर, ये विषय और माध्यम, दोनों की शोभा-वृद्धि करते और आमंत्रक को गौरव प्रदान करते हैं । कवि ने

---

१. सा. ४-११ । २. सा. ९-१५ । ३. सा. ३६६६ । ४. सा. १-३३९ ।
५. सा २४५२ । ६. सा. ३५८३ । ७. सा. १-२६ । ८. सा. ४-५ ।
९. सा. ४१६९ । १०. सा. ३८०० । ११. सा. ३-१३ । १२. सा. २७०८ ।
१३. सा. २६०१ । १४. सा. ११४४ । १५. सा. ३७८९ । १६. सा. ३-१३ ।

मस्तिष्क को कुरेद-कुरेद कर सप्रयास इनकी पकड़ का आयोजन नहीं किया; प्रत्युत विषय, भावना और रस के अनुकूल तत्सम शब्द, भावावेश के साथ ही, शालीन सेवकों के समान, स्वतः सामने आ जाते हैं। यही कारण है कि कृत्रिमता और आडंबर की छाया का लेश भी अधिकांश तत्सम प्रयोगों में नहीं मिलता और वर्ण-मैत्री तथा भाषा की संगीतात्मकता में सहायक शब्द-चयन से भाषा की शोभा भी बहुत बढ़ी हुई है।

सूरदास के विभिन्न ग्रंथों में तत्सम शब्दों की संख्या विषय, भाव और वातावरण की गुरुता - गंभीरता तथा कवि-रुचि के विषयानुकूल रही है। सामान्य कथा-प्रसंगों में व्यावहारिक तत्सम शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग ही मिलता हैं; क्योंकि ऐसे स्थलों पर कवि का उद्देश्य विषय को पद्य-बद्ध करना मात्र जान पड़ता है; न उसने इनमें विशेष रुचि दिखायी है और न अपनी काव्य-प्रतिभा का ही उसने उपयोग किया है। इसके विपरीत, जिन भावोत्कर्षक मार्मिक प्रसंगों के वर्णन एवं दृश्यों के चित्रण में कवि स्वयं तल्लीन हो गया है, उसकी कल्पना-शक्ति उपयुक्त संयोग पाकर खिल उठी है और अतीत के दिव्य दृश्यों का दर्शन पाठक को कराने में प्रवृत्त हो गयी है, उसकी सूक्ष्मदर्शिणी दृष्टि स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़कर चित्र का सांगोपांग आलेखन करने लगी है, उन सबको अपनाते ही सूरदास की भाषा का स्तर भी सहज ही ऊपर उठ जाता है एवं उसके माध्यम से पाठक भी ऐसे साहित्यिक और भावुकतापूर्ण वातावरण में पहुँच जाता है, जहाँ रस-सिक्त और आनंद-विभोर होकर क्षण भर के लिए वह अपने को भूल जाता है। ऐसे स्थलों के तत्सम प्रयोग भाषा के शृंगार और सौष्ठव की वृद्धि करते हैं तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की सफल व्यंजना में सहायक होकर उसकी समृद्धि और शक्ति बढ़ाते हैं।

अर्द्धतत्सम शब्द—अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग साधारणतः उच्चारण की सुविधा-सरलता के लिए किया जाता है। सूरदास की भाषा में प्रयुक्त अर्द्धतत्सम रूपों को देखने से स्पष्ट भी होता है कि जिन तत्सम शब्दों के उच्चारण में किसी प्रकार की कठिनता थी, अथवा जिनकी ध्वनि में कुछ कर्कशता या कठोरता जान पड़ती थी, कवि ने उन्हें ही सरल रूप देने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्हें काव्य-भाषा के लिए उपयुक्त बना लिया है। कभी कभी चरण की मात्रा-पूर्ति के लिए भी तत्सम शब्दों के कुछ अर्द्धाक्षरों को उन्हें स-स्वर करना पड़ा है। वस्तुतः किसी शब्द का रूप विकृत करने का उद्देश्य यदि उसकी उपयोगिता बढ़ाना हो तो कवि की प्रशंसा ही करनी चाहिए। सूरदास के सामने, अर्द्धतत्समों का निर्माण करते समय प्रायः यही उद्देश्य रहा है। अतएव उनके इस प्रयत्न ने व्रजभाषा का निजी शब्द-कोश बढ़ाने में विशेष सहायता दी; क्योंकि ये नवनिर्मित शब्द उसकी ही संपत्ति हैं और उसी के व्याकरण से शासित होते हैं। दूसरी बात यह है कि अर्द्धतत्समों का प्रयोग साधारणतः ऐसे स्थलों पर होना चाहिए जहाँ भाव के प्रवाह में मग्न और विषय में लीन पाठक को उनकी उपस्थिति संगत जान पड़े। संतोष की बात है कि सूरदास ने इसका भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है और प्रसंग एवं वातावरण के उपयुक्त अर्द्धतत्समों का ही प्रायः चुनाव किया है। उनकी रचनाओं में सबसे अधिक संख्या अर्द्धतत्सम शब्दों की ही है। निम्नलिखित उदाहरणों से उनकी अर्द्धतत्सम-रूप-निर्माण की प्रवृत्ति का पता लग सकता है—

अगिनि <अग्नि[1], अनुसासन <अनुशासन[2], अभरन <आभरण[3],
अम्रित <अमृत[4], अरध <अर्द्ध[5], अस्तुति <स्तुति,[6]
अस्थान <स्थान[7], अस्मर <स्मर[8], अच्छादित <आच्छादित[9],
आसरम <आश्रम[10] ईस्वरता <ईश्वरता[11], उछेद <उच्छेद[12],
उनमत्त <उन्मत्त[13], करतार <कर्तृ[14], किरपा <कृपा[15],
कुदरसन <कुदर्शन[16], कृतघन <कृतघ्न[17], गाहक <ग्राहक[18],
चतुरभुज <चतुर्भुज[19], जनम <जन्म[20], तृन <तृण[21],
तृष्ना <तृष्णा[22], थान <स्थान[23], थिति <स्थिति[24],
दरपन <दर्पण[25], दुआदस <द्वादश[26], दुरबुद्धि <दुर्बुद्धि[27],
दुरमति <दुर्मति[28], धरम <धर्म[29], नगन <नग्न[30],
निरधन <निर्धन[31], निस्चै <निश्चय[32] निहकाम <निष्काम[33]
निहचै <निश्चय[34], पदारथ <पदार्थ[35], परकार <प्रकार[36],
परजंत <पर्यंत[37], परजा <प्रजा[38], परताप <प्रताप[39],
परतिज्ञा <प्रतिज्ञा[40], परतीति <प्रतीति[41], परबत <पर्वत[42]
परबीन <प्रवीण[43], परमान <प्रमाण[44], परसंसा <प्रशंसा[45],
परसन <प्रसन्न[46], पराकरम <पराक्रम[47], बितत <व्यतीत[48],
बिदमान <विद्यमान[49], बिपाक <विपाक[50], बिरति <विरक्ति[51],
बिलम <विलंब[52], बैद <वैद्य[53], भीषन <भीषण[54],
मरजादा <मर्यादा[55], मरम <मर्म[56], मारग <मार्ग[57]
रतन <रत्न[58], रिधि <ऋद्धि[59], लछमी <लक्ष्मी[60],

---

१. सा. १-३१२। २. सा. १-१९७। ३. सा. ३६८२। ४. सा. १-२४१।
५. सा. १-१२९। ६. सा. १-२९९। ७. सा. ४-८। ८. सा. ३०६०।
९. सा. ८८३। १०. सा. ३-१३। ११. सा. १-३९३। १२. सा. १-१०४।
१३. सा. ४-१२। १४. सा. ४-३। १५. सा. ४-११। १६. सा. १-१२५।
१७. सा. १-७७। १८. सा. ३५४३। १९. सा. ३-१३। २०. सा. १-२९४।
२१. सा. २-६। २२. सा. २-१३। २३. सा. ३०२१। २४. सा. ३५३०।
२५. सा. २-२६। २६. सा. ३६२। २७. सा. ४-५। २८. सा. १-२५८।
२९. सा. १-२४८। ३०. सा. १-२५४। ३१. सा. १-२४२। ३२. सा. १-२५७।
३३. सा. ३५८९। ३४. सा. ३०९०। ३५. सा. ३-६। ३६. सा. २-३७।
३७. सा. १-१०। ३८. सा. १-२९०। ३९. सा. १-२३५। ४०. सा. १-२६७।
४१. सा. ३३७४। ४२. सा. १-२३४। ४३. सा. ३५३७। ४४. सा. १-२२९।
४५. सा. ३५३४। ४६. सा. ९१४। ४७. सा. ३०७७। ४८. सा. १-२८९।
४९. सा. ३५२७। ५०. सा. ३-२। ५१. सा. १-३००। ५२. सा. ४४३।
५३. सा. ३५२९। ५४. सा. १-२५२। ५५. सा. ३२७०। ५६. सा. ४-५।
५७. सा. १-१८७। ५८. सा. १-२३५। ५९. सा. १-३२७। ६०. सा. १-३३७।

सनान<स्नान[1], सरवज्ञ<सर्वज्ञ[2], सराध<श्राद्ध[3], सवाद<स्वाद[4], साच्छात<साक्षात्[5], सुभाइ<स्वभाव[6] सुम्रित<स्मृति[7] आदि ।

इन अर्द्धतत्सम रूपों से स्पष्ट होता है कि इनका निर्माण कहीं तो 'स्वरभक्ति' के आधार पर किया गया हैं, जैसे-नग्न-नगन, पदार्थ-पदारथ आदि; कहीं 'अग्रागम' के; जैसे-स्थान-अस्थान, स्मर-अस्मर आदि; कहीं व्रजभाषा की प्रकृति का ध्यान करके; जैसे--तृष्णा-तृष्ना, विपाक-बिपाक; और कहीं शब्द-विशेष के उच्चारण की सुगमता या स्पष्टता के लिए जैसे अमृत-अम्रित, ऋद्धि-रिधि, स्मृति-सुम्रिति आदि । अर्द्धतत्सम रूप बनाने की यह पद्धति सदैव ही प्रचलित रहती है; एक भाषा में दूसरी के अनेक शब्द इसी प्रकार अपनाये जाते हैं । अतएव सूरदास का तत्संबंधी प्रयत्न भी भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुकूल और भाषा-प्रकृति की दृष्टि से नितांत स्वाभाविक समझा जाना चाहिए ।

परंतु किसी शब्द के अर्द्धतत्सम रूप का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि नवनिर्मित रूप अर्थ की दृष्टि से कहीं भ्रामक न हो जाय । उदाहरणार्थ 'कर्म' से 'करम' और 'असत्' से 'असत' शब्द साधारणतः बनाये और प्रयोग में लाये जाते हैं । इसी प्रकार यदि 'क्रम' से 'करम' और 'अस्त' से 'असत' बना लिये जायँ तो इन नये शब्दों से पूर्वार्थ-सूचक रूपों का भ्रम हो सकता है । फिर भी कवि ऐसे भ्रामक प्रयोग किया ही करते हैं । सूर-काव्य में भी ऐसे दो-एक उदाहरण मिल जाते हैं;—जैसे 'स्मर' के लिए 'समर' लिखना; क्योंकि इससे भिन्नार्थ 'युद्ध' का भ्रम हो जाता है—
अंग-अंग छबि मनहुँ उये-रबि ससि अरु **समर** लजाई[8] ।

तद्भव शब्द—संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों के अतिरिक्त सूरदास की भाषा में बहुत अधिक संख्या में तद्भव शब्द मिलते हैं । इनसे आशय उन शब्द-रूपों से है जो मूलतः तो संस्कृत के थे; परंतु मध्यकालीन भाषाओं – पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि – की प्रकृतियों के अनुसार परिवर्तित होते होते नये रूप में हिंदी तक पहुँचे थे । वस्तुतः किसी भाषा की निजी संपत्ति ये तद्भव रूप ही होते हैं; क्योंकि इनका निर्माण सर्वथा जनभाषा की प्रकृति के अनुरूप और बहुत स्वाभाविक रीति से होता है । सूरदास के काव्य में प्रयुक्त तद्भव शब्दों की सूची बहुत लंबी है । अतएव यहाँ चुने हुए कुछ उदाहरण ही संकलित हैं -

अंगुष्ठ>अंगुट्ट>अँगूठा, अँगुठा[9] । अंधकार>अँधआर>अँधियार, अँध्यारी[10]। आम्र>अंब>अँब, अंबु[11] । अश्रु>अस्सु>आँसू[12] । आकार्यार्थ >अकारियत्थ> अकारथ[13] । अक्षवाट>अक्खआड>अखाड़ा, अखारा[14] । आश्चर्य>अच्चरिय->अचरज[15] ।

---

१. सा. २-१७ । २. सा. १-१२१ । ३. सा. १-२९० ।
४. सा. ३-१० । ५. सा. ३-११ । ६. सा. १-८ । ७. सा. १-१८७ ।
८. सा. ६२६ ९. सा. १०-६२ । १०. सा. ५०५ । ११. लहरी० उ. ३८ ।
१२ सा. सा. ३४९ । १३. सा. १-१०७ । १४. सा ९-४ । १५. लहरी० ४५ ।

अद्य > अज्ज > आज[1], आजु[2]। अष्टादस > अट्ठारस > अठारह[3]। अर्द्ध > अद्ध या अद्धो > अध[4]। आकर्ण > आकणन > अकनना, अनकना, अनकनि[5]। अन् + अक्ष > अनक्ख > अनख[6], अनखैयत[7], अनखौही[8]। अन्यत्र > अन्नत्त > अनत[9]। अपुष्ट > अपुट्ठ > अपूठा, अपूठी[10]। अवरुंधन > ओरुज्झन > अरुझना, अरुझत[11]। अहिवाद्य > अहिवाद > अहिवात[12]। अक्षि > अक्खि > आँख, आँखि[13]। वाद्य > वज्ज > आउज = एक बाजा[14]। अर्क > अक्क > आक[15]। अक्षर > अक्खर > आखर[16]। अक्षय > अक्खय > आखा, आखो[17] = कुल, समस्त। अग्गि > अग्नि > आग[18]।

उत्कथन > उक्कथन > उघटना, उघट[19], उघट्यौ[20]। उत्संग > उच्छंग > उछंग[21]। उत्साह > उच्छाह > उछाह, उछाहु[22]। उद्गार > उग्गाल > उगाल, उगार, उगारु[23]। उद्गिलन > उग्गिलन > उगलना, उगिलौ[24]। उद्वर्त्तन > उव्वटन > उबटन[25], उबटनौ[26]। उष्ट्र > उट्ट > ऊँट[27]। उद्ग्रहण > उग्गहन > उगाहना, उगाहु[28]। उद्घाटन > उग्घाटन > उघड़ना, उघरना, उघरी[29], उघरे[30]। अवतरण > उत्तरण > उतरना, उतरात[31], उतरानी[32]। अनुसार > अनुहार > उनहार[33], उनिहारी[34]। ऋद्ध > उद्ध > उरद[35]। आवर्तन > आवट्टन > औटना, औटाई[36], औटि[37]।

कर्कोटक > कक्कोडक > ककोड़ा, ककोरा[38]। कर्त्तन > कट्टन > काटना, कट्टे[39]। कृष्ण > कण्ह > कन्हाई[40], कन्हैया[41], कान्ह, कान्हर[42], कान्हा[43]। कक्ष > कच्छ > कच्छ, काछ[44], काछनी[45]। कार्य > कज्ज > काज[46]। काष्ठ > काट्ठ > काठ[47]। कर्म > कम्म > काम[48]। कैवर्त्त > केवट्ट > केवट[49]। कुक्षि > कुक्खि > कोख[50], कोखि[51]। कर्पादिका > कवड्डिआ > कौड़ी[52]। गुह्य > गुज्झक > गूझा[53]। ग्रंथ > गत्थ > गथ[54], गथु[55]। गजेंद्र > गयिंद > गयंद[56]

---

१. सा. १-५१। २. सा. वे. ११३४। ३. सा. २-१९। ४. सा. वे. ३३०४। ५. सा. वे. २०६९। ६. सा. ३८४। ७. सा. वे. २१४६। ८. सा. १२४८। ९. सा. १-१८। १०. सा. ९-८७। ११. सा.वे.पृ. ३३३। १२ सा. ५७७। १३. सा. वे.२३७७। १४. सा. ९-७५। १५. सा. वे. पृ. ३३३। १६. सा. १०-४०। १७. सा.वे. ३०२१। १८. सा. ९-२। १९. सा. ४४८। २०. सा. १-२०५। २१. सा. ९-१६२। २२. सा.वे. २८३६। २३. सा. वे. १८२७। २४. सा. १०-२५४। २५. सा. १०-१८३। २६. सा. १०-१८५। २७. सा. २-१४। २८. सा. वे. ११७४। २९. सा. वें. ३३४६। ३०. सा. १०-२५४। ३१. सा. ५५२। ३२. सा. १०-३३७। ३३. सा.वें. ३०३७। ३४. सा. ४९२। ३५. सा. ३९६। ३६. सा. १-६३। ३७. सा. १०-२२७। ३८. सा.वे. २३२१। ३९. सा. १-१८०। ४०. सा. ५२७। ४१. सा. ४५१। ४२. सा. १०-७५। ४३. सा० १०-१८३। ४४. सा.वे. २३५०। ४५. सा. १-३०७। ४६. सा. १०-२६०। ४७. सारा. ४१८। ४८. सा. १०-२४०। ४९. सा. १-३०८। ५०. सारा. ३९। ५१. सारा. ४४। ५२. सा.वे. २७११। ५३. सा. वे. १८२२। ५४. सा. १-१८५। ५५. सा. ११-१। ५६. सा. १५५३।

ग्रंथि > गंठि > गाँठ, गाँठि[1], गाँठी[2] । गर्जन > गज्जन > गाजना, गाजन[3] गाजनु[4] । गर्त्त > गड्ड < गाड़ = गड्ढा, गाड़े[5] । गुह्यक > गुज्झा > गूझा[6] गोझा[7] । घात > घाअ < घाव[8] । घृत > घीअ > घी, घिय, घीव[9] ।

चिविट > चिबिड > चिउड़ा, चिउरा[10] । चीत्कार > चिक्कार > चिकार[11] । चतुष्क > चउक्क < चौक[12] । चतुर्थी > चउत्थि > चउथि, चौथ[13] । छत्र > छत्त > छाता[14] । जिह्व > जिब्भ > जीभ[15] । जुष्ठ > जुट्ठ > जूठा, जूठो, जूठौ[16] । अयुक्त > अजुत्त < झूठ[17] । दृष्टि > दिट्ठि > डिट्ठि > डीठ, डीठि[18], दीठि[19] । शिथिल > सिढिल < ढीला, ढीली[20] । तप्त > तत्त > ताता, ताती[21] । तुष्ठ > तुट्ठ < तूठना, तूठे[22] । दर्प > दप्प > दाप[23] । दुर्लालन > दुल्लाडन > दुलार, दुलारी[24], दुलारो-दुलारौ[25] । दुर्लभ > दुल्लह > दूलह[26] । ज्ञाति > णाति > नात[27], नातौ[28] । निः-निकट > निनिअड > निनरा, निनरे, निनारे[29] ।

पक्षालु > पक्खाडु > पखेरू[30] । पदक > पअक, पक > पग[31] । पत्री > पत्ती > पाती[32] = पत्र । पाद > पाय > पाव, पाँउ[33] । प्रावृष > पाउस > पावस[34]। पाषाण > पाहाण > पाहन[35] । पुटकिनी > पुडइनी > पुरइन[36] । प्रोता > पोता > पोत = [37] काँच की गुरिया का दाना । प्रतोली > पओली > पौरी, पौरि[38] । वत्स > वच्छ > बच्छ[39] । अवसृष्ट > अवसिट्ठ > बसीठ[40] । विद्युत > बिज्जु > बीजु[41] । वचन > बयन > बैन[42] । भक्ष > भक्ख > भख[43] । मौक्तिक > मोत्तिय > मोती[44] । मूल्य > मुल्ल > मोल[45] । राजिका > राइआ > राई[46] यष्ठि > लट्ठि > लड़ी, लड़, लर[47] । स्वस्तिक > सत्थिअ > सथिया[48] । शुक > सूअ > सूआ, सुआ या सुवा[49] । हरित > हरिअ > हरा, हरी[50] । हृदय > हिअ > हिय[51] ।

---

१. सा. ९-१६४ । २. सा.वे. ८८० । ३. सा. ६२२ । ४. सा.वे. २८७२ । ५. सा. १-१२४ । ६. सा. १०-१८३ । ७. सा. वे. २३२१ । ८. सा. वे. २८२६ । ९. सा. ३९६ । १०. सा. १०-२११ । ११. सा. १० उ०-२ । १२. सारा. २३९ । १३. सा. ३-१३ । १४ सा. १-२३ । १५. सा. १-१८८ । १६. सा. ४६८ । १७. सा. १-१३७ । १८- सा. १०-६९ । १९. सा. १-२७४ । २०. सा. १०-२९९ । २१. सा. १-२३ । २२. सा. १-१७७ । २३. सा. ४-५ । २४. सा. ७०८ । २५. सा. १०-१५ । २६. सा. वे. २९५९ । २७. सा. ३१६१ । २८. सा. ३९ ३३। २९. सा. ३७५८ । ३०. सा. २२७२ । ३१. सा. १-२४२ । ३२. सा. ३४४३ । ३३. सा. ९-४४ । ३४. सा. ४११७ । ३५. सा. १-३३२ । ३६. सा. १०४९ । ३७. सा. ३६९० । ३८. सा. ८-१४ । ३९. सा. ४३६ । ४०. सा. ४०२४ । ४१. सा. ६२३ । ४२. सा. १०-१०३ । ४३. लहरी. ३१ । ४४. सा. १०-८४ । ४५. सा. ३८७० । ४६. सा. ४१९९ । ४७. सा. १८७१ । ४८. सा. १०-३२ । ४९. सा. १-३४० । ५०. सा. ९-१६४ । ५१. सा. ९-८४ ।

कुछ शब्दों के अर्द्धतत्सम और तद्भव, दोनों रूप प्रचलित रहते हैं; जैसे - वत्स, अर्द्ध० बच्छ, तद्० बच्चा। यदि ये दोनों रूप नवोदित काव्यभाषा के योग्य और उसकी प्रकृति के अनुरूप होते हैं, तो आवश्यकतानुसार दोनों को काव्य-रचनाओ में स्थान दिया जाता है। सूर-काव्य में भी कुछ शब्दों के अर्द्धतत्सम ओर तद्भव, दोनों रूप मिलते हैं; यथा—सं० अग्नि, अर्द्ध० अगिन,[1] अगिनि[2]; तद्० आग।[3] सं०कार्य, अर्द्ध० कारज[4], तद्, काज[5]।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित संधि-प्रयोग—

अर्द्धतत्सम, तद्भव और सरल तत्सम शब्दों को सूरदास ने प्रायः एक ही वर्ग में रखा है और अपने काव्य में इन्हें बिना किसी भेद-भाव के, निसंकोच समान अधिकार दिया है। यही कारण है कि दिनेस[6], बदरिकासरम[7] जैसे इने-गिने संधि - प्रयोग केवल अर्द्धतत्समों या तद्भवों के आधार पर बने मिलते हैं; अन्यथा उन्होंने मिश्रित शब्द-रूपों की स्वतंत्रतापूर्वक संधियाँ की है; यथा—कुसासन[8], चरनांबुज[9], चरनोदक[10], सुपनांतर[11] आदि। सूरदास प्रायः तीन-चार अक्षरों से अधिक के शब्दों का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं जान पड़ते। पाँच-छह अक्षरोंवाले बहुत ही थोड़े शब्द उनके काव्य में मिलते हैं और उनमें भी अधिकांश पारिभाषिक या व्यक्तिवाचक ही है; यद्यपि कवि की रुचि अवसर मिलते ही उनको भी संक्षिप्त करने की ओर रही है। इसी कारण एक तो संधि-प्रयोगों की संख्या ही उनके काव्य में कम है और दूसरे, इस प्रकार निर्मित जो शब्द मिलते भी हैं उनमें से अधिकांश सरल स्वर-संधि के ही उदाहरण हैं।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित समास—

संधि-प्रयोगों की अपेक्षा अर्द्धतत्सम और तद्भव सामासिक पदों की संख्या सूर-काव्य में अधिक है। जिन पदों में कवि ने इन शब्दों का प्रयोग अधिक किया है, वहाँ तो ऐसे समास मिलते ही हैं; साथ ही तत्सम शब्दावली-प्रधान भाषा के बीच में भी उसने इन्हें निस्संकोच स्थान दिया है। इसका कारण यही है कि कवि तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों से अधिक महत्व का पद तत्सम शब्दों को नहीं देना चाहता; जैसे -करम-फाँस[12], नख - प्रकास[13], बान-बरषा[14], बिषय-बिकार[15], ब्रजचंद[16], ब्रजवासी[17], भुज-स्रम[18] आदि।

अर्द्धतत्सम या तद्भव और संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधार पर बने हुए

१. सा. वे. १० उ० ४६। २. सा. १-९१। ३. सा. ९-२।
४. सा. ४-११। ५. सा. १०-१४६। ६. सा. १-३३९।
७. सा. ३-४। ८. सा. १-३४१। ९. सा. ४२८७।
१०. सा. १-२३९। ११. सा. ८४०। १२. सा. १-२६३। १३. सा. १-४८।
१४. सा. १-२७१। १५. सा. ४१०३। १६. सा. ३७७५। १७. सा. ३७३२।
१८. सा. १-१५।

सामासिक पदों की संख्या भी सूर-काव्य में बहुत अधिक है। 'सारावली' में ऐसे प्रयोग कम मिलते हैं; परन्तु 'सूरसागर' में कवि ने इनका आदि से अंत तक निस्संकोच प्रयोग किया है और 'साहित्यलहरी' के तो प्रायः प्रत्येक पद में इनके पाँच-सात उदाहरण तक मिल जाते हैं। 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' सामासिक पदों के प्रयोग की दृष्टि से सूरदास की भाषा के दो अति-प्रधान रूप हैं; अतएव मध्य-वर्तिनी भाषा 'सूरसागर' की ही समझनी चाहिए। इसी काव्य से संकलित कुछ उदाहरणों से सूरदास की तद्विषयक मनोवृति का स्पष्ट परिचय मिल सकता है; यथा — कटि-बसन[1] करुना-सिंधु[2], कुस-आसन[3], गोपी-जन-वल्लभ[4], छपद[5], जगदीस-भजन[6], जदुकुल[7], जलविहार[8], जादवकुल-दीपक[9], जीवन-प्रान[10], तन-दसा[11], धन-जोबन-मद-माते[12], पसु-पालक[13], प्रेम-मगन[14], बाल-सँघाती[15], रत्न-भूमि[16], रूप-रतन[17], संभु-सुत[18], सिव-रिपु[19], सुख-सेज्या[20], हरि-भख[21] आदि।

अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित सहचर-पद—

तत्सम सहचर-पदों से लगभग चौगुने अर्द्धतत्सम, तद्भव और मिश्रित पद सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—अहनिसि[22], उच्च-अनुच[23], ऊँच-नीच[24], कूकर-सूकर[25], खर-कूकर[26], खाटो-खारो[27], गाइ-बच्छ[28], गुन-अवगुन[29], घाट-बाट[30], जनम-मरन[31], जोग-जुगति[32], ताल-पखावज[33], तीरथ-ब्रत[34], दिन-राती[35], दुख-संताप[36], देस-बिदेस[37], धर-अंबर[38], नख-सिख[39], नभ-धरनि[40], नान्हे-नून्हे[41], निसि-बासर[42], नेम-ब्रत[43], पहर-घरी[44], पसु-पक्षी[45], पाखँड-चतुराई[46], पाप-पुन्य[47], फूल-फल[48], बन-उपवन[49], बाद-बिवाद[50], भंडार-भूमि[51], भले-बुरे[52], भाजी-साक[53], भाव-भगनि[54], मूख-नींद[55], मंत्र-जंत्र[56],

---

१. सा. १-२४६। २. सा. ३-११। ३. सा. १-३४१। ४. सा. ३८१०। ५. सा. ४१५२। ६. सा. १-२३३। ७. सा. १-२४२। ८. सा. ११६१। ९. सा. ३८१०। १०. सा. ३४८२। ११. सा. १-२४०। १२. सा. ३७४८। १३. सा. ३७४१। १४. सा. १-२४०। १५. सा. ४१०५। १६. सा. १-२६१। १७. सा. ३७२१। १८. सा. ४२४१। १९. सा. ४००४। २०. सा. १-२६८। २१. सा. ४००७। २२. सा. ४-१२। २३. सा. १-२०३। २४. सा. १-१३०। २५. सा. २-१४। २६. सा. १-१०३। २७. सा. १-१५२। २८. सा. १०.२६। २९. सा. १-१११। ३०. सा. २८८३। ३१. सा. १-३१५। ३२. सा. १-१२७। ३३. सा. १-१५१। ३४. सा. १०-१६। ३५. सा. १-३२५। ३६. सा. ९.९०। ३७. सा. १-२०३। ३८. सा. ९-१०४। ३९. सा. १-१७७। ४०. सा. ७-२। ४१. सा. १-९६। ४२. सा. १-१४१। ४३. सा. १-१६७। ४४. सा. १-१३०। ४५. सा. ९-४६। ४६. सा. १-३१७। ४७. सा. १-१५१। ४८. सा. ९-५९। ४९. सा. ९-७५। ५०. सा. १-२३३। ५१. सा. १-२४७। ५२. सा. १-१७०। ५३. सा. १-२३९। ५४. सा. १-१४९। ५५. सा. ९-२। ५६. सा. ७-२।

मया-मोह[1], मान-परेखौ[2], रंक-भिखारी[3], संपदा-आपदा[4], सर-अवसर[5], सीत-उष्न[6], सूर-सुभट[7], सेमर-ढाक[8], स्वर्ग-पताल[9], हय-गय[10], हर्ष-सोक[11]।

अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा के उदाहरण —

सूर-काव्य से तत्समता-प्रधान भाषा के आदर्श-रूप उदाहरणों को चयन करने में तो पाठक को कुछ समय लगता है, परंतु अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान भाषा तो उनके सभी ग्रंथों में केवल रूप और दृश्य-चित्रण के स्थलों को छोड़कर, प्रायः आदि से अंत तक मिलती है। इसका कारण यह है कि कवि ने व्रजभाषा की स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए उसे प्रयासपूर्ण शब्द-योजना की कृत्रिमता से सर्वत्र बचाया है। श्रीकृष्ण और राधा के रूप-वर्णन और विशिष्ट भाव-चित्रण के पदों के अतिरिक्त सभी मार्मिक और हृदयस्पर्शी प्रसंगों की व्यंजना कवि ने जिस भाषा में की है उसमें अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की ही अधिकता है। ऐसे पदों में संस्कृत के छोटे-छोटे तत्सम शब्द भी कवि ने निस्संकोच अपनाये हैं और यह इसलिए कि कवि ने उन्हें सभी दृष्टियों से अर्द्धतत्समों और तद्भवों के समकक्ष समझा है। सूर-काव्य के विभिन्न स्थलों से इस प्रकार की भाषा के कुछ उदाहरण उक्त कथन की पुष्टि में यहाँ संकलित हैं। इन पदों में बड़े छो शब्द तत्सम हैं और शेष प्रायः सभी, केवल विदेशी शब्दों को छोड़कर, अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव हैं—

१. जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के, सबै पात झरि जैहैं॥
या देही को गरब न करिए, स्यार काग गिध खैहैं।
तीननि में तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं॥
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहै।
जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं॥
घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहै।
जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपारयौ, देवी-देव मनैहैं॥
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै॥
नर बपु धारि नाहिं जन हरि कौ, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, बृथा सु जनम गवैहै[12]॥

२. रामहिं राखौ कोऊ जाइ।
जब लगि भरत अजोध्या आवैं, कहत कौसिला माइ।

---

१. सा. ५३१। २. सा. ३९७५। ३. सा. १-१७०।
४. सा. १-२६५। ५. सा. १-१५८। ६. सा. १-११७। ७. सा. ९-९७।
८. सा. ९-४२। ९. सा. ९-७४। १०. सा. १-३१७। ११. सा. ५-४।
१२. सा. १-८६।

पठवौ दूत भरत कौ ल्यावन बचन कह्यौ बिलखाइ।
दसरथ-बचन राम बन-गवने यह कहियौ अरथाइ।
आए भरत दीन ह्वै बोले, कहा कियो कैकइ माइ।
हम सेवक वै त्रिभुवनपति, कत स्वान सिंह बलि खाइ।
आजु अजोध्या जल नहिं अँचवौं मुख नहिं देखौं माइ।
सूरदास राघव बिछुरन तैं मरन भलौ दव लाइ[1]।

३. यह न होइ जैसे माखन-चोरी।
तब वह मुख पहिचानि, मानि सुख, देती जान, हानि हुति थोरी।
तब तिन दिननि कुमार कान्ह तुम, हमहुँ हुतीं अपनैं जिय भोरी।
तुम ब्रजराज बड़े के ढोटा, गोरस कारन कानि न तोरी।
अब भए कुसल किसोर कान्ह तुम, हौं भइ सजग समान किसोरी।
जात कहाँ बलि बाँह छुड़ाए मूसे मन-संपति सब मोरी।
नख-सिख लौं चित-चोर सकल अँग चीन्हे पर कत करत मरोरी।
इक सुनि सूर हरयौ मेरौ सरबस, औ उलटी डीलति सँग डोरी[2]।

४. (ऊधौ) इन बतियनि कैसे मन दीजै।
बिनु देखे वा स्याम सुँदर के पल-पल ही तन छीजै।
जो करि आनि हमारैं दीनौं सो अपनैं कर लीजै।
बाँचि सुनावहु लिख्यौ कहा है, हम बाँचत यह भीजै।
बड़ौ मतौ है जोग तिहारे, सो हमरैं कह कीजै।
अच्छर चारिक आनि सुनावहु तिनहिं त्रास करि जीजै।
उर की सूल तबै भल निकसै नैन बान जौ कीजै।
सूरदास प्रभु प्रान तजति हौं मोहन मिलैं तौ जीजै[3]।

४. कैसे करि आवत स्याम इती।
मन-क्रम-बचन और नहिं मेरैं पद-रज त्यागि हिती।
अंतरजामी यहौ न जानत जो मो उरहिं बिती।
ज्यौं जुवारि रस-बींधि, हारि गथ, सोचत पटकि चिती।
रहत अवज्ञा होइ गोसाईं चलत न दुखहिं मिती।
क्यों बिस्वास करहिगो कौरौ, सुनि प्रभु कठिन कृती।
इतर नृपति जिहि उचित निकट करि देति न मूठि रिती।
छुटत न अंसु नितहि कृपन कैं, प्रीति न सूर रिती[4]।

उक्त उदाहरण 'सूरसागर' के विभिन्न स्कंधों और प्रसंगों से संकलित हैं। इनमें अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की संख्या तो रेखांकित तत्सम शब्दों से अधिक है ही, साथ ही सभी पद भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी हैं। 'सारावली' में भी इस प्रकार

१. सा. ९-४७। २. सा. १९३१। ३. सा. ३७१७। ४. सा. ११-१।

की भाषा के अनेक उदाहरण मिलते हैं यद्यपि उसका कोई सुसंपादित संस्करण न होने से नवलकिशोर और वेंकटेश्वर प्रेसों के 'सूरसागरों' के आरंभ में प्रकाशित 'सारावलियों' से ही काम चलाना पड़ता है जिनमें अनेक अर्द्धतत्समों को असावधानी से तत्सम रूपों में लिखा गया है। फिर भी 'सारावली' के निम्नलिखित अवतरणों की भाषा[1], किसी सीमा तक, 'सूरसागर' से उद्धृत उक्त पदों की भाषा से मिलती-जुलती है।

१. जसुमति माय धाय उर लीन्हों राई-लोन उतारो।
लेत बलाय रोहनी नीकैं सुंदर रूप निहारो।
कबहुंक कर करताल बजावत नाना भाँति नचावत।
कबहुँक दधि-माखन के कारन आछी आर मचावत[2]।

२. गोपिनि सों बिनती करि कहियो नित प्रति मन सुध करियो,
बिरह-बिथा बाढ़ै जब तन में तब तब मोहिं चित धरियो।
पाती लिखी आप कर मोहन बनबासी सब लोग।
मात जसोदा पिता नंद जू बाढ़्यो बिरह-बियोग।
धौरी धूमर कारी काजर मैंन मजीठी गाय।
ताको बहुत राखियो नीकैं उन पोष्यो पैं प्याय।
बन में मित्र हमारो इक हैं हम ही सों है रूप।
कमल नैंन घनस्याम मनोहर सब गोधन को भूप।
ताको पूज बहुत सिर नइयो अरु कीजो परनाम।
उन हमरो ब्रज सबहिं बचायो सब बिधि पूरे काम[3]।

३. भोर भये उठि चले भवन को हरि कछु इनहि न दीनों।
ताको हरष सोक निज मन में मुनिवर कछू न कीनों।
भली भई हरि दरसन पायो तन को ताप नसायो।
दुर्बल बिप्र कुचील सुदामा ताको कंठ लगायो।
धन्य धन्य प्रभु की प्रभुताई मोपैं बरनि न जाई।
सेष सहस मुख पार न पावत निगम नेति कहि गाई[4]।

'सूरसागर' के उक्त पूरे पद अथवा 'सारावली' के एक ही प्रसंग के कुछ अंश जैसे उद्धृत कर दिये गये हैं, 'साहित्यलहरी' की भाषा के अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द-प्रधान वैसे पूर्ण उद्धरण देना संभव नहीं है। कारण यह है कि इसके दृष्टकूटों में थोड़े से तत्सम शब्दों की अनेक आवृत्तियों से ही कवि ने नये नये अर्थ निकालने का प्रयत्न किया है और

---

१. 'सारावली' के उक्त तीनों अवतरणों के मूल पाठ में दिये गये यशुमति, व्रज, यशोदा, वृष, शेष शब्द यहाँ किंचित् परिवर्तन के साथ दिये गये हैं—लेखक।

२. सारा. न०. कि. पृ. १७। ३. सारा. न०. कि. पृ. २१। ४. सारा. न. कि. पृ. २७।

वे अर्थ भी सरलता से नहीं खुलते। अतएव उक्त अवतरणों से मिलती-जुलती भाषा के उदाहरण 'साहित्यलहरी' के कुछ पदों की प्रायः प्रारंभिक पंक्तियों में ही मिलते हैं; यथा—

१. आज अकेली कुंजभवन में बैठी बाल बिसूरत।[1]

२. आज सखिनि सँग सुरुच साँवरी करत रही जल केलि।
आइ गयो तहाँ सरस साँवरो प्रेम पसारन वेलि[2]।

३. पिय बिनु बहत बैरिन बाय।
मदन बान कमान ल्यायो करषि कोप चढ़ाय[3]।

४. सजनी जो तन वृथा गँवायो।
नंदनँदन ब्रजराजकुँवर सों नाहक नेह लगायो[4]।

५. जब ब्रजचंद-चंदमुख लखिहै।
तब यह बान मान की तेरी अंगन आपु न रखिहै[5]।

'सूरसागर', 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त तत्सम शब्द रेखांकित कर दिये गये हैं, शेष में से कुछ विदेशी शब्दों को छोड़कर, सब शब्द अर्द्धतत्सम और तद्भव हैं जिनको सम्मिलित रूप से ब्रजभाषा की, परंपरा से प्राप्त और अर्जित, संपत्ति मानना चाहिए। उक्त अवतरणों के भाषा-रूप के संबंध में एक रोचक बात यह है कि तत्सम शब्दों की संख्या लगभग बीस प्रतिशत है और वे भी ध्वनि या उच्चारण की दृष्टि से बहुत सरल हैं। सूर-काव्य का लगभग आधा अंश इसी भाषा-रूप में लिखा गया है।

पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द—

सूरदास द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं वे पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से होते हुए ब्रजभाषा तक पहुँचे थे। उनके अतिरिक्त कुछ शब्द सूरदास की भाषा में उसी रूप में मिलते हैं जिस रूप में वे पाली, प्राकृत अथवा अपभ्रंश में प्रयुक्त होते थे और इनके मूल रूप में अपना लिये जाने का कारण था इनकी ध्वनि का ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप होना। सूरदास के काव्य में प्रयुक्त ऐसे कुछ शब्द यहाँ संकलित हैं—

असवार[6] < अश्ववार या अश्वपाल। उज्जल[7] < उज्ज्वल। ऊसर[8] < ऊषर। केहरि[9] < केसरी। खार[10] < क्षार। गय[11] < गज। गाहक[12] < ग्राहक। घर[13] < गृह।

---

१. लहरी०, पद ३। २. लहरी०, पद ७। ३. लहरी०, पद ३२। ४. लहरी०, पद ४६। ५. लहरी०, पद ९७। ६. सा. ८-८। ७. सा. १-३३८। ८. सा. ६-५। ९. सा. १०-९९। १०. सा. ९-१०७। ११. सा. १-२२६। १२. सा. वें ३२४४। १३. सा. वें २२०५९।

चिहुर[1] <चिकुर । जस[2] <यशस् । ताव[3] <ताप । फटिक[4] <स्फटिक । बिज्जु[5] <विद्युत । सायर[6] <सागर आदि ।

हिन्दी बोलियों के शब्द—

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में व्रजभाषा के साथ-साथ उसके निकटवर्ती प्रदेश की जिन बोलियों का विकास हो रहा था उनमें चार प्रमुख थीं—अवधी, खड़ीबोली, कन्नौजी और बुन्देलखंडी । इनमें प्रथम दो तो विकसित होकर स्वतंत्र भाषा का पद प्राप्त कर सकीं, अंतिम दोनों, एक प्रकार से, व्रजभाषा में ही समा गयीं । इन बोलियों से व्रजभाषा का शब्द-संबंधी आदान-प्रदान बराबर चलता रहा और व्रजभाषा-कवियों की, जिनमें सूरदास भी हैं, रचनाओं में इनके शब्द यत्र-तत्र मिल जाते हैं ।

अवध के शब्द—व्रजभाषा के साथ-साथ अवधी का भी विकास हुआ । सूफी कवियों के अतिरिक्त रामभक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास ने उसके मस्तक पर अपना वरद हस्त रखकर उसे सदा के लिए अमर कर दिया । गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव के पूर्व तक अवधी और व्रजभाषा की स्थिति बहुत-कुछ समान थी । पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं तथा समकालीन विदेशी भाषाओं के प्रति दोनों की नीति में भी बहुत कुछ समानता थी । गोस्वामी जी ने जहाँ अवधी को अपनाकर उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया, वहीं व्रजभाषा में काव्य-रचना करके इसकी लोकप्रियता-वृद्धि और महत्ता-स्थापन में महत्वपूर्ण योग देकर, परोक्ष रूप से, अवधी का क्षेत्र भी सीमित-संकुचित कर दिया । संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश तथा अरबी, फारसी और तुर्की के जो तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्द उस समय तक प्रचलित हो गये थे, दोनों पर व्रजभाषा और अवधी का समान अधिकार था और दोनों के कवियों ने इनका निस्संकोच प्रयोग किया । उस समय शब्दकोश समृद्ध करने और व्यंजना-शक्ति बढ़ाने की इन भाषाओं में जैसे होड़ सी लग रही थी; इसीलिए अवधी ने व्रजभाषा के और व्रजभाषा ने अवधी के काव्योपयोगी प्रयोगों को भी सहर्ष अपना लिया । दोनों भाषाओं में पर्याप्त साहित्य-रचना हो जाने के पश्चात शब्दों का आदान-प्रदान बढ़ता ही गया । परन्तु व्रजभाषा के पक्ष में एक ऐसी बात थी कि अवधी से उसे आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हो गया । व्रजभाषी क्षेत्र में तो अवधी में रचना करनेवाले कवियों की संख्या नहीं के बराबर रही, लेकिन अवधी-क्षेत्र-वासी अनेक कवियों ने व्रजभाषा को काव्य-रचना के लिए सादर ग्रहण किया जैसा गोस्वामी जी कर चुके थे । इनकी व्रजभाषा में अवधी के प्रयोगों का आ जाना स्वाभाविक ही था ।

सूरदास ने न तो अवधी-भाषी क्षेत्र की कभी यात्रा की थी और न उन्होंने उसके साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया था जिससे इसका प्रत्यक्ष प्रभाव उनकी भाषा पर

---

१. सा. ९-७३ । २. सा. १-४ । ३. सा. ३-११ । ४. सा. न. कि. पृ. ३० ।
५. सा. १०-९१ । ६. सा. १-१२५ ।

पड़ता। अतएव उनकी रचना में अवधी के ऐसे प्रयोग ही मिलते हैं जो इतने सरल थे कि व्रजभाषी क्षेत्र में सरलता से प्रचलित हो गये थे; साथ-साथ अवधी की प्रवृत्ति का प्रभाव भी सूरदास के अनेक शब्द-रूपों पर दिखायी देता है; जैसे--

अस--तो को अस त्राता जु अपुन करि कर कुठावँ पकरैगो[1]। धन्य जसोदा जिन जायो अस पूत[2]।

आहि--उमा, आहि यह सो मुँडमाल[3]। तृनावर्त प्रभु आहि हमारो[4]।

इह--तासों भिरहु तुमहिं मो लायक इह हेरनि मुसकानि[5]।

इहाँ--इहाँ आइ सब नासी[6]। इहाँ अपसगुन होत नित गए[7]। ते दिन बिसरि गए इहाँ आए[8]।

उहाँ--उहाँ जाइ कुरुपति बल जोग। दियौ छाँड़ि तन कौं संजोग[9]।

ऊँच--महाँ ऊँच पदवी तिन पाई[10]।

कनियाँ--ता पाछै तू कनियाँ लै री[11]। हरि किलकत जसुदा की कनियाँ[12]। लाल कौं कबहुँक कनियाँ लैहौं[13]।

कीन--नृप व्रत पूरन कीन[14]। मुकुट कुंडल किरनि रवि छवि परम बिगसित कीन[15]।

गोर--मनमोहन पिय दूल्हा राजत दुलहिन राधा गोर[16]। द्वै ससि स्याम नवल घन द्वै कीन्हे बिधि गोर[17]।

छोट--बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बड़ो को छोट[18]।

जुआर--मानौ हार्‌यौ हेम जुआर[19]।

जुवारी--ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी[20]।

तोर--पावक परौं सिंधु महँ बूड़ौं नहिं मुख देखौं तोर[21]।

दुवार--देखन रूप मदन मोहन कौ नंद दुवार खरीं[22]।

पियासे--रचि रुचि प्रेम पियासे नैनन क्रम क्रम बलहिं बढ़ावत[23]।

बड़--सजि आयुध बड़-छोट[24]।

बियारी--कमल-नैन हरि करौ बियारी[25]।

उक्त प्रयोगों में कनियाँ-जैसे शब्द अवधी भाषी क्षेत्र में ही अधिक प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त अस, ऊँच, गोर, छोट, तोर, बड़ आदि रूप अवधी की अकारात प्रवृत्ति के आधार पर निर्मित हैं। इस प्रकार पियारे, बियारी-जैसे शब्दों में 'इ' के पश्चात् 'आ'

---

१. सा. १-७५। २. सा. १०-३६। ३. सा. १-२२६। ४. सा. वें. २५७४। ५. सा. २४२०। ६. सा. १-१९२। ७. सा. १-२८६। ८. सा. १-३२०। ९. सा. १-२८४। १०. सा. १-२४। ११. सा. १०-५५। १२. सा. १०-८१। १३. सा. वें. २५५०। १४. सा. ९-२६। १५. सा. वें. २३५८। १६. सारा. १०६६। १७. सा. वें. १९१९। १८. सा. १-३२। १९. सा. ३१४०। २०. सा. ४०७३। २१. सा. ९-८३। २२. सा. २८७३। २३. सा. ३२०१। २४. सा. वें. २७६९। २५. सा. १०-२२७।

का; एवं जुआर, जुवारी, दुवार आदि में 'उ' के पश्चात् 'आ' का उच्चारण भी अव[धी] की प्रवृत्ति का द्योतक है। सूरदास के काव्य में ऐसे प्रयोग यद्यपि एक प्रतिशत से भी [कम] हैं; परंतु इनकी विशेषता यह है कि रूप की दृष्टि से सुगम होने के कारण ये काव्यभा[षा] के उपयुक्त थे और इनसे मिलते-जुलते रूप व्रजभाषा में प्रचलित भी थे। फलस्व[रूप] परवर्ती व्रजभाषा-कवियों का ध्यान उनके भिन्न-भाषत्व की ओर जा ही नहीं स[का] और उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक उन्हें अपनी भाषा में स्थान तो दिया ही, उन्हीं के अनु[करण पर] अनेक शब्दों का निर्माण करके भाषा को अधिक व्यापक भी बनाया। अवधी-जै[सी] विकासोन्मुख भाषा से होड़ में आगे बढ़ने के लिए इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यक[ता] भी थी। सूरदास ने इस दिशा में एक नीति निर्धारित की। यह भी उनके महत्व [का] एक कारण है।

खड़ीबोली के शब्द—खड़ीबोली का जन्म यद्यपि व्रजभाषा और अवधी के सा[थ] ही हुआ; परंतु संभवतः विदेशियों के घनिष्ठ संपर्क में आनेवाले क्षेत्र के निवासियों [की] भाषा होने के कारण चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी तक व्रजभाषा और अवधी की त[रह] उसका स्वतंत्र विकास न हो सका। खड़ीबोली इन शताब्दियों में सामान्य व्यवहा[र] की भाषा के रूप में ही रही और उसमें मौखिक रचना ही अधिक हुई; कि[सी] प्रतिष्ठित कवि ने उसे स्वतंत्र काव्य-भाषा का रूप देने का प्रयत्न नहीं किया। अतए[व] व्रजभाषा-काव्य में खड़ीबोली की पद और वाक्यांश-रचना का भी कहीं-कहीं प्रभा[व] दिखायी देता है।

नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में 'नित्य कीर्तन' शीर्षक के अंतर्ग[त] सूर-स्याम छाप के साथ एक लंबा पद प्रकाशित हैं, जिसकी भाषा खड़ीबोली से बहु[त] प्रभावित है। पद इस प्रकार है—

मैं जोगी जस गाया रे बाबा मैं जोगी जस गाया।
तेरे सुत के दरसन कारन में (मैं) काशी से धाया।
परब्रह्म पूरण पुरुषोत्तम सकल लोक जा माया।
अलख निरंजन देखन कारन सकल लोक फिर आया।
धन तेरो भाग जशोदा रानी जिन ऐसा सुत जाया।
गुनन बड़े छोटे मत भूलो अलख रूप घर आया।
जो भावै सो लीज्यो राबल करो आपनी दाया।
देहु अशीश मेरे बालक कों अबिचल बाढ़े काया।
ना मैं लेहों पाट-पटंबर ना मैं कंचन माया।
मुख देखूं तेरे बालक को यह मेरे गुरू ने लखाया।
कर जोरे बिनवै नंदरानी सुन जोगिन के राया।
मुख देखन नहिं देहो रावल बालक जात डेराया।
काला पीला गोर रूप है बाघंबर ओढ़ाया।
कहु डायन की दृष्टि लगे कहुँ बालक जात दिठाया।

जाकी दृष्टि सकल जग ऊपर सो क्यों जात दिठाया।
तीन लोक का साहब मेरा तेरे भवन छिपाया।
कृष्णलाल को ल्याई जसुदा कर अंचल मुख छाया।
कर पसार चरनन रज लीनी सींगीनाद बजाया।
अलख अलख कर पाय छुए हैं हँस बालक किलकाया।
पाँच बेर परकर्मा करके अति आनंद बढ़ाया।
हरि की लीला हर मन अटक्यो चित नहिं चलत चलाया।
अखिल ब्रह्मांड के नायक कहिए नंद घरहि प्रगटाया।
इंद्र चंद्र सूरज सारद सनकादिक पार न पाया।
लागि श्रवन मंत्रादि जो सुनाया हँसि बालक मुसकाया।
कौन देश में जोगी हो तुम कौन नाम धरवाया।
कहाँ बास यह कहत जशोदा सुन जोगिन के राया।
तुम ही ब्रह्मा, तुमही बिष्णू, तुमही ईश कहाया।
तुम विश्वम्भर तुम जगपालक तुम ही करत सहाया।
सूर श्याम कहै सुनौ जशोदा शंकर नाम बताया[1]।

यह पद वेंकटेश्वर प्रेस और नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागरों' में नहीं है; इसलिए इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इन 'सूरसागरों' में इस प्रकार की भाषा का कोई अन्य पद भी नहीं मिलता; इससे यह संदेह और भी पुष्ट होता है। परन्तु 'सूर-निर्णय' नामक ग्रंथ में सूरदास की खड़ीबोली मिश्रित भाषा का उदाहरण देने के लिए यही लम्बा पद उद्घृत किया गया है[2]। दोनों पदों में सामान्य पाठ-भेद तो है ही; परन्तु अन्तर की मुख्य बात यह है कि नवलकिशोर प्रेस के उक्त पद में जहाँ कवि की छाप 'सूर-स्याम' है, वहाँ 'सूर-निर्णय में 'सूरदास' ही मिलती है। इस ग्रंथ में न तो यह लिखा है कि पद कहाँ से उद्धृत किया गया हैं और न अन्य पदों से इसकी भाषा के भिन्न होने का कारण ही बताया गया है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की सम्मति में यह पद 'सूरसागर' के रचयिता का हो ही नहीं सकता। नवलकिशोर प्रेस के 'सूरसागर' में इस पद के ठीक पहले 'परमानंद' छाप के साथ एक पद और दिया गया है जिसकी भाषा भी उक्त पद से मिलती-जुलती हैं जैसा कि उसकी निम्नलिखित प्रथम और अंतिम पंक्तियों से स्पष्ट होता है—

देखो री यह कैसा बालक रानि यशोमति जाया है।
× × ×
परमानंद कृष्ण मनमोहन चरन कमल चित लाया है[3]।

---

१. सूरसागर, न. कि. प्रेस., संवत १९२०, पृ. १५-१६ पद, १०५।
२. श्री द्वारकादास पारीख औरश्री प्रभुदयाल मीतल, 'सूर-निर्णय', पृ. २८२।
३. सूरसागर, न. कि. प्रेस., सं. १९२०, पृ० १५, पद १०४।

पूरा पद १७ पंक्तियों का है, जिसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। इसी ढंग की भाषा में 'सूरश्याम' छापवाला पद है जो 'राग भैरव' के उदाहरण-स्वरूप दिया गया है। जान पड़ता है कि अष्टछापी परमानन्ददास से इतर परमानन्द नाम के किसी खड़ी-बोली के प्रेमी सज्जन ने इन पदों की रचना की थी और उनमें से एक-दो 'सूरश्याम' छाप डालकर सूरदास के पदों में और 'परमानन्द' नाम देखकर अष्टछापी परमानन्द के पदों में मिला दिये गये हैं। यह भी संभव है कि सूरदास के किसी पद के भावार्थ को लेकर किसी साधारण लिपिकार, गायक या साधु ने उसे यह रूप दे दिया हो। जो हो, सूरदास की भाषा में खड़ीबोली के बहुत कम प्रयोग मिलते हैं। बात यह है कि ब्रजभाषा की क्रियाओं और विभक्तियों से युक्त वाक्य खड़ीबोली से भिन्न हो भी जाते हैं। इसलिए सूरदास द्वारा प्रयुक्त कीजै-कीजिए, गाइये, पाइये, हुए आदि शब्द उनकी भाषा पर खड़ीबोली के प्रभाव-सूचक माने जा सकते हैं; जैसे-मैं-मेरी कबहुँ नहिं कीजै, कीजै पंच सुहातौ[1]। हरि गुन गाइयै[2]। पार नहिं पाइयै[3]। पै तिन हरि दरसन नहिं हुए[4]।

इनके अतिरिक्त सूर-काव्य में कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जो ज्यों के त्यों अथवा बहुत ही कम हेर-फेर के साथ खड़ीबोली काव्य में प्रयुक्त हो सकते हैं। ऐसे वाक्यों में कुछ तो क्रियारहित हैं और कुछ में क्रिया भी वर्तमान है। क्रियारहित वाक्यों के कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं––वासुदेव की बड़ी बड़ाई[5]। यह सीता, जो जनक की कन्या, रमा आपु रघुनंदन रानी[6]। हमारी जन्मभूमि यह गाँउ[7]। तुम दानव हम तपसी लोग[8]। मेरे माई, स्याम मनोहर जीवन[9]। सूरदास प्रभु तिनकी यह गति, जिनके तुमसे सदा सहायक[10]। सूरदास प्रभु अंतरजामी। ब्रह्मा कीट आदि के स्वामी[11]। सुन्दरता-रस-गुन की सीवाँ, सूर राधिका स्याम[12]।

इन वाक्यों में प्रयुक्त आपु, स्याम, अंतरजामी, सीवाँ आदि के स्थान पर क्रमशः आप, श्याम, अंतर्यामी और सीमा कर दिया जाय तो ये खड़ीबोली कविता से ही उद्धृत जान पड़ेंगे। इनमें क्रिया-शब्दों का न होना भी खटकता नहीं है; क्योंकि काव्य में ऐसे वाक्य बराबर प्रयुक्त होते रहते हैं।

दूसरे वर्ग में वे वाक्य आते हैं जो क्रिया-युक्त हैं; जैसे––विभीषन वे लें[13]। हरि हँसि बोले बैन, संग जो तुम नहिं होते[14]। अपने घर के तुम राजा हो[15]। रास समय कालिंदी के तट तब तुव वचन न माने[16]। खड़ीबोली के आदर्श वाक्य बनाने के लिए दो-एक शब्द तो इन उदाहरणों के बदलने पड़ेंगे; परन्तु इनमें प्रयुक्त क्रिया-रूप ज्यों के त्यों आज भी खड़ीबोली में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से 'बोले'–जैसे रूप ब्रजभाषा में भी बराबर आते हैं।

१. सा. १-३०२। २. सा. ३-११। ३. सा. ३-११। ४. सा. ४-९।
५. सा. १-३। ६. सा. ९-११६। ७. सा. ९-१६५। ८. सा. ९-१७४।
९. सा. १०-१५४। १०. सा. ८६३। ११. सा. ८९४। १२. सा. १०-४५।
१३. सा. ९-९८। १४. सा. ४३१। १५. सा. १५११। १६. सा. ३७०५।

कन्नौजी और बुंदेलखंडी के शब्द—ये बोलियाँ न तो स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हुईं और न इनमें विशेष साहित्य ही रचा गया ; प्रत्युत इनके बोलनेवालों ने व्रजभाषा में ही साहित्य-रचना की जिसमें स्थानीय प्रयोग आ जाना स्वाभाविक ही था। सूरदास की भाषा में भी इन बोलियों के कुछ प्रयोग मिलते हैं । उदाहरणार्थ भूतकालिक क्रिया रूप 'हुतौ' और उसके विकृत रूप 'सूरसागर' में अनेक पदों में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—बूझति जननि, कहाँ हुती प्यारी[1] । अरजुन के हरि हुते सारथी[2] । असुर द्वै हुते बलवंत भारी[3] । यहाँ हुतौ इक सुक कौ अंग[4] । इसी प्रकार 'इबी' या 'बी' से अंत होनेवाले क्रिया-प्रयोगों पर भी बुदेलखंडी का प्रभाव मिलता है; जैसे—तब जानिबी किसोर जोर रुपि, रहौ जीति करि खेत सबै फर[5] । प्रभु हित सूचित कै वेगि प्रगटबी तैसी[6] । इतने में सब बात समझबी चतुर सिरोमनि नाह[7] । नीचे के उदाहरण में 'कोंपर' पात्र भी विशेष रूप से बुदेलखंड में प्रचलित है—

दधि-फल-दूब कनक-कोंपर भरि, साजत सौंज बिचित्र बनाई[8] ।

देशी भाषाओं के शब्द—

व्रजभाषी क्षेत्र के चारों ओर जो भाषाएँ बोली जाती थीं उनमें अवधी, कन्नौजी और बुदेलखंडी से व्रजभाषा का घनिष्ठ संबंध था और उनकी प्रवृत्ति में भी कुछ-कुछ समानता थी। अन्य निकटवर्ती भाषाओं में से पंजाबी और गुजराती के कुछ प्रयोग सूरदास की भाषा में मिलते हैं; जैसे—लोग कुटुंब जग के जे कहियत पैला सबहि निदरिहौं[9] । जौ जग और बियौ कोउ पाऊँ[10] । इतनिक दूर जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी[11] । इनमें 'पैला' और 'बियौ' गुजराती के प्रयोग हैं तथा 'प्यारी' पंजाबी का शब्द है।

विदेशी भाषाओं के शब्द—

अरबी, फारसी और तुर्की—इन तीन विदेशी भाषाओं का सूरदास के प्रादुर्भाव-काल में विशेष प्रचार था। इनको आश्रय देनेवाले विदेशी शासक थे। यों तो विदेशी साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ इन भाषाओं का प्रचार भी चौदहवीं शताब्दी के अंत तक उत्तरी भारत में विशेष, और दक्षिण में सामान्य, रूप से हो गया था; परंतु वस्तुतः इनका गढ़ दिल्ली-आगरा का निकटवर्ती वह प्रदेश था जो व्रजभाषा का भी क्षेत्र कहा जा सकता है । अतएव अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तरी भारत में सामान्य बोल-चाल की भाषा में प्रचलित हो गये थे। यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओं का विधिवत् अध्ययन न करनेवाले, व्रजभाषा और अवधी के तत्कालीन

---

१. सा. ७:८ । २. सा. १-२६४ । ३. सा. ८-११ । ४. सा. १-२२६ ।
५. सा. २४५५ । ६. सा. २८५२ । ७. सा. ३३६६ ८. सा. ९-१६९ ।
९. सा. १९४३ । १०. सा. १-२०१ । ११. सा. ३९२९ ।

कवियों ने भी इनका स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अप भाषाओं को व्यावहारिक रूप देने में वे समर्थ हो सके।

भाषा का किसी देश की संस्कृति और जनता की विचार-धारा से घनिष्ठ सं होता है। तत्कालीन कवियों द्वारा इन विदेशी भाषाओं के शब्दों का अपनाया जा भारतीय संस्कृति और जन-मनोवृत्ति की उदारता ही सूचित करता है। विदेशियों यहाँ की जनता और उसकी भाषा के साथ कैसा भी व्यवहार किया हो, हमारे कवि ने विदेशी शब्दों को कभी अछूत नहीं समझा और जिन अवधी और व्रजभाषा के माध्य से भक्त-कवियों ने अपने अपने आराध्यों की परम पावन लीलाओं का गान कि उनमें अनेक विदेशी शब्दों को भी सादर स्थान दिया गया। यह आदर्श भारतीय सांस्कृति सहिष्णुता का एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है।

इन विदेशी भाषाओं —अरबी, फारसी और तुर्की—के अनेक शब्द संस्कृत की त अपने मूल या तत्सम रूप में मध्यकालीन कवियों की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं और अं अर्द्धतत्सम रूप में। यह रूप-परिवर्तन भी किसी विद्वेष के कारण नहीं किया गया थ क्योंकि यही नीति उन्होंने देव-वाणी संस्कृत के शब्दों के साथ बरती थी। वस्तु सभी भाषाओं की प्रकृतिगत कुछ विशेषताएँ होती हैं जिनकी रक्षा करना उनके कवि का कर्तव्य हो जाता है। व्रजभाषा-कवियों ने भी विदेशी भाषाओं के शब्दों को अ तत्सम रूप देकर उसकी प्रकृति की रक्षा का ही प्रयत्न किया। सूरदास के काव्य में अरब फारसी और तुर्की के शब्द तत्सम और अर्द्धतत्सम, दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुए हैं।

अरबी के शब्द—अरब और भारत का संबंध बहुत पुराना है। उस देश भारतीय विद्वानों के पहुँचने और कुछ संस्कृत ग्रंथों के अरबी में अनुवाद करने के उल्ले आठवी शताब्दी के मिलते हैं[1]। सन् ९३ हिजरी में मुहम्मद बिन कासिम ने भारत आक्रमण करके मुलतान से कच्छ तक और उधर मालवे की सीमा तक अधिकार लिया[2]। इस प्रकार लगभग सारा सिंधुप्रदेश उसके अधिकार में आ गया। इ साम्राज्य के मुलतान और मनसुरा (सिंध) के प्रदेशों पर अरबों का अधिकार सुलता महमूद की चढ़ाई तक बना रहा[3]। इन तीन-चार सौ वर्षों के संपर्क के फलस्वरूप अरबी बहुत से शब्दों से भारतीयों का परिचित हो जाना स्वाभाविक ही था। पश्चात्, भारत मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना होने पर दिल्ली के दरबार में अरबी साहित्य आदर बढ़ा, क्योंकि यही उनकी प्रमुख धार्मिक भाषा थी जिसके प्रति उनकी भक्ति असंगत नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे इस विदेशी भाषा के पर्याप्त श

---

१. बाबू रामचंद्र वर्मा द्वारा अनुवादित 'अरब और भारत के संबंध' नाम पुस्तक (पृ. १०२) में उद्धृत—क. किताबुल् हिंद, बैरूनी, पृ. २०८ (लंदन) और ख. अलबारुल् हुक्मा, किफ्ती, पृ. १७७ (मिश्र)।

२. बाबू रामचंद्र वर्मा, 'अरब और भारत का संबंध', पृ. १४।

३. बाबू रामचंद्र वर्मा, 'अरब और भारत का संबंध', पृ. २४७।

व्यवहार में प्रयुक्त होने लगे। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि अधिकांश अरबी शब्द फारसी से होते हुए हिंदी में आये;[1] क्योंकि इस भाषा पर अरबी का विशेष प्रभाव था। जो हो, दो-तीन सौ वर्षों में इसके अधिकांश शब्द उत्तरी भारतीय नवभाषाओं में इस प्रकार घुल-मिल गये कि कवियों ने निसंकोच उनका प्रयोग आरंभ कर दिया। सूरदास की भाषा में अरबी के जो शब्द मिलते हैं उनको तत्सम और अर्द्धतत्सम, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

अरबी के तत्सम शब्द—दैनिक व्यवहार में जो छोटे-छोटे और सरल रीति से उच्चरित अरबी शब्द प्रचलित हो गये थे, उन्हें कवियों ने मूल या तत्सम रूप में ही अपना लिया, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं थी। सूर-काव्य में इस प्रकार के जो शब्द मिलते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

अबीर—उड़त गुलाल अबीर जोर तहँ विदित दीप उजियारी।[2]
अमल—आनँदकंद चंदमुख निसि दिन अवलोकत यह अमल पर्‌यौ[3]।
अमीन—नैन अमीन अधर्मिनि कैं बस जहँ को तहाँ छयौ[4]।
असल—करि अवारजा प्रेम प्रीति कौ असल तहाँ खतियावै[5]।
कलई—देखौ माधौ की मित्राई। आई उघरि कनक कलई सी दै निज गए दगाई[6]।
आई उघर प्रीति कलई सी जैसी खाटी आमी[7]।
कसब—आन देव की भक्ति-भाइ करि कोटिक कसब करैगौ[8]।
खसम—सूरदास प्रभु झगरो सीख्यौ ज्यौं घर खसम गुसैयाँ[9]।
जमा—साबिक जमा हुती जो जोरी मिनजालिक तल ल्यायौ[10]।
जवाब—सूर आप गुजरान मुसाहिब लै जवाब पहुँचावै[11]।
सूर स्याम मैं तुम्हैं न डरैहौं जवाब कौ जवाब दैहौं।[12]
माल—तुम जानति मैं हूँ कछु जानत जो जो माल (=सामान, असबाब) तुम्हारे[13]।
अल्प चोर बहु माल (=धन-संपत्ति) लुभाने संगी सबन धराए[14]।
मुजरा- गाइ चरावत ग्वाल ह्वै आयौ मुजरा देन[15]।
मुहकम—सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीन्हो मुहकम लाइ किवार[16]।
मुहर्रिर—पाँच मुहर्रिर साथ करि दीने तिनकी बड़ी बिपरीति[17]।
मुसाहिब—सूर आप गुजरान मुसाहिब लै जवाब पहुँचावै[18]।
मौज—मनसानाथ मनोरथ पूरन सुखनिधान जाकी मौज (=उमंग) घनी[19]।
सतर—हम सों सतर (=क्रुद्ध) होत सूरज प्रभु कमल देहु अब जाइ[20]।

---

१. श्री ए. ए. मैकडाँनेल, 'इंडियाज़ पास्ट', पृ. २०२।
२. सा. वें २३९१। ३. सा. वें ८९१। ४. सा. १-६४। ५. सा. १-१४२।
६. सा. ३१८६। ७. सा. वें. ३:८०। ८. सा. १-७५।
९. सा. ७३४। १०. सा. १-१४३। ११. सा. १-१४२। १२. सा. वें. ८४३।
१३. सा. १५२६। १४. सा. २२७०। १५. सा. ४१८८। १६. सा. वें. १-८५।
१७. सा. वें. ९८५। १८. सा. १-१४२। १९. सा. १-३९। २०. सा. ५३७।

अरबी के अर्द्ध तत्सम शब्द—विदेशी भाषा होने के कारण अरबी का उच्चार स्वभावतः व्रजभाषा से भिन्न था। उसकी वर्णमाला में कुछ वर्ण ऐसे थे जिन उच्चारण व्रजभाषा-भाषियों को सुगम नहीं प्रतीत होता। अतएव अरबी तत्सम शब्दों का विदेशीपन दूर करने के लिए, उनके अर्द्धतत्सम रूप बनाने की आ श्यकता थी जिनका उच्चारण अपेक्षाकृत सुगम और व्रजभाषा शब्दों के अधिक नि हो जिससे नयी पीढ़ी उन्हें अपनी भाषा का ही अंग समझे। सूरदास की भाषा में अर के तत्सम शब्दों की अपेक्षा ऐसे परिवर्तित रूपों की ही अधिकता है; यथा—

अकल<अक़्ल—इंद्र ढीठ बलि खाइ हमारी देखौ अकल गमाई[1]।

अबिर<अबीर—चोवा चंदन अबिर गलिनि छिरकावन रे[2]।

अरस<अर्श—बहुरि अरस (=महल) तैं आनि कै तब अंबर लीजै।··· । अ नाम है महल को जहाँ राजा बैठे[3]।

उजीर<वज़ीर—पाप उजीर कह्यो सोइ मान्यौ धर्म सुधन लुटयौ[4]।

कसरि<क़सर—अब कछू हरि कसरि नाहीं, कस लगावत बार[5]।

कसाई<क़स्साब—श्रीधर, बाम्हन करम कसाई[6]।

कागज<क़ाग़ज़—भीजि बिनसि जाई छन भीतर ज्यौं कागज की चोली री[7]।

कागद<क़ाग़ज़—तिनहूँ चाहि करी सुनि औगुन कागद दीन्हें डारि[8]। सजल कागद तैं कोमल किहिं बिधि राखै प्रान[9]।

कागर<क़ाग़ज़—रति के समाचार लिखि पठए सुभग कलेवर कागर[10]। मारि न बिघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर[11]। दीरघु नदी नाउ कागर को देखौ चढ़ि जात[12]। ब्याध गीध गनिका जिहिं का (=दस्तावेज) हौं तिहिं चिठी न चढ़ायो[13]।

कुलफ<कुफ़ल—काजर कुलफ मेलि मैं राखे पलक कपार दये री[14]।

कुल्ल<कुल—मुलजिम जोरै ध्यान कुल्ल कौ हरि सौं तहँ लै राखै[15]।

खता<ख़ता—सूरदास चरननि की बलि बलि कौन खता तैं कृपा बिसारी[16]।

खबरि<ख़बर—अपने कुल की खबरि (=पता, ध्यान) करौ धौं सकुच नहीं जिय आवति क्यों जू खबरि (=जानकारी) कहौ यह कीन्ही करत परस्पर ख्याल ज्ञान बुझाइ खबरि (=संदेश) दै आवहु एक पंथ द्वै काज किधौं सूर कोई ब्रज पठयौ आजु खबरि (=समाचार) कै पावत हैं द्वारावति पैठत हरि सौं सब लोगनि खबरि (=समाचार) जनाई

---

१. सा. वें. ९८५। २. सा. १०-१८। ३. सा. वें. २५७५। ४. सा. १-
५. सा. १-१९९। ६. सा. १०-५७। ७. सा. व. २०
८. सा. १-१९७। ९. सा. १-३०४। १०. सा. वें-२१
११. सा. १-९१। १२. सा. १-१९३। १३. सा. ३
१४. लहरी. उ. ७। १५. सा. १-२४। १६. सा. १-१६०। १७. सा. वें. ११
१८. सा. वें. २४७२ १९. सा. वें. २९२५। २०. सा. वें २९४६। २१. सा. वें. २१ उ.

खरच<ख़र्च—सूरदास कछु खरच न लागत राम नाम मुख लेत[१]।
खर्च<ख़र्च —हौं तो गयो हुतो गुपालहिं भेंटन और खर्च तंदुल गाँठी कौ[२]।
खवास<ख़वास—मोदी लोभ खवास मोह के द्वारपाल अहँकार[३]। कहि खवास कौं सैन दै सरपाँव मँगायो[४]।
खाली<ख़ाली—अरु जब उद्यम खाली (=व्यर्थ, निष्फल) परै[५]।
खयाल<ख़याल—औरे कहति और कहि आवति मन मोहन के परी ख्याल[६]।
ये सब मेरे ख्याल (=पीछे) परी हैं अब हीं बातनि लै निरुवारति[७]।
गरज<ग़रज़—प्रीति के बचन बाँचे बिरह अनल आँचे, अपनी गरज कौ तुम एक पाइ नाचे[८]।
गरीब<ग़रीब—स्याम गरीबनि हूँ के गाहक[९]।
गुलाम<ग़ुलाम—सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ सुनत सिरात हिये[१०]। सूर है नँद-नंद जू को लयो मोल गुलाम[११]।
जमानत<ज़मानत —धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै तातैं ठाकुर लूट्यौ[१२]।
जमानति<ज़मानत—सो मैं बाँटि दई पाँचनि कौ देह जमानति लीन्ही[१३]।
जहाज<जहाज़—नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज[१४]। जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै[१५]।
ज्वाब<जवाब— ज्वाब देति न हमहिं नागरि रही बदन निहारि[१६]। दीन्हो ज्वाब दई को चैहौ देखौ री यह कहा जँजाल[१७]।
डफ<दफ़—डफ झाँझ मृदंग बजाइ सब नंद-भवन गए[१८]। डिमडिमी पटह ढाल डफ बीणा मृदंग चँगतार[१९]।
तलफ<तलफ़ मनु पर्यंक तें परी धरनि धुकि तरँग तलफ नित भारी[२०]। दामिनि की दमकनि बूँदनि की झमकनि सेज की तलफ कैसे जीजियतु माई है[२१]।
दगा<दग़ा—सोवत कहा चेत रे रावन, अब क्यों खात दगा[२२]। सूरदास याही ते जड़ भए इन पलकन ही दगा दई[२३]।
मसक्कत<मशक़्क़त—काहे कौं हरि बिरद बुलावत बिन मसकत को तार्यौ[२४]।

---

१. सा. १-२९६। २. सा. वें. १० उ० ७१। ३. सा. १-१४१। ४. सा. वें. २४७६। ५. सा. ३-१३। ६. सा. वें. ११८३। ७. सा. वें. १३०८। ८. सा. वें. २००३। ९. सा. १-१९। १०. सा. १-१७१। ११. लहरी. ११८। १२. सा. १-१८५। १३. सा १-१९६। १४. सा. १-३६। १५. सा. १-१६८। १६. सा. वें. ८७९। १७. सा. वें ११११२। १८. सा. १०-२४। १९. सा. वें २४४६। २०. सा. वें २७२८। २१. सा. वें. २८२७। २२. सा. ९-११४। २३. सा. वें. २५३७। २४. सा. १-१३२।

मसखरा<मसख़रा--लंगर ढीठ गुमानी टूँडक महा **मसखरा** रूखा[1]।
मिलिक<मिल्क—यह ब्रज-भूमि सकल सुरपति सौं मदन मिलिक करि पाई[2]।
मुस्तौफी<मुस्तौफ़ी—चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी सरन गहूँ मैं काकी[3]।
लायक<लायक़—ऊधौ हम लायक सिख दीजै[4]।
सफरी<सफ़री– सफरी (अमरूद) चिरुआ अरुन खुबानी[5]।
साबिक<साबिक़--साबिक जमा हुती जो जोरी मिनजालिक तल ल्यायौ[6]।
हौंस<हवस--बोले सुभट, हौंस जनि मन करौ बन-बिहारी[7]।

फारसी के शब्द—अरब के समान फारस से भी भारत का संबंध बहुत पुराना हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में इसलामी शासन की नींव भारत में पड़ने पर फारसी भाषा का अध्ययन-अध्यापन भी भारत में आरंभ हो गया। शाही दरबारों में नौकरी पाने और शाहों के निकट संपर्क में आने के लोभ से अनेक हिन्दू भी इस भाषा में योग्यता प्राप्त करने को प्रवृत्त हुए और अधिकांश मुसलमान विद्वानों की तो इसमें अच्छी गति होती ही थी। इन सब बातों के फलस्वरूप फारसी के बहुत से शब्द तत्कालीन भारतीय भाषा में घुल-मिल गये और कालांतर में खड़ीबोली, व्रजभाषा और अवधी के कवि अपनी रचनाओं में उनका निस्संकोच प्रयोग करने लगे। फारसी की भी मधुरिमा बहुत बढ़ी-चढ़ी मानी जाती है। अतएव इसके शब्दों और प्रयोगों के प्रति मधुरिमा-प्रिय कवियों का आकर्षित होना यों तो स्वाभाविक ही कहा जायगा; परन्तु वस्तुतः फारसी का प्रचलन उक्त राजकीय संपर्क से ही हुआ। सन् १५८१ में अकबर के माल-मंत्री राजा टोडरमल खत्री ने कर-विभाग का सारा कार-बार फारसी में करने की आज्ञा प्रचारित करवा दी जो किसी सीमा तक इस बात की ओर भी संकेत करती है कि फारसी की शिक्षा की व्यवस्था उस समय अच्छी थी।

फारसी के तत्सम शब्द--अरबी की तरह ही सूरदास ने फारसी के भी सरल शब्दों का तत्सम रूप में ही प्रयोग किया है जो इस बात का प्रमाण है कि उनमें न भाषा-संबंधी कट्टरता थी और न जन-भाषा की प्रवृत्ति का विरोध ही उन्हें अभीष्ट था। उनके काव्य में फारसी के जो तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से कुछ ये हैं--

अचार—पापर बरी अचार परम सुचि[8]।
अवारजा – करि अवारजा प्रेम-प्रीति कौ असल तहाँ खतियावै[9]।
कमान--कुबुधि **कमान** चढ़ाइ कोप करि बुधि-तरकस रितयौ[10]। मदन बान **कमान** ल्यायौ करषि कोप चढ़ाय[11]।
गुमान—भरी **गुमान** बिलोकति ठाढ़ी अपनैं रंग रँगीली[12]। बृंदाबन की बीथिनि तकि तकि रहत **गुमान** समेत[13]।

---

१. सा. १-८६। २. सा. ३३२४। ३. सा. १-१४३। ४. सा. ३८२५। ५. सा. १०-२११। ६. सा. १-१४३। ७. सा. ३०४७। ८. सा. वें. २३२१। ९. सा. १-१४२। १०. सा. १-६४। ११. लहरी. ३२। १२. सा. १०-२९९। १३. सा. वें. १०३५।

चंग--महुवरि बाँसुरी चंग लाल रँग हो ही होरी[१] । डिमडिमी पटह ढोल डफ बीना मृदँग उपँग चंग तार[२] ।
चुगली—व्रजनारी बटपारिनि हैं सब चुगली आपुहिं जाइ लगायौ[३] ।
दर—जीवत जाँचत कन कन निर्धन दर दर रटत बिहाल[४] ।
दरबार—जाति पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति कैं दरबार[५] ।
दलाली—काम क्रोध मद लोभ मोह तू सकल दलाली देहि[६] ।
दस्तक—सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ[७] ।
दह—गोसुत गाइ फिरत हैं दह (दस) दिसि बने चरित्र न थोरे[८] ।
दाम--लोचन चोर बाँधे स्याम । जात ही उन तुरत पकरे कुटिल अलकनि दाम[९] ।
दामनगीर--इन पापिन तैं क्यों उबरौगे दामनगीर तुम्हारे[१०] ।
दीवान—दास धुव कौं अटल पदवी राम के दीवान[११] ।
दुर—दुर दमकत सुभग स्रवननि जलज जुग डहडहत[१२] ।
मेहमान+ई—अपनौं पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते[१३] ।
राह—हमहिं छाँड़ि कुबिजहिं मन दीन्हौं मेटि बेद की राह[१४] ।
सरदार—तुम तौ बड़े, बड़े कुल जन्मे, अरु सबके सरदार[१५] ।

फारसी के अर्द्ध तत्सम शब्द—फारसी की लिपि अरबी की देन है। अतएव नुक्तेवाले अक्षरों को परिवर्तित करने की प्रवृत्ति फारसी शब्दों के साथ भी दिखायी देती है। इनके अतिरिक्त कुछ शब्दों के उच्चारणों को भी कवि द्वारा सुगम किया गया हैं। सूर-काव्य में इन दोनों परिवर्तनों के साथ फ़ारसी के जो शब्द मिलते हैं, उनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

अँदेस, अन्देस<अन्देशा--सिय अँदेस जानि सूरज प्रभु लियो करज की कोर[१६]। छिन बिनु प्रान रहत नहिं हरि बिनु निसि दिन अधिक अँदेस[१७] । सूर निर्गुन ब्रह्म धरिकै तजहु सकल अँदेस[१८] ।
अजाद<आज़ाद—जम के फंद काटि मुकराये अभय अजाद किये[१९] ।
अवाज<आवाज़—साँचे बिरद सूर के तारत लोकनि-लोक अवाज[२०] । कहियत पतित बहुत तुम तारे स्रवननि सुनी अवाज[२१] ।त्राहि त्राहि द्रोपदी पुकारी गई बैकुंठ अवाज खरी[२२] ।

---

१. सा. वें. २४१० । २. सा. वें. २४४६ । ३. सा. वें. ११६१ ।
४. सा. १-१५९ । ५. सा. १-२३१ । ६. सा. १-३१० ।
७. सा. १-१४३ । ८. सा. वें २६६४ । ९. सा. वें. पृ. ३२४ (२४) ।
१०. सा. १-३३४ । ११. सा. १-२३५ । १२. सा. १०-१८४ ।
१३. सा. ३५१६ । १४. सा. ४०३२ । १५. सा. ३५४३ ।
१६. सा. ९-२३ । १७. सा. वें. १७५३ । १८. सा. वें. १९७४ ।
१९. सा. १-१७१ । २०. सा. १-९६ । २१. सा. १-१०८ । २२. सा. १-२४९ ।

असवार<सवार—नृपति रिषिनि पर ह्वै असवार[१]। करि अंतरधान हरि मोहिनी रूप कौं गरुड़ असवार ह्वै तहाँ आए[२]।

आखिर<आख़िर—सूर स्याम तोहिं बहुरि मिलैहौं आखिर तौ प्रगटावेगी[३]।

कुलहि<कुलाह—कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहु बिधि सुरँग बनाई[४]।

खराद<खर्राद—सीतल चंदन कटाउ, धरि खराद रँग लाउ, बिबिध चौकरी बनाउ, धाउ रे बनैया[५]।

खाक<ख़ाक—तीननि में तन कृमि, के बिष्ठा कै ह्वै खाक उड़ै है[६]।

मृगमद मिलै कपूर कुमकुमा केसनि मलैया खाक[७]।

खानाजाद<ख़ानाजाद—ए सब कहौ कौन है मेरे खानाजाद बिचारे[८]।

खुबानी<खूबानी—सफरी चिउरा अरुन खुबानी[९]।

गरद<गर्द—सौ भैया दुर्जोधन राजा, पल में गरद समोयौ[१०]।

गरीबनिवाज, गरीबनेवाज<गरीब+नवाज़—नई न करन कहत प्रभु तुम हौ सदा गरीबनिवाज[११]।

गिरहबाज<गिरह+बाज़—देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये दमकि लीन्हो गिरहबाज जैसे[१२]।

गुंजाइस<गुंजाइश—काया नगर बड़ी गुंजाइस नाहिंत कछु बढ़यौ[१३]।

गुनहगार<गुनाहगार—सिंधु तैं काढ़ि संभु-कर सौंप्यो गुनहगार की नाई[१४]।

गुलाब<गुल+आब—चंपक जाइ गुलाब बकुल फूले तरु प्रति बूझत कहुँ देखे नँदनंदन[१५]।

गूँग<गुंग—बहिरी सुने गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई[१६]।

गोसमायल<गोशमायल—पाग ऊपर गोसमायल रँग रँग रची बनाई[१७]।

चुगुल<चुग़ल—चुगुल ज्वारि निर्दय अपराधी झुठौ खाटो-खूटा[१८]।

जहर<जह्र—अधर सुधा मुरली के पोषे जोग जहर कत प्यावै रे[१९]।

जानु<जानू—जानु सुजानु करभ-कर आकृति कटि-प्रदेस किंकिनि राजै[२०]।

जेर<ज़ेर—मनहुँ मदन जग जीति जेर करि राख्यो धनुष उतारि[२१]।

जोर<ज़ोर—रोर कै जोर तैं सोर घरनी कियौ चल्यौ द्विज द्वारका द्वार ठाढ़ौ[२२]। केस गहत कलेस पाऊँ करि दुसासन जोर[२३]। कान्ह हलधर बीर दोऊ भुजा बल अति जोर[२४]। बिना जोर अपनी जाँघन के कैसे सुख कियो चाहत[२५]।

---

१. सा. ६-७। २. सा. ८-८। ३. सा. वें. २१७७। ४. सा. १०-१४८।
५. सा. १०-४१। ६. सा. १-८६। ७. सा. वें. ३३२१। ८. सा. वें पृ: ३२०।
९. सा. १०-२११। १०. सा. १-४३। ११. सा. १-१०८। १२. सा. वें २६१५।
१३. सा. १-६४। १४. सा. वें. ३०७७। १५. सा. वें. १८१०।
१६. सा. १-१। १७. सा. वें. ३०५०। १८. सा. १-१८६।
१९. सा. वें. ३०७०। २०. सा. १-६९। २१. सा. वें. १६८४।
२२. सा. १-१०५। २३. सा. १-२५३। २४. सा. १०-२४४। २५. सा. वें २२६१।

ज्वानी<जवानी--बालपनौ गए ज्वानी आवै[1] ।

भेर<देर—काहे कौ तुम भेर लगावति[2] । दधि बेचहु घर सूधे आवहु काहे भेर लगावति[3] । बिरह बिषय चहुँधा भरमति है स्याम कहा कियौ भेर (=झगड़ा—बखेड़ा)[4] ।

तरबूजा<तर्बुज—सफरी सेव छुहारे पिस्ता जे तरबूजा नाम[5] ।

ताज<ताज़--बिकल मान खोयौ कौरवपति, पारेउ सिर कौ ताज[6] ।

ताजी<ताज़ी—घूँघट पट कोट टूटे, छूटे दृग ताजी[7] ।

दगाबाज<दग़ाबाज़—दगाबाज कुतवाल कामरिपु सरबस लूटि लयौ[8] ।

दरजी<दर्ज़ी--सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु तनु भयौ ब्योंत बिरह भयो दरजी[9]।

दरद<दर्द--नेंकहुँ न दरद करति हिलकिनि हरि रौवै[10] ।

दरवाना<दरबान--पौरि-पाट टूटि परे भागे दरवाना[11] ।

दाइ<दायः--लाख टका अरु झूमका सारी दाइ कौ नेग[12] ।

दाग<दाग़--दसन-दाग नख-रेख बनी है[13] ।

परगन<परगना--ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई[14] ।

बेसरम<बेशर्म--बाहँ पकरि तू ल्याई काकौं अति बेसरम गँवारि[15] ।

सरम<शर्म—बाहँ गहत कछु सरम न आवति, सुख पावत मन माहीं[16]।

सोर<शोर—तिहूँ भुवन भयौ सोर पसार्‌यौ[17] ।

हुसियार<होशियार--सब दल ह्वै हुसियार चलौ मठ घेरहिं जाई[18] ।

तुर्की के शब्द—तुर्कों ने पहले-पहल ग्यारहवीं शताब्दी में पंजाब पर अधिकार किया था; इसके पश्चात् तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में वे उत्तरी भारत के कुछ प्रदेशों के शासक बने । परंतु अरबी-फारसी की तुलना में उनकी भाषा का यहाँ बहुत कम प्रचार हुआ । इसके दो कारण थे--पहला तो यह कि अरबों और फारसियों के समान तुर्कों से भारतवासियों का घनिष्ठ संबंध कभी नहीं रहा और दूसरे, तुर्की भाषा अरबी और फारसी के समकक्ष नहीं थी एवं तुर्कों की बोलचाल की भाषा पर भी फारसी का प्रभाव पड़ा था । अतएव सूरदास के काव्य में भी अरबी-फारसी की अपेक्षा तुर्की के शब्दों की संख्या बहुत कम है; यत्र-तत्र दो-एक प्रयोग ही उनके दिखायी देते हैं यथा—

कुमैत<कुमेत—लीले सुरँग कुमैत स्याम तेहि पर दै सब मन रंग[19] ।

सामूहिक रूप से इन तीनों विदेशी भाषाओं के सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों को देखने

---

१. सा. ७-२२ । २. सा. वें. ११८५ । ३. सा. वें. ११७६ । ४. सा. वें. १२१५ ।
५. सा. १०-२१२ । ६. सा. १-२५५ । ७. सा. ६५० । ८. सा. १-६४ ।
९. सा. वें. ३१६२ । १० . सा. ३४८ । ११. सा. ९-१३९ १२. सा. १०-४० ।
१३. सा. वें. १९५६ । १४. सा. १०-३२९ । १५. सा. १०-३१ ।
१६. सा. २४१६ । १७. सा. ३०९५ । १८. सा. ४१८८ । १९ सा. १० उ०. ६ ।

से ज्ञात होता है कि इनमें संज्ञा शब्दों की अधिकता है। इसका विशेष कारण था। जीवन के जितने कार्य-व्यापार हो सकते हैं, उन सबके द्योतक, एक नहीं, अनेक शब्द, अर्थ की सूक्ष्मता और अंतर की दृष्टि से, भारतीय भाषाओं में प्रचलित थे जिनके विकसित रूप व्रजभाषा को सहज ही प्राप्त हो गये थे। परंतु विदेशियों के आगमन के साथ अनेक ऐसे वस्त्रों, भोज्य पदार्थों, पहनावों, पदाधिकारियों, युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों, मनोरंजन के साधनों और खेलों से हिंदुओं का परिचय हुआ जो उनके लिए एक प्रकार से नये थे, कम से कम उनके नाम-रूप तो नये थे ही; यद्यपि उनके मिलते-जुलते रूपों का चलन भारत के कुछ भागों में पहले से भी होना संभव हो सकता है। इन नयी-नयी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त विदेशी शब्द ही इनके अर्थ का ठीक-ठीक द्योतन कर सकते थे। इसलिए इनका चलन सारे देश में सरलता से हो गया। सूरदास के काव्य में विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग दिखाने के लिए जो उदाहरण ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनमें भी संज्ञा शब्दों की ही अधिकता है।

दूसरी बात यह है कि ये विदेशी भाषाएँ शासकों द्वारा आदृत थीं। इनको वे अपने साथ ही लाये थे और इनके पारंगत विद्वानों को उनसे सम्मान भी मिलता था। अतएव सारे भारतीय समाज का जो अंग शाही दरबारों से संबंधित रहा, केवल उसने ही नहीं, अन्य शिक्षित-अशिक्षित हिंदुओं ने भी इन विदेशी भाषाओं के तत्सम और अर्द्धतत्सम रूपों को योग्यता और संबंध के अनुसार अपनाने में गौरव समझा। आज से आठ-दस वर्ष पूर्व भारतीयों की अँग्रेजी के प्रति जैसी सम्मान-भावना थी--और कहीं-कहीं तो आज भी है--कुछ-कुछ वैसी ही बात इन विदेशी भाषाओं के प्रति उस समय भी चरितार्थ हो रही थी; यद्यपि इतने विकसित रूप में नहीं, क्यों अँगरेजी को संसार की भाषाओं में जो महत्वपूर्ण स्थान आज प्राप्त है, वह उक्त विदेशी भाषाओं को कभी नहीं प्राप्त रहा।

इसके अतिरिक्त हिंदुओं के सामने जीविका का भी प्रश्न था। विदेशी विजेताओं ने शासन और विधान के अधिकांश प्रचलित संस्कृत शब्दों के स्थान पर अपनी भाषाओं के प्रयोग अपनाये और प्रचलित किये थे[१]। शाही कार्यालयों की भाषा, प्रधान रूप से, प्रायः विदेशी रही। इन कार्यालयों में प्रवेश या नियुक्ति उसका ज्ञान प्राप्त करने पर ही संभव थी। जिस परिवार का एक व्यक्ति भी विदेशी भाषा की शिक्षा पाकर इन कार्यालयों में पहुँच गया, उसने घरेलू और सामाजिक संपर्क में आनेवाले आत्मीयों और मित्रों में भी विदेशी भाषा का क्रमशः प्रचार कर दिया। व्रजभाषा में इन शब्दों के घुल-मिल जाने का यह

---

१. In the case of all words having any special reference to government and law, the conquerer Muhammadans have succeeded in imposing their own words upon the colloquial Hindi to the exclusion of the Sanskrit. —Rev. S. H. Kellogg, 'A grammer of the Hindi Language', p. 40.

भी एक प्रमुख कारण है और उसके कवियों की भाषा में बहुत से विदेशी शब्द इसी माध्यम से होकर पहुँचे हैं ।

सूरदास ने यद्यपि विदेशी शब्दों का प्रयोग अवश्य किया, परंतु अधिकांशतः उनको अर्द्धतत्सम रूप देकर, उनका विदेशीपन दूर कर के, उनको अपनी भाषा के समाज में सम्मिलित करने की उदारता ही उन्होंने दिखायी। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के कुछ कवियों की भाषा में अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों का यही रूप देखकर कहा जा सकता है कि वे ऐसे प्रयोगों को असंगत नहीं समझते थे और आज तो अनेक विदेशी तत्सम शब्द परिवर्तित होते होते इतने घनिष्ठ रूप में हमसे परिचित हो गये हैं कि सामान्य पाठक इनका विदेशीपन कम ही लक्ष्य कर पाता है । वस्तुतः उसके लिए, संस्कृत के अधिकांश तद्भव शब्दों की तरह ये विदेशी रूप भी हमारी भाषा का महत्व-पूर्ण अंग बन गये हैं । इस आधुनिक दृष्टिकोण का मिलान जब हम सूरदास से करते हैं तब यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही इस अंधे कवि की दूर दृष्टि भविष्य के भीतर प्रवेश पा चुकी थी ।

सारांश यह है कि व्रजभाषा के इस प्रथम प्रतिष्ठित कवि ने अरबी, फारसी और तुर्की-जैसी विदेशी भाषाओं के शब्द अपनाने में कभी संकोच नहीं किया ; परंतु इन भाषाओं में कोई गति न होने के कारण वे प्रायः ऐसे ही प्रयोग अपना सके जो बहुत प्रचलित हो गये थे और जिन्हें काव्यभाषा में स्थान मिल रहा या मिल चुका था । सबसे अधिक संख्या इनमें फारसी शब्दों की है और सबसे कम तुर्की की । इसका कारण यह था कि प्रायः सभी मुसलमान शासकों ने फारसी का सम्मान किया; उसे अपनी राजभाषा और साहित्यिक भाषा, दोनों रूपों में अपनाया । यद्यपि भारतीय भाषाओं से उन्हें विद्वेष नहीं था, फिर भी फारसी के प्रति उनका विशेष मोह था । सूरकाव्य में वे विदेशी शब्द एकत्र नहीं, बिखरे हुए मिलते हैं । केवल तीन या चार पदों में इनका बाहुल्य दिखायी देता है--

१, जनम साहिबी करत गयौ ।
काया-नगर बड़ी गुंजाइस, नाहिंन कछु बढ़यौ ।
हरि कौ नाम दाम खोटे लौं, झकि झकि डारि दयौ ।
बिषया गाँव अमल कौ टोटौ हँसि हँसि कै उमयौ ।
नैन अमीन अधर्मिनि कैं बस, जहँ कौ तहाँ छयौ ।
दगाबाज कुतवाल काम-रिपु, सरबस लूटि लयौ ।
पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ, धर्म सुधन लुटयौ ।
चरनोदक कौं छाँड़ि सुधा-रस, सुरा-पान अँचयौ ।
कुबुधि कमान चढ़ाइ कोप करि बुधि तरकस रितयौ ।
सदा सिकार करत मृग मन कौ रहत मगन भुरयौ ।
घेरचौ आइ कुटुम लस्कर मैं जम अहदी पठयो ।
सूर नगर चौरासी भ्रमि भ्रमि घर घर कौ जु भयौ[1] ।

१. सा. १-६४ ।

२. साँचौं सो लिखहार कहावै ।
काया-ग्राम **मसाहत** करि कै, जमा बाँधि ठहरावै ।
मन महतो करि **कैद** अपने में, ज्ञान जहतिया लावै ।
माँड़ि माँड़ि खरिहान क्रोध कौ, पोता भजन भरावै ।
बट्टा काटि **कसूर** भरम कौ, **फरद** तले लै डारै ।
निहचै एक **असल** पै राखै, टरै न कबहूँ टारे ।
करि **अवारजा** प्रेम प्रीत कौ असल तहाँ खतियावै ।
दूजे **करज** दूरि करि दैयत, नैकु न तामें आवै ।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल कौ, हरि सौं तहँ लै राखै ।
निर्भय रूपै लोभ छाँड़िकै, सोई बारिज राखै ।
जमा खरच नीकैं करि राखै लेखा समुझि बतावै ।
सूर आप **गुजरान मुसाहिब**, लै जवाब पहुँचावै[1] ।

३. हरि, हौं ऐसौ **अमल** कमायौ ।
साबिक जमा हुती जो जोरी **मिनजालिक** तल ल्यायौ ।
वासिल बाकी स्याहा **मुजमिल** सब अधर्म की बाकी ।
चित्रगुप्त सु होत **मुस्तौफी**, सरन गहूँ मैं काकी ।
मोहरिल पाँच साथ करि दीने तिनकी बड़ी बिपरीति ।
जिम्मैं उनके, मागैं मोतैं, यह तौ बड़ी अनीति ।
पाँच पचीस साथ अगवानी, सब मिलि काज बिगारे ।
सुनी **तगीरी** बिसरि गई सुधि मो तजि भए नियारे ।
बढ़ौ तुम्हार **बरामद** हूँ कौ लिखि कीनौ है **साफ** ।
सूरदास की यहै बीनती **दस्तक** कीजै **माफ**[2] ।

उक्त पदों में प्रयुक्त विदेशी शब्द प्रायः पारिभाषिक हैं। शाही दरबारों में विशिष्ट पदों और पदाधिकारियों के लिए जो पारिभाषिक शब्द प्रचलित थे, उनके ठीक अर्थ-वाची शब्द कुछ तो संस्कृत में थे ही नही, शेष को विदेशी शासकों ने अपनाना उचित नहीं समझा। ऐसे शब्दों को कोई भावुक कवि विवश होकर ही अपनाता है। सूरदास के उक्त इने गिनें-पदों से भी स्पष्ट होता है कि उन्होने ऐसे परस्पर संबंधित पारिभाषिक शब्दों का सामूहिक रूप से प्रयोग करके अपनी विनोदी प्रकृति का ही परिचय दिया है। दूसरी बात यह है कि शासन-व्यवस्था और राजस्व-संबंधी उक्त पारिभाषिक शब्दों से जिनका परिचय है, वे ही इन पदों का ठीक-ठीक अर्थ समझ सकते हैं, सामान्य पाठक नहीं।

देशज और अनुकरणात्मक शब्द—

व्रजभाषा में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी उत्पत्ति का पता निश्चित रूप से नहीं लगता। ये शब्द अथवा पद या तो अनार्य और विजातीय भाषाओं के ऐसे

---

१. सा. १-१४२ । २. सा. १-१४३ ।

मिश्रित रूप हैं जिनके परिवर्तित और प्रचलित रूपों के आधार पर उनकी व्युत्पत्ति के विषय में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के प्रयोगों के संबंध में कम से कम इतना निश्चित है कि जिन देशी-विदेशी भाषाओं की विवेचना ऊपर की गयी है, उनसे इनकी सीधी उत्पत्ति नहीं हुई हैं। ऐसे शब्दों को भाषा-वैज्ञानिकों ने 'देशज' कहा है। इसी 'संज्ञा' के अंतर्गत वे शब्द भी आ जाते हैं, जो ध्वनि-विशेष के अनुकरण पर निर्मित माने जाते हैं और सुविधा के लिए जिनको 'अनुकरणात्मक' या 'ध्वन्यात्मक' कहा जाता है।

देशज शब्द — सूरदास के समस्त काव्य में देशज शब्द बिखरे मिलते हैं। अर्द्धतत्सम और तद्भव के ही समकक्ष मानकर सूरदास ने निस्संकोच इनका प्रयोग किया है, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है; यथा—

करबर, करवर—करबर बड़ी टरी मेरे की घर घर आनँद करत बधाई[1]। ढोटा एक भयौ कैसेहुँ करि कौन कौन करबर बिधि भानी[2]। कौन कौन करबर हैं टारे[3]। मैं नहिं काहू को कछु घाल्यौ पुन्यनि करबर नाक्यो[4]।

खुटिला—नकबेसरि खुटिला तरिवन को गरह मेल कुच जुग उतंग को[5]। ससि मुख तिलक दियो मृगमद को खुटिला खुभी जराय जरी[6]।

घैया—आई छाक अबार भई है नैंसुक घैया पिएउ सबेरे[7]।दुहि ल्याऊँ में तुरत हीं, तू करि दै री घैया[8]।

घैर, घैरु—सूरदास प्रभु बड़े गारुड़ी ब्रज घर-घर यह घैरु चलाई[9]।

झगुलि, झगुली—प्रफुलित ह्वै कै आनि, दीनी है जसोदा रानि झीनीयै झगुलि तामैं कंचन-तगा[10]।

झाम—सुंदर भुजा पीठि करि सुंदर सुंदर कनक मेखला झाम[11]।

ठादर—देव आपनो नहीं सँभारत करत इंदु सों ठादर[12]।

ढवरी—हरि दरसन की ढवरी लागी[13]।

ढाढ़—ढाढ़िनि मेरी नाचै गावै हौं हूँ ढाढ़ बजाऊँ[14]।

ढाढ़िन, ढाढ़िनि—हँसि ढाढ़िनि ढाढ़ी सौं बोली, अब तू बरनि बधाई[15]।

ढाढ़ी— हौं तो तेरे घर कौ ढाढ़ी सूरदास मोहिं नाऊँ[16]। ढाढ़ी और ढाढ़िनि गावैं[17]।

उक्त उदाहरणों से एक बात तो यह स्पष्ट है कि सूरदास ने देशज शब्दों का प्रयोग तत्समता-प्रधान शब्दावली के साथ नहीं, सरल और प्रचलित सामान्य भाषा में किया

---

१. सा. १०-५१। २. सा. ३६८। ३. सा. ३९१। ४. सा. वें. २३७३। ५. सा. वें. १०४२। ६. सा. वें. पृ. ३४५ (४१)। ७. सा. ४६३। ८. सा. ७२५। ९. स. ७६१। १०. सा. १०-३९। ११. सा. वें. १४०२। १२. सा. वें. ९४९। १३. सा. ३४४२। १४. सा. १०-३७। १५. सा. १०-३७। १६. सा. १०-३५। १७. सा. ६४६।

हैं जिससे वे जरा भी खटकते नहीं। दूसरे, स्वयं ये शब्द इतने छोटे-छोटे और सरल ध्वनि वाले हैं कि इनमें से कुछ का प्रयोग अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओं में किया है।

अनुकरणात्मक शब्द--ध्वनि के आधार पर बने हुए अनुकरणात्मक शब्दों की संख्या सूर-काव्य के देशज शब्दों से अधिक हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि इस प्रकार के शब्द सरलता से बनते और प्रचलित हो जाते हैं। इस प्रकार के जिन शब्दों के प्रयोग सूरदास ने अपनी रचनाओं में किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

अरबराना—अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया[1]।
अरराना - अरररात दोउ वृच्छ गिरे धर[2]।
करारना—बानी मधुर जानि पिक बोलत कदम करारत काग[3]।
काँ काँ—जैसे काग काग के मुएँ काँ काँ करि उड़ि जाहीं[4]।
किलकना—निरखि जननी-बदन किलकत त्रिदसपति दै तारि[5]।
किलकारना — गावत, हाँक देत किलकारत, दुरि देखत नँदरानी[6]।
किलकिलाना— गहगहात किलकिलात अंधकार आयौ[7]।
कीक,कीकै—भरि गंडूक, छिरक दै नैननि, गिरिधर भाजि चले दै कीकै[8]।
कुहुकुहानि—कुहुकुहानि सुनि रितु बसंत की अंत मिले कुल अपने जाइ[9]।
खरभर —कटक अगनित जुर्‌यौ, लंक खरभर पर्‌यौ[10]।
गटकना— लटकि निरखन लग्यौ मटक सब भूलि गयौ हटक ह्वै कै गयौ गटकि सिल सों रह्यौ मीचु जागी[11]।
गरराना—घहरात तररात गररात हहरात तररात झहरात माथ नाए[12]।
गलबल—गलबल सब नगर पर्‌यौ प्रगटयौ जदुबंसी[13]।
गिरीगरी—फूले बजावत गिरगिरी गार मदन भेरि घहराई अपार संतन हित ही फूलडोल[14]।
घमकना—आनँद सों दधि मथति जसोदा घमकि मथनियाँ घूमै[15]।
घमर—त्यौं त्यौं मोहन नाचे ज्यौं ज्यौं रई घमर कौ होई (री)[16]।
घहरना, घहराना — गगन घहराइ घिरी घटा कारी[17]।
घुमरना—सूर धन्य जदुबंस उजागर धन्य धन्य धुनि घुमरि रह्यौ[18]।
चुचकारना —मोहू कौं चुचुकारि गयौ लै जहाँ सघन बन झाऊ[19]।
जगमगाना—अरुन-चरन नख-ज्योति जगमगाति, रुन-झुन करति पाइँ पैजनियाँ[20]।

---

१. सा. १०-११५। २. सा. ३९१। ३. सा. वें. १८२९। ४. सा. १-३१९। ५. सा. १०-७१ ६. सा. १०-२५३। ७. सा. ९-१३९। ८. सा. १०-२८७। ९. सा. वें. ३०५३। १०. सा. ९-१०६। ११. सा. वें. २६०९। १२. सां. वें. ९४४। १३. सा. वें. २६१०। १४. सा. वें. २४०५। १५. सा. १०-१४७ १६. सा. १०-१४८। १७. सा. ३८४। १८. सा. वें. २६१६। १९. सा. ४८१। २०. सा. १०-१०६।

झकझोरना--सूरदास तिहिं कौ व्रजबनिता झकझोरतिं उर अंक भरे[1]।
झकोर,झकोरो(झोंका)—मोहनी मोहन लगावत लटकि मुकुट झकोर[2]। जगमग रह्यो जराइ कौ टीकौ छबि को उठत झकोरो हो[3]।
झझकना—सोवत झझकि उठे काहै तैं दीपक कियौ प्रकास[4]।
झझकारना—नख मानौ चंदवान साजि कै झझकारत उर आग्यौ[5]।
झमक—दामिनि की दमकनि बूँदनि की झमकनि सेज की तलफ कैसे जीजियतु माई है[6]।

झमकना--रमकत झमकत जनक-सुता सँग हाव-भाव चित चोरे[7]। सूर-स्याम आए ढिग आपुन घट भरि चलि झमकाइ[8]।

झरझराना—झरझराति झहराति लपट अति देखियत नहीं उबार[9]।
झरहरना—अजहूँ चेति मूढ़ चहुँ दिसि तैं उपजी काल अगिनि झरहरि[10]।
झरहराना—झरहरात बन पात गिरत तरु धरनी तरकि तराकि सुनाइ[11]।
झहराना—बेसरि नाउ लेत सरमानी तब राधा झहरानी[12]।
झिझकारना—उठ्यौ झिझकारि कर ढाल कर खडगहिं लिए रंग रनभूमि के महल बैठ्यौ[13]।

झुँझाना (झुँझलाना)—नित प्रति रीती देखि कमोरी मोहि अति लगत झुँझायौ[14]।
झुनकना--रूनक झुनक कर कंकन बाजै, बाँह डुलावत ढीली[15]।
झौर (झाँव)--बात एक मैं कही कि नाहीं आपु लगावति झौर[16]।
ठुमकना—ठुमुकि ठुमुकि पग धरनी रेंगत जननी देखि दिखावै[17]।
डबडबाना—जब-जब सुरति करत तब-तब डबडबाइ दोउ लोचन उमँगि भरत[18]।
थरथर—मंडपपुर देखे उर थरथर करै[19]।
थरथराना—सँटिया लिये हाथ नँदरानी थरथरात रिस गात[20]।
धकधकाना—धकधकात उर नयन स्रवत जल सुत अँग परसन लागे[21]।
धमकना—धमकि मारचौ घाउ गुमकि हृदय रह्यौ झमकि गहि केस लै चले ऐसे[22]।
धरधर(धड़धड़)—बाजत शब्द नीर कौ धरधर[23]।
फटकना--फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करत लराई[24]।
फटकाना—मोकौं जुरि मारन जब आईं, तब दीन्हीं गेंडुरी फटकारी[25]।

---

१. सा. १०-८८। २. सा. वें. १३३५। ३. सा. वें. २२४३। ४. सा. ५१७। ५. सा. वें. १९७२। ६. सा. वें. २८२७। ७. सारा. ३१०। ८. सा. वें. ८८५। ९. सा. ५९३। १०. सा. १-३१२। ११. सा. ५९४। १२. सा. वें. १५३४। १३. सा. वें. २५६३।१४. सा. १०-२८८। १५. सा. १०-२९९। १६. सा. १०-३२३। १७. सा. १०-१२६।१८. सा. वें. २०३६। १९. सा. १०-३१४। २०. सा १०-३४१। २१. सा. वें. २४७३। २२. सा. वें. २६२१। २३. सा. वें. १०५७। २४. सा. ५४१ २५. सा. १४१८।

फटकारना—जमुनादह गिंडुरी फटकारी, फोरी सब मटुकी अरु गगरी[१]।
रुनझुन—कबहूँ रुनझुन चलत घुटरुनि, धूरि धूसरित गात[२]।
रुनुकझुनुक—रुनुकझुनुक नूपुर पग बाजत, धुनि अतिहीं मनहरनी[३]।

ऊपर कहा जा चुका है कि देशज शब्द सूर-काव्य में यत्र-तत्र मिलते हैं, पद-विशेष में उनकी प्रधानता नहीं है, परन्तु अनुकरणात्मक शब्दावली-प्रधान दो-एक पद 'सूरसागर' में अवश्य मिलते हैं; यथा—

१. भहरात झहरात दवा (नल) आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उड़त हैं भाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि फटत लट लटकि, द्रुम-द्रुम नवायो।
अति अगिनि झार, भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंभार छायो।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरनी गिरायौ[४]।

२. सुनि मेघवर्त्त सजि सैन आए।
बलवर्त्त, बारिवर्त्त, पौनवर्त्त बज्र अग्निवर्त्तक जलद संग ल्याए।
घहरात गररात दररात हररात तररात झहरात माथ नाए[५]।

३. मेघदल प्रबल ब्रजलोग देखैं।
चकित जहँ-तहँ भए निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं।
ऐसे बादल सजल करत अति महाबल चलत घहरात करि अंधकाला।
घटा घनघोर घहरात अररात दररात थररात ब्रज लोग डरपे।
तड़ित आघात तररात उतपात सुनि नारि - नर सकुचि तन प्रान अरपे[६]।

४. (गगन) मेघ घहरात थहरात गाता।
चपला चमचमाति, चमकि नभ भहरात, राखि लै क्यों न ब्रज नंद-ताता[७]।

सूर के मिश्रित प्रयोग—

देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों को अपनाकर सूरदास ने उन्हें एक ही वर्ग या श्रेणी का बना दिया है। इसके फलस्वरूप दो भिन्न भाषाओं के शब्दों के मिश्रण से नया शब्द बनाने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। इस कथन को पुष्टि निम्नलिखित उदाहरणों से होती है—

सं०. अन् + अ. लायक़ = अनलायक-अनलायक हम हैं की तुम हौ, कहौ न बात उघारि[८]।
फा. ना + अ०. हक़ = नाहक = अनाहक—चौरासी लख जीव जोनि मैं भटकत फिरत अनाहक[९]।

---

१. सा. १४१६। २. सा. १०-१००। ३. सा. १०-१२३। ४. सा. ५९६।
५. सा. ८५३। ६. सा. ८५५। ७. सा. ८७०। ८. सा. वें. २४२१।
९. सा. १-३१०।

अ.फौज + सं. पति = फौजपति–निधरक भयौ चल्यौ ब्रज आवत, अग्र फौजपति मैन[१]।
फा.बे + हिं. पीर = पीड़ा – सूरदास प्रभु दुखित जानि कै, छाँड़ि गये बेपीर[२]।
फा. बे + अ. हाल = बेहाल — कहाँ निकसि जैऐ को राखै नंद कहत बेहाल[३]।
हिं. लोन + अ. हरामी — मन भयो ढीठ, इनहुँ कौं कीन्हौ, ऐसे लोनहरामी[४]।

सारांश—

सारांश यह है कि संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं के अनेक शब्द तो व्रजभाषा में हैं ही, अरबी-फारसी-जैसी विदेशी भाषाओं से उद्भूत अनेक शब्द भी व्रजभाषा की संपति हैं। इन सबसे उसका भंडार भरा-पुरा है और इन्हीं पर इस भाषा के कवियों को अभिमान रहा है। अपने क्षेत्र की निकटवर्ती बोलियों और विभाषाओं के साधारण प्रचलित शब्दों को स्वीकार करने में भी व्रजभाषा-कवि पीछे नहीं रहे। वास्तुतः धर्म के विषय में वैष्णव भक्त-कवि जिस प्रकार उदार और सहिष्णु थे, भाषा के संबंध में भी वे सर्वदा उसी प्रकार असंकीर्ण बने रहे। व्रजभाषा पहले तो अपनी प्रकृति से दूसरी भाषाओं के शब्दों को सहज सुंदर रूप देने में समर्थ थी और दूसरे, जन-मनोवृत्ति तथा परिस्थिति के साथ चलने की दूरदर्शिता भी वह दिखाती रही जिसके फलस्वरूप उसकी प्रगति की गति सदैव संतोषजनक रही। सूरदास इस कार्य में व्रजभाषा-कवियों में अग्रगण्य हैं। पूर्ववर्ती और समकालीन देशी-विदेशी भाषाओं और निकटवर्ती बोलियों के संबंध में उन्होंने उपयोगी ग्राहक नीति अपनाकर व्रजभाषा को समृद्धि प्रदान की। इससे दो प्रमुख लाभ हुए—पहला तो यह कि वे अपनी व्रजभाषा के उस सहज सुंदर माधुर्य की रक्षा कर सके जो शताब्दियों तक काव्य-प्रेमियों और सहृदयों को आकर्षित करता रहा और दूसरे, सुदूरवर्ती प्रदेशों में काव्य-रचना के लिए निरंतर प्रयुक्त होने पर भी उसका व्रजभाषापन सुरक्षित रहा और वह अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो सकी। सूरदास के समसामयिक और परवर्ती कवियों ने भी उन्हीं की नीति का निर्वाह करने में भाषा और रचना, दोनों का कल्याण समझा और इस प्रकार उन्होंने व्रजभाषा के क्षेत्र-वर्द्धन के उस महत् कार्य में योग दिया जिसका श्रीगणेश इस अंध कवि ने किया था।

———

१. सा. ३३०४। २. सा. ३१५६। ३. सा. ५२८। ४. सा. २२५२।

४. सूर की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन

व्याकरण-सम्मत भाषा का महत्व यद्यपि सभी कवि समझते हैं, तथापि उसके नियमों का निर्वाह वे उतनी कट्टरता से नहीं कर पाते जितनी दृढ़ता से गद्य के लेखक करते हैं। वाक्य-विन्यास में शब्दों का क्रम-परिवर्तन करने को तो कवि, गद्यकारों की अपेक्षा, अधिक स्वतंत्र रहते ही हैं, शब्दों की वर्तनी, तुकांत और चरण की मात्रा-पूर्ति की दृष्टि से वर्णों को लघु, दीर्घ या हलंत अक्षरों को पूर्ण कर लेना अथवा कारक-चिह्नों आदि का लोप कर देना भी उनके लिए बहुत साधारण बात होती है। इसी प्रकार भाषा-संगठन का ध्यान रखने के पश्चात् भी एकाध निरर्थक या अनावश्यक शब्द या शब्दांश का समावेश कर लेने में भी कवियों को अपेक्षाकृत कम संकोच होता है।

सूरदास के प्रादुर्भाव के समय तक व्रजभाषा का कोई प्रामाणिक-अप्रामाणिक, कोई भी व्याकरण प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। उस युग के कवियों को अपनी रचनाओं के लिए वस्तुतः व्यावहारिक व्याकरण का ही सहारा था जो अलिखित था और जिसका ज्ञान समाज में रहकर बोलचाल के लिए भाषा-विशेष का निरंतर प्रयोग करनेवाले किसी भी स्त्री-पुरुष को हो जाता है। साथ ही, जैसा पीछे लिखा जा चुका है, सूरदास के पूर्व व्रजभाषा की कोई उत्कृष्ट साहित्यिक रचना भी नहीं लिखी गयी थी जिसे आदर्श मानकर वे चल सकते अथवा जिसके आधार पर कहा जा सकता कि व्याकरण न सही भाषा का तो मान्य साहित्यिक रूप उनके समय तक स्थिर हो गया था। ऐसी स्थिति में सूरदास की भाषा का व्याकरणिक अध्ययन करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

क.—साहित्यिक भाषा-रूप अथवा उसके व्याकरण का कोई प्रतिबंध न होने पर भी सूरदास ने अवांछनीय रीति से स्वच्छंद होने का कभी प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति में ऐसा करने के लिए पूरा अवसर था।

ख.—जनबोली को अपनाकर उन्होने व्रजभाषा का साहित्यिक रूप स्थिर किया जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा परवर्ती कवियों के लिए एक प्रकार से आदर्श हो सकी।

ग.—सूरदास यदि पढ़े-लिखे होते तो उन्हें पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में से किसी के व्याकरण का थोड़ा-बहुत सहारा अवश्य मिल सकता था; परंतु अंधता ने उन्हें इससे भी वंचित रखा। अतएव सामान्य व्यवहार की बोली के साधारण प्रयोगों के बल पर उन्हें व्याकरण-सम्मत भाषा की रूपरेखा प्रस्तुत करनी पड़ी।

घ.—व्यावहारिक व्याकरण के नियमों को हृदयंगम करने के पश्चात् रचना में उनका निर्वाह करके सूरदास ने साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण-निर्माण के लिए विविध प्रयोग

के प्रयोग प्रस्तुत कर दिये जिससे एक ओर तो कवियों को सहारा मिला और दूसरी ओर वैयाकरणों के लिए केवल नियम-निर्धारण का कार्य शेष रह गया। सूरदास के इस कार्य का महत्व वस्तुतः उस समय ज्ञात होता है जब आधुनिक युग में लिखे गये ब्रजभाषा-व्याकरण के प्रायः सभी नियमों और अपवादों के उदाहरण अध्येता को सूर-काव्य में ही मिल जाते हैं जिसके फलस्वरूप वह इस अंध कवि की ग्रहणशीलता और पैनी अंतर्दृष्टि की क्षमता देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है।

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—ये मुख्य शब्द-भेद हैं। आगे के पृष्ठों में सूरदास के तत्संबंधी प्रयोगों का सोदाहरण परिचय दिया जायगा।

संज्ञाएँ और सूर के प्रयोग—

ब्रजभाषा में स्वरांत शब्दों की अधिकता है। उसके संज्ञा शब्द भी स्वरांत हैं। डा० धीरेंद्र वर्मा ने ब्रजभाषा में आठ स्वरों--अ आ इ ई उ ऊ ओ और औ--से अंत होनेवाले संज्ञा शब्द माने हैं[1]; 'ए' और 'ऐ' से अंत होनेवाले शब्दों को उन्होने छोड़ दिया है। इसका कारण संभवतः यह है कि प्रायः बहुवचन बनाने अथवा शब्द को विभक्ति-संयोग के उपयुक्त रूप देने के लिए इनकी आवश्यकता ब्रजभाषा में पड़ती है। परंतु सूरदास ने ऐसे कुछ एकारांत और ऐकारांत संज्ञा शब्दों का प्रयोग किया है जो एकवचन हैं और जिनके साथ विभक्ति भी संयुक्त नहीं है। इस प्रकार साधारणतः दस स्वरों से अंत होनेवाले संज्ञा शब्द ब्रजभाषा में होते हैं। सूर-काव्य से संकलित विभिन्न स्वरांत निम्नलिखित संज्ञा शब्दों से इस कथन की पुष्टि होती है—

अ—अकारांत संज्ञा शब्द[2] – सूरदास ने दो प्रकार के अकारांत शब्दों का प्रयोग किया है। प्रथम वर्ग में वे शब्द आते हैं जो मूल रूप में वस्तुतः अकारांत हैं और प्रायः गद्य में भी वैसे ही लिखे जाते हैं; जैसे—गुर=रहस्य[3], छीलर[4], जतन[5], जोबन[6], दरसन[7] धीरज[8], पटंबर[9], सुमिरन[10], हुलास[11] आदि। दूसरे प्रकार के शब्द दीर्घ स्वरांत—प्रायः आकारांत, ईकारांत या ओकारांत – होते हैं जिन्हें तुकांत अथवा चरण की मात्रापूर्ति के लिए कवि ने अकारांत कर लिया है; जैसे—अभिलाष[12], उपासन[13], गंग[14],

---

१. 'ब्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ५५।

२. कुछ शब्दों के अकारांत के अतिरिक्त आकारांत और ओकारांत रूप भी ब्रजभाषा में प्रचलित हैं; जैसे – आस-आसा, घूर,-घूरा-घूरो, झगरा-झगरो, भरोस-भरोसा-भरोसो आदि। परंतु सभी अकारांत शब्द इस प्रकार दो या तीन रूपों में नहीं लिखे जाते—लेखक।

३. सा. २-१०। ४. सा. १-३३७। ५. सा. २-१४। ६. सा. २-२२। ७. सा. ५-२। ८. सा. १-३४३। ९. सा. १-३२६। १०. सा. १-३४२। ११. सा. ३-११। १२. सा. ९-७०। १३. सा. २-११। १४. सा. ९-९।

घूर[१५] (=घूरा), जसोद[१६], धोख[१७] (=धोखा), नात (=नाता)[१८], नार=(नाला[१९] या नारी[२०]), प्रदच्छिन[२१] आदि। भान (=भानु[२२]) जैसे-दो-एक उकारांत शब्दों का भी अकारांत प्रयोग सूरदास ने किया है।

आ—आकारांत संज्ञा शब्द—अकारांत शब्दों की तरह सूरदास द्वारा प्रयुक्त आकारांत संज्ञा शब्दों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे शब्द आते हैं जिनका व्रजभाषा में प्रचलित शुद्ध रूप आकारांत है और जो गद्य में भी प्रायः उसी रूप में प्रयुक्त होते हैं; जैसे—आसा[२३], चबेना[२४], छौना[२५], टोना-दुटोना[२६], फरिया[२७], बाना[२८], बिंदा[२९], बिथा[३०] बेरा (=बेला[३१]), मरजादा[३२], सिच्छा[३३] आदि। दूसरे प्रकार के शब्द मूलतः प्रायः अकारांत होते हैं; परंतु तुकांत अथवा चरण-पूर्ति के लिए कवि ने उन्हें आकारांत रूप दिया है; जैसे अवतारा[३४], गौना (=गौन =गमन[३५]), चरना (=चरन[३६]) नैना[३७], पौना (=पौन=पवन)[३८], बाता (=बात[३९]), बासा (=वास=वास[४०]), रघुनाथा[४१] आदि।

इ.—इकारांत संज्ञा शब्द—उक्त दोनों रूपों की तरह सूर-काव्य में प्राप्त इकारांत संज्ञा शब्दों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम में शुद्ध इकारांत रूप आते हैं; जैसे—अगिनि[४२], अनुहारि[४३], खोरि[४४], पाँवरि[४५], प्रापति[४६], बिपति[४७], बुधि[४८], मूरति[४९], साखि[५०] आदि। दूसरे वर्ग के शब्दों का इकारांत रूप विकृत कहा जा सकता है; क्योंकि तुकांत अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए अनेक अकरांत, ईकारांत, उकारांत, यकारांत और वकारांत शब्दों को कवि ने इकारांत बना लिया है; जैसे—आइ (=आयु)[५१], आकारि (=आकार)[५२], उपाइ (=उपाय)[५३], करतूति[५४], गुहारि[५५], चाइ (=चाव)[५६], पहिचानि[५७], पौरि[५८], बधाइ (=बधाई)[५९], बानि (=बान)[६०], बिनति (=बिनती)[६१], मुसुकनि[६२], मुहूरति[६३], लराइ[६४] आदि।

ई.—ईकारांत संज्ञा शब्द—आकारांत शब्दों की तरह अधिकांश ईकारांत संज्ञा शब्द अपने शुद्ध रूप में ही सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—अधिकाई[६५], करनी[६६]

---

१५. सा. २-१३। १६. सा. १०-११९। १७. सा. २०५८। १८. सा. ३८४४।
१९. सा. ३८४९। २०. सा. ३८८२। २१. सा. ४-९। २२. सा. ३९५८।
२३. सा. २-१६। २४. सा. ४६७। २५. सा. ६०१। २६. सा. ६०१।
२७. सा. ७०४। २८. सा ६-६। २९. सा. ३-११। ३०. सा. ६-५।
३१. सा. ४-५। ३२. सा. ३७८९। ३३. सा. ३-११। ३४. सा. ९-१४।
३५. सा. ६०१। ३६. सा. ५-२। ३७. सा. ७३०। ३८. सा. ६०१।
३९. सा. ९-४९। ४०. सा. ३-१३। ४१. सा. ९०-६८। ४२. सा. ३-१३।
४३. सा. ३७५६। ४४. सा. ५-४। ४५. सा. ९-५३। ४६. सा. ३-१३।
४७. सा. ९-६५। ४८. सा. ४-१२। ४९. सा. ३-१३। ५०. सा. २-२।
५१. सा. ७-२। ५२. सा. ९-२। ५३. सा. २-५। ५४. सा. २-१३।
५५. सा. ९-६५। ५६. सा. ३-३। ५७. सा. ३७५६। ५८. सा. ९-१।
५९. सा. ५-२। ६०. सा. ३८३९। ६१. सा. ३४१४। ६२. सा. ३७३५।
६३. सा. १-३४३। ६४. सा. ३८१। ६५. सा. २-७। ६६. सा. ३७५०।

गोधनी[६७], घरी[६८], चातुरी[६९], ज्वानी[७०], घरनी[७१], निठुराई[७२], बसीठी[७३], बिनती[७४], बेनी[७५], सत्राई[७६], सहिदानी[७७] आदि। परंतु कुछ ईकारांत संज्ञा शब्द विकृत रूप में भी मिलते हैं जिसकी आवश्यकता तुकांत अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए कवि को पड़ी है; जैसे —उपाई (= उपाय)[७८], गुहारी[७९], जरनी[८०] (= जरन = जलन), पतारी[८१] (पताल), पीठी (= पीठ)[८२], मूरी[८३] (= मूर = मूल), सरनी (= सरन)[८४] इत्यादि।

उ.—**उकारांत संज्ञा शब्द**—सूर-काव्य में प्राप्त अधिकांश उकारांत संज्ञा शब्द ऐसे ही हैं जो व्रजभाषा में उसी रूप में प्रचलित हैं; जैसे—अंबु[८५], आयसु[८६], नाउ[८७], नाजु[८८], नाहु[८९], फेनु[९०], बेनु[९१], रेनु[९२], सचु[९३], साजु[९४], सिसु[९५] आदि। परंतु कुछ विकृत उकारांत शब्दों का भी सूरदास ने प्रयोग किया है। इनका मूल रूप प्रायः अकारांत होता है; जैसे—काजु[९६], गेहु[९७], तनु[९८], सनेहु[९९], साहुं[१] आदि।

ऊ.—**ऊकारांत संज्ञा शब्द**—ऐसे शब्दों की संख्या सूर-काव्य में अधिक नहीं हैं। जो थोड़े-बहुत ऊकारांत शब्द उसमें मिलते हैं उनमें कुछ अपने शुद्ध व्रजभाषा-रूप में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—गऊ[२], चमू[३], दाऊ[४], बटाऊ[५], बारू[६] आदि और कुछ विकृत रूप में; जैसे—बंधू[७], हितू[८] आदि।

ए.—**एकारांत संज्ञा शब्द**—एकारांत संज्ञा शब्दों के सविभक्तिक या बहुवचन रूपों की तो व्रजभाषा में अधिकता है; परंतु दो-चार विभक्तिरहित और एकवचन रूप भी 'सूरसागर' में मिलते हैं, यद्यपि इनमें विभक्ति के संयोग का आभास होता है; जैसे—

१. चितेरे—वैसे हाल मथत दधि कीन्हे हरि मनु लिखे चितेरे[९]।
२. द्वारे— जा द्वारे पर इच्छा होइ, रानी सहित जाइ नृप सोइ[१०]।

ऐ.—**ऐकारांत संज्ञा शब्द**—जो बात एकारांत शब्दों के संबंध में कही गयी हैं, वही ऐकारांत संज्ञा रूपों के विषय में भी है; जैसे—

---

६७. सा.२-१४। ६८. सा. ९-६३। ६९. सा· ३७५७। ७०. सा. ७-२। ७१. सा. ७-३। ७२. सा. ९-५३। ७३. सा. ३७८०। ७४. सा. १-३४२। ७५. सा. २-३। ७६. सा. ४-५। ७७. सा. ९-५३। ७८. सा. ६-५। ७९. सा. ३९१। ८०. सा. ९-७३। ८१. सा. ८-१४। ८२. सा. ३७८०। ८३. सा. २-३२। ८४. सा. ९.७३। ८५. लहरी० उ० ३८। ८६. सा. १-३४३। ८७. सा. ६-३। ८८. सा. ८०८.। ८९. सा. १०१५। ९०. सा. ४८९ ९१. सा. ३८४। ९२. सा. २-३६.। ९३. सा. २-९। ९४. सा. ८०८। ९५. सा. ७-२। ९६. सा. ४६१। ९७. सा. ३७८५। ९८. सा. ४-१३। ९९. सा. ३७८५। १. सा. ११६१। २. सा. ७-७। ३. सा. ३७६१। ४. सा. ७०६। ५. सा. ३७६५। ६. सा. ३८२४। ७. सा. १-२५४। ८. सा. ३८३४। ९. सा. ७१८। १०. सा. ४-१२।

आलै = आलय—जौ पै प्रभु करुना के आलै[११] ।
छारै = छार—राम ते बिछुरि कमल कंटक भए सिंधु भए जल छारै[१२] ।
अरै = अड़—जा कारन तैं सुनि सुत सुंदर कीन्हीं इती अरै[१३] ।
तनै = तनय—जिहिं लोचन अवलोके नखसिख सुंदर नंद तनै[१४] ।
जसोवै = यशोदा[१५] ।
देवै = देवकी— बार बार देवै कहै[१६] ।
बिनै = विनय[१७] ।
बिषै = विषय[१८] ।
मलै = मलय—मिली कुब्जा मलै लैकै[१९] ।
हिरदै —नृप सुनिकै हिरदै मैं राखी[२०] ।

ओ. **ओकारांत संज्ञा शब्द**[२१]—सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' के संपादक की, प्रायः सभी ओकारांत शब्दों को औकारांत रूप में लिखने की, प्रवृत्ति के फलस्वरूप ओकारांत संज्ञा शब्दों के उदाहरण उसमें नहीं मिलते; अन्य 'सूरसागरों' में इनकी प्रचुरता है; जैसे गारो[२२], गो (= गाय[२३]), प्रहारो[२४], बारो[२५] आदि ।

औ. औकारांत संज्ञा शब्द—व्रजभाषा की ओकारांत या औकारांत प्रवृत्ति के फलस्वरूप इस प्रकार के शब्दों का सूर-काव्य में आधिक्य हैं; जैसे—अचंभौ[२६], अँदेसौ[२७], उजियारौ[२८], उरहनौ[२९], खँभारौ[३०], खैरौ[३१], चूनौ[३२], चेरौ[३३], जादौ[३४], ठिकानौ[३५], दौ (= दव[३६]), नातौ[३७], निहोरौ[३८], पछितावौ[३९], बदलौ[४०], बालपनौ[४१], बुढ़ापौ[४२], ब्योरौ[४३], भैंसौ[४४], मतौ[४५], माथौ[४६], रूसनौ[४७], सँदेसौ[४८], सुपनौ[४९], हीयौ[५०] आदि ।

व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ—कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों को सूरदास ने एक से अधिक

---

११. सा. ४१५४ । १२. सा. ३७७८ । १३. सा. १०-१९५ ।
१४. सा. ३६६६ । १५. सा. ३४७ । १६. सा. ३०९० । १७. सा. ४-१२ ।
१८. सा. ७-२ । १९. सा. ३१४१ । २०. सा. ६-७ ।
२१. एटा, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, गुड़गाँव, भरतपुर, धौलपुर, ग्वालियर आदि स्थानों में औकारांत उच्चारण अधिक होता है एवं इटावा, फर्रुखाबाद, बदाऊँ, बरेली आदि में ओकारांत और औकारांत, दोनों उच्चारण प्रचलित हैं—लेखक ।
२२. सा. बेनी. ३३२ । २३. सा. ४७१ , २४. सा. बेनी. ३३२ । २५. सा. बेनी. ३३२ ।
२६. सा. २-१३ । २७. सा. ३८६२ । २८. सा. ४-१३ । २९. सा. ३८४ ।
३०. सा. ३-११ । ३१. सा. १०-२१६ । ३२. सा. ३७३८ । ३३. सा. १०-२१६ ।
३४. सा. ३-३ । ३५. सा. १-४७ । ३६. सा. ४-१२ । ३७. सा. ३-१३ ।
३८. सा. ७३१ । ३९. सा. ३७४७ । ४०. सा. ३-५ । ४१. सा. ७-२ ।
४२. सा. ३-१३ । ४३. सा. ३-१३ । ४४. सा. २-१४ । ४५. सा. १-२६९ ।
४६. सा. २-८ । ४७. सा. ३८२६ । ४८. सा. ३८५८ । ४९. सा. ३७८८ ।
५०. सा. ४-११ ।

छोटे-बड़े रूप दिये हैं जिनमें से छंद की आवश्यकतानुसार उपयुक्त रूप का प्रयोग किया जा सके; जैसे—

अश्वत्थामा—अस्वत्थामा[५१], अस्थामा[५२]।

कृष्ण—कन्हाइ[५३], कन्हाई[५४], कन्हैया[५५], कान्ह[५६], कान्हर[५७], कान्हा[५८], कृष्न[५९]।

दक्ष—दच्छ[६०], दछ[६१]।

दुःशासन—दुसासन[६२]।

दुर्योधन—दुरजोधन[६३], दुर्जोधन[६४], दुर्जोधना[६५]।

यशोदा—जसुदा[६६], जसुमति[६७], जसोइ[६८], जसोद[६९], जसोदा[७०], जसोमति[७१] जसोमती[७२], जसोवै[७३]।

लक्ष्मण—लछन[७४], लछिमन[७५], लषन[७६]।

सीता—सिया[७७], सीता[७८], सीय[७९]।

कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के लिए सूरदास ने नये नये पर्यायवाचियों का प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोगों में अधिकांश प्रचलित रहे हैं और अन्य कवियों की रचनाओं में भी वे मिलते हैं; जैसे—

कृष्ण—कुंजबिहारी[८०], गोपीनाथ[८१], घनस्याम[८२], जदुनाथ[८३], जादवपति[८४], दामोदर[८५], नंदनंदन[८६], बनवारी[८७], बसुदेवकुमार[८८], ब्रजराज[८९], मुरलीधर[९०], श्रीपति[९१]।

द्रौपदी—पारथतिय[९२], पारथ-धन[९३]।

यशोदा—नंदघरनि[९४], नंद-नारी[९५], नंदरनियाँ[९६]।

राधा—उदधि-सुता[९७], कीरति-सुता[९८], बृषभानु-सुता[९९], सुता- दधि[१]।

राम—कमलापति[२], खरारि[३], दसरथ-सुत[४], रघुनाथा[५]।

---

५१. सा. १-२८९। ५२. सा. १-२४९। ५३. सा. ५३२।
५४. सा. १०-२३२। ५५. सा. १०-४७। ५६. सा. १०-२२४। ५७. सा. १०-२२१।
५८. सा. १०-२२०। ५९. सा. १-२५६। ६०. सा. ३-१२। ६१ सा. ४-५।
६२. सा. १-२४६। ६३. सा. १-२३९। ६४. सा. १-२४९। ६५. सा. १-२३८।
६६. सा. १०-५७। ६७. सा. १०-२९। ६८. सा. १०-५६। ६९. सा. १०-११९।
७०. सा. १०-३०। ७१. सा. १०-२८। ७२. सा. २९०५। ७३. सा. ३४७।
७४. सा. ९-५७। ७५. सा. ९-५६। ७६. सा. ९-६०। ७७. सा. ९-७०।
७८. सा. ९-५९। ७९. सा. ९-६०। ८०. सा. २६५१। ८१. १-११३।
८२. सा. १-७६। ८३. सा. १-३। ८४. सा. ४१३२। ८५. सा. १-१०९।
८६. सा. ३२६८। ८७. सा. १-१६०। ८८. सा. ४१६०। ८९. सा. १-२१९।
९०. सा. ४१२। ९१. सा. ४१११। ९२. सा. १-२१। ९३. सा. १-६६।
९४. सा. १०-१०९। ९५. सा. १०-१६७। ९६. सा. १०-१४५। ९७. सा. ३२४२।
९८. सा. ७१४। ९९. सा. ७२०। १. सा. ३२४१। २. सा. ९-१२२।
३. सा. ९-६५। ४. सा. ९-६९। ५. सा. ९-६८।

आ. शब्दांत में 'अई' या 'ई' जोड़कर; जैसे—अधमई,[८२] चतुरई,[८३] निठुरई,[८४] बढ़ई,[८५] मित्रई,[८६] रसिकई,[८७] लँगरई[८८], सुंदरई[८९]।

इ. 'आत' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—कुसलात[९०]। यह शब्द 'कुशलता' का विकृत रूप भी हो सकता है। ऐसे शब्द अधिक नहीं मिलते।

ई. 'औरी' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—ठग+औरी=ठगौरी[९१]। ऐसे शब्द भी कम ही मिलते हैं।

उ. शब्दों के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और अंत में 'आई' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—ठाकुर, धूत, राजा से ठकुराई[९२], धुताई,[९३] रजाई[९४] आदि।

ऊ. शब्दांत के दीर्घाक्षर को लघु करके अथवा यदि वह लघु ही हो तो उसी के साथ 'प' प्रत्यय, जो 'पन' का लघु रूप जान पड़ता है, जोड़कर; जैसे—सयानप[९५]।

ए. शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और 'आइत' या 'आयत' प्रत्यय जोड़ कर; जैसे—ठाकुर+आइत या आयत=ठकुराइत[९६] या ठकुरायत[९७]। ऐसे शब्द भी सूर-काव्य में अधिक नहीं हैं।

ऐ. शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके और शब्दांत में 'ई' जोड़कर; जैसे—दूबर से दुबराई[९८]।

ओ. शब्द के प्रथम दीर्घ अक्षर को लघु करके अंत में 'आन' जोड़कर; जैसे—ढीठ से ढिठान[९९]।

औ. शब्द के प्रथम लघु अक्षर को दीर्घ करके और शब्दांत में 'ई' जोड़कर; जैसे—मधुर से माधुरी[१]।

सयानप, ठकुरायत आदि शब्दों की तरह दो-दो एक-एक उदाहरणों के आधार पर यों तो कुछ और नियम भी बनाये जा सकते हैं; परन्तु भाववाचक शब्दों के निर्माण के विषय में सूरदास की मनोवृति का परिचय पाने के लिए उक्त नियम ही पर्याप्त हैं। जिन शब्दों से भाववाचक संज्ञा-रूप बनाने के लिए उक्त रीतियों को सूरदास ने अपनाया है वे प्रधानतः जातिवाचक संज्ञा और गुणवाचक विशेषण ही हैं।

ख. क्रिया शब्दों से निर्माण—क्रिया शब्दों से भाववाचक रूपों का निर्माण करने के लिए सूरदास ने साधारणतः जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें मुख्य ये हैं—

---

८२. सा. १-१९७। ८३. सा. ३३६३। ८४. सा. १९२६।
८५. सा. १-३। ८६. सा. ४२४१। ८७. सा. २५४१।
८८. सा. ३४४। ८९. सा. २५२६। ९०. सा. ३७४८। ९१. सा. १-१८७।
९२. सा. ४१९५। ९३. सा. ९२३। ९४. सा. १३०८। ९५. सा. ८-१४।
९६. सा. ३६८७। ९७. सा. १-१८। ९८. सा. ३७६४। ९९. सा. ९-१३४।
१. सा. ३०२६।

अ. क्रिया के मूल धातु-रूप का ही भाववाचक संज्ञा की तरह सूरदास ने कभी-कभी प्रयोग किया है ; जैसे--कीर = क्रीड़ = क्रीड़ा,[२] खोज,[३] छाप[४] ।

आ. मूल धातु रूप में 'आउ' या 'आऊ' प्रत्यय या इसके परिवर्तित रूप 'आव' या 'आवा' के संयोग से; जैसे--दुराउ[५] ।

इ. मूल धातु रूप में 'आन' प्रत्यय जोड़कर; जैसे--संधान[६] ।

ई. मूल धातु रूप में 'नि' या 'नी' प्रत्यय जोड़कर; जैसे-करनी,[७] जपनी[८], जियनि,[९] तपनी,[१०] बिछुरनि,[११] लरखरनि[१२] ।

उ. मूल धातु रूप में 'आई' प्रत्यय जोड़कर; जैसे--उतराई[१३], दुराई[१४], लराई[१५]।

ऊ. मूल धाधु रूप में 'वानी' प्रत्यय जोड़कर; जैसे--रखवानी[१६] ।

ए. मूल धातु रूप में 'आर' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—जगार[१७] ।

ग. सर्वनामों से रूप-निर्माण—संज्ञा (जातिवाचक), विशेषण और क्रिया शब्दों के अतिरिक्त कुछ सर्वनामों से भी सूरदास ने भाववाचक संज्ञाएँ बनायी हैं ; यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है। इनके निर्माण में मुख्यतः निम्नलिखित नियमों का सहारा लिया गया है।

अ. 'ता' प्रत्यय के संयोग से; जैसे--ममता[१८] (मम = 'अस्मद' की षष्ठी विभक्ति का एकवचन रूप), हमता [१९] आदि ।

आ. 'त्व' प्रत्यय के संयोग से; जैसे--ममत्व[२०] ।

इ. कुछ सार्वनामिक विशेषण-रूपों के प्रथम दीर्घाक्षर को लघु करके और 'पउ' या 'पौ' प्रत्यय के संयोग से; जैसे---अपुनपौ[२१] (आपन < अपन + पौ) ।

घ. भाववाचक संज्ञाओं से पुनः निर्माण – सूरदास ने कुछ ऐसे रूपों का भी प्रयोग किया है जो वस्तुतः भाववाचक संज्ञाओं से ही विभिन्न प्रत्ययों के संयोग से पुनः निर्मित हुए हैं। विशेषण और जातिवाचक संज्ञा शब्दों के भाववाचक-रूप उन्होंने जिन नियमों के आधार पर बनाये हैं, उन्हीं में से कुछ का प्रयोग इन विचित्र भाववाचक रूपों के लिए भी किया गया है—

अ. 'आई' प्रत्यांत रूप; जैसे—सरनाई[२२] ।

आ 'ई' प्रत्यांत-रूप; जैसे—आतुरताई[२३], चंचलताई[२४], जड़ताई[२५], दृढ़ताई[२६], नागरताई[२७], निठुरताई[२८], प्रभुताई[२९], सिद्धताई[३०], सीतलताई[३१], सुंदरताई[३२], स्यामताई[३३] आदि ।

---

२. सा. १७५२ । ३. सा. ८५४ । ४. सा. १६१८ । ५. सा. २५२८ ।
६. सा. १-९७ । ७. सा. १-४ । ८. सा. २०९२ । ९. सा. २५९८ ।
१०. सा. २०९२ । ११. सा. ३७३९ । १२. सा. १०-१०९ । १३. सा. ९-४० ।
१४. सा. ९-१४ । १५. सा. ८-८ । १६. सा. १३९८ । १७. सा. २३०० ।
१८. सा. १-५१ । १९. सा. १-११ । २०. सा. ५-२ । २१. सा. २-२६ ।
२२. सा. ९. १४७ । २३. सा. १०९९ । २४. सा. ११३८ । २५. सा. १-१८७ ।
२६. सा. २३२६ । २७. सा. २८२६ । २८. सा. १३६३ । २९. सा. १-१९५ ।
३०. सा. ३७६१ । ३१. सा. ३७५१ । ३२. सा. १८३२ । ३३. सा. २८२६ ।

ई. शब्द के **प्रथम** दीर्घाक्षर को लघु करके और 'आई' प्रत्यय जोड़कर; जैसे—'पूजा' से पुजाई [३४]।

ई. 'हाई' प्रत्यय के संयोग से; जैसे—रिसहाई[३५],

इनके अतिरिक्त घटताई[३६], चातुरताई[३७], ससिताई[३८] आदि स्वनिर्मित भाववाचक संज्ञाओं से पुनः वैसे ही नये रूप उन्होंने गढ़ लिये हैं जिनकी संख्या अधिक नहीं है। इस प्रकार के शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हैं और गद्य में उनका प्रयोग वर्जित है; परंतु भ्रमोत्पादक न होने के कारण ऐसे प्रयोगों को कवि स्वातंत्र्य के अंतर्गत ही मान लेना चाहिए।

शब्दों के लिंग और सूर के प्रयोग—

पुल्लिग शब्दों से स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए सूरदास ने जिन-जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. अकारांत पुल्लिग संज्ञाओं के अंतिम 'अ' का 'इनि' या 'इनी में परिवर्तन करके; जैसे—अस्व-अस्विनी[३९], गीध-गीधिनी[४०], भिल्ल-भिल्लिनि[४१], भुजंग-भुजंगिनि[४२] मृग-मृगिनी[४३], रँगरेज-रँगरेजिनी[४४], रसिक-रसिकिनी[४५], सुहाग-सुहागिनि[४६], सेवक सेवकिनी[४७] आदि।

आ. अकारांत पुल्लिग संज्ञाओं के अंतिम 'अ' को दीर्घ करके; जैसे—तनय-तनया[४८], नवल-नवला [४९], प्रिय-प्रिया[५०], स्याम-स्यामा[५१], आदि।

इ. अकारांत पुल्लिग संज्ञाओं के अंतिम 'अ' को 'इ' या 'ई' में परिवर्तित करके—जैसे—अहीर-अहीरी[५२], किसोर किसोरी[५३], तरुन-तरुनि[५४], पन्नग-पन्नगी[५५] भ्रमर-भ्रमरी[५६], मृग-मृगी[५७], सहचर-सहचरी[५८] आदि।

ई. अकारांत पुल्लिग संज्ञाओं के अंतिम 'अ' को 'आनि' या 'आनी में परिवर्तित करके; जैसे—इंद्र-इंद्रानी[५९]।

उ. अकारांत और इकारांत पुल्लिग संज्ञाओं के अंत में अतिरिक्त 'नि' या 'नी' जोड़कर; जसे—अहि-अहिनी[६०], घर-घरनि[६१]।

ऊ. आकारांत पुल्लिग संज्ञाओं के अंतिम आ का 'इ' या 'ई' में परिवर्तन करके; जैसे—चेरा-चेरी[६२], सयाना-सयानी[६३]आदि।

---

३४. सा. ८१८। ३५. सा. २७१८। ३६. सा. १८५८। ३७. सा. २८२६
३८. सा. २४३६। ३९. सा. ९-३। ४०. सा. २-१४ ४१. सा. १-२५
४२. सा. २-३२। ४३. सा. १-२२१। ४४. सा. २४८५। ४५. सा. २४५९
४६. सा. ९-४४। ४७. सा. ३०९०। ४८. सा. १. २७। ४९. सा. १८५९
५०. सा. १-६५। ५१. सा. १-८७। ५२. सा. १९३१
५३. सा. १९३१। ५४. सा. १८१५। ५५. सा. २६४८
५६. सा. २३१५। ५७. सा. १-२५१। ५८. सा २५२७। ५९. सा. ७-७
६०. सा. १८१४। ६१. सा. १०-१०९। ६२. सा. १-१६५। ६३. सा. २८०२

ए. आकारांत पुंल्लिग संज्ञाओं के अंतिम 'आ' को 'इनि' या 'इनी' से परिवर्तित करके; जैसे—लरिका-लरिकिनी[६४]।

ऐ. ईकारांत पुंल्लिग संज्ञाओं के अंतिम 'ई' को लघु करके और शब्दान्त में 'नि' या 'नी' जोड़कर, अथवा शब्दांत की 'ई' को 'इनि' या 'इनी' से परिवर्तित करके; जैसे—अधिकारी-अधिकारिनि[६५], अपराधी-अपराधिनि[६६], गेही-गेहिनी[६७], पापी-पापिनि[६८], बिलासी-बिलासिनि[६९], साहसी-साहसिनी[७०], सनेही-सनेहिनी[७१], स्वामी-स्वामिनि[७२] या स्वामिनी[७३], लोभी-लोभिनी[७४]।

ओ. दो लघु अकारांत अक्षरों से बने पुंल्लिग संज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर को दीर्घ करके और द्वितीय के 'अ' को 'इ' या 'ई' से परिवर्तित करके; जैसे—नर-नारि[७५] या नारी[७६]।

ओ. दो से अधिक अक्षर वाले शब्द के प्रथम आकारांत अक्षर को लघु करके और अंत में 'आइनि' या 'आनी' जोड़कर; जैसे—ठाकुर-ठकुराइनि[७७] या ठकुरानी[७८]।

नियमों के अपवाद—पुंल्लिग से स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द बनाने के लिए सूरदास ने जिन-जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें से मुख्य-मुख्य ऊपर दिये गये हैं। उनके काव्य का ध्यान से अध्ययन करने पर अनेक ऐसे प्रयोग भी मिल जाते हैं; जैसे—दूत-दूतिका[७९], बग-बगुली[८०], जिन पर उक्त नियम लागू नहीं होते। ऐसे प्रयोगों के लिए स्वतंत्र नियम बनाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती; क्योंकि ऐसे स्फुट उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

लिंग-संबंधी विशेष प्रयोग—प्राणिवाचक संज्ञा शब्दों के लिंग-भेद का पता लगाने में तो कदाचित् कभी कठिनाई नहीं होती; परंतु अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग का निर्णय, भाषा का ज्ञान न रखनेवाले के लिए, कभी-कभी समस्या बन जाता है। ऐसी स्थिति में संबंधित सामान्य और सार्वनामिक विशेषण, संबंधकारकीय विभक्ति और क्रिया-प्रयोग से सहायता मिल सकती है। सूर-काव्य में कुछ ऐसे अप्राणिवाचक संज्ञा रूप भी मिलते हैं जो पुंल्लिग शब्दों में लघुता-द्योतक प्रत्यय लगा कर स्त्रीलिंगवाची बना लिये गये हैं; जैसे—धनु-धनुही[८१] या धनुहियाँ[८२], लकुटी-लुकुटिया[८३]। इसी प्रकार सुंदरता, सुकुमारता या लघुता की दृष्टि से कुछ अप्राणिवाचक स्त्रीलिंग शब्दों को पुनः अल्पार्थक बनाने का भी प्रयत्न कभी-कभी सूरदास ने किया है; जैसे—पनही-पनहियाँ[८४]।

लिंग-निर्णय में स्वतंत्रता—कुछ शब्दों के लिंग-निर्णय में सूरदास ने स्वतंत्रता से भी

६४. सा. ६७२। ६५. सा. १३४३। ६६. सा. २८२६। ६७. सा. ३१७९।
६८. सा. १-५३। ६९. सा. २८२६। ७०. सा. १३४०। ७१. सा. १९६३।
७२. सा. ९-१५२। ७३. सा. २६६६। ७४. सा. २४०७।
७५. सा. २२-९। ७६. सा. १-१५८। ७७. सा. ४०९४।
७८. सा. ४२९१। ७९. सा. २४२३। ८०. सा. २-१४।
८१. सा. ९-२०। ८२. सा. ९-१९। ८३. सा. ८-१५। ८४. सा. ९-११।

काम लिना है; जैसे--पुल्लिग शब्द 'धीर' का उन्होने स्त्रीलिंग रूप में भी प्रयोग कर दिया है; जैसे--भीर के परे तैं धीर सबहिंन तजी[८५]। परंतु ऐसे प्रयोग उनके काव्य में अधिक नहीं हैं और जहाँ हैं भी, वहाँ तुक-निर्वाह के लिए इनको स्वीकार किया गया है।

वचन और सूर के प्रयोग—

कभी-कभी आदर सूचित करने के लिए सूरदास ने एकवचन संज्ञा रूप का प्रयोग बहुवचन के समान किया है; जैसे—

१. अक्रूर—जबहीं रथ अक्रूर चढ़े[८६]।
२. ऊधौ—आए हैं ब्रज के हित ऊधौ[८७]। ऊधौ जोग सिखावन आए[८८]।
३. जज्ञपुरुष—जज्ञपुरुष प्रसन्न तब भए[८९]।
४. द्विज बामन—द्वारे ठाढ़े हैं द्विज बामन[९०]।
५. ध्रुव—ध्रुव खेलत खेलत तहँ आए[९१]।
६. पाँड़े—आए जोग सिखावन पाँड़े[९२]।
७. प्रभु—सूरदास प्रभु वै अति खोटे[९३]।
८. मनमोहन—री वै मनमोहन ठाढ़े ब्रजनायक सुनि सजनी[९४]।
९. सुफलक-सुत—प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत लै मधुपुरहिं सिधारे[९५]।
१०. हरि—हरि बैकुंठ सिधारे[९६]।
११. हिरनकसिप—हिरनकसिप निज भवन सिधाए[९७]।

अनेक स्थलों पर शब्द के एकवचन रूप के पूर्व निश्चित या अनिश्चित संख्यावाचक विशेषणों का प्रयोग करके सूरदास ने उनका बहुवचन की तरह प्रयोग किया है; जैसे—

१. असुर—असुर द्वै हुते बलवंत भारी[९८]।
२. आभरन—पहिरि सब आभरन राज लागे करन[९९]।
३. उद्यम—मरन भूलि, जीवन थिर जान्यौ, बहु उद्यम जिय धार्यौ[१]।
४. कला—ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै लोभ न छूटत नट कै[२]।
५. चरित—सूर प्रभु चरित अगनित, न गनि जाहिं[३]।
६. जज्ञ—निन्यानबे जज्ञ जब किये[४]।
७. जन्म—बहुत जन्म इहिं बहु भ्रम कीन्ह्यौ[५]।
८. जिय—अपनौ पिंड पोषिबे कारन कोटि सहस जिय मारे[६]।

---

८५. सा- १-५। ८६. सा. २९९२। ८७. सा. ३५९०।
८८. सा. ३६०१। ८९. सा. ४-५। ९०. सा. ८-१३।
९१. सा. ४-९। ९२. सा. ३६०४। ९३. सा. २९०१।
९४. सा. २८००। ९५. सा. ३५९४। ९६. सा. १-२९०। ९७. सा. ७-२।
९८. सा. ८-११। ९९. सा. ४-११। १. सा. १-३३६। २. सा. १-२९२।
३. सा. ४-११। ४. सा. ८-१२। ५. सा. ४-१२। ६. सा. १-३३४।

९. जीव—तहाँ जीव नाना संहरै[७]।
१०. जुग—जनमत-मरत बहुत जुग बीते[८]।
११. जोनि—चौरासी लख जोनि स्वाँग धरि भ्रमि भ्रमि जमहिं हँसावै[९]।
११. तपसी—बहुतक तपसी पचि पचि मुए[१०]।
१३. तीरथ—कौन कौन तीरथ फिरि आए[११]।
१४. दुख—इनि तव राज बहुत दुख पाए[१२]।
१५. द्वार—सुरति के दस द्वार रूँधे[१३]।
१६. द्वीप—सातौ द्वीप राज ध्रुव कियौ[१४]।
१७. पदारथ—चारि पदारथ के प्रभु दाता[१५]।
१८. पुत्र—इनके पुत्र एक सौ मुए[१६]।
१९. बृत्तांत—नृप कौ सब बृत्तांत सुनाए[१७]।
२०. सती—सती कह्यौ, मम भगिनी सात[१८]।

बहुवचन बनाने के नियम—अवधी में तो प्रायः कारक-चिह्न लगने पर ही बचन-रूप-परिवर्तन की आवश्यकता होती है; परंतु व्रजभाषा में प्रायः सभी स्थितियों में एक वचनात्मक शब्दों के बहुवचन रूप बनाये जाते हैं। सूरदास ने इस कार्य के लिए जिन-जिन नियमों का सहारा लिया है, उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—

अ. अकारांत स्त्रीलिंग शब्द का अंत्य स्वर एँ या ऐं से परिवर्तित करके; जैसे—कुंज या-कुंजैं[१९], छाक-छाकैं (घर घर तैं छाकैं चलीं)[२०], बात-बातैं[२१], सेज सेजैं[२२]।

आ. अकारांत या इकारांत एकवचन शब्दों के अंत में 'नि' जोड़कर। व्रजभाषा में 'नि' कारक-चिह्न भी है; अतएव सभी 'नि'-अंत शब्द बहुवचन नहीं होते। प्रायः ऐसे शब्दों के साथ स्वतंत्र विभक्तिचिह्न भी प्रयुक्त हुआ है। जिन शब्दों में कवि ने 'नि' बहुवचन बनाने के लिए जोड़ा है, उनके कुछ उदाहरण, पूरी पंक्ति के रूप में, यहाँ उद्धृत हैं जिससे स्पष्ट हो जाय कि इनका 'नि' कारकीय चिह्न नहीं है—

१. ग्वालनि—टेरत कान्ह गए ग्वालनि कौं स्रवन परी धुनि आई[२३]।
२. नरनि—बिन तुम्हारी कृपा गति नहीं नरनि की, जानि मोहिं आपनौ कृपा कीजै[२४]।
३. नैननि—नैननि सौं झगरौ करिहौं री[२५]।
४. बिमाननि—देखत मुदित चरित्र सबै सुर ब्योम बिमाननि भीर[२६]।

---

७. सा. ४-१२। ८. सा. १-३१७। ९. सा. २-१३।
१०. सा. ४-९। ११. सा. १-२८४। १२. सा. १-२८४।
१३. सा. १-३१६। १४. सा. ४-९। १५. सा. २-१६। १६. सा. १-२८४।
१७. सा. १-२८४। १८. सा. ४-५। १९. सा. ४०६८। २०. सा. ४९२।
२१. सा. ४४११। २२. सा. ३८४७। २३. सा. १९५९।
२४. सा. ८-१६। २५. सा. २३१९। २६. सा. ९-२६।

५. भिल्लनि—तहँ भिल्लनि सौं भई लराई[२७]।
६. रिषिनि—तहाँ रिषिनि कौ दरसन पायौ[२८]।
७. सुरनि—सुरनि कौं अमृत दीन्ह्यौ पियाई[२९]।

इ. कुछ अकारांत और इकारांत एक-वचन शब्दों के अंत में 'न' जोड़कर[३०]; जैसे—गाँव-गाँवन[३१], ग्वाल-ग्वालन[३२], नारि-नारिन[३३], बालक-बालकन[३४], सेनापति-सेनापतिन[३५]।

ई. कुछ आकारांत और ईकारांत शब्दों के अन्त में 'न' या' 'नि' जोड़ने के पहले अंत्य दीर्घ स्वर को लघु करके[३६]; जैसे—अबला-अबलनि[३७], गैया-गैयनि[३८], जुवती-जुवतिनि[३९], ब्रजबासी-ब्रजबासिनि[४०], युवती-युवतिनि[४१], लरिका-लरिकनि[४२]।

उ. कुछ आकारांत शब्दों के अंतिम आ को ए से परिवर्तित करके; जैसे—चेरा-चेरे[४३], तारा-तारे[४४], नाता-नाते[४५] आदि।

ऊ. कुछ इकारांत संज्ञाओं के अंत में 'याँ' जोड़कर; जैसे—अलि-अलियाँ[४६]।

ए. कुछ ईकारांत संज्ञाओं के अंत्य स्वर को ह्रस्व करके और 'या' जोड़कर; जैसे—अँगुरी-अँगुरियाँ[४७], कली-कलियाँ[४८], गली-गलियाँ[४९], रँगरली-रँगरलियाँ[५०]।

ऐ. कुछ शब्दों में केवल अनुस्वार या चंद्रविंदु लगाकर ही सूरदास ने बहुवचन रूप बना लिये हैं; जैसे—चिरिया-चिरियाँ[५१], जुवती-जुवतीं[५२], तरुनी-तरुनीं[५३], बहुरिया-बहुरियाँ[५४] आदि। कभी-कभी एकवचन संज्ञा शब्द को तो मूल रूप में ही सूरदास ने रहने दिया है; परंतु क्रिया शब्द को अनुस्वार या चंद्रविंदु जोड़कर बहुवचन बना लिया है; जैसे—जल भीतर सब गईं कुमारी[५५]। तीर आइ जुवती भईं ठाढ़ी[५६]। इतनौ कष्ट करैं सुकुमारी[५७]।

कहीं कहीं एकवचन संज्ञा शब्द के साथ केवल आदर सूचित करने के लिए अनुस्वार या चंद्रविंदुयुक्त बहुवचन क्रिया का प्रयोग सूरदास ने किया है; जैसे—यह देखति हँसि उठीं जसोदा[५८]।

---

२७. सा. १-२८६। २८. सा. १-२२८। २९. सा. ८-८।
३०. 'सभा' के 'सूरसागर' में इस प्रकार के प्रयोग कम ह; क्योंकि 'न' का काम उसके संपादक ने प्रायः 'नि' से लिया है—लेखक।
३१. सा. ८-१३। ३२. सा. बेनी. १०-२३७। ३३. सा. २८५१। ३४. सा. ३२१६।
३५. सा. बेनी. १०-५१। ३६. सा. २३९६। ३७. सा. २४७९। ३८. सा २-२९।
३९. सा. २६२०। ४०. सा. ७९९। ४१. सा. २६२०। ४२. सा. २६२०।
४३. सा. २६२०।
४४. 'न' और 'नि' के साथ साथ कुछ कवियों ने 'न्ह' और 'न्हि' का प्रयोग भी किया है। 'सभा' के 'सूरसागर' में ऐसे उदाहरण भी नहीं हैं—लेखक।
४५. सा. ३५९७। ४६. सा. ६८०। ४७. सा. ९-२५। ४८. सा. २९६९।
४९. सा. बेनी. १०९८। ५०. सा. २९६९। ५१. सा. २५१४। ५२. सा. ७९९।
५३. सा. ७९३। ५४. सा. ७९९। ५५. सा. ७९९।
५६. सा. ७९९। ५७. सा. ७९९। ५८. सा. ७९९।

ओ. कुछ एकवचन शब्दों के साथ अनी, अवलि या अवली, गन (=गण), जन, जाति, निकर, पुंज, वृंद, संकुल, समाज, समूह आदि जोड़कर उन्होंने बहुवचन रूप बनाये हैं; जैसे—

१. अनी—सुर नर असुर-अनी[५९]।
२. अवलि, अवली—मुक्तावलि[६०], रोमावलि[६१]।
३. कदंब—दुख-कदंब[६२]।
४. गन—अमर मुनिगन[६३], किरनिगन[६४], जाचकगन[६५], द्विजगन[६६], मुकुतागन[६७]।
५. ग्राम—गुन-ग्राम[६८]।
६. जन—कविजन[६९], गुनीजन[७०], गोपीजन[७१], बंदीजन[७२], द्विज-गुरु-जन[७३]।
७. जाल, जाला—कमल-जाल[७४], जंजाल-जाल[७५], दधि-बिंदु-जाल[७६], नग-जाला[७७], बनिता-जाल[७८], सखी-जाल[७९], सर-जाल[८०], सुक-जाल[८१]।
८. जूथ—मृग-जूथ[८२]।
९. निकर—खग-निकर[८३], नारि-निकर[८४]।
१०. पुंज—कुंज-पुंज[८५], सिसु-पुंज[८६]।
११. प्रपुंज—प्रपुंज- चंचरीक[८७]।
१२. बृंद—कुमुद-बृंद[८८], जुवति-बृंद[८९], सुरभी-बृंद[९०], सुत-बृंद[९१]।
१३. माल, माला—अंसु-माल[९२], अलि-माल[९३], भृंग-माल[९४], मृग-माला[९५]।
४१. लोग—तपसी-लोग[९६], बटाऊ-लोग[९७]।
१५. समूह—समूह-तारे[९८]।
१६. स्रेनी—सुक-स्रेनी[९९]।

सूरदास के वचन-संबंधी प्रयोगों के विषय में एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि उन्होंने कपोल, कुच, केस, चरन, चिकुर, दाँत (दँतियाँ) दंपति, नैन, पाईं, पौरुष प्रान, लोग, समाचार आदि शब्दों और उनके पर्यायवाचियों का प्रयोग प्रायः बहुवचन में ही किया है; जैसे —

५९. सा. २-२८। ६०. सा. २४४६। ६१. सा. २६१०। ६२. १०-२०५। ६३. सा. ९-१७२। ६४. सा. १३८२। ६५. सा. १०-३१। ६६. सा. ९-१६९। ६७. सा. १८३२। ६८. सा. ९-१७०। ६९. सा. ३५७२। ७०. सा. ४-११। ७१. सा. १-१२१। ७२. सा. १०-१४। ७३. सा. १०-२४। ७४. सा. ६१९। ७५. सा. १०-२०५। ७६. सा. १०-२७५। ७७. सा. ६२५। ७८. सा. १०५०। ७९. सा. २८५८। ८०. सा. १-२७८। ८१. सा. ६२७। ८२. सा. ६२०। ८३. सा. १०-२०५। ८४. सा. ६२५। ८५. सा. १०-३४। ८६. सा. १३८०। ८७. सा. १०-२०५। ८८. सा० १०-२०२। ८९. सा. २०२३। ९०. सा. ३८४। ९१. सा. १०-२०५। ९२. सा. ६१९। ९३. सा. १२१६। ९४. १२१२। ९५. सा. २९४४। ९६. सा. ९-१७४। ९७. सा. ३७६५। ९८. सा. १०-२०५। ९९. सा. १०४९।

कपोल—सुन्दर चारु कपोल बिराजत[1]।
कुच—कंचुकी भूषन कवच सजि कुच कसे रनबीर[2]।
केस—कछुक कुटिल कमनीय सघन अति गोरज मंडित केस[3]।
चरन—आजु देखौं वै चरन[4]।
चिकुर—स्याम चिकुर भए सेत[5]।
थनु—आनँद मगन धेनु स्रवैं थनु[6]।
दँतियाँ—हरषित देखि दूध की दँतियाँ[7]।
दंपति—दंपति बात कहत आपुस मैं[8]।
नैन—अति रस लंपट नैन भए[9]।
पाँइँ—प्रथम भरत बैठाइ बंधु कौ, यह कहि पाँइँ परे[10]।
पौरुष—जिह्वा रोम रोम प्रति नाहीं, पौरुष गनौं तुम्हारे[11]।
प्रान—हरि के देखत तजै परान (प्रान)[12]। स्याम गऐं सखि प्रान रहेंगे[13]।
लोग—ब्याकुल भए ब्रज के लोग[14]। सब खोटे मधुबन के लोग[15]।
समाचार—पूछे समाचार सति भाए[16]।

यदि उक्त शब्दों अथवा इसी प्रकार के अन्य शब्दों का प्रयोग कवि को एकवचन में कभी करना होता है तो तद्विषयक कोई संकेत उसने अवश्य कर दिया है; जैसे—**बाम-अँखिया फरकि रही**[17]। अपनी गरज कौ तुम एक पाँइ नाचे[18]।

सहचर शब्दों के वचन—जो सहचर शब्द साधारणतः एकवचन रूप में होते हैं, उनका प्रयोग सूरदास ने दोनों वचनों में किया है। कुछ सहचर शब्दों के एकवचन प्रयोग यहाँ दिये जाते हैं—

छेम-कुसल—छेम-कुसल अरु दीनता दंडवत सुनाई[19]।
धन-धाम—सोइ धन-धाम नाम सोइ कुल सोइ जिहिं बिढ़यौ[20]।
मैं-मेरी—मैं-मेरी अब रही न मेरैं, छुट्यौ देह अभिमान[21]।
राज-पाट—राज-पाट सिंहासन बैठौ नील पदुम हूँ सौं कहै थोरी[22]।
सर-अवसर—नृप सिसुपाल महा पद पायौ सर-अवसर नहिं जान्यौ[23]।

परन्तु कुछ स्थलों पर एकवचन शब्दों के संयुक्त सहचर रूपों का सूरदास ने बहुवचन में भी प्रयोग किया है; जैसे—

---

१. सा. ४७३। २. सा. २४४९। ३. सा. ४७८। ४. सा. २९४८। ५. सा. १.३२२। ६. सा. १०-३०। ७. सा. १०-८२। ८. सा. ५१९। ९. सा. २३७५। १०. सा. ९-१७१। ११. सा. ९-१४७। १२. सा. १.२८० १३. सा. २९६४। १४. सा. २९५८.। १५. सा. ३५९०। १६. स १.२८४। १७. सा. २७८७। १८. सा. २५४९। १९. सा. १.२३८। २० सा. १.२९८। २१. सा. २-३३। २२. सा. १-३०२। २३. सा. १-१५८।

असन-बसन — असन-बसन बहु बिधि चाहै[२४]।
खान-पान — तब घौं कौन साथ रहि तेरैं खान-पान पहुँचाए[२५]।
ग्रह-नछत्र — ग्रह-नछत्र सवहीं फिरैं[२६]।
थावर-जंगम — थावर-जंगम सुर असुर रचे सबै मैं आइ[२७]।
द्रुम-तृन — ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँधि फिरचौ[२८]।
भाई-बंधु — भाई-बंधु कुटुंब सहोदर, सब मिलि यहै बिचारयौ[२९]
सम-दम — सम-दम उनहीं संग सिधारे[३०]।

वचन-संबंधी खटकनेवाले कुछ प्रयोग — व्याकरण की दृष्टि से वचन-संबंधी बहुत कम भूलें कवियों ने की है। सूर-काव्य में भी बहुत खोजने पर ही एकाध भूल दिखायी पड़ सकती है। हाँ, दो-एक पंक्तियों में बहुवचन में ही प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्दों के साथ दो या अधिक संख्यासूचक शब्द का अनावश्यक प्रयोग अवश्य किया गया है; जैसे — जुगल जंघनि[३१]। उमँगे दोउ नैना[३२]। दोऊ नैन[३३]।

इसी प्रकार किसी शब्द के बहुवचन रूप के साथ पुनः समूहवाचक शब्द का योग — जैसे मधुपनि की माल[३४] — भी दोष-युक्त है। कुछ प्रयोगों के साथ समूहवाचक दोहरे शब्दों का भी प्रयोग उन्होंने किया है जो खटकता है; जैसे — मुनि-जन-गन[३५]

संज्ञाओं के कारकीय प्रयोग —

रूप-रचना की दृष्टि से सूर-काव्य में प्रयुक्त संज्ञा शब्दों को दो वर्गों में रखा जा सकता है — मूल रूप और विकृत रूप। दोनों लिंगों और दोनों वचनों के आधार पर इनकी संख्या आठ हो जाती है। इन आठों रूपों का प्रयोग सभी कारकों में समान रूप से सूरदास ने नहीं किया है। अतएव प्रत्येक कारक के अंतर्गत केवल प्रमुख रूपों के ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

हिंदी में आठ कारक होते हैं[३६]। व्रजभाषा में कारकों की यही संख्या है। इनके नाम और हिंदी तथा व्रजभाषिक मुख्यकारक चिह्न, परसर्ग[३७] या विभक्तियाँ और उनके अन्य विकृत रूप इस प्रकार हैं —

---

२४. सा. ३-१३। २५. सा. १-३२०। २६. सा. ४-९। २७. सा. २-३६।
२८. सा. २-२६। २९. सा. १-३३६। ३०. सा. १-२९०। ३१. सा. १०-२३४।
३२. सा. १-२४७। ३३. सा. ७४९। ३४. सा. १०-२०७। ३५. सा. ११५४।

३६. संस्कृत में छः कारक — कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण — तथा सात विभक्तियाँ — प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्टी और सप्तमी — होती हैं। संबंधकारक का संबंध क्रिया से न होने के कारण उसकी गणना संस्कृत-कारकों में नहीं की जाती — लेखक।

३७. डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने 'व्याकरण' में 'कारकचिह्नों' के लिए 'परसर्ग' शब्द का प्रयोग किया है ('व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ११६) और 'इतिहास' में 'कारकचिह्न' ('हिंदी भाषा का इतिहास', पृ० २९४); परंतु पं०. कामता प्रसाद गुरु ने

कारक	हिंदी-विभक्ति	व्रजभाषा-विभक्ति
कर्ता	ने	नें, ने, नैं
कर्म	को	कुँ, कूँ[३८], कों, को, कौं, कौ
करण	से	तें, ते, तैं, पर, पैं, पै, सुँ, सेंती, सों, सौं
संप्रदान	को	कुँ, कूँ, कों, को, कौं, कौ
अपादान	से	तें, ते, तैं, सों, सौं
संबंध	का, के, की	कि, की, कें, के, कैं, कै, कों, को, कौ
अधिकरण	में, पर	पर, पै, मँझार, महियाँ, महँ, माँझ, माहिं, माहीं, में, में, मैं
संबोधन	ओ,अजी,अरे,अहो,हे	अरे, अहो, री, रे, हे ।

सूरदास ने सर्वत्र कारकों के साथ उनके चिह्नों या विभक्तियों का प्रयोग नहीं किया है और कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि इनके प्रयोग से वे जान-बूझ कर बचते रहे हैं। इस दृष्टि से विभक्ति-रहित और विभक्ति-सहित, दोनों प्रकार के प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं और कर्ता--जैसे दो-एक कारकों में तो प्रथम की प्रधानता दिखायी देती है।

कर्ताकारक—इसकी विभक्ति नें, ने या नैं है जो प्रायः सकर्मक क्रिया के भूतकाल, कर्मवाच्य और भाववाच्य रूप में प्रयुक्त होने पर कर्ताकारक में लगती है। गद्य में इसका प्रयोग जितना अधिक होता है, पद्य में उतना ही कम। सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में तो कदाचित् केवल दो स्थलों पर इसका प्रयोग किया गया है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द के, एक और बहुवचन में प्रयुक्त होनेवाले मूल और विकृत रूपों का प्रयोग सूरदास ने इन विभक्तियों से रहित रूप में ही किया है; जैसे---

क. पुल्लिग एकवचन मूल रूप---लंकपति कौ अनुज सीस नायौ[३९]। सेवक जूझि परै रन भीतर ठाकुर तउ घर आवै[४०]। तब रिषि तासौं कहि समुझायौ[४१]।

ख. पुल्लिग बहुवचन मूल रूप---उठे कपि भालु ततकाल जै जै करत, असुर भए मुक्त रघुबर निहारे[४२]। ग्वाल बजावत तारी[४३]। सुर नर मुनि सब सुजस बखानत[४४]।

ग. पुल्लिग एकवचन विकृत रूप---ताकी माता खाई कारैं (काला सर्प)[४५]। सकटैं (सकटासुर) गर्ब बढ़ायौ[४६]।

'विभक्तियों' का ('हिंदी व्याकरण', पृ० २७९)। प्रस्तुत प्रबंध में सर्वत्र पुराने शब्द 'विभक्ति' या 'कारकचिह्न' का ही प्रयोग किया किया गया है---लेखक।

३८. बोलचाल की भाषा में कर्मकारकीय चिह्न के रूप में 'कुँ' और 'कूँ' का प्रयोग अधिक होता है। यही साहित्यिक भाषा में 'कों', 'को' या 'कौं' हो गया है, जो बोलचाल की भाषा में भी प्रयुक्त होता है—लेखक।

३९. सा. ९-१११। ४०. सा. ९-१५५। ४१. सा. ९-१७३। ४२. सा. १६३। ४३. सा. १०-४। ४४. सा. ९-१५९। ४५. सा. ७-८। ४६. सा. १०-६१।

घ. पुल्लिंग बहुवचन विकृत रूप--असुरनि मिलि यह कियौ बिचार[४७]। देवनि दिवि दुंदभी बजाई[४८]। सगर सुतनि तब नृप सौं भाष्यौ[४९]।

ङ. स्त्रीलिंग एक वचन मूलरूप--संकर कौ मन हरचौ कामिनी[५०]। बैठी जननि करति सगुनौती[५१]। अद्भुत रूप नारि इक आई[५२]। जैसे मीन जाल में क्रीड़त[५३]।

च. स्त्रीलिंग बहुवचन मूल रूप--उमँगि मिलनि जननी दोउ आईं[५४]। ता सँग दासी गईं अपार[५५]। सुनि धाईं सब ब्रजनारि सहज सिंगार किये[५६]।

ज. स्त्रीलिंग बहुवचन विकृत रूप-- जुवतिनि मंगल गाथा गाईं[५७]।

ऊपर के उदाहरण केवल कर्ताकारक में विभिन्न संज्ञा-रूपों के प्रयोग की दृष्टि से दिये गये हैं, विभक्ति-रहित प्रयोग की दृष्टि से नहीं। विभक्तियों की दृष्टि से देखा जाय तो पुल्लिग एकवचन विकृत रूप के अंतर्गत दिये गये 'ताकी माता खाई कारैं' और 'सकटैं गर्व बढ़ायौ' वाक्यों में कर्ताकारक के रूप में प्रयुक्त कारैं और सकटैं में संयुक्त 'ऐं' को एक प्रकार से विभक्ति रूप ही स्वीकारना होगा जिससे मूल संज्ञा रूप विकृत हो गया है। हाँ, उक्त उदाहरणों से एक बात यह अवश्य ज्ञात होती है कि, नें, नैं या नै, तीनों में से किसी कर्ताकारकीय विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने नहीं किया है। 'सूरसागर' के केवल दो वाक्यों में यह विभक्ति दिखायी देती है--

१. दियौ सिरपाव नृपराव नै महर कौं आपु पहिरावने सब दिखाए[५८],

२. तहाँ ताहि बिषहर नै खाई, गिरी धरनि उहिं ठौर[५९]।

इसी प्रकार 'सारावली में भी एक वाक्य में वह विभक्ति प्रयुक्त हुई है—

भोजन समय जानि यशुमति ने लीने दुहुँन बुलाय[६०]।

अतएव निष्कर्ष यही निकलता है कि कर्त्ताकारकीय विभक्ति ने, न या नै का प्रयोग सूर-काव्य में अपवाद-स्वरूप ही मिलता है।

कर्मकारक—ब्रजभाषा में कर्मकारक की मुख्य विभक्तियाँ कुँ, कूँ, कों, को. कौ[६१] हैं। सभा के 'सूरसागर' में, इन विभक्तियों में से केवल कौं का ही प्रयोग अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त 'हिं' के योग से भी अनेक कर्मकारकीय रूप बनाये गये हैं और इनसे रहित कर्मकारकीय प्रयोगों की संख्या भी प्रर्याप्त है।

---

४७. सा. ९-१७३। ४८. सा. ९-१६९। ४९. सा. ९-९। ५०. सा. १-४३। ५१. सा. ९-१६४। ५२. सा. १०-५३। ५३. सा. १०-४। ५४. सा. ९-१६९। ५५. सा. ९-१७४। ५६. सा. १०-२४। ५७. सा. ९-१६९। ५८. सा. ५८७। ५९. सा. ७५६। ६०. सारा० ९०६।

६१. ब्रजभाषा में 'कूँ' के साथ 'कों' और 'कौं', तीनों रूप प्रचलित हैं। सूरदास के समकालीन कवियों ने प्रायः 'कूँ' नहीं लिखा है, चौबों की भाषा में 'कौं' बोला जाता है और अन्य लोग 'कौं' बोलते हैं। मथुरा में अंतिम दोनों प्रयोग चलते हैं— लेखक।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—संज्ञा शब्दों के आठों रूपों में से जिनके विभक्तिरहित प्रयोग 'सूरसागर' में आदि से अंत तक मिलते हैं, केवल उन्हीं के उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

अ. पुल्लिंग एकवचन मूलरूप—हौं चाहति गर्भ दुरायौ[६२]। लछिमन सीता देखी जाई[६३]। कच्छप की तिय सूरज जायौ[६४]।

आ. पुल्लिंग बहुवचन मूलरूप—तिन अमिय भंडार खोले[६५]। बहु बिधि ब्योम कुसुम सुर बरसत[६६]। साठ सहस्र सगर के पुत्र कीने सुरसरि तुरत पवित्र[६७]।

इ. स्त्रीलिंग एकवचन मूल रूप—आरति साजि सुमित्रा ल्यायी[६८]। रिषि सक्रोध इक जटा उपारी[६९]। तब रिषि यह बानी उच्चरी[७०]। तुव पितु भिच्छा खात[७१]।

अन्य रूपों— पुल्लिंग एक और बहुवचन विकृत रूप, स्त्रीलिंग बहुवचन मूल, एक और बहुवचन विकृत—के उदाहरण मिलते ही न हों, सो बात नहीं है ; परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। इनके भी दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं— लै दासिनि फुलवारी गई[७२]। जौ यह संजीवनि पढ़ि-जाइ। तौ हम सत्रुनि लेइ जिवाइ[७३]।

ख. 'कौं' विभक्तिसहित प्रयोग— कर्मकारक की इस विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने स्वतंत्रता से किया है; जैसे—असुर कच कौं मार्यौ[७४]। प्रथम भरत बैठाइ बंधु कौं यह कहि पाइ परे[७५]। रिषभदेव जब बन कौं गए[७६]। मम मैंढ़नि कौं लै गयौ कोई[७७]।

ग. 'हिं'[७८] सहित प्रयोग— सूरदास के कर्मकारकीय प्रयोगों में 'हिं' का प्रयोग बहुत मिलता है ; जैसे—महादुष्ट लै उड़्यौ गुपालहिं[७९]। त्यौं ये सुकृत धनहिं परिहरैं[८०]। सक्र क्रोध करि नगरहिं त्याग्यौ[८१]। देखौ ता पुरुषहिं तुम जोइ[८२]। बरुनपास तैं ब्रजपतिहिं छन माहिं छुड़ावैं[८३]। तब हँसि कहति जसोदा ऐसैं महरहिं लेउ बुलाय[८४]। दियौ दानवनि रिषिहिं पियाइ[८५]।

घ. विभक्ति-आभास युक्त प्रयोग— सूर-काव्य में ऐसे भी अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनमें यद्यपि कर्मकारकीय कोइ विभक्ति अलग से नहीं जोड़ी गयी है; परन्तु जिनके

---

६२. सा. १०-४। ६३. सा. ९-१६१। ६४. सा. ९-२। ६५. सा. ९-१६३। ६६. सा. १०-४। ६७. सा. ९-९। ६८. सा. ९-१६९। ६९. सा. ९-५। ७०. सा. ९-१७४। ७१. सा. ९-१७४। ७२. सा. ९-१७४। ७३. सा. ९-१७३। ७४. सा ९-१७३। ७५. सा. ९-१७१। ७६. सा. ५-३। ७७. सा. ९-२।

७८ 'हिं' की गणना स्वतंत्र विभक्तियों में नहीं की जानी चाहिए; क्योंकि विभक्तियों के विपरीत, 'हिं' सदैव शब्दों में संयुक्त रहती है। इसे सुविधा के लिए 'विभक्ति-प्रत्यय' कहना उपयुक्त होगा—लेखक।

७९. सा. १०-७८। ८०. सा. ५-४। ८१. सा. ९-१७४। ८२. सा. ९-२। ८३. सा. १-४। ८४. सा. १०-२४। ८५. सा. ९-१७२।

विकृत रूप विभक्तिसंयुक्त होने का आभास देते हैं; जैसे--आपु गई कछु काज घरैं[८६]। तौ हू धरै न मन मैं ज्ञानैं[८७]। मेट्यौ सबै दुराजैं[८८]। स्रवन सुनत न महर बातैं जहाँ तहँ गइ चहरि[८९]। ज्यौं जमुना जल छाँड़ि सूर प्रभु लीन्हें बसन तजी कुल लाजैं[९०]। तेरे सब संदेहैं दहौं[९१], । प्रगट पाप संताप सूर अब कायर हठैं गहौं[९२]।

ङ. द्विकर्मक प्रयोगों में विभक्ति का संयोग--कुछ क्रियायों को एक कर्म की आवश्यकता होती है और कुछ को दो की । 'लछिमन सीता देखी जाइ'[९३] में 'देखी' क्रिया के साथ एक ही कर्म 'सीता' है; और 'आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ'[९४] में 'हरिहिं' और 'सस्त्र' दो कर्म 'गहाऊँ' क्रिया के हैं जिनमें प्रथम अर्थात् 'हरिहिं' गौण कर्म है और द्वितीय अर्थात् 'सस्त्र' मुख्य कर्म । एक कर्मवाली क्रियाओं के कर्मकारकीय शब्द में, जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, कभी विभक्ति लगती है, कभी नहीं भी लगती है; परंतु द्विकर्मक क्रियाओं के दोनों कर्मों में से यदि किसी में सूरदास ने विभक्ति लगायी है, तो वह साधारणतः गौण कर्म में ही; जैसे— संजीवनि तब कचहिं पढ़ाई[९५]।

इस वाक्य में कर्त्ता 'सक्र' लुप्त है; 'संजीवनि' मुख्य कर्म है जिसमें कोई विभक्ति नहीं लगी है और 'कचहिं' गौण कर्म है जिसमें विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' संयुक्त है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी गौण कर्म 'वृत्रासुर' में 'कौं' विभक्ति लगी है और मुख्य कर्म 'बज्र' विभक्ति-रहित है; कर्त्ता 'इंद्र' लुप्त है—वृत्रासुर कौ बज्र प्रहारचौ[९६]।

कहीं कहीं सूरदास ने द्विकर्मक क्रियाओं के ऐसे प्रयोग भी किये हैं जिनमें मुख्य और गौण, दोनों कर्म विभक्ति-रहित हैं; जैसे—

सूर सुमित्रा अंक दीजियौ, कौसिल्याहिं प्रनाम हमारौ[९७]।

यह वाक्य श्रीराम का लक्ष्मण के प्रति है जिसमें कर्त्ता लुप्त है। इस वाक्य में दो उपवाक्य हैं—क. सुमित्रा अंक दीजियौ। ख. कौसिल्याहिं प्रनाम हमारौ (दीजियौ)। दोनों उपवाक्यों के मुख्य कर्म 'अंक' और 'प्रनाम' तो विभक्ति-रहित हैं ही; द्वितीय के गौण कर्म 'कौसिल्याहिं' में विभक्तिप्रत्यय 'हिं' संयुक्त है; परंतु प्रथम का गौण कर्म 'सुमित्रा' विभक्ति-रहित है। संभव है, 'दीजियौ' क्रिया के कारण इस वाक्य में 'सुमित्रा' और 'कौसिल्याहिं' को संप्रदानकारकीय रूप कुछ लोग मानें; परंतु वस्तुतः यहाँ 'दीजियौ' क्रिया 'करियौ' या 'कहियौ' के अर्थ में है, साधारण 'देने' के अर्थ में नहीं।

च. कर्मकारक में प्रयुक्त अन्य विभक्तियाँ— यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने 'सूरदास स्वामी सों कहियो अब बिरमियो नहीं' और 'सूरदास प्रभु दीन बचन यों हनूमान सों भाखैं' वाक्यों में, क्रमशः 'स्वामी' और 'हनूमान' को गौणकर्म मानकर और इनके साथ 'सों' विभक्ति देखकर' इस विभक्ति 'सों'

---

८६. सा. १०-७६। ८७. सा. ४-१२। ८८. सा. १-३६। ८९. सा. १०-६७। ९०. सा. ३८८३। ९१. सा. ३-१३। ९२. सा. ३-२। ९३. सा. ९-१६१। ९४. सा. १-२७०। ९५. सा. ९-१७३। ९६. सा. ६-५। ९७. सा. ९-३६।

का भी कर्मकारक में प्रयुक्त होना माना है[३८]। वाजपेयी जी का यह कथन संभवतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर है। हिंदी में तो पं० कामताप्रसाद गुरु ने ऐसे प्रयोगों को करणकारक के अंतर्गत माना है और हिंदी की प्रकृति के अनुसार यही उचित भी जान पड़ता है। हाँ, एक पद में अधिकरण कारक की विभक्ति 'पर' का प्रयोग सूरदास ने अवश्य कर्मकारक में किया है; जैसे--

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै[३९]।

इस वाक्य में 'पर' विभक्ति की ध्वनि 'को' के अर्थ की ओर अधिक है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में अधिकरणकारकीय विभक्ति 'माहीं' से भी कर्मकारकीय 'कौं' की ध्वनि ही 'में' से अधिक है—

उलटि जाहु अपनैं पुर माहीं, बादिहिं करत लराई[१]।

उक्त दोनों वाक्यों के 'पर' और 'माहीं' के कर्मकारकीय प्रयोगों को अधिक से अधिक अपवाद-स्वरूप ही मान सकते हैं।

करणकारक— व्रजभाषा में इस कारक की विभक्तियों के रूप में तें, ते, तैं, पर, पै, सुँ, सेंती, सों, सौं का प्रयोग होता है। सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' में 'तें' 'ते' और 'तैं' के स्थान पर केवल 'तैं' का एवं 'सों' और 'सौं' के स्थान पर केवल 'सौं' का प्रयोग किया गया है। सूरदास ने करणकारकीय विभक्तियों के रूप में केवल 'तैं' और 'सौं' का ही प्रयोग मुख्य रूप से किया है। अन्य विभक्तियों में से 'सुँ' और 'सेंती' के उदाहरण भी कहीं-कहीं मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्ति विभक्तिरहित करण-कारकीय प्रयोग भी सूर-काव्य में बहुत मिलते हैं।

क. **विभक्तिरहित प्रयोग**--विभिन्न संज्ञा-रूपों के विभक्ति-रहित करणकारकीय प्रयोगों को अलग-अलग देने की आवश्यकता नहीं है; अतएव एक साथ ही इस प्रकार के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—देखौ, कपिरात भरत वै आए। मम पाँवरी सीस [illegible] जाकैं, कर अँगुरी रघुनाथ बताए[२]। मैं इहिं ज्ञान ठगीं ब्रजबनिता दियी सो क्यों लहौं[३]। ज्ञानी-संगति उपजै ज्ञान[४]। तिनकैं तेज-प्रताप, देवतनि बहु दुख पाए[५]। तुम्ह[illegible] तेज-प्रताप नाथ जू मैं कर धनुष धरचौ[६]। सपथ राम, परताप तिहारैं खंड खंड करि डारौं[७]। तुव प्रसाद मम गृह सुत होइ[८]। ता प्रसाद या दुख कौं तरैं[९]। सब रा[illegible] रघुबीर कृपा तैं कहि बान निवारौं[१०]। राम नाम मुख उचरै सोई[११]। भीतर[illegible] निज लोगनि कह्यौ[१२]। सखनि कह्यौ तुम जेंवहु बैठे, स्याम चतुरई ठानी[१३]। इ[illegible]

---

३८. 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ. ११३-१४। ३९. सा. १-१६८। १. सा. ३८०[illegible]
२. सा. ९-१६८। ३. सा. ३-२। ४. सा. ५-२। ५. सा. ३-११[illegible]
६. सा. ९-१४४। ७. सा. ९-१३७। ८. सा. ५-३। ९. सा. ६[illegible]
१०. सा. ९-१४३। ११. सा. ६-४। १२. सा. ५-३। १३. ११०[illegible]

बचन स्रवन सुनि हरष्यौ[१४]। स्वास आकास बनचर उड़ाऊँ[१५]। दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई[१६]। जानकी नाथ कैं हाथ तेरौ मरन[१७]।

ख. 'तैं' विभक्तिसहित प्रयोग--सभा के 'सूरसागर' में सर्वत्र प्रयुक्त इस करणकारकीय विभक्ति में वस्तुतः व्रजभाषा के 'तें' और 'ते' विभक्ति-रूपों को सम्मिलित समझना चाहिए; क्योंकि उसके अन्य संस्करणों में इनका भी प्रयोग मिलता है। सभा के संस्करण से 'तैं' विभक्तिसहित सूर के कुछ प्रयोग यहाँ संकलित हैं--कह्यौ सरमिष्ठा सुत कहँ पाए। उनि कह्यौ रिषि किरपा त जाए[१८]। सब राच्छस रघुबीर कृपा तं एकहि बान निवारौं[१९]। पंचतत्व तैं जग उपजाया[२०]। त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व तैं अहंकार कियौ बिस्तार[२१]। सूरदास स्वामी प्रताप तैं सब संताप हरचौ[२२]। मम प्रसाद तैं सो वह पावै[२४]। यह तौ सुनी व्यास के मुख तैं पर-दारा दुखदात[२४]। सुनत साप रिस तैं तनु दह्यौ[२५]। बहुरि रुधिर तैं छीर बनावत[२६]। जाकैं नाम ध्यान सुमिरन तैं कोटि जज्ञ फल पावत[२७]।

ग. 'सौं' विभक्ति सहित प्रयोग—जिस प्रकार ऊपर की पंक्तियों में 'तैं' विभक्ति 'तें' और 'ते' का ही अन्य रूप है, उसी प्रकार नीचे के उदाहरणों में 'सौं' विभक्ति को 'सों' का ही दूसरा रूप समझना चाहिए—आधौ उदर अन्न सौं भरै[२८]। सुनियै ज्ञान कपिल सौं जाइ[२९]। मैं काली सौं यह प्रन कियौ[३०]। कौसिल्या सौं कहति सुमित्रा[३१]। निज गुरु सौं भाख्यौ तिन जाइ[३२]। हँसि ढाढ़िनि ढाढ़ी सौं बोली[३३]। ब्रह्मा सो नारद सौं कहे[३४]। दसरथ सौं रिषि आनि कह्यौ[३५]।

घ. अन्य विभक्तियों सहित प्रयोग—'सेंती', 'कौं', 'हिं' आदि कुछ अन्य विभक्तियों के भी यत्र-तत्र करणकारकीय प्रयोग 'सूरसागर' में मिल जाते हैं; यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है; जैसे – ता रानी सेंती सुत ह्वै है[३६]। (उन) बहुरि सुक्र सेंती कह्यौ जाइ[३७]।

इसी प्रकार निम्नलिखित वाक्य में 'कौं' विभक्ति की ध्वनि भी करणकारकीय 'सौं' विभक्ति के अर्थ से मिलती-जुलती जान पड़ती है--

गउ चटाइ मत त्वचा उपारौ। हाड़नि कौ तुम, बज्र सँवारौ[३८]।

'हिं' का प्रयोग सूरदास ने करणकारक में बहुत कम किया है। निम्मलिखित उदाहरण का 'हीं' उसी का विकृत रूप है—

जिन रघुनाथ हाथ खर दूषन प्रान हरे सरहीं[३९]।

---

१४. सा. ९-१४७। १५. सा. ९-१२९ १६. सा. ९-७। १७. सा. ९-१२९।
१८. सा. ९-१७४। १९. सा. ९-१४३। २०. सा. १०-३। २१. सा. २-३६।
२२. सा. ९-१२२। २३. सा. ३-१३। २४. सा. २-२४। २५. सा. ५-४।
२६. सा. २-२०। २७. सा. ९-१३२। २८. सा. ३-१३। २९. सा. ५-४।
३०. सा. ५-३। ३१. सा. ९-१५२। ३२. सा. ९-१७३। ३३. सा. १०-३७।
३४. सा. २-३७। ३५. सा. ९-२१। ३६. सा. ६-५। ३७. सा. ९-१७४।
३८. सा. ६-५। ३९ सा. ९-९१।

ङ. सविभक्ति विकृत रूप—सूरदास के निम्नलिखित प्रयोग में यद्यपि कोई करणकारकीय विभक्ति नहीं है, फिर भी इसका विकृत रूप विभक्ति संयुक्त होने का आभास देता है—

किहिं गयंद बाँध्यौ सुनि मधुकर पदुमनाल के काँचे सूतैं[४०] ।

संप्रदान कारक—व्रजभाषा में संप्रदानकारक की कुँ, कूँ, कों, को, कौं, कौ, के लिए—विभक्तियाँ कर्मकारक में भी रहती हैं। अतएव केवल इन विभक्तियों से नहीं, अर्थ पर ध्यान देने से ही संज्ञा-रूप के कारक का ठीक ठीक पता चल सकता है। सूरदास ने संप्रदानकारक में 'कौं' का ही प्रयोग विशेष रूप से किया है और अन्य कारकों की तरह इसमें भी विभक्तियों से रहित और सहित, दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

क. विभक्ति रहित प्रयोग—संप्रदानकारकीय विभक्ति-रहित प्रयोगों में सूरदास ने उतनी स्वतंत्रता से काम नहीं लिया है, जितनी से प्रथम तीन कारकों में लिया है। अतएव इस प्रकार के तीन-चार उदाहरण ही यहाँ दिये जाते हैं — बहुरौ रिषभ बड़े जब भए। नाभि राज दे बन कौ गए[४१] । बिप्र जाचकनि दीन्हौ दान[४२] । दियौ बिभीषन राज सूर प्रभु[४३] । तुम्हैं मारि महिरावन मारैं, देहिं बिभीषन राई[४४] ।

ख. 'कौ' विभक्ति सहित प्रयोग—कर्मकारक की तरह ही संप्रदान की इस 'कौं' विभक्ति में 'कों', 'को' 'कौ' को सम्मिलित समझना चाहिए जिनके प्रयोग सभा के 'सूरसागर' के अतिरिक्त अन्य संस्करणों में मिल सकते हैं। सूरदास के 'कौं' विभक्ति सहित कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—तनया जामातनि कौं समदत नैन नीर भरि आए[४५]। एक अंस बृच्छनि कौं दीन्हौं[४६]। कामधेनु पुनि सप्त रिषि कौं दई[४७] । बलि सुरपति कौं बहु दुख दयौ[४८] ।

ग. विभक्ति-प्रत्यय 'हिं' सहित प्रयोग—अति दुख में सुख दै पितु मातहिं, सूर प्रभु नंद-भवन सिधाए[४९] । बहुत सासना दई प्रह्लादहिं[५०] ।

अपादानकारक—व्रजभाषा में अपादानकारक की विभक्ति तें, ते या तैं है। ये तीनों रूपांतर एक ही विभक्ति के हैं जिनमें से अंतिम का ही प्रयोग सभा के 'सूरसागर' में प्रायः सर्वत्र किया गया है। साथ ही कुछ विभक्ति-रहित अपादानकारकीय रूप भी सूर-काव्य में मिल जाते हैं।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—अपादानकारकीय विभिक्तरहित रूपों की संख्या यद्यपि अपेक्षाकृत बहुत कम है, तथापि ऐसे प्रयोग बिलकुल न हों, सो बात भी नहीं है; जैसे—करुना करत सूर कोसलपति नैननि नीर झरयौ[५१] ।

ख. 'तैं' विभक्तिसहित प्रयोग—'सूरसागर' के अन्य संस्करणों में यद्यपि 'तैं'

---

४०. सा. ३९१६ । ४१. सा. ५-२ । ४२. सा. ६-[illegible]
४३. सा. ९-१५९ । ४४. सा. ९-१४० । ४५. सा. ९-२७ । ४६. सा. ६-[illegible]
४७. सा. ८-८ । ४८. सा. ८-७ । ४९. सा. १०-१० ५०. सा. १-३[illegible]
५१. सा. ९-१४४ ।

'ते' के उदाहरण बराबर मिलते हैं ; परन्तु सभा के संस्करण में इसी के रूपांतर 'तैं' को ही अपादानकारक में सर्वत्र प्रयोग किया गया है; जैसे--पै मैं जब अकास तैं परौं[५२]। अमृत हूँ तैं अमल अति गुन स्रवत निधि आनंद[५३]। जब तुम निकसि उदर तैं आवहु[५४]। श्रीरघुनाथ प्रताप चरन करि उर तैं भुजा उपारौं[५५]। हृदय कठोर कुलिस तैं मेरौ[५६]। असुरनि गिरि तैं दियौ गिराई[५७]। मैं गोवर्धन तैं आयौ[५८]। देस देस तैं टीकौ आयौ[५९]। ता बन तैं मृग जाहिं पराई[६०]। स्यामा कियौ बरसाने तैं आवनौ[६१]। मनहूँ तैं अति बेग अधिक करि हरि जू चरन चलावत[६२]। मानौ निकरि तरनि रंध्रनि तैं उपजी है अति आगि[६३]। रथ तैं उतरि[६४]। मानौ चारि हंस सरवर तैं बैठे आइ सदेहियाँ[६५]। मैं अबहीं सुरपुर तैं आयौ[६६]।

ग. 'सौं' विभक्ति-सहित प्रयोग--पर्वत सौं इहिं देहु गिराइ[६७]। ऐसे प्रयोग सूर-काव्य में कम हैं ।

६. संबंधकारक--इसकी मुख्य विभक्ति 'कौ' है जिसके लिंग, वचन, और कारक के अनुसार, 'की', 'के' और 'कौ' रूप हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त अवधी की संबंधकारकीय विभक्ति 'केर' 'केरी', 'केरे' 'केरैं' और 'केरौ' रूपों का प्रयोग भी सूरदास ने किया है। इन विभक्ति-रूपों से रहित प्रयोग भी सूर-काव्य में बराबर मिलते हैं।

क. विभक्ति-रहित प्रयोग—इस प्रकार के प्रयोगों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे सामासिक पद आते हैं जिनके बीच की संबंधकारकीय विभक्ति लुप्त है। इनकी चर्चा 'समास' शीर्षक के अंतर्गत पिछले परिच्छेद में की जा चुकी है। अतएव यहाँ इनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे वर्ग के प्रयोग नीचे दिये जाते हैं। संबंधकारक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध क्रिया से नहीं होता। अतएव केवल आवश्यक अंश ही यहाँ उद्धृत किया गया है ; जैसे--ग्वारनि भीर,[६८] नाम प्रतीति,[६९] प्रहलाद प्रतिज्ञा[७०], भरत सँदेस[७१], रिषि मन[७२], सत्रुहन ब्याह[७३], सुता मन,[७४] सुरसरी तीर[७५], स्याम गुन[७६], स्रोनित छिछ्छ[७७] आदि।

ख. 'कौ' विभक्ति-सहित प्रयोग--ब्रजभाषा की ओकारांत प्रकृति के अनुसार 'का' का रूप इसमें 'कौ' हो जाता है जिसको सभा के 'सूरसागर में सर्वत्र, 'कौ'[७८] रूप में

---

५२. सा. ९-९ । ५३. सा. ९-१० । ५४. सा. ९-१३७ ।
५५. सा. ९-१३२ । ५६. सा. ७-५ । ५७. सा. ७-२ । ५८. सा. १०-३५ ।
५९. सा. ९-१८ । ६०. सा. ६-४ । ६१. सा. २८३२ । ६२. सा. ८-४ ।
६३. सा. ९-१५८ । ६४. सा. १०-४ । ६५. सा. ९-१९ । ६६. सा. ४-१२ ।
६७. सा. ७-२ । ६८. सा. १०-२६ । ६९. सा. २-८ । ७०. सा. १-३४ ।
७१. सा. ९-१५६ । ७२. सा. ९-८ । ७३. सा. ९-२४ । ५४. सा. ९-१७४ ।
७५. सा. २-९ । ७६. सा. २-२४ । ७७. सा. ९-१५८ ।

७८. संबंधकारकीय चिह्न के रूप में 'कौ' के प्रयोग के पक्ष में कुछ लेखक नहीं हैं। पं० किशोरीदास वाजपेई का मत है—'दीर्घ स्वर से परे, विशेषतः 'आ' से परे, 'कौ'

लिखा गया है ; जैसे--अविनासी कौ आगम,[७९] केसरि कौ तिलक[८०], गर्भ कौ आलस[८१], गीध कौ चारौ[८२], चरननि कौ चेरौ[८३], जिय कौ सोच[८४], द्वारे कौ कपाट[८५], पवन कौ पूत[८६] भुजंगिनि कौ बिष[८७], मन कौ चीत्यौ[८८], मांस कौ पिंड[८९], मातु कौ हियौ[९०], रिपु कौ दल[९१] रिपु कौ सीस,[९२] रिषि कौ केस[९३], सुत कौ जस[९४] आदि।

सूर-काव्य में संबंधकारकीय प्रयोग, वाक्य-रचना की दृष्टि से दो प्रकार के मिलते हैं। एक में सीधे-सादे ढंग से गद्य की परिपाटी का अनुकरण किया जाता है और संबंधसूचक और संबंधित, दोनों शब्दों की स्थिति सामान्य रहती है ; जैसे--राम कौ भाई। ऊपर 'कौ' विभक्ति के जितने उदाहरण दिये गये हैं वे सब इसी प्रकार के हैं। दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें संबंधकारकीय रूप और संबंधी शब्द का क्रम उलट जाता है और तब संबंधी शब्द कारक-रूप के पहले ही आ जाता है; जैसे—भाई राम कौ। इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण ये हैं— तन स्याम कौ[९५], मंडल भानु कौ,[९६] ममत्व देह कौ[९७], संताप जनम कौ[९८], सिर लछिमन कौ[९९], हरन सीता कौ[१], हार ग्रीवा कौ[२] आदि। कहीं-कहीं इस प्रकार की पद-रचना में सूरदास ने दोनों शब्दों के बीच में अन्य शब्दों को भी डाल दिया हैं; जैसे–सार कौ चारौं कौ[३], देवल रिषि कौ पकरयौ पाइ[४] आदि। ऐसे प्रयोगों पर पद्य-रचना का स्पष्ट प्रभाव माना जा सकता है।

ग. **'की' विभक्ति सहित प्रयोग**—संबंधकारक की मूल विभक्ति 'का' या 'कौ' का स्त्रीलिंग रूप 'की' है जिसका प्रयोग सूरदास ने अनेक स्थलों पर किया है; जैसे–अंबरीष की दुर्गति[५], जन्मभूमि की कथा[६] जलद की छाँहीं[७], पुहुपनि की माला[८]; बिछुरन की बेदन[९], भादौं की रात[१०], मन की सूल[११], ललन की आरती[१२], सुत-तिय-धन की

बहुत बुरा लगता है ; जैसे वाकौ, काकौ इत्यादि। परन्तु ह्रस्व स्वर से परे वैसा कर्णकटु नहीं लगता ; जैसे 'विधि कौ इतनोई विधान इतै'। हाँ, मधुर भाव आदि में ह्रस्व स्वर से परे भी 'कौ' खलता है; जैसे 'राम कौ रूप निहारति जानकि' (व्रजभाषा-व्याकरण', पृ. १२७)। परन्तु 'सभा' के 'सूरसागर' में संबंधकारकीय चिह्न 'कौ' का प्रयोग सर्वत्र किया गया है— लेखक।

७९. सा. १०-४। ८०. सा. १०-२५ ८१. सा. १०-४। ८२. सा. ९-१५१। ८३. सा. ९-१३७। ८४. सा. ९-१७३। ८५. सा. १०-८। ८६. सा. ९-१४०। ८७. सा. २-३२। ८८. सा. १०-२०। ८९. सा. ९-१५९। ९०. सा. ४-१। ९१. सा. ९-१५२। ९२. सा. ९-१३७। ९३. सा. ४-५। ९४. सा. १०-१। ९५. सा. १०-८१। ९६. सा. ९-१५२। ९७. सा. ५-२। ९८. सा. १०-१५। ९९. सा. ४-१४६। १. सा. ९-१४५। २. सा. १०-२५। ३. सा. ७-२। ४. सा. ८-२। ५. सा. १-२८। ६. सा. ९-१६७। ७. सा. २-२३। ८. सा. १०-२५। ९. सा. ३२०६। १०. सा. १०-१२। ११. सा. १०-२४। १२. सा. १०-४०।

सुधि[१३] आदि। 'की' विभक्तिसहित ऐसे अनेक प्रयोग भी सूर-काव्य में हैं जिनमें संबंधकारक और संबंधी शब्द का क्रम कवि ने उलट दिया है; जैसे आन रघुनाथ की[१४], आपदा चतुरमुख की[१५], करतूति कंस की[१६], कुसल नाथ की[१७], भीर अमर-मुनि-गन की[१८], भीर बानर की[१९], सुधि मोहिनी की[२०] आदि। कारकीय रूप और संबंधी शब्द के बीच में अन्य शब्दों का प्रयोग भी कुछ उदाहरणों में देखा जाता है; जैसे—नैननि की मिटी प्यास[२१], बर्षा करी पुहुप की[२२], भक्ति-भाव की जो तोहिं चाह[२३] आदि।

घ. 'के' **विभक्ति-सहित प्रयोग**— संबंधकारकीय रूप 'का' या 'कौ' का बहुवचन पुल्लिग रूप 'के' है जिसका प्रयोग सूरदास के अनेक पदों में मिलता है; जैसे—जम के दूत[२४], दसरथ के सुत[२५], नरनि के लच्छन[२६], पुहुपनि के भूषन[२७], सिव के गन[२८], स्वारथ के गाहक[२९] आदि। सूर-काव्य में यह 'के' विभक्ति कभी-कभी आदरार्थक एकवचन में भी प्रयुक्त हुई है। साथ ही एकवचन संबंधी शब्द के आगे कोई अन्य विभक्ति, संबंधसूचक अव्यय अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य शब्द जोड़ने के लिए भी संबंधकारकीय चिन्ह के रूप में 'के' विभक्ति का प्रयोग किया गया है; जैसे—दीन के द्याल गोपाल[३०], दुतिया के ससि[३१], देवनि के देव[३२], नंद के द्वारे[३३], पिनाकहूँ के दंड लौं[३४], पौन के पूत[३५], ब्रज के भूप[३६], भक्त के मग में[३७], सूर के स्वामी[३८]।

'कौ' और 'की' विभक्ति-रूपों की तरह 'के' के भी कारक और संबंधी शब्द के उलटे क्रम वाले प्रयोग सूर-काव्य में हैं; जैसे—अमंगल जग के[३९], दाँत दूध के[४०] नर गोकुल सहर के[४१], नाते जगत के[४२], परबत रतन के[४३], बचन जननी के[४४], बसन सुक-तनया के[४५], बान रघुपति के[४६], मनोरथ मन के[४७], मूल भागवत के[४८], स्वामी पुर के[४९] आदि।

ङ. 'कैं' **विभक्तिसहित प्रयोग**—'के' के साथ साथ 'कैं' का भी सूरदास ने अनेक स्थानों में प्रयोग किया है। इसकी भिन्नता या विशेषता यह है कि इस 'कैं' में संबंधी शब्द की विभक्ति भी संयुक्त है अर्थात् संबंधी शब्द के पश्चात् स्वतंत्र विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने कभी नहीं किया है। जैसे—जलनिधि

१३. सा. ३-१३। १४. सा. ९-१३८। १५. सा. ८-१७।
१६. सा. २-२३। १७. सा. ९-१५१। १८. सा. ९-१७२। १९. सा. ९-१२५।
२०. सा. ८-१०। २१ सा. ८-५। २२. सा. ७-६। २३. सा. ४-९।
२४. सा. २-३। २५. सा. ९-१४१। २६. सा. ३-१३।
२७. सा. ३१९२। २८. सा. ४-५। २९. सा. ८-६।
३०. सा. ४-१०। ३१. सा. ९-१६७। ३२. सा. ५-३। ३३. सा. १०-२५।
३४. सा. ३-३। ३५. ९-१४७। ३६. सा. १०-३८। ३७. सा. ७-२।
३८. सा. ८-६। ३९. सा. १०-३२। ४०. सा. १०-७६। ४१. सा. १०-३०।
४२. भा. १०-२९। ४३ सा. १०-३२। ४४. सा. १०-११। ४५. सा. ९-१७४।
४६. सा. ९-१२६। ४७. सा. ४-९। ३८. सा. २-३७। ४९. सा. १-६१।

कैं तीर[५०], रुद्र कैं कंठ[५१], सुधा कैं सागर[५२] सोनैं कैं पानी[५३] आदि। इस विभक्ति के उलटे क्रम वाले रूप भी कहीं-कहीं मिलते हैं; जैसे--गृह नंद कैं[५४]। परंतु इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। इसी प्रकार कारकरूप और संबंधी शब्द के बीच में अन्य शब्दों के समावेश वाले उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं; जैसे--नरहरि जू कैं जाइ निकेत[५५]।

च. अन्य विभक्तियों सहित प्रयोग--उक्त मुख्य विभक्तियों के अतिरिक्त अवधी की 'केर' विभक्ति के कुछ रूपों का प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलता है; जैसे--

अ. केरी--त्रास निसाचर केरी[५६], बिथा बिरहिनी केरी[५७], प्यारी हरि केरी[५८], माला मोतिनि केरी[५९]।

आ. केरे - सुत अहिर **केरे**[६०]। घर-घर **केरे** फरके खोलैं[६१]। अपराध जन **केरे**[६२],

इ. केरैं — अनुरागनि हरि **केरैं**[६३], चितै बदन प्रभु **केरैं**[६४]।

ई. केरौं—दुःख नंद जसोमति **केरौ**[६५], मानौ जल जमुन बिंब उड़गन पथ **केरौ**[६६], दूत भयौ हरि **केरौ**[६७]।

इनमें 'केरी', 'केरे', 'केरौ' तो 'की', 'के' और 'कौ' की भाँति संबंधकारक के सामान्य रूप हैं; परंतु 'केरैं' में 'कैं' की तरह विभक्ति भी संयुक्त है जिसके फलस्वरूप उसके संबंधी शब्द के पश्चात् स्वतंत्र विभक्ति का प्रयोग कभी नहीं किया गया है।

७. अधिकरण कारक –इसकी मुख्य विभक्तियाँ और उनके अन्य रूपांतर पर, पै, **पाहिं, पाहीं, मँझार, मँझारि, मँझारे, माँझ, महँ, महुँ, महियाँ, माहँ, माहिं, माहीं, माहैं, में, मैं, मो, मौं** आदि हैं। साथ-साथ इनसे रहित अधिकरणकारकीय प्रयोग भी 'सूर-काव्य' में मिलते हैं।

क. विभक्ति-रहित प्रयोग—अधिकरणकारकीय उक्त विभक्तियाँ और उनके अन्य रूपों को स्थूल रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में पर, पै, पाहि और पहीं रूप आते हैं और द्वितीय में शेष रूप। दोनों वर्गों के रूपों के कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं।

अ. प्रथमवर्गीय विभक्ति-रहति प्रयोग—पर, पै, पाहिं अथवा पाहीं का लोप सूरदास के इन प्रयोगों में देखा जा सकता है - गरल चढ़ाइ उरोजजि[६८], कटि तट तून[६९], गंगा तट आये श्रीराम[७०], सुकाग उहाँ तैं हरी डार उड़ि बैठ्यौ[७१], सूर विमान चढ़े

५०. सा. ९-१५१। ५१. सा. ८-८। ५२. सा. ९-१४८। ५३. सा. ९-१६४।
५४. सा. १०-३३। ५५. सा. ७-२। ५६. सा. ९-९३। ५७. सा. ३३४१।
५८. सा. १८२१। ५९. सा. १८५६। ६०. सा. ३०७५।
६१. सा. २८९६। ६२. सा. ५७०। ६३. सा. २०७२।
६४. सा. ४३२। ६५. सा. ३९९४। ६६. सा. १०-२७६। ६७. सा. ४०७९।
६८. सा. १०-४९। ६९. सा. ९-३९। ७०. सा. ९-२२। ७१. सा. ९-१६४।

सुरपुर सौ[७२], पुहुप विमान बैठी बैदेही[७३], भूतल बंधु परचौ[७४], या रथ बैठि[७५], पौढ़े कहा समर-सेज्या सुत[७६]। परवत आनि धरचौ सागर तट[७७], छत्र भरत सिर धारौ[७८]। चढ़ि सुख आसन नृपति सिधायौ[७९]।

आ. द्वितीय वर्गीय विभक्ति-रहित प्रयोग - द्वितीय वर्ग की मुख्य विभक्ति 'मैं' है जिसके अनेक रूपांतर ऊपर दिये गये हैं। इनका लोप अनेक उदाहरणों में कवि ने किया है; जैसे—अजोध्या बाजति आजु बधाई[८०]। ध्रुव आकास बिराजै[८१]। हरि चरनारबिंद उर धरौ[८२]। कनकपुर फिरिहै रामचंद की आन[८३]। सो रस गोकुल गलिनि बहावै[८४]। लीन्हे गोद बिभीषन रोवत[८५]। हरि स्वरूप सब घट यौं जान्यौ[८६]। नहीं त्रिलोकी ऐसौ कोइ[८७]। ज्यौं कुरंग नाभी कस्तूरी[८८]। बैठी हुती जसोदा मंदिर[८९]। लंका फिरि गई राम दुहाई[९०]। सतयुग सत, त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चारि[९१]।

ख. विभक्ति-आभासयुक्त रूप—अधिकरणकारकीय कुछ ऐसे रूप भी सूर-काव्य में मिलते हैं जिनके साथ यद्यपि इस कारक की कोई विभक्ति नहीं जुड़ी है, परंतु जिनके विकृत रूप उनके विभक्ति-युक्त होने का आभास देते हैं। इस कारक की दो प्रधान विभक्तियों 'पर' और 'मैं' के अनुसार इस प्रकार के प्रयोगों के भी दो वर्ग हो जाते हैं।

अ. 'पर' का आभास देनेवाले प्रयोग - गोकुल के चौहटैं रँगभीजी ग्वारिनि[९२]। हरि बलि द्वारैं दरबान भयौ[९३]। द्वार ठाढ़े हैं द्विज बावन[९४]। द्वारैं भीर गोप गोपिनि की[९५]। माथैं मुकुट[९६]। गुरु माथ हाथ धरैं[९७]।

आ. 'मैं' का आभास देनेवाले प्रयोग—बतियाँ छिदि छिदि जात करेज[९८]। खोजौ दीपैं सात[९९]। क्यौं करि रहै कंठ मैं मनियाँ बिना पिरोये धागैं[१]। मेरे बाँटैं परचौ जँजाल[२], तब सुरपति हरि सरनैं गयौ[३]। राजा हियैं सुरुचि सौं नेह[४]।

'पर' और 'मैं' का आभास देनेवाले उक्त 'ऐं' संयुक्त रूपों पर संस्कृत की अधिकरण-कारकीय रूप-रचना—जैसे आकाशे, उद्याने, विद्यालये आदि—का प्रभाव जान पड़ता हैं। ऐसे प्रयोग व्रजभाषा गद्य में भी मिलते हैं।

ग. 'पर' विभक्तियुक्त प्रयोग—यह विभक्ति वस्तुतः खड़ीबोली की है जिसका

---

७२. सा. ९-१४१। ७३. सा. ९-१४४। ७४. सा. १-२९। ७५. सा. १-२९।
७६. सा. ९-१५६। ७७. सा. ९-३०। ७८. सा. ५-४। ७९. सा. ९-१७।
८०. सा. १-३६। ८१. सा. ५-३। ८२. सा. ९-१२१। ८३. सा. १०-३।
८४. सा. १०-३। ८५. सा. ९-१६०। ८६. सा. ३-१३। ८७. सा. ५-३।
८८. सा. ४-१३। ८९. सा. १०-५०। ९०. सा. ९-१४०। ९१. सा. २-२।
९२. सा. २८६७। ९३. सा. १-२६। ९४. सा. ८-१३। ९५. सा. १०-२१।
९६. सा. १०-१९। ९७. सा. ३७०८। ९८. सा. ३८४७। ९९. सा. ३९७७।
१. सा. ३९७८। २. सा. २३१७। ३. सा. ८-७। ४. सा. ४-९

प्रयोग सूरदास ने अनेक स्थलों पर किया है; जैसे-- सुख आसन काँधे पर गह्यौ[५]। दोना गिरि पर आहि सँजीवनि[६]। बैठ्यौ जाइ एक तरुवर पर[७]। मुरछाइ परी धरनी पर[८]। धरचौ गिरि पीठि पर[९], आँसू परे पीठि पर[१०]। गंगा भूतल पर आई[११]। नृपति रिषिन पर ह्वै असवार[१२]। सागर पर गिरि, गिरि पर अंबर[१३]। सिर पर छत्र तनायौ[१४]। सिर पर दूब धरि बैठे नंद[१५]।

घ. 'पै' विभक्तियुक्त प्रयोग--खड़ीबोली की 'पर' विभक्ति का व्रजभाषिक रूप 'पै' कह सकते हैं जिसका प्रयोग सूरदास के अनेक उदाहरणों में मिलता है; जैसे-मांडव धर्मराज पै आयौ[१६]। नहुष नृपति पै रिषि सब आइ[१७]। विप्रनि पै चढ़ि कै जो आवहु[१८]। सब सुर ब्रह्मा पै जाइ[१९]। मेरें संग राजा पै आउ[२०]। राम पै भरत चले अतुराइ[२१]। कृपासिंधु पै केवट आयौ[२२]। इन उदाहरणों में से प्रथम और चतुर्थ में तो 'पै' विभक्ति 'पर' के अर्थ में है, शेष में उसका अर्थ 'पास' या 'के पास' है। कविता में 'पै' का इस अर्थ में भी अधिकरणकारकीय प्रयोग होता है[२३]।

ङ. 'पहँ', 'पहियाँ', 'पाहिं' या 'पाहीं' विभक्तियुक्त प्रयोग— ये तीनों विभक्ति-रूप वस्तुतः 'पै' के ही रूपान्तर हैं। इनका प्रयोग सूर-काव्य में बहुत कम हुआ है; फिर भी दो-एक उदाहरण तो मिल ही जाते हैं; जैसे--मनहुँ कमल पहँ कोकिल कूजत[२४]। यह सुख तीन लोक में नाहीं जो पाए प्रभु पहियाँ[२५]। चलि हरि पिय पहियाँ[२६]।

च. मँझार, मँझारि, मँझारे और माँझ विभक्तियुक्त प्रयोग—इन विभक्तियों के इने-गिने प्रयोग ही सूर-काव्य में मिलते हैं; जैसे—पैठ्यौ उदर मँझारि[२७]। हरि परीच्छितहिं गर्भ मँझार राखि लियौ[२८]। गाइनि माँझ भए हौ ठाढ़े[२९]। कमल धरे जल माँझ[३०]। मैं ढूँढ़्यौ डोंगरनि मँझारि[३१]। हनुमंत पहुँच्यौ नगर मँझारि[३२]। नैना नैननि माँझ समाने[३३]। ग्वाल बाल गवने पुरी मँझार[३४]। बछरनि कौं बन माँझ छाँड़ि[३५]। इक दिन बैठे सभा मँझारे[३६]। हृदै माँझ जौ हरिहिं बतावत[३७]। इन विभक्तियों में कुछ, विशेष रूप से 'माँझ', का प्रयोग सूरदास ने कभी-कभी संबंधी शब्द के पहले भी किया है; जैसे--बन की ब्याधि माँझ घर आई[३८]। माँझ बाट मटुकी सिर फोरचौ[३९]।

---

५. सा. ५-४। ६. सा. ९-१४९। ७. सा. ९-७५। ८. सा. १०-५२।
९. सा. ८-८। १०. सा. ९-१६८। ११. सा. ९-९। १२. सा. ६-७।
१३. सा. ९-१२४। १४. सा. ९-१२५। १५. सा. १०-३१। १६. सा. ३-५।
१७. सा. ६-७। १८. सा. ६-७। १९. सा. ६-५। २०. सा. ४-९।
२१. सा. ९-५१। २२. सा. ९-४१।
२३. पं० कामता प्रसाद गुरू 'हिंदी व्याकरण', पृ. ५४६।
२४. सा. १८०५। २५. सा. ९-१९। २६. सा. २७९३।
२७. सा. ९-१०४। २८. सा. १-२८९। २९. सा. १०-२४६। ३०. सा. ५८२।
३१. सा. २००५। ३२. सा. ९-७५। ३३. सा. २२९७। ३४. सा. ३०३५।
३५. सा. ४१०। ३६. सा. ४-५। ३७. सा. ३५७४। ३८. सा. ६५४।
३९. स. १६६१।

छ. **मधि, मध्य विभक्तियुक्त प्रयोग**—इन विभक्ति-रूपों का प्रयोग सूरदास ने किया अवश्य है, परन्तु बहुत कम ; जैसे—बैठे नंद सभा मधि[४०]। बहु निसाचरी मध्य जानकी[४१]।

ज. **महँ, महियाँ, महीं, माहँ, माँहिं, और माहैं विभक्तियुक्त प्रयोग**—बिनु हरि भजन नरक महँ जाइ[४२]। बैठे जाइ जनक मंदिर महँ[४३]। बहुरौ धरै हृदय महँ ध्यान[४४]। सुनि जड़ भरत हृदय महँ राखी[४५]। दिन दस रहौ जु गोकुल महियाँ[४६]। गंगा ज्यौं आई जग माहँ[४७]। नैननि माहँ समाऊँ[४८]। बृंदावन महियाँ गहि अंचल मेरी लाज छँड़ाइ[४९]। यहै सूल मन माहैं[५०]। कहत सुनत समुझत मन महियँ ऊधौबचन तुम्हारे[५१]। हृदय माहँ हरी[५२]।

माहिं—गर्भ माहिं सत वर्ष रहि[५३]। बहुरौ गोद माहिं बैठार[५४]। जगत माहिं जस लैहौं[५५]। मलिन-बसन तन माहिं[५६]। तब तीरथ माहिं नहाए[५७]। तुव ननसाल माहिं हम आहिं[५८]। पंथ माहिं तिन नारद मिले[५९]। हरि जाइ बन माहिं दीन्हें दिखाई[६०]। तब मन माहिं आनि बैराग[६१] लंकगढ़ माहिं आकास मारग गयौ[६२]। मंदराचल समुद्र माहिं बूड़न लग्यौ[६३]।

'माहीं'—उक्त उदाहरणों में **'माहिं'** विभक्ति साधारण **'में'** के अर्थ में है; केवल चौथे उदाहरण में 'तन माहिं' का अर्थ 'तन पर' हो सकता है। 'माहीं' का प्रयोग सूरदास ने अधिकतर चरण के अंत में तुकांत की माँग से किया है, यद्यपि कहीं-कहीं पंक्ति के बीच में भी मात्रा-पूर्ति के लिए इसका प्रयोग मिल जाता है; जैसे—राख्यौ नहिं कछू नात नकु चित्त माहीं[६४]। प्रगट होइ छिन माहीं[६५]। मुख देखत दर्पन माहीं[६६],। गर्ब-धारि मन माहीं[६७]। मदन मूरति हृदय माहीं[६८] रमि रही।

झ. **में, मैं विभक्तियुक्त प्रयोग**– इन दोनों विभक्तियों में से सभा के 'सूरसागर' में केवल द्वितीय अर्थात **'मैं'** का प्रयोग ही सर्वत्र किया गया है; जैसे—नृप अंतःपुर मैं जाइ सुनायौ[६९]। नंद जू की रानी आँगन मैं ठाढ़ी[७०]। ब्रज जुवतिनि उपवन मैं पाए हरि[७१]। कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ[७२]। स्वान काँच मंदिर मैं भूकि मरयौ[७३]। अति

---

४०. सा. १०-३१। ४१. सा. ९-७५। ४२. सा. ७-२।
४३. सा. ९-२४। ४४. सा. ३-१३। ४५. सा. ५-४। ४६. सा. ३६१९।
४७. सा. ९-९। ४८. सा. १०-४९। ४९. सा. ३७६९। ५०. सा. ३२७९।
५१. सा. ३५६६। ५२. सा. ४०३२। ५३. सा. ३-११। ५४. सा. ७-२।
५५. सा. ६-५। ५६. सा. ९-७५। ५७. सा. ३-१३। ५८. सा. ६-५।
५९. सा. ४९। ६०. सा. ८-१०। ६१. सा. ६-४।
६२. सा. ९-७६। ६३. सा. ८-८। ६४. सा. २९८५। ६५. सा. २-२३।
६६. सा. २-१५। ६७. सा. २-२३। ६८. सा. ३८६५। ६९. सा. ४-९।
७० सा. १०-७८। ७१. सा. १०-७८। ७२. सा. ३-१३। ७३. सा. २-२६।

आनंद होत गोकुल मैं[७४]। तबहिं गोद मैं तू करतौ मोद[७५]। सबहिं घोष मैं भयौ कुलाहल[७६]। ताके झुगिया मैं तुम बैठे[७७]। परी लूटि सब नगर में[७८]। पांडव बधु बन मैं राखी स्याम[७९]। बाल अवस्था मैं तुम धाइ[८०]। मग मैं अद्भुतचरित लखायौ[८१]। मारि कंस-केसी मथुरा मैं[८२]। जाकी चरन रेनु की महि मैं सुनियत अधिक बड़ाई[८३]। अर्जुन रन मैं गाजै[८४]। लोक मैं बिचरै[८५]। संसार मैं असुर होहु[८६]। अति उत्साह हृदय मैं धरै[८७]।

झ. मो, मौं विभक्तियुक्त प्रयोग—इन दोनों विभक्ति-रूपों में से केवल 'मौं' का प्रयोग 'सूरसागर' के कुछ पदों में मिलता है; जैसे—मेरी देह छुटत जम पठए जितक दूत घर मौं[८८]।

ट. 'हिं' युक्त प्रयोग—कहीं कहीं 'हिं' का संयोग भी, अधिकरणत्व सूचित करने के लिए सूरदास ने किया है; जैसे—ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ[८९]। यहाँ 'ब्रजहिं' शब्द 'ब्रज मैं' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसे प्रयोग कर्मकारकीय रूपों से मिलते-जुलते हैं। यही 'ब्रजहिं' शब्द एक दूसरे पद में कर्मकारक में भी आया है—ब्रजहिं चलौ आई अब साँझ[९०]। एक ही रूप वाले शब्द इसी प्रकार विभिन्न कारकों में प्रयुक्त होते हैं। इनका अंतर अर्थ पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो सकता है। नीचे के उदाहरण में 'हिं' युक्त 'रनभूमहिं' शब्द भी अधिकरणकारक में हैं—

मेघनाद आयुध धरैं समस्त कवच सजि, गरजि चढ्यौ, **रनभूमहिं** आयौ[९१]।

ण. अन्य विभक्तियुक्त प्रयोग—जो विभक्तियाँ ऊपर दी गयी हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कारकों की कुछ विभक्तियों का प्रयोग भी कभी-कभी अधिकरणकारक के साथ सूरदास ने किया है; जैसे इस उदाहरण में 'कौं' विभक्ति—जैसे सरिता मिलै सिंधु **कौं** बहुरि प्रवाह न आवै हो[९२]।

८. संबोधन कारक—इस कारक में साधारणतः संज्ञा के मूल रूप का ही प्रयोग किया जाता है; साथ ही संबोधनकारकीय रूप सूचित करने के लिए, शब्द के पूर्व, कभी-कभी **अरी, अरे, अहो, री, रे, हे** आदि विस्मयादिबोधक रूपों[९३] का भी व्यवहार किया जाता है। सूर-काव्य में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

---

७४. सा. १०-२१। ७५. सा. ४-९। ७६. सा. १०-२०। ७७. सा. १-२४४। ७८. सा. ९-१३८। ७९. सा. १-१६। ८०. सा. ३-५। ८१. सा. ४-१२। ८२. सा. १-३६। ८३. सा. ९-४०। ८४. सा. १-३६। ८५. सा. २-११। ८६. सा. ३-११। ८७. सा. ९-८। ८८. सा. १-१५१। ८९. सा. १६८७। ९०. सा. ४७२। ९१. सा. ९-१४१। ९२. सा. ३-१०।

९३. अन्य कारकों के साथ प्रयुक्त होनेवाले चिह्नों को 'विभक्ति' कहा जाये चाहे 'परसर्ग', परन्तु संबोधनकारक के आगे-पीछे प्रयुक्त होनेवाले अरी, अरे, अहो, री, रे, हे आदि को 'विभक्ति' या 'परसर्ग' कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः ये विस्मयादिबोधक अव्यय रूप हैं। अधिक से अधिक इसको 'संबोधन कारकीय चिह्न' कह सकते हैं—लेखक

क. **संबोधन चिह्नरहित प्रयोग**--इस प्रकार के प्रयोगों में संज्ञा के मूल रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रयोग कई प्रकार के मिलते हैं। प्रथम वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें कवि ने संबोधन-रूप, वाक्य के आदि में ही रखे हैं; जैसे—**बनचर,** कौन देस तैं आयौ[९४]। **महाराज,** तुम तौ ही साधु[९५]। **राजा,** बचन तुम्हारी टरचौ[९६]। **रिषि,** तुम तौ सराप मोहिं दयौ[९७]। **स्याम,** कहा चाहत से डोलत[९८]।

दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनमें कवि ने संबोधन रूप वाक्य के मध्य में रखे हैं; जैसे--बिनती कहियौ जाइ **पवनसुत,** तुम रघुपति के आगे[९९]। यह सुनि सकल देव मुनि भाष्यौ। **राय,** न ऐसी कीजै[१]। हौं सति भाउ कहौं **लंकापति,** जौ जिय आयसु पाऊँ[२]। तीसरे वर्ग में ऐसे रूप आते हैं जिनमें संबोधन कारक रूप के पूर्व 'सुन' या 'सुनो' का अर्थवाची कोई शब्द रख दिया गया है जो अर्थ की दृष्टि से अनावश्यक ही होता है; जैसे—**सुनु कपि,** वै रघुनाथ नहीं[३]। **सुनि देवकी,** इक आन जन्म की तोकौं कथा सुनाऊँ[४]। चौथे वर्ग में ऐसे प्रयोग आते हैं जिनमें भावातिरेक-सूचक कोई शब्द कवि ने संबोधनकारक रूप के साथ प्रयुक्त किया है; जैसे—**लै भैया केवट,** उतराई[५]। इसमें 'भैया' का प्रयोग संबोधनकारकीय रूप केवट, के पूर्व किया गया है; परंतु कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं जिनमें भावातिरेक सूचक शब्द कारक-रूप के बाद आया है और दोनों के बीच में अन्य शब्द भी दिये गये हैं; जैसे—**लछिमन,** रचौ दुतासन **भाई**[६]।

उक्त सभी उदाहरण संज्ञा शब्दों के एकवचन मूल रूप के हैं। बहुवचन संज्ञा शब्दों का प्रयोग भी संबोधनकारक में कवि ने कहीं-कहीं किया है, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है; जैसे—प्रबल सत्रु आहै यह मार। यातैं **संतौ,** चलौ सँभार[७]। सूरजदास सुनौ सब **संतौ,** अविगत की गति न्यारी[८]।

ख. **विकृत संबोधन रूप**—संबोधन कारक के ऊपर दिये गये उदाहरणों में मूल-रूपों का ही प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त सूर-काव्य में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें उनके रूप विकृत हैं जो तत्संबंधी संस्कृत रूपों से प्रभावित कहे जा सकते हैं; जैसे—मोसौं पतित न और **हरे**[९]। भीषम करन दोन मंदिर तजि, मम गृह तजे **मुरारे**[१०]। केस पकरि ल्यायौ दुस्सासन, राखी लाज, **मुरारे**[११]। **राजन** कहौ, दूत काहू कौ, कौन नृपति है मारचौ[१२]।

ग. **'अरी' चिह्नयुक्त प्रयोग**—संबोधनकारक के स्त्रीलिंग चिह्न 'अरी' का प्रयोग

९४. सा. ९-८८। ९५. सा. ९-३। ९६. सा. ९-२। ९७. सा. ९-१७४। ९८. सा. १०-२७९। ९९. सा. ९-१७४। १. सा. १०-४। २. सा. ९-१८१। ३. सा. ९-९१। ४. सा. १०-४। ५. सा. ९-४०। ६. सा. ९-१६२। ७. सा. १-२२९। ८. सा. ९-१०५। ९. सा. १-११८। १०. सा. १-२४२। ११. सा. १-२५७। १२. सा. ९-९८।

भी सूरदास ने कभी कभी किया है; जैसे सीता के प्रति पुरवधुओं के इस संबोधन में—**अरी अरी** सुंदरि नारि सुहागिनि, लागौं तेरे पाऊँ[१३]।

घ. **'अरे' चिन्हयुक्त प्रयोग**—संबोधन कारक के पुल्लिग चिह्न **'अरे'** का प्रयोग भी सूरदास ने दो-एक स्थलों पर किया है; जैसे—**अरे** मधुप, बातैं ये ऐसी क्यों कहि आवत तोह[१४]। दो-एक स्थलों पर इस चिन्हयुक्त प्रयोग के साथ 'सुन' अर्थ-द्योतक शब्द भी रख दिया है जो अर्थ की दृष्टि से आवश्यक नहीं जान पड़ता; जैसे—**सुनि अरे** अंध दसकंध, लै सिय मिलि, सेतु करि बंध रघुबीर आयौ[१५]।

ङ **'अहो' चिह्नयुक्त प्रयोग**—संबोधनकारक के इस चिह्न का प्रयोग सूरदास ने दोनों लिगों—पुल्लिग और स्त्रीलिंग—के साथ किया है; जैसे—**अहो महरि,** पालागन मेरौ[१६]। ताको बिषम बिषाद **अहो मुनि** मोपै सह्यौ न जाई[१७]। **अहो बसुदेव,** जाहु लै गोकुल[१८]। इन प्रयोगों में **'अहो'** चिह्न कारक-रूप के साथ ही प्रयुक्त हुआ है; परंतु सूर-काव्य में ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें दोनों के बीच में दो-एक विशेषण भी आ गये हैं; जैसे—**अहो पुनीत मीत केसरिसुत,** तुम हित बंधु हमारे[१९]।

च. **'री' चिह्नयुक्त प्रयोग**—संबोधनकारक के इस स्त्रीलिंग चिन्ह का प्रयोग भी कहीं-कहीं सूर-काव्य में मिलता है; जैसे—सूर स्याम यह कहति जननि सौं, रहि री मा धीरज उर धारे[२०]।

छ. **'रे' चिह्नयुक्त प्रयोग**—यह चिह्न पुल्लिग रूप के साथ ही प्रयुक्त होता है; जैसा कि सूरदास के इन उदाहरणों से स्पष्ट है—तातैं कहत सँभारहिं **रे नर** काहे को इतरात[२१]। कहै प्रहलाद **सुनौ रे** बालक, लीजै जनम सुधारि[२२]। सूरदास के कुछ वाक्यों में संबोधनकारकीय चिन्ह **'रे'** का दोहरा प्रयोग भी किया गया है; जैसे—**रे रे** अंध बीसहू लोचन, पर तिय हरन बिकारी[२३]। **रे रे** चपल बिरूप ढीठ तू बोलत बचन अनेरौ[२४]।

ज. **'हे' चिह्नयुक्त प्रयोग**—इस सामान्य संबोधन-द्योतक चिह्न का प्रयोग भी सूर-काव्य में कहीं-कहीं मिल जाता है—विशेषतः विनय पदों में; जैसे—मेरैं हृदय नाहिं आवत हौ, **हे गुपाल,** हौं इतनी जानत[२५]। नमो नमो **हे कृपानिधान**[२६]।

झ. **'हो' चिह्नयुक्त प्रयोग**—इसका प्रयोग बहुत कम पदों में सूरदास ने किया है; जैसे—जब कान्ह काली लै चले, तब नारि बिनवै **देव हो**[२७]।

ञ. **केवल 'एजू', री, रे आदि चिह्न प्रयोग**—ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें विस्मयादिबोधक रूपों के साथ-साथ संबोधनकारक रूपों में प्रयुक्त कोई न कोई संज्ञा या

---

१३. सा. ९-१४४। १४. सा. ३५३९। १५. सा. ९-१२८।
१६. सा. ९-५१। १७. सा. ९-७। १८. सा. १०-४।
१९. सा. ९-१४७। २०. सा. ५९५। २१. सा. २-२२।
२२. सा. ७-३। २३. सा. ९-१३२। २४. सा. ९-१३२।
२५. सा. १-२१७। २६. सा. २-३३। २७. सा. ५७७।

विशेषण शब्द अवश्य है; परन्तु सूर-काव्य में कुछ ऐसे भी वाक्य मिलते हैं जिनमें संबोधित व्यक्ति-सूचक कोई संज्ञा न रहने पर **'एजू', 'री', 'रे'** आदि का प्रयोग किया गया है ; जैसे— **एजू** तुम तौ स्याम सनेही[२८] । कहु **री** सुमति कहा तोहिं पलटी[२९], देखि **रे**, वह सारँगधर आयौ,[३०] । पुत्रहु तैं प्यारी कोउ है **री**[३१] ।

'विभक्ति'-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—विभिन्न कारकों के साथ प्रयुक्त होनेवाली जिन विभक्तियों की सूची 'कारक' शीर्षक प्रसंग के आरंभ में दी गयी थी, उनके उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं । उनके अतिरिक्त, उनके स्थान पर, कुछ सम्बन्धसूचक अव्ययों के प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलते हैं । ऐसे अव्ययों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—मुख्य और सामान्य ।

क. **मुख्य अव्यय शब्द**—इस वर्ग में वे शब्द आते हैं जिनका प्रयोग कवियों ने बहुत अधिक किया है । ऐसे मुख्य अव्यय ये हैं —

कारक	संबंधसूचक अव्यय[३२]
करणकारक	कारन
अपादनकारक	आगैं
अधिकरणकारक	ऊपर, तर, तरैं, तलैं[३३], तीर, पास, भीतर ।

अन्य व्रजभाषा कवियों के समान सूरदास ने भी उक्त संबंधसूचक अव्ययों का प्रयोग विभक्तियों के बदले में किया है ; जैसे—

कारन—या गोरस **कारन** कत सुत की पति खोवै[३४] । निज जन **कारन** कबहुँ न गहरु लगायो[३५] । नृप **तप कारन** बनहिं सिधाए[३६] ।

आगैं—कुँवर कौ पुनि गज मैमत **आगैं** डारचौ[३७] । ग्वालिनि **आगैं** अपनौ नाम सुनाइ[३८] । जसुमति **आगैं** कहिहौं जाई[३९] ।

---

२८. सा. ३४९२ । २९. सा. ९-३८ । ३०. सा. ९-१२५ । ३१. सा. ३६७ ।

३२. विभक्तियों के बदले में प्रयुक्त होनेवाले उक्त संबंधसूचक अव्ययों के अतिरिक्त पं० कामता प्रसाद गुरु ने कर्मकारक में प्रति; करण में करके, जरिये; संप्रदान में अर्थ, निमित्त, लिए, वास्ते; अपादान में अपेक्षा, बनिस्बत आदि अव्यय और दिये हैं ('हिन्दी व्याकरण,' पृ० ३००); परन्तु व्रजभाषा में उनका अधिक प्रयोग न मिलने के कारण उनको उक्त सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है—लेखक ।

३३. पर, ऊपर-जैसे सम्बन्धसूचक अव्ययों के समान ही तर, तले, पास आदि को भी विभक्तियों के बदले में प्रयुक्त होनेवाले रूपों में माना जाना चाहिए । पं. कामता प्रसाद गुरु ने इनको स्वीकार नहीं किया है ('हिन्दी व्याकरण,' पृ० ३००); परन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने नीचे और पास को इसी वर्ग में रखा है ('हिन्दी भाषा का इतिहास', पृ० २६५) । तर और तले वास्तव में नीचे के ही पर्याय रूप हैं—लेखक ।

३४. सा. ३६७ । ३५. सा. ८-३ । ३६. सा. ४-९ ।
३७. सा. ७-२ । ३८. सा. १०-२८५ । ३९. सा. ५३९ ।

ऊपर— चरन राखि उर **ऊपर**[४०] । पन्नगपति प्रभु **ऊपर** फन छावै[४१]। बात चक्र मिस ब्रज **ऊपर** परि[४२] ।

तर—पग **तर** जरन न जानै मूरख[४३] । लंकेश्वर बाँधि राम चरननि **तर** डारौं[४४] । सप्त समुद्र देउँ छाती **तर**[४५] । नव ग्रह परे रहैं पाटी **तर**[४६] । कर सिर **तर** करि[४७] ।

तरैं—कुँवर कौ डारि देहु गज मैंमत **तरैं**[४८] । कठुला कंठ चिबुक **तरैं** मुख दसन बिराजैं[४९] । अबहीं मैं देखि आई, बंसीवट **तरैं** ही[५०] ।

तलै— बट्टा काटि कसूर भरम कौ फरद **तलै** लै डारैं[५१] ।

तीर — माखन माँगत बात न मानत झँखत जसोदा जननी **तीर**[५२] ।

पास—लंकपति **पास** अंगद पठायौ[५३] ।

भीतर—उर **भीतर**[५४], गढ़ **भीतर**[५५] । दधि भाजन **भीतर**[५६] । पयोनिधि **भीतर**[५७]। भवन **भीतर**[५८] । रन **भीतर**[५९] ।

ख—सामान्य अव्यय शब्द—उक्त संबंधसूचक अव्ययों के अतिरिक्त दो दर्जन से अधिक और भी ऐसे ही शब्द हैं जिनका विभक्तियों के बदले में प्रयोग किया जाता है। डा० धीरेंद्र वर्मा ने अपने व्याकरण में इनकी भी चर्चा की है[६०] । ऐसे शब्दों में से अनेक के उदाहरण 'सूरसागर' में मिलते हैं ; जैसे—

अंतर—देखत आनि संचयौ **अंतर**[६१] । जिय घट **अंतर** मेरैं[६२] । घन घन **अंतर** दामिनि[६३] ।

काज—असन **काज** प्रभु बन फल करे[६४] । कमल **काज** मैं आयौ[६५] । न्हात **काज** सो सरिता गयौ[६६] ।

ढिग—नगन गात मुसुकात तात **ढिग**[६७] । बाँभन हरि **ढिग** आयौ[६८] ।

तन—निरखि तरुवर **तन**[६९] । चितवति मधुबन **तन**[७०] ।

तुल्य—गनत अपराध समुद्रहिं बूँद **तुल्य** भगवान[७१] । सारँग बिकल भयौ सारँग मैं सारँग **तुल्य** सरीर[७२] ।

---

४०. सा. १-३ । ४१. सा. १०-६५ । ४२. सा. १०-७७ ।
४३. सा. २-१३ । ४४. सा. ९-८५ । ४५. सा. ९-१०७ ।
४६. सा. ९-११९ । ४७. सा. १०-६५ । ४८. सा. ७-२ ।
४९. सा. १०-१३४ । ५०. सा. २८८६ । ५१. सा. १-१४२ । ५२. सा. १०-१६१ ।
५३. सा. ९-१२८ । ५४. सा. ९-१२१ । ५५. सा. ९-१२५ । ५६. सा. १०-१४१ ।
५७. सा. ९-१२४ । ५८. सा. १०-२८९ । ५९. सा. ९-१५४ ।
६० 'व्रजभाषा व्याकरण' पृ १२३ ।
६१. सा. १०-१३५ । ६२. सा. १-२७५ । ६३. सा. १०४८ । ६४. सा. २-२० ।
६५. सा. ५३८ । ६६. सा. ६-७ । ६७. सा. १०-१६४ । ६८. सा. १०-५७ ।
६९. सा. ९-८३ । ७०. सा. ३४०८ । ७१. सा. १-८ । ७२. सा. १-३३ ।

नाई—खर कूकर की **नाई** मानि सुख[७३]। बिभीषन कौं मिले भरत की **नाई**[७४]। पालै प्रजा सुतनि की **नाई**[७५]

बाहर—बाँभन कौं घर **बाहर** कीन्हौं[७६]।

बिना—भक्ति **बिना** जौ कृपा न करते[७७]। कमल कमला रवि **बिना** बिकसाहिं[७८]।

बिनु—सुमित्रा सुत **बिनु** कौन धरावै धीर[७९]। सूर स्याम **बिनु** और करै को[८०]। अंब को बसै जाइ ज हरि **बिनु**[८१]।

लिए—लोभ **लिए** दुर्बचन सहै[८२]। लोभ **लिए** परबस भए[८३]।

सँग—अनुज घरनि **सँग** गए बनचारी[८४]।

संग—सखिनि **संग** वृषभानु किसोरी[८५]।

सम—जे जे तुव सूर सुभट, कीट **सम** न लेखौं[८६]।

सरिस—पापी, क्यौं न पीठि दै मोकौं, पाहन **सरिस** कठोर[८७]।

से—नैन कमल दल-**से** अनियारे[८८]।

सौं—गोबिंद-**सौं** पति पाइ[८९]। तिनका-**सौं** अपने जन कौ गुन मानत मेरुसमान[९०]।

हित—गज **हित**[९१]। जग **हित**[९२]। दासी दास सेव **हित** लाए[९३]। सुरन **हित**[९४]।

हेत—गंगा **हेत** कियौ तप जाइ[९५]। प्रभु कर गहत ग्वालिनि चारु चुंबन **हेत**[९६]। तृषा **हेत** जल झरना भरे[९७]। हाथ दए हरि पूजा **हेत**[९८]।

सर्वनामों के कारकीय प्रयोग—

व्रजभाषा में प्रयुक्त होनेवाले मूल सर्वनामों की संख्या बारह है—**मैं, हौं, तू, आप, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन** और **क्या**। प्रयोग के अनुसार इनके छः भेद हैं—

१ पुरुषवाचक—**मैं, हौं, तू, वह, सो**।
२. निजवाचक—**आप**।
३. निश्चयवाचक—**यह, वह, सो**।
४. संबंधवाचक—**जो**।
५. प्रश्नवाचक—**कौन (कवन), क्या**।
६. अनिश्चयवाचक—**कोई, कुछ**।

यह वर्गीगरण पंडित कामताप्रसाद गुरु का है[९९]; परंतु डा० धीरेंद्र वर्मा ने इनके अतिरिक्त सर्वनामों के दो भेद और माने हैं—

---

७३. सा. १-२०३। ७४. सा १-३। ७५. सा. ५-३। ७६. सा. १०-५७।
७७. सा. १-२०३। ७८. सा. १-३३८। ७९. सा. ९-१४५। ८०. सा. १-१४।
८१. सा. ५६२। ८२. सा. १-५३। ८३. सा. २३७८। ८४. सा. १०-१९८।
८५. सा. २८२८। ८६. सा. ९-९७। ८७. सा. ९-८३। ८८. सा. ३-१३।
८९. सा. २-९। ९०. सा. १-८। ९१. सा. ८-४। ९२. सा. ९-११।
९३. सा. ७-८। ९४. सा. ८-८। ९५. सा. ९-९ ९६. सा. १०-१८४।
९७. सा. २-२०। ९८. सा. ४-१२। ९९. 'हिंदी व्याकरण', पृ. ९०-९१।

७. नित्यसंबंधी—**सो**। ८. आदरवाचक—**आप**[१]।

विषय को स्पष्ट करने के लिए इन दोनों रूपों पर भी विचार करने की आवश्यकता है। अतएव प्रस्तुत प्रबंध में इन दोनों को भी सर्वनामों के सातवें-आठवें रूपों में स्वीकार किया गया है।

पुरुषवाचक सर्वनामों के भेद—वक्ता, श्रोता और वर्ण्य विषय के आधार पर पुरुषवाचक सर्वनामों के तीन भेद होते हैं—

१. उत्तमपुरुष वक्ता—**मैं, हौं**। २. मध्यमपुरुष श्रोता—**तू**।

३. अन्य पुरुष (वर्ण्य विषय)—**वह, सो**[२]।

उत्तमपुरुष सर्वनामों की रूप-रचना—सर्वनाम भी विकारी शब्द होते हैं जिनके रूप लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम **मैं** और **हौं** दोनों लिंगों में समान रूप से व्यवहृत होते हैं। अतएव इनमें केवल वचनों की दृष्टि से निम्नलिखित विकार होता है—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप	**मैं, हौं,**[३] **हम**[४]	**हम**
विकृत रूप	**मो, मौं**	**हम**

उत्तमपुरुष एकवचन के कारकीय प्रयोग—उत्तमपुरुष एकवचन सर्वनामों के विभिन्न कारकों में सूरदास द्वारा जो प्रयोग किये गये हैं, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

१. **कर्त्ताकारक**—इस कारक में 'मैं', '**हौं**' और '**हम**' के एकवचन प्रयोग मूलरूप में ही साधारणतया प्रयुक्त होते हैं। सूरदास ने भी ऐसा ही किया है; जैसे—

---

१. 'व्रजभाषा व्याकरण', पृ० ७७ और ८६।

२. यह, जो, कौन, क्या, कोई और कुछ भी वर्ण्य विषय के आधार पर अन्य पुरुष-रूप के ही अंतर्गत आते हैं—लेखक।

३. डा० धीरेंद्र वर्मा ने उत्तमपुरुष मूलरूप 'हौं' के साथ 'हों' और 'हुँ' रूप भी दिये हैं ('व्रजभाषा व्याकरण', पृ० ६०)। ये रूप वस्तुतः 'हौं' के ही रूपांतर हैं और इनके प्रयोग बहुत कम मिलते हैं। सूर-काव्य की प्राचीन प्रतियों और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश या इसके पूर्व प्रकाशित ग्रंथों में ये कहीं-कहीं भले ही मिल जायँ, परंतु सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में इनको स्थान नहीं मिला है—लेखक।

४. 'हम' यद्यपि बहुवचन सर्वनाम है, परंतु इसका एक व्यक्ति के लिए प्रयोग भी बराबर मिलता है यद्यपि क्रिया इसके साथ बहुवचन रूप में ही प्रयुक्त हुई है। अतएव एकवचन के अंतर्गत उसे भी अप्रधान रूप से, कम से कम प्रयोग की दृष्टि से, सम्मिलित करना आवश्यक है—लेखक।

अ. **मैं** — **मैं** भक्तबछल हौं[५] । **मैं** जब अकास तैं परौं[६] । **मैं** खेई ही पार कौं[७] । **मैं** कहि समुझायौ[८] ।

आ. **हौं** — भक्त-भवन मैं **हौं** जु बसत हौं,[९] जन कौ **हौं** आधीन सदाई[१०] । **हौं** करिहौं तात बचन निरबाहु[११] । यह ब्रत **हौं** प्रतिपलिहौं[१२] ।

इ. **हम** — तुव सुत कौं पढ़ाइ **हम** हारे[१३] । तातैं कही तुम्हैं **हम** आइ[१४] । ये दुख **हम** न सुने न चहे री[१५] ।

बात को प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए उक्त सर्वनाम-रूपों के साथ सूरदास ने एकाकीपन सूचक '**ही**' और '**भी**' अर्थवाची '**हूँ**' अथवा उनके अन्य रूपों का भी कभी-कभी प्रयोग किया है; जैसे—

अ. **मैंहुँ**—तुम जैसैं स्रम वायु करत हौ, तैसैं **मैंहुँ** डुलावौंगी[१६] । जैसैं फिरति रंध्र मग अँगुरी, तैसें **मैंहुँ** फिराऊँ[१७] ।

आ. **मैंहूँ**—अब **मैंहूँ** याकौ दृढ़ देखौं[१८] । सूर स्याम ज्यौं उछँग लई मोंहि, त्यों **मैंहूँ** हँसि भेटौंगी[१९] । तुम कहति, **मैंहूँ** कहति सोइ[२०] । कछु **मैंहूँ** पहचानति तुमकौं[२१] ।

उ. **हौंहूँ**—**हौंहूँ** संग तिहारैं खेली[२२] ।

ऊ. **हमहुँ**—खेलत मैं को छोट बड़, **हमहुँ** महर के पूत[२३] । सुनहु सूर घर जाहु **हमहुँ** घर जैहैं होत बिहान[२४] । तब तिनि दिननि कुमार कान्ह तुम **हमहुँ** हुतीं अपनैं जिय भोरी[२५] । जाहु गृह परम धन, **हमहुँ** जैहैं सदन[२६] ।

ए. **हमहूँ**—तुमहूँ नवल, नवल **हमहूँ** हैं[२७] । बदन उठावहु, **हमहूँ** देखन पावैं[२८] ।

उक्त बलात्मक रूपों में तो सर्वनामों के मूल रूप सुरक्षित हैं; परंतु एक-दो स्थानों पर '**महूँ**'-जैसे विकृत रूपों का प्रयोग भी सूरदास ने किया है; जैसे—तेरी घाँ ह्व **महूँ** लरी[२९] ।

कर्मकारक-- उत्तमपुरुष एकवचन सर्वनामों के मूलरूपों —**मैं** और **हौं**—का प्रयोग सूरदास ने कहीं-कहीं पर कर्मकारक में भी किया है; जैसे—

५. सा. १-२४३ । ६. सा. ९-२ । ७. सा. ९-४२ । ८. सा. ९-११६ ।
९. सा. १-२४३ । १०. सा. ९-७ । १०. सा. ९-३४ । १२. सा. ९-३५ ।
१३. सा. ७-२ । १४. सा. ७-२ । १५. सा. ३००६ । १६. सा. ११४७ ।
१७. सा. २१४१ । १८. सा. ४-९ । १९. सा. ११४७ । २०. सा. १३३५ ।
२१. सा. २१६६ । २२. सा. २८९२ । २३. सा. ५८१ । २४. सा. १०१७ ।
२५. सा. १९३१ । २६. सा. १९४८ । २७ सा. २८८३ । २८. सा. २९१६ ।
२९. सा. २४३४ ।

अ. **मैं—मैं** तुम पै ब्रजनाथ पठायौ। आतम ज्ञान सिखावन आयौ[३०]।

आ. **हौं—**झगरिनि तैं **हौं** बहुत खिझाई[३१]। जमुना, तैं **हौं** बहुत रिझायौ[३२]। हौं पठयौ कतहीं वेकाजैं[३३]।

'सूरसागर' में कर्मकारकीय विभक्तियों, **कौं** और **हिं**, का प्रयोग बहुत हुआ है। व्रजभाषा के अनेक कवियों ने उत्तमपुरुष एकवचन सर्वनामों के मूल रुपों, **मैं** और **हौं**, में से 'हौं' में दोनों विभक्तियों को जोड़कर **'हौंकौं'** और 'हौंहिं'-जैसे रूप बनाये हैं; परन्तु 'सूरसागर' में **'हम'** एकवचन के साथ ही इन विभक्तियों का संयोग अधिक मिलता है; जैसे—

अ. **हमकौं**—केहि कारन **हम** (ध्रुव) **कौं** भरमावत[३४]। कौनेहुँ भाव भजैं कोउ हम (कृष्ण) **कौं**[३५]।

आ. **हमहिं—हमहिं** (कृष्ण को) छाँड़ि किनि देहु[३६]।

'**हौं**' और '**हम**' एकवचन के मूलरूप में ही कर्मकारकीय विभक्तियों, **कौं** और **हिं**, के संयोग का कारण यह है कि इनके विकृत रुप व्रजभाषा में नहीं होते। '**मैं**' का विकृत रूप '**मो**' अवश्य प्रयुक्त होता है जिसका प्रयोग कभी तो कर्मकारक में बिना विभक्ति के ही सूरदास ने किया है; जैसे-- सुनी तगीरी बिसरि गई सुधि **मो** तजि भये नियारे[३७], और कभी '**कौं**' और '**हिं**' विभक्तियों के साथ; जैसे—

अ. **मोकौं—मोकौं** मारि सके नहिं कोइ[३८]। तुम **मोकौं** काहे बिसरायौ[३९]। इन मोकौं नीकैं पहिचान्यौ[४०]।

आ. **मोहिं**—तुम पावहु **मोहिं** कहाँ तरन कौं[४१]। नाथ, सकौ तौ **मोहिं** उधारौ[४२]। जारत हैं **मोहिं** चक्र सुदरसन[४३]।

दो-एक उदाहरण सूर-काव्य में ऐसे मिलते हैं जहाँ '**मैं**' के विकृत रूप '**मो**' के साथ दोनों विभक्तियों का प्रयोग किया गया जान पड़ता है; जैसे—सुद्धा भक्त **मोहिं** कौं चाहै[४४]। परन्तु वास्तव में यहाँ '**हिं**' विभक्ति रूप में नहीं, 'ही' के अर्थ में है।

'**हम**' एकवचन के साथ कहीं-कहीं '**ऐं**' के संयोग से कर्मकारकीय रूप बनाये गये हैं, यद्यपि एकवचन में ऐसे प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं है; जैसे--जद्यपि **हमैं** (सती को) बुलायौ नाहिं[४५]।

मो, हौं और **हम**, इनमें से प्रथम और अंतिम के ही 'हूँ'-युक्त बलात्मक प्रयोग कर्म-कारक में अधिक मिलते हैं; जैसे—

---

३०. सा. ४०९४। ३१. सा. १०-१६। ३२. सा. २९१३। ३३. सा. ४१३०। ३४. सा. ४-९। ३५. सा. ७८७। ३६. सा. २९०७। ३७. सा. १-१४२। ३८. सा. ७-२। ३९. सा. ९-२। ४०. सा. १०३२। ४१. सा. १-१३०। ४२. सा. १-१३१। ४३. सा. ९-७। ४४. सा. ३-१३। ४५. सा. ४-[illegible]

अ. **मोहूँ**---सूर स्याम **मोहूँ** निदरौगे देहुँ प्रेम की गारि[४६]। **मोहूँ बरबस** उतहिं चलावत दूत भए उन केरे[४७]।

आ. **हमहूँ**----**हमहूँ** बोलि उहाँई लीजौ[४८]।

इन बलात्मक प्रयोगों के साथ कहीं-कहीं विभक्ति का प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलता है ; जैसे----**मोहूँ को** चुचुकारि गयौ लै[४९]। औरनि-सी **मोहूँकौं** जानति[५०]।

३. **करणकारक**----विभक्तिरहित मूल रूपों का प्रयोग करणकारक में सूरदास ने नहीं के बराबर ही किया है ; ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही मिलते हैं; जैसे---

मोहन, क्यौं ठाढ़े, बैठत क्यौं नाहीं, कहा परी **हम** (प्यारी से) चूक[५१]।

करणकारकीय विभक्तियों में पाँच---**कौं, तैं, पैं, सौं** और **हिं**---का प्रयोग सूरदास ने अधिकता से किया है । पुरुषवाचक एकवचन सर्वनाम के तीन रूपों---**मो** (**मैं** का विकृत रूप), **हौं** और **हम** में से 'हौं' के विभक्तियुक्त रूप सूर-काव्य में बहुत ही कम मिलते हैं । 'मो' के साथ उक्त तीनों विभक्तियों का संयोग सूर-काव्य में खूब मिलता है; जैसे---

अ. **मोकौं** ---सुनहु सूर जो बूझति **मोकौं**, मैं काहुँ न पहिचानौं[५२]।

आ. **मोत**---**मोतैं** कछू न उबरी हरि जू, आयौ चढ़त-उतरतौ[५३]। गुरु-हत्या **मोतैं** ह्वै आई[५४]। भयौ पाप **मोतैं** बिनु जान[५५]। कन्या कह्यौ, **मोतैं** बिन जानैं यह भयौ[५६]।

इ. **मोपैं** या **मोपै**---माँगि लेइ अब **मोपैं** सोइ[५७]। ताकौ विषम बिषाद अहो मुनि **मोपै** सह्यौ न जाइ[५८]। तात की आज्ञा **मोपैं** मेटि न जाइ[५९]। दधि मैं सेंत की **मोपै** चीटी सबै कढ़ाई[६०]।

ई. **मोसौं**---अब **मोसौं** अलसात जात हौ अधम-उधारनहारे[६१]। **मोसौं** बात संकुच तजि कहियै[६२]। यह तुम **मोसौं** करौ बखान[६३]।

उ. **मोहिं**---**मोहिं** प्रभु तुमसौं होड़ परी[६४]। जब **मोहिं** अंगद कुसल पूछिहै, कहा कहौंगौ वाहि[६५]। ऐसौ कौन, मारिहै ताकौं, **मोहिं** कहै सो आई[६६]।

उक्त पाँचों विभक्तियों में से कुछ के संयोग से **'हम'** एकवचन के भी करणकारकीय प्रयोग सूर-साहित्य में मिलते हैं जैसे;---

अ. **हमतैं**---**हमतैं** चूक कहा परी तिय, गर्व गहीली[६७]। कहैं नंद, **हमतैं** कछु सेवा न भई[६८]।

---

४६. सा. १९३२ । ४७. सा. २३५२ । ४८. सा. २५३९ ।
४९. सा. ४८१ । ५०. सा. २७२६ । ५१. सा. २४८४ । ५२. सा. २५५९ ।
५३. सा. १-२०३ । ५४. सा. १-२६१ । ५५. सा. ३-५ । सा. ५६ सा. ९-३ ।
५७. सा. ४-९ । ५८. सा. ९-७ । ५९. सा. ९-५३ । ६०. सा. १०-३२२ ।
६१. सा. १-२५ । ६२. सा. १-१३६ । ६३. सा. २-३५ । ६४. सा. १-१३० ।
६५. सा. ९-७५ । ६६. सा. १०-६० । ६७. सा. २१४५ । ६८. सा. ३४७४ ।

आ. **हमसौं**—सो **हमसौं** (ब्यास सौं)कहि क्यौं न सुनावै[६९]। हमसौं (अश्वत्थामा सौं) कछु न भई मित्राई[७०]। बहुरि कहत हमसौं (सरमिष्ठा सौं) बात[७१]।

कौं, तैं, पै, (प), सौं और **हिं**—इन पाँच प्रमुख विभक्तियों के अतिरिक्त **'ते'** और **'सन'** का प्रयोग भी करणकारक में सूरदास ने किया है। 'हौं' और **'हम'** के साथ तो नहीं, **'मैं'** के विकृत रूप **'मों'** के साथ इनका प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है; जैसे—

अ. **मोते**—तुम सब कियौ सहाइ भयौ तब कारज मोते[७२]।

आ. **मोसन**—अनबोली न रहै री आली आई **मोसन** बात बनावन[७३]।

'सूरसागर' में कहीं-कहीं **'मोहिं'** के साथ अन्य विभक्तियों का पुनः संयोग करके करणकारकीय प्रयोग किये गये हैं; जैसे—

भ्रमि मैं तो रिस करति न रस-बस, **मोहि सौं** उलटि लरत[७४]।

इसी प्रकार **'मोहिं'** के दीर्घ स्वरांत रूप **'मोहीं'** के साथ भी **'तैं'**, **'सौं'** आदि विभक्तियों का करणकारक में प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. **मोहीं तैं**—**मोहीं तैं** परी री चूक, अंतर भए हैं जातैं[७५]।

आ. **मोहीं सौं**—जौ झुकि कछूक कह्यौ चाहति हौं, उनहिं जानि सखि **मोही** सौं लइ[७६]। अब आवति ह्वैहैं बनि बनि सब **मोही सौं** चित लाई[७७]।

'हूँ' जोड़कर बनाए गये बलात्मक करणकारकीय प्रयोग भी कहीं-कहीं 'सूरसागर' में मिलते हैं; जैसे—

मोहूँ—आपु गए **मोहूँ** कहैं, चलि मिलि ब्रजराज[७८]।

और ऐसे प्रयोग सर्वत्र विभक्तिरहित हों, सो बात भी नहीं है; कहीं-कहीं इनके साथ करणकारकीय विभक्तियों का प्रयोग भी मिलता है; जैसे—

अ. **मोहूँ सौं**—मुख की भलाई तुम **मोहूँ सौं** करन आए[७९]। **मोहूँ सौं** निठुरई ठानी हो मोहन प्यारे[८०]।

आ. **हमहूँ सौं**—भीने रंग कौन के हौ स्याम **हमहूँ सौं** कत हौ दुरावत[८१]।

करणकारकीय एकवचन सर्वनामों के अपवाद प्रयोगों में **'मोहु'**-जैसे रूपों के उदाहरण समझना चाहिए जो दो-एक पदों में ही मिलते हैं; जैसे—

भृगु कै दुर्बासा तुम होहु। कपिल कै दत्त, कहौ तुम **मोहु**[८२]।

४. **संप्रदान कारक**—पुरुषवाचक एकवचन सर्वनामों के संप्रदानकारकीय रूपों की संख्या अधिक नहीं है और उनके जो रूप इस कारक में प्रयुक्त हुए हैं, वे करणकारकीय रूपों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। विभक्ति-रहित रूपों के संप्रदानकारकीय प्रयोग बहुत कम मिलते हैं; जैसे—

---

६९. सा. १-२२६। ७०. सा. १-२८९। ७१. सा. ९-१७४। ७२. सा. ४३१। ७३. सा. २७५५। ७४. सा. २०९१। ७५. सा. १११५॥ ७६. सा. २८१७। ७७. सा. १४९६। ७८. सा. २३८७। ७९. सा. २५४७। ८० सा. २५४९। ८१. सा. २५५२। ८२. सा. ५-४।

हरि चुंबक जहँ मिलहिं सूर-प्रभु **मो** लैं जाहु तहीं[८३]। तबहीं तैं मन और भयो सखि **मो** तन सुधि बिसरी[८४]।

संप्रदानकारकीय प्रधान विभक्तियों **'कौं', 'सौं'** और **'हिं'** का प्रयोग सूर-काव्य में विशेष रूप से मिलता है; जैसे—

अ. **मोकौं**—जातैं मोकौं सूली दयौ[८५]। तीन पैंग बसुधा दै **मोकौं**[८६]। पापी क्यौं न पीठि दै मोकौं[८७]। नैंकु गोपालहिं **मोकौं** दै री[८८]।

आ. **मोसौं**—तुम प्रभु मोसौं बहुत करी[८९]।

इ. **मोहिं**—पाँच बान मोहिं संकर दीन्हें[९०]। **मोहिं** होत है दुःख बिसेषि[९१]। कह्यौ, सेज मोहिं देहु हरी[९२]। सकुच नाहिंन **मोहिं**[९३]।

ई. **हमहिं**—ऐसे मुख की बचन माधुरी, काहैं न **हमहिं** सुनावति हौ[९४]।

'हम' एकवचन के साथ 'एँ' के संयोग से जो कर्मकारकीय रूप **'हमैं'** बनाया गया है, उसका प्रयोग संप्रदानकारक में कहीं-कहीं मिलता है; जैसे—

हमैं—हमैं मंत्र दीजै[९५]। नृप कह्यौ, इंद्रपुर की न इच्छा **हमैं**[९६]। तैं पाती क्यौं **हमैं** पठाई[९७]। इनकी लज्जा नहिं **हमैं**[९८]।

'कौं' के स्थान पर कहीं-कही उसके रूपान्तर **'कहँ'** का प्रयोग भी सूर-काव्य में मिलता है ; जैसे—

मोकहँ अरु सो भक्ति कीजै किहिं भाइ। सोऊ **मो कहँ** देउ बताइ[९९]।

इसी प्रकार **'मोहिं'** के दीर्घ स्वरांत रूप **'मोहीं'** का प्रयोग भी सूरदास ने कहीं-कहीं किया है; जैसे—**मोहीं** दोष लगायौ[१]। **मोहीं** कछु न सुहात[२]।

विभक्तियुक्त रूप **'मोहिं'** के साथ-साथ एक-दो स्थलों पर **'करि'** का प्रयोग भी देखने में आता है ; जैसे—

मोहिं करि—मैं जमुना जल भरि घर आवति, **मोहिं करि** लागौ ताँवरौ[३]।

'हूँ' के संयोग के बलात्मक संप्रदानकारकीय प्रयोगों के उदाहरण भी कुछ पदों में मिलते हैं; जैसे—

हमहूँ—धर्म-नीति यह कहाँ पढ़ी जू **हमहूँ** बात सुनावहु[४]।

ऐसे बलात्मक रूपों के साथ संप्रदानकारकीय विभक्तियों का संयोग भी कहीं-कही दिखायी पड़ता है ; जैसे—

मोहूँकौं—मोहूँ कौं प्रभु आज्ञा दीजै[५]।

---

८३. सा. ३००२। ८४. सा. १२६९। ८५. सा. ३-५।
८६. सा. ८-१४। ८७. सा. ९-८३। ८८. सा. १०-५५।
८९. सा. १-११६। ९०. सा. १-२८७। ९१ सा. १-२९०। ९२. सा. १-२६८।
९३. सा. १-१०६। ९४. सा. २१९९। ९५. सा. १-२७५। ९६. सा. ४-११।
९७. सा. ४१९५। ९८. सा. १-२३८। ९९. सा. ३-१३। १. सा. २२४६।
२. सा. ३९४४। ३. सा. २८८५। ४. सा. २५३६। ५. सा. ४-५।

हमहूँ कौं—डर उनकौ **हमहूँ कौं** है[६] ।

५. अपादान कारक—इस कारक में प्रयुक्त रूपों की संख्या सूर-काव्य में सबसे कम है। इसकी मुख्य विभक्तियाँ हैं **'तैं'** और **'सौं'** जिनका प्रयोग **'मो'** और **हम** के साथ ही मिलता है ; जैसे—

अ. **मोतैं**—अजामील बातनि हीं तारचौ हुतौ जु **मोतैं** आवौ[७] । **मोतैं** को हो अनाथ[८]। **मोतैं** और देव नहिं दूजा[९] । सूर स्याम अंतर भए **मोतैं**[१०] ।

अ. **मोसौं**— इस रूप का प्रयोग बहुत कम पदों में मिलता है; जैसे—लोचन ललित त्रिभंगी छबि पर अटके **मोसौं** तोरि[११] ।

ई. **हमतैं**—**हमतैं** (दुर्योधन तैं) बिदुर कहा है नीकौ[१२] ।

बलात्मक रूपों के साथ भी कहीं-कहीं इस **'तैं'** विभक्ति का संयोग दिखायी देता है; जैसे—

मोहूँ तैं—**मोहूँ तैं** को है नीकौ[१३] । **मोहूँ तैं ये** चतुर कहावति[१४] । **मोहूँ तैं** वे [illegible] कहावत[१५] ।

६. संबंधकारक—एकवचन मूलरूप सर्वनाम **'मैं'** और **'हौं'** तथा **'हम'** (एकवचन) में से प्रथम और अंतिम के विकृत रूपों के अनेक संबंधकारकीय प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं। **'मैं'** के विकृत प्रयोगों में निम्नलिखित प्रधान हैं—

अ. **मम**—**मम** लाज[१६] । सप्त दिवस **मम** आइ[१७] । **मम** सुत[१८] । **मम** बत्सल[१९]।

उक्त उदाहरणों में तो संबंधी शब्द के पूर्व संबंधकारकीय शब्द का प्रयोग किया गया है, परंतु कहीं कहीं उसके बाद भी सर्वनाम आया है; जैसे—धान **मम** खाई[२०]।

आ. **मेरी**—**मेरी** सकल जीविका[२१] । **मेरी** नौका[२२] । **मेरी** अँखियनि[२३] ।

संबंधी शब्द के पश्चात् भी इस संबंधकारकीय सर्वनाम रूप का प्रयोग सूरदास ने निस्संकोच किया है; जैसे—प्रतिज्ञा **मेरी**[२४] । बिनती **मेरी**[२५] सीख **मेरी**[२६] ।

इ. **मेरे**—**मेरे** गुन-अवगुन[२७] । **मेरे** मन[२८] । **मेरे** प्रान-जिवन-धन[२९] ।

संबंधी शब्द के पश्चात् भी कहीं-कहीं यह संबंधकारकीय सर्वनाम रूप दिखायी देता है; जैसे—द्वार **मेरे**[३०] ।

ई. **मेरौ**—**मेरौ** जिय[३१] । **मेरौ** गर्ब[३२] । **मेरौ** साँइयाँ[३३] ।

---

६. सा. २५३९ । ७. सा. १-१३९ । ८. सा. १०-१५१।
९. सा. ८४३ । १०. सा. १११० । ११. सा. २२४७
१२. सा. १-२४३ । १३. सा. १-१३८ । १४. सा. १७७१ । १५. सा. २३२०
१६. सा. १-२४६ । १७. सा. २-१ । १८. सा. ९-३२ । १९. सा. ९-१५३
२०. सा. १-२८४ । २१. सा. ९-४१ । २२. सा. ९-४२ । २३. सा. १०-१३१
२४. सा. ७-५ । २५. सा. ४९३ । २६. सा. ९-३४ । २७. सा. १-१११
२८. सा. ९-२ । २९. सा. ३७० । ३०. सा. ९-१२९ । ३१. सा. ९-४२
३२. सा. १०-५९ । ३३. सा. ५७७ ।

संबंधी शब्द के पश्चात् भी 'मेरौ' का प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है; जैसे—स्वामि **मेरौ** जागि है[३४]। मन **मेरौ**[३५]।

कुछ उदाहरण सूर-काव्य में ऐसे भी मिलते हैं जिनमें संबंधकारकीय सर्वनाम-रूप संबंधी शब्द के बाद में आया है और दोनों के बीच में अन्य शब्द आ गये हैं; जैसे—

कह्यौ, न आव **नाम** मोहिं **मेरौ**[३६]। **हृदय** कठोर कुलिस तैं **मेरौ**[३७]।

उ. **मो**—**मो** मस्तक[३८]। **मो** रिपु[३९]। **मो** कुटुँब[४०]। **मो** मन[४१]।

ऊ. **मोर**—संबंधकारकीय इस सर्वनाम रूप के प्रयोग की विशेषता यह है कि वाक्य में प्राय: सर्वत्र इसे संबंधी शब्द के पश्चात् ही सूरदास ने रखा है; जैसे—संसय **मोर**[४२]। जीवन-धन **मोर**[४३]। बालक **मोर**[४४]। मनोरथ **मोर**[४५]।

कहीं-कहीं संबंधी शब्द और संबंधकारकीय '**मोर**' के बीच में एक-दो शब्द भी सूरदास ने रख दिये हैं; जैसे—**धर्म** बिनासन **मोर**[४६]।

ए. **मोरि**—इस संबंधकारकीय रूप का प्रयोग सूर-काव्य में अपेक्षाकृत कम मिलता है और **मोर** के समान अधिकतर संबंधी शब्द के पश्चात् ही सूरदास ने इसका प्रयोग किया है; जैसे—**बिनती**कीजौ **मोरि**[४७]।

ऐ. **मोरी**—'**मोरि**' के समान ही, इस संबंकारकीय सर्वनाम के प्रयोग भी सूर-काव्य में बहुत कम मिलते हैं और सो भी प्राय: संबंधी शब्द के पश्चात्; जैसे—मोतिसरि **मोरी**[४८]।

कहीं-कहीं संबंधी शब्द और संबंधकारकीय सर्वनाम रूप '**मोरी**' के बीच में अन्य शब्द भी आ गये हैं; जैसे—मूसे मन-संपति सब **मोरी**[४९]।

ओ. **मोहिं**—'**मोहिं**' संबंधकारकीय रूप नहीं है; अपवादस्वरूप ही इसका प्रयोग इस कारक में सूरदास ने किया है; जैसे—छमौ **मोहिं** अपराधु[५०]।

'**हम**' का मूलरूप संबंधकारकीय प्रयोग बहुवचन में तो अनेक पदों में मिलता है; परन्तु एकवचन में, एक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त होने पर भी, इसकी ध्वनि अनेक की ओर संकेत करती है; जैसे—उत्तर दिसि **हम** नगर अजोध्या है सरजू के तीर[५१]। सीता जी के इस '**हम**' से संकेत निश्चय ही केवल अपने से नहीं, पति और देवर से भी है।

'**हम**' एकवचन के विकृत रूपों में निम्नलिखित के संबंधकारकीय प्रयोग सूर-साहित्य में मिलते हैं—

अ. **हमरी**—उन सम नहिं **हमरी** (हरि की) ठकुराई[५२]।

आ. **हमरे**— तुम पति पाँच, पाँच पति **हमरे** (द्रौपदी के)[५३]।

---

३४. सा. ५७७। ३५. सा. ३७५७। ३६. सा. ४-१२। ३७. सा. ७-५। ३८. सा. १-२७८। ३९. सा. ७-२। ४०. सा. ९-४२। ४१. सा. ३७२९। ४२. सा. ९-२३। ४३. सा. १०-३१०। ४४. सा. ३९८। ४५. सा. २७६७। ४६. सा. ९-८३। ४७. सा. ५८३। ४८. सा. १९७७। ४९. सा. १९३१। ५०. सा. ४९२। ५१. सा. ९-४४। ५२. सा. ४१९५। ५३. सा. १-२५८।

इ. **हमार**--इस संबंधकारकीय सर्वनाम रूप का प्रयोग एकवचन में **'हमरी'** और **'हमरे'** से अधिक मिलता है। सूरदास ने प्रायः संबंधी शब्द के पश्चात् ही इसका प्रयोग किया है; जैसे--कह्यो सुक, सुनि साखि **हमार**[५४]। संकंट मित्र **हमार**[५५]। कहीं कहीं संबंधीं शब्द और कारकीय रूप के बीच में दो-एक अन्य शब्द भी सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—पौरुष देखि **हमार**[५६]।

ई. **हमारी**—यहै **हमारी** (सूर की) भेंट[५७]।

संबंधी शब्द के पूर्व **'हमारी'** के प्रयोग के उदाहरण सूर-काव्य में कम हैं; परंतु उसके पश्चात् प्रयोग के उदाहरण अनेक मिलते हैं; जैसे—सूरदास प्रभु हँसत कहा हौ, मेरी **बिपति हमारी**[५८]। मैं तोहिं सत्य कहौं दुरजोधन, सुनि तू **बात हमारी**[५९]। मापौ देह **हमारी** (बलि की)[६०]।

उ. **हमारे**—**हमारे** प्रभु औगुन चित न धरौ[६१]।

परंतु ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत कम है; अधिकतर उदाहरण ऐसे ही हैं जिनमें **'हमारे'** का प्रयोग संबंधी शब्द के बाद किया गया है; जैसे—धाम **हमारे** (सूर के) कौं[६२]। नाथ **हमारे**(सूर के)[६३]। हरि जू कह्यौ, सुनौ दुरजोधन, सत्य सुबचन **हमारे**[६४]। तुम हित बंधु **हमारे**[६५]।

ऊ. **हमारौ**—इस संबंधकारकीय रूप का भी संबंधी शब्द के पूर्व प्रयोग तो कम किया गया है; परंतु उसके पश्चात् के अनेक उदाहरण मिलते हैं; जैसे–अंतरजामी नाउँ **हमारौ**[६६]। भक्तबछल है बिरद **हमारौ**[६७]। बृथा हौहु बर बचन **हमारौ**[६८]।

'मैं' और **'हम'** (एकवचन) के विकृत संबंधकारकीय रूपों में से बलात्मक रूप केवल प्रथम के ही अधिक मिलते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं।

अ. **मेरीयै**–इसका प्रयोग इने-गिने पदों में मिलता है। साधारणतः संबंधी शब्द के पूर्व ही कवि ने इसका प्रयोग किया है ; जैसे—यह सब **मेरीयै** आइ कुमति[६९]। निकट भएं **मेरीयै** छाया मोकौं दुख उपजावति[७०]।

आ. **मेरोइ**—इस बलात्मक रूप का प्रयोग सूरदास ने दो-एक पदों में प्रायः संबंधी शब्द के पूर्व ही किया है; जैसे—**मेरोइ** कपट-सनेहु[७१]।

इ. **मेरोई**—**'ओ'** को **'औ'** बना देने की प्रवृत्ति के कारण सभा के 'सूरसागर' में **'मेरोई'**-जैसे प्रयोग नहीं है; फिर भी अपवादस्वरूप, एक-दो पदों में इसका प्रयोग मिल जाता है; जैसे - **मेरोई** भजन थापि माया सुख झुठ्यौ[७२]।

---

५४. सा. २-२। ५५. सा. ९-१४७। ५६. सा. ९-८९। ५७. सा. १-१४६।
५८. सा. १-१७३। ५९. सा. १-२४४। ६०. सा. ८-१४। ६१. सा. १-२२०।
६२. सा. १-१५१। ६३. सा. १-१८७। ६४. सा. १-२४२। ६५. सा. ९-१४७।
६६. सा. १-२४३। ६७. सा. १-२४४। ६८. सा. ९-३३। ६९. सा. १-३००।
७०. सा. १८५३। ७१. सा. ३११६। ७२. सा. ३४५७।

ई. **मेरौई**—एकवचन संबंधकारकीय सर्वनामों के उक्त तीनों बलात्मक रूपों में इस शब्द का प्रयोग सूर-काव्य में कुछ अधिक मिलता है। अधिकांशतः इसका प्रयोग भी संबंधी शब्द के पूर्व ही दिखायी देता है; जैसे–यह तो **मेरौई** अपराधौ[७३]। **मेरौई** ज्यौ जानै माई[७४]।

७. **अधिकरण कारक**–इस कारक के विभक्तिरहित विकृत प्रयोगों में दो रूप प्रधान हैं—**'मेरैं'** और **'हमारैं'**। एकवचन अप्रधान रूपों में **'मोहिं'** का प्रयोग अपवाद-स्वरूप दिखायी देता है। **'हौं'** के मूल या विकृत, किसी भी रूप का प्रयोग अन्य कारकों की भाँति इसमें भी नहीं मिलता।

क. **सामान्य विभक्तिरहित प्रयोग**—

अ. **मेरैं**—पाट बिरध ममता है **मेरैं**[७५]। मैं-मेरी अब रही न **मेरैं**[७६]। **मेरैं** नहिं सत्राई[७७]।

आ. **हमारैं**—हरि, तुम क्यौं न **हमारैं** (दुर्योधन के) आए[७८]। खेलन कबहुँ **हमारैं** (कृष्ण के) आवहु[७९]। रैनि बसत कहुँ, भोर **हमारैं** आवत नहीं लजाने[८०]।

इ. **मोहिं**—विभक्तिरहित **'मोहिं'** के अधिकरणकारकीय प्रयोग एक-दो पदों में मिल जाते हैं, जिन्हें अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए; जैसे—अब **मोहिं** कृपा कीजियै सोई[८१]।

ख. **विभक्तिसहित प्रयोग**—एकवचन सर्वनाम रूपों के साथ जिनका प्रयोग विशेष रूप से सूर-काव्य में मिलता है, वे हैं **पर, पैं, पै, महिमाँ, माँझ** और **मैं**। **मो, मोहिं, मोहीं** और **हम** (एकवचन) के साथ इनका प्रयोग कवि ने अधिक किया है; जैसे—

अ. **मो पर**—कियौ वृहस्पति **मो पर** कोहु[८२]। चली जाउ सैना सब **मो पर**[८३]। **मो पर** ग्वालि कहा रिसाति[८४]। **मो पर** रिस पावति हौ[८५]।

आ. **मो पै**—थाती प्रान तुमारी **मो पै**[८६]। नहुष कह्यौ, इंद्रानी **मो पै** आवै[८७]। **मो पै** काहे न आवत[८८]। **मो पै** कहा रिसान्यौ[८९]।

इ. **मो मैं**—कै कछ **मो मैं** झोलौ[९०]। औगुन और बहुत हैं **मो मैं**[९१]। **मो मैं** एक भलाई[९२]। पिय जिय **मो मैं**[९३] नाहिं।

ई. **मोहिं पर**—**'मोहिं'** के साथ 'पर' विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने बहुत कम किया है, पर किया अवश्य है; जैसे—कृपा करि **मोहिं पर**[९४]।

---

७३. सा. १०९२। ७४. सा. २०८९। ७५. सा. १-१४१।
७६. सा. २-३३। ७७. सा. ४-५। ७८. सा. १-२४४।
७९. सा. ६७४। ८०. सा. २५४६। ८१. सा. ४-५। ८२. सा. ६-५।
८३. सा. ९-१०७। ८४. सा. १३३३। ८५. सा. १३३४। ८६. सा. १-१९६।
८७. सा. ६-७। ८८. सा. १३६९। ८९. सा. १८९३। ९०. सा. १-१३६।
९१. सा. १-१८६। ९२. सा. १-२९०। ९३. सा. २१०४। ९४. सा. १-२१४।

उ. **मोहिं महियाँ**—यह प्रयोग भी सूर-काव्य में एक-दो पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—हौं उन माहिं कि वै **मोहिं महियाँ**[९५]।

ऊ. **मोहिं माँझ**—'मोहिं' के साथ 'माँझ' विभक्ति भी दो-एक पदों में ही दिखायी देती है; जैसे—जानत हौं प्रभु अंतरजामी जो **मोहिं माँझ** परी[९६]।

ए. **मोहीं पर**—'मोहिं' की अपेक्षा 'मोहीं' का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है, परंतु इसके साथ 'पर' विभक्ति ही प्रायः प्रयुक्त हुई है; जैसे - ग्वारिनि मोहीं **पर** सतरानी[९७]। यह चतुरई परी **मोहीं पर**[९८]। तू **मोहीं पर** खरी परी[९९]।

ऐ. **हम पैं**—'हम' (एकवचन) के साथ 'पैं' विभक्ति का प्रयोग कवि ने कभी-कभी ही किया है; जैसे – कहा भयौ जो **हम**(कृष्ण)**पैं** आई[१]। इतने गुन **हम पैं** कहौं[२]।

ओ. **हम पै**–'हम पैं' के समाम ही 'हम पै' का प्रयोग भी कुछ पदों में दिखायी देता है; जैसे—**हम पै** नाहिं कन्हाइ[३]। समाचार सब उनके लै **हम** (हरि जू) पै चलि आवहु[४]।

ग. **अन्य प्रयोग**—उक्त रूपों के अतिरिक्त सूर-काव्य में अधिकरणकारकीय कुछ सामान्य प्रयोग और मिलते हैं; जैसे––

अ. **मो मौं**–उक्त विभक्तियों के अतिरिक्त दो-एक पदों में 'मौं' विभक्ति का भी प्रयोग किया गया है जिसे 'मैं' का रूपांतर समझना चाहिए; जैसे--कछु न भक्ति मो मौं[५]।

आ. **मेरे पर**—इसी प्रकार अपवादस्वरूप दो-एक पदों में संबंधकारकीय एकवचन सर्वनाम रूप 'मेरे' के साथ अधिकरणकारकीय 'पर' विभक्ति का प्रयोग सूरदास ने किया है; जैसे—एकै चीर हुतौ **मेरे पर**[६]। कैसैं दौरि परीं **मेरे पर**[७]।

ई. **मोकौं**—कर्मकारकीय सविभक्ति सर्वनाम रूप 'मोकौं' का प्रयोग भी एक दो-पदों में अधिकरणकारक में प्रयुक्त मिलता है; जैसे---हरि, कृपा **मोकौं** करि[८]।

ई. **हमरैं**—दो-एक पदों में संबंधकारकीय रूप 'हमरे' में 'एँ' के योग से अधिकरण-कारकीप रूप बना लिया गया है; जैसे—उरबसी कह्यौ, बिना काम हमरैं नहिं चाह[९]।

उ. **हमहीं पर**—एकाकीपन सूचक 'हमहीं' के साथ 'पर' विभक्ति का प्रयोग भी अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए; जैसे—**हमहीं पर** पिय रूसे हौ[१०]।

सारांश—विभिन्न विभक्तियों के पूर्व पुरुषवाचक एकवचन सर्वनाम किन रूपों में आते हैं और विभक्ति का संयोग होने पर उनके कितने रूप हो जाते हैं, सूरदास के उक्त प्रयोगों के आधार पर उनकी सूची इस प्रकार है। इनमें कोष्टबद्ध रूप अप्रधान हैं।

---

९५. सा. १०-१३५। ९६. सा. १-१८४। ९७. सा. १३३१। ९८. सा. १७६७। ९९. सा. २४३४। १. सा. १०१७। २. सा. २६८८। ३. सा. ६८२। ४. सा. ४१६०। ५. सा. १-१५१। ६. सा- १-२४७। ७. सा. १९५६। ८. सा. १०-२५२। ९. सा. ९-२। १०. सा. २६११।

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	मैं हौं (हम)	...
कर्म	मैं (हौं) (हम)	मोकौं, मोहिं, (हमकौं), (हमहिं) (हमैं)।
करण	(मैं) (मो) (हम)	मोकौं, मोतैं, मोपैं, (मोते), मोतैं, मोसौं, मोहिं, (हमतैं), (हमसौं)।
संप्रदान	(मैं-मो) (हम)	(मो कहँ), मोकौं, मोसौं, मोहिं, (मोहिं करि), मोहीं (हमहिं), (हमैं)।
अपादान	...	मोतैं, (हमतैं)।
संबंध	मम	मेरी, मेरे, मेरौ, मो, मोर, (मोरि), (मोरी), (मोहिं), (हमरी), (हमरे), (हमार) (हमारी), हमारे, हमारौ।
अधिकरण	मेरैं (मोहिं) हमरैं	(मेरे पर), (मोकौं), मो पर, मो पै, मो मैं, (मो माँ), (मोहिं पर), (मोहिं महियाँ), (मोहिं माँझ), (मोहीं पर), (हम पैं), (हम पै)।

उत्तम पुरुष बहुवचन के कारकीय प्रयोग—

विभिन्न कारकों में, उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम '**हम**' का प्रयोग सूर-काव्य में, मूल और विकृत, दोनों रूपों में किया गया है।

कर्त्ताकारक—इस कारक की विभक्ति '**ने**' है; परंतु सूरदास ने सर्वत्र विभक्तिरहित '**हम**' के ही सामान्य और बलात्मक प्रयोग किये हैं।

क. **सामान्य प्रयोग**—मूल और विकृत रूपों में समानता के कारण '**हम**' का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे —सुखी **हम** रहत[११]। रिषिनि तासौं कह्यौ, आउ **हम** नृपति तुमकौं बचावैं[१२]। **हम** तिहुँ लोक माहिं फिरि आए[१३]। बसन बिना असनान करति **हम**[१४]।

ख. **बलात्मक प्रयोग**—'**हम**' के साथ, उसको बलात्मक रूप देने के लिए '**हीं**', '**हुँ**' और '**हूँ**' का प्रयोग सूरदास ने सर्वत्र किया है; जैसे—

११. सा. १-२८४। १२. सा. २-१६। १३. सा. ९-८। १४. सा. ७७२।

अ. **हमहीं**—**हमहीं** कहति बजावहु मोहन[१५]। **हमहीं** कुलटा नारि[१६]। यह पुनीत, **हमहीं** अपराधिनि[१७]। चरित्र **हमहीं** देखैंगी, जैसैं नाच नचावहुगे[१८]।

आ. **हमहुँ**—सुनि जु लीजै कछू **हमहुँ** जानैं[१९]। **हमहुँ** स्याम कौं धावैं[२०]। कैं हरि सँग **हमहुँ** बिहारैं[२१]।

इ. **हमहूँ**—**हमहूँ** कहचौ[२२]। **हमहूँ** सुख पावैं[२३]।

२. **कर्मकारक**—सूर-काव्य में बहुवचन सर्वनाम 'हम' के जो कर्मकारकीय रूप प्राप्त होते हैं, उनमें मुख्य नीचे दिये जाते हैं।

अ. **हम**—कौन काज **हम** महरि हँकारी[२४]। हरि **हम** तब काहे **कौं** राखी[२५]। इहि कुबिजा **हम** जारी[२६]। उर तैं निकसि नंदनंदन **हम** सीतल क्यों न करी[२७]।

आ. **हमैं**—यह 'हम' का विभक्तिरहित विकृत रूप है जिसका प्रयोग सूरदास ने कर्मकारक में बराबर किया है; जैसे—सूर बिसारहु **हमैं** न स्याम[२८]। काहे तैं तुम **हमैं** निवारचौ[२९]। **हमैं** कहौं केतौ किन कोई[३०]। मुरली निदरि हमैं अधरनि रस पीवति[३१]।

इ. **हमकौं**—'हम' के विभक्तियुक्त कर्मकारकीय रूपों में प्रमुख है 'हमकौं'। इसके प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलते हैं; जैसे—उन **हमकौं** कैसैं बिसरायौ[३२]। तिन भय मान्यौ **हमकौं** देखि[३३]। बैद्य जानि **हमकौं** बहरावत[३४]। तुम **हमकौं** कहँ कहँ न उबारचौ[३५]।

ई. **हमहिं**—कर्मकारक में प्रयुक्त दूसरा विभक्तियुक्त रूप है '**हमहिं**' जिसका प्रयोग भी '**हमकौं**' के समान, सर्वत्र मिलता है; जैसे-**हमहिं** स्याम तुम जनि बिसरावहु[३६]। **हमहिं** पठाइ दिए नँदनन्दन[३७]। प्रभु, तुम जहाँ तहँ **हमहिं** लेत बचाइ[३८]।

कर्मकारक के बलात्मक रूप 'हमहूँ' का प्रयोग भी गिने-चुने पदों में दिखायी देता है; जैसे—**हमहूँ** किन लै जाहि सूर प्रभु[३९]।

३. **करणकारक**—सूरदास के करणकारकीय बहुवचन प्रयोगों में विभक्तियुक्त रूपों की ही प्रधानता दिखायी देती है। **कौं, तैं, पैं, पै, सन** और **सौं**—इन छह विभक्तियों के अतिरिक्त विभक्ति-प्रत्यय '**हिं**' के योग से भी करणकारकीय रूप सूरदास ने बनाये हैं।

अ. **हमकौं**— वस्तुतः यह कर्मकारकीय रूप है, जिसका सूरदास ने कुछ पदों में

---

१५. सा. १३१४। १६. सा. १८४४। १७. सा. २०५९। १८. सा. २५२४।
१९. सा. १७२९। २०. सा. २२५५। २१. सा. २९१०। २२. सा. १५३५।
२३. सा. १५४६। २४. सा. ८९०। २५. सा. ३२०९। २६. सा. २६४०।
२७. सा. ३७९०। २८. सा. १-२८१। २९. सा. ६-४। ३०. सा. ९-२।
३१. सा. ६५६। ३२. सा. ४-५। ३३. सा. ६-४। ३४. सा. ९-३।
३५. सा. ५०२। ३६. सा. ४५०। ३७. सा. ४५४। ३८. सा. ५०४।
३९. सा. ३८४९।

करणकारक में भी प्रयोग किया है; जैसे—पर्वत पर बरसहु तुम जाई। यहै कही **हमकौं** सुरराई[४०]। ऐसे हरि **हमकौं** कहौ, कहुँ देखे हो री[४१]।

आ. **हमतै**—इस करणकारकीय रूप का प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है; जैसे—चूक परी **हमतैं** यह भोरैं[४२]। कहहु कहा **हमतैं** बिगरी[४३]। ऐसी कथा कपट की मधुकर, **हमतैं** सुनी न जाही[४४]।

इ. **हमपैं**—सूर-काव्य में करणकारक का यह रूप भी आदि से अंत तक पाया जाता है; जैसे—**हमपैं** घोष गयौ नहिं जाई[४५]। ऐसी दान माँगियै नहिं जौ **हमपैं** दियौ न जाई[४६]। सूधैं गोरस माँगि कछू लै **हमपैं** खाहु[४७]। सह्यौ परत **हमपै** नहीं[४८]।

ई. **हमपै**—'**हमतैं**' और '**हमपैं**' के समान '**हमपै**' का प्रयोग भी सूरदास ने इस कारक में बहुत किया है; जैसे कैसैं सह्यौ जात **हमपै** यह जोग जु पठै दयौ[४९]। कैसैं सही परति अब **हमपै** मन मानिक की हानि[५०]। ऐसौ जोग न **हमपै** होइ[५१]। दान जु माँगैं **हमपै**[५२]।

उ. **हम सन**—करणकारकीय उक्त सभी विभक्तियों में सबसे कम प्रयोग सूर ने '**सन**' का ही किया है। अपवादस्वरूप इसके उदाहरण दो-एक पदों में ही मिलते हैं; जैसे--सूर सु हरि अब मिलहु कृपा करि, बरबस समर करत हट **हम सन**[५३]।

ऊ. **हमसौं**—इसका भी करणकारक में सूरदास ने सर्वत्र प्रयोग किया हैं; जैसे—माँगि लेउ **हमसौं** बर सार[५४]। (ब्रह्मा) माँगि लेइ **हमसौं** बर सोइ[५५]। ठग के लच्छन **हमसौं** सुनियै[५६]

बहुवचन मूलरूप '**हम**' के बलात्मक रूप '**हमहूँ**' के साथ भी कहीं-कहीं कवि ने '**सौं**' विभक्ति का प्रयोग किया है; जैसे—बरबस ही इन गही चपलता, करत फिरत **हमहूँ सौं** चोरी[५७]। हुतौ कछू **हमहूँ सौं** नातौ निपट कहा बिसराई[५८]।

ए. **हमहीं**—सूरदास द्वारा प्रयुक्त करणकारकीय रूपों में '**हमहिं**' भी प्रमुख रूप है; जैसे—ब्रज के लोगनि धोइ बहावहु इंद्र **हमहिं** कह्यौ आदर[५९]। तब मानैं सब **हमहिं** बतावहु[६०]। **हमहिं** कहौ तुम करति कहा यह[६१]। **हमहिं** कह्यौ कहौ स्याम दिखावहु[६२]।

४. **संप्रदानकारक**—इस कारक में मूल और विकृत रूप के विभक्तिरहित, विभक्ति-सहित और बलात्मक, तीन प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

क. **विभक्ति-रहित प्रयोग**—इस प्रकार के प्रयोगों में मूल सर्वनाम रूप '**हम**' और विकृत रूप '**हमैं**' के निम्नलिखित उदाहरण आते हैं—

---

४०. सा. ९३५। ४१. सा. ११९८। ४२. सा. ३४४।
४३. सा. ३७७७। ४४. सा. ३९२४। ४५. सा. १०२२। ४६. सा. १४६२।
४७. सा. १६१८। ४८. सा. २८८२। ४९. सा. ३६२८। ५०. सा. ३६७८।
५१. सा. ३७९४। ५२. सा. ३७९५। ५३. सा. २११७।। ५४. सा. ४-३।
५५. सा. ७-२। ५६. सा. १४१४। ५७. सा. २३०६। ५८. सा. ४०९९।
५९. सा. ८७९। ६०. सा. १५८४। ६१. सा. १६४४। ६२. सा. १७६६।

अ. **हम**—इसका संप्रदानकारक में अपवादस्वरूप प्रयोग दो-एक पदों में दिखायी देता है; जैसे—नैन करैं सुख **हम** दुख पावैं[६३]। प्रगट दरस **हम** दीजैं[६४]।

आ. **हमैं**—इस विकृत रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है; जैसे—सबनि कह्यौ, देहु **हमैं** सिखाइ[६५]। **हमैं** खिलाई फाग[६६]। स्यामसुन्दर कौं **हमैं** सँदेसौ लायौ[६७]।

ख. **विभक्ति-सहित प्रयोग**—**'कहँ,' 'को'** और **'कौं'**—मुख्यत: इन्हीं विभक्तियों के संयोग से सूरदास ने संप्रदानकारकीय रूप बनाये हैं और कहीं-कहीं विभक्ति-प्रत्यय **'हिं'** युक्त रूपों का भी प्रयोग किया है।

अ. **हम कहँ**--**'कौं'** की अपेक्षा **कहँ** विभक्तियुक्त संप्रदानकारकीय प्रयोग सूर-काव्य में कम हैं; जैसे—मुरली **हम कहँ** सौंति भई[६८]। अपने बस्य किये नँदनंदन बैरिनि **हम कहँ** आई[६९]।

आ. **हमको**—'सूरसागर' के दो-एक पदों में **'को'** विभक्ति भी संप्रदानकारकीय रूप बनाने में काम आयी है; जैसे—सिव-संकर **हमको** फल दीन्हौ[७०]। वास्तव में ऐसे प्रयोगों को अपवाद ही समझना चाहिए, क्योंकि **'को'** का प्रयोग तो सभा के संस्करण में कदाचित् किसी भी कारकीय विभक्ति के रूप में नहीं किया गया है।

इ. **हमकौं**—सूरकाव्य में संप्रदानकारक की मुख्य विभक्ति **'कौं'** ही है। कवि ने इसका प्रयोग सर्वत्र किया है; जैसे—अपने सुत कौं राज दिवायौ, **हमकौं** देस निकारी[७१]। **हमकौं** दान देहु, पति छाँड़हु[७२]। माँगहिं यहै, देहु पति **हमकौं**[७३]। **हमकौं** कछु दैहौ[७४]।

ई. **हमहिं**—**'हमकौं'** के समान ही **'हमहिं'** का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—तुम बिन राज **हमहिं** किहिं काम[७५]। चोली हार तुमहिं कौं दीन्हौं, चीर **हमहिं** द्यौ डारी[७६]। मुरली **हमहिं** उपाधि भई[७७]। राधा सौं करि बीनती, दीजै **हमहिं** मँगाइ[७८]।

उ. **हमहीं**— यह **'हमहिं'** का दीर्घ स्वरांत रूप है जिसका प्रयोग भी सूरकाव्य में कहीं-कहीं दिखायी देता है; जैसे— लोचन बहु न दिये **हमहीं**[७९]। सृंगी मुद्रा भस्म अधारी, **हमहीं** कहा सिखावत[८०]। तुम अज्ञान कतहिं उपदेसत ज्ञान रूप **हमहीं**[८१]।

ग. **बलात्मक प्रयोग**—संप्रदानकारकीय बलात्मक प्रयोग सूर-काव्य में दो-चार ही मिलते हैं जिनमें कुछ विभक्तिरहित हैं और कुछ विभक्तिसहित; जैसे—

अ. **हमहूँ**—धनि धनि सूर आज **हमहूँ** जो तुम सब देखे पाए[८२]।

---

६३. सा. २२५६। ६४. सा. ३९१२। ६५. सा. ७-२। ६६. सा. ३१५५
६७. सा ३४९७। ६८. सा. १२४०। ६९. सा. १२७०। ७०. सा. ७९८।
७१. सा. ९-४४। ७२. सा. ५७५। ७३. सा. ७६४। ७४. सा. १७६६।
७५. सा. १-२८१। ७६. सा. ७८८। ७७. सा. १२७२। ७८. सा. २९१५।
७९. सा. १८४८। ८०. सा. १८१२ ८१. सा. ३९००। ८२. सा. ४०९२।

आ. **हमहूँ कौं**—**हमहूँ कौं** अपराध लगावहिं, येऊ भई दिवानी[८३]।

५ **अपादान कारक**—इस कारक में प्रयुक्त एकवचन के समान बहुवचन में भी रूपों की संख्या बहुत कम है। **हमतैं, हर्मांहि, हमहूँ तैं**—इन तीन अपादानकारकीय रूपों के ही प्रयोग 'सूर-काव्य' में मिलते हैं।

अ. **हमतैं**—यह इस कारक का मुख्य प्रयोग है। इसके उदाहरण सूर-काव्य में सर्वत्र मिलते हैं; जैसे—दीन आजु **हमतैं** कोउ नाहीं[८४]। **हमतैं** तप मुरली न करे री[८५]। **हमतैं** बहुत तपस्या नाहीं[८६]। सूर सुनिधि **हमतैं** है बिछुरत[८७]।

आ. **हर्मांहि** – इस रूप के प्रयोग केवल दो-एक पदों में मिलते हैं; जैसे – की पुनि **हर्मांहि** दुराव करौगी[८८]।

इ. **हमहूँ तैं**—बलातमक '**हमहूँ**' के साथ 'तैं' विभक्ति का प्रयोग भी दो-एक पदों में ही सूर-काव्य में मिलता है; जैसे—बातैं कहा बनावति मोसौं **हमहूँ तैं** तू चतुर भई[८९]।

६. **संबंधकारक**—बहुवचन के संबंधकारकीय रूपों में से **हम, हमरी, हमरे, हमरौ, हमार, हमारी, हमारे** और **हमारौ**—इन आठ रूपों का सूरदास ने अधिकतर प्रयोग किया है।

अ. **हम**—जाइ **हम** दुःख सारौ[९०]। उत्तर दिसि **हम** नगर अजोध्या[९१]। बड़े भाग हैं श्रीगोकुल के, **हम** मुख कहे न जाहीं[९२]।

आ. **हमरी**—**हमरी** जय[९३]। **हमरी** पति[९४]। मर्यादा पतिया **हमरी**[९५]। **हमरी** बिथा[९६]। **हमरी** सुरति[९७]।

इ. **हमरे**—**हमरे** गुनहिं[९८]। **हमरे** प्रीतम[९९]। **हमरे** प्रेम-नेम[१]। **हमरे** मन[२]। **हमरे** मिलन[३]।

ई. **हमरौ**—इस सर्वनाम रूप और उसके संबंधी शब्द के बीच में कहीं-कहीं कुछ अन्य शब्द भी आ गये हैं; जैसे—**हमरौ** चीतौ[४]। **हमरौ** कछू दोष[५]। नाउँ सुनि **हमरौ**[६]। प्रतिपाल कियौ तुम **हमरौ**[७]। फगुआ **हमरौ**[८]। मन करष्यौ **हमरौ**[९]।

उ. **हमार**—उक्त रूपों की अपेक्षा '**हमार**' का प्रयोग सूरदास ने कम किया है;

---

८३. स. २२६१। ८४. स. १०२९। ८५. सा. १३४७। ८६. सा. १३४९। ८७. सा. २९८४। ८८. सा. १७७०। ८९. सा. २०१२। ९०. सा. ४-११। ९१. मा. ९-४४। ९२. सा. २९१६। ९३. सा. ७-७। ९४. सा. ७९९। ९५. सा. ४०६४। ९६. सा. ३६७७। ९७. सा. ३३८२। ९८. सा. ३५४३। ९९. सा. ३७४३। १. सा. ३७२९। २. सा. ३७०९। ३. सा. ३२५४। ४. सा. १०-३७। ५. सा. ३६३५। ६. सा. १२८७। ७. सा. ३११२। ८. सा. २९१५। ९. सा. १८१७।

फिर भी अनेक पदों में यह मिलता है; जैसे—मन **हमार**[१०] । सिख-साखि **हमार**[११] । हृदय **हमार**[१२] ।

ऊ. **हमारी**—'हमरी' के समान कहीं यह संबंधी शब्द के पहले आया है, कहीं बाद में और कहीं-कहीं दोनों के बीच में अन्य शब्द भी मिलते हैं; जैसे—**हमारी** आस[१३] । इंद्री खड्ग **हमारी**[१४] । जननि **हमारी**[१५] । **हमारी** जन्मभूमि[१६] । ब्यथा **हमारी**[१७] । **हमारी** साध[१८] ।

ए. **हमारे**—**हमारे** अंबर[१९] । अपराध **हमारे**[२०] । कुल, इष्ट **हमारे**[२१] । **हमारे** देहु मनोहर चीर[२२] । दीनानाथ **हमारे** ठाकुर[२३] । प्रान **हमारे**[२४] । मनहरन **हमारे**[२५] ।

ऐ. **हमारौ**—इस रूप का प्रयोग अधिकतर संबंधी शब्द के बाद किया गया है और कहीं-कहीं दोनों के बीच में भी एक-दो शब्द आ गये हैं; जैसे—अकाज **हमारौ**[२६] । अपराध **हमारौ**[२७] । जिय एक **हमारौ**[२८] । जीवन-प्रान **हमारौ**[२९] । नाउँ **हमारौ**[३०] । भूषन देखि न सकत **हमारौ**[३१] ।

७. **अधिकरण कारक**—इस कारक में विभक्तिरहित विकृत रूप और विभक्ति-सहित मूल रूप के प्रयोग सूरदास ने अधिकांश में किये हैं ।

क. **विभक्ति-रहित विकृत रूप**—**हमरे, हमरैं** और **हमारैं** इन तीन रूपों के विभक्तिरहित प्रयोग ही 'सूरसागर' में अधिकतर मिलते हैं; जैसे—

अ. **हमरे**—**हमरे** प्रथमहिं नैन को[३२] । नंदनंदन बिनु **हमरे** को जगदीस[३३] ।

आ. **हमरैं**—संबंधकारकीय रूप **'हमरै'** के साथ अनुस्वार का संयोग करके यह रूप बनाया गया है । इसका प्रयोग सूरदास ने दो-एक पदों में किया है; जैसे—तुम लायक **हमरैं** कछू नाहीं[३४] । **हमरैं** कौन जोग ब्रत साधै[३५] ।

इ. **हमारैं**—**'हमरैं'** के समान ही **'हमारैं'** का भी रूप-निर्माण हुआ है; परंतु उसकी अपेक्षा इसका प्रयोग 'सूरसागर' में अधिक मिलता है; जैसे—हरि सौं पुत्र **हमारैं** होइ[३६] । **हमारैं** सूर स्याम कौ ध्यान[३७] । गृह जन की नहिं पीर **हमारैं**[३८] । जो कछू रह्यौ **हमारैं** सो लै हरिहिं दियौ[३९] ।

---

१०. सा. ३२८५ । ११. सा. २-२ । १२. सा. ३८०८ ।
१३. सा. ७३५ । १४. सा. १-१४४ १५. सा. ३४७ ।
१६. सा. ९-१६५ । १७. सा. ३७६५ । १८. सा. २२६८ । १९. सा. ७८८ ।
२०. सा. ९-५२ । २१. सा. ९-१६७ । २२. सा. ७९२ । २३. १-११ ।
२४. सा. ३७६१ । २५. सा. १२९५ । २६. सा. १२४२ ।
२७. सा. १०८८ । २८. सा. १०-२६६ । २९. सा. १६१२ ।
३०. सा. १७५७ । ३१. सा. १५४१ । ३२. सा. ३५५९ । ३३. सा. ३७०२ ।
३४. सा. ९१८ । ३५. सा. ३८९५ । ३६ सा. ३-१३ । ३७. सा. ७८२ ।
३८. सा. १०२८ । ३९. सा. २३०४ ।

ई. **हमैं**—इस सर्वनाम रूप का अधिकरणकारकीय प्रयोग भी दो-चार पदों में दिखायी देता है; जैसे—**हमैं**-तुम्हैं संवाद जु भयौ[४०]।

ख. **विभक्तिसहित प्रयोग**—पर, पै और मैं, इन तीन विभक्तियों के साथ-साथ 'कौं' के योग से भी अधिकरणकारकीय रूप सूरदास ने बनाये हैं—

अ. **हम पर**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने सबसे अधिक किया है; जैसे—गए हरि **हम पर** रिस करि[४१]। **हम पर** कोप करावति[४२]। सदय हृदय **हम पर** करौ[४३]।

आ. **हम पै**—इसके प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलते हैं; जैसे—सूरदास वैसी प्रभुता तजि, **हम पै** कब वै आवैं[४४]।

इ. **हम मैं**—इसका प्रयोग भी दो-एक पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—की मारौ की सरन उबारौ। **हममैं** कहा रह्यौ अब गारौ[४५]।

ई. **हमकौं**—अपवादस्वरूप इस कर्मकारकीय रूप का भी प्रयोग अधिकरणकारक में एक-दो पदों में दिखायी देता है; जैसे—जब जब **हमकौं** बिपदा परी[४६]।

सारांश—उत्तमपुरुष बहुवचन सर्वनाम 'हम' के मूल और विकृत विभक्तिरहित और सहित जिन प्रधान और अप्रधान रूपों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	हम	...
कर्म	हम, हमैं	हमकौं, हमहिं।
करण	....	(हमकौं), हमतैं, हमपैं, हमपै, (हम सन), हमसौं, हमहिं (हमहीं)।
संप्रदान	(हम), हमैं	(हम कहँ), (हमकौ), (हमकौं), हमहिं, हमहीं।
अपादान	...	हमतैं, (हमहिं)।
संबंध	हम	हमरी, हमरे, हमरौ, हमार, हमारी, हमारे, हमारौ।
अधिकरण	(हमरैं), (हमारैं), (हमैं)	हम पर, (हम पै), (हममैं), (हमकौं)।

मध्यमपुरुष सर्वनामों की रूप-रचना—

व्रजभाषा में पुरुषवाचक मध्यमपुरुष 'तू' के जो रूप दोनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

४०. सा. ३-१३। ४१. सा. ५८९। ४२. सा. ६५५। ४३. सा. ११८०। ४४. सा. २४०५। ४५. सा. ९४२। ४६. सा. १-२८१।

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	तू, तूँ, तें, तैं, तुम	तुम
विकृत	तो	तुम

मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनामों के कारकीय प्रयोग –

मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनामों के विभक्ति से रहित और सहित जो विभिन्न कारकीय रूप 'सूरसागर' में मिलते हैं, उनमें से कुछ यहाँ संकलित हैं।

१. **कर्त्ताकारक**--इस कारक में कवि ने अधिकांशतः मूल रूपों--**तू, तूँ, तैं** और **तुम** (एकवचन)—के सामान्य और बलात्मक प्रयोग किये हैं। **'तें'** के उदाहरण प्राचीन प्रतियों में भले ही मिलें, सभा के 'सूरसागर' में इसको स्थान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि इस कारक में प्रयुक्त प्रायः सभी रूप विभक्ति-रहित हैं।

क. **सामान्य प्रयोग--तुम** (एकवचन), **तूँ, तू** और **तैं**—इस कारक में इन्हीं चार रूपों का सूर ने विशेष प्रयोग किया है।

अ. **तुम** इस बहुवचन रूप का एक व्यक्ति के लिए प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र किया गया है; जैसे **तुम** (कृष्ण) कब मोसौं पतित उधारचौ[४७]। **तुम** (गोपाल) अंतर दै बिच रहै लुकाने[४८]। यह **तुम** (ब्रह्मा) मोसौं करौ बखान[४९]। **तुम** (राजा) कहौ[५०]।

आ. **तूँ**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने इने-गिने पदों में ही किया है; जैसे—कत **तूँ** सुआ होत सेमर कौं[५१]।

इ. तू—**'तूँ'** की अपेक्षा **'तू'** का प्रयोग सूरदास ने बहुत अधिक किया है। जैसे--भएँ अपमान उहाँ **तू** मरिहै[५२]। मत्स्य कह्यौ, आँखि अब मीचि **तू**[५३]। जौ **तू** रामहिं दोष लगावै[५४]। तब **तू** गयौ सून भवन[५५]।

ई. 'तैं'—**'तू'** के समान **'तैं'** का प्रयोग भी कवि ने बहुत किया है; जैसे—**तैं** सिव की महिमा नहिं लही[५६]। **तैं** यह कर्म कौन है कियौ[५७]। **तैं** जोबन-मद तैं यह कीन्यौ[५८]।

ख. **बलात्मक प्रयोग** –उक्त चारो मूल रूपों में से **'तूँ'** के अतिरिक्त शेष तीनों के बलात्मक प्रयोग सूरदास ने किये हैं और इस संबंध में उनकी विशेषता यह है कि कुछ रूपों के तो एक से अधिक बलात्मक रूपों का उन्होंने निर्माण किया है।

अ. **तुमहिं**– प्रान बिनु हम सब भए ते **तुमहिं** (कृष्ण ने ही) दियौ जिवाइ[५९]। कौन लीजै, कौन तजियै, सखि, **तुमहिं** कहौ जानि[६०]। हमकौं लै तहँ तुमहिं (स्याम ने ही) छपायौ[६१]।

---

४७. सा. १-१३२। ४८. सा. १-२१७। ४९. सा. २-३५।
५०. सा. ५-४। ५१. सा. १-५९। ५२. सा. ४-५। ५३. सा. ८-१६।
५४. सा. ९-७७। ५५. सा. ९-९७। ५६. सा. ४-५। ५७. सा. ९-३।
५८. सा. ९-१७४। ५९. सा. ५०४। ६०. सा. १४५९। ६१. सा. १६१६।

आ. **तुमहीं—तुमहीं** (नरहरि) करत त्रिगुन बिस्तार[६२] । **तुमहीं** कहौ[६३] । तौ **तुमहीं** (श्रीकृष्ण) देखौ[६४] ।

इ. **तुमहुँ**—मृतक सुरनि कौं **तुमहुँ** (सुरगुरु) जिवावौ[६५] । **तुमहुँ** (सजनी) कहौ यह बानी[६६] ।

ई. **तुमहु**—जाहु **तुमहु** बलराम[६७] । त्यौं मेरौ मन **तुमहु** (प्रिय) हरौ[६८] ।

उ. **तुमहूँ—तुमहूँ** (गुरु) यह बिद्या पढ़ि आवौ[६९] । नवल स्याम, नवला **तुमहूँ** हौ[७०] ।

ऊ. **तुहिं** - इस रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही एक-दो पदों में दिखायी देता है; जैसे – ज्ञान **तुहिं** कर्म **तुहिं** बिस्वकर्मा तुहीं[७१] ।

ऋ. **तुहीं—'तुहिं'** की अपेक्षा इस रूप का प्रयोग 'सूरसागर' में बहुत अधिक मिलता है; जैसे—**तुहीं** न लेत जगाय[७२] । **तुहीं** किधौं ठग मूरी खाई[७३] । स्याम कौं इक **तुहीं** जान्यौ[७४] । **तुहीं** पिय भावति[७५] ।

ए. **तुहूँ—'तुहीं'** के समान ही इस बलात्मक रूप का भी प्रयोग सूरदास ने खूब किया है; जैसे **तुहूँ** उठति काहैं नहीं[७६] । मौसौं कहत, **तुहूँ** नहि आवै[७७] । बिहरत हरि जहाँ, तहाँ **तुहूँ** आव री [७८]।

ऐ. **तूही**—इस रूप का प्रयोग 'सूरसागर' में कहीं-कहीं दिखायी देता है; जैसे - सर्प रूप **तूही** (नृप) होहि[७९] । सठ, हठ करि **तूही** पछितैहै[८०] ।

ओ. **तैंहीं**—रीति यह नई **तैंहीं** चलाई[८१] । **तैंही** स्याम भले पहिचाने[८२] । **तैंहीं** उनकौं मूड़ चढ़ायौ[८३] ।

औ. **तैंहूँ**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत कम किया है; जैसे—**तैंहूँ** जो हरि हित तप करिहै[८४] ।

२. **कर्मकारक**—इस कारक में प्रयुक्त मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनाम-रूप मुख्यतः दो प्रकार के हैं—विभक्तिरहित और विभक्तिसहित । दूसरे प्रकार के प्रयोगों में **'हिं'** और **'कौं'**, दो विभक्तियों का आश्रय कवि ने अधिक लिया है ।

क. **विभक्तिरहित रूप**—इस प्रकार के रूपों में **'तुम'** (एकवचन), **तू** और **तुम्हैं** (एकवचन) प्रधान हैं ।

अ. **तुम** - इस रूप का प्रयोग गिने-चुने पदों में ही दिखायी देता है; जैसे - बूझौ जाइ जिनहि **तुम** (मधुकर) पठए[८५] । **तुम** देखे अरु ओऊ[८६] ।

---

६२. सा७-२ । ६३. ९-१७२ । ६४. सा. १०-२०७ ।
६५. सा. ९-१७३ । ६६. सा. १७३२ । ६७. सा. ३७९ ।
६८. सा. ११४७ । ६९. सा. ९-१७३ । ७०. सा. १८५९ । ७१. सा. ४१९८ ।
७२. सा. ५८९ । ७३. सा. १४११ । ७४. सा. १८४३ । ७५. सा. २५७८ ।
७६. सा. १९६६ । ७७. सा. २२५२ । ७८. सा. २८८७ । ७९. सा. ६-७ ।
८०. सा. ८०४ । ८१. सा. १७३० । ८२. सा. १८४४ । ८३. सा. २०८८ ।
८४. सा. ४-९ । ८५. सा. ३९५० । ८६. सा. ३९७५ ।

आ. **तू**—कर्मकारक में इस रूप का प्रयोग भी कुछ ही पदों में किया गया है; जैसे—मोपै **तू** राख्यौ नहिं जाइ[८७]। **तू** जसुमति कब जायौ[८८]।

इ. **तुम्हैं**—उक्त दोनों रूपों से अधिक प्रयोग सूरदास ने 'तुम्हैं' के किये हैं; जैसे—**तुम्हैं** बिरद बिन करिहौं[८९]। **तुम्हैं** सकै जो मार[९०]। चलौ तुम्हैं बताऊँ[९१]। अहो कान्ह, **तुम्हैं** चहौं[९२]।

ख. **विभक्तिसहित रूप**—'कौं' और 'हिं' विभक्तियों के संयोग से बने पाँच रूपों—**तुमकौं** (एकवचन), **तुमहिं** (एकवचन), **तुहिं**, **तोकौं** और **तोहिं**— का प्रयोग सूरदास ने विशेष रूप से किया है।

अ. **तुमकौं**—आउ हम नृपति, **तुमकौं** बचावैं[९३]। संकर **तुमकौं** (गंगा कौ) धरैं[९४]।

आ. **तुमहिं**—सुंदरी आई बोलत **तुमहिं** (कृष्ण को) सबै ब्रजबाल[९५]। जैसे करि मैं **तुमहिं** रिझाई[९६]। ऊधौ, जाहु **तुमहिं** हम जाने[९७]।

इ. **तुहिं**—इसको 'तोहिं' का संक्षिप्त अथवा लघुमात्रिक रूप समझना चाहिए जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही दो-एक पदों में मिलता है; जैसे—जो **तुहिं** भजै, तहाँ मैं जाऊँ[९८]।

ई. **तोकौं**—मध्यमपुरुष एकवचन सर्वनाम का यह प्रमुख कर्मकारकीय रूप है जिसका प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया हैं; जैसे—पिता जानि **तोकौं** नहिं मारौं[९९]। राजा **तोकौं** लैहै गोद[१]। बिना प्रयास मारिहौं **तोकौं**[२]।

उ. **तोहिं**—यह भी इस कारक का एक प्रचलित रुप है जिसका प्रयोग 'सूरसागर' के कई पदों में मिलता है; जैसे—सप्तम दिन **तोहिं** तच्छक खाइ[३]। जो तोहिं पियै सो नरकहिं जाइ[४]।

ग. **सामान्य प्रयोग** **'तोहूँ'**—इस बलात्मक रूप के साथ भी **'कौं'** विभक्ति का प्रयोग मिलता है, यद्यपि ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही हैं; जैसे—**तोहूँ कौं** सखि स्याम चहैं[५]।

३. **करणकारक** इस कारक में प्रयुक्त विभक्तिरहित रूप तो अपवादस्वरूप हैं, विभक्तियुक्त रूपों की ही अधिकता है।

क. **विभक्तिरहित प्रयोग—तुम्हैं** और **तोह**—ये दो रूप ही करणकारक में

---

८७. सा. ९-५। ८८. सा. १०-२१५। ८९. सा. १-१३४।
९०. सा. ७-३। ९१. सा. ९-४२। ९२. सा. ११०७।
९३. सा. ८-१६। ९४. सा. ९-९। ९५. सा. १०-२०६। ९६. सा. ११४७।
९७. सा. ३५२१। ९८. सा. ४१९८। ९९. सा. ४-५।
१. सा. ४-९ २. सा. ९-७९। ३. सा. १-२९०।
४. सा. ९-१७३। ५. सा. १९०६।

विभक्तिरहित मिलते हैं और इनके प्रयोग भी इतने कम मिलते हैं कि इन्हें अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए; जैसे—

आ. **तुम्हैं** —तातैं कही **तुम्हैं** हम आइ[६]। प्रभु कहा मुख लै **तुम्हैं** बिनै करिऐ[७]।

आ. **तोह** – यह रूप दो-एक पदों में तुकांत के लिए प्रयुक्त हुआ है; जैसे—अरे, मधुप, बातैं ये ऐसी, क्यों कहि आवति **तोह**[८]

ख. **विभक्तियुक्त प्रयोग**—एकवचन विकृत रूप 'तो' और एकवचन रूप में प्रयुक्त बहुवचन रूप **'तुम'** के साथ **कौं, तैं, पै, सन** और **सौं** आदि विभक्तियों और विभक्ति-प्रत्यय **'हिं'** या इसके दीर्घांत रूप **'हीं'** के संयोग से निर्मित अनेक करणकारकीय रूप 'सूरसागर' में मिलते हैं।

अ. **तोकौं** – इस कर्मकारकीय रूप का प्रयोग करणकारक में अपवादस्वरूप ही मिलता है; जैसे – बारंबार कहति मैं **तोकौं**, तेरैं हियैं न आई[९]।

आ. **तोतैं**—यह करणकारक का प्रमुख रूप है जिसका प्रयोग कई पदों में दिखायी देता है; जैसे -- **तोतैं** कछु ह्वै है मैं जानत[१०]। कहत न डरती **तोतैं**[११]।

इ. **तोपै**—इस रूप का प्रयोग सूरसागर के इने-गिने पदों में ही दिखायी देता है; जैसे तब **तोपै** कछुवै न सिरैहै[१२]।

ई. **तोसौं**—इस करणकारकीय रूप का प्रयोग 'सूरकाव्य' में सबसे अधिक मिलता है; जैसे—सतगुरु कह्यौ, कहौ **तोसौं** हौं[१३]। **तोसौं** समुझाइ कही नृप[१४]। कहत यहि बिधि भली **तोसौं**[१५]। बारंबार कहति मैं **तोसौं**[१६]।

उ. **तोहिं**—इसका प्रयोग सर्वत्र मिलता है; जैसे – मैं **तोहिं** सत्य कहौं[१७]। ज्ञान हम **तोहिं** कहि सुनावैं[१८]। कहा कहौं **तोहिं** मात[१९]। नैंकु नहिं घर रहति **तोहिं** कितनौ कहति[२०]।

ऊ. **तुमतैं**— सकल सृष्टि यह **तुमतैं** (ब्रह्मा तैं) होइ[२१]। कंस कह्यौ, **तुमतैं** (श्रीधर बाँम्हन तैं) यह होइ[२२]। सूरस्याम पति **तुमतैं** (सविता तैं) पायौ[२३]। अजहुँ मन अपनौ हम पावैं, **तुमतैं** (ऊधौं तैं) होइ तौ होइ[२४]।

ऋ. **तुमपै** तिन **तुमपै** गोबिंद गुसाईं, सबनि अभै पद पायौ[२५]। **तुमपै** (कृष्ण पै) कौन दुहावै गैया[२६]। **तुमपै** होइ सु करौ कृपानिधि[२७]।

ए. **तुम सन** – इसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही दो-एक पदों में मिलता है; जैसे—जो कुछ भयौ सौ कहिहौं **तुम सन** (प्यारी सन), होउ सखिन तैं न्यारी[२८]।

---

६. सा. ७-२। ७. सा. १-११०। ८. सा. ३५३९। ९. सा. १८९९। १०. सा. १३९६। ११. सा. ३३२१। १२. सा. ३३५३। १३. सा. १-५९। १४. सा. १-२६९। १५. सा. १-३१४। १६. सा. २-२१। १७. सा. १-२४४। १८. सा ८-१६। १९. सा. ३७५। २०. सा. ६९८। २१. सा. २-३५। २२. सा. १०-५७। २३. सा. ७९८। २४. सा. ३७१९। २५. सा. १-१९३। २६. सा. ७३४। २७. सा. ४११६। २८. सा. २५८३।

ऐ. **तुम सौं**—एकवचन में इस बहुवचन रूप के करणकारकीय प्रयोग कुछ पदों में मिलते हैं; जैसे—हमसौं **तुमसौं** बाल मिताई[२९]। हम **तुमसौं** कहति रहीं[३०]।

ओ. **तुमहिं**—साँच कहौं मैं **तुमहिं** श्रीदामा[३१]। सुफलक-सुत यह **तुमहिं** बूझियत[३२]।

ग. **बलात्मक प्रयोग** - इस प्रकार के प्रयोगों की संख्या अधिक नहीं हैं। केवल **तोही, तुमही तैं, तुमहीं**-जैसे दो-तीन रूप ही इस कारक में कहीं-कहीं मिलते हैं।

अ. **तोही** – कहा करौं, बूझौं **तोही** री[३३]। भई बिदेह बूझति **तोही** री[३४]।

आ. **तुमहीं**—पालागौं **तुमहीं** (ऊधौ से) बूझति हौं[३५]।

इ. **तुमहीं तैं**—हम बालक तुमकौं कह सिखवैं, हम **तुमहीं तैं** जात[३६]।

ई. **तुमही पै**—जोग ज्ञान की बातैं ऊधौ, **तुमही पै** बनि आई[३७]।

घ. **संप्रदानकारक**—इस कारक में विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त, दो प्रकार के रूप मिलते हैं जिनमें प्रथम की संख्या बहुत कम है। विभक्तिसहित रूपों के समान्य प्रयोगों के साथ बलात्मक रूप भी मिलते हैं।

क. **विभक्तिरहित प्रयोग**—इस वर्ग के अंतर्गत केवल **एक** रूप 'तुम्हैं' आ सकता है जिसका प्रयोग कवि ने अनेक पदों में किया है; जैसे—तातैं देउँ तुम्हैं (धर्मराज को) मैं साप[३८]। हँसि कहयौ, **तुम्हैं** (सिव को) दिखराइहौं रूप वह[३९]। चौदह वर्ष **तुम्हैं** (राम को) वर दीन्हौं[४०]। देउँ **तुम्हैं** (प्रद्युम्न को) मैं बताई[४१]।

ख. **विभक्तिसहित प्रयोग**—'**तुम**' एकवचन और '**तो**' के साथ '**कौं**' और '**हिं**' या '**हीं**' के संयोग से सूरदास ने जो संप्रदानकारकीय रूप बनाये हैं उनमें चार—**तुमकौं, तुमहिं, तोकौं** और **तोहिं**—प्रमुख हैं।

अ. **तुमकौं**—लंक बिभीषन, **तुमकौं** दैहौं[४२]। **तुमकौं** (कृष्ण को) माखन दूध दधि-मिश्री हौं ल्याई[४३]। जोग पाती दई **तुमकौं** (ऊँधौ को)[४४]।

आ. **तुमहिं**—जोतिष गनिकै चाहत **तुमहिं** (नंदहिं) सुनायौ[४५]। यह पूजा किन **तुमहिं** सिखायौ[४६]। देउँ सुख **तुमहिं** (स्यामहिं) संग रँगरलिहौं[४७]।

इ. **तोकौं**—भग सहस्र मैं **तोकौं** दई[४८]। एक रात **तोकौं** सुख दैहौं[४९]। चौदह सहस तिया मैं **तोकौं** पटा बँधाऊँ आज[५०]।

ई. **तोहिं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने '**तोकौं**' से कुछ अधिक किया है;

---

२९. सा. १-२८९। ३०. सा. १७७०। ३१. सा. ५३८। ३२. सा. २९७८।
३३. सा. १९१७। ३४. सा. १९१८। ३५. सा. ४००३। ३६. सा. २९७९।
३७. सा. ३७०४। ३८. सा. ३-५। ३९. सा. ८-१०। ४०. सा. ९-३२।
४१. सा. ४१८९। ४२. सा. ९-१५७। ४३. सा. १०-२०९। ४४. सा. ३९३२।
४५. सा. १०-८६। ४६. सा. ८९७। ४७. सा. २६०४। ४८. सा. ६-८।
४९. सा. ९-२। ५०. सा. ९-७९।

जैसे—नर कौ नाम पारगामी हो, सो **तोहिं** स्याम दयौ[५१]। मैं बर देऊँ **तोहिं** सो लेहि[५२]। कपिल कह्यौं, **तोहिं** भक्ति सुनाऊँ[५३]। सुक कह्यौ, दैहौं विद्या **तोहिं** पढ़ाई[५४]।

ग. **बलात्मक प्रयोग**—संप्रदानकारक में सूरदास ने दो-एक बलात्मक प्रयोग कुछ पदों में किये हैं; जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

अ. **तुमहिं कौं**—चोलीहार **तुमहिं कौं** (कृष्ण ही को) दीन्हौं[५५]।

आ. **तुमहीं**—सब कोऊ **तुमहीं** (ऊधौ को ही) दूषन दैहै[५६]। ऊधौ, निरगुनहिं कहत **तुमहीं** सो लेहु[५७]।

५. **अपादान कारक**—इस कारक में अधिकांश प्रयोग विभक्तियुक्त मिलते हैं जिनको सामान्य और बलात्मक, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

क. **विभक्तियुक्त सामान्य प्रयोग**— '**तैं**' और '**सौं**' के साथ साथ '**हिं**' के योग से भी अपादानकारकीय रूप कवि ने बनाये हैं जिनमें मुख्य नीचे दिये हैं। इनमें से प्रथम और अंतिम रूपों का प्रयोग बहुत हुआ है।

अ. **तुमतैं**—**तुमतैं** को अति जान है[५८]। **तुमतैं** घटि हम नाहीं[५९]। **तुमतैं** (राधा तैं) न्यारे रहत न कहुँ वै[६०]। तुम अति चतुर, चतुर वै **तुमतैं** (राधा तैं)[६१]।

आ. **तुमसौं**—जा दिन तैं हम **तुमसौं** (जसुदा सौं) बिछुरे[६२]।

इ. **तोतैं**—**तोतैं** प्रियतम और कौन है[६३]। **तोतैं** चतुर और नहिं कोऊ[६४]। काहैं कौं इतराति सखी री, **तोतैं** प्यारी कौन[६५]।

ख. **विभक्तियुक्त बलात्मक प्रयोग**—इस प्रकार के रूप कवि ने प्रायः '**तैं**' विभक्ति के योग से अधिक बनाये हैं; जैसे—

अ. **तुमहिं तैं**—इने-गिने पदों में ही यह रूप 'सूरसागर' में मिलता है; जैसे—और काहि बिधि करौं, **तुमहिं तैं** (विधि तैं) कौन सयानौं[६६]।

आ. **तुमहूँ तैं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है; जैसे—स्याम, **तुमहूँ तैं** ब्रज हितू न कोऊ[६७]। **तुमहूँ तैं** ऐसी को प्यारी[६८]।

६. **संबंधकारक**—उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम की तरह ही इस कारक में प्रयुक्त मध्यम पुरुष सर्वनाम रूपों की संख्या भी बहुत अधिक है। विषय की स्पष्टता के लिए इनके मुख्य पाँच वर्ग बनाये जा सकते हैं—क. विभक्तिरहित सामान्य रूप। ख. एकवचन संबंधकारकीय रूप। ग. संबंधकारकीय सामान्य बहुवचन रूप। घ. संबंध-

५१. सा. १-७८। ५२. सा. १-२२९। ५३. सा. ३-१३।
५४. सा. ९-१७३। ५५. सा. ७८८। ५६. सा. ३८२५।
५७. सा. ३८९९। ५८. सा. ११८०। ५९. सा. १५३९। ६०. सा. २०६६।
६१. सा. २२१२। ६२. सा. ३४७३। ६३. सा. १७०४। ६४. सा. १८९७।
६५. सा. २०६८। ६६. सा. ४९२। ६७. सा. १०२१। ६८. सा. २५५९।

कारकीय विशिष्ट बहुवचन रूप । ङ. बलात्मक प्रयोग । लिंग की दृष्टि से इस वर्गी-करण के और भी उप-भेद किये जा सकते हैं; परंतु दोनों लिंगों के रूप इतने स्पष्ट होते हैं कि तत्संबंधी दृष्टि से विस्तार करना अनावश्यक प्रतीत होता है । उक्त पाँचों वर्गों के प्राप्त मुख्य रूप इस प्रकार हैं--

क. **विभक्तिरहित सामान्य रूप**--सूरदास द्वारा प्रयुक्त इस वर्ग के प्रमुख रूप हैं --**तव, तुम, तुव** और **तैं**। इनमें '**तुम**' बहुवचन रूप है और शेष एकवचन हैं। इनका प्रयोग दोनों लिंगों में किया गया है।

अ. **तव**--यह रूप प्रायः सर्वत्र संबंधी शब्द के पूर्व ही प्रयुक्त हुआ है; जैसे--**तव** कीरति[६९] । **तव** दरसन[७०] । **तव** बिरह[७१] । **तव** राज[७२] । **तव** सिर[७३] ।

आ. **तुम** - इस बहुवचन रूप का प्रयोग एकवचन में ही कवि ने किया है। इस बात की स्पष्टता के लिए पूरे वाक्यों को उद्धृत करना आवश्यक है; जैसे-प्रभु, सब तजि **तुम** सरनागत आयौ[७४] । **तुम** प्रताप बल बदत न काहूँ[७५] । यह मैं जानति **तुम** (कृष्ण) बानि[७६] ।

इ. **तुव** यह रूप भी प्रायः सर्वत्र संबंधी शब्द के पहले ही आया है; जैसे--**तुव** चरननि[७७] । **तुव** दास[७८] । **तुव** पितु[७९] । **तुव** माया[८०] । **तुव** सुत[८१] । **तुव** हाथै[८२] ।

ई. **तैं**--इस रूप का संबंधकारकीय प्रयोग अपवादस्वरूप दो-एक पदों में मिलता है; जैसे--धनि बछरा धनि बाल जिनहिं **तैं** दरसन पायो[८३] ।

ख. **एकवचन संबंधकारकीय रूप**--इस वर्ग के अंतर्गत **तेरी, तेरे, तेरौ, तोरे** और **तेरौ** आदि रूप मुख्य हैं। इनमें प्रथम स्त्रीलिंग रूप है । शेष का प्रयोग दोनों लिंगों में होता है।

अ. **तेरी**--इस स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग संबंधी शब्द के पहले किया गया है और बाद में भी; एवं कहीं-कहीं दोनों के बीच में एक-दो शब्द भी आ गये हैं; जैसे-- जरा **तेरी**[८४] । दासी है **तेरी**[८५] । **तेरी** प्रीति[८६] । **तेरी** बेनि[८७] । सरन **तेरी**[८८] । **तेरी** सृष्टि[८९] ।

आ. **तेरे**--साधारणतः इस रूप का प्रयोग बहुवचन संबंधी के शब्द साथ होता है परन्तु यदि एकवचन संबंधी शब्द के आगे कोई विभक्ति लगानी होती है तो '**तेरे**' का प्रयोग एकवचन रूप में भी होता है । सूर-काव्य में दोनों प्रयोग मिलते हैं। यहाँ इसके एकवचन प्रयोग ही दिये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि संबंधी

६९. सा. १-९३ । ७०. सा. १-२७७ । ७१. सा. ९-...
७२. सा. १-२८४ । ७३. सा. ७-५ । ७४. सा. १-१७...
७५. सा. १- १७० । ७६. सा. ४९४ । ७७. सा. ९-११...
७८. सा. १-२१६ । ७९. सा. ९-१७४ । ८०. सा. १-२२६ । ८१. सा. ७-...
८२. सा. १-११२ । ८३. सा. ४९२ । ८४. ९-१७४ । ८५. सा. ९-७...
८६. सा. १८४२ । ८७. सा. १०-१७४ । ८८ सा. १-११० । ८९. सा. ७-...

शब्द के पहले और पीछे, दोनों प्रकार से सूरदास ने इसका प्रयोग किया है; जैसे—तेरे तन तरुवर के[१०]। पति तेरे[११]।

इ. **तेरौ**—इस रूप का प्रयोग संबंधी शब्द के पहले हुआ है और बाद में भी; जैसे—सकल मनोरथ तेरौ[१२]। तेरौ लाल[१३]। स्याम तन तेरौ[१४]। तेरौ सुत[१५]।

ई. **तोर**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने प्रायः संबंधी शब्द के बाद ही किया है और कहीं-कहीं दोनों के बीच में भी दो-एक शब्द आ गये हैं; जैसे—आनन तोर[१६]। ज्ञान है तोर[१७]। दुहाई तोर[१८]। लै-लै नाम बुलावत तोर[१९]। बंक बिलोकनि, मधुरी मुसुकनि भावति प्रिय तोर[१]। नहिं मुख देखौं तोर[२]।

उ. **तोरौ**—इस रूप का प्रयोग बहुत कम किया गया है; दो-एक पदों में संबंधी शब्द के बाद यह दिखायी देता है; जैसे—नाम भयौ प्रभु, तोरौ[३]।

ग. **संबंधकारकीय सामान्य बहुवचन रूप**—इस वर्ग के अंतर्गत उन रूपों—तुमरे, तुमरौ, तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरौ, तुम्हार, तुम्हारि, तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारौ आदि—की चर्चा करनी है जो सामान्य बहुवचन 'तुम' के रूपांतर होने पर भी सूरदास द्वारा एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं।

अ. **तुमरे**—इस रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही कुछ पदों में मिलता है; जैसे—तुमरे कुल कौ[४]।

आ. **तुमरौ**—'तुमरे' के समान ही यह रूप भी दो-एक पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—तुमरौ सुत[५]।

इ. **तुम्हरी**—स्त्रीलिंग सबंधी शब्द के अधिकतर पहले, पर कहीं-कहीं बाद में भी प्रयुक्त यह रूप 'सूरसागर' के अनेक पदों में मिलता है; जैसे—तुम्हरी आज्ञा[६]। तुम्हरी कृपा[७]। तुम्हरी गति[८]। बिरुदावलि तुम्हरी[९]। तुम्हरी माया[१०]।

ई. **तुम्हरे**—इस बहुवचन रूप का प्रयोग एकवचन संबंधी शब्द के साथ तब किया गया है जब उसके आगे कोई विभक्ति हो या लुप्त हो, अथवा विभक्ति के समान किसी अव्यय का ही प्रयोग किया गया हो; जैसे—तुम्हरे भजन बिनु[११]। ज्योतिषी तुम्हरे घर कौ[१२]। प्रभु, तुम्हरे दरस कौं[१३]। स्याम, तुम्हरे मुख सौं[१४]।

उ. **तुम्हरौ**—इस रूप का प्रयोग संबंधी शब्द के पहले और बाद में तो किया

---

१०. सा. १-८६। ११. सा. १-२४०। १२. सा. ४-९। १३. सा. १०-८। १४. सा. ३७५७। १५. सा. १०-७७। १६. सा. ३६४। १७. सा. ३५९। १८. सा. ३९८। १९. सा. २७६६। १. सा. २७६७। २. सा. ९-८३। ३. सा. १-१३२। ४. सा. ९-७७। ५. सा १०-५१। ६. सा. ४-५। ७. सा. ३-१३। ८. सा. ३-३। ९. सा. १-२१५। १०. सा. १-४४। ११. सा. १-४१। १२. सा. १०-८६। १३. सा. १०-१५५। १४. सा. १२१७।

ही गया है, कहीं-कही दोनों के बीच में दो-एक शब्द भी आ गये हैं; जैसे—**तुम्हरौ** नाम[१५] । नाम **तुम्हरौ**[१६] । **तुम्हरौ** लघु भैया[१७] । **तुम्हरौ** संताप[१८] ।

ऊ. **तुम्हार**—इस रूप का प्रयोग कवि ने कम किया है, परन्तु आया है यह संबंधी शब्द के अधिकतर बाद ही; जैसे—कंत **तुम्हार**[१९] । दोष **तुम्हार**[२०] ।

ऋ. **तुम्हारि**—इस स्त्रीलिंग इकारांत रूप का प्रयोग अपवादस्वरूप ही कुछ पदों में दिखायी देता है; जैसे—ऐसी समुझ **तुम्हारि**[२१] ।

ए. **तुम्हारी**—संबंधी शब्द के आगे-पीछे तो इस शब्द का प्रयोग कवि ने किया ही है, कहीं-कहीं दोनों के बीच में अन्य शब्द भी रख दिये है; जैसे—**तुम्हारी** आसा[२२] । दौरि **तुम्हारी**[२३] । बात **तुम्हारी**[२४] । भक्ति अनन्य **तुम्हारी**[२५] । सक्ति **तुम्हारी**[२६] ।

ऐ. **तुम्हारे**—एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त इस सर्वनाम-रूप के साथ संबंधी शब्द प्रायः बहुवचन ही प्रयुक्त हुआ है; जैसे—सत पुत्र **तुम्हारे** (धृतराष्ट[२७] के) । पितर **तुम्हारे**[२८] (अंसुमान के) । ये गुन जसुमति, आहिं **तुम्हारे**[२९] । वे हैं काल **तुम्हारे**[३०] (नृप कंस के) । चरित **तुम्हारे**[३१] ।

ओ. **तुम्हारौ**—यह रूप कहीं तो संबंधी शब्द के पहले प्रयुक्त हुआ है और कहीं बाद में, परंतु यहाँ उद्धृत सभी उदाहरणों में है यह एक ही व्यक्ति के लिए; जैसे—हरि, बहुत भरोसौं जानि **तुम्हारौ**[३२] । राज **तुम्हारौ**[३३] (परीक्षित कौ) । **तुम्हारौ** (शिव कौ) मरम[३४] । राजा, बचन **तुम्हारौ**[३५] । (लघु बंधू) सूल **तुम्हारौ**[३६] ।

घ. **संबंधकारकीय विशिष्ट रूप**—इस वर्ग के अंतर्गत एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त **तिहारी**, **तिहारे**, और **तिहारौ** रूप आते हैं ।

अ. **तिहारी**—इस स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग संबंधी शब्द के पहले और बाद, दोनों प्रकार से सूरदास ने कियां है; जैसे—छाँड़ि **तिहारी** सेव[३७] । सरन **तिहारी**[३८] । बात **तिहारी**[३९] । सपथ **तिहारी**[४०] । **तिहारी** रुखाई[४१] । दो-एक पदों में तो '**तिहारी**' के बाद कवि ने संबंधी शब्द का लोप भी कर दिया है; जैसे—समुझि न परत **तिहारी** ऊधो[४२] ।

आ. **तिहारे**—इस रूप का प्रयोग किया तो एक ही व्यक्ति के लिए गया है, परंतु संबंधी शब्द कहीं बहुवचन में हैं, कहीं आदरसूचक एकवचन में; जैसे—कहा गुन

---

१५. सा. १-२०४ । १६. सा. १-१२८ । १७. सा. ३६९ । १८. सा. १-२१०
१९. सा. ९-८९ । २०. सा. ३८०८ । २१. सा. ३९०९ । २२. सा. १-११२
२३. सा. ८-१३ । २४. सा. १-१५१ । २५. सा. ७-२ । २६. सा. ३-१३
२७. सा. १-२८४ । २८. सा. ९-९ । २९. सा. ३९११ । ३०. सा. ५२२
३१. सा. १५९५ । ३२. सा. १-१४६ । ३३. सा. १-२९० । ३४. सा. ४-५
२५ सा. ९-२ । ३६. सा. ९-३६ । ३७. सा. १-४९ । ३८. सा. १-२२१
३९. सा. १०-२७९ । ४०. सा. १९७० । ४१. सा. २८०९ । ४२. सा. ३५३

वरनौं स्याम, तिहारे[४३]। ये बीर (=भाई) तिहारे[४४] (दुर्योधन के)। नागरी, सूर स्याम हैं चोर तिहारे[४५]। मधुकर, परखे अंग तिहारे[४६]।

इ. **तिहारौ**—इस सर्वनाम का प्रयोग भी कहीं तो संबंधी शब्द के पहले किया गया है, कहीं बाद में और कहीं दोनों के बीच में कुछ अन्य शब्द भी आये हैं; जैसे—हरि, अजामिल तौ बिप्र **तिहारौ**, हुतौ पुरातन दास[४७]। प्रभु, बिरद आपुनौ और **तिहारौ**[४८]। नृप, जोहत हैं वे पंथ **तिहारौ**[४९]। धन्य जसोदा, भाग **तिहारौ**[५०]। स्याम, नाम गारुड़ी प्रगट **तिहारौ**[५१]।

ङ **बलात्मक प्रयोग**—इस वर्ग के अंतर्गत मुख्य छह रूप मिलते हैं—**तुम्हारेइ, तुम्हारेंहि, तुम्हारोइ, तुम्हारौई, तेरोइ' तेरौई**। इनका प्रयोग बहुत कम पदों में किया गया है।

अ. **तुम्हारेइ**—राधे, तुम्हारेइ गुन ग्रंथित करि माला, रसना कर सौं टारैं[५२]।

आ. **तुम्हारेंहि**—सीता, तुम्हारेंहि तेज-प्रताप रही बचि तुम्हरी यहै अटारी[५३]।

इ. **तुम्हारोइ**—स्याम, चारि जाम निसि तुम्हारोइ सुमिरन और न बात कही[५४]।

ई. **तुम्हारौई**—मनसा बाचा मैं ध्यान तुम्हारौई धरौं[५५]।

उ. **तेरोइ**—नागरी, **तेरोइ** भाग[५६]।

ऊ. **तेरोई**—उक्त रूपों की अपेक्षा इस रूप का प्रयोग कुछ अधिक किया गया है; जैसे—राधा, कुंजभवन बैठे मननोहन, बोलत मुख **तेरोई** गुन-ग्राम[५७]। नागरि, **तेरोई** भाग, सुहाग **तेरोई**[५८]। बृषभानुकिसोरी, **तेरोई** गुन मैं निसि दिन गाऊँ[५९]।

७. **अधिकरण कारक**—इस कारक में प्राप्त रूप चार वर्गों में रखे जा सकते है—क. विभक्तिरहित विकृत रूप। ख. विभक्तियुक्त एकवचन रूप। ग. विभक्तियुक्त बहुवचन रूप। घ. बलात्मक प्रयोग।

क. **विभक्तिरहित रूप—तिहारैं, तुम्हरैं, तुम्हारैं** और **तेरैं**—ये चार प्रमुख रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें अधिकरणकारकीय कोई विभक्ति नहीं है, परंतु सामान्य या संबंधकारकीय रूपों में 'एँ' या 'ऐं' के संयोग से अधिकरणकारकीय रूप कवि ने बना लिये हैं; जैसे—

अ. **तिहारैं**—इस रूप का प्रयोग सूरदास ने बहुत कम किया है; जैसे—आजु बसैंगे रैनि **तिहारैं**[६०]। राधे, कह जिय निठुर **तिहारैं**[६१]।

आ. **तुम्हरैं**—इस रूप का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मिलता है; जैसे—स्याम

४३. सा. १-२५। ४४. सा. १-२३८। ४५. सा. १९३९। ४६. सा. ३७६१।
४७. सा. १-१३२। ४८. सा. १-१७९। ४९. सा. ४-१२। ५०. सा. १०-८७।
५१. सा. ७६२। ५२. सा. २५८७। ५३. सा. ९-१००। ५४. सा. ४१४२।
५५. सा. १९४४। ५६, सा. २८०१। ५७. सा. २४५१। ५८. सा. २८०१।
५९. सा. २८२८। ६० सा. २४७८। ६१. सा. २५८७।

तुम्हरैं आजु कमी काहे की[६२]। सखी, सुनहु 'सूर' तुम्हरैं छिन छिन मति[६३]। हम तुम्हरैं नितहीं प्रति आवति सुनहु राधिका गोरी[६४]।

इ. **तुम्हारैं**—इसका प्रयोग कवि ने बहुत कम किया है; जैसे—रैनि तुम्हारैं आऊँगौ[६५]।

ई. **तेरैं**— इस रूप का प्रयोग सूरदास ने उक्त तीनों से अधिक किया है; जैसे— **तेरैं** प्रीति न मोहिं आपदा[६६]। क्यों करि **तेरैं** भोजन करौं[६७]। कौन जानै कौन पुन्य प्रगटे हैं **तेरैं** आनि[६८]। प्रेम सहित हरि **तेरैं** आए[६९]।

ख. **विभक्तियुक्त एकवचन रूप**—**पर, पै** और **मैं**—इन तीन विभक्तियों के संयोग से प्रमुख चार रूप- **तुव ऊपर, तो पर, तो पै** और **तो मैं** सूरदास ने बनाये हैं जिनके प्रयोग बहुत कम पदों में मिलते हैं।

अ. **तुव ऊपर** **तुव ऊपर** प्रसन्न मैं भयौं[७०]।

आ. **तो पर**—**तो पर** वारी हौं नंदलाल[७१]। राधे, **तो पर** कृपा भई मोहन की[७२]।

ई. **तो पै**—(मानिनि) हौं आई पठई है **तो पै** तेरे प्रीतम नंदकिसोर[७३]।

ई. **तो मैं**—जमुना, **तो मैं** कृष्न हेलुवा खेलै[७४]।

ग. **विभक्तियुक्त बहुवचन रूप**—'**तुम**' के साथ '**पर**', '**पै**' और '**मैं**' विभक्तियों के अतिरिक्त '**पै**' के योग से इस वर्ग के चार रूप कवि ने बनाये हैं। इनमें से '**तुम पर**' और '**तुम पै**' का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है; शेष दोनों रूप कम प्रयुक्त हुए हैं।

अ. **तुम पर**—हम नाहिन रिस **तुम** (इंद्र) **पर** आनी[७५]। मोहन, जोहन, मंत्र-जंत्र, टोना सब **तुम** (स्याम) **पर** बारत[७६]।

आ. **तुम पै**—हम **तुम पै** आए[७७]। **तुम पै** प्यारी बसत जियौ[७८]।

इ. **तुम पै**—मैं आयौ **तुम पै** रिषिराइ[७९]। प्यारी, भेषज अधर सुधा है **तुम पै**[८०]। यह **तुम पै** सब पुँजी अकेली[८१]।

ई. **तुम मैं**—साच्छात् सो **तुम** (धृतराष्ट्र) **मैं** देखी[८२]। प्यारी मैं तुम, **तुम मैं** प्यारी[८३]।

घ. **बलात्मक रूप**—इस वर्ग के रूपों की संख्या अधिक नहीं है। केवल 'तुमहीं

---

६२. सा. ३८९। ६३. सा. १९६१। ६४. सा. २२१०। ६५. सा. २४९३।
६६. सा. १-२४३। ६६. सा. ९-५। ६८. सा. ३६२। ६९. सा. १८७७।
७०. सा. ९-३। ७१. सा. ११८१। ७२. सा. २५६८। ७३. सा. २७६६।
७४. सा. ५६१। ७५. सा. ९५०। ७६. सा. १५८६। ७७. सा. १-२३८।
७८. सा. १९४०। ७९. सा. ९-१७३। ८०. सा. २५८३। ८१. सा. ३७२४।
८२. सा. १-२८४। ८३. सा. २८२८।

पै'-जैसे इने-गिने रूपों के प्रयोग दो-एक पदों में मिल जाते हैं; जैसे—पारि सपाट चले तब पाए, है ल्याई तुम (जसोदा) ही पै धरिकै[८४]।

सारांश—मध्यमपुरुष एकवचन मूल और विकृत सर्वनाम-रूपों के विभक्तिरहित जिन प्रधान-अप्रधान रूपों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तिसहित मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	तुम, (तूँ), तू, तैं	...
कर्म	(तुम), (तू), तुम्हैं	तुमकौं, तुमहिं, (तुहिं) तोकौं, तोहिं।
करण	(तुम्हैं), (तोह)	(तोकौं), तोतैं, (तोपै), तोसौं, तोहिं, तुमतैं तुम पै, (तुम सन), तुमसौं, तुमहिं।
संप्रदान	(तुम्हैं)	तुमकौं, तुमहिं, तोकौं, तोहिं।
अपादान	...	तुम तैं, (तुमसौं), (तुमहिं), तोतैं, (तोहिं)।
संबंध	तव, तुम, तुव, तैं	तेरी, तेरे, तेरौ, तोर, (तोरौ), (तुमरे), (तुमरौ), तुम्हरी, तुम्हरे, तुम्हरौ, (तुम्हार) (तुम्हारि), तुम्हारी, तुम्हारे, तुम्हारौ, तिहारी, तिहारे, तिहारौ।
अधिकरण	(तिहारैं), तुम्हरैं, (तुम्हारैं) (तुम्हैं), तेरैं	(तो पर), तोपै, (तोमैं), तुम पर, (तुम पैं), तुम, पै (तुम मैं)।

मध्यमपुरुष बहुवचन के कारकीय प्रयोग—

मध्यमपुरुष मूल सर्वनाम 'तुम' का विकृत रूप भी यही है। विभिन्न कारकों में सूरदास ने इसके निम्नलिखित रूपों के प्रयोग किये हैं—

१. कर्त्ताकारक—विभक्तिरहित और बलात्मक, दो प्रकार के प्रयोग कर्त्ताकारक में मिलते हैं।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग का एक ही रूप है 'तुम' जिसका प्रयोग सर्वत्र किया गया है; जैसे भली सिच्छा तुम दीनी[८५]। तुम घर जाहु[८६]।

ख. बलात्मक प्रयोग—तुमहिं, तुमहीं, तुमहुँ, तुमहु, तुमहूँ—ये पाँच रूप इस वर्ग के मिलते हैं जिनके प्रयोग कम ही पदों में प्राप्त हैं।

अ. तुमहिं—तुमहिं सुनीं मुरली की बातैं[८७]।

आ. तुमहीं— ऐसौ पूत जन्मौ जग तुमहीं[८८]।

इ. तुमहुँ—इस रूप का प्रयोग उक्त रूपों से अधिक मिलता है; जैसे—सूरस्याम इहिं भाँति रिझै किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु[८९]। तुमहुँ करौ सुख[९०]।

८४. सा. १०-३१८। ८५. सा. ३-११। ८६. सा. १५७५। ८७. सा. १३४४। ८८. सा. ४३०। ८९. सा. १३३०। ९०. सा. १३३४।

ई. तुमहु—यह रूप अपवादस्वरूप ही कहीं-कहीं मिलता है; जैसे— चोंच फारि बका सँहारौ, तुमहु करहु सहाइ[११]।

उ. तुमहूँ—इस रूप का प्रयोग इस वर्ग के कदाचित् सभी रूपों से अधिक किया गया है; जैसे—रिझै लेहु तुमहूँ किन स्यामहिं[१२]। तुमहूँ हँसौ आपनैं संग मिलि[१३]। जाहु सदन तुमहूँ सब अपनैं[१४]।

कर्मकारक—इस कारक में भी बहुवचन रूपों की संख्या अधिक नहीं है। केवल 'तुम्हैं' का प्रयोग सूरदास ने कहीं-कहीं किया है; जैसे—इन बरज्यौ आवत तुम्हैं असुर बुधि इन यह कीन्हीं[१५]। तब हरि दूतनि तुम्हैं निवारचौ[१६]।

३. करणकारक—तुमकौं, तुमसौं, तुम्हैं आदि सामान्य और तुमहिं तैं—जैसे एकाध बलात्मक प्रयोग इस कारक के मिलते हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग बहुत थोड़े ही पदों में किया गया है।

अ. तुमकौं तातैं तुमकौं आनि सुनायौ[१७]। सुनहु सखी, मैं बूझति तुमकौं, काहूँ हरि कौं देखे हैं[१८]। यहाँ दूसरे वाक्य में 'सखी' शब्द तो एकवचन है, परंतु आगे प्रयुक्त 'काहूँ' का संकेत है कि 'सखी' से आशय 'सखियों' से है।

आ. तुमसौं—मैं तुमसौं यह कहौं पुकार[१९]। तमसौं टहल करावति निसि दिन[१]। तुमसौं नहिं कैहौं[२]।

इ. तुम्हैं—अपनौं भेद तुम्हैं नहिं कैहै[३]।

ई. तुमहिं तैं—जो सुख स्याम तुमहिं तैं पावत, सो त्रिभुवन कहुँ नाहीं[४]।

४. संप्रदान कारक—तुमहि और तुम्हैं, मुख्यतः ये दो रूप ही इस कारक में मिलते हैं। दोनों के प्रयोग इने-गिने पदों में ही दिखायी देते हैं।

अ. तुमहिं—रिषि कह्यौ, मैं करिहौं जहँ जाग। देहौं तुमहिं अवसि करि भाग[५]।

आ. तुम्हैं—असुर कौं सुरा, तुम्हैं अमृत प्याऊँ[६]।

५. अपादान कारक—तुमतैं और तुमसौं, ये दो रूप इस कारक के मिलते हैं जिनका प्रयोग कहीं-कहीं ही किया गया है; जैसे—

अ. तुमतैं—तुमतैं को अति जान है[७]।

आ. तुमसौं—हँसत भए अंतर हम तुमसौं सहज खेल उपजाइ[८]।

६. संबंधकारक—अन्य कारकों के समान ही संबंधकारकीय बहुवचन रूप भी

---

११. सा. ४२७। १२. सा. १३३६। १३. सा. १५७३।
१४. सा. २५६३। १५. सा. ३-११। १६. सा. ६-४। १७. सा. ६-४।
१८. सा. १८३४। १९. सा. ६-४। १. सा. ५१३। २. सा. २६५३।
३. सा. १७२४। ४. सा. ३४४८। ५. सा. ९-३।
६. सा. ८-८। ७. सा. ११८०। ८. सा. ११२८।

बहुत थोड़े है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं और उनका भी प्रयोग थोड़े ही पदों में मिलता है।

अ, तिहारी—जौ कुछ इच्छा होइ तिहारी[९] (बनितनि की)।

आ. तुम—मैं लैहौं तुम गृह अवतार[१०]।

इ, तुम्हरे—सूर, प्रभु क्यौं निदरि आई, नहीं तुम्हरे नाहु[११]।

ई, तुम्हरौ—तुम्हरौ तहाँ नहीं अधिकार[१२]। करौं पूरन काम तुम्हरौ सरद रास रमाइ[१३]।

उ तुम्हारौ—करिहौं पूरन काम तुम्हारौ[१४]। तुम घरनी मैं कंत तुम्हारौ[१५]।

७. अधिकरणकारक—इस कारक के अंतर्गत मध्यमपुरुष सर्वनाम के प्रमुख दो रूप मिलते हैं जिनके प्रयोग कुछ ही पदों में किये गये हैं।

अ. तुम पर—आवहु तुम पर (दोऊ भाई) तन मन वारौं[१६]।

आ. तुम पै—सबै यहै कहैं, भली मति तुम पै है[१७]। तुम पै ब्रजनाथ पठायौ[१८]।

सारांश—सूरदास द्वारा विभिन्न कारकों में प्रयुक्त प्रमुख मध्यम पुरुष बहुवचन सर्वनाम रूपों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहितमूल और विकृत रूप	विभक्तियुक्त मूल और विकृत रूप
	तुम	......
कर्म	(तुम्हैं)	(तुमकौं), (तुमहिं)।
करण	(तुम्हैं)	(तुमकौं), तुमसौं, (तुमहिं)।
संप्रदान	(तुम्हैं)	(तुमकौं), (तुमहिं)।
अपादान	...	(तुमतैं), (तुमसौं)।
संबंध	(तुम)	(तिहारी), (तुम्हरे), (तुम्हरौ), तुम्हारौ।
अधिकरण	...	(तुम पर), तुम पै।

पुरुषवाचक अन्यपुरुष और निश्चयवाचक दूरवर्ती की रूप-रचना

इन दोनों सर्वनाम रूपों की समानता के कारण इनकी चर्चा साथ-साथ करना आवश्यक है। ब्रजभाषा में इन सर्वनामों के निम्नलिखित रूप होते हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	वह, सो, सु वे	वे, वै, ते, से
विकृत	वा, ता, उन	उन, उनि, विन, तिन।
अन्य	वाहि, तानि	तिन्हैं

९. सा. २९१६। १०. सा. ३-१३। ११. सा. १०१२। १२. सा. ६-४। १३. सा. ७९६। १४. सा. ७८७। १५. सा. ७९७। १६. सा. ५४७। १७. सा. ३०६९। १८. सा. ४०९३।

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

पुरुषवाचक अन्यपुरुष सर्वनाम के एकवचन मूलरूप में साधारणतः 'वह', विकृत में 'वा' का प्रयोग होता है। सूरदास ने इन रूपों को तो अपनाया ही, साथ-साथ नित्यसंबंधी मूलरूप 'सो' और 'सु' तथा विकृत रूप 'ता' का प्रयोग भी अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम के समान अनेक पदों में किया है। इसी प्रकार अन्यपुरुष के बहुवचन मूल और विकृत रूपों 'वे' और 'उन' आदि के भी एकवचन में प्रयोग उन्होंने निस्संकोच किये हैं। इन सब मूल और विकृत रूपों के प्रयोगों की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जायगी।

१. कर्ताकारक—इस कारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त रूपों की संख्या तीस के लगभग है। स्थूल रूप से इन रूपों को सात वर्गों में विभाजित किया जा सकता—क. विभक्तिरहित एकवचन रूप। ख. विभक्तिरहित बहुवचन मूल रूप। ग. विभक्तिरहित बहुवचन विकृत रूप। घ. विभक्तिरहित अन्य प्रयोग। ङ. विभक्तियुक्त रूप। च. बलात्मक एकवचन रूप। छ. बलात्मक बहुवचन रूप।

क. **विभक्तिरहित एकवचन रूप—'वह', 'सो' और 'सु'**—ये तीन रूप इस वर्ग में प्रमुख हैं, प्रथम तो इसी कारक का मूल रूप है और शेष दोनों नित्यसंबंधी सर्वनाम-भेद के रूप हैं। इनका प्रयोग दोनों लिंगों में हुआ है। इनमें से प्रथम दोनों रूप सूर-काव्य में सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं।

अ. **वह**—भ्रमत हीं **वह** दौरि ढूँढ़ै[१९]। तब **वह** गर्भ छाँड़ि जग आया[२०]। तब **वह** हरि सौं रोइ पुकारी[२१]। करिहै **वह** तेरौ अपमान[२२]।

आ. **सो**—तहाँ **सो** (मच्छ) बढ़ि गयौ[२३]। सहित कुटुंब **सो** (मच्छ) क्रीड़ा करै[२४]। गाइ चरावन कौं **सो** गयौ[२५]।

इ. **सु**—यह सर्वनाम 'सो' का ही लघु रूप है जिसका प्रयोग अपवाद-स्वरूप ही कहीं-कहीं किया गया है; जैसे—ज्यौं मृगा कस्तूरि भूलै, **सु** तौ ताके पास[२६]।

ख. **विभक्तिरहित बहुवचन मूल रूप—'वे' और 'वै'**—इन दो ही बहुवचन रूपों का प्रयोग एकवचन के समान दोनों लिंगों में कवि ने किया है। इनमें से प्रथम का कम और द्वितीय का अधिक प्रयोग किया गया है।

आ. **वे**—वे करता, वेई है हरता[२७]। वे हैं परम कृपालु[२८]।

आ. **वै**—हम **वै** (कृष्ण) बास बसत इक बगरी[२९]। **वै** (कृष्ण) मुरली की टेर सुनावत[३०]। **वै** (स्याम) तुम कारन आए[३१]। **वै** (हरि) तौ निठुर सदा मैं जानति[३२]।

---

१९. सा. १-७०। २०. सा. १-२२६। २१. सा. १-२४६। २२. सा. ४-५। २३. सा. ८-१६। १४. सा. ९-८। २५. सा. ९-१७३। २६. सा. १-७०। २७. सा. ९७४। २८. सा. ९७५। २९. सा. १०-३१९। ३०. सा. ५०६। ३१. सा. १७६६। ३२. सा. १९८५।

ग. **विभक्तिरहित बहुवचन विकृत रूप—'उन', 'उनि', 'तिन' और 'तिनि'**—ये चार रूप इस वर्ग में आ सकते हैं जिनका प्रयोग सूर-काव्य में अनेक पदों में किया गया है।

अ. **उन**—यह अपराध बड़ौ **उन** (नृप) कीनौ[३३]। **उन** (इक नृप) जो कियौ, करौ तुम तथा[३४]। ताकौं **उन** (अजामिल) जब नाम उचारयौ[३५]। ब्रह्मफांस **उन** (मेघनाथ) लई हाथ करि[३६]।

आ. **उनि**—कह्यौ सरमिष्ठा, सुत कहँ पाए। **उनि** कह्यौ, रिषि किरपा तैं जाए[३७]। पठए हमसौं **उनि** (मथुरापति[३८])। सेवा करत करी **उनि** (स्याम) ऐसी[३९]।

इ. **तिन**—**तिन** (सुक कौ अंग) उड़ि अपनौ आपु बचायौ[४०]। नगर द्वार **तिन** (काल-कन्या = जरा) सबै गिराए[४१]। निज भुज बल **तिन** (सहस्रबाहु) सरिता गही[४२]।

ई. **तिनि**—**तिनि** (परीक्षित) पुनि भली भाँति करि गुन्यौ[४३]। **तिनि** (उरबसी) यह बचन नृपति सौं कह्यौ[४४]। सुक्र पास **तिनि** (सुक्र-सुता) जाइ सुनायौ[४५]।

घ. **विभक्तिरहित अन्य रूप—उहिं, तिहिं और तेहिं**, ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से प्रथम दो का प्रयोग कवि ने अनेक पदों में किया है; परंतु तीसरा रूप कहीं-कहीं ही दिखायी देता है; जैसे—

अ. **उहिं**—इसका प्रयोग भी पाँच-सात पदों में ही मिलता है; जैसे—भोरहिं ग्वारि उरहनौ ल्याई, **उहिं** यह कियौ पसारौ[४६]। हरि के चरित सबै **उहिं** (राधा) सीखै[४७]। फेरि न मेरी **उहिं** सुधि लीन्हीं[४८]। मोकौं **उहिं** पहुँचायौ भौन[४९]।

आ. **तिहिं**—तहाँ हुतौ एक सुक कौ अंग। **तिहिं** यह सुन्यौ सकल परसंग[५०]। पायौ पुनि **तिहिं** निर्वान[५१]। कपिल अस्तुति **तेहिं** बहुबिधि कीन्ही[५२]।

इ. **तेहिं**—यह सुनिकै **तेहिं** माथौ नायौ[५३]।

ङ. **विभक्तियुक्त रूप**—कर्त्ताकारक की विभक्ति 'ने' का एक रूप है '**नैं**'। मूल विभक्ति या उसके रूपांतर का किसी सर्वनाम के साथ प्रयोग का कोई उदाहरण ऊपर नहीं दिया गया है। परंतु एक पद में अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम के अन्य रूप वाहि के दीर्घस्वरांत रूपांतर '**वाही**' के साथ '**नैं**' का प्रयोग एक पद में मिलता है जिसे सूरदास का अपवादस्वरूप प्रयोग समझना चाहिए; जैसे—जैहै कहाँ मोतिसर मेरी।

---

३३. सा. १-२९०। ३४. सा. ४-१२। ३५. सा. ६-४। ३६. सा. ९-१७४। ३७. सा. ९-१७४। ३८. सा. ५८९। ३९. सा. ३१८७। ४०. सा. १-२२६। ४१. सा. ४-१२। ४२. सा. ९-१३। ४३. सा. १-२२७। ४४. सा. ९-२। ४५. ९-१७३। ४६. सा. ३९५। ४७. सा. १७४५। ४८. सा. १८४१। ४९. सा. २००५। ५०. सा. १-२०६। ५१. सा. ४-१२। ५२. सा. ९-९। ५३. सा. १०-५६।

अब सुधि भई लई वाही नैं, हँसति चली बृषभानु-किसोरी[५४]।

च. **बलात्मक एकवचन रूप**—ऊपर दिये गये सभी उदाहरण अन्यपुरुष सर्वनाम रूपों के सामान्य प्रयोग के हैं। जिन एकवचन सर्वनामों के बलात्मक प्रयोग भी मिलते हैं, उनमें मुख्य हैं—**ओऊ, ताहूँ, वहई, वहऊ, वहै, वोऊ, सोउ** और **सोऊ**।

अ. **ओऊ**—इस रूप का सामान्य प्रयोग नहीं मिलता; दो-एक पदों में बलात्मक प्रयोग ही दिखायी देता है; जैसे—सुफलक-सुत कारे नखसिख तैं, कारे तुम अरु ओऊ[५५]।

आ. **ताहूँ**—इस रूप का प्रयोग भी कहीं-कहीं ही दिखायी देता है; जैसे—ताहूँ नाद बस्य ज्यौ दीन्हौ, संका नहीं करी री[५६]।

इ. **वहई**—वहई देखि कूबरी भूले[५७]।

ई. **वहऊ**—इसका प्रयोग कुछ अधिक पदों में मिलता है; जैसे—वहऊ उनसौं नातौ मानै[५८]। यह द्वादस वहऊ दस द्वै की[५९]।

उ. **वहै**—इस रूप का प्रयोग भी 'वहऊ' के समान ही किया गया है; जैसे—वहै ल्याइहै सिय-सुधि छिन मैं[६०]। उलटि जाहु नृप चरन सरन, वहै राखिहै भाई[६१]।

ऊ. **वोऊ**—यह रूप उक्त सभी रूपों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है; जैसे—जैसे—तुम तैसे वोऊ हैं[६२]। जैसी तुम तैसे वोऊ सयाने[६३]। अब वोऊ पछितात बात कहि[६४]। मनहिं अकुलात वोऊ[६५]।

ऋ. **सोउ**—यह रूप दो-एक पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—ज्यौं चकोर इकटक निसि चितवत, याकी सरि सोउ नाहिं[६६]।

ए. **सोऊ**—'वोऊ' के समान यह रूप भी 'सूरसागर' के अनेक पदों में मिलता है; जैसे—अरजुन के हरि हुते सारथी सोऊ बन निकरै[६७]। सोऊ तौ घर ही घर डोलतु[६८]। येई गुन ढंग के सोऊ हैं[६९]। इकटक घूँघटहिं चितै रही सोऊ[७०]।

छ. **बलात्मक बहुवचन रूप**—इस वर्ग के अंतर्गत उनहीं, उनहुँ, उनहूँ, तिनहूँ, तेइ, तेई, तेउ, वेई, वेउ, वेऊ आदि मुख्य रूप आते हैं जिनमें से 'वेइ' और 'वेऊ' का प्रयोग अनेक पदों में मिलता है शेष का कुछ में ही।

अ. **उनहीं**—उनहीं (हरि) पोषि जयौ री[७१]। ढीठ कियौ मन कौं उनहीं री[७२]।

आ. **उनहुँ**—तुम जुहार उनकौ जब कीन्हौं, तुमकौं उनहुँ जुहार कियौ[७३]।

---

५४. सा. १९७७। ५५. सा. ३९७९। ५६. सा. २३६१।
५७. सा. ३१५४। ५८. सा. ३-१३। ५९. सा. १९०३।
६०. सा. ९-७४। ६१. सा. ९-७। ६२. सा. १५८०।
६३. सा. १७३९। ६४. सा. २२६३। ६५. सा. २६०५। ६६. सा. २१२१।
६७. सा. १-२६४। ६८. सा. १०-३२५। ६९. सा. १५८०। ७०. सा. २७११।
७१. सा. १८८८। ७२. सा. १८९०। ७३. सा. १८८२।

ई. उनहूँ—कच कौं प्रथम दियौ मैं साप। उनहूँ मोहिं दियौ करि दाप[७४]। अब निज ध्यान हमारौ मोहन, उनहूँ हम न बिसारौ[७५]।

ई. तिनहुँ—तिनहुँ (अजामिल) न स्रवन सुनायौ[७६]।

उ. तिनहूँ—तिनहूँ (चित्रगुप्त) त्राहि करी सुनि औगुन कागद दीन्हे डारि[७७]।

ऊ. तेइ—तेइ (जग-तात) अवतरे आइ गोकुल मैं, मैं जानी यह बात[७८]।

ऋ. तेई—ब्रज अवतार कह्यौ है श्रीमुख, तेई करत बिहार[७९]।

ए. वेई—वे करता, वेई हैं हरता[८०]। यह महिमा वेई (परम कृपाला) जानैं[८१]। वेई हैं बहुनायकी लायक गुन भारे[८२]।

ऐ. वेउ—सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, वेउ रसकिनी बन्यौ समाजु[८३]।

ओ. वेऊ—दरसन नीकैं देत न वेऊ (स्याम[८४])। सूरदास प्रभु नवल रसीले, वेऊ (प्रिया) नवल त्रिये[८५]। धनि पिय बने, बनी वेऊ हैं, एक-एक तैं रूप अनूप[८६]।

२. कर्मकारक—इस कारक के अंतर्गत भी बीस से अधिक रूप मिलते हैं जिनको स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग। ख. विभक्तयुक्त प्रयोग। ग. बलात्मक प्रयोग।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग के अंतर्गत जो प्रयोग आते हैं, उनमें मुख्य हैं—ओहि, उहिं, ताहि, तिहिं, वाहि और सो। इनमें से प्रथम दो रूपों का कम और अंतिम चार का अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ. ओहि—छोरत काहे न ओहि[८७]।

आ. उहिं—अब उहिं चहियै फेरि जिवायौ[८८]। असुरनि उहिं डारचौ मार[८९]।

इ. ताहि—मारचौ ताहि प्रचारि हरि[९०]। ताहि देखि रिषि कैं मन आई[९१]। सुक्र ताहि पढ़ि मंत्र जिवायौ[९२]। हाथ पकरि हरि ताहि गिरायौ[९३]।

ई. तिहिं—लोगनि तिहिं बहु बिधि समुझायौ[९४]। गाड़ि धूरि तिहिं देत[९५]। सुता कह्यौ, तिहिं फेरि जिवावौ[९६]।

उ. वाहि—सोवै तब जब वाहि सुवावै[९७]। वाहि मारि तुम हमहिं उबारचौ[९८]। बिनु जानैं हरि वाहि बढ़ाई[९९]।

---

७४. सा. ९-१७४। ७५. सा. ४०३६। ७६. सा. १-१९३।
७७. सा. १-१९७। ७८. सा. ५५७। ७९. सा. ९७४।
८०. सा. ९७४। ८१. सा. १००५। ८२. सा. २७०९।
८३. सा. २५४०। ८४. सा. १८५०। ८५. सा. २५०६। ८६. सा. २५४० -
८७. सा. ३७५। ८८. सा. ४-५। ८९. स. ९-१७३। ९०. सा. ३-११।
९१ सा. ९-८। ९२. सा. ९-१७३। ९३. सा. १०-५७। ९४. सा. १-२६१।
९५. सा. २-१५। ९६. सा. ९-१७३। ९६. सा. ५-३। ९८. सा. ९५४।
९९. सा. १३१६।

ऊ. सो—बकी कपट करि मारन आई, सो हरि जू बैकुंठ पठाई[१]। सुन्यौ ज्ञान सो सुमिरन रह्यौ[२]। रावन कह्यौ, सो कह्यौ न जाई[३]।

ख. विभक्तियुत रूप—उनकौं, उनहिं, ताकौं, तिनकौं, तिनहिं, तिहिंकौं, तेहिं, वाकौं और विनकौं—मुख्यतः इन नौ विभक्तियुक्त रूपों का सूरदास ने कर्मकारक में प्रयोग किया है। उनमें से उनहिं और ताकौं का अधिक, 'तेहिं' का सामान्य और शेष का बहुत कम प्रयोग किया गया है।

अ. उनकौ—आए कहाँ छाँड़ि तुम उनकौ[४] (नँद-नंद)।

आ. उनहिं—वैसेहिं उनहिं (कृष्ण) पठाए[५]। कैसेहुँ उनहिं (कृष्ण) हाथ करि पाऊँ[६]। उनहिं (कृष्ण) बरौं कै तजौं परान[७]।

इ. ताकौं—जोगी कौन बड़ौ संकर तैं, ताकौं काम छरै[८]। वाकैं बदलैं ताकौं धरौ[९]। ऐसौ कौन मारिहै ताकौं[१०]। और नैंकु छ्वै देखैं स्यामहिं, ताकौं करौं निपात[११]।

ई. तिनकौं—सूरप्रभु आए अचानक, देखि तिनकौं हँसी[१२]।

उ. तिनहिं—पठवत हौं मन तिनहिं (हरि) मनावन निसिदिन रहत अरे री[१३]।

ऊ. तिहिंकौं—सूरदास तिहिंकौं बजबनिता झकझोरति उर अंक भरे[१४]।

ऋ. तेहिं—तुरतहिं तेहिं मार्‌यौ[१५]। बहुरि तेहिं दरसन दै निस्तारा[१६]।

ए. वाकौं—वाकौ मारि अपनपौ राखै[१७]।

ऐ. विनकौं—तैं ऐसैं चितयौं कछु विनकौं[१८] (गिरधारी कौं)।

ग. बलात्मक प्रयोग—'सूरसागर' में जिन रूपों का कर्मकारकीय बलात्मक प्रयोग मिलता है, उनमें मुख्य हैं—ओऊ, उनहूंकौं, ताही कौं, ताहूँ कौं, सोई, सोऊ, और वाहीकौं। इनमें ओऊ, सोई, सोऊ और आऊ विभक्तिरहित हैं और शेष विभक्तियुक्त। इनमें से 'ताही कौं' और 'सोऊ' के प्रयोग कुछ अधिक मिलते हैं, शेष के बहुत कम।

अ. ओऊ—चुप करि रहौ मधुप रस-लंपट तुम देखे अरु ओऊ[१९]।

आ. उनहूँकौं—उनहूँकौ (बलराम को) गहि ल्याई[२०]।

इ. ताही कौ—अब इक नई मिली है आई। ताहीकौं अब लेहिं बुलाई[२१]। जुवतिनि पै ताही कौं पठवैं, जो तुम लायक होइ[२२]।

---

१. स. १-३। २. सा. १-२२६। ३. सा. ९-१०४।
४. सा. ३१३५। ५. सा. १८७७। ६. सा. १८९५। ७. सा. ४१६७।
८. सा १-३५। ९. सा. ४-५। १०. सा. १०-६०। ११. सा. ३७५।
१२ सा. २४११। १३. सा. १८६४। १४. सा. १०-८८। १५. सा. ३१०९।
१६. सा. ४१९९। १७. सा. १०-६०। १८. सा. २८२८। १९. सा. ३९७५।
२०. सा. २९१६। २१. सा. २४२८। २२. सा. ३४३२।

ई. ताहूँ कौं—इंद्र होइ, ताहूँ कौं मारौं[२३]।

उ. सोई—जज्ञ हेत हम करी रसोई। ग्वालनि पहिलैं देहिं न सोई[२४]।

ऊ. सोऊ—अरु सो भक्ति कीजै किहिं भाइ। सोऊ मो कहँ देउ बताइ[२५]। मन मानै सोऊ कहि डारौ[२६]। जौ कहुँ ठौर जोग कौ होतौ, लै धरतीं हम सोऊ[२७]।

ए. वाही कौं—तुम अपनैं सिर मानि लई क्यौं, मैं वाही कौं कोसौं[२८]।

३. करणकारक—इस कारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त रूपों की संख्या लगभग बीस है जिनको चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग। ख. 'तैं' विभक्तियुक्त प्रयोग। ग. सौं विभक्ति युक्त प्रयोग। घ. अन्य विभक्तियुक्त प्रयोग।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—करणकारक में प्रयुक्त ताहि, तिनहिं, तिहिं और वाहि, ये चार रूप इस वर्ग के अंतर्गत रखे जा सकते हैं जिनमें इस कारक की किसी विभक्ति का संयोग नहीं है। इनमें प्रथम और तृतीय रूपों का अधिक, द्वितीय का सामान्य और अंतिम का बहुत कम प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. ताहिं—रिषि कह्यो ताहिं, दान रति देहि[२९]। अहो बिहंग, कहौ अपनौ दुख, पूछत ताहि खरारि[३०]। कचहूँ ताहि कही या भाइ[३१]।

आ. तिनहिं—तिनहिं (सुफलक-सुतहिं) कह्यौ, तुम स्नान करौ ह्यां[३२]।

इ. तिहिं—तब करि क्रोध सती तिहिं (दच्छहिं) कही[३३]। सोवति सो तिहिं बात सुनावै[३४]।

ई. वाहि—जब मोहिं अंगद कुसल पूछिहै कहा कहौंगो वाहि[३५]।

ख. 'त' विभक्तियुत प्रयोग—उनत, तातैं, और ताही तैं—ये तीन रूप इस वर्ग के अंतर्गत मिलते हैं। इनमें प्रथम दो का सामान्य और अंतिम का बहुत कम प्रयोग मिलता है।

अ. उनतैं—इंद्र बड़े कुलदेव हमारे, उनत सब यह होति बड़ाई[३६]।

आ. तातैं प्रथमहिं महतत्व उपायौ। तातैं अहंकार प्रगटायौ[३७]। ब्रह्मा स्वायंभुव मनु जायौ। तातैं जन्म प्रियव्रत पायौ[३८]।

इ. ताही तैं—प्रियब्रत कैं अग्नीध्र सु भयौ। नाभि जन्म ताहीं तैं लयौ[३९]।

ग. 'सौं' विभक्तियुक्त प्रयोग—इस वर्ग के अंतर्गत उनसौं, उनहीं सौं, तासौं, ताहि सौं, ताही सौं, तिन सौं, तिहिं सौं, वासौं और वाही सौं—ये

---

२३. सा. १-२९०। २४. सा. ८००।
२५. सा. ३-१३। २६. सा. ३५१८। २७. सा. ३९२६। २८. सा. १३१५।
२९. सा. १-२२९। ३०. सा. ९-६५। ३१. सा. ९-१७३। ३२. सा. ३०१४।
३३. सा. ४-५। ३४. सा. ४-१२। ३५. सा. ९-७५। ३६. सा. ८१८।
३७. सा. ३-१३। ३८. सा. ५-२। ३९. सा. ५-२।

नौ रूप आते हैं। इनमें तीन रूप—उनहीं सौं, ताही सौं और वाही सौं—बलात्मक हैं, शेष सामान्य। उनसौं, तासौं, तिनसौं और वासौं—इन चार रूपों का प्रयोग सूरदास ने बहुत किया है, शेष का बहुत कम।

अ. उनसौं—च्यवनऋषि आस्रम इहिं आइ। बिनती उनसौं कीजै जाइ[४०]। कछु उनसौं (कान्ह सौं) बोली[४१]। उनसौं (हरि सौं) कहि फिर ह्यां आवैगौ[४२]। जो कोउ उनसौं (गोपाल सौं) सुधि कहै[४३]।

आ. उनहीं सौं—सूर स्याम वाकौ सुर साजत वह उनहीं सौं भ्राजति[४४]।

इ. तासौं—ताकौं तासौं लियौ बचाइ[४५]। बान एक हरि सिव कौं दियौ। तासौं सब असुरनि छय कियौ[४६]। सुक कह्यौ तासौं या भाइ[४७]। तासौं कहि सब भेद सुनायौ[४८]।

ई. ताहि सौं—सर्प इक आइहै बहुरि तुम्हरे निकट, ताहि सौं नाव मम सूंग बाँधौ[४९]। ताहि सौं बचन या बिधि उचारे[५०]।

उ. ताहींसौं—ताही सौं तुम चित्त लगावहु[५१]। सूर प्रगट ताही सौं कहि कहि[५२]।

ऊ. तिन सौं—तिन सौं या बिधि पूछत भए[५३]। तिनसौं (स्याम सौं) कहत सकल ब्रजवासी[५४]। तिनसौं भेद जनावै[५५]। कृपा बचन तिनसौं हरि बर्षे[५६]।

ऋ. तिहिं सौं—तिहिं सौं भरत कछू नहिं कह्यौ[५७]।

ए. वासौं—पै वासौं उत्तर नहिं लह्यौ[५८]। नैंकु नहीं कछु वासौं ह्वैहै[५९]। वासौं प्रीति करै जनि[६०]।

ऐ. वाहीं सौं—तौ मैं जौ वाही सौं कहिकै, उनकी खाल कढ़ाइ[६१]।

घ. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उनपै, ता सेंती, ताही पै और वाकौं—ये चार रूप इस वर्ग में आते है। इनमें से प्रथम का सबसे अधिक और अन्यों का इने-गिने पदों में ही प्रयोग किया गया है।

अ. उनपै—हम उनपै (हरि पै) गाइ चराई[६२]। खोयौ गयौ नेह-नग उनपै (हरि पै)[६३]। तौ कहि इती अवज्ञा उनपै (हरि पै) कैसैं सही परी[६४]।

---

४०. सा. ९-३।
४१. सा. १९५८। ४२. सा. २०९५। ४३. सा. ३९४४। ४४. सा. १३३१।
४५. सा. १-२८९। ४६. सा. ७-७। ४७. सा. ९-१७३। ४८. सा. १०-५८।
४९. सा. ८-१६। ५०. सा. ४१८३। ५१. सा. ५-२। ५२. सा. १३५८।
५३. सा. १-२२६। ५४. सा. ९७१। ५५. सा. २२५६। ५६. सा. २९२१।
५७. सा. ५-४। ५८. सा. १-२९०। ५९. सा. ९१६। ६०. सा. २१५८।
६१. सा. ३०४१। ६२. सा. ३१६२। ६३. सा. ३११४। ६४. सा. ३७५०।

आ. ता सेंती—कहन लगचौ, मम सुत ससि गोद। ता सेंती ससि करत बिनोद[६५]। तप कीन्हैं सो देहैं आग। ता सेंती तुम कीनौ जाग[६६]।

इ. ताही पै—यह चतुराई पढ़ी ताही पै, सो गुन हमतैं न्यारौ[६७]।

ई. वाकौं—सूर जाइ बूझौं धौं वाकौं, ब्रज जुवती इक देखि रही ही[६८]।

४. संप्रदानकारक—इस कारक में सूरदास ने बारह-तेरह सर्वनाम-रूपों का प्रयोग किया है जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख.'कौं' विभक्तियुक्त रूप। ग. अन्य विभक्तियुक्त रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—उन, ताहि, तिन्हैं, तिहिं और तेहिं—ये पाँच रूप इस वर्ग में आ सकते हैं। इनमें से द्वितीय और तृतीय रूपों का प्रयोग सामान्य रूप से हुआ है और शेष तीनों का बहुत कम।

अ. उन—इक हरि चतुर हुते पहलैं ही, अब उन गुरु सिखई[६९]।

आ. ताहि—ताहि दै राज बैकुंठ सिधाए[७०]। कपिल ताहि यह आज्ञा दीन्ही[७१]।

इ. तिन्हैं—सहस नाम तहँ तिन्हैं (उमा को) सुनायौ[७२]।

ई. तिहिं—भए अनुकूल हरि, दियौ तिहिं तुरत बर[७३]। यह सुनिकै तिहिं उपज्यो ज्ञान[७४]। पुनि नृप तिहिं भोजन करवायौ[७५]। लिखि पाती दोउ हाथ दई तिहिं[७६]। हरि जू तिहिं यह उत्तर दयौ[७७]।

उ. तेहिं—सूर स्याम तेहिं गारी दीजै, जो कोउ आवै तुम्हरी बगरी[७८]।

ख. 'कौं' विभक्तियुक्त रूप—उनकौं, ताकौं, ताहूँकौं, तिनकौं और वाकौं—ये पाँच रूप इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इनमें द्वितीय रूप बलात्मक है और शेष सामान्य। इनमें से उनकौं, ताकौं और वाकौं के अतिरिक्त शेष सभी रूपों के प्रयोग बहुत कम पदों में मिलते हैं।

अ. उनकौं—अब मैं उनकौं (कुरुपति कौं) ज्ञान सुनाऊँ[७९]। अपनौ पेट दियौ तैं उनकौं (हरि कौं)[८०]। उनकौं (स्यामहिं) सुख देत[८१]। जोइ-जोइ साध करी पिय रस की, सो उनकौं दीन्हे[८२]।

आ. ताकौं—बिन देखैं ताकौं सुख भयौ[८३]। करि तिन क्रोध साप ताकौं दयौ[८४]। सकल देस नृप ताकौं दयौ[८५]। सूरज दै जननी गति ताकौं कृपा करी निज धाम पठाई[८६]।

इ. ताहूँ कौं—बहुरि स्वयंभू मनु तप कीन्हौ। ताहूँ कौं हरि जू बर दीन्हौं[८७]।

---

६५. सा. ५-३। ६६. सा. ९-२। ६७. सा. २५४६। ६८. सा. १९७६।
६९. सा. ३९१५। ७०. सा. ७-६। ७१. सा. ९-९। ७२. सा. १-२२६।
७३. सा. ४-१०। ७४. सा ४-१२। ७५. सा. ७-५। ७६. सा. ३४४८।
७७. सा. ४२०६। ७८. सा. १४१५। ७९. सा. १-२८४। ८०. सा. २०९०।
८१. सा. २३५३। ८२. सा. २६७४। ८३. सा. १.२८९। ८४. सा. ४-११।
८५. सा. ९-२। ८६. सा. १०-५०। ८७. सा. ४-९।

ई. तिनकौं—नेकहुँ चैन रह्यौ नहिं तिनकौं[८८] ।

उ. वाकौं—यह कागज मैं वाकौं दीन्हौ[८९] । रैनि देत सुख वाकौं[९०] ।

ग. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उनहिं, उनहिं सौं और ताके—ये तीन प्रयोग इस वर्ग में आते हैं जिनका कुछ ही पदों में सूरदास ने प्रयोग किया है । इनमें से प्रथम और अंतिम रूप सामान्य हैं और द्वितीय बलात्मक है ।

अ. उनहिं—मन लै उनहिं (स्यामहिं) दियौ[९१] । दीजौ उनहिं (गोपालहिं) उरहनौ मधुकर[९२] ।

आ. उनहिं सौं—तातैं कहौ उनहिं (नृपहिं) सौं जाइ[९३] ।

इ. ताके—ताके पुत्र सुता बहु भए[९४] । ताके सुन्दर छौना भयौ[९५] ।

५. अपादानकारक—उस कारक की 'तैं' विभक्ति के साथ मुख्य पाँच रूप मिलते हैं—उनतैं, उनहूँ, तातैं, ताहूँ तैं और वातैं । इनमें द्वितीय और चतुर्थ बलात्मक रूप हैं और शेष सामान्य हैं । इन पाँचों रूपों का प्रयोग इने-गिने पदों में ही मिलता है ।

अ. उनतैं—कुलटी उनतैं (महरि जसोदा तैं) को है[९६] । उनत प्रभु नहिं और बियौ[९७] ।

आ. उनहूँ तैं—सूरदास प्रभु वै अति खोटे , यह उनहूँ त अति हीं खोटी[९८] ।

इ. तातैं—राधा आधा अंग है, तातैं यह मुरली प्यारी[९९] ।

ई. ताहू तैं—सुनहुँ सूर ज्यौं होम अगिनि घृत, ताहू तैं यह न्यारी[१] ।

उ. वातैं—अब ऐसौ लगत हमहिं वातैं न अयानौ[२] ।

६. संबंधकारक—सूरदास द्वारा प्रयुक्त संबंधकारकीय सर्वनाम रूपों की संख्या तीस के आस-पास है । स्थूल रूप से उनको पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'की' युक्त रूप । ग. 'के' युक्त रूप । घ. 'कौ' युक्त रूप । ङ अन्य रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप— उन और ता—ये दो रूप इस प्रकार के हैं जिनमें कोई विभक्ति नहीं है । दोनों का प्रयोग कवि ने अनेक पदों में किया है ।

अ. उन—मन उन हाथ बिकानौ[३] । को जाने उन (कृष्न) ही की[४] । उन पहिरयौ उन (स्यामा का) नौसरिहार[५] । कोटि जज्ञ फल होइ उन (हरि के) दरसन पाए[६] ।

---

८८. सा० २८२८ । ८९. सा. ९८४ । ९०. सा. २५४३ । ९१. सा. २२३[illegible]
९२. सा. ३७७५ । ९३. सा. ९-५ । ९४. सा. ४-१२ । ९५. सा. ५-३[illegible]
९६. सा. २८८९ ९७. सा. ३०८६ । ९८. सा. १९०१ । ९९. सा. १२४[illegible]
१. सा. २१२० । २. सा. १८३६ । ३. सा. १८८४ । ४. सा. १८६[illegible]
५. सा. २०३६ । ६. सा. ४१८८ ।

आ. ता—ता अवतारहिं[७] । ता घर[८] । ता पख[९] । ता मुख[१०] ।

ख. 'की' युक्त रूप—उनकी, उनहिं की, ताकी, तिनकी और वाकी—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें द्वितीय रूप बलात्मक है, शेष सामान्य हैं। उनकी, ताकी और वाकी का प्रयोग 'सूरसागर' में बहुत किया गया है, शेष रूप कुछ ही पदों में मिलते हैं।

अ. उनकी—उनकी (महादेव की) महिमा[११] । उनकी (नृपति की) अस्तुति[१२] । उन उनकी (स्याम की) पहिरी मोतिमाला[१३] । पीत धुजा उनकी (स्याम की)[१४] ।

आ. उनहिं की—यह करतूति उनहिं (स्यामहिं) की नाहीं[१५] ।

इ. ताकी—ताकी इच्छा[१६] । ताकी पितु मातु घटाई कानि[१७] । ताकी गतिहि[१८] । माता ताकी[१९] । ताकी सक्ति[२०] ।

ई. तिनकी—नंदनँदन गिरिधर बहुनायक, तू तिनकी पटरानी[२१] ।

उ. वाकी—चतुरई वाकी[२२] । वाकी जाति[२३] । वाकी पैज[२४] । वाकी बुद्धि[२५] । लँगराई वाकी[२६] ।

ग. 'के' युक्त रूप—इस वर्ग में आनेवाले प्रमुख रूप हैं—उनके, उनहीके, ताके, तासु के, ताहूके, तिनके, तोहिके और वाके। इनमें केवल दूसरा रूप बलात्मक है। प्रयोग की दृष्टि से उनके, ताके और वाके रूप सर्वत्र मिलते हैं; शेष कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं।

अ. उनके—उनके (स्याम) मनहीं भाई[२७] । सेवक उनके (कन्हाई के)[२८] । उनके (स्याम के) गुन[२९] ।

अ. उनहीं के—उनहीं के गुन गावत हैं[३०] । उनहीं के संगी[३१] ।

इ. ताके—गुन ताके[३२] । ताके तंदुल[३३] । ताके पूत[३४] । ताके माथे[३५] । ताके साथ[३६] । ताके हय[३७] ।

ई. तासु के—तुरंग रथ तासु के सब सँघारे[३८] ।

---

७. सा. २७७९ । ८. सा. १०-२८ । ९. सा. १८६८ ।
१०. सा. २७२४ । ११. सा. ४-५ । १२. सा. १५७९ ।
१३. सा. २०३६ । १४. सा. ३७४६ । १५. सा. ३७४९ । १६. सा. १-२९० ।
१७. सा. ९-७७ । १८. सा. १-३२५ । १९. सा. ९-१३ । २०. सा. ४-३ ।
२१. सा. १८९८ । २२. सा. १२६१ । २३. स. १७२५ २४. सा. १-८२ ।
२५. सा. १७२३ । २६. सा. १७२५ । २७. सा. १२३२ । २८. सा. १५७४ ।
२९. सा. २११४ । ३०. सा. २२५४ । ३१. सा. ३७६० । ३२. सा. १३.१८ ।
३३. सा. १-७ । ३४. सा. १०-३३३ । ३५. सा. ५५७ । ३६. सा. ६-८ ।
३७. सा. ९-२६ । ३८. सा. ४२०९ ।

उ. ताहू के—ताहू के खैबे-पीबे कौं[३९]।

ऊ. तिनके—मेरे प्रान-जिवन-धन कान्हा, तिनके भुज मोहिं बँधे दिखाए[४०]। सूर स्याम जुवती मन मोहन, तिनके गुन नहिं परत कही[४१]।

ऋ. तेहिके—असी सहस किंकर दल तेहिके[४२]।

ए. वाके—वाके सुनहु उपाउ[४३]। वाके गुन[४४]। चरित वाके[४५]। वाके वचन[४६]। वाके भाग[४७]।

घ. 'कौं' युक्त रूप—उनकौ, उनही कौ, ताकौ, तिनकौ और वाकौ—मुख्यतः ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें केवल दूसरा रूप बलात्मक है। इन पाँचों रूपों में प्रथम, तृतीय और अंतिम का प्रयोग सूरदास ने जितना अधिक किया है, शेष दोनों का उतना ही कम।

अ. उनकौ—सुता है वृषभानु की री; बड़ौ उनकौ नाउँ[४८]। उनकौ (गिरिधर कौ) मन अपनौ कर लीन्हौ[४९]। उनको (स्याम कौ) बदन बिलोकति निसि दिन[५०]। सुधि करि देखि रूसनौं उनकौ (मोहन कौ)[५१]।

आ. उनही कौ—उनहीं (सखी) कौं मन राखैं काम[५२]।

इ. ताकौ—ताकौ केस[५३]। जस ताकौ[५४]। निरभय देह राजगढ़ ताकौ[५५]। नाम ताकौ[५६]।

ई. तिनकौ— तिनकौ नाम अनंग नृपति बर[५७]।

उ. वाकौ—दोष कहा वाकौ[५८]। वाकौ भाग[५९]। वाकौ मान[६०]। मुख वाकौ[६१]। वाकौ सुर[६२]।

ङ. संबंधकारकीय अन्य रूप—इस कारक के अन्य रूप हैं— उन केरी, उन केरे, ताकर, तासु, ताही और तिहिं। इनमें से सबसे अधिक प्रयोग किया गया है 'तासु' का और उससे कम 'तिहिं' का। शेष रूपों के प्रयोग अपवादस्वरूप कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

अ. उन केरी—तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहिऐ कहा बुद्धि उन (कृष्ण) केरी[६३]।

आ. उन केरे—मोहूँ बरबस उतहिं चलावत दूत भए उन (स्याम) केरे[६४]।

---

३९. स. १०-३२५। ४०. सा. ३७०। ४१. सा. २५२१।
४२. सा. ९-१०४। ४३. सा. १७२१। ४४. सा. २५०५।
४५. सा. १७२४। ४६. सा. १२८१। ४७. सा. १३४३। ४८. सा. ७११।
४९. सा. १२३८। ५०. सा. २२४७। ५१. सा. २८२६। ५२. सा. २५४०।
५३. सा. १-३७। ५४. सा. ५-२। ५५. सा. १-४०। ५६. सा. १-११३।
५७. सा. १५८८। ५८. सा. १२९१। ५९. सा. १२७३। ६०. सा. २५७३।
६१. सा. २६०७। ६२. सा. १३३९। ६३. सा. ३५२८। ६४. सा. २३५२।

इ. ताकर—उदधि-सुधा-पति, ताकर बाहन[६५]।

उ. तासु—तासु क्रिया[६६]। तासु चित[६७]। तासु महातम[६८]। तासु सुतनि[६९]।

ऊ. ताही—पहिलैं रति करिकै आरति करि, ताही रँग रँगई[७०]।

ऋ. तिहिं—नख-प्रहार तिहिं उदर बिदारयौ[७१]। सूर प्रभु मारि दसकंध, थपि बंधु तिहिं[७२]। कहाँ मिली कुबिजा चंदन लै, कहां स्याम तिहिं कृपा चहैं[७३]।

७. अधिकरणकारक—इस कारक में प्रयुक्त अन्यपुरुष एकवचन सर्वनाम-रूपों की संख्या पचीस के आसपास है। साधारण रीति से इनको छह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. 'कैं' विभक्तियुक्त रूप। ग. 'पर' विभक्तियुक्त रूप। घ. 'पै' या 'पैं' विभक्तियुक्त रूप। ङ. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप। च. अन्य विभक्ति-युक्त रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—ताहूँ और वाहीं—ये दो प्रयोग इस प्रकार के कहे जा सकते हैं। इनके प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलते हैं और इनके साथ की विभक्ति 'में' प्रायः लुप्त रहती है।

अ. ताहूँ—खंभ प्रगटि प्रहलाद बचायौ, ऐसी कृपा न ताहूँ[७४]।

आ. वाहीं—लख चौरासी जोनि भरमि कै, फिरि वाहीं मन दीनौ[७५]।

ख. 'कै' विभक्तियुक्त रूप— उनकैं, ताकैं, ताहीं कैं और तिनक—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें तीसरा बलात्मक है। शेष तीनों सामान्य रूपों का प्रयोग अनेक पदों में मिलता है।

अ. उनकैं—मोसी उनकैं कोटि तियौ[७६]। उनकैं (स्याम कैं) बाढ़ी आतुर-ताई[७७]।

आ. ताकै—साँझ बोल दै जात सूर प्रभु, ताकैं आवत होत उदोत[७८]। गई आतुर नारि ताकैं[७९]। जाइ रहै नहिं ताकैं[८०]।

इ. ताही कैं— ताही कैं पग धारियै, चक्रित मैं जाने[८१]।

ई. तिनकैं—तिनकैं (दासी-सुत कैं) जाइ कियौ तुम भोजन[८२]। भूषन मोर-पखौवनि, मुरली, तिनकें प्रेम कहाँ री[८३]।

ग. 'पर' विभक्तियुक्त रूप—तापर, ताहि पर, ताहीं पर और तिन पर—ये चार रूप इस विभक्ति में आते हैं। इनमें तीसरा रूप बलात्मक है जिसका

---

६५. सा. २७७९। ६६. सा. १-२८०। ६७. सा. ६-५।
६८. सा. ३-१३। ६९. सा. ९-१३। ७०. सा. १७८३।
७१. सा. ७-२। ७२. सा. ९-१३६। ७३. सा. ३१०५।
७४. सा. ५६९। ७५. सा. १-६५। ७६. सा. २०७६। ७७. सा. २८२६।
७८. सा. २४७६। ७९. सा. २६९३। ८०. सा. २७५६। ८१. सा. २६८८।
८२. सा. १-२४२। ८३. सा. २८२६।

प्रयोग अनेक पदों में मिलता है। शेष सामान्य रूपों में सबसे कम प्रयुक्त हुआ है 'ताहि पर'।

अ. तापर--दृढ़ बिस्वास कियौ सिंहासन तापर बैठे भूप[८४]। तापर कौस्तुभ मनिहिं बिचारैं[८५]। कृपावंत रिषि तापर भए[८६]। चले बिमान संग गुरु पुरुजन तापर नृप पौढ़ायौ[८७]।

आ. ताहि पर—इंद्र बिनय रिषि सों बहु करी। तब रिषि कृपा ताहि पर धरी[८८]।

इ. ताही पर--काली ल्याए नाथि, कमल ताही पर ल्याए[८९]। सूर मुरछि लटकत ताही पर[९०]। निरखत अंग अंग की सोभा, ताही पर रुचि मानत री[९१]। यह छबि देखि सनाथ भई मैं, अब ताही पर जाइ ढरैं[९२]।

ई. तिन पर—स्याम लरत तबहीं तैं उनसौं, तिन पर अतिहिं रिसानी[९३]। तिन पर तूं अतिहीं झहरी[९४]।

घ. 'पैं' या 'पै' विभकितयुक्त रूप—इस वर्ग के मुख्य रूप हैं—उनपै, तापैं, तापै, ताही पै और तिनपै। इन सभी का प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है। इनमें चौथा रूप, 'ताही पै' बलात्मक है, शेष सामान्य हैं।

अ. उनपै--की बैठौ, की जाहु भवन कौं। मैं उनपै (हरि पै) नहिं जाउँ[९५]।

आ. तापैं—परतिज्ञा राखी मनमोहन, फिर तापैं पठयौ[९६]। अस्वत्थामा तापैं जाइ[९७]।

इ. तापै—रिषि को तापै फेरि पठायौ[९८]।

ई. ताही पै—चाहति हौं ताही पै (घर-नाउ) चढ़िकै, हरिजू कैं ढिग जाउँ[९९]।

उ. तिनपैं—एक नाहिं भवननि तैं निकरी तिनपैं आए परम कृपाला[१]।

ङ. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप— तामैं, ताही मैं और ताहूँ मैं—केवल ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें पहला सामान्य और शेष दोनों बलात्मक हैं। प्रथम रूप का प्रयोग कवि ने अधिक किया है, अंतिम दोनों रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं।

अ. तामैं—तामैं सक्ति आपनी धरी[२]। बहुरौ देख्यौ ससि की ओर, तामैं देखि स्यामता कोर[३]। तामैं (मायामय कोट मैं) बैठि सुरन जय करौं[४]। दुख समुद्र जिहिं वारपार नहिं तामैं नाव चलाई[५]।

---

८४. सा. १-४०। ८५. सा. ३-१३। ८६. सा. ९-३।
८७. सा. ९-५०। ८८. सा. ९-३। ८९. सा. ५८९।
९०. सा. १३२४। ९१. सा. २२३६। ९२. सा. २५६२। ९३. सा. २४३२।
९४. सा. २४३४। ९५. सा. २४३१। ९६. सा. १-३८। ९७. सा. १-२८९।
९८. सा. ९-५। ९९. सा. ३२७५। १. सा. १००५। २. सा. ३-१३।
३. सा. ५-३। ४. सा. ७-७। ५. सा. ९-१४६।

आ. ताहीं मैं—जैसे रंक तनक धन पावै, ताही मैं वह होत निहाल[६]।

इ. ताहू मैं—सूरदास की एक आँखि है, ताहू मैं कछु कानौ[७]।

च. अन्य विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में उन पाहीं, उन माहँ, उन माहीं, उनमौं, ता महँ, ता माहिं, ताही माँझ आदि रूप आते हैं। बलात्मक रूप इनमें केवल अंतिम है। इन सभी रूपों का प्रयोग 'सूरसागर' के पदों में कहीं-कहीं ही किया गया है।

अ. उन पाहीं—हम निरगुन सब गुन उन (सिसुपाल) पाहीं[८]।

आ. उन माहँ—हौं उन (कृष्ण) माहँ कि वै मोहिं माहीं[९]।

इ. उन माहीं—सुनियत परम उदार स्यामघन, रूप-रासि उन माहीं[१०]।

ई. उन मौं—जो मन जोग जुगुति आराधै, सो मन तौ सबकौ उन (कृष्ण) मौं है[११]।

उ. ता महँ—ता महँ मोर घटा घन गरजहिं, संग मिलै, तिहिं सावन[१२]।

ऊ. ता माहिं—चौदह लोक भए ता माहिं[१३]।

ए. ताही माँझ—स्वाद परे निमिषहुँ नहिं त्यागत ताही माँझ समाने[१४]।

सारांश—ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है कि सूरदास द्वारा प्रयुक्त पुरुषवाचक अन्य पुरुष और निश्चयवाचक दूरवर्ती सर्वनाम रूपों की संख्या उत्तम और मध्यमपुरुष रूपों से निश्चय ही अधिक है। विभिन्न कारकों में मुख्य, सामान्य और अपवादस्वरूप जिन रूपों का कवि ने प्रयोग किया है, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित मूल और विकृत रूप	विभक्तियुक्त मूल और विकृत रूप
कर्त्ता	वह, सो, (सु), (वे), वै, उन, उनि, तिन, तिनि, (तिहिं), (तेहिं), उहिं।	(वाही नैं)
कर्म	(ओहि), (ओही), (उन्हैं), (उहिं), ताहि, तिहिं, वाहि, सौ।	(उनकौं), उनहिं, ताकौं, (तिनकौं), (तिनहिं), तिहिकौं, तेहिं, वाकौं, विनकौं।
करण	ताहि, (तिनहिं), तिहिं, वाहि।	उनतैं, तातैं, तासु त, (उनसौं), तासौं, ताहि सौं, तिनसौं, (तिहिं सौं), वासौं, (उनपै), (ता सेंती), (वाकौं)।
संप्रदान	ताहि, (तिन्हैं), तिहिं, (तेहि)।	उनकौं, ताकौं, (तिनकौं), वाकौं, (उनहिं), ताके।

६. सा. १७८६। ७. सा. १-४७। ८. सा. ४११५।
९. सा. १०-१३५। १०. सा. २३३१। ११. सा. ४०७५।
१२. सा. ३६६१। १३. सा. ३-१३। १४. सा. २३०५।

अपादान	...	उनतैं, तातैं, वातैं ।
संबंध	उन, ता ।	उनकी, ताकी, (तिनकी), वाकी, उनके, ताके, (तासु के), तिनके, (तेहिके), वाके, उनकौ, ताकौ, (तिनकौ,), वाकौ, (उन केरी), (उन केरे), (ताकर), ताकि, तासु, (तिहिं), (वाकि)।
अधिकरण	ताहूँ, वाहीं ।	उनकैं, ताकैं, (तिनकैं), तापर, (ताहि पर), तिन पर, (उनपै), (तापै), (तापै), (तिनपैं), तामैं, (उन पाहीं), उन माहँ, (उन माहीं), (उन मौं) (ता महँ), (ता माहिं)।

बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

अन्यपुरुष और दूरवर्ती निश्चयवाचक में साधारणत: 'वे' और 'वै' का मूल रूप में तथा 'उन', (उनि) और 'विन' का विकृत रूप में प्रयोग होता है । सूरदास ने इनकें रूपों के साथ-साथ नित्यसंबंधी सर्वनामों—'ते', 'से' (मूल रूप), 'तिन'—(विकृत रूप) और 'तिन्हैं' (अन्य रूप) का भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग किया है । अतएव उनके द्वारा प्रयुक्त एकवचन के समान बहुवचन रूपों की संख्या भी पर्याप्त हो गयी है । इनमें से प्रमुख रूपों के कुछ उदाहरणों का संकलन यहाँ किया गया है ।

१. कर्त्ताकारक—इस कारक में तेरह-चौदह बहुवचन रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. बलात्मक प्रयोग।

क. विभक्तिरहित रूप—उन, उनि, तिन, तिनि, ते, वे और वै—ये सात रूप इस वर्ग में आते हैं । इनमें 'तै' और 'वै' का प्रयोग कवि ने ख़ूब किया है; शेष कुछ ही पदों में मिलते हैं ।

अ. उन—जोग पंथ करि उन तनु तजे[१५] । अबिगत की गति उन नहिं जानी[१६] ।

आ. उनि—नंद-सुवन मति ऐसी ठानी, उनि घर लोग जगाए[१७] ।

इ. तिन—द्वारपाल जय-बिजय हुते बरज्यो तिनकौं तिन[१८] । तिन (ब्रह्मा) कैं हित तप कीन्हौं[१९] ।

ई. तिनि—भोजन बहु प्रकार तिनि दीन्हौं[२०] ।

उ. ते—ते हरि पद कौं या बिधि पावैं[२१] । कपिलास्रम कौं ते पुनि गए[२२] । ते निकसीं देति असीस[२३] । ऐसे और पतित्त अवलंबित ते छिन माहिं तरे[२४] ।

ऊ. वे—जोहत हैं वे पंथ तिहारौ[२५] ।

---

१५. सा. १-२८८ । १६. सा. ८०० । १७. सा. ११७० । १८. सा. ३-११ । १९. सा. ७-७ । २०. सा. ८०० । २१. सा. ३-१३ । २२. सा. ९-९ । २३. सा. १०-२४ । २४. सा. १-१९८ । २५. सा. ४-१२ ।

ऋ. वै—वै भए इक ओर[२६]। वै सुनिहैं यह बात[२७]। मान लेहिं वै बात तुम्हारी[२८]। स्याम सबनि कौं देखहीं, वै देखति नाहीं[२९]।

ख. बलात्मक प्रयोग—इस वर्ग के अंतर्गत जो रूप आते हैं, उनमें मुख्य हैं— उनहिं, उनहूँ, तिनहुँ, तिनहूँ, तेऊ, वेई, और वेऊ। इनमें से तिनहुँ, तिनहूँ और तेऊ के प्रयोग अनेक पदों में मिलते हैं, शेष रूप कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं।

अ. उनहिं—सखिनि मिलै जमुना गई मोतिसिरी धौं उनहिं चुराई[३०]। सूर स्याम कौं उनहिं सिखायौ[३१]।

आ. उनहूँ—ब्रह्मा, रुद्र-लोक हूँ गयौ। उनहूँ ताहि अभय नहिं दियौ[३२]।

इ. तिनहुँ—तिनहुँ न आनि छुड़ायौ[३३]। सिव-बिरंचि-नारद मुनि देखत, तिनहुँ न मोकौं सुरति दिवाई[३४]। रुद्र, बिरंचि, सेस सहसानन, तिनहुँ न अंत लह्यौ[३५]।

ई. तिनहूँ—बरुन कुबेरादिक पुनि आइ। करी बिनय तिनहूँ बहु भाइ[३६]। सिव, बिरंचि, सनकादि आदि तिनहूँ नहिं जानी[३७]। सुर-नर-गन-गंधर्व जे कहिये, बोल बचन तिनहूँ नहिं टारौ[३८]।

उ. तेऊ—फिरत सकल प्रभु तेऊ हमरी नाईं[३९]। पाँच बान संकर मोहिं दीन्है, तेऊ गए अकारथ[४०]। ऐसे निठुर होहिंगे तेऊ जैसी की यह तैसी[४१]।

ऊ. वेई—काल्हिहिं तैं वेई सबै ल्यावैं गाइ चराइ[४२]।

२. कर्मकारक—इस कारक में प्रयुक्त रूप भी संख्या में कर्त्ताकारक के समान ही हैं। इनको मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. विभक्तिसहित रूप। ग. बलात्मक रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—उनि, तिन, तिनि, तिन्ह, तिन्हैं और ते—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें अंतिम दोनों रूपों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है; शेष रूप कुछ ही पदों में मिलते हैं।

अ. उनि—भली करी उनि (उनकौ) स्याम बँधाए[४३]।

आ. तिन—ब्रह्मा तिन लै सिव पहँ आए[४४]।

इ. तिनि—लखि सरूप रथ रहि नहिं सकिहौं, तिनि धरिहौं धर धाइ[४५]।

---

२६. सा. १०-२४४। २७. सा. ५२२। २८. सा. ८००। २९. सा. १०९६।
३०. सा. १९७०। ३१. सा. २०९५। ३२. सा. ९-५। ३३. सा. २-३०।
३४. सा. ७.४। ३५. सा. २८०७। ३६. सा. ७-२। ३७. सा. १६१८।
३८. सा. ४२०३। ३९. सा. १-१९५। ४०. सा. १-२८७। ४१. सा. १२५४।
४२. सा. ४३७। ४३. सा. २२७०। ४४. सा. ४-५। ४५. सा. २९४८।

ई. तिन्ह—भरत सत्रुहन कियौ प्रनाम, रघुबर तिन्ह कंठ लगायौ[४६]।

उ. तिन्हैं—इनके पुत्र एक सौ मुए। तिन्हैं बिसारि सुखी ये हुए[४७]। नैन कमल दल से अनियारे। दरसत तिन्हैं कटैं दुख भारे[४८]। कपिल कुलाहल सुनि अकुलायौ। कोप-दृष्टि करि तिन्हैं जरायौ[४९]।

ऊ. ते—अष्टसिद्धि बहुरी तहँ आई। रिषभदेव ते मुँह न लगाई[५०]। श्री रघुनाथ लछन ते मारे[५१]। बिधि कुलाल कीन्हें काँचे घट ते तुम आनि पकाए[५२]।

ख. विभक्तियुक्त रूप—उनकौं, उनहिं और तिनकौं—ये तीन मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'उनकौं' और 'तिनकौं' का प्रयोग ही सूरदास ने अपने काव्य में अधिक किया है।

अ. उनकौं—उनकौं मारि तुरत मैं कीन्ही मेघनाद सौं रारि[५३]। वैहैं काज तुम्हारे प्रगटे, काहैं उनकौं राखत[५४]। सूर उनकौं देखिहौं मैं एक दिवस बुलाइ[५५]।

आ. उनहिं—आपुन खीझैं उनहिं खिझावैं[५६]। आजु-कालिह अब उनहिं बुलाऊँ[५७]।

इ. तिनकौं—अर्ध निसा तिनकौं लै गयौ[५८]। द्वारपाल जय-बिजय हुते, बरज्यौ तिनकौं तिन[५९]। तट ठाढ़े जे सखा संग के, तिनकौं लियौ बुलाई[६०]।

३. करणकारक—इस कारक में लगभग दस रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. विभक्तियुक्त रूप। ग. अन्य रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—इस वर्ग का एक रूप है 'तिन्हैं' जो सूर-काव्य के बहुत थोड़े पदों में मिलता है।

तिन्हैं—तिन्हैं कह्यौ, संसार में असुर होउ अब जाइ[६१]। आज्ञा होइ, जाहिं पाताल। जाहु, तिन्हैं भाष्यौ भूपाल[६२]।

ख. 'सौं' विभक्तियुक्त रूप—उनसौं, तिनसौं, तिनहिं सौं, तिनि सौं—ये मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से प्रथम दो का प्रयोग सर्वत्र मिलता है; शेष दो कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं।

अ. उनसौं—माता पिता पुत्र तिहिं जानैं। वहऊ उनसौं नातौ मानैं[६३]।

४६. सा. ९-५५। ४७. सा. १-२८४। ४८. सा. ३-१३। ४९. सा. ९-९।
५०. सा. ५-२। ५१. सा. ९-५७। ५२. सा. ३७८१।
५३. सा. ९-१०४। ५४. सा. ५२२। ५५. सा. ५८६। ५६. सा. १६०७।
५७. सा. २९२२। ५८. सा. १-२८४। ५९. सा. ३-११। ६०. सा. १४०३।
६१. सा. ३-११। ६२. सा. ९-९। ६३. सा. ३-११।

उनसौं (भक्तों से) ऐसी नहिं कही[६४]। भोर दुहौ जनि नंद दुहाई, उनसौं कहत सुनाइ[६५]।

आ. तिनसौं--हरि तिनसौं कह्यौ आइ, भली सिच्छा तुम दीनी[६६]। सुत-कलत्र कौं अपनौं जानै। अरु तिनसौं ममत्व बहु ठानै[६७]। सिव-निंदा करि तिनसौं भाष्यौ[६८]। पग दिए तीरथ जैबे काज। तिनसौं चलि नित करै अकाज[६९]।

इ. तिनहिं सौं--खेलैं-हँसैं तिनहिं सौं बोलै[७०]।

ई. तिनि सौं--ठाढ़े सूर-बीर अवलोकत, तिनिसौं कहौ न तोरै[७१]।

ग. अन्य रूप--'तैं' और 'पै' विभक्तियों से बने तीन रूप--उनतैं, तिनतैं, और तिनहूँ पै--इस वर्ग में आते हैं। इनमें से द्वितीय रूप का प्रयोग अधिक किया गया है; प्रथम और तृतीय के उदाहरण बहुत कम पदों में मिलते हैं।

अ. उनतैं--उनतैं कछू भयौ नहिं काजा[७२]।

आ. तिनतैं--भैया, बंधु, कुटुंब घनेरे तिनतैं कछू न सरी[७३]। तिनतैं पंचतत्व उपजायौ[७४]। जद्यपि रानी बरीं अनेक। पै तिनतैं सुत भयौ न एक[७५]।

इ. तिनहूँ पै--ध्यान धरत महादेवऽरु ब्रह्मा, तिनहूँ पै न छूटै[७६]।

४. संप्रदान कारक--इस वर्ग में सात-आठ रूप हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है--क. विभक्तिरहित रूप। ख. विभक्तिसहित रूप।

क. विभक्तिरहित रूप--तिन, तिनि और तिन्ह--ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलता है, सर्वत्र नहीं।

अ. तिन--सबै कूर मोसौं रिन चाहत, कहौ कहा तिन दीजै[७७]।

आ. तिनि--जज्ञ-काज मैं तिनि दुख दयौ[७८]।

इ. तिन्ह--ब्रह्म प्रगटि दरस तिन्ह दीन्हौ[७९]।

ख. विभक्तियुक्त रूप--इस वर्ग में मुख्य तीन रूप मिलते हैं--उनकौं, उनहिं और तिनकौं। इनमें प्रथम और तृतीय रूपों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है; द्वितीय का कम।

अ. उनकौं - सरबस दीजै उनकौं[८०]। सो फल उनकौं तुरत दिखाऊँ[८१]।

---

६४. सा. ५-३। ६५. सा. ४००। ६६. सा. ३-११।
६७. सा. ३-१३। ६८. सा. ४-५। ६९. सा. ४-१२।
७०. सा. १४६०। ७१. सा. ३०४९। ७२ सा. ५२१।
७३. सा. १-७१। ७४. सा. ३-१३। ७५. सा. ६-५। ७६. सा. १-२६३।
७७. सा. १-१९६। ७८. सा. ४-१२। ७९. सा. ७-७। ८०. सा. १-१७७।
८१. सा. ८५६।

ज्वाब कहा मैं देहौं उनकौं[८२]। सूर स्याम उनकौं भए भोरे, हमकौं निठुर मुरारी[८३]।

आ. उनहिं—वहै बकसीस अब उनहिं दैहैं[८४]। यह तौं जाइ उनहिं उपदेसहु[८५]।

इ. तिनकौं—राज रवनि गाईं ब्याकुल ह्वैं, दै दै तिनकौं धीरक[८६]। नारायन तिनकौं बर दियौ[८७]। मोहिनी रूप तुम दरस तिनकौं दियौ[८८]। गोपीगन प्रेमातुर, तिनकौं[८९] सुख दीन्हौं।

५. अपादानकारक—इस कारक में केवल चार मुख्य रूप मिलते हैं—उनतैं, उनहूँ तैं, तिनतैं, तिनहूँ तैं। 'तै' विभक्ति इन चारों में है। प्रथम और तृतीय रूप सामान्य हैं, द्वितीय और चतुर्थ बलात्मक। इन सभी का प्रयोग सूर-काव्य में कहीं-कहीं ही मिलता है।

अ. उनतैं—हौं उनतैं न्यारी करि डारचौ, इहिं दुख जात मरचौ[९०]।

आ. उनहूं तैं—उनहूं त निर्दयी बड़े वै, तैसियै मुरली पाई[९१]।

इ. तिनतैं—ब्याध-गीध अरु पतित पूतना तिनतैं बड़ौ जु और[९२]।

ई. तिनहूँ तैं—महा जे खल, तिनहूँ तैं अति, तरत हैं इक नाम[९३]।

६. संबंधकारक—इस कारक में केवल दस-ग्यारह रूप मिलते हैं। इनको चार वर्गों में रखा जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. 'की' युक्त रूप। ग. 'के' युक्त रूप। घ. 'कौं' युक्त रूप।

क. विभक्तिरहित रूप—इसमें केवल दो रूप—उन और तिन—आते हैं जिनका प्रयोग दो-चार पदों में ही दिखायी देता है; जैसे—

अ. उन—सूर कछू उन हाथ न आयौ, लोभ-जाग पकरे[९४]।

आ. तिन—कौनहुं भाव भजै कोउ हमकौं, तिन तन ताप हरै री[९५]।

ख. 'की' युक्त रूप—उनकी, उनहूँ की और तिनकी—ये तीन रूप इस वर्ग के हैं। इनमें द्वितीय रूप बलात्मक है जिसका प्रयोग इने-गिने पदों में ही दिखायी देता है। शेष दोनों रूप 'सूर-काव्य' में सर्वत्र मिलते हैं।

अ. उनकी—उनको करनी[९६]। उनकी दीनता[९७]। उनकी करति बड़ाई[९८]। उनकी बिचवानी[९९]। उनकी सोध[१]।

८२. सा. २०४६। ८३. सा. २३२५। ८४. सा. २९३०। ८५. सा. ३९१३। ८६. सा. १-११२। ८७ सा. ३-१३। ८८. सा. ८-१। ८९. सा. ३९४। ९०. सा. १-१५६। ९१. सा. १२७८। ९२. सा. १-१४५। ९३. सा. ३०४६। ९४. सा. २२९९। ९५. सा. ७८७ ९६. सा. २२२४। ९७. सा. १-२३८। ९८. सा. ९-१४०। ९९. सा. १९०७। १. सा. ६-५।

आ. उनहूँ की—उनहूँ की आँखि[२] ।

इ. तिनकी—तिनकी कथा[३] । तिनकी गति[४] । संगति करि तिनकी[५] । तिनकी करी सहाइ[६] ।

ग. 'के' युक्त रूप— उनके, तिनके, तिनही के और तिनिके—केवल ये चार प्रमुख रूप इस वर्ग में मिलते हैं । इनमें तृतीय रूप बलात्मक है । प्रयोग की दृष्टि से प्रथम दो रूप महत्व के हैं जिनका सर्वत्र प्रयोग किया गया है । अंतिम दोनों रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं ।

अ. उनके—उनके काम[७] । समाचार सब उनके[८] । उनके अगम सरीर[९] । उनके सुख[१०] ।

आ. तिनके—तिनके कलिमल[११] । तिनके बंधन[१२] । तिनके वचन[१३] । भाग हैं तिनके[१४] ।

इ. तिनहीं के—तिनहीं के संगी[१५] ।

ई. तिनिके—गुन जानौं मैं तिनि के[१६] ।

घ. 'कौ' युक्त रूप—उनकौ और तिनकौ इस वर्ग में केवल दो रूप आते हैं। इनमें से प्रथम की अपेक्षा दूसरे का प्रयोग कुछ अधिक मिलता है ।

अ. उनकौ—उनकौ आसरौ[१७] ।

आ. तिनकौ—दोष तिनकौ[१८] । तिनकौ नाम[१९] तिनकौ प्रेम[२०] ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में तेरह-चौदह रूप मिलते हैं जिनको चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप । ख. 'पर' या 'पै' युक्त रूप । ग. 'मैं' युक्त रूप । घ. अन्य रूप ।

क. विभक्तिरहित रूप—उनकैं और ताकैं—ये दो रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें प्रथम तो बहुवचन रूप है ही, परंतु द्वितीय, 'ताकैं' एकवचन है जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप बहुवचन में कवि ने किया है । ये तीनों रूप बहुत कम पदों में दिखायी देते हैं ।

अ. उनकैं—रैनि-दिन मम भक्ति उनकैं कछू करत न आन[२१] ।

आ. ताकैं—स्रवन सुनि-सुनि दहैं, रूप कैसैं लहैं, नैन कछु गहैं, रसना न ताकैं[२२] ।

---

२. सा. २९१६ ।
३. सा. ११७५ । ४. सा. १-१४० । ५. २-१७ । ६. सा. ७-७ ।
७. सा. २२२७ । ८. सा. ४१६० । ९. सा. ९-८६ । १०. सा. १९४३ ।
११. सा. १-९५ । १२. सा. १६१८ । १३. सा. ८०० । १४. सा. ६२० ।
१५. सा. ३५९३ । १६. सा. ३३७९ । १७. सा. २२२७ । १८. सा. ४२०९ ।
१९. सा. १५५१ । २०. सा. ४२०० । २१. सा. ३४३१ । २२. सा. १८५७ ।

ख. 'पर' या 'पै' विभक्तियुक्त रूप—उनपर, तिनपर और तिन पै—तीनों रूप इस वर्ग में आते हैं। इनके प्रयोग भी कहीं-कहीं ही मिलते हैं।

अ. उन पर—सघन गुंजत बैठि उन पर भौरहूँ बिरमाहिं[२३]। ऐसी रिसि आवति है उन पर[२४]।

आ. तिन पर—सासु ननद तिन पर झहरैं[२५]। तिन पर क्रोध कहा मैं पाऊँ[२६]।

इ. तिनपै—बहुरि तातौ कियौ, डारि तिनपै दियौ[२७]।

ग. 'मैं' विभक्तियुक्त रूप—उनमैं, तिनमैं, तिनही मैं, ताहू मैं—ये चार रूप ही इस वर्ग में मिलते हैं। इनमें प्रथम दो सामान्य बहुवचन रूप हैं, तृतीय बलात्मक बहुवचन और अंतिम बलात्मक एकवचन रूप जिसका सूरदास ने अपवादस्वरूप एक-दो पदों में बहुवचन में प्रयोग किया है। प्रथम दोनों प्रमुख रूपों का प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र मिलता है।

अ. उनमैं—तिनमैं अजामील गनिकादिक, उनमैं मैं सिरमौर[२८]। उनमैं नित उठि होइ लराई[२९]। एक सखी उनमैं जो राधा, लेति मनहिं जु चुराइ[३०]। उनमैं पाँचों दिन जौ बसियै[३१]।

आ. तिनमैं—और हैं आजकल के राजा तिनम मैं सुलतान[३२]। तिनमैं सती नाम बिख्यात[३३]। तिनमैं नव नव खँड अधिकारी[३४]। षट्‌रस के पकवान धरे सब तिनमैं रुचि नहिं लावत[३५]।

इ. तिनही मैं—और पतित तुम जैसे तारे तिनही मैं लखि काढ़ौ[३६]।

ई. ताहू मैं—भेद चकोर कियौ ताहू मैं, बिधु प्रीतम, रिपु भान[३७]।

घ. अन्य विभक्तियुक्त रूप—उन माँझ, तिन माहिं, तिनहिं पाहीं और तिनहिं माहीं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं। इनका प्रयोग बहुत कम पदों में मिलता है।

अ. उन माँझ—मनहुँ उलटि उन माँझ समानी[३८]।

आ. तिन माहिं—पै तिहिं रिषि-दृग जाने नाहिं, खेलत सूल दिये तिन माँहिं[३९]।

इ. तिनहिं पाहीं—स्याम बलराम यह नाम सुनि ताम मोहिं, काहि पठवहुँ जाइ तिनहिं पाहीं[४०]।

ई. तिनहिं माहीं—सूर प्रभु नैन लै मोल अपबस किए, आपु बैठे रहत तिनहिं माहीं[४१]।

---

२३. सा. १-३३८। २४. सा. २२४४। २५. सा. १९२०। २६. सा. २९२२। २७. सा. ३०५४। २८. सा. १-१४५। २९. ३-९। ३०. सा. ४०९६। ३१. सा. ४१५०। ३२. सा. १-१४५। ३३. सा. ४-४। ३४. सा. ५-२। ३५. सा. ४६८। ३६. सा. १-१३७। ३७. सा. ३९८५। ३८. सा. २३६५। ३९. सा. ९-३। ४०. सा. २९३०। ४१. सा. २२४०।

सारांश—पुरुषवाचक अन्यपुरुष और निश्चयवाची दूरवर्ती बहुवचन सर्वनामों के जो जो रूप विभिन्न कारकों में प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्ति रहित रूप	विभक्ति युक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	(उन), (उनि), (तिन), (तिनि), ते, (वे), वै	... ...	((उनहिं), (उनहुँ), (तिनहुँ), तिनहूँ, (तेउ) तेऊ, (वेई)।
कर्म	(उनि), (तिन), (तिनि), (तिन्ह), तिन्हैं, ते	उनकौं, (उनहिं), तिनकौं, (तिनहिं), (तिहिं)।	(तेइ,।
करण	(तिनहिं), (तिन्हैं)	उनसौं, तिनसौं, (तिनिसौं), (उनतैं), तिनतैं।	(उनहिं सौं), (उनहीं-सौं) (तिनहिं सौं, तिनहूँ पै।
संप्रदान	(उन),(ताहि),(तिनि), (तिन्ह)	उनकौं, उनहिं, तिनकौं, तिनहिं।	... ...
अपादान	...	(उनतैं), (तिनतैं)	(उनहूँ तैं), (तिनहूँ तैं)
संबंध	(उन), (तिन)	उनकी, तिनकी, उनके, तिनके, तिनिके, उनकौ, तिनकौ।	(उनहूँ की), (तिनहीं के)।
अधिकरण	(उनतैं), (ताकैं), तिनकैं	उन पर, तिन पर, (तिन पै), उनमैं, तिनमैं, (उन माँझ, (तिन माँहि),(तिनहिं पाहीं)।	(तिनहीं मैं), (ताहू मैं), (तिनहिं माहीं)।

निश्चयवाची : निकटवर्ती—

ब्रजभाषा में इस सर्वनाम के एकवचन और बहुवचन में मूल और विकृत रूप इस प्रकार होते हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	यह	ये, ए
विकृत	या	इन
अन्य	याहि	इन्हैं

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

अन्य सर्वनाम-रूपों के समान निकटवर्ती निश्चयवाची बहुवचन-रूप भी अनेक पदों में सूरदास द्वारा एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। विभिन्न कारकों में इनके प्रयोगों की सोदाहरण चर्चा नीचे की जाती है।

कर्ताकारक—इस कारक में बारह-तेरह रूपों का कवि ने प्रयोग किया है। इनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्ति रहित सामान्य प्रयोग। ख. बलात्मक प्रयोग।

क. **विभक्तिरहित सामान्य प्रयोग**—इन, इहिं, ए, यह, ये—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से तृतीय का प्रयोग तो कहीं-कहीं मिलता है; शेष चारों का सर्वत्र मिलता है।

अ. इन—इन (प्रहलाद) तौ रामहिं राम उचारे[४२]। दूतन कह्यौ, बड़ौ यह पापी, इन तौ पाप किये हैं धापी[४३]। बिप्र जन्म इन (अजामिल) जूवैं हारचौ[४४]। घूँघट-पट बदन ढाँपि, काहैं इन (यह नारि) राख्यौ (री)[४५]।

आ. इहिं—इहिं मोसौं करी ढिठाई[४६]। चाँपी इहिं मेरी[४७]। सखी-सखी सौं कहै बावरी, इहिं हमकौं निदरी[४८]। बहुत अचगरी इहिं करि राखी[४९]।

इ. ए—कोटि चंद वारौं मुख-छबि पर ए (कृष्ण) हैं साहु कै चोर[५०]।

ई. यह—यह अति हरिहाई[५१]। जौ यह बधू होइ काहू की[५२]। जौ यह संग बनि पढ़ि जाइ[५३]। डसै जिनि यह काहु[५४]।

उ. ये—न ये (भगवान) देखिकै मोहिं लुभाए[५५]। कबहुँ कियैं भक्ति के न ये (भगवान) रीझहीं[५६]। नंदहुँ तैं ये (कृष्ण) बड़े कहैहैं[५७]। बृंदावन वै सिसु तमाल, ये (प्रिया) कनकलता-सी गोरी[५८]।

ख. **बलात्मक प्रयोग**—इनहिं, इनहीं, एउ, येइ, येई, येऊ—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'इनहिं', 'इनहीं' और 'येई'—इन तीन रूपों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है और 'यउ' तथा 'येऊ' का कम। शेष का सामान्य रूप से प्रयोग मिलता है।

अ. इनहिं—ऐसी कहूँ भई नहिं होनी, जैसी इनहिं (मुरली) करी[५९]। ऐसे अपदाँव सब इनहिं (मन) कीन्हें[६०]। इनहिं (कन्हाई) गुबर्धन लियौ उठाई[६१]।

आ. इनहीं—असुर कह्यौ, इनहीं (ब्रह्म) हिरनाच्छहिं मारचौ। हिरनकसिपु इनहीं संहारचौ[६२] सूर स्याम इनहीं (मुरली) बहकाये[६३]। सूरस्याम कौं इनहीं (राधा) जाने[६४]।

इ. एउ—वै चतुर एउ (प्रिया) नहिं भोरी[६५]। एउ (अलि) बसत निसि नव जलजातनि[६६]।

---

४२. सा. ७-२। ४३. सा. ६-४। ४४. सा ६-४। ४५. सा. २१३१।
४६. सा. ५५५। ४७. सा. ५८९। ४८. सा. १९००। ४९. सा. ३०३७।
५०. सा. ३५९। ५१. सा. १-५१। ५२. सा. ९-४१। ५३. सा. ९-१७३।
५४. सा. ६३६। ५५. सा. ८-८। ५६. सा. ८-८। ५७. सा. १०-३११।
५८. सा. १९०४। ५९. सा. १२९५। ६० सा. २२४०। ६१. सा. ३०२८।
६२. सा. ७-७। ६३. सा. १२९९। ६४. सा. २०६०। ६५. सा. १९०४।
६६. सा. ३७६०।

ई. येइ--येइ माता येइ पिता जगत के[६७] ।

उ. येई—कंस बधन येइ (कृष्ण) करिहैं । ··· । भूमि भार येई हरिहैं[६८] । येई (कृष्ण) हैं सब ब्रज के जीवन[६९] । यह महिमा येई (स्याम) पै जानैं । ··· । उतपति प्रलय करत हैं येई[७०] । येई हैं रतिपति के मोहन, येई हैं हमरे पति-प्रान[७१] ।

ऊ. येऊ—येऊ (स्याम) नवल, नवल तुहूँ हौं[७२] । तुम हौ कुसल, कुसल हैं येऊ (स्याम[७३]) ।

२. कर्मकारक--इस कारक में भी तेरह-चौदह रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग, ख. विभक्तियुक्त प्रयोग और ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग--इस वर्ग में सूरदास द्वारा जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, उनमें मुख्य हैं—इन्हैं, इहिं, यह और याहि । इनमें से 'इहिं' और 'याहि' के कर्म-कारकीय प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं; परंतु शेष दोनों रूपों के बहुत कम पदों में दिखायी देते हैं ।

अ. इन्हैं—अब तौ इन्हैं (कृष्ण को) जकरि धरि बाँधौं[७४] ।

आ. इहिं—पर्वत सौं इहिं देहु गिराई[७५] । देखौ महरि सुता अपनी कौं, कहुँ इहिं कारैं खाई[७६] । इहिं तू जनि बरजै री[७७] ।

इ. यह—कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ[७८] ।

ई. याहि—हरि, याहि संहारौ[७९] । याहि अन्हवावहु[८०] । याहि मत मारौ[८१] । याहि मारि, तोहिं और बिबाहौं[८२] ।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनकौं, इनहिं और याकौं—केवल ये तीन रूप ही इस वर्ग में आते हैं इन सभी का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है ।

अ. इनकौं—को बाँधै को छोरै इनकौं (स्याम कौं)[८३] । मैया री, तू इनकौं (राधा को) चीन्हति[८४] ।

आ. इनहिं—कछु संबंध हमारौ इनसौं, तातैं इनहिं (स्याम-सखिहिं) बुलाई हैं[८५] । एक सखी कहै, इनहिं (स्यामहिं) नचावहु[८६] । इनहिं (कन्हाई को) तृना लै गयौ उड़ाई[८७] ।

---

६७. सा. ३९१ । ६८. सा. १० ८५ । ६९. सा. ३६७ ।
७०. सा. ३८० । ७१. सा. ४३५ । ७२. सा. २१६४ । ७३. सा. २१६७ ।
७४. सा. १०-३४० । ७५. सा. ७-२ । ७६. सा. ७४३ । ७७ सा. १३५७ ।
७८. सा. ३-१३ । ७९. सा. ३-११ । ८०. सा. ५-३ । ८१. ७-७ ।
८२. सा. १०-४ । ८३. सा. ३८० । ८४. सा. ७०० । ८५. सा. २१६३ ।
८६. सा. २९१६ । ८७. सा. ३०२८ ।

इ. याकौं—याकौं पावक भीतर डारौ[८८] । तातैं अब याकौं मति जारौ[८९] । को है याकौं मेटनहारौ[९०] । देखैं कहूँ नैन भरि याकौं[९१] ।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहीं, यहई, यहैं और याही कौं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं। अन्य कारकों के बलात्मक रूपों के समान इनका प्रयोग भी 'सूरसागर' के कुछ ही पदों में मिलता है ।

अ. इनहीं—बकी पियावन इनहीं आई[९२] ।

आ. यहई—सुनहु सूर वह यहई चाहै, तापर यह रिस पागै री[९३] ।

इ. यहैं—जसुमति कान्हहिं यहैं सिखावति[९४] ।

ई. याही कौं—याही कौं खोजति सबै, यह रही कहाँ री[९५] ।

३. करणकारक—इस कारक में दस-ग्यारह रूप ही मिलते हैं जिनको सुगम रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित रूप। ख. विभक्तियुक्त रूप । ग. बलात्मक प्रयोग ।

क. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनि और याहि केवल ये दो रूप इस वर्ग में आते हैं। इनका प्रयोग कुछ ही पदों में दिखायी देता है ।

अ. इनि—भवन लै इनि भेद बूझौं, सुनौं बचन रसाल[९६] ।

आ. याहि—कहौ याहि किन बाँस जाति की, कौनैं तोहिं बुलाई[९७] । जबहिं यह कहौंगी याहि[९८] ।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनतैं, इनसौं, इनहिं और यासौं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं। इन रूपों में से चतुर्थ का तो कम, परंतु शेष तीनों रूपों का अधिक प्रयोग किया गया है ।

अ. इनतैं—इनतैं (कृष्ण से) हम भए सनाथा[९९] । और भयौ इनतैं (राधा तैं) तुमकौं सुख[१] ।

आ. इनसौं—कतहिं रिसाति जसोदा इनसौं (कृष्ण से)[२] । कान्ह कहौ कछु माँगहु इनसौं[३] (गिरि देवता सों)। जब तैं इनसौं (राधा से) नेह लगायौ[४] ।

इ. इनहिं—इनहिं (जसोदहिं) कहन दुख आइयै, ये सबकौं उठति रिसाइ[५] ।

ई. यासौं—यासौं हमरौ कछु न बसाइ[६] । यासौं मेरौ नहीं उबार[७] । चतुरई फबै न यासौं[८] । बात कहत न बनत यासौं[९] ।

---

८८. सा. ७-२ । ८९. सा. ९-५ । ९०. सा. ९-२१
९१. सा. २१९१ । ९२. सा. ३०२८ । ९३. सा. १२८९ । ९४. सा. १०. २२१
९५. सा. ११०६ । ९६. सा. २७२१ । ९७. सा. १३१३ । ९८. सा. ३४२१
९९. सा. ९८४ । १. सा. २१६७ । २. सा. ३५९ । ३. सा. ९१४
४. सा. २१६७ । ५. सा. १४९१ । ६. सा. ७-७ । ७. सा. ५८५
८. सा. २८२५ । ९. सा. ३४१४ ।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहिं तैं, इनहीं तैं, इनहीं पैं, याही तैं और याहीं सौं—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं। इनके प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलते हैं।

अ. इनहिं तैं—गंगा प्रगट इनहिं तैं भई[१०]। इनहिं तैं ब्रज चैन रहिहै, माँगि भोजन खात[११]।

आ. इनहीं तैं—सित्र सिवता इनहीं तैं लई[१२]। इनहीं तैं (गिरि गोबर्धन तैं) ब्रजबास बसीनौं[१३]।

इ. इनहीं पै—ये उतपात मिटत इनहीं पै (कृष्ण से)[१४]।

ई. याही त—मनौ प्रेम की परनि परेवा, याही तैं पढ़ि लीनी[१५]।

उ. याही सौं—सूरदास गिरिधर बहुनायक, याही सौं निसिदिन रति मानी[१६]।

४. संप्रदान कारक—इस कारक में प्रयुक्त मुख्य तीन रूप सूर-काव्य में मिलते हैं—इन्हैं, इहिं और याकौं। इनमें से अंतिम का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है।

अ. इन्हैं—पै न इच्छा है इन्हैं (भगवान को) कछु वस्तु की[१७]।

आ. इहिं—एक बेर इहिं (नृपहिं) दरसन देइ[१८]।

इ. याकौं—जज्ञ भाग याकौं नहिं दीजै[१९]। याकौं आपन रूप जनाऊँ[२०]। वृथा दई हम याकौं गारी[२१]।

५. अपादान कारक—इस कारक में मुख्य दो रूप मिलते हैं—इनतैं और यातैं। इनमें से दूसरे का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है।

अ. इनतै—इनतैं प्रभु नहिं और बियौ[२२]।

आ. यातैं—साधु न या तैं और[२३]। अब लौं जानी बाँस बसुरिया, यातैं और न बंस[२४]। भली न यात कोई[२५]। घर है यातैं दूनौं[२६]।

६. संबंधकारक—इस कारक के अंतर्गत सीधे-सादे बारह प्रयोग मिलते हैं जिनमें 'की', 'के' और 'कौ' के योग से संबंधकारकीय रूप बनाये गये हैं। इनके अतिरिक्त अपवादस्वरूप 'केरी' का प्रयोग एक-दो पदों में दिखाथी देता है। इस प्रकार इस कारक के सर्वनाम-रूपों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. 'की' युक्त प्रयोग। ख. 'के' युक्त प्रयोग। ग. 'केरी' युक्त प्रयोग और घ. 'कौं' युक्त प्रयोग।

क. 'की' युक्त प्रयोग—इनकी, इनही की, याकी—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें दूसरा रूप बलात्मक है जिसका प्रयोग बहुत कम हुआ है। शेष दोनों रूप 'सूरसागर' में सर्वत्र मिलते हैं।

---

१०. सा. ३-१३। ११. सा. ८५०। १२. सा. ३-१३।
१३. सा. ८८९। १४. सा. ६००। १५. सा. ४१०४।
१६. सा. १३५२। १७. सा. ८-८। १८. सा. ९-२। १९. सा. ५-५।
२०. सा. ५५३। २१. सा. १३३२। २२. सा. ३१११। २३. सा. १३४८।
२४. सा. १३६०। २५. सा. १३६१। २६. सा. १२४१।

अ. इनकी—इनकी (कृष्ण की) खोज[२७]। इनकी (बिरहिनी की) चालहि[२८]। इनकी (कंस की) मीच[२९]। होवै जीति बिधाता इनकी[३०]।

आ. इनही की—इनही (कृष्ण ही) की ब्रज चलति बड़ाई[३१]।

इ. याकी—याकी अस्तुति[३२]। अकथ कथा याकी[३३]। याकी करनी[३४]। याकी अकथ कहानी[३५]। याकी मति[३६]। याकी सींवा[३७]।

ख. 'के' युक्त रूप—इनके, याके, याहू के—ये तीन रूप इस वर्ग में मिलते हैं। इनमें अंतिम रूप बलात्मक है। इन तीनों में से द्वितीय का प्रयोग सर्वत्र मिलता है; शेष दोनों कम प्रयुक्त हुए हैं।

अ. इनके—इनके (कृष्ण के) गुन अगमैया[३८]। गुन इनके (कृष्ण के)[३९]।

आ. याके—याके उतपात[४०]। याके चरित[४१]। ढंग याके[४२]। नैन याके[४३]।

इ. याहू के—याहू के गुन[४४]।

ग. 'केरी' युक्त प्रयोग—इस वर्ग में केवल एक रूप आता है—इहिं केरी। इसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलता है; जैसे—महिमा कौ जानै इहिं केरी[४५]।

घ. 'कौ' युक्त रूप—इस वर्ग के प्रमुख रूपों की संख्या चार है—इनहूँ कौ, इहिं कौ, याकौ और याही कौ। इनमें प्रथम और अंतिम रूप बलात्मक है। इन चारों में से केवल 'याकौ' का प्रयोग कवि ने सर्वत्र किया है; शेष रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं।

आ. इनहूँ कौ—बोलक इनहूँ (ऊधौ) को सुनि लीजै[४६]।

आ. इहि कौ—पुरुषारथ इहिं कौं[४७]।

इ. याकौ—तनु याकौ[४८]। क्रूर याकौ नाम[४९]। बाँस कुल याकौ[५०]। मोल नहिं याकौ[५१]।

ई. याही कौ—याही कौ राज[५२]।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में आठ-नौ रूप मिलते हैं—इन, इन पर, इन माहिं, इन माहीं, इहिं महियाँ, याकैं, या पर, यामैं, यही पर। 'इन पर' और 'यामैं' को छोड़कर सभी रूप बहुत कम पदों में मिलते हैं; इसलिए इनके विशेष वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

---

२७. सा. ४३१। २८. सा. १६३९। २९. सा. २९३१।
३०. सा. ३०३२। ३१. सा. ३०२८। ३२. सा. २०६०। ३३. सा. १-४४।
३४. सा. १२४९। ३५. सा. १०-२५६। ३६. सा. ३९१। ३७. सा. १-२२६।
३८. सा. ४२८। ३९. सा. १५६७। ४०. सा. १-४४। ४१. सा. १०-३३४।
४२. सा. १२३४। ४३. सा. २१२५। ४४. सा. १२५८। ४५. सा. १७३१।
४६. सा. ३४८२। ४७. सा. ६००। ४८. सा. ५५४। ४९. सा. २९५८।
५०. सा. १२५६। ५१. सा. १३६१। ५२. सा. १०-२७७।

अ. इन—सुरभि-ठान लिये बन तैं आवत, सबहि सुन इन री[५३]।

आ. इन पर—तन-मन इन पर (हरि पर) सब वारहु[५४]। लकुट लै लै त्रास कीन्हौ, करयौ इन पर ताम[५५]। सूरदास इन पर हम मरियत, कुबिजा के बस केसौ[५६]।

इ. इन माहिं—बहुरि भगवान कौं निरखि कह्यौ, इन माहिं गुन हैं सुभाए[५७]।

ई. इन माहीं—ये तौ भए भावते हरि के, सदा रहत इन माहीं[५८]।

उ. इहिं महियाँ—ना जानौं का है इहिं महियाँ लै उर सौं लपटावैं[५९]।

ऊ. याकैं—हम आईं याकैं जिहिं कारन, सो यह प्रगट सुनावति[६०]। प्रेम-भजन न नैंकु याकैं[६१]।

ऋ. या पर—या पर मैं रीझी हौं भारी[६२]।

ए. यामैं—अपनौ बिरद सम्हारहुगे तौ यामैं सब निबरी[६३]। हरि गुरु एक रूप नृप जान। यामैं कछु संदेह न आन[६४]। बन की रहनि नहीं अब यामैं, मधु हीं पागि गई[६५]।

ऐ. याही पर—कमल-भार याही पर लादौं[६६]।

सारांश—निश्चयवाची निकटवर्ती सर्वनाम के विभिन्न कारकों में जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तिसहित रूप	बलात्मक प्रयोग
कर्त्ता	इन, इहिं, (ए), यह, ये	......	इनहिं, इनहीं, (एउ), (यहौ), (येइ), येई, येऊ
कर्म	(इन), (इन्हैं), इहिं, (यह), (इनि), याहि	इनकौं, इनहिं, याकौं	इनहीं, यहई, यहै, याही कौं
करण	(इनि), याहि	(इनतैं), (इनपै), इनसौं (इनहिं), यासौं	(इनहिं तैं), (इनहीं तैं), (इनहीं पै), (याही तैं) (याही सौं)
संप्रदान	(इन्हैं), (इहिं)	याकौं	......
अपादान	......	(इनतैं), यातैं	......
संबंध	......	इनकी, याकी, (इनके) याके, (इहिं केरी) (इनको), (इहिं कौ), याकौं	(इनही की), याहू के, इनहूँ कौ, (याही कौं)

५३. सा. ३०२७। ५४. सा. १६१८। ५५. सा. ३०४६।
५६. सा. ४०७६। ५७. सा. ८-८। ५८. सा. २२३३। ५९ सा. ३४९१।
६०. सा. २०५९। ६१. सा. ३४१३। ६२. सा. १९०२। ६३. सा. १-१३०।
६४. सा. ६-५। ६५. सा. १३६२। ६६. सा. ५३३।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तिसहित रूप	बलात्मक रूप
अधिकरण	इन	इन पर, (इन माहिं), इन माहीं), (इहिं महियाँ), याकैं, (या पर), यामैं।	याही पर

बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

निश्चयवाची: दूरवर्ती सर्वनाम रूपों की तुलना में निकटवर्ती बहुवचन रूपों की संख्या कम है; फिर भी विभिन्न कारकों में सूरदास ने चालीस के लगभग रूपों का प्रयोग किया है। इनमें से प्रमुख रूपों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१. **कर्त्ताकारक—**इस कारक में ग्यारह-बारह रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग और ख. बलात्मक प्रयोग।

क. **विभक्तिरहित प्रयोग—इन, इनि और ये**—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र हुआ है।

अ. इन—एकै चीर हुतौ मेरे पर सो इन हरन चह्यौ[६७]। धन्य ब्रत इन कियौ पूरन[६८]। इन दीन्हौ मोकौं बिसराई[६९]। सूरदास ये लरिका दोऊ इन कब देखे मल्ल-अखारे[७०]।

आ. इनि—**इनि** तव राज बहुत दुख पाए[७१]। इनि मोकौं नीकैं परिचानचौ[७२]। चूक लई इनि मानि[७३]। निकसे स्याम सदन मेरे तैं इनि अँटकरि पहिचानी[७४]।

इ. ये—करत जज्ञ ये नास[७५]। ये सुकृत-धनहिं परिहरैं[७६]। ये बन फिरति अकेली[७७]।

ख. **बलात्मक प्रयोग—इनहिं, इनहीं, इनहूँ, येइ, येई, यउ, येऊ**—ये आठ रूप इस वर्ग के हैं। प्रायः इन सभी रूपों का प्रयोग अनेक पदों में किया गया है।

अ. **इनहिं—**जब दूतनि कौं इनहिं निवारचौ। वा भय तैं मोहिं इनहिं उबारचौ[७८]। इनहिं बधायौ कंस[७९]।

आ. **इनहीं—**यह संपति है तिहूँ भुवन की, सब इनहीं अपनाई[८०]। इनहीं मारचौ ताहि[८१]। इनहीं (ऊधौ और अक्रूर) हेरि मृगी गोपी सब, सायक ज्ञान हए[८२]।

६७. सा. १-२४७। ६८. सा. ७८३। ६९. सा. ९२३। ७०. सा. २९६८।
७१. सा. १-२८४। ७२. सा. १०३२। ७३. सा. ११२३। ७४. सा. २०४३।
७५. सा. ४-५। ७६. सा. ५-४। ७७. सा. ५०३। ७८. सा. ६-४।
७९. सा. ३५८७। ८०. सा. २२४२। ८१. सा. ३०३७। ८२. सा. ३५८८।

इ. इनहूँ—अर्जुन भीम महाबल जोधा इनहूँ मौन धरी[८३]।

ई. येइ—येइ सब देत बड़ैया[८४]। प्रभु-हिरदै येइ सालत[८५]।

उ. येई—येई घर - घर कहत-फिरत हैं[८६]।

ऊ. येउ—सुक-सनक मुनि येउ न जानत[८७]। येउ भए हरि-चेरे[८८]।

ऋ. येऊ—काटन दै दस सीस बीस भुज अपनौ कृत येऊ जो जानहिं[८९]। बात कहन कौं येऊ आवत[९०]। येऊ गये त्यागि[९१]। येऊ भई दिवानी[९२]।

२. कर्मकारक- इस कारक में मुख्य सात रूप मिलते हैं जिनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित प्रयोग, ख. विभक्तियुक्त प्रयोग, ग. बलात्मक प्रयोग।

अ. इन—जसुदा कहै सुनौ सुफलकसुत, मैं इन बहुत दुषनि सौं पारे[९३]।

आ. इन्हैं—बिष्णु, रुद्र, बिधि एकहिं रूप। इन्हैं जानि मति भिन्न स्वरूप[९४]। अबहीं आजु इन्हैं उद्धारौं ये हैं मेरे निज जन[९५]। राखौं नहीं इन्हैं भूतल पर[९६]।

इ. ये—चारि स्लोक कहे भगवान, ये ब्रह्मा सौं कहे भगवान[९७]। मैं तौ जे हरे हैं, ते तौ सोवत परे हैं, ये करै हैं कौनैं आन[९८]।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—इनकौं और इनहिं—ये दो रूप इस वर्ग में मिलते हैं इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है।

अ. इनकौं—कै इनकौं निरधार कीजिए, कै प्रन जात टरौ[९९]। लछमी इनकौ सदा पलोवै[१]। इनकौं ह्याँ तैं देहु निकास[२]। पै प्रभु जू इनकौं निस्तारौ[३]।

आ. इनहिं—काहूँ इनहिं दियौ बहकाइ[४]। आँजति इनहिं बनाइ[५]। मारि डारौ इनहिं[६]।

ग. बलात्मक प्रयोग—इनहुँ और इनहुँ कौं- ये दो बलात्मक रूप हैं जिनका प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलता है।

अ. इनहुँ—हत्यौ गजराज त्यौं इनहुँ मारै[७]।

आ. इनहुँ कौं—सुनहु सूर अपनाइ इनहुँ कौं[८]। मन भयौ ठीढ़ इनहुँ कौं कीन्हौ[९]।

३. करणकारक—इन, इनतैं, इनसौं, इनहिं और इनहीं त—ये मुख्य पाँच रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें प्रथम तीन सामान्य हैं और अंतिम बलातमक। प्रयोग की

---

८३. सा. १-२५४। ८४. सा. १३९३। ८५. सा. ३०३७। ८६. सा. २२६२। ८७. सा. १६०९। ८८. सा. २२२३। ८९. सा. ९-९५। ९०. सा. १५३२। ९१. सा. २२४५। ९२. सा. २२६१। ९३. सा. २९६८। ९४. सा. ४-५। ९५. सा. ३८२। ९६. सा. ८२२। ९७. सा. १-२३०। ९८. सा. ४८४। ९९. सा. १-२२०। १. सा. ३-१३। २. सा. ४-५। ३. सा. ७-२। ४. सा. ९२३। ५. सा. २२५८। ६. सा. ३०६७। ७. सा. ३०६७। ८. सा. २२२५। ९. सा. २२५२।

दृष्टि से केवल द्वितीय और तृतीय रूप महत्व के हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र मिलता है; शेष रूप इने-गिने पदों में ही दिखायी देते हैं।

अ. इन—बृथा भूले रहत लोचन इन कहै कोउ बात[10]।

आ. इनतैं—इनतैं कछु न सरी[11]। इनतैं कछू न खूटै[12]। इनतैं प्रगटी मूर्ति अपार[13]।

इ. इनसौं—काल्हि कही मैं इनसौं बैसै[14]। ऐसे बचन कहौं गी इनसौं[15]। अब इनसौं वह भेद कियौ कछु[16]। इनसौं तुम परतीति बढ़ावत[17]।

ई. इनहिं—अबहिं मोहिं बूझिहैं, इनहिं कहिहौं कहा[18]।

उ. इनहीं तैं—सुख-संपति सकल सूर इनहीं तैं पावत[19]।

४. संप्रदान कारक—इनकौं, इनहिं और इनहीं—ये मुख्य तीन रूप संप्रदानकारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, । इनमें प्रथम का प्रयोग अधिक है, द्वितीय का कम। इनके अतिरिक्त एक बलात्मक रूप 'इनहीं कौं' भी दो-एक पदों में दिखायी देता है।

अ. इनकौं—इनकौं वै सुखदाई[20]। जो कीजै सो इनकौं थोर[21]। कछुक दिन सुहाग इनकौं, तौ सबै ये लेत[22]

आ. इनहिं—ब्रत-फल प्रगट इनहिं दिखरावौं[23]।

इ. इनहीं—रसना-स्रवन नैन की होते, की रसना हीं इनहीं दीन्ही[24]।

ई. इनहीं कौं—सूर स्याम इनहीं कौं सौंपी[25]।

५. अपादानकारक—इनतैं, इनसौं, इनि तैं—ये तीन रूप इस कारक में मिलते हैं। इनमें केवल प्रथम रूप ही अनेक पदों में प्रयुक्त हुआ है। शेष दोनों रूप कहीं-कहीं ही दिखायी देते हैं।

अ. इनतैं—दूढ़ न इनतैं आन[26]। इनत बड़ौ और नहिं कोऊ[27]। कृपिन न इनतैं और[28]।

आ. इनसौं—यह मन करि जुवतिनि हेरत, इनसौं करियै गोप तबै[29]।

इ. इनि तैं—इनि तैं लोभी और न कोई[30]।

६. संबंधकारक—इनकी, इनके और इनकौ—ये सामान्य रूप इस कारक में मिलते हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र किया गया है। बलात्मक रूप इनहूँ कौ, इनहीं के और इन्हनि कौ दो-एक पदों में ही दिखायी देते हैं।

१०. सा. २३०९। ११. सा. १-२५४। १२. सा. २-१९। १३. सा. ३-...
१४. सा. १७६७। १५. सा. १७७१। १६. सा. २२२३। १७. सा. २२...
१८. सा. १९५१। १९. सा. ९-१६७। २०. सा. २३३३। २१. सा. २३...
२२. सा. ३५७८। २३. सा. ७९९। २४. सा. १८५८। २५. सा. २३...
२६. सा. १०२६। २७. सा. १३९६। २८. सा. २३६६। २९. सा. १७...
३०. सा. २२७८।

अ. इनकी—इनकी गति[३१]। चतुराई इनकी[३२]। निठुराई इनकी[३३]। इनकी लँगराई[३४]। सेवा इनकी[३५]।

आ. इनके कर्म[३६]। चरित इनके[३७]। इनके चीर[३८]। इनके पितु-मातु[३९]। इनके बिमुख बचन[४०]।

इ. इनकौ—इनकौं कह्यौ[४१]। इनकौ गुन-अवगुन[४२]। दुख इनकौ[४३]। इनकौ बदन[४४]। बार न खसैं इनकौ[४५]। ब्रत देखि इनकौ[४६]।

ई. इनहूँ की—दसा भई इनहूँ की[४७]।

उ. इनिही के— गुन इनिही के[४८]।

ऊ. इन्हनि कौ—इन्हनि कौ काज[४९]।

७. अधिकरण कारक इनक, इन पर, इन पै, इनम—ये चार मुख्य सामान्य और 'इनहूँ मैं' एक बलात्मक—कुल पाँच रूप इस कारक में मिलते हैं। इनमें सबसे अधिक प्रयोग 'इनमैं' का किया गया है।

अ. इनकैं—इनकैं नैंकु दया नहीं[५०]। सोच-बिचार कछू इनकैं नहिं[५१]।

आ. इन पर—सूर स्याम इन पर कह रीझे[५२]। कंस...करत इन पर ताम[५३]।

इ. इन पै—नित ही नित बूझति ये मोसौं, मैं इन पै सतराति[५४]।

ई. इनमैं—इनमैं कछू नाहिं तेरौ[५५]। तपसियनि देखि कह्यौ, क्रोध इनमैं बहुत[५६]। इनमैं कौ पति आहि तिहारौ[५७]। धिक इन गुरजन कौं, इनमैं नहीं बसीजै[५८]।

सारांश—निश्चयवाची निकटवर्ती सर्वनाम-रूपों के विभिन्न कारकों में जो प्रयोग ऊपर दियें गये हैं; संक्षेप में वे इस प्रकार हैं —

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	(इन), इनि, ये	...	इनहिं, इनहीं, इनहूँ, येइ, (येई), येउ, येऊ
कर्म	(इन), इन्हैं, ये	इनकौं, इनहिं	(इनहुँ), इनहुँ कौं
करण	...	इनतैं, इनसौं, (इनहिं)	(इनहीं तैं)

३१. सा. १-३२३। ३२. सा. १७७१। ३३. सा. २२५४।
३४. सा. २२८९। ३५. सा. २२८९। ३६. सा. ७-२।
३७. सा. २३९३। ३८. सा. ७८३। ३९. सा. २२६५।
४०. सा. १९२७। ४१. सा. ८४३। ४२. सा. २२५७। ४३. स. ५३०।
४५. सा. १६३३। ४५. सा. ३०२९। ४६. सा. ७७७। ४७. सा. २३१६।
४८. सा. २२५२। ४९. सा. २९६७। ५०. सा. २२४३। ५१. सा. ३५२५।
५२. स. २२८३। ५३. स. ३०३९। ५४. सा. २०४३। ५५. सा. ३३०।
५६. सा. ६-८। ५७. सा. ९-४५। ५८. सा. ३३०।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
संप्रदान	...	इनकौं, (इनहिं), (इनहीं)	(इनहीं कौं)
अपादान	...	इनतैं, (इनसौं), (इनि तैं)	...
संबंध	...	इनकी, इनके, इनको	(इनहूँ की), (इनिहीं के
अधिकरण	...	इनकैं, इन पर, (इनपै), इनमैं	...

संबंधवाचक—

व्रजभाषा में संबंधवाचक सर्वनाम के एकवचन और बहुवचन, मूल, विकृत और अन्य रूप इस प्रकार होते हैं —

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	जो	जे
विकृत	जा	जिन
अन्य	जाहि, जिह, जासु	जिन्हे, जिन्हैं

एकवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

संबंधवाचक एकवचन सर्वनामों और बहुवचन के एकवचन में प्रयुक्त प्रमुख रूपों की संख्या पचास के आसपास हैं। विभिन्न कारकों में इनके प्रयोगों की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जाती है।

१. कर्ताकारक—जिन, जिनहिं, जिनि, जिहिं, जु, जो, जोइ, जोई और जौन— ये नौ रूप इस वर्ग में आते हैं। ये सभी विभक्तिरहित हैं और इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'जोई' के अतिरिक्त शेष आठों रूपों का प्रयोग अनेक पदों में किया गया है।

अ. जिन—बिदुर कह्यौ, देखौ हरि माया। जिन यह सकल लोक भरमाया[५९]। धन्य धन्य कंसहि कहि मोहिं जिन पठायौ[६०]। जिन पहिलैं पलना पौढ़े पय पिवत पूतना घाली[६१]। यह लै देहु ताहि फिरि मधुकर, जिन पठए हित गाइ[६२]।

आ. जिनहिं—भले जु भले नंदलाल, वैऊ भली, चरन जावक पाग जिनहिं रँगी[६३]। जानति हैं तुम जिनहिं पठाए[६४]। बूझौ जाइ जिनहिं तुम पठए[६५]।

इ. जिनि—धन्य जसोदा भाग तिहारौ जिनि ऐसौ सुत जायौ[६६]। सखी री

५९. सा. १-२८४। ६०. सा. २९४४। ६१. सा. ३०३०। ६२. सा. ३८११।
६३. सा. २७०४। ६४. सा. ३५१०। ६५. सा. ३९५०। ६६. सा. १०-८७।

मुरली लीजै चोरि, जिनि गोपाल कीन्है अपनैं बस[६७]। धन्य धन्य जिनि तुम सुत पायौ[६८]।

ई. जिहिं—गोपाल तुम्हारी माया महाप्रबल जिहिं सब जग बस कीन्हौ हो[६९]। प्रहलाद हित जिहिं असुर मारचौ[७०]। जठर अगिनि अंतर उर दाहत जिहिं दस मास उबारचौ[७१]।

उ. जु—ताहू सकुच सरन आए की होत जु निपट निकाज[७२]। वा भौंह की छबि निरखि सु को जु न व्रत तैं टरै[७३]।

ऊ. जो—मन बानी कौं अगम-अगोचर सो जानै जो पावै[७४]। पोषन भरन बिसंभर साहब जो कलपै सो काँचौ[७५]। सूरदास जो चरन-सरन रह्यौ सो जन निपट नींद भरि सोयौ[७६]।

ए. जोइ—ताहि कैं हाथ निरमोल नग दीजियै जोइ नीकैं परखि ताहि जानै[७७]। कलिजुग मैं यह सुनिहै जोइ[७८]। नहीं त्रिलोकी ऐसौ कोइ। भक्तनि कौं दुख दै सकै जोइ[७९]।

ऐ. जोई—सात बैल ये नाथै जोई[८०]।

ओ, जौन—स्याम कौं तुम ऐसैं ठग लियौ, कछु न जानै जौन[८१]। ठगत-फिरत जुवतिनि कौं जौन[८२]। जाकैं हृदय जौन, कहै मुख तैं तौन[८३]। बार-बार जननी कहि मोसौं माखन मागत जौन[८४]।

२. कर्मकारक—इस कारक में सात रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों में रखा जा सकता है—क. विभक्तिरहित और ख. विभक्ति युक्त।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—जाहि, जिहिं, जो और जोइ—ये चार रूप इस वर्ग में मिलते हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग सूरदास ने अनेक पदों में किया है।

अ. जाहि—वेद-पुरान-सुमृत सबै रे सुर-नर सेवत जाहि[८५]। नंद-घरनी जाहि बाँध्यौ[८६]। अति प्रचंड यह मदन महाभट, जाहि सबै जग जानत[८७]।

आ. जिहिं—असुर अजितेंद्रि जिहिं देखि मोहित भए, रूप सो मोहिं दीजै दिखाई[८८]। तुमतैं को है भावती, जिहिं हृदय बसाऊँ[८९]।

---

६७. सा. ६५७। ६८. सा. ९२१। ६९. सा. १-४४। ७०. सा. १-३०६।
७१. सा. १-३३६। ७२. सा. १-१८१। ७३. सा. ४१८७। ७४. सा. १-२।
७५. सा. १-३२। ७६. सा. १-५४। ७७. सा. १-२२९। ७८. सा. ३-१३।
७९. सा. ५-३। ८०. सा. ४१९२। ८१. सा. ७१९। ८२. सा. १५९३।
८३. स. १७४९। ८४. सा. २९७५। ८५. स. १-३२५। ८६. सा सा. ३०२७।
८७. सा. ४०२६। ८८. सा. ८-१०। ८९. सा. २४१०।

इ. **जो**--**जो** प्रभु अजामील कौं दीन्हौ सो पाटौ लिखि पाऊँ[९०] । ब्यास कह्यौ जो, सुक सो गाइ[९१] ।

ई. **जोइ**—इंद्री-रस-बस भयौ, भ्रमत रह्यौ, जोइ कह्यौ सो कीनौ[९२] । जोइ मैं कहौं, करौ तुम सोई[९३] ।

ख. **विभक्तियुक्त प्रयोग—जाकौं** और **जिनकौं**—इन बलात्मक रूपों में से अंतिम का कम और प्रथम का अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है ।

अ. **जाकौं**—जाकौं दीनानाथ निवाजैं[९४] । जाकौं हरि अंगीकार कियौ[९५] । उलटी गाढ़ परी दुर्बासैं, दहत सुदरसन जाकौं[९६] । जाकौं देखि अनंग अनंगत[९७] ।

आ. **जिनकौं**—ब्रह्मादिक खोजत नित जिनकौं (हरि कौं)[९८] । मैं जिनकौं (स्याम कौं) सपनेहुँ नहि देख्यौ[९९] ।

३. **करणकारक**—इस कारक में मुख्य पाँच रूप मिलते हैं जिनमें 'जिहिं' विभक्ति रहित हैं; 'जातैं' और 'जासौं' विभक्तियुक्त हैं, एवं 'जाहि सौं' और 'जाही सौं' बलात्मक हैं । इनमें से द्वितीय वर्ग के अर्थात् विभक्तियुक्त दोनों प्रयोग तो सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं, शेष तीनों प्रयोग इने-गिने पदों में ही मिलते हैं ।

अ. **जिहिं**—देहु मोहि ज्ञान जिहिं सदा जीजै[१] ।

आ. **जातैं**—देवदूत कह, भक्ति सो कहियै, जातैं हरिपुर-बासा लहियै[२] । ज्यौं नृप प्रान गए सुत अपनैं, राँचि रह्यौ जो जातैं[३] ।

इ. **जासौं**—ऐसौ को पर-बेदन जानै, जासौं कहि जु सुनावैं[४] । धन्य धन्य जासौं अनुरागे[५] । मोसी और कौन प्रिय तेरैं, जासौं प्रेम जनावैंगी[६] । जासौं हित ताकी गति ऐसी[७] ।

ई. **जाहि सौं**—सूर मिलै मन जाहि जाहि सौं[८] ।

उ. **जाही सौं**—जाही सौं लगत नैन[९] ।

४. **संप्रदानकारक—जाकौं**, **जाहि** और **जिहिं**—केवक तीन रूप इस कारक में मिलते हैं जिनका भी प्रयोग बहुत कम पदों में किया गया है ।

अ. **जाकौं**—जाकौं राजरोग कफ ब्यापत[१०] ।

आ. **जाहि**—अति सुकुमार डोलत रस भीनौं, सो रस जाहि पियावै हो[११] ।

---

९०. सा. १-१४६ । ९१. सा. १-२२६ । ९२. सा. १-१२१ । ९३. सा. ७९० । ९४. सा. १-३६ । ९५. सा. १-३८ । ९६. सा. १-११३ ९७. सा. २०२० । ९८. सा. ८०० । ९९. सा. १७३१ । १. सा. ८-१६ । २. सा. ३-१३ । ३. सा. ३६७९ । ४. सा. २२५६ । ५. सा. २५३८ । ६. सा. २७२६ । ७. सा. ३१३५ । ८. सा. ४१४७ । ९. सा. २४१८ । १०. सा. ३७२५ । ११. सा. २-१० ।

इ. जिहिं—सूरदास बलि गयौ राम कैं निगम नेति जिहिं गायौ[१२] ।

५. अपादान कारक—इस कारक में 'जातैं' या 'जिहिं तैं'-जैसे रूप हो सकते हैं, परंतु कदाचित् सूरदास ने इनका प्रयोग नहीं किया है।

६. संबंध कारक—इस कारक में बारह के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—जा, जासु और जाहि—ये तीन प्रयोग इस वर्ग में आते हैं। इनमें सबसे कम प्रयोग 'जासु' का किया गया है।

अ. जा—जा उर[१३]। जा मन[१४]। जा सदन[१५]।

आ. जासु—तन अभिमान जासु[१६]।

इ. जाहि—राधा है जाहि नाम[१७]। जाहि मन[१८]। मन जाहि[१९]।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में 'की' युक्त जाकी, जाहिकी, जिनकी; 'के' युक्त जाके, जिनके; 'केरो' युक्त जा केरौ; और 'कौ' युक्त जाकौ, जिनकौ, जिनिकौ आदि आते हैं। इनमें से 'जाहि की', 'जा केरौ' और 'जिनिकौ' का प्रयोग कम हुआ है, 'जिनके' और 'जिनकौ' का प्रयोग कुछ अधिक है, शेष रूप सर्वत्र मिलते हैं।

अ. जाकी—उत्पत्ति जाकी[२०]। जाकी घरनि[२१]। तिया जाकी सिया[२२]। जाकी रहनि-कहनि[२३]। जाकी सीतल छाँहिं[२४]।

आ. जाहि की—खोटी करनी जाहि की[२५]।

इ. जिनकी—रमा जिनकी (कृष्ण की) दासि[२६]। जिनकी (कृष्ण की) होति बड़ाई[२७]। जिनकी (गिरिधरन की) टेक[२८]।

ई. जाके—जाके कुल[२९]। जाके गृह[३०]। चरन सप्त पताल जाके[३१]। जाके सेवक[३२]।

उ. जिनके—वे अक्रूर क्रूर कृत जिनके[३३]। जिनके (कृष्ण के) गुन[३४]। जिनके (कृष्ण के) तुम सखा[३५]।

ऊ. जा केरौ—सीतल सिंधु जनम जा केरौ[३६]।

---

१२. सा. ९-५५। १३. सा. ३७०७। १४. सा. ८००।
१५. सा. २४७४। १६. सा. ३-१३। १७. सा. १९७८।
१८. सा. २९१६। १९. सा. ३१४७। २०. सा. १२६७।
२१. सा. ९-१३३। २२. सा. ९-१४२। २३. सा. ३६००। २४. सा. ९-७५।
२५. सा. १६१८। २६. सा. १८१९। २७. सा. १७६५। २८. सा. ३७२४।
२९. सा. १-३४। ३०. सा. ६-४। ३१. सा. २-२७। ३२. सा. १-३९।
३३. सा. ३७६३। ३४. सा. ४५३। ३५. सा. ३५९७। ३६. सा. ३३५४।

ॠ. जाकौ—जाकौ अंत[३७] । जाकौ जस[३८] । कान्ह जाकौ नाउँ[३९]

ए. जिनकौ—जिनकौ (माधौ को) बदन[४०]

ऐ. जिनिकौ—भक्तबछल बानौ जिनिकौ (हरि कौ)[४१] ।

७. अधिकरणकारक—इस कारक में दस-ग्यारह मुख्य रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको, विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त, दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

क. विभक्तिरहित प्रयोग— जामैं, जाहि, और जिहिं—ये तीन रूप इस वर्ग के हैं जिनमें प्रथम दो का प्रयोग बहुत कम और अंतिम का सामान्य रूप से हुआ है ।

अ. जामैं—तीनौं गुन जामैं नहिं रहत[४२] ।

आ. जाहि—बीते जाहि सोइ पै जानै[४३] । हमरे मन की सोई जानै जाहि बीती होइ ।[४४]

ई. जिहिं—इहिं माया सब लोगनि लूटचौ, जिहिं हरि कृपा करी सो छूटचौ[४५] । श्री भगवान कृपा जिहिं करै[४६] । जिहिं बीतै सो जानै[४७] ।

ख. विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में 'कै', 'पर', 'पै', 'मैं', 'माहिं' और 'महियाँ' से युक्त जाकैं, जिनकैं, जापर, जिहिं पर, जापै, जामहिं, जिहिं महियाँ और जामैं रूप आते हैं । इन आठ रूपों में से 'जा महिं' और 'जिहिं महियाँ' का बहुत कम; 'जिनकैं', 'जिहिं पर' और 'जापै' का सामान्य और शेष रूपों का सर्वत्र प्रयोग किया गया है ।

अ. जाकैं[४८]—धनि गोकुल, धनि नंद जसोदा जाकैं हरि अवतार लियौ[४९] । सूर धन्य तिहिं के पितु-माता, भाव-भगति है जाकैं[५०] । तोसी जाकैं बाम[५१] । लहनों ताकौ जाकैं आवै[५२] ।

आ. जिनकैं—वै प्रभु बड़े सखा तुम उनके, जिनकैं सुगम अनीति[५३] ।

इ. जापर—जापर दीनानाथ ढरै[५४] । जापर कृपा करै करुनामय[५५] । धन्य पिता जापर परफुल्लित राघव भुजा अनूप[५६] । जापर कहौ ताहि पर धावै[५७] ।

ई. जिहिं पर—सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ, जिहिं पर कृपा करै[५८] ।

उ. जापै—प्रेम-कथा सोई पै जानै, जापै बीती होइ[५९] ।

ऊ. जामहिं—अंतहु सूर सोइ पै प्रगटै, होइ प्रकृति जो जा महिं[६०] ।

---

३७. सा. ३९३ । ३८. सा. ६-४ । ३९. सा. १४५३ । ४०. सा. ३१९९ ।
४१. सा. २९५० । ४२. सा. ३-१३ । ४३. सा. ३३५७ । ४४. सा. ३८०० ।
४५. सा. १-२८४ । ४६. सा. १-२८९ । ४७. सा. २२९७ ।

४८. 'जाकैं' रूप एकवचन है । इसलिए गोकुल, नंद और जसोदा से इसका संबंध अलग-अलग है । 'जसोदा' शब्द के पूर्व 'धनि' शब्द लुप्त समझना चाहिए ।

४९ सा. १०-२५० । ५०. सा. ११७८ । ५१. सा. १८४४ । ५२. सा. २२१५ ।
५३. सा. ३८८६ । ५४. सा. १-३५ । ५५. सा. १-२५७ । ५६ सा. ९.१३४ ।
५७. सा. ९२७ । ५८. सा. १-३५ । ५९. सा. ३५४२ । ६०. सा. ३१८७ ।

ॠ. जिहिंमहियाँ—अब और कौन समान त्रिभुवन सकल गुन जिहिं महियाँ[६१]।

ए. जामैं—तीनों गुन जामैं नहिं रहत[६२]। ये लुब्धे हैं जाम[६३]। जामैं प्रिय प्राननाथ, नंद-नँदन नाहीं[६४]।

ऐ. जिनहिं मैं—सूरदास सोई जन जानै, जिनहिं मैं बीति[६५]।

सारांश—संबंधवाचक सर्वमानों के विभिन्न कारकों में प्रयुक्त जिन रूपों के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप
कर्त्ता	जिन, जिनहिं, जिनि, जिहिं, जु, जो, जोइ, (जोई), जौन	... ...
कर्म	जाहि, जिहिं, जो, जोइ	जाकौं, (जासु कौं), जिनकौं
करण	(जिन), (जिहिं)	जातैं, जासौं, (जाहि सौं), जाही सौं
संप्रदान	(जाहि), जिहिं)	(जाकौं)
अपादान	...	...
संबंध	जा, जासु), जाहि	जाकी, (जाहि की, जिनकी, जाके, जिनके, (जा केरो), जाकौ, जिनकौ, (जिनिकौ)।
अधिकरण	जाहि, (जिनहिं), जिहिं	जाकैं, जिनकैं, जापर, (जिहिं पर), जापै, (जामहिं), (जिहिं महियाँ, जामैं, जिनहिं मैं।

बहुवचन रूपों का कारकीय प्रयोग—

इस प्रकार के रूपों की संख्या बीस के आसपास है। विभिन्न कारकों में प्रयुक्त प्रमुख रूप इस प्रकार हैं—

१. कर्त्ताकारक—जिन, जिनि, जे, जेइ और जो—ये रूप इस कारक में मिलते हैं। इनमें सब विभक्तिरहित हैं। अंतिम 'जो' रूप एकवचन है जिसका अपवादस्वरूप प्रयोग एक पद में बहुवचन में किया गया है। शेष रूपों में 'जे' का प्रयोग संबसे अधिक किया गया है।

अ. जिन—अंतकाल हरि हरि जिन कह्यौ[६६]।

आ. जिनि—जिनि वह सुधा पान सुख कीन्हौ[६७]। जिनि पायौ अमृत-घट पूरन[६८]।

---

६१. सा. १०७२। ६२. सा. ३-१३। ६३. सा. २२३५। ६४. सा. ३५९७। ६५. सा. ३९०५। ६६. सा. ६-३। ६७. सा. २२३५। ६८. सा. २२६१।

इ. जे – जे हरि सुरति करावत[६९]। जे जाँचे रघुबीर[७०]। जे (गैयाँ) चरहिं जमु[ना] कैं तीर, दूनैं दूध चढ़ीं[७१]।

ई. जेइ—अहो नाथ जेइ-जेइ सरन आए, तेइ तेइ भए पावन[७२]।

उ. जो—इस एकवचन रूप के साथ प्रयुक्त बहुवचन क्रिया 'सुनैं' और 'गावैं' त[था] बहुवचन नित्यसंबंधी रूप 'तिनकैं' से स्पष्ट है कि 'जो' का प्रयोग कवि[ने] बहुवचन में ही किया है; जैसे—राधा-कृष्न केलि-कौतूहल, स्रवन सुनैं, [जो] गावैं। तिनकैं सदा समीप स्याम नितही आनंद बढ़ावैं[७३]।

२. कर्मकारक—जिनकौं, जिहिं और जे—ये तीन रूप कर्मकारक में मिलते [हैं] जिनका प्रयोग सामान्य रूप से ही किया गया है।

अ. जिनकौं—जिनकौं देखि तरनि-तनु त्रासा[७४]।

आ. जिहिं—चारो ओर निसिचरी घेरे नर जिहिं देखि डराहिं[७५]।

इ. जे—मैं तो जे हरे हैं, ते तो सोवत परे हैं[७६]। गैयाँ धाई जाति सबन के आ[गे] जे बृषभानु दई[७७]। को बरनैं नाना बिधि ब्यंजन, जे बनए नंद-नारि[७८]।

३. करणकारक—इस कारक में एक रूप 'जिनसौं' मिलता है जिसका प्रयो[ग] अपवादस्वरूप ही दो-एक पदों में दिखायी देता है; जैसे—नाहीं भरत सत्रुहन सुंदर, जिनसौं चित्त लगायौ[७९]।

४. संप्रदानकारक – इस कारक में भी केवल एक प्रमुख रूप मिलता है 'जिनहिं' जिसका प्रयोग प्रायः सर्वत्र किया गया है; जैसे—ब्रह्म जिनहिं यह आयुस दीन्हौ[८०]। सूरदास धिक् धिक् है तिनकौं, जिनहिं न पीर परारी[८१]।

५. अपादान कारक—इस कारक में भी केवल एक मुख्य रूप 'जिनहीं' दो-एक पदों में दिखायी देता है; जैसे—जेइ चरन सनकादिक दुरलभ जिनहीं निकसी गंग[८२]।

६. संबंधकारक—जाकौ, जिन, जिनको, जिनके, जिनकौ और जिनि—ये मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं। इनमें अपवादस्वरूप प्रयोग है 'जाकौ' जो एकवचन होते हुए भी दो-एक पदों में बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। शेष रूपों में से 'जिनकौ' और 'जिनकौ' का प्रयोग अधिक हुआ है। इनमें द्वितीय और अंतिम रूप विभक्तिरहित हैं।

अ. जाकौ—यह एकवचन है, फिर भी 'हम' के संबंध से स्पष्ट है कि इसका प्रयोग

६९. सा. २-१७। ७०. सा. ९-१६। ७१. सा. १०-२४। ७२. सा. १०-२५१।
७३. सा. २८२६। ७४. सा. २९२२। ७५. सा. ९-७५। ७६. सा. ४८४।
७७. सा. ६१२। ७८. सा. ८३१। ७९. सा. ९-१४६।
८०. सा. १६०५। ८१. सा. २३४५। ८२. सा. २४६६।

कवि ने बहुवचन में ही किया है; जैसे—हम (जुवति) कह जोग जानैं, जियत जाकौ रौन[८३]।

आ. जिन—बल-मोहन जिन नाऊँ[८४]। तेऊ मोहे जिन मति भोरी[८५]।

इ. जिनकी—जिनकी आस[८६]। बधू हैं जिनकी[८७]। सीस की मनि हरी जिनकी[८८]। जिनकी यह सब सौंज[८९]।

ई. जिनके—जिनके मन[९०]।

उ. जिनकौ—जिनकौ जस[९१]। जिनकौ प्रिय[९२]। जिनकौ मुख[९३]।

ऊ. जिनि—सुनि सखि वे बड़भागी मोर। जिनि पाँखनि कौ मुकुट बनायौ, सिर धरि नंदकिसोर[९४]।

७. अधिकरण कारक—जिनकैं, जिन माहिं, जिन माहीं—ये तीन रूप इस कारक में मिलते हैं। इनका प्रयोग कहीं-कहीं ही किया गया है; जैसे—

अ. जिनकैं—एक पतिव्रत हरि-रस जिनकैं[९५]।

आ. जिन माहिं—ऐसे लच्छन हैं जिन माहिं[९६]।

इ. जिन माहीं—हरि मूरत जिन माहीं[९७]।

सारांश—संबंधवाची बहुवचन सर्वनाम रूपों के जो उदाहरण विभिन्न कारकों में ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप
कर्ता	(जिन), (जिनि), जे, (जेइ), जो	...
कर्म	(जिहिं), जे	(जिनकौं)
करण	...	(जिनसौं)
संप्रदान	...	(जिनहिं)
अपादान	...	(जिनहीं)
संबंध	(जिन), (जिनि)	(जाकौ), जिनकी (जिनके), जिनकौ।
अधिकरण	...	(जिनकैं), (जिन माहिं), (जिन माहीं)।

---

८३. सा. ३९९७। ८४. सा. २९०५। ८५. सा. २९०८।
८६. सा. २३०२। ८७. सा. १-२५२। ८८. सा. ३९८३। ८९. सा. २४३५।
९०. सा. ३९८८। ९१. सा. ९-१६७। ९२. सा. ३२२४। ९३. सा. १-५३।
९४. सा. ४७७। ९५. सा. ३५५२। ९६. सा. ३-१३। ९७. सा. ३९२४।

नित्यसंबंधी सर्वनाम—

व्रजभाषा में नित्यसंबंधी सर्वनामों के एकवचन और बहुवचन में मूल और विकृत रूप इस प्रकार हैं—

रूप	एकवचन	बहुवचन
मूल	सो, सु	ते, से
विकृत	ता	तिन
अन्य	ताहि, तासु	तिनैं, तिन्हैं

एकवचन के कारकीय प्रयोग—विभिन्न कारकों में उक्त एकवचन मूल, विकृत और अन्य रूपों के, विभक्तिरहित, विभक्तियुक्त और बलात्मक, जो मुख्य रूप सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे नीचे दिये जाते हैं। पुरुषवाचक अन्य पुरुष और निश्चयवाचक दूरवर्ती से भिन्नता दिखाने के लिए नित्यसंबंधी रूपों के साथ पूरा वाक्य उद्धृत किया गया है।

१. कर्त्ताकारक—इस कारक में बारह के लगभग रूप मिलते हैं जिनमें कुछ विभक्तिरहित हैं और कुछ बलात्मक।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—तिहीं, तौंन, सु, से और सो—ये रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें 'सु' का अधिक और शेष रूपों का सामान्य प्रयोग मिलता है।

अ. तिहीं—जिहिं सुत कैं हित बिमुख गोबिंद हैं, प्रथम तिहीं मुख जारयौ[१८]।

आ. तौंन—रोकनहारौ नंद महर सुत, कान्ह नाम जाकौ है तौंन[१९]।

इ. सु—मैं यह ज्ञान ठगीं ब्रज-बनिता, जो दियौ सु क्यौं न लहौं[१]। जाकैं तन होइ सु जानै[२]। वा भौंह की छबि निरखि नैंननि, सु को जु न ब्रत तैं टरै[३]।

ई. से—सूरदास ब्रजनाथ हमारे जे, से भए उदास[४]।

उ. सो—जो कलपै सो काँचौ[५]।

ख. बलात्मक प्रयोग—तेइ, तेई, तेऊ, सोइ, सोई, सोऊ और वेऊ—ये बलात्मक रूप कर्त्ताकारक में मिलते हैं। इनमें 'सोइ' और 'सोऊ' का अधिक और शेष का प्रयोग सामान्य रूप से मिलता है।

अ. तेइ—जिनके गुन निगम नेति-नेति गावत, तेइ कृष्न बन-बन मैं बिहरैं[६]।

आ. तेइ—जो राधा छोटी तेई हैं खोटी, साजति माँजति जो .री[७]।

इ. सोइ—सोइ कुलीन बड़ौ सुंदर सोइ जिहिं पर कृपा करै[८]। सोइ भलौ जो रामहिं गावै[९]।

---

१८. सा. १-३३६। १९. सा. १५९३। १. सा. ३-२। २. सा. ३९५४। ३. सा. ४१८७। ४. सा. १२८६। ५. सा. १-३२। ६. सा. ४४१। ७. सा. २०५१। ८. सा. १-३५। ९. सा. १-२३३।

ई. **सोई**—प्रेम-कथा सोई पै जानै, जापै बीती होई[१०]। सूरदास सोई पै जाने, जा उर लागै गाँसी[११]।

उ. **सोऊ**—महादेव-हित जो तप करिहै, **सोऊ** भव-जल तैं नहिं तरिहै[१२]। ताहि सुनै जो कोउ चित लाइ, सूर तरै **सोऊ** गुन गाइ[१३]।

ऊ. **वेऊ**—भले जु भले नंदलाल, **वेऊ** भली, चरन-जावक पाग जिनहिं रँगी[१४]।

२. **कर्मकारक**—इस कारक में दस-ग्यारह रूप मिलते हैं जिनमें कुछ विभक्ति से रहित, कुछ उससे युक्त और शेष बलात्मक हैं।

क. **विभक्तिरहित प्रयोग** ताहि, तिहिं और सो—ये रूप इस वर्ग में आते हैं। इनके प्रयोग अनेक पदों में मिलते हैं।

अ. **ताहि**—ताहि निसि-दिन जपत रहि जो सकल जीव-निवास[१५]। जाकौ मन हरि लियौ स्याम-घन ताहि सम्हारै कौन[१६]।

आ. **तिहिं**—कहत मँदोदरी, मेटि को सकै तिहिं, जो रची सूर प्रभु होनहारी[१७]। जा सँग रैनि बिहात न जानी, भोर भएं तिहिं मोचत हौ[१८]।

इ. **सो**—दुख-सुत-कीरति भाग आपनैं आइ परै सो गहियै[१९]। ब्यास कह्यौ जो सुक सौं गाइ। कहौं सो, सुनौ संत चित लाइ[२०]।

३. **विभक्तियुक्त प्रयोग**—ताकौं, तिनकौं और तिनहिं—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं। इन सबका सामान्य रूप से ही प्रयोग किया गया है।

अ. **ताकौं**—निगम नेति नित गावत जाकौं। राधा बस कीन्हौ हैं ताकौं[२१]।

आ. **तिनकौं**—ब्रह्मादिक खोजत नित जिनकौं। साच्छात देख्यौ तुम तिनकौं[२२]।

इ. **तिनहिं**—बार बार जननी कहि मोसौं, माखन माँगत जौन, सूर तिनहिं लैबे को आए[२३]।

ग. **बलात्मक प्रयोग**—ताही कौं, सोइ और सोई—ये मुख्य रूप इस वर्ग के हैं। इसमें से द्वितीय का प्रयोग अधिक और शेष दोनों का सामान्य रूप से किया गया है।

अ. **ताही कौं**—अरु जो परालब्ध सौं आवै, ताही कौं सुख सौं बरतावै[२४]। सनमुख ह्वै ताही कौं अंक भरैं तेरौ तन परसि जो आवत पवन[२५]।

आ. **सोइ**—सूर स्याम सोइ सोइ हम करिहैं, जोइ जोइ तुम सब कैहौ[२६]। जोइ जोइ मंत्र कहत कुबिजा है, सोइ सोइ लिखत बनाइ[२७]।

---

१०. सा. ३५४२। ११. सा. ३७०७। १२. सा. ४-५।
१३. सा. ५-३। १४. सा. २७०४। १५. सा. १-३१४।
१६. सा. १००२। १७. स. ९-१२७। १८. सा. २६९०।
१९. सा. १-६२। २०. सा. १-२२६। २१. सा. २१८७। २२. सा. ८००।
२३. सा. २९७५। २४. सा. ३-१३। २५. सा. २८०३। २६. सा. ७९३।
२७. सा. ३९९९।

इ सोई—जोइ मैं कहौं करौ तुम सोई[२८]। ये जोइ कहैं करैं हम सोई[२९]।

३. करणकारक—तापै, तिहि तैं और तासौं—ये रूप इस कारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से द्वितीय कहीं सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, कहीं बलात्मक। शेष रूप सामान्य हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'तासौं' अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व का है।

अ. तापै—जाकौ ब्रह्मा अंत न पावै, तापै नंद की नारि जसोदा, घर की टहल करावै[३०]।

आ. तिहिं तैं—तिहिं तैं कहौ कौन सुख पायौ, जिहिं अब लौ अवगाही[३१]।

इ. तासौं—जा लायक जो बात होइ सो तैसिये तासौं कहिऐ[३२]। कहिए तासौं जो होय बिवेकी[३३]।

४. संप्रदानकारक—ताइ, ताकौं, ताहि, तिनहीं और तिहिं—ये मुख्य रूप संप्रदानकारक में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें तिनहीं' बहुवचन होने पर भी एकवचन बलात्मक रूप में प्रयुक्त हुआ है। शेष सामान्य रूप से ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रयोग की दृष्टि से इस कारक में 'ताहि' और 'तिहिं' रूप प्रधान है।

अ. ताइ—जौ पै कोउ मधुबन लौं जाइ, पतिया लिखी स्याम सुन्दर कौं, कंकन दैहौं ताइ[३४]।

आ. ताकौं—जाकौं नाउँ, सक्ति पुनि जाकी, ताकौं देत मंत्र पढ़ि पानी[३५]।

इ. ताहि—जाकौ मन लाग्यौ नँदलालहिं, ताहि और नहिं भावै हो[३६]। जाकौ राजरोग कफ ब्यापत दही खवावत ताहि[३७]। यह लै देहु ताहि फिरि मधुकर, जिनि (स्याम) पठए हित गाइ[३८]।

ई. तिनहीं—सूर-स्याम तिनहीं सुख दीजै, जो बिलसै सँग तुमकौं लै[३९]।

उ. तिहिं—हरि हरि हरि सुमिरयौ जो जहाँ, हरि तिहिं दरसन दीन्ह्यौ तहाँ[४०]। जाके दरसन कौं जग तरसत दै री नैंकु दरस तिहिं दै री[४१]। जोइ-जोइ बसन जाहि मन मान्यौ, सोइ-सोइ तिहिं पहिरायौ[४२]।

५. अपादानकारक—इस कारक में केवल एक रूप 'वातैं' मिलता है; जैसे—अपनैं कर जो माँग सँवारै'''। बार-बार उरजनि अवलोकति 'तातैं' कौन सयानी[४३]।

६. संबंधकारक—इस कारक में दस-बारह रूप मिलते हैं जिनमें विभक्तिरहित, विभक्तियुक्त और बलात्मक सभी, प्रकार के हैं।

क. विभक्तिरहित प्रयोग—इस वर्ग में केवल एक रूप 'तासु' आता है जो

---

२८. सा. ७९०। २९. सा. २२८९। ३०. सा. ३९३।
३१. सा. ३६०६। ३२. सा. ३८१०। ३३. सा. ३८९८।
३४. सा. ३९४३। ३५. सा. १०-२५८। ३६. सा. २-१०। ३७. सा. २७२५।
३८. सा. ३८११। ३९. सा. २५३९। ४०. सा. २-५। ४१. सा. २५८९।
४२. सा. २९१६। ४३. सा. २०५२।

बहुत कम पदों में प्रयुक्त हुआ है; जैसे—सुफल जन्म है तासु, जे (जो) अनुदिन गावत-सुनत[४४]।

ख. विभक्तियुक्त प्रयोग—उनके, ताकी, ताके, ताकौ, तिनकी, तेहिंके, वाकी—ये सात मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनके संबंध में एक विशेष बात यह है कि इस कारक में प्रयुक्त बहुवचन रूपों का प्रयोग कम और एकवचन का प्रयोग सर्वत्र किया गया है।

अ. उनके—वै प्रभु बड़े सखा तुम उनके, जिनकैं सुगम अनीति[४५]।

आ. ताकी—सूर स्याम तजि आन भजै जौ ताकी जननी छार[४६]। जाकौं हित, ताकी गति ऐसी[४७]।

इ. ताके - प्रात जो न्हात अघ जात ताके सकल[४८]। राखै रहत हृदय पर जाकौं, धन्य भाग हैं ताके[४९]। धनि धनि सूर भाग ताके प्रभु जाकैं सँग बिहरैं[५०]।

ई. ताकौ—जो देखै ताकौ मन मोहै[५१]। कह्यौ, तुम एक पुरुष जो ध्यायौ, ताकौ दरसन काहु न पायौ[५२]। जिन तन-धन मोहिं प्रान समरपे ‥। ताकौ बिषम बिषाद अहो मुनि, मोपै सह्यौ न जाई[५३]।

उ. तिनकी—जिनके तुम सखा साधु, कहौ कथा तिनकी[५४]। मैं जिनकौं सपनेहुँ नहिं देख्यौ तिनकी (स्याम की) बात कहति फिरि फेरी[५५]।

ऊ. तिहिंके—सूर धन्य तिहिं के पितु-माता, भाव-भगति हैं जाके[५६]।

ए. वाकी—सूरदास जैहै बलि वाकी जो हरि जू सौं प्रीति बढ़ावै[५७]।

ग. बलात्मक प्रयोग—ताही कौ और तिनहिं के—ये दो बलात्मक रूप कुछ ही पदों में प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—

अ. ताही कौ—जीवन सुफल सूर ताही कौ जो काज पराये आवत[५८]।

आ. तिनहिं के—जिनपै (स्याम या कुब्जा) तैं लै लाए ऊधौ, तिनहिं के पेट समैहै[५९]।

७. अधिकरणकारक—तामैं, ताहि पर और ताही कैं—ये रूप इस वर्ग में आते हैं जिनका प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है; जैसे—

अ. तामैं—तामैं सुनि मधुकर, हम कहा लेन जाहीं, जामैं प्रिय प्राननाथ नँदनंदन नाहीं[६०]।

४४. सा. २८२८। ४५. सा. ३८८६। ४६. सा. ३८१६।
४७. सा. ३९३५। ४८. सा. १-२२२। ४९. सा. २४१३।
५०. सा. २८९७। ५१. सा. ३-१३। ५२. सा. ४-३। ५३. सा. ९-७।
५४. सा. ३५९७। ५५. सा. १७३१। ५६. सा. ११७८। ५७. सा. २-७।
५८. सा. ३३३४। ५९. सा. ३६६४। ६०. सा. ३५९७।

आ. ताहि पर—जापर कहौ, ताहि पर धावैं[६१]।

इ. ताहीं कैं—ताहीं कैं जाहु स्याम, जाकैं निसि बसे धाम[६२]। ताहीं कैं सिधारौ प्रिय, जाकैं रँग राँचे[६३]।

सारांश—विभिन्न कारकों में नित्यसंबंधी सर्वनाम रूपों के जो प्रयोग ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	तिहीं, तौन, (सु), (से), सो	......	(ताहूँ), तेइ, तेई, सोइ, सोई, सोऊ, (वेऊ)।
कर्म	ताहि, तिहिं, (तौन), सो	तिकौं, तिनकौं, तिनहिं,	ताहीकौं, सोइ, सोई,
करण	......	(तापै), (तिहिं तैं), तासौं	(ताही सौं)
संप्रदान	(ताइ), ताकौं, ताहि, तिहिं	तिनहीं	......
अपादान	......	(वातैं)	......
संबंध	(तासु)	(उनके), ताकी, ताकें ताकौ, (तिनकी), (तिनके) (तिहिं के), (वाकी)।	(ताही कौं), (तिनहि के)
अधिकरण	......	तामैं	(उनहीं पैं), (ताहि पर), ताहीं कैं।

बहुवचन रूपों के कारकीय प्रयोग—

अन्य सर्वनाम-भेदों की तरह नित्यसंबंधी बहुवचन रूपों की संख्या भी एकवचन से कम है; फिर भी बीस-बाइस बहुवचन रूपों का प्रयोग तो सूरदास ने किया ही है। उनके प्रमुख प्रयोगों के उदाहरण यहाँ संकलित हैं।

१. कर्ताकारक—ते, तेई, तेऊ, तिन और तिनि—ये पाँच रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें द्वितीय और तृतीय बलात्मक हैं। इनमें से 'तेऊ' और 'तिनि' का सामान्य और शेष का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है।

अ. ते—मैं तो जे हरे हैं, ते तौ सोवत परे हैं[६४]।

आ. तेई—जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं[६५]। जिनकें मुने करत पुरुषारथ, तेई हैं की और[६६]।

इ. तेऊ—तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी, जिनकैं बस अनिमिष अनेक गन अनुचर

६१. सा. ९२७। ६२. सा. २५०१। ६३. सा. २५४९।
६४. सा. ४८४। ६५. सा. १-८६। ६६. सा. ३०११।

आज्ञाकारी[६७]। सूरदास जे संग रहैं, तेऊ मरैं झाँखि[६८]। तेऊ मोहे जिन मति भोरी[६९]।

ई. तिन—अंतकाल हरि हरि जिन कह्यौ, ततकालहिं तिन हरि-पद लह्यौ[७०]। जिनकी आस सदा हम राखैं, तिन दुख दीन्हौ जेत[७१]।

उ. तिनि—सूरदास हरि बिमुख भए जे, तिनि के तिक सुख पायौ[७२]।

२. कर्मकारक—तिनकौं, तेउ, तेऊ—ये तीन मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें प्रथम सामान्य है और अंतिम दोनों बलात्मक। इनमें से 'तिनकौं' का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है, अन्य रूप कुछ ही पदों में मिलते हैं।

अ. तिनकौं—जिनकौं मुख देखत दुख उपजत, तिनकौं राजा-राय कहै[७३]। (जो) हमसौं सहस बरस हित धरैं, हम तिनकौं छिन मैं परिहर[७४]। इततैं जुवति जाति जमुना जे, तिनकौं मग मैं परखि रही[७५]।

आ. तेउ—तुम रसबाद करन अब लागे जे सब, तेउ पहिचानति हौं[७६]।

इ. तेऊ—अतिहिं मानिनी जे जे तेऊ मैं मनाइ दई[७७]।

३. करणकारक—उनसौं और तिनसौं—ये दो ही मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं जिनमें द्वितीय का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है; जैसे—

अ. उनसौं—ऐसी बात कहौ तुम उनसौं जे नहिं जानैं-बूझ[७८]।

आ. तिनसौं—सूर कहत जे भजत राम कौं तिनसौं हरि सौं सदा बनी[७९]। और गोप जे बहुरि चले घर, तिनसौं कहि ब्रज छाक मँगावत[८०]।

४. संप्रदानकारक—तिनकौं और तिनहिं—ये दो मुख्य रूप इस कारक में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें भी सूर-काव्य में द्वितीय का ही पहले की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. तिनकौं—सूरदास धिक् धिक् है तिनकौं जिनहिं न पीर परारी[८१]।

आ. तिनहिं—यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िबा बसैं कासी[८२]। यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु, जिनहिं आज सब सोहत[८३]। यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ जिनके मन चकरी[८४]।

५. अपादानकारक—इस कारक में केवल एक मुख्य रूप मिलता है—'तिनतैं'।

---

६७. सा. १-१६३। ६८. सा. २४०७। ६९. सा. २९०८।
७०. सा. ६-३। ७१. सा. २३०२। ७२. सा. ९-१२५।
७३. सा. १-५३। ७४. सा. ९-२। ७५. सा. १९६२।
७६. सा. २८१८। ७७. सा. २७८२। ७८. सा. ३८९८। ७९. सा. १-३९।
८०. सा. ४५०। ८१. सा. २३४५। ८२. सा. ३६६८। ८३. सा. ३६९०।
८४. सा. ३९८८।

इसका प्रयोग भी दो-चार पदों में ही हुआ है; जैसे—जरे ऊपर जे लौन लावहिं, कौन तिनतैं बावरे[८५]।

६. संबंधकारक—तिनकी, तिनके और तिनकौं—ये तीन मुख्य रूप इस कारक में मिलते हैं। इनमें द्वितीय रूप का कुछ कम, शेष दोनों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। इनके अतिरिक्त बलात्मक रूप 'तिनहीं की' भी दो-एक पदों में प्रयुक्त हुआ है; जैसे—

अ. तिनकी—सूरदास जे झूठी मिलवैं, तिनकी गति जानै करदार[८६]। जे अनभले बड़ाई तिनकी[८७]। धर्म हृदय जिनकैं नहीं, धिक् तिनकी है जाति[८८]।

आ. तिनके—मिटि गए राग-द्वेष सब तिनके जिन हरि प्रीत लगाई[८९]।

इ. तिनकौं—तिनकौ कठिन करेजौ सखि री, जिनकौ पिय परदेस[९०]। जनम सुफल सूरज तिनकौं जे काज पराए धाए[९१]।

ई. तिनहीं की—जो (जे) पहिले रँग रँगे स्याम के, तिनहीं की बुधि रँगी[९२]।

७. अधिकरणकारक—इस कारक में केवल एक प्रमुख रूप 'तिनकैं' मिलता है जिसका प्रयोग अनेक पदों में किया गया, हैं; जैसे—तुमसौं प्रीति करहिं जे धीर ..... पाप-पुन्य तिनकैं नहीं[९३]। ऐसी परनि परी है जिनकैं लाज कहा ह्वैहै तिनकैं[९४]। राधा-कृष्न केलि-कौतूहल स्रवन सुनैं, जो गावैं, तिनकैं सदा समीप स्याम[९५]।

सारांश—विभिन्न कारकों में प्रयुक्त नित्यसंबंधी बहुवचन सर्वनाम-रूपों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	ते, तिन, (तिनि)	...	तेई, तेऊ
कर्म	(ते)	तिनकौं	तेउ, तेऊ
करण		(उनसौं), तिनसौं	
संप्रदान		(तिनकौं), तिनहिं	
अपादान		(तिनतैं)	
संबंध		तिनकी, तिनके, तिनकौ	(तिनहीं की)
अधिकरण		तिनकैं	

प्रश्नवाचक सर्वनाम—

अन्य सर्वनाम भेदों में एकवचन और बहुवचन रूप जिस प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं,

८५. सा. ३८६५। ८६. सा. १७७८। ८७. सा. २२५५।
८८. सा. २३१८ ८९. सा. १-३१८। ९०. सा. ३२२४। ९१. सा. ३५१०।
९२. सा. ३५११। ९३. सा. ११८०। ९४. सा. २३९९। ९५. सा. २८२६।

वैसे प्रश्नवाचक में नहीं होते; हाँ, इसके मूल, विकृत और अन्य रूप अवश्य होते हैं; जैसे--

मूल रूप	कौन, को
विकृत रूप	का, कौन
अन्य	काहि

प्रश्नवाचक रूपों के कारकीय प्रयोग—विभिन्न कारकों में उक्त सर्वनाम सूरदास द्वारा किन-किन प्रमुख रूपों में प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में इसकी चर्चा यहाँ की जाती है।

१. कर्त्ताकारक—कहा, काहूँ, किन, किनि, किहिं, केहि को, कौन और कौनैं—ये नौ रूप इस वर्ग में आते हैं। प्रायः ये सभी एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। कर्त्ताकारक की विभक्ति इनमें किसी के साथ नहीं है। प्रयोग की दृष्टि से, किन, किहिं, को, कौन, और कौनैं प्रधान हैं और शेष रूप गौण जिनका प्रयोग कहीं-कहीं ही मिलता है।

अ. कहा—यह देखत जननी मन व्याकुल बालक मुख कहा आहि[१६]।

आ. काहूँ—सुनहु सखी मैं बूझति तुमकौं, काहूँ हरि कौं देखे हैं[१७]।

इ. किन—कियौ किन ऐसौ काज।......। किन यह ऐसौ भवन बनायौ[१८]। कठिन पिनाक कहौ किन तोर्‌यौ[१९]। यह कही उरग मोसौं, किन पठायौ तोहिं[१]।

ई. किनि—किनि देख्यौ, किनि कही बात यह[२]। ऐसे गुन किनि तुमहिं सिखाए[३]।

उ. किहिं—किहिं कच गूँदि माँग सिर पारी[४]। किहिं राख्यौ तिहिं औसर आनी[५]। सो संपति किहिं मूसी[६]। उग्रसेन, बसुदेव, देवकी किहिंऽब निगड़ तैं आने[७]।

ऊ. केहि—चौबिस धातु चित्र केहि कीन[८]।

ऋ. को—ऐसी को करी अरु भक्त काजैं[९]। या रथ बैठि बंधु की गर्जहिं पुरवै को कुरुखेत[१०]। ताकी पटतर कौं जग को है[११]। या छबि की उपमा को जाने[१२]।

ए. कौन—कौन बिरक्त अधिक नारद तैं[१३]। मोकौं कौन धारना करै[१४]। दूजौ सूर सुमित्रा-सुत बिनु कौन धरावै धीर[१५]।

ऐ. कौनैं—कौनैं ठाटि रचायौ[१६]। ये करे हैं कौनैं[१७]। कौनैं याहि बुलाई[१८]। कौनैं तोहि बुलाई[१९]। कौनैं पठए सिखाइ[२०]।

---

१६. सा. १०-२५३। १७. सा. १८३४। १८. सा. ९-३। १९. सा. ९-२८।
१. सा. ५८०। २. सा. २५५९। ३. सा. २६२६। ४. सा. ७०८।
५. सा. १३९८। ६. सा. २८२६। ७. सा. ३६१७। ८. सा. ३८३७।
९. सा. १-५। १०. सा. १-२०। ११. सा. ३-१३। १२. सा. १०-४६।
१३. सा. १-३५। १४. सा. ९-९। १५. सा. ९-१४५। १६. सा. ४३६१।
१७. सा. ४८४। १८. सा. १२२१। १९. सा. १३१३। २०. सा. २४६२।

२. कर्मकारक—कह, कहा, का, काकौं, काहि, किहिं, को, कोऊ और कौना—ये नौ रूप कर्मकारक में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें 'काकौं' विभक्तियुक्त है, शेष विभक्तिरहित हैं। 'किहिं' को भी विकृत रूप ही समझना चाहिए। 'कौना' जो तुक के कारण बिगाड़ा गया है, अपवादस्वरूप है। शेष रूपों का प्रयोग सूर-काव्य के अनेक पदों में हुआ है। 'कोऊ' भी सामान्यवत् ही प्रयुक्त हुआ है।

अ. कह—कहा जानिऐ कह तैं देख्यौ[२१]। कह तजैं[२२]। कहौ न, कह मोहिं दैहौ[२३]।

आ. कहा—कहा करौं[२४]। रिस कियैं पावति कहा हो, कहा (पावति हो) दीन्हे गारि[२५]। कहा ग्रेहिं[२६]।

इ. का—ना जानौं बिधनहिं का भायौ[२७]।

ई. काकौं—काकौं ब्रज पठवौं[२८]। बाँह पकरि तू ल्याई काकौं[२९]।

उ. काहि—काहि भजौं हौं दीन[३०]। श्रीपति काहि सँभारे[३१]। तुम तजि काहि पुकारिहै[३२]। काहि पठवहुँ जाइ[३३]।

ऊ. किहिं- बान, कमान, कहाँ किहिं मारयौ[३४]। किहिं पठाऊँ[३५]।

ऋ. को—इहिं राजस को को न बिगोयौ[३६]। (तुम) को न कृपा करि तारयौ[३७]। (तुम) बिन मसकत को तारयौ[३८]।

ए. कोऊ—कोऊ कमलनैन पठयौ है, तन बनाइ अपनौ सौ साज[३९],

ऐ. कौना—त्रिभुवन मैं बस कियौ न कौना[४०]।

३. करणकारक—इस कारक में ग्यारह रूप मिलते हैं जिनमें दो—काहि और किहिं—विभक्तिरहित हैं जिनका प्रयोग सर्वत्र हुआ है; शेष नौ – कापैं, कापै, कासौं, काहि सौं, किनितैं, किहिं पाहैं, कौन पै, कौन सौं, कौने सौं—विभक्तियुक्त हैं। इनमें से 'काहि सौं', 'किनतैं', 'किहिं पाहैं' और 'कौने सौं' के प्रयोग गिने-चुने पदों में मिलते हैं; शेष रूप सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं। 'कौने सौं' को 'कौन सौं' का ही रूपांतर समझना चाहिए।

अ. काहिं—सूरस्याम देखे नहीं कोउ काहि बतावै[४१]। उपमा काहि देउँ[४२]। कहौं काहि या ही की[४३]।

---

२१. सा. १०-२५७। २२. सा. २३००। २३. सा. २४४१। २४. सा. १-१२७। २५. सा. १३३५। २६. सा. २३००। २७. सा. १०-७७। २८. सा. १०-४८। २९. सा. १०-३१४। ३०. सा. १-१११। ३१. सा. ९-७८। ३२. सा. २१११। ३३. सा. २९३०। ३४. सा. १५८४। ३५. सा. २९३८। ३६. सा. १-५४। ३७. सा. १-१०१। ३८. सा. १-१३२। ३९. सा. ३४७६। ४०. सा. २८८४। ४१. सा. १११८। ४२. सा. २२०५। ४३. सा. २३४४।

आ. किहिं--सूरदास किहिं, तिहिं तजि, जाँचे[४४]। कुल, कलंक तैं किहिं मिलि दयौ[४५]। कहौं किहिं[४६]।

इ. काप—पवनपुत्र काँपैं हटक्यौ जाइ[४७]। काँपैं बरन्यौ जाइ[४८]। काप उधारे[४९]।

ई. काँपै--काँपैं कहि आवै[५०]। छबि बरनि काँपै जाइ[५१]। महिमा काँपै जाति बिचारी[५२]। महत काँपै बरन्यौ जाइ[५३]।

उ. कासौं--कासौं बिथा कहौं[५४]। तेरौ कासौं कीजै ब्याह[५५]। नेह हमैं कासौं आह[५६]। कन्या कासौं हुति उपजाइं[५७]।

ऊ. काहि सौं--कौन काहि सौं कहै[५८]।

ऋ. किनतैं—कौन ग्वालनि साथ भोजन करत किनतैं बात[५९]।

ए. किहिं पाहैं--सूरदास प्रभु दूरि सिधारे, मुख कहिए किहिं पाहैं[६०]।

ऐ. कौन पै—सीख कौन पै लही री[६१]। गुप्त कौन पै होइ[६२]। एक ह्वै गए कौन पै जात निरुवारि माई[६३]। कौन पै कढ़त कनूका जिन हठि भुसी पछोरी[६४]।

ओ. कौन सौं--हरि सौं तोरि कौन सौं जोरी[६५]। मेरी घाँ हरि लरत कौन सौं[६६]। ह्याँ लरन कौन सौं आई[६७]। बिथा माई, कौन सौं कहियै[६८]।

औ. कौने सौं—अब हरि कौने सौं रति जोरी[६९]।

४. संप्रदान कारक--काकौं, काहि, काहू कौं, किहिं और कौनैं--ये पाँच रूप इस कारक में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें द्वितीय, चतुर्थ और अंतिम विभक्तिरहित हैं, शेष दोनों विभक्तियुक्त। तीसरा रूप बलात्मक होते हुए भी सामान्यवत् प्रयुक्त हुआ है। इनमें से प्रथम दो रूपों के कुछ अधिक और अंतिम तीन के कम प्रयोग मिलते हैं।

अ. काकौं--काकौं सुख दीन्हौ[७०]। जोग-जुगुति जद्यपि हम लीनी, लीला काकौं दैहौ[७१]।

आ. काहि—उरहन दिन देउँ काहि[७२]। मदनगुपाल बिना घर-आँगन गोकुल

---

४४. सा. १-२१२। ४५. सा. ९-३। ४६. सा. १६७०।
४७. सा. ९-७४। ४८. सा. ८३२। ४९. सा. ३५०४।
५०. सा. १०-२०१। ५१. सा. १०-२२५। ५२. सा. ३८८।
५३. सा. ४९२। ५४. सा १-१६०। ५५. सा. ४-७। ५६. सा. ९-२।
५७. सा. ९-८३। ५८. सा. ५८९। ५९. सा. ३४७५। ६०. सा. ३२७९।
६१. सा. ३४८। ६२. सा. १६४०। ६३. सा. २२७४। ६४. सा. ३५५३।
६५. सा. १-३०२। ६६. सा. २४३१। ६७. सा. २८२६। ६८. सा. ३२९३।
६९. सा. ३३६१। ७०. सा. २५३६। ७१. सा. ३७०५। ७२. सा. १०-२७६।

काहि सुहाइ[७३] । काहि नहिं दुख होइ[७४] । कंथा काहि उढ़ाऊँ[७५] ।

इ. काहू कौं—काहू कौं षटरस नाहिं भावत[७६] ।

ई. किहिं—कहिए कहा, दोष किहिं दीजै[७७] ।

उ. कौनैं—कमलनयन स्यामसुंदर कौनैं नहिं भावै[७८] ।

५. अपादानकारक—'कातैं' और 'कौन तैं'-जैसे प्रयोग इस कारक में होते हैं, परंतु सूरदास ने कदाचित् इनका प्रयोग नहीं किया है ।

६. संबंधकारक—इस कारक में भी मुख्य ग्यारह रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनमें दो—किहिं और कौन—विभक्तिरहित हैं । इनमें से द्वितीय का प्रयोग पहले से अधिक हुआ है । शेष नौ रूपों— काकी, काके, काकौ, किनकी, किहिं के, किहिं कौ, कौन की, कौन के और कौन कौ—में से 'किनकी', 'किहिं के' 'किहि कौ' का कम और शेष रूपों का प्रयोग सर्वत्र किया गया है ।

अ. किहिं—किहिं भय दुरजन डरिहैं[७९] ।

आ. कौन—अब धौं कहौ कौन दर जाउँ[८०] । बानि परी तुमकौ यह कौन[८१] ।

इ. काकी—काकी ध्वजा बैठि[८२] । सरन गहूँ मैं काकी[८३] । पूछयौ, तू काकी धी है[८४] । काकी तिनकौं उपमा दीजै[८५] । काकी है बेटी[८६] ।

ई. काके—काके रहिहैं प्रान[८७] । ब्रज बसि काके बोल सहौं[८८] । काके मन कौं चोरति हौ[८९] । काके होहिं जो नहिं गोकुल के[९०] ।

उ. काकौ—काकौ बदन निहारि[९१] । डर काकौ[९२] । काकौ नाम[९३] । काकौ ब्रज-दधि, माखन काकौ[९४] । काकौ बालक आहि[९५] ।

ऊ. किनकी—दान हठ कै लेत कापै रोकि किनकी बाट[९६] ।

ऋ. किहिं के—साखामृग तुम किहिं के तात[९७] ।

ए. किहिं कौं—बिरद घटत किहिं कौं तुम देख्यौ[९८] ।

ऐ. कौन की—कौन की बेटी[९९] । बँधे कौन की डोरी[१] । कौन की गैयाँ चरावत[२] ।

---

७३. सा. २९७२ । ७४. सा. ३८०० । ७५. सा. ४१२६ । ७६. सा. १७८६ ।
७७. सा. ३२५९ । ७८. सा ३८९७ । ७९. सा. १-२९ । ८०. सा १-१६५ ।
८१. सा. १५९३ । ८२. स. १-२९ । ८३. सा. १-१४३ । ८४. सा. ४-१२ ।
८५. सा. ९-४५ । ८६. सा. ६७३ । ८७. सा ९-७९ । ८८. सा. १६८६ ।
८९. सा. २१९९ । ९०. सा. ३९४७ । ९१. सा. १-२९ । ९२. सा. १-२५६ ।
९३. सा. १-२९० । ९४. सा. ३७५ । ९५. सा. ५८९ ।
९६. सा. ३४७५ । ९७. सा. ९-६९ । ९८. सा. ३९८२ ।
९९. सा. २१६९ । १. सा. ३३६१ । २. सा. ३४७५ ।

ओ. कौन के—भीने रंग कौन के हौ [३]। काके भए, कौन के ह्वैहैं [४]। कौन के घर खात [५]।

औ. कौन कौ—कौन कौ नाम [६]। कौन कौ ध्यान [७]। अब हौं कौन कौ मुख हेरौं [८]। कौन कौ बालक है तू [९]। सुत कौन कौ [१०]। कौन कौ नीलांबरहिं [११]।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में मुख्य सात रूप मिलते हैं—काकै, कापर कापै, किहिं केरे, कौन कैं, कौन पर और कौन पै। इनमें से प्रथम सामान्य है, शेष विभक्तियुक्त हैं। 'कापै', 'किहिं केरे', 'कौन कैं' और 'कौन पै' का प्रयोग कम किया गया है; अन्य तीनों रूप सर्वत्र मिलते हैं।

अ. काकैं—कहाँ पठवत, जाहि काकैं [१२]। इतनौ हित है काकैं [१३]। कुलिन-अकुलिन अवतरयो काकैं [१४]। ह्याँ हैं तरल तरयौना काकैं [१५]।

आ. कापर—कापर चक्र चलाऊँ [१६]। कापर नैन चढ़ाए डोलत [१७]। कापर नैन चलावति [१८]। कापर क्रोध कियौ अमरापति [१९]।

इ. कापै—हमकौं सरन और नहिं सूझै कापै हम अब जाहिं [२०]।

ई. किहिं केरे—सूरदास प्रभु अँग अनूप छबि कहँ पायौ किहिं केरे [२१]।

उ. कौन कैं—कौन कैं माखन चुरावन जात उठिकै प्रात [२२]।

ऊ. कौन पर—बहियाँ गहत सतराति कौन पर मग धरि डग। कौन पर होति पीरी-कारी [२३]। कियौ कौन पर छोहु [२४]।

ऋ. कौन पै—तुम तजि और कौन पै जाउँ [२५]।

सारांश—प्रश्नवाचक सर्वनाम रूपों के विभिन्न कारकों में जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्क रूप	बलात्मक रूप
कर्ता	(कहा), (काहूँ), किन, किनि, किहिं, (केहि) को, कौन, कौनै।	...	....
कर्म	कह, कहा, काहि, किहिं, को, (कोऊ) (कौना)।	काकौं	...

३. सा. २५५१। ४. सा. ३३६१। ५. सा. ३४७५। ६. सा १-२९०। ७. सा. २-३५। ८. सा. ९-१४६। ९. सा. ५५०। १०. सा ५८९। ११. सा. २५०६। १२. सा. ११८२। १३. सा. २७५६। १४. सा ३१०१। १५. सा. ३८१७। १६. सा. १-२७४। १७. सा. १०-३९०। १८. सा. १०-३२०। १९. सा. ९२६। २०. सा. १०२०। २१. सा. २५६१। २२. सा. ३४७५। २३. सा. २५९५। २४. सा. ४१८८। २५. सा. १-१६४।

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
करण	काहि, किहिं	कापैं, कापै, कासौं, (काहि सौं), (किनतैं), (किहि पाहैं), कौन पै, कौन सौं, (कौने सौं)	...
संप्रदान	काहि, किहिं, कौनैं	काकौं, काहू कौं	...
अपादान	...	...	...
संबंध	(किहिं), कौन	काकी, काके, काकौ, (किनकी), (किहिं के), (किहि कौ), कौन की, कौन के, कौन कौ	
अधिकरण	काकैं	कापर, कापै, (किहिं केरे, (कौन कैं), कौन पर, (कौन पै)	

अनिश्चयवाचक सर्वनाम—

प्रश्नवाचक सर्वनाम की तरह अनिश्चयवाचक सर्वनामों में भी भेद नहीं होता, यद्यपि कुछ सर्वनाम–जैसे 'एक'—एकवचन में और कुछ–जैसे 'सब'–बहुवचन में भी आते हैं। परन्तु चेतन–अचेतन वस्तुओं या पदार्थों की दृष्टि से अनिश्चयवाचक सर्वनाम के भेद अवश्य होते हैं।

चेतन पदार्थों के लिए

मूलरूप	एक, और, कोई, कोऊ, सब
विकृतरूप	एकनि, औरन, काहू, सबन

अचेतन पदार्थों के लिए

एक, और, कछु, कछुक, सब

प्रथम वर्ग के कारकीय प्रयोग—चेतन पदार्थों के लिए विभिन्न कारकों में मूल और विकृत जो सर्वनाम-रूप प्रयुक्त हुए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं–

१. **कर्ताकारक**—इस कारक में बीस के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जो 'एक', 'और', 'कोई' या कोऊ' और 'सब' के रूपांतर होने से इन्हीं चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं।

क. **'एक' के रूपांतर—इक, एक और एकनि**—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से प्रथम दो का बहुत अधिक और अंतिम का बहुत कम प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ. इक—इक मारत इक रोकत गेंदहिं इक भागत [२६]। इक आवत ब्रज तैं इतही कौं, इक इततैं ब्रज जात[२७]। इक घर तैं उठि चले[२८]। इक आवत' 'इक टेरत इक दौरे आवत[२९]।

२६. सा. ५३३' २७. सा. ८३०। २८. सा. ८४१। २९. सा. ९०२।

आ. एक—एक चले आवत[३०] । एक कहत[३१] । एक उफनत ही चली उठि ''। एक जेंवन करत त्याग्यौ[३२] । एक भोजन करि सँपूरन गई[३३] ।

इ. एकनि—एकनि हरे प्रान गोकुल के[३४] ।

ख. 'और' के रूपांतर—और तथा औरी—केवल दो मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। दूसरा रूप अपवादस्वरूप है, परंतु पहला खूब प्रयुक्त हुआ है—कहीं एकवचन में और कहीं बहुवचन में।

अ. और—मेरे संग की और गई[३५] । कियौ यह भेद मन, और नहीं[३६] । तेई हैं कि और हैं[३७] । देखैं बनें, कहत रसना सौं, सूर बिलोकत और[३८] ।

आ. औरी—तोसी न औरी है[३९] ।

ग. 'कोई' और 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपों की संख्या अन्य तीनों से अधिक है जिनमें मुख्य हैं—काहुँ, काहु, काहूँ, काहू, किनहूँ, कोइ, कोउ, कोऊ। इन आठ रूपों में से 'किनहूँ' का प्रयोग सूरदास ने अपने काव्य में सर्वत्र किया है।

अ. काहुँ—काहुँ न प्रान हरे[४०] । काहुँ खोज नहिं पायौ[४१] ।

आ. काहु—ताकौं दरसन काहु न पायौ[४२] । काहु लै मोहिं डारि दीन्हौ कालिया दह नीर[४३] । बड़ी कृपा इहिं उरग कौं, ऐसी काहु न पाई[४४] ।

इ. काहूँ—काहूँ कह्यौ, मंत्र जप करना, काहूँ कछु काहूँ कछु बरना[४५] । काहूँ समाचार कछु पूछे[४६] । काहूँ करत न आयौ[४७] । काहूँ दियौ गिराइ[४८] ।

ई. काहू—कै तुमसौं काहू कटु भाष्यौ[४९] । काहू पति-गेह तजे, काहू तन प्रान[५०] । काहू तुरत आइ मुख चूमे[५१] ।

उ. किनहूँ—किनहूँ लियौ छोरि पट कटि तैं[५२] ।

ऊ. कोइ—मेटि सकै नहिं कोइ[५३] । पै यह बात न जानै कोइ[५४] । केतौ भाग करौ किन कोइ[५५] । सकै नहिं तरि कोइ[५६] ।

ऋ. कोउ—सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै[५७] । कोउ न उतारै पार[५८] ।

---

३०. सा. ८२८ । ३१. सा. ९०२ । ३२. सा. ९९५ । ३३. सा. ९९५ ।
३४. सा. ३९७७ । ३५. सा. १४१७ । ३६. सा. २२४० । ३७. सा. ३०६१ ।
३८. सा. ३५६० । ३९. सा. १७३५ । ४०. सा. ३७६७ । ४१. सा. ४१९० ।
४२. सा. ४-३ । ४३. सा. ५८० । ४४. सा. ५८९ । ४५. सा. १-३४१ ।
४६. सा. ४-५ । ४७. सा. ८-३ । ४८. सा. ५१७ । ४९. सा. १-२८६ ।
५०. सा. ६५० । ५१. सा. २८९८ । ५२. सा. २८९८ । ५३. सा. १-२६२ ।
५४. सा. १-२८९ । ५५. सा. ९-८ । ५६. सा. ४२१० । ५७. सा. १-४ ।
५८. सा. १-६८ ।

कोउ खवावै[59] । कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत, कोउ करताल बजावत[60] ।

ए. कोऊ—यह गति मति जानै नहिं कोऊ[61] । सक्यौ न कोऊ राखी[62] । रामहिं राखौ कोऊ जाइ[63] ।

घ. 'सब' के रूपांतर--सब, सबनि, सबहिनि, सबहीं और सबै—ये पाँच रूप इस वर्ग में आते हैं । ये सब बहुवचन रूप हैं और इनमें अंतिम रूप सबै प्रायः सबै बलात्मक रूप में प्रयुक्त हुआ है । सूर-काव्य में इन सब रूपों के प्रयोग अनेक पदों में किये गये हैं ।

अ. सब—सब चितवत मुख तेरौ[64] । फिरि सब चले अतिहिं बिकलाने[65] । सब नाचहीं[66] । सब मुरझानीं[67] ।

आ. सबनि—बसन भूषन सबनि पहिरे[68] । यह सुनतहिं सिर सबनि नवाए[69] । सैना सबनि बुलाए[70] । दई सबनि लाज डारि[71] । मनबांछित फल सबनि लह्यौ[72] ।

इ. सबहिनि—दुख डारचौ सबहिनि बिसराइ[73] । सबहिनि गिरि टेक्यौ[74] । सबहिनि सुख लीन्हौ[75] ।

ई. सबहीं—तब बरज्यौ मोहीं सबहीं[76] । हा हा खाई सबहीं[77] । मथुरा घर घर सबहीं (यह) जानी[78] ।

उ. सबै—सबै सदननि आइ पहुँचे[79] । हरत सबै हरि चरननि धाइ[80] । याहि कौं खोजत सबै[81] । चलीं सबै[82] । सबै उड़ावहिं छार[83] ।

२. कर्मकारक—इस कारक में पंद्रह के लगभग मुख्य रूप मिलते हैं जिनको भी कर्ताकारकीय प्रयोगों के समान, चारों वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

क. 'एक' के रूपांतर—इस वर्ग में केवल एक मुख्य रूप आता है—एकहिं । इसका प्रयोग भी बहुत-कम पदों में किया गया है; जैसे—एक एकहिं धरति भुज भरि[84] ।

ख. 'और' के रूपांतर—और, औरनि, औरनि कौं तथा औरहिं—ये चार रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें तृतीय विभक्तियुक्त है । प्रयोग की दृष्टि से प्रथम दो रूप

५९. सा. ५-२ । ६०. सा. ४८० । ६१. सा. १-३५ । ६२. सा. १-१२२ ।
६३. सा. ९-४७ । ६३. सा. ८६९ । ६५. सा. ९४१ । ६६. सा. २९१४ ।
६७. सा. २९६१ । ६८ सा. ७९५ । ६९. सा. ८८८ । ७०. सा. ९३० ।
७१. सा. २८९१ । ७२. सा. ३११० । ७३. सा. ८७२ । ७४. सा. ८६५ ।
७५. सा. ८८९ । ७६. सा. १४२३ । ७७. सा. २९१६ । ७८. सा. ३१०९ ।
७९. सा. ८५० । ८०. सा. ८७२ । ८१ सा. ११०६ । ८२. सा. १७५१ ।
८३. सा. २९१४ । ८४. सा. १७५० ।

प्रधान हैं जो अनेक पदों में मिलते हैं और अंतिम दो अप्रधान जो कुछ ही पदों में पाये जाते हैं।

अ, और—सूरस्याम बिनु और न भावै[८५]। हरि तजि जो और भजै[८६]। नंद-नंदन अछत कैसैं आनियै उर और[८७]।

आ, औरनि—औरनि छाँड़ि कान्ह परे हठ हमसौं[८८]। धूल धौत लंपट जैसे हरि, तैसे औरनि जानैं[८९]।

इ, औरिन कौं—औरिन कौं तिरछे ह्वै चितवत[९०]।

ई, औरहिं—औरहिं नहिं पत्यात[९१]।

ग, 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर--इस वर्ग के रूपों में प्रमुख हैं काहुँ, काहु, काहुहिं, काहूँ, काहू कौं और कोऊ। इनमें से तीसरा और पाँचवाँ रूप विभक्तियुक्त है। इन रूपों का प्रयोग कुछ ही पदों में किया गया है, सर्वत्र नहीं।

अ, काहुँ--मैं काहुँ न पहिचानौ[९२]।

आ, काहु--डसै जिनि यह काहु[९३]। काहु नहिं मानत[९४]।

इ, काहुहिं--तब तैं गनत नहीं यह काहुहिं[९५]। गनत नहीं अपनैं बल काहुहिं[९६]।

ई, काहूँ--बदत काहूँ नहीं[९७]।

उ, काहू कौं--जौ काहू कौं पकरि पाइहैं[९८]।

ऊ, कोऊ—तौ तुम कोऊ तारयौ नाहिं[९९]।

घ, 'सब' के रूपांतर—सबनि, सबहिनि, सबहीं और सबै—ये रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से अंतिम दो का बहुत कम और प्रथम दो का उनसे कुछ अधिक प्रयोग मिलता है।

अ. सबनि—सूर स्याम सुरपति तैं राख्यौ देखौ सबनि बहाइ[१]। देखि सबनि रीझे गोबिन्द[२]।

आ, सबहिनि—जानत सबहिनि चोर[३]। घरी-पहर सबहिनि बिरमावत[४]।

इ, सबहीं—सबहीं डारे मारि[५]।

---

८५. सा. १६३९। ८६. सा. १९१०। ८७. सा. ३७३२।
८८. सा. १४६४। ८९. सा. ३९९८। ९०. सा. २२८४।
९१. सा. २२६५। ९२. सा. २५५९। ९३. सा. ६३६।
९४. सा. ४०८८। ९५. सा. १२७०। ९६. सा. १३०८। ९७. सा. २२८७।
९८. सा. २९१६। ९९. सा. १-७३। १. सा. ९५४। २. सा. ११८०।
३. सा. २२६६। ४. सा. ३५०४। ५. सा. २९२६।

ई. सबै--सबै त्यागि हम धाई आई[६]।

३. करणकारक—इस कारक में सत्रह-अठारह मुख्य रूप प्रयुक्त हुए हैं जिन्हें भी कर्ता और कर्म कारकीय रूपों के समान चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

क. 'एक' के रूपांतर--इकसौं, इकहिं, एकसौं और एकहिं—ये रूप इस वर्ग में आते हैं। इनका प्रयोग कुछ ही पदों में किया गया हैं; जैसे—

अ. इकसौं--इक इकसौं यह बात कहति[७]।

आ. इकहिं--धीरज धरि इकहिं सुनावति[८]।

इ. एकसौं—एकसौं कहत धौं कहाँ आए[९]।

ई. एकहिं--एक एकहिं बात बूझति[१०]।

ख. 'और' के रूपांतर—औरनि, औरनि सौं, और पै तथा और सौं-ये चार रूप इस वर्ग के हैं। इनमें से द्वितीय का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है।

अ. औरनि—(ऊधौ) जैसी कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते[११]।

आ. औरनि सौं—औरनि सौं करि रहे अचगरी[१२]। औरनि सौं लै लीजै[१३]। औरनि सौं तुम कहा लियौ है[१४]।

इ. और पै—ऐसौ दान और पै माँगहु[१५]।

ई. और सौं—और सौं बूझि न देखौ[१६]।

ग. 'कोई' और 'कोऊ' के रूपांतर--काहूँ, काहू, काहू पै और काहू सौं—इस वर्ग के इन रूपों में अंतिम दो विभक्तियुक्त हैं। इनमें से 'काहू' का सामान्य और अन्य रूपों का प्रयोग सर्वत्र किया गया है।

अ. काहूँ--को जानै प्रभु कहाँ चले हैं, काहूँ कछु न जनावत[१७]। काहूँ (कि से) नहीं जनाई[१८]। फूली फिरति कहति नहिं काहूँ[१९]।

आ. काहू--पै यह भेद रुकमिनी निज मुख काहू कहि न सुनायौ[२०]।

ई. काहू पै—होवनहारी काहू पै जाइ न टारी[२१]। मुरली लै लै सबै बजावै, काहू पै नहिं आवै रूप[२२]। सो काहू पै जाहि न तोल्यौ[२३]।

इ. काहू सौं—भावी काहू सौं न टरै[२४]। काहू सौं यह कहि न सुनाई[२५]। काहू सौं उनहूँ तब पूछे[२६]। ज्वाब न देत बनै काहू सौं[२७]।

६. सा. १०२५। ७. सा. १६११। ८. सा. १२...
९. सा. ३०२४। १०. सा. १६२५। ११. सा. ३...
१२. सा. १४०४। १३. सा. १४६२। १४. सा. १...
१५. सा. १५५६। १६ सा. १४९१। १७. सा. ८-४। १८. सा. २...
१९. सा. २४४९। २०. सा. ४१७८। २१. सा. १...
२२. सा. १२१७। २३. सा. २९४१। २४. सा. १-...
२५. सा. १-२८९। २६. सा. ४-५। २७. सा. १...

घ. 'सब' के रूपांतर—सबनि, सबनि सौं, सबसौं और सबहीं सौ—इन चार प्रमुख रूपों में से सबसे अधिक प्रयोग 'सबनि सौं' का किया गया है।

अ. सबनि—तब उपँगसुत सबनि बोले—सुनौ श्रीमुख जोग[२८]।

आ. सबनिसौं—सूर प्रभु प्रगट लीला कही सबनि सौं[२९]। लागी करन बिलाप सबनि सौं स्याम गए मोहिं त्यागि[३०]। तब तू कहति सबनि सौं हँसि हँसि[३१]।

इ. सब सौं—सब सौं मिलि पुनि निज पुर आए[३२]।

ई. सबही सौं—खीझत कहत मेघ सबही सौं[३३]।

४. संप्रदानकारक—इस कारक में दस-बारह प्रमुख रूप मिलते हैं जो उक्त कारकों के समान चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं।

क. 'एक' के रुपांतर—इस वर्ग में केवल एक रूप है 'एकनि' जिसका प्रयोग अपवादस्वरूप ही मिलता हैं; जैसे—इक एकनि देत गारि[३४]।

ख. 'और' के रूपांतर—औरनि, औरनि कौं, औरनि हूँ कौं तथा औरहूँ—इस वर्ग में इन चारों प्रमुख रूपों का प्रयोग 'सूर-काव्य' में कहीं-कहीं ही किया गया है; जैसे—

अ. औरनि—तब औरनि सिख देहु[३५]।

आ. औरनि कौं—औरनि कौं छबि कहा दिखावत[३६]।

इ. औरनि हूँ कौं—सूरस्याम सुख लूटैं आपुन, औरनि हूँ कौं देत[३७]।

ई. औरहूँ—आपुन लेहिं औरहूँ देते[३८]।

ग. 'कोई' और कोऊ के रूपांतर—काहूँ, काहूँ कौं, काहू, काहू कौं और कौन को - इन पाँचों रूपों में से विभक्तिरहित का कम और विभक्तियुक्त का प्रयोग कुछ अधिक किया गया है; जैसे—

अ. काहूँ—काहूँ दुख नहिं देत बिधाता[३९]। तुम काहूँ धन दै लै आवहु[४०]। डारत खात देत नहिं काहूँ[४१]। काहूँ सुधि न रही[४२]।

आ. काहूँ कौं—नमस्कार काहूँ कौं कियौ[४३]।

इ. काहू—दोष न काहू देहैं[४४]।

ई. काहू कौं—काहू कौं षटरस नहिं भावत[४५]। देत नहीं काहू कौं नैंकहु[४६]।

---

२८. सा. ३४८३।	२९. सा. ८४८।		३०. सा. ११०९।
३१. सा. १६४८।	३२. सा ४२००।	३३. सा. ९-४०।	३४. सा. २८९१।
३५. सा.२५२९।	३६. सा. २५४४।	३७. सा. २२६७।	३८. सा. २२६६।
३९. सा. १-२९०।	४०. सा. ५-३।	४१. सा. २२४२।	४२. सा. ३८८४।
४३. सा. ४२००।	४४. सा. ३५४३।	४५. सा. १७८६।	४६. सा. २३२४।

उ. **कौन कौं**—कौन कौन कौं उत्तर दीजै[४७]।

घ. **'सब' के रूपांतर**--सबकौं, सबनि, सबनि कौं, सबहिनि— इन चारों मुख्य रूपों का प्रयोग सूरदास ने अनेक पदों में किया है; जैसे--

अ. **सबकौं**—सबकौं सुख दै दुखनि हरौ[४८]। सखा संग सबकौं सुख दीनौ[४९]।

आ. **सबनि**--गोपाल सबनि सुख देत[५०]। तुरत सबनि सुरलोक दियौ[५१]। सबनि आनंद भयौ[५२]।

इ. **सबनि कौं**-- पट-भूषन दियौ सबनि कौं[५३]। सबनि कौं सुख दियौ[५४]।

ई. **सबहिनि**—स्याम सबहिनि सुख दीन्हौ[५५]। मुरली शब्द सुनावत सबहिनि[५६]।

५. **अपादानकारक**—इस कारक में मुख्य छह रूप मिलते हैं—एकतैं, सबतैं, सबनि सौं, सबसौं, सबहिनि और सबहीं तैं। इन सबका प्रयोग सामान्य रूप से किया गया है। इनमें 'और' तथा 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर नहीं हैं।

अ. **एकतैं**--एक एकतैं गुननि उजागर[५७]। एक एकतैं सबै सयानी[५८]।

आ. **सबतैं**—सबतैं वहै देस अति नीकौ[५९]। जाकी सबतैं गति न्यारी[६०]।

इ. **सबनि सौं**—हरि सबनिसौं नंकु होत नहिं दूरी[६१]।

ई. **सबसौं**—मैं उदास सबसौं रहौं[६२]।

उ. **सबहिनि तैं**—गौतम-सुता भगीरथ धीवर सबहिनि तैं सुंदर सुकुमारी[६३]।

ऊ. **सबहीं तैं**—कृष्न-कृपा सबहीं तैं न्यारी[६४]। ऊधौ, ऐसी हम गुपाल बिनु सबहीं तैं जैसैं हरुवौ तनु[६५]।

६. **संबंधकारक**—इस कारक के अंतर्गत बीस से भी अधिक रूप मिलते हैं जिनको सुविधा की दृष्टि से कर्ता, कर्म आदि कारकीय प्रयोगों के समान चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

क. **'एक' के रूपांतर**—इस वर्ग में केवल एक प्रमुख रूप मिलता है 'एकनि' जिसका प्रयोग कुछ ही पदों में हुआ है; जैसे—एकनि कर हैं अगर—कुमकुमा[६६]।

ख. **'और' के रूपांतर**—और की, और के, औरनि की, औरनि के तथा औरनि कौ—ये रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से तीसरे-चौथे का विशेष और शेष का सामान्य प्रयोग किया गया है।

---

४७. सा. ४१२६। ४८. सा. १५२२। ४९. सा. २९२२। ५०. सा. १०७०।
५१. सा. ३०८०। ५२. सा. ४०८१। ५३. सा. २९००। ५४. सा. २९०३।
५५. सा. ११५४। ५६. सा. ३९९५। ५७. सा. ३१४४। ५८. सा. ३७१२।
५९. सा. ३८२०। ६०. सा. ३९८४। ६१. सा. ४१९४। ६२. सा. ४२१०।
६३. सा. ४२०२। ६४. सा. ३१०९। ६५. सा. ४०२३। ६६. सा. २८१४।

अ. और की—तजी और की आस[67] ।

आ. और के—स्याम हलधर सुत तुम्हारे, और के सुत न कहाहिं[68] ।

इ. औरनि की—औरनि की मटकी कौ खायौ[69] ।

ई. औरनि के—औरनि के घर[70] । औरनि के वदन[71] । औरनि के चित्त[72] । औरनि के लरिका[73] ।

उ. औरनि कौ-औरनि कौ मन[74] ।

ग. 'कोई' या 'कोऊ' के रूपांतर—इस वर्ग के प्रयुक्त रूपों में मुख्य हैं - काहूँ, काहू, काहू की, काहू के, काहू केरौ और काहू कौ। इनमें से 'काहू केरौ' का प्रयोग अपवादस्वरूप, प्रथम दो का सामान्य और शेष तीन का विशेष रूप से मिलता है; जैसे—

अ. काहूँ—वह सुख टरत न काहूँ मन तैं[75] । काहूँ काम न आवै[76] ।

आ. काहू—काहू हाथ सँदेस[77] ।

इ. काहू की—बधू होइ काहू की[78] । जाति न काहू की[79] । टेर सुनत काहू की स्रवननि[80] । है काहू की सारी[81] । काहू की गगरी[82] ।

ई. काहू के—काहू के कुल-तन[83] । लरिकनि मारि भजत काहू के[84] । काहू के चित[85] । काहू के जिय कौ[86] ।

उ. काहू केरौ—जोग जु काहू केरौ[87] ।

ऊ. काहू कौ—इहाँ कोउ काहू कौ नाहीं[88] । काहू कौ दधि-दूध[89] । कह्यौ नहीं मानत काहू कौ[90] । रस-गोरस हरैं न काहू कौ[91] ।

घ. 'सब' के रूपांतर—इस वर्ग के रूपों की संख्या उक्त तीनों वर्गों से अधिक हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—सबकी, सबके, सब केरी, सब केरे, सबकौ, सबनि, सबनि की, सबनि के, सबनि कौ, सबहिनि, सबहिनि के, सबहिनि केरैं और सबहुनि कौ। इनमें से 'की', 'के' और 'कौ'-युक्त रूपों का ही प्रयोग विशेष रूप से किया गया है; जैसे—

अ. सबकी—सबकी सौहैं खैहैं[92] । संपति सबकी लै री[93] ।

आ. सबके—सबके बसन[94] । सबके भाव[95] । नैन सुफल सबके भए[96] । कैसे

---

६७. सा. ३५८३ । ६८. सा. ३४३६ । ६९. सा. १५९९ । ७०. सा. २२३१ ।
७१. सा. २५५२ । ७२. सा. २५६२ । ७३. ४०८२ । ७४. सा. १९३४ ।
७५. सा. ११७१ । ७६. सा. २३२४ । ७७. सा. ३२२४ । ७८. सा. ९-४१ ।
७९. सा. ९-६७ । ८०. सा. ४५९ । ८१. सा. ६९३ । ८२. सा. १३९९ ।
८३. सा. १-१२ । ८४. सा. १०-३४० । ८५. सा. १३९९ । ८६. सा. ३२४६
८७. सा. ३७२३ । ८८. सा. ७-२ । ८९. सा. १०-३४० । ९०. सा. ५१६ ।
९१. सा. १९३८ । ९२. सा. १७२४ । ९३. सा. २४३३ ।
९४. सा. ७९९ । ९५. सा. ९०३ । ९६. सा. ११८० ।

हाल भए तब सबके[१७]।

इ. सब केरी--प्रीति-रीति सब केरी[१८]।

ई. सब केरे--प्रान-जिवन सब केरे[१९]।

उ. सबकौ--जान्यौ सबकौ ज्ञान[१]। सबकौ मन[२]। सोच सबकौ[३]।

ऊ. सबनि—बहु रूप धरि हरि गए सबनि घर[४]। सबनि मुख यह बात[५]।

ऋ. सबनि की—प्रीति सबनि की तोर[६]। सबनि की आस[७]। सबनि की
कानि[८]। यहै रीति संसार सबनि की[९]।

ए. सबनि के—सबनि के चीर[१०]। सबनि के मुख[११]। बड़ भाग सबनि
के[१२]। करे सबनि के पूरन कामा[१३]।

ऐ. सबनि कौ—दुख हरत सबनि कौ[१४]।

ओ. सबहिनि--कियौ स्याम सबहिनि मन भायौ[१५]।

औ. सबहिनि के—सुखदायक सबहिनि के[१६]। सबहिनि के प्रतिबिंब[१७]।

अं. सबहिनि केरैं—पूरनकामी सबहिनि केरैं[१८]।

अः. सबहुनि कौ—सबहुनि कौ मन[१९]।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में मुख्य आठ रूप मिलते है—काहुँ कैं, काहुँ,
काहू कैं, काहू पर, सबनि मैं, सबनि मँझार और सबमैं। इनमें से 'काहू कैं' का
प्रयोग विशेष रूप से किया गया है।

अ. काहुँ कैं—कत हो कान्ह काहुँ कैं जात[२०]।

आ. काहूँ—ऐसी कृपा करी नहिं काहूँ (पर)[२१]।

इ. काहू कैं—काहू कैं निसि बसत बनाइ[२२]। वै लुब्धे अनतहिं काहू कैं[२३]
कबहूँ रैनि बसत काहू कैं.....। काहू कैं जागत सिगरी निसि[२४]।

ई. काहू पर--हम पर क्रोध किधौं काहू पर[२५]।

उ. सबनि मैं--रहत सबनि मैं वै परसी[२६]।

ऊ. सबनि मँझार—सबहिनि कैं मन साँवरौ दीसै सबनि मँझारि[२७]।

---

१७. सा. १५६०। १८. सा. ३८१४। १९. सा. ३१३[illegible]
१. सा. १५७४। २. सा. ३०३६। ३. सा. ३०[illegible]
४. सा. ४१९४। ५. सा. ८५०। ६. सा. ६५७। ७. सा. ११[illegible]
८. सा. २३४९। ९. सा. ४०६५। १०. सा. १४०६। ११. सा. १४[illegible]
१२. सा. २९०७। १३. सा. २९१०। १४. सा. २८१७। १५. सा. १०[illegible]
१६. सा. १५६७। १७. सा. ४१६५। १८. सा. १०८६। १९. सा. १३[illegible]
२०. सा. १०-३०८। २१. सा. ५६९। २२. सा. २४७५। २३. सा. २४[illegible]
२४. सा २५३४। २५. सा. ९२६। २६. सा. ३११३। २७. सा. [illegible]

११. सबमैं—भाव-बस्य सबमैं रहौं[२८]।

सारांश—विभिन्न कारकों में प्रयुक्त अनिश्चयवाचक सर्वनाम के जिन रूपों के उदाहरण ऊपर दिये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त रूप	बलात्मक रूप
कर्त्ता	इक, एक, (एकनि), और, औरी, काहुँ, काहु, काहूँ, काहू, किनहूँ, कोइ, कोउ, कोऊ, सब, सबनि	... ...	एकै, सबहिनि, सबहीं, सबै
कर्म	(एकहिं), और, औरनि, (काहुँ), काहु, (काहूँ), कोऊ, सबनि	औरनि कौं, औरहिं, काहू कौं, काहुहिं	सबहिनि, सबहीं, सबै
करण	औरनि, काहुँ, काहूँ, काहू, सबनि	इकसौं, इकहिं, एकसौं, एकहिं, औरनि सौं, और पै, काहू पै, काहू सौं, सबनि सौं, सबसौं	सबहीं सौं
संप्रदान	औरनि, काहुँ, काहू, सबनि	औरनि कौं, काहूँ कौं, काहू कौं, कौन कौं, सबकौं, सबनिकौं	औरनि हूँ कौं, औरहूँ, सबहिनि,
अपादान	...	एक तैं, सबतैं, सबनि सौं, सबसौं	सबहिनि तैं, सबही तैं
संबंध	एकनि, काहूँ, काहू, सबनि	और की, और के, औरनि की, औरनि के, औरनि कौ, काहू की, काहू के, (काहू केरौ), काहू कौ, सबकी, सबके, (सब केरी), (सब केरे), सबकौ, सबनि की, सबनि के, सबनि कौ	सबहिनि, सबहिनि के, (सबहिनि केरैं), सबहुनि कौ
अधिकरण	काहूँ	काहु कैं, काहू कैं, काहू प्र सबनि मैं, सब मैं	सबहिनि मैं

२८. सा. ११०१।

द्वितीय वर्ग के प्रयोग—अनिश्चयवाचक सर्वनाम के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, वे चेतन पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुए हैं; अचेतन पदार्थों के लिए, जो रूप प्रयुक्त होते हैं, उनमें मुख्य हैं—एक, और, कछु, कछुक तथा सब। इनमें से 'एक', 'और' तथा 'सब' के प्रयोग तो ऊपर दिये हुए उदाहरणों के समान ही किये गये हैं, 'कछु' के कुछ उदाहरण यहाँ और दिये जाते हैं—

कछु—यामैं कछू न छीजै[२९]। सुनहु सूर हमकौं कछु दैहौ[३०]। ज्यौं बालक जननी सौं अटकत, भोजन कौं कछु माँगै[३१]।

निजवाचक सर्वनाम—

इस सर्वनाम का मूल रूप 'आप' प्रायः विशेषण के समान प्रयुक्त होता है। 'आप' या 'आपु' इसका मूल और 'आपन' या 'आपुन' विकृत रूप है। विभिन्न कारकों में सूरदास ने इसके प्रयोग इस प्रकार किये हैं—

१. **कर्त्ताकारक**—आप, आपु, आपुन, आपुन ही, आपुहिं और आपै—ये छह रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें प्रथम तीन रूप सामान्य हैं और अंतिम तीन बलात्मक। इन सभी का प्रयोग सूर-साहित्य में प्रायः समान रूप से किया गया है।

अ. **आप**—इंद्र भय मानि हय गहन सुत सौं कह्यौ, सो न लै सक्यौ, तब आप लीन्हौ[३२]।

आ. **आपु**—आपु मैं आपु समाए[३३]। आपु खात[३४]। आपु भजे ब्रज खोरी[३५]।

इ. **आपुन**—दुखित गयंदहिं जानि कै आपुन उठि धावै[३६]। आपुन भए उधारन जग के[३७]। आपुन भए भिखारी[३८]। आपुन रहे छपाइ[३९]।

ई. **आपुन ही**—सूर स्याम, आपुन ही कहियै[४०]। आपुन ही चलियै-उद्धरियै[४१]।

उ. **आपुहिं**—आपुहिं कहति, लेति नाहीं दधि[४२]। आपुहिं बुद्धि उपाई[४३]। आपुहिं चलियै तौ भली बानति[४४]।

ऊ. **आपै**—सूरदास प्रभु देखि खरिक, अब हीं आपै आयौ[४५]।

२. **कर्मकारक**—आपु, आपु कौं और आपुन—ये तीन रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से 'आपु' और 'आपुन' का विशेष और द्वितीय का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. **आपु**—आपु बँधाइ पूँजि लै सौंपी[४६]। आपु देखि पर देखि रे[४७]। सूर सनेह करै जो तुमसौं, सो पुनि आपु बिगोऊ[४८]।

---

२९. सा. ९-१२६। ३०. सा. १७६६। ३१. सा. २३५८। ३२. सा. ४-११। ३३. सा. २-३६। ३४. सा. १०-२६५। ३५. सा. १०-२६८। ३६. सा. १-४। ३७. सा. १-२०७। ३८. सा. ८-१४। ३९. सा. १०-२६५। ४०. सा. १३३२। ४१. सा. २११५। ४२. सा. १६२२। ४३. सा. २१५०। ४४. सा. २५७२। ४५. सा. १०-३१५। ४६. सा. २३७८। ४७. सा. ३६१३। ४८. सा. ३९७१।

आ. आपु कौं—रे मन, आपुकौं पहिचानि[४९]। सो चली आपुकौं तब छुड़ाई[५०]।

इ. आपुन—अबकैं तौ आपुन लै आयौ[५१]। बाँधन गए, बँधाए आपुन[५२]।

३. करणकारक—इस कारक में केवल दो मुख्य रूप मिलते हैं—'अपननि कौं' और 'आपुसौं'। इनका प्रयोग भी कुछ ही पदों में किया गया है; जैसे—

अ. अपननि कौं—बूझति नहीं जाइ अपननि कौं, न्हाति रही तब जौन जौन री[५३]।

आ. आपुसौं—आपु आपुसौं तब यौं कही[५४]।

४. संप्रदान कारक—इस कारक में भी एक ही मुख्य रूप इने-गिने पदों में प्रयुक्त हुआ है—आपकौं; जैसे —मेरौ करि काज, मीच आपकौं बुलायौ[५५]। अपनी देह आपुकौं बैरिनि[५६]।

५. अपादान कारक—'आपु तैं'-जैसा कोई रूप इस कारक में होना चाहिए; परन्तु सूरदास ने संभवतः इसका प्रयोग नहीं किया है।

६. संबंधकारक—इस कारक में सोलह-सत्रह रूप प्रयुक्त हुए हैं जिनको सुविधा के लिए तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—विभक्तिरहित या सामान्य विभक्ति-युक्त, विशेष विभक्तियुक्त और बलात्मक।

क. विभक्तिरहित या सामान्य विभक्तियुक्त रूप—अप, अपनी, अपने, अपनौ, आपन, आपनी, आपने, आपनौ, आपु, आपुन, आपुनी, आपुने और आपुनौं—ये मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'अप' और 'आपन' का कुछ पदों में और अन्य रूपों का अनेक पदों में प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. अप—कहियै अप जी कौ[५७]। मन ही मन अप करत प्रसंसा[५८]।

आ. अपनी—और कही कुछ अपनी[५९]। गृह आरति अपनी[६०]। अपनी घरनि[६१]। अपनी रुचि[६२]। रुचि अपनी अपनी[६३]।

इ. अपने—अपने अज्ञान[६४]। अपने कर[६५]। अपने बिरद[६६]। मुख अपने[६७]।

ई. अपनौ—अपनौ गात्र[६८]। अपनौ प्रन[६९]। अपनौ मुख[७०]। सरबस अपनौ[७१]। अपनौ साज[७२]।

---

४९. सा. १-७०। ५०. सा. ८-१०। ५१. सा. १-१४६। ५२. सा. ८-१५।
५३. सा. १९७६। ५४. सा ५-३। ५५. सा. २९४४। ५६. सा. १८५३।
५७. सा. २९३४। ५८. सा. ३४२९। ५९. सा. ४१२५। ६०. सा. १-२५९।
६१. सा. १-१३०। ६२. सा. १-९८। ६३. सा. १०-२४। ६४. सा. १-११४।
६५. सा. १०-४८। ६६. सा. १-१०८। ६७. सा. ५०९। ६८. सा. १-२१६।
६९. सा. ९-१५९। ७०. सा. २-२५। ७१. सा. ८-१५। ७२. सा. १-९६।

उ. आपन—आपन जिय[७३]। आपन रूप[७४]।

ऊ. आपनी—आपनी करनी[७५]। घात आपन[७६]। जथामति आपनी[७७]। आपनी जीविका[७८]। पति-कानि नाहिं आपनी[७९]। आपनी पीठ[८०]। आपनी पौरी[८१]।

ऋ. आपने—कर आपने[८२]। आपने कर्म[८३]। केस आपने[८४]। आपने घर[८५]। बसन आपने[८६]। आपने भाग[८७]।

ए. आपनौ—अकाज आपनौ[८८]। आपनौ कर्म[८९]। काज आपनौ[९०]। आपनौ कुलदेव[९१]। आपनौ जन्म[९२]। सुख छाँड़ौ आपनौ[९३]।

ऐ. आपु—आपु काज[९४]। आपु छाँह[९५]। आपु दसा[९६]। आपु बाहु-बल[९७]। किये आपु मन भाए[९८]।

ओ. आपुन—आपुन आयसु[९९]। आपुन कर[१]। आपुन झारी[२]। आपुन मन[३]। सुरपति आयौ संग आपुन सची[४]।

औ. आपुनी—आपुनी टेक[५]। भक्ति अनन्य आपुनी[६]। सौंह आपुनी[७]।

अं. आपुने—आपुने धाम[८]। आपुने सुत[९]।

अः आपुनौ—आपुनौ कल्यान[१०]। आपुनौ दास[११]। बिरद आपुनौ[१२]।

ख. विशेष विभक्तियुक्त रूप—इस वर्ग में केवल दो रूप आते हैं—अपने कौ और आपुन कौ—और इन रूपों का प्रयोग भी इने-गिने पदों में ही हुआ है; जैसे—

अ. अपने कौ—तजि जिय सोच तात अपने कौ[१३]।

आ. आपुन कौ—आपुन कौ उपचार करौ अति[१४]।

ग बलात्मक रूप—अपनेहिं, अपनोइ और अपनौ ही—केवल ये तीन रूप इस वर्ग के हैं जिनका प्रयोग कुछ ही पदों में किया गया है; जैसे—

---

७३. सा. ९-५। ७४. सा. ५५३। ७५. सा. १-१३२।
७६. सा. ५९१। ७७. सा. ४-११। ७८. सा. ४-११।
७९. सा. १०-३२३। ८०. सा. ८-८। ८१. सा. ६७३। ८२. सा. २४४३।
८३. सा. १-११०। ८४. सा. ४-५। ८५. सा. ५०९। ८६. सा. ७९२।
८७. सा. २००२। ८८. सा २१०२। ८९. सा. ८-१६। ९०. सा. ९-१०३।
९१. सा. ८५९। ९२. सा. ४-११। ९३. सा. ९-३५। ९४. सा. २२७५।
९५. सा. १०-११०। ९६. सा. २३१५। ९७. सा. ९-१५८ ९८. सा. ३११।
९९. सा. ९-११०। १. सा. १२१३। २. सा. ४१८८। ३. सा. ९४६।
४. सा. ४१८६। ५. सा. १४९१। ६. सा. ३-१३। ७. सा. ३४४८।
८. सा. ४-११। ९. सा. १०-३१४। १०. सा. १-३१५। ११. सा. ५७९।
१२. सा. १-१७९। १३. सा. ४२११। १४. सा. ३५२१।

अ. अपनेहिं—अपनेहिं सिर[१५] ।

आ. अपनोइ—अपनोइ उदर[१६] । अपनोइ पेट[१७] । अपनोइ मन[१८] ।

इ. अपनौ ही—अपनौ ही प्रान[१९] ।

७. अधिकरण कारक—इस कारक में सूरदास द्वारा प्रयुक्त मुख्य पाँच रूप मिलते हैं—अप माहीं, अपने मैं, अपुन मैं, आपुन ही मैं और आपु मैं। इसमें केवल चौथा रूप बलात्मक है। इन सभी रूपों का प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है; जैसे—

अ. अप माहीं—जोगी भ्रमत जाहि लगे भूले, सो तो है अप माहीं[२०] ।

आ. अपने मैं—मन महतो करि कैद अपने मैं[२१] । हम वैसी ही सचु अपने मैं[२२] ।

इ. अपुन मैं—कहन लगे सब अपुन मैं[२३] ।

ई. आपुन ही में—अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ[२४] ।

उ. आपु मैं—पुनि सबकौ रचि अंड,आपु मैं आपु समाए[२५] ।

सारांश—निजवाचक सर्वनाम के विभिन्न कारकों में प्रयुक्त जो रूप ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्तिरहित रूप	विभक्तियुक्त	बलात्मक रूप
कर्त्ता	आप, आपु, आपुन	...	आपुन ही, आपुहिं, आपुहीं, आपैं
कर्म	आप, आपु, आपुन	आपुकौं, आपुहिं	...
करण	...	आपुसौं	...
संप्रदान	...	आपुकौं	...
अपादान	...	...	....
संबंध	अप, आपन, आपु, आपुन	अपनी, अपने, अपनौ, आपनी आपने, आपनौ, आपुनी, आपुने, आपुनौ, आपने कौ, आपुन कौ	अपनेहिं, अपनोइ, अपनौ ही, आपैं, (आपुन ही मैं)
अधिकरण	....	(अप माहीं), अपने मैं, (अपुन मैं) (आपु मैं)	... .

आदरवाचक सर्वनाम—

निजवाचक सर्वनाम की तरह 'आप' या 'आपु' इसका मूल और 'आपन' या 'आपुन' विकृत रूप होता है। इस सर्वनाम का प्रयोग, एक प्रकार से 'सूर-काव्य' में नहीं के बराबर हुआ है। यदि कहीं इसका प्रयोग मिलता भी है तो उसके आगे-पीछे

---

१५. सा. १३१४ । १६. सा. २३६६ । १७. सा. २२६७ ।
१८. सा. २३९४ । १९. सा. ४-५ । २०. सा. ३९२४ । २१. सा. १-१४२ ।
२२. सा. ३५१० । २३. सा. ४३१ । २४. सा. ४-१३ । २५. सा. २-३६ ।

इसका निर्वाह नहीं किया गया है। अतएव विभिन्नकारकों में प्रयुक्त आदरवाचक सर्वनाम के गिने-चुने उदाहरण ही यहाँ दिये जाते हैं।

१. कर्ताकारक—आपुन और रावरे—ये दो प्रमुख रूप इस कारक में मिलते हैं जिनका प्रयोग अपवादस्वरूप ही कहीं-कहीं दिखायी देता है; जैसे—

अ. आपुन—आपुन चलियै बदन देखियै, जौ लौं रहै निठुराई[२६]।

आ. रावरे—घर ही के बाढ़े रावरे[२७]।

२. संबंधकारक—राउर, रावरी, रावरे और रावरौ—ये चार मुख्य रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'रावरी' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है, शेष रूपों का उससे कम; जैसे—

अ. राउर—अलि, तुम जाहु....। नाद मुद्रा भूति भारी, करैं राउर भेष[२८]।

आ. रावरी—रावरी सैनहूँ साज कीजै[२९]। बड़ी बड़ाई रावरी[३०]। जग मैं कीरति होइ रावरी[३१]। जहाँ लगि कथा रावरी[३२]।

इ. रावरे—सूर स्याम रावरे ढंग ये[३३]। गुन रावरे[३४]।

ई. रावरौ—मानहिंगी उपकार रावरौ[३५]।

अन्य कारकों में आदरवाचक सर्वनाम के रूप कदाचित् सूर-काव्य में नहीं के बराबर ही हैं। जो प्रयोग मिलते भी हैं वे अधिकांश में उसी प्रकार के हैं जैसा 'राउर' का उदाहरण ऊपर दिया गया है कि पद के आरंभ में जिसके लिए 'तुम' का प्रयोग है, आगे उसी के लिए आदरवाचक 'राउर' प्रयुक्त हुआ है। 'रावरी' का प्रयोग जिन पदों में किया गया है, उनमें से अधिकांश में 'बावरी'-जैसे शब्दों के तुक का निर्वाह करने के लिए 'रावरी' आया है; ऐसे प्रयोगों को भी शुद्ध आदरवाचक नहीं कहा जा सकता। 'रावरी सैनहूँ साज कीजै'—श्रीराम के प्रति हनुमान के इस कथन-जैसे शुद्ध आदरवाचक प्रयोग कम ही मिलते हैं।

सारांश—आदरवाचक सर्वनाम के कर्ता और संबंधकारकों के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं —

१. कर्ताकारक आप, आपुन, रावरे।

२. संबंधकारक राउर, रावरी, रावरे, रावरौ।

सर्वनाम संबंधी अन्य बातें—

विभिन्न सर्वनाम-भेदों में सूरदास के सार्वनामिक प्रयोगों के विशिष्ट उदाहरण देखने के पश्चात् भी तद्विषयक कुछ आवश्यक बातें रह जाती हैं। इनमें से निम्नलिखित मुख्य विषयों की चर्चा यहाँ और करना है।

२६. सा. १७९०। २७. सा. ३६१६। २८. सा. ४०५५।
२९. सा. ९-१३६। ३०. सा. ३१५५। ३१. सा. ४०८०।
३२. सा. ४१०३। ३३. सा. १५८६। ३४. सा. २४८७। ३५. सा. ७९३।

क. दोहरे सर्वनामों के प्रयोग।
ख. दोहरी विभक्तियों के प्रयोग।
ग. विभक्ति-समान प्रयुक्त अव्यय शब्द।
घ. विभक्ति-संयुक्त विशिष्ट संबंध कारकीय रूप।

क. दोहरे सर्वनामों के प्रयोग—सूरदास ने अनेक पदों में दो विभिन्न सर्वनाम-रूपों का साथ-साथ प्रयोग करके उन्हें 'संयुक्त' रूप दिया है। ऐसे अधिकांश संयुक्त प्रयोगों में एक रूप अनिश्चयात्मक है और अनेक स्थलों पर दोनों सर्वनामों में से एक का प्रयोग विशेषण के समान किया गया है; जैसे—

१. और काहू की—वह तौ धेनु और काहू की[३६]।
२. और की और—हमसौं कहत और की और[३७]।
३. और को—ऐसे चरित और को जानै[३८]।
४. औरहिं काहू—आजु गए औरहिं काहू कैं[३९]।
५. कछु और—मेरैं मन कछु और है[४०]।
६. काकौ काकौ—काकौ काकौ गथ तैं धौं लियौ छुड़ाइ[४१]।
७. कोउ एक—कोउ एक गए पराए[४२]।
८. कोउ और—लालची इनतैं नहीं कोउ और[४३]।
९. जोई सोई—जे अनभले बड़ाई तिनकी मानै जोई सोई[४४]।
१०. सब काहू—धन्य धन्य सब काहू भाष्यौ[४५]।
११. सब कोइ—हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ[४६]।
१२. सब कोई—यह जानत सब कोई[४७]।
१३. सब कोउ—नैन देखत प्रगट सब कोउ कनक मुक्ता लाल[४८]।
१४. सब कोऊ—तू जानै, जानै सब कोऊ[४९]।
१५. सबहीं काहू—सबहीं काहू कौं अपनौ ही हित भावै[५०]।
१६. सबै तेउ—असुर जोधा सबै तेउ सँहारे[५१]।
१७. हम सब—हम सब भईं अनाथ[५२]।

ख. दोहरी विभक्तियों के प्रयोग—इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या अधिक नहीं है; फिर भी कुछ पदों में सर्वनामों के साथ दोहरी विभक्तियों के प्रयोग मिलते हैं; जैसे—बूझति ताकौं कौन की को है री प्यारी[५३]। जिन पै तैं आस ऊबौ, तिनहिं के पेट समैहै[५४]।

---

३६. सा. २००५। ३७. सा. २५२५। ३८. सा. २७०१। ३९. सा. २४७६।
४०. सा. ४१८८। ४१. सा. २४२९। ४२. सा. ९-५७। ४३. सा. २३८०।
४४. सा. २२५५। ४५. सा. ४१९२। ४६. सा. ४२०६। ४७. सा. ४१९२।
४८. सा. २३०९। ४९. सा. १८५०। ५०. सा. ४०१६। ५१. सा. ३०२३।
५२. सा. ३४०८। ५३. सा. २२०१। ५४. सा. ३६६४।

ग. विभक्ति समान प्रयुक्त अव्यय शब्द—विभिन्न सर्वनाम-रूपों के साथ अनेक अव्यय शब्दों का विभक्ति के समान प्रयोग 'सूरसागर' में सर्वत्र मिलता है। ऐसे प्रयोगों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें से प्रमुख यहाँ संकलित हैं—

१. **आग**—(इक गाइ) अब आज तैं आप आगैं दई[५५]। तिहारे आगैं बहुत नच्यौ[५६]। मेरे आगैं खेल करौ कछु[५७]। मेरी बात गई इन आगैं[५८]। व्यथा हमारी कहे बनै तुम आगैं[५९]।

२. **ऊपर**—सारँगपानि राय ता ऊपर गए परीच्छित कीर[६०]। कै अधर्म तौ ऊपर होत[६१]। ताके ऊपर कनक लगायौ[६२] आपु चढ़चौ ता ऊपर भायौ[६३]।

३. **ओर**—मेरी ओर न कछू निहारौ[६४]।

३. **काज**—इनहीं काज पराउँ[६५]। स्रम कियौ मोहिं काज[६६]।

५. **कारन**—तुम कारन राख्यौ बलभैया[६७]। माखन धरचौ तिहारेंहि कारन[६८]। हौं इहाँ तेरेहि कारन आयौ[६९]।

६. **ढिग**—तब नारद तिनकैं ढिग आइ[७०]। जाहु उनहिं ढिग भोजन माँगन[७१]।

७. **तन**—जब चितवत मो तन[७२]। हम तन कृपा निहारौ[७३]। तक्यौ नहिं मो तन[७४]।

८. **तर**—आनंद करत सबै ताहि तर[७५]। ढुलरी अरु तिलरी बँद ता तर सुभग हुमेल बिराजत[७६]। पीन पयोधर सघन उनत अति ता तर रोमावली लसी री[७७]।

९. **तूले**—(लोचन) निदरे रहत मोहिं नहिं मानत, कहत, कौन हम तूले[७८]।

१०. **नाईं**—काल-कर्म-बस फिरत सकल प्रभु तेऊ हमरी नाईं[७९]।

११. **निमित्त**—तिहिं निमित्त तिन आहुति दई[८०]।

१२. **नियरैं**—गनती करत ग्वाल गैयनि की, मोहिं नियरैं तुम रैहौ[८१]।

१३. **पाछैं**—सिवहू ताके पाछ्रु धाए[८२]। नगन पगन ता पाछैं गयौ[८३]। इक धावत पाछैं उनही के[८४]।

---

५५. सा. १-५१। ५६. सा. १-१७४। ५७. सा. १-२३१।
५८. सा. १७६७। ५९. सा. ३७६५। ६०. सा. ३-१३।
६१. सा. १-२९०। ६२. सा. ७-७। ६३. सा. १०-७७।
६४. सा. ७-२। ६५. सा. ५२८। ६६. सा. १४०१। ६७. सा. १०-२२१।
६८. सा. ५४६। ६९. सा. ४२७८। ७०. सा. १-२३०। ७१. सा. ८००।
७२. सा. १०-१०३। ७३. सा. १०२०। ७४. सा. १८३९। ७५. सा. ९३९।
७६. सा. १४९८। ७७. सा. २४४७। ७८. सा. २३७१।
७९. १-१९५। ८०. सा. ६-५। ८१. सा. ६८०।
८२. सा. १-२२६। ८३. सा. ९-२। ८४. सा. ५३४।

१४. **पास**—मैं उबरयौ तिहिं पास[८५]। तनगि गए ता पास[८६]।

१५. **पासा**—कोटि दनुज मो सरि मो पासा[८७]।

१६. **बिच**—ता बिच बनी आड़ केसर की[८८]।

१७. **बिन**—नाहीं या बिन और उपाइ[८९]। उन बिन धीरज नहीं धरौं[९०]।

१८. **बिना**—तुमहिं बिना प्रभु कौन सहायौ[९१]। मोहिं बिना ये और न जानैं[९२],

१९. **बिनु**—तिहिं बिनु रहत नहीं[९३]। समरथ और न देखौं तुम बिनु[९४]। उन बिनु भोजन कौने काम[९५]। जेंवत नहीं नंद तुम्हरे बिनु[९६]।

२०. **बीच**—सुभग नव मेघ ता बीच चपला चमक[९७]।

२१. **भीतर**—तिनकैं भीतर बाग लगाए[९८]।

२२. **लऐं**—उनके लऐं लाज या तनु की सबै स्याम सौं हारी[९९]।

२३. **लगि**—दुखित जानि कै सुत कुबेर के तिन्ह लगि अपु बँधावै[१]।

२४. **लाग**—उड़ि उड़ि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग[२]।

२५. **लागि**—धन-सुत-दारा काम न आवैं, जिनहिं लागि आपुनपौ हारौ[३]।

२६. **संग**—कहा आनि हम संग भरमिहौ[४]।

२७. **सम**—मो सम कौन कुटिल-खल-कामी[५]। अम्रित ता सम नाहीं[६]। ता सम और जगत नहिं बियौ[७]।

२८. **समसरि**—मो समसरि कोउ नाहिं[८]।

२९. **सरि**—मो सरि कोउ न आन[९]। कोटि दनुज मो सरि मो पासा[१०]। तुमसे तुम ही ईस, नहीं द्वितीय कोई तुम सरि[११]।

३०. **साथ**—अपनैं सम जे गोप, कमल तिन साथ पठाए[१२]।

३१. **सी**—तो-सी नहिं कोउ निडर[१३]। और नहिं मो-सी कोऊ पिय की प्यारी[१४]। जानति और-सी बाला[१५]। औरनि-सी मोहूँ कौं जानति[१६]। बहुरि न सूर पाइहौ हम-सी बिनु दामन की चेरी[१७]। तुम-सी होइ सो तुमसौं बोलै[१८]।

३२. **से**—मो-से मुग्ध महापापी कौं कौन क्रोध करि तारै[१९]। तुम-से होइ वजीर[२०]।

---

८५. सा. ६०४। ८६. सा. २५६३। ८७. सा. २९२२।
८८. सा. २११४। ८९. सा. ९-५। ९०. सा. १८५४। ९१. सा. ३९१।
९२. सा. १०३२। ९३. सा. १.१४९। ९४. सा. १-१६०। ९५. सा. १-२३५।
९६. सा. १०-२३७। ९७. सा. १०४०। ९८. सा. ९-८।
९९. सा. २३७४। १. सा. १-१२२। २. सा. २३१२। ३. सा. १-८०।
४. सा. ९-३४। ५. सा. १-१४८। ६. सा. १-२४१। ७. सा. ९-३
८. सा. ५८९। ९. सा. १०-३६। १० सा. २९२२। ११. सा. ४२१०।
१२. सा. ५८९। १३. सा. ६९८। १४. सा. १०७९। १५. सा. १४७१।
१६. सा. २७२६। १७. सा. ३१८७। १८. मा. ३९०४। १९ सा. ९-७८।
२०. सा. ३८४१।

३३. सौं—मो-सौं पतित न दाग्यौ[21] । जाके मो-सौं तात[22] ।

३४. हित—तिन्ह हित आपु बँधाए[23] । तन-धन-जोबन ताहित खोवत[24] । [illegible]
हित तुम लीन्हौ अवतार[25] । रिषि तिनकैं हित गेह बनाए[26] । सबै [illegible]
राखत हित तुम्हरैं[27] । गए तासु हित बिलंब न करी[28] ।

३५. हेत—तुम्हरे हेत जमुन-जल ल्याऊँ[29] ।

३६. हेतु—हमहिं हेतु धनि भुजा बँधाए[30] ।

घ. विभक्तिसंयुक्त विशिष्ट संबंधकारकीय रूप—कुछ संबंधकारकीय सर्वनामों [illegible] 'एँ' के प्रयोग से ऐसा विशिष्ट रूप कवि ने दिया है कि संबंधी संज्ञा शब्द की विभक्ति [illegible] लोप वह सुगमता से कर सका है । ऐसे प्रयोग 'सूर-काव्य' में सर्वत्र मिलते हैं; जैसे—तुन उपजत उनहों कैं पानी[31] । वाकैं रंग ढरैं री[32] । तेरैं जिय कछु गर्व भयौ री[33] । मेरैं मन कछु और है[34] ।

विशेषण और सूर के प्रयोग—

वाक्य में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि शब्दों का प्रयोग जहाँ अर्थ की सामान्य पूर्ति के लिए किया जाता है, वहाँ विशेषण के प्रयोग में प्रायः एक सांकेतिकता रहती है जो कभी तो विशेष्य की विशिष्टता निर्धारित करती है और कभी अभिप्रेत भाव की ओर सार्थक संकेत करती है । विशेषण शब्दों के इन दोनों उद्देश्यों में प्रथम, अर्थात् विशिष्टता-निर्धारण का संबंध व्याकरण से है और द्वितीय का कला से । प्रथम उद्देश्य इतना सामान्य है कि उसकी आवश्यकता अशिक्षित तक समझते हैं और प्रायः सदैव उसकी पूर्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । 'काला घोड़ा', 'सफेद गाय', 'लाल पुस्तक', 'लंबा आदमी'-जैसे प्रयोगों में 'काला', 'सफेद', 'लाल' और 'लंबा' विशेषण क्रमशः 'घोड़ा', 'गाय', 'पुस्तक' और 'आदमी' के विशाल वर्ग से इनकी विशिष्टता या भिन्नता सूचित करते हैं; अर्थात्, पं० कामताप्रसाद गुरु के शब्दों में, इनकी 'व्याप्ति या विस्तार मर्यादित करते हैं'[35] । परंतु द्वितीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशेषण शब्दों का प्रयोग करना सबके वश की बात नहीं है; इसके लिए पैनी अंतर्दृष्टि के साथ-साथ उपयुक्त शब्द-चयन की योग्यता भी अपेक्षित है जो सूक्ष्म निरीक्षण, गंभीर अध्ययन, भावुक प्रकृति और चित्रांकन प्रवृत्ति पर निर्भर है । 'खिली कली' कहना सभी को आता है, परंतु 'हँसती, इठलाती या मदमाती कली' कहना सहृदय कवि के लिए ही सुरक्षित है । इस प्रकार के प्रयोग वस्तु-विशेष की व्याप्ति ही मर्यादित नहीं करते, प्रत्युत इनके द्वारा पाठक के हृद[illegible]

२१. सा. १-७३ । २२. सा. ३०९० । २३. सा. १[illegible]
२४. सा. २-२४ । २५. सा. ७-२ । २६. सा. ९-८ । २७. सा. ४१[illegible]
२८. सा. ४१९२ । २९. सा. १०-५७ ३०. सा. ३८४ । ३१. सा. ८८[illegible]
३२. सा. १३१९ । ३३. सा. १८८८ । ३४. सा. ४१[illegible]
३५.—'हिन्दी व्याकरण', नया संस्करण, पृ. १२४ ।

में बने हुए पूर्व संस्कारों को बड़ी सुकुमारता से हटाकर, लेखक अपने अंतस्तल में अंकुरित भावों को हृदयंगम करने की योग्यता उसे प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि उपयुक्त विशेषणों के प्रयोग से कवि, अलक्ष्य रूप से, ऐसा वातावरण बना लेता है कि आगे का वर्णन पाठक को सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत हो। निस्संदेह यह कार्य कला-कुशल के लिए ही संभव है।

व्याकरण की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्दों का अध्ययन करते समय, विशेषणों के उक्त महत्व को ध्यान में रखकर मुख्य रूप से चार बातों पर विचार करना है—१. रूपांतर, २. रूप-निर्माण, ३. वर्गीकरण और ४. प्रयोग।

१. विशेषण का रूपांतर—

संज्ञा शब्दों के समान सूरदास के विशेषण भी मुख्य रूप से आकारांत और औकारांत हैं, यद्यपि गौण रूप से 'आ', 'इ', 'उ', 'ए' और 'ऐ' से अंत होनेवाले रूप भी अनेक मिल जाते हैं। ऊकारांत विशेषण-रूपों का प्रयोग सूर-काव्य में अपवादस्वरूप ही मिलता है और वह भी विकृत रूपों में जैसे—छल करत कछू[३६]। ओकारांत रूप सभा के 'सूरसागर' में औकारांत बना दिये गये हैं। अनुस्वारांत रूपों की संख्या सूर-काव्य में बहुत कम है। इस प्रकार रूपांतर की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त विशेषणों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. मुख्य रूप, ख. गौण रूप और ग. अनुस्वारांत रूप।

क. **मुख्य रूप—अकारांत** और **औकारांत**, दो प्रकार के रूप इस वर्ग में आते हैं। द्वितीय रूप व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप होने के कारण सूर-काव्य में प्रथम से कुछ अधिक हैं; फिर भी अकारांत रूपों की संख्या कम नहीं कही जा सकती। कुछ अकारांत रूप अवधी की प्रकृति के अनुरूप भी हैं।

अ. अकारांत विशेषण—पट कुचैल[३७]। ऊँच पदवी[३८]। थूल (स्थूल) सरीर[३९]। तन दूबर : तन छनभंगुर, जीव थिर[४०]। गुरु समरथ[४१]। सुर-असुर मथत भए छीन[४२]। नगन नहिं होवहु[४३]। बड़ कुल[४४]। हौं कुचील[४५]। तोतर बोल[४६]। बलभद्र धूत[४७]। नंद के सुत नान्ह[४८]। अकथ कहानी[४९]। पीन कुचनि[५०]। बिधु की छबि गोर[५१]। रसाल बानी[५२]। बेसरि-मुक्ता रूर[५३]। बिरह-बिथा घोर[५४] आदि।

आ. औकारांत विशेषण—औगुन भरि लियौ भारौ[५५]। नीर जु छिलछिलौ[५६]।

---

३६. सा. ७-२। ३७. सा. १-७। ३८. सा. १-२४।
३९. सा. ५-३। ४०. सा. ५-४। ४१. सा. ६-६।
४२. सा. ८-८। ४३. सा. ९-२। ४४. सा. ९-४४।
४५. सा. ९-९१। ४६. सा. १०-१००। ४७. सा. १०-२१५। ४८. सा. ६१०।
४९. सा. ८९८। ५०. सा. २१७४। ५१. सा. २४६७। ५२. सा. २६०८।
५३. सा. २६६८। ५४. सा. ३२९४। ५५. सा. १-२१८। ५६. सा. १-३३८।

चित तौ सोई साँचौ[५७] । जो हरि भजै पियारौ सोई[५८] । हौं रहौं खीनौ[५९] । नीकौ मंत्र[६०] । बड़ौ नगर[६१] । करुवौ बचन[६२] । बस उजारौ[६३] । कान्ह बड़ेरौ[६४] । अंग कारौ[६५] । संबंध पाछिलौ[६६] । उपकार परायौ ''सयानौ काज[६७] । तब ससि सीरौ, अब तातौ[६८] । जोग जल खारौ ''' हल भारौ'''अहि कारौ[६९] । सरबस हरत परायौ[७०] । बोझ पृथी कौ हरुऔ[७१] आदि ।

ख. गौण रूप—इस वर्ग में शेष स्वरों में से आ, इ, ई, उ, ए और ऐ से अंत होनेवाले रूप आते हैं। इकारांत और उकारांत रूप स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ अधिक प्रयुक्त हुए हैं, पुल्लिंग के साथ कम। एकारांत रूप बहुवचन अथवा विभक्तियुक्त विशेष्यों के साथ अधिक आये हैं, सामान्य विशेष्यों के साथ कम। ऐकारांत रूप अधिकांश में अकारांत विशेषणों के ही रूपांतर है। इन सबके कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

अ. आकारांत विशेषण—कंस महा खल[७२] । मधुपुरि नगर रसाला[७३] । इनके गुन अगमैया[७४] । घूँट साता[७५] । नैन बिसाला[७६] । मेटै बिघन घना[७७] । उत स्यामा नवजौवना[७८] ।

आ. इकारांत विशेषण—पुल्लिंग विशेष्यों के साथ इनका प्रयोग कम, परंतु स्त्रीलिंग के साथ अधिक किया गया है; जैसे—

क्ष. पुल्लिंग विशेष्यों के साथ—जानसिरोमनि राय[७९] । महर है बड़भागि[८०] ।

त्र. स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ—नागरि नारि[८१] । परदेसिन नारि[८२] । हौं सीता कुलच्छनि[८३] । बड़भागिनि नंदरानी[८४] । हितकारिनि मैया[८५] । महरि बड़ीअभागि[८६] । लखति सोभा भारि[८७] । वह (मुरली) धूतिनि[८८] ।

इ. ईकारांत विशेषण—इनका प्रयोग भी पुल्लिग और स्त्रीलिंग, दोनों विशेष्यों

---

५७. सा. २-७ । ५८. सा. ७-२ । ५९. सा. ८-१० । ६०. सा. ९-१८ ।
६१. सा. ९-९९ । ६२. सा. ९-१०४ । ६३. सा. १०-४ । ६४. सा. १-२१६ ।
६५. सा. ५७७ । ६६. सा. १२७२ । ६७. सा. ३३४१ । ६८. सा. ३७३७ ।
६९. सा. ३७४२ । ७०. सा. ३७५६ । ७१. सा. ४३०९ ।
७२. सा. १-१७ । ७३. सा. १०-४ । ७४. सा. ४२८ । ७५. सा. ४४० ।
७६. सा. ६२५ । ७७. सा. ३००८ । ७८. सा. २८६७ । ७९. सा. १-८ ।
८०. सा. ३८७ । ८१. सा. १-३०९ । ७२. सा. ९-१४ ।
८३. सा. ९-९१ । ८४. सा. १०-५३ । ८५. सा. १०-११६ ।
८६. सा. ३८७ । ८७. सा. ८२९ । ८८. सा. १२८१ ।

के साथ हुआ है। प्रथम अर्थात् पुंल्लिग विशेष्यों के साथ ईकारांत विशेषणों का प्रयोग करते समय कवि ने यद्यपि किसी प्रकार से संकोच नहीं किया, तथापि स्त्रीलिंग की अपेक्षा इनके पुंल्लिग विशेष्यों की संख्या कम ही है; जैसे—

क्ष. पुंल्लिग विशेष्यों के साथ—जनहित हरि बहुरंगी[८९]। कियौ बिभीषन राजा भारी[९०]। दोउ बैल बली[९१]। भौंरा भोगी[९२]। सुर अति छमी, असुर अति कोही[९३]। बालि बली[९४]। यह रूप नवाई[९५]। कृष्न बिनानी[९६]। नीर सुची[९७]। नैना ऐसे हैं बिसवासी[९८]।

त्र. स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ—मति काँची[९९]। समर आँच ताती[१]। टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी[२]। नई रुचि नई पहिचानि[३]। सृष्टि तामसी[४]। दृष्टि तरौंधी[५]। नीकी तान[६]। जसुमति बड़भागिनी[७]। मधुरी बानी[८]। मति खोटी[९]। आछी उजियरिया[१०]। ग्वालि सयानी[११]। ग्वालि गरबीली[१२]। निरदई अहीरी[१३]। निरमोही बाम[१४]। नासा अति लोनी[१५]। सुमनसा भई पाँगुरी[१६]। पीर परारी[१७] आदि। परंतु स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ केवल इकारांत अथवा ईकारांत विशेषण ही प्रयुक्त हुए हों, सो बात भी नहीं है। अकारांत और औकारांत—इन दो मुख्य विशेषण रूपों में से द्वितीय का प्रयोग तो स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ नहीं के बराबर ही हुआ है, परंतु सरल अकारांत रूप अनेक पदों में मिलते हैं; जैसे—सुंदर नारी[१८]। कल बानी[१९]। कृपावंत कौसिल्या[२०]। ऊँचनीच जुवती[२१]। नवल सुंदरी आई[२२]। रसिक ग्वालिनी[२३] आदि।

ई. उकारांत विशेषण—दुख-सिंधु अथाहु[२४]। कटु बानी[२५]। लघु प्रानी[२६]।

उ. एकारांत विशेषण—इस वर्ग के विशेषण प्रायः तीन रूपों में प्रयुक्त हुए हैं—क. एकवचन आदरार्थ रूप। ख. बहुवचन सामान्य रूप। ग. विभक्तियुक्त विशेष्यों के साथ प्रयुक्त रूप; यद्यपि कहीं-कहीं एकवचन सामान्य विशेष्यों के

---

८९. सा. १-२१। ९०. स. १-३४। ९१. सा. १-१८५। ९२. सा. १-३२५। ९३. सा. ३-९। ९४. सा. ९-११४। ९५. सा. ७-२। ९६. सा. १०-५७। ९७. सा. ५६१। ९८. सा. २२७५। ९९. सा. १-१८। १. सा. १-३३। २. सा. १-३०१। ३. सा. १-३२५। ४. सा. ३-७। ५. सा. ९-७९। ६. सा. १०-९६। ७. सा. १०-११२। ८. सा. १०-१३४। ९. सा १०-१६३। १०. सा. १०-२४६। ११. सा. १०-२८१। १२. सा. १०-२९९। १३ सा. ३४८। १४. सा. ३६७। १५. सा. १११८। १६. सा. १८२१। १७. सा. २३४५। १८. सा. ३-१३। १९. सा. ९-६३। २०. सा. ९-८१। २१. सा. १०-८६। २२. सा. १०-२०६। २३. सा. १०-३२१। २४. सा. ९-३४। २५. सा. १०-२९५। २६. सा. ८५१।

साथ भी इनका प्रयोग मिलता है; जैसे—बौरे मन रहत अटल करि जान्यौ[२७]। झूठे भरम भुलानौ[२८]। कोरे कापरा[२९]।]

क्ष. एकवचन आदरार्थ रूप—बड़े भूप दरसन[३०]। गोरे नंद[३१]।

त्र. बहुवचन सामान्य रूप—भिल्लिनि के फल.. खाटे-मीठे-खारे[३२]। खाटे फल तजि मीठे ल्याई, जूँठे भए[३३]। कौतुक भारे[३४]। मधुरे बैन[३५]। बचन तोतरे[३६]। झँडूले बार[३७]। दाँत ये आछे[३८]। व्यंजन खाटे-मीठे-खारे[३९]। उनींदे नैन[४०]। ये नैन भए गरबीले[४१]। (नैना) भए पराए[४२]। भए अंग सिथिले[४३]। अटपटे बैन पिय रसमसे नैन[४४] आदि।

ज्ञ. विभक्तियुक्त विशेष्यों के साथ प्रयुक्त रूप—मीठे फल कौ रस[४५]। गाढ़े दिन के मीत[४६]। नर बपुरे की[४७]। झूठे नाते जगत के[४८]। बड़े बाप के पूत[४९]।

ऊ. ऐकारांत विशेषण—ध्रुवहिं अभै पद दियौ[५०]। अनंद अतिसै[५१]।

ग. अनुस्वारांत रूप—इस प्रकार के रूपों की संख्या अधिक नहीं है। अपवाद-स्वरूप प्राप्त कुछ विशेषण शब्द यहाँ दिये जाते हैं—

अ. आँकारांत विशेषण—भौहैं काट-कटीलियाँ[५२]। या ब्रज के सब लोग चिकनियाँ[५३]।

आ. एँकारांत विशेषण—बाएँ कर बाजि-बाग[५४]।

इ. ऐंकारांत विशेषण—नैन लजौहैं[५५]।

२. विशेषण का रूप-निर्माण—

ब्रजभाषा में प्रचलित अनेक विशेषण शब्द संस्कृत भाषा के सरल विशेषणों के आधार पर बने उनके अर्द्धतत्सम और तद्भव रूप हैं। अन्य कवियों के समान सूरदास ने भी इनको अपनाने में कभी संकोच नहीं किया। साथ ही, कुछ स्वतंत्र रूपों का निर्माण करके उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय भी दिया। इस प्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त विशेषण शब्दों को, स्थूल रूप से, छह वर्गों में रखा जा सकता है—क. संज्ञामूलक, ख.

२७. सा. १-३१९। २८. सा. १-३२९। २९. सा. १०-४०।
३०. सा. ९-४४। ३१. सा. १०-२१५। ३२. सा. १-२५।
३३. सा. ९-६७। ३४. सा. १०-४६। ३५. सा. १०-१०३।
३६. सा. १०-११७। ३७. सा. १०-१५१। ३८. सा. १०-२२२। ३९. सा. १०-२९६।
४०. सा. ७५२। ४१. सा. २२३५। ४२. सा. २३९०। ४३. सा. ३१८।
४४. सा. ३६३४। ४५. सा. १-२। ४६. सा. १-३१। ४७. सा. १-३१।
४८. सा. २-२९। ४९. सा. १०-३१९। ५०. सा. १-२८। ५१. सा. १०-२६।
५२. सा. १६६४। ५३. सा. १६६४। ५४. सा. १-२३। ५५. सा. १९५४।

विशेषणमूलक, ग. कृदंतमूलक, विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पद, ङ. स्वनिर्मित विशेषण और च. अन्य विशेषण। इनके अतिरिक्त सर्वनाममूलक विशेषण भी होते हैं जिनकी चर्चा 'वर्गीकरण' शीर्षक के अंतर्गत की जायगी। यहाँ उनका विवरण इसलिए अनावश्यक है कि वे तो मूलरूप में ही विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं जिससे उनके रूप-निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता।

क. **संज्ञामूलक विशेषण**--इस वर्ग के विशेषणों के निर्माण में सूरदास ने अधिकतर संस्कृत नियमों का सहारा लिया है। प्रमुख नियम और उनके दो-एक उदाहरण इस प्रकार हैं।

अ. संज्ञा शब्द के अंत में 'आल' या 'आलु' जोड़कर—कृपालु प्रभु[५६]। हँसे दयालु मुरारी[५७]।

आ. संज्ञा शब्द के अंत में 'आरी' (स्त्रीलिंग) जोड़कर—सुर भए सुखारी[५८]।

इ. संज्ञा शब्द के अंत में 'इत' जोड़कर—कुसुमित धर्म-कर्म कौ मारग[५९]। दुखित गयंद[६०]।

ई. संज्ञा शब्द के अंत में 'ई' जोड़कर—इस प्रकार के रूपों की संख्या बहुत अधिक है; जैसे हठी प्रहलाद[६१]। छरीदार बैराग बिनोदी[६२]। अजामिल बिषयी[६३]। बिषय जाप कौ जापी[६४]। कटुक बचन आलापी[६५]। सब पतितनि मैं नामी[६६]। मानुषी तन[६७]। ये हैं अपने काजी[६८]।

उ. संज्ञा शब्दों के अंत में 'औहीं' स्त्रीलिंग जोड़कर—बतियाँ तुतरौहीं[६९]।

ऊ. संज्ञा शब्द के अंत में 'औहैं' (पुल्लिग, बहु०) जोड़कर--नैन लजौंहैं[७०]।

ए. संज्ञा शब्द के अंत में 'क' जोड़कर—उर मंडल निरमोलक हार[७१]। घातक रीति[७२]।

ऐ. संज्ञा शब्द के अंत में 'द' जोड़कर—बंसीबट अति सुखद[७३]। सुखद धाम[७४]।

ओ. संज्ञा शब्द के अंत में 'र' जोड़कर--मधुर मूर्ति [७५]। रुचिर सेज[७६]।

इन मुख्य नियमों के अतिरिक्त भी सूरदास द्वारा संज्ञामूलक विशेषणों के रूप-निर्माण के कुछ सामान्य नियम बनाये जा सकते हैं; जैसे—संज्ञा के पूर्व 'स' और अंत में 'ऐ'—तुम हौ परम सभागे[७७]—जोड़कर विशेषण-रूप बनाना।

---

५६. सा. ९-६५। सा. ५७. ७९९। ५८. सा. ७-२। ५९. सा. १-९३।
६०. सा. १-१५८। ६१. सा. १-५। ६२. सा. १-४०। ६३. सा. १-१०४।
६४. सा. १-१४०। ६५. सा. १-१४०। ६६. सा. १-१४८। ६७. सा. १-३१५।
६८. सा. २२५७। ६९. सा. १०-२९४। ७०. सा. १०-२९४। ७१. सा. १-४१।
७२. सा. १-९८। ७३. सा. ४३७। ७४. सा. ६११।
७५. सा. ९-८२। ७६. सा. १०-७३। ७७. सा. १०-४।

ख. विशेषणमूलक विशेषण—इस वर्ग के अंतर्गत वे विशेषण आते हैं जिनका निर्माण विशेषण शब्दों के अंत में कोई अक्षर जोड़ कर किया गया है; इस प्रकार के शब्दों की संख्या सूर-काव्य में अधिक नहीं है; जैसे—

अ. 'स्याम' विशेषण में 'ल' जोड़कर—स्यामल तन[७८]। स्यामल अंग[७९]।

आ. 'रौ' जोड़कर— स्यामरौ सुंदर कान्ह[८०]।

इ. 'नन्हा' विशेषण के विकृत रूप में 'ऐया' जोड़कर— दोऊ रहै नन्हैया[८१]।

ग. कृदंतमूलक विशेषण— इस वर्ग के विशेषण मुख्य रूप से दो प्रकार से बनाये गये हैं—क्ष. धातु से और त्र. क्रियार्थक संज्ञा से। दोनों प्रकार के विशेषण-रूपों का प्रयोग कम ही किया गया है।

क. धातु से बने विशेषण—इस वर्ग मे वे विशेषण आते हैं जो धातु के अन्त में मुख्यतः निम्नलिखित अक्षरों या पदों को जोड़ कर बनाये गये हैं—

अ. धातु+क—हरि प्रेम-प्रीति के लाहक, सत्य प्रीति के चाहक[८२]। दाहक गुन[८३]।

आ. धातु+नि (स्त्रीलिंग)—मोहनि मूरत[८४]।

इ. धातु+नी- अति मोहिनी रूप[८५]। मूरति दुख-भय-हरनी[८६]।

ई. धातु+वारे—बहु जोधा रखवारे[८७]।

ख. क्रियार्थक संज्ञा से बने विशेषण—ऐसे रूप प्रायः 'नांत' रूपवाले क्रियार्थक संज्ञा शब्दों के अंत में निम्नलिखित जोड़ कर बनाये गये हैं—

अ. क्रियार्थक संज्ञा+हार—खेवनहार न खेवट मेरैं[८८]। करनहार करतार[८९]। राखनहार अहै कोउ और[९०]। को है मेटनहार[९१]।

आ. क्रियार्थक संज्ञा+हारि (स्त्रीलिंग)—मथनहारि सब ग्वारि बुलाई[९२]। बदरौला बिलोवनहारि...[९३]।

इ. क्रियार्थक संज्ञा+हारु—गोपनि कौ सागरु.......कान्ह बिलोवनहारु[९४]।

ई. क्रियार्थक संज्ञा+हारे—अति कुबुद्धि मन हावनहारे[९५]।

घ. विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पद—इस वर्ग में आनेवाले विशेषण-रूपों की संख्या सूर-काव्य में इतनी अधिक है कि उन सबके नियम बनाना आनावश्यक ही होगा। अतएव दो-चार प्रमुख नियम देकर शेष में से कुछ चुने हुए उदाहरण देना ही

---

७८. सा. १०-२७५। ७९. सा. ६३३। ८०. सा. ६२९। ८१. सा. ५१३।
८२. सा. १-१९। ८३. सा. १-१६३। ८४. सा. १०-२१०। ८५. सा. १०-५१।
८६. सा. ९-१०१। ८७. सा. ९-१०५। ८८. सा. १-१८४। ८९. सा. १-२६१।
९०. सा. ७-३। ९१. सा. ९-१२१। ९२. सा. ५२०।
९३. सा. ८४१। ९४. सा. ८४१। ९५. सा. १-१८५।

पर्याप्त होगा। ऐसे शब्द मुख्य रूप से संज्ञा-शब्दों के अंत में दूसरे पद जोड़कर बनाये गये हैं।

अ. संज्ञा+'कारि' या 'कारी'--अनुचर आज्ञाकारी[९६]। मेखला रुचिकारि[९७]।

आ. संज्ञा+दाई—सत्रु होई दुखदाई[९८]। तुम सुखदाई[९९]। प्रीति बस जमलतरु मोच्छदाई[१]।

इ. संज्ञा+दात—पर-दारा दुखदात[२]।

ई. संज्ञा+दाता—हरीचंद सो को जगदाता[३]। करम होइ दुखदाता[४]। तुम्हीं कौं दँडदाता मानत[५]।

उ. संज्ञा+दातार—कहियत इतने दुखदातार[६]।

ऊ. संज्ञा+दायक—द्वितिया दुखदायक नहिं कोइ[७]। जे पद ब्रज-जुवतिनि सुखदायक[८]।

ऋ संज्ञा+मय—स्वामी करुनामय[९]। कनकमय आँगन[१०]। मनिमय कनक अवास[११]। करौं रुधिरमय पंक[१२]।

ए. संज्ञा+मयी (स्त्रीलिंग)--करुनामयी मातु[१३]।

ऐ. संज्ञा+वंत-- प्रभु कृपावंत[१४]। बेनु नृप भयौ बलवंत[१५] क्रोधवंत ऋषि[१६] तृषावंत सुरभी-बालकगन[१७]।

ओ. संज्ञा+वती--गर्भवती हिरनी[१८]।

औ. संज्ञा+हीन—पांडुबधू पटहीन[१९]। फिरत-फिरत बलहीन भयौ[२०]।

अं. संज्ञा+धातु+क—हरि साँचे प्रीति-निबाहक[२१]। जीव साधु-निंदक[२२]। हरि सुर-पालक असुरन-उर-सालक[२३]।

अः. अन्य रूप—विशेषणवत् प्रयुक्त सामासिक पदों के जैसे उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, वैसे ही कुछ अन्य प्रयोग यहाँ और संकलित किये जाते हैं। इनके नियम देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती; जैसे—ऐसे प्रभु पर पीरक[२४]। जीव लंपट[२५]। रावन कुलखोवन[२६]। रनजीत पवनसुत[२७]। बिपति-बटावन

---

९६. सा. १-१६३। ९७. सा. ६३४। ९८. सा. १-२९०।
९९. सा. ९-७। १. सा. २०१८। २. सा. २-२४।
३. सा. १-२६४। ४. सा. १-२९०। ५. सा. ६-४। ६. सा. १-२९०।
७. सा. १-२९०। ८. सा. ५६८। ९. सा. १-२६२। १०. सा. ९-१९।
११. सा. ९-८२। १२. सा. ९-१३४। १३. सा. ४-१०। १४. सा. १-१७८।
१५. सा. ४-११। १६. सा. ९-१४। १७. सा. ५०१। १८. सा. ५-३।
१९. सा. १-१५८। २०. सा. ९-६। २१. सा. १-१९। २२. सा. १-१२४।
२३. सा. ३६३। २४. सा. १-११२। २५. सा. १-१२४। २६. सा ९-८८।
२७. सा. ९-११५।

बीर[२८]। रतनजटित पहुँची[२९]। कामातुर नारी[३०]।

ङ. **स्वनिर्मित विशेषण**—इस वर्ग में सूरदास के वे विशेषण आते हैं जिनका निर्माण संभवतः कवि ने ही किया है। इनकी मुख्य विशेषता स्पष्टता है जिसके कारण ऐसे प्रयोगों के मूल रूप का पता तो सुगमता से चल ही जाता है, इससे वे इतने अलग भी नहीं जान पड़ते कि अर्थ-बोध के लिए पूरे वाक्य या प्रसंग के जानने की आवश्यकता हो। अतएव ऐसे विशेषण प्रचलित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'दिन', 'दूज', 'विष' और 'निर्मोल' से बने निम्नलिखित प्रयोग प्रस्तुत किये जा सकते हैं—भली बुद्धि तेरैं जिय उपजी। ज्यौं ज्यौं दिनी भई त्यौं निपजी[३१]। द्वैज ससि[३२]। मुख बिषारौ[३३]। तातैं तू निरमोली री[३४]।

च. **अन्य विशेषण**—इस वर्ग में वे शब्द आते हैं जिनका प्रयोग तो विशेषण के समान ही किया गया है, परंतु जिनके निर्माण में उक्त शीर्षकों के अंतर्गत दिये गये नियमों का स्पष्ट रूप से सहारा नहीं लिया गया है, यद्यपि प्रयत्न करने पर इनके स्वतंत्र नियम बनाये अवश्य जा सकते हैं। इनमें से कुछ प्रयोग गढ़े गये हैं और कुछ विकृत किये गये हैं। ऐसे विशेषणों को कवि के 'विशेष प्रयोग' कहा जा सकता है; जैसे—हम ग्वालनि जुठहारे[३५]। सुन्दर मुरली अधर उपाम[३६]। राधा हरि कैं गर्व गहीली[३७]। अंग अंग सुख-पुंज भरीली[३८]। सौतिनि भाग-सुहाग छहीली[३९]। स्याम-रंग अजराइल रैहै[४०]। वा छबियै मैं भई लिना[४१]। झुरि झुरि कै ह्वै रही छिना[४२]। बड़ी पेट की गैसी हौ[४३]। निसि भई अगौहूँ[४४]। सूर····निकामी[४५]। लूटत रूप अखूट दाम कौ[४६]। गति लंगी[४७]। लोचन अतिहिं अहीठ[४८]। रूप भकाभक झूरि[४९]। तुम निठुरई पूसे हौ[५०]। करत उपरफट बातैं[५१]।

३. विशेषण का वर्गीकरण——

विशेषणों के मुख्य तीन भेद किये जा सकते हैं—१. सार्वनामिक, २. गुणवाचक और ३. संख्यावाचक। सूरदास ने इनमें से प्रथम का प्रयोग तो कम किया है, शेष दोनों रूपों के अन्तर्गत आनेवाले विशेषणों की संख्या बहुत अधिक है।

क. **सार्वनामिक विशेषण**—विभिन्न सर्वनाम-भेदों में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं कभी-कभी उनका प्रयोग विशेषणों के समान भी किया जाता है। 'सार्वनामिक विशेषण' शीर्षक के अंतर्गत ऐसे ही प्रयोग आते हैं। सूर-काव्य में भी अनेक सर्वनाम-शब्द विशेषणवत् प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—

---

२८. सा. ९-१४५ २९. सा. ६४१ ३०. सा. ७११।
३१. सा. ३९१। ३२. सा. १०-१३९। ३३. सा. ५७७। ३४. सा. २५८८।
३५. सा. १-२४२। ३६. सा. १८२५। ३७. सा. १७७२। ३८. सा. १७७२।
३९. सा. १७७२। ४०. सा. १९१२। ४१. सा. १९१५। ४२. सा. १९१५।
४३. सा. १६६१। ४४. सा. १९६३। ४५. सा. २२५२। ४६. सा. २२६६।
४७. सा. १-२१। ४८. सा. २२८७। ४९. स. २६६८। ५०. सा. २६९१।
५१. सा. ६८१।

अ. पुरुषवाचक रूप—सो कथा[५२]। तिहिं ग्वालिनि के घर[५३]। वह सुख[५४]।

आ. संबंधवाचक रूप—जा चरनारबिंद[५५]। ज़िते जन[५६]। जिहिं सर[५७]। जेतक अस्त्र[५८]। जेतिक सैल-सुमेरु[५९]। बोल ज़ितिक[६०]। जे पद[६१]। ज़िती कृपा[६२]।

इ. नित्यसंबंधी रूप—जिहिं सर''' सो सर[६३]। ता बन'''' जा बन[६४]। सोई रसना जो हरि गुन गावै[६५]। कर तेई जे स्यामहिं सेवैं[६६]। जिहिं तन...सो तन[६७]। जे पद · ते पद[६८]।

ई. निश्चयवाचक : निकटवर्ती रूप—या ब्रज के[६९]। एहि थर[७०]। ये बालक[७१]। यह संताप[७२]। इन लोगनि[७३]। इहिं लोक[७४]। गुन एह[७५]। इस ठौर[७६]।

उ. निश्चयवाचक : दूरवर्ती रूप—वा निधि[७७]।

ऊ. अनिश्चयवाचक रूप—यह गति काहू देव न पाई[७८]। आन पुरुष··आन देव[७९]। उपमा अपर[८०]। औरौ सखा[८१]। काहू सुत[८२]। और जुवति सब आईं[८३]। असुर किते संहरै[८४]। केती माँग करौ किन कोई[८५]।

ए. प्रश्नवाचक रूप—कौन कारज सरै[८६]। पढ़े कहा विद्या[८७]। कौन पुरुष[८८]। कवन मति[८९]। केतिक अमृत[९०]।

उक्त प्रमुख रूपों के अतिरिक्त कहीं-कहीं दो-दो सार्वनामिक रूपों का प्रयोग भी कवि ने किया है; जैसे—प्रश्नवाचक और निश्चयवाचक : निकटवर्ती का साथ-साथ प्रयोग—कौन यह काम[९१]।

२. गुणवाचक विशेषण—सूर-काव्य में प्रयुक्त गुणवाचक विशेषणों की संख्या सबसे अधिक है। इनके मुख्य भेद और उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

अ. कालवाचक—पछिले कर्म[९२]। तन छनभंगुर[९३]। पुरातन दास[९४]।

---

५२. सा. ७-७ । ५३. सा. १०-२६५ । ५४. सा. ९-३४ ।
५६. सा १०-६४ । ५६. सा. १-२५ । ५७. सा. १-३३७ । ५८. सा. ६-६ ।
५९. सा. ९-१०७ । ६०. सा. ९-१०७ । ६१. सा. ५६८ । ६२. सा. ५७० ।
६३. सा. १-३३७ । ६४. सा. १-३४० । ६५ सा. २-६ । ६६. सा. २-७ ।
६७. सा. २-१६ । ६८. सा, ५६८ । ६९. सा. १६६४ । ७०. सा. १-६ ।
७१ सा. १-२८९ । ७२. सा. १-२९० । ७३. सा. २-१३ । ७४. सा. ७-२
७५. सा. ७-२ । ७६. सा. ८-१० । ७७. सा. २-११ । ७८. सा. १-३ ।
७९. सा. २-९ । ८०. सा. १०-१०२ । ८१. सा. १०-२९६ । ८२ सा. ३६३ ।
८३. सा. ३९१ । ८४. सा. ७-२ । ८५. सा. ९०८ । ८६. सा. ४-११ ।
८७. सा. ७-२ । ८८. सा. ९-२ । ८९. सा. ९-११७ । ९०. सा. ७-७ ।
९१. सा, ८-१० । ९२, सा. १-६१ । ९३, सा, १-८४ । ९४. सा, १-१३३ ।

पूरबली पहिचान[15] । अटल पदवी[16] । आगिलौ जन्म[17] । नयौ नेह[18] । आदि जोतिषी[19] । पहिले दाग[1] ।

आ. स्थानवाचक—बंजर भूमि[2] । भुज दछिन[3] । बाम कर[4] । परली दिसि[5] ।

इ. आकारवाचक—बड़ी है राम-नाम की ओट[6] । टूटी छानि[7] । बाहु बिसाल[8] । छीन तन[9] । थूल सरीर[10] । तन स्थूल अरु दूबर[11] । मनोहर बाना[12] । बड़े नग-हीर[13] । अगम सरीर[14] । पूरन ससि[15] ।

ई. रंगसूचक—नील खुर अरु अरुन लोचन सेत सींग सुहाइ[16] । राती चूनरी, सेत उपरना......कटि लहँगा नीलौ[17] । सेत, हरौ, रातौ अरु पियरौ रंग[18] । पीत पटोलै[19] । स्याम चिकुर[20] । कारी कामरि[21] । हंस उज्जल[22] । नैन अरुन[23] । लाल पनहियाँ[24] । गौर बदन[25] । स्वेत छत्र[26] । हरी डार[27] । साँवरी ललना[28] । पियरी पिछौरी[29] । नैन अति रतनारे[30] । काजरी धौरी गैयनि[31] । पीरे पान[32] । कजरी, धौरी, सेंदुरी, धूमरि मेरी गैया[33] ।

उ. दशा या स्थितिसूचक—अंध कूप[34] । पसू अचेत[35] । पूरी ब्यौपारी[36] । रंक सुदामा कियौ[37] अजाची । हृदय कुचील[38] । बीर निर्बीर[39] । मिरतक कच[40] ।

ऊ. गुणसूचक—सुभाव सीतल[41] । समरथ जदुराई[42] । बचन रसाल[43] । संत सुजान[44] । गद्गद स्वर[45] । सुख सियरै[46] । रतन अमोलक[47] । खंजन मनरंजन[48] । सुर अति छमी[49] । सुगम उपाय[50] ।

---

१५. सा. १-१३५ । १६. सा. १-२३५ । १७. सा. १-२९७ । १८. सा. २-१७ ।
१९. सा. १०-८६ । १. सा. ६५८ । २. सा. १-१८५ । ३. सा. ४-११ ।
४. सा. ८-८ । ५ सा. ९-१०४ । ६. सा. १-२३२ । ७. सा. १-२३१ ।
८. सा. १-२७३ । ९. सा. १-३२० । १० सा. ५-३ ।
११. सा. ५-४ । १२. सा. ६-६ । १३ सा. ९-१६ ।
१४. सा.९-८६ । १५. सा.९-१६६ । १६. सा.१.५६ । १७. सा.१.४४ ।
१८. सा.१-६३ । १९. सा.१-२५६ । २०. सा.१ ३२२ । २१. सा.१-३३२ ।
२२. सा.१-३३८ । २३. सा.७-४ । २४. सा.९-१९ । २५. सा ९-४४ ।
२६. सा.९-८२ । २७. सा.९-१६२ । २८. सा.१०-५४ । २९. सा.१०-१५१ ।
३०.सा.१०-१६० । ३१. सा १०-१७७ । ३२. सा.५१४ । ३३. सा ६६६ ।
३४. सा.१-८४ । ३५. सा.१-१२५ । ३६. सा.९-१४६ । ३७. सा.१-१६४ ।
३८. सा.१-२१६ । ३९. सा.१-२६९ । ४०. सा.९.१७३ । ४१. सा.१-११७ ।
४२. सा.१-१७५ । ४३. सा.१-२२६ । ४४. सा.१-२३५ । ४५. सा.१-२५५ ।
४६. सा.१-३०२ । ४७. सा.१-३२४ । ४८. सा.१-३३९ । ४९. सा. ३-९
५०. सा.३-१३ ।

ए. अवगुणसूचक—(गाय) ढीठ, निठुर[५१] । मन मूरख[५२] । उलटि चाल[५३] । सतौ नाम[५४] । दुख तातौ[५५] । सृष्टि तामसी[५६] । असुर अति क्रोही[५७] । असुन अजितेंद्रि[५८] । कटु बचन[५९] । सरितापति खारौ[६०] । करुवौ वचन[६१] ।

ऐ. अवस्थासूचक—वृद्ध रिषीस्वर[६२] । बिरध पुरुष[६३] । नान्हरिया गोपाल[६४] ।

३. संख्यावाचक विशेषण—इस वर्ग के विशेषणों की संख्या सूर-काव्य में सार्वनामिकों से कम, परन्तु गुणवाचकों से अधिक है । सुविधा के लिए संख्यावाचक विशेषणों के तीन भेद किये जा सकते हैं—क. निश्चित संख्यावचक, ख. अनिश्चित संख्यावाचक और ग. परिमाणबोधक ।

क. निश्चित संख्यावाचक विशेषण—संख्यावाचक विशेषणों के तीनों भेदों में निश्चित संख्यावाचकों की संख्या सबसे अधिक है । सुविधा के लिए इनके पाँच भेद किये जा सकते हैं—अ. गणनावाचक, आ. क्रमवाचक, इ. आवृत्तिवाचक, ई. समुदायवाचक और उ. प्रत्येकबोधक ।

अ. गणनावाचक—इस वर्ग के विशेषणों के पुन: दो भेद हो सकते हैं—क्ष. पूर्णांकबोधक और त्र. अपूर्णांकबोधक ।

क्ष. पूर्णांकबोधक—इक गाइ[६५] । एक मुहुरति[६६] । उभय दुज[६७] । दोउ सुत[६८] । दोऊ सुत[६९] । द्वै रंग[७०] । दोइ मुहूरति[७१] । नैना दोई[७२] । नान्ही नान्ही दँतुली द्वै पर[७३] । संग सहचरि बिये[७४] । बिवि चंद्रमा[७५] । जुगल खंजन[७६] । तीनि पैंड़[७७] । लोक त्रय[७८] । दिवस चारि[७९] । सुत चारि[८०] । पांडव पाँच[८१] । षट मास[८२] । सात पीढ़िनि की[८३] । रिषय सप्त[८४] । अष्ट सिद्धि नव निधि[८५] । दस दिसि[८६] । द्वादस कन्या[८७] । भुवन चौदह[८८] । कहा पुरान जु पढ़े अठारह[८९] । बीस भुजा[९०] । कुल इकीस[९१] । इकइस बार[९२] । सुर तैंतीस[९३] । पचास पुत्री[९४] । चउवन कोस[९५] । साठि

---

५१. सा.१-५६ । ५२. सा.१-७६ । ५३. सा.१-१२७ ।
५४. सा.१-१९१ । ५५. सा.१-३०२ । ५६. सा.३-७ । ५७. सा.३-९ ।
५८. सा.८-१० । ५९. सा.९-२ । ६०. सा.९-३६ । ६१. सा.९-१०४ ।
६२. सा.९-३ । ६३. सा.९-८ । ६४. सा.१०-७५ ।
६५. सा. १-५१ । ६६. सा. १-३४३ । ६७. सा. १०-१६१ । ६८. सा. १-२६ ।
६९. सा. १०-१५७ । ७०. सा. १-७० । ७१. सा. १-३४३ । ७२. सा. २३४५ ।
७३. सा. १०-९२ । ७४. सा. २६१४ । ७५. सा. १०-१४१ । ७६. सा. १०-२२५ ।
७७. सा. ८-१३ । ७८. सा. ४८७ । ७९. सा. १-७५ । ८०. सा. १०-१९८ ।
८१. सा. १-२४ । ८२. सा. १०-८८ । ८३. सा. १-१३४ । ८४. सा. ३-८ ।
८५. सा. २-१८ । ८६. सा. १-३६ । ८७. सा. १-४३ । ८८. सा. १-५६ ।
८९. सा. २-१९ । ९०. सा. ९-९५ । ९१. सा. ७-२ । ९२. सा. ९-१३ ।
९३. सा. ९-२० । ९४. सा. ९-८ । ९५. सा. ८४१ ।

पुत्र[१६] । चौरासी कोस[१७] । जज्ञ निन्यानबे[१८] । सौ भाई[१९] । पुत्र एक सौ ...सत पुत्र[१] । चौदह सहस जुवति[२] । सहस पचास पुत्र[३] । असी सहस किंकर दल[४] । चौरासी लख जोनि[५] । तैंतिस कोटि देव[६] । कोटि छ्यानबे नृप-सेना[७] ।

उक्त उदाहरण तो बिखरे हुए पदों से संकलित किये गये हैं ; परंतु एक पद में सूरदास ने अनेक पूर्णांकबोधकों का प्रयोग किया है—

> षोड़स अंगनि मिलि प्रजंक पै छ दस अंक फिरि डारै।
> पंद्रह पित्र-काज चौदह दस-चारि पठै, सर साँधै।
> तेरह रतन कनक रुचि द्वादस अटन जरा जग बाँधै॥
> नहिं रुचि पंथ, पयादि डरनि, छकि पंच एकादस ठानै।
> नौ दस आठ प्रकृति तृष्ना सुख सदन सात संधानै[८] ।

कहीं-कहीं एक निश्चित पूर्णांकबोधक रूप बनाने के लिए सूरदास ने दो पूर्णांकों का भी प्रयोग किया है; जैसे—अष्ट दस (अठारह) घट नीर[९] । दस अरु आठ पदुम बनचर[१०] । बरस चतुरदस[११] । षट दस (सोलह) सहस गोपिका[१२] । भूषन अंग सजे संत नौ री[१३] । छोहनी दोइ दस[१४] । बीस चारि लौं[१५] । दिन सात बीस मैं[१६] ।

अ. अपूर्णांकबोधक—आधो उदर[१७] । आधे पलकहुँ[१८] । अर्द्ध निसा[१९] । आध पैंड[२०] । अरध लंक कौ राज[२१] । अर्ध राज देउँ लंक[२२] । अहुँठ पैंग[२३] । मान करौ तुम और सवाई[२४] ।

आ. क्रमवाचक—इस प्रकार के विशेषण पूर्णांकबोधकों से बनाये गये हैं; जैसे—पहिलौ पुत्र[२५] । दूजे करज[२६] । दूजौ भूप[२७] । द्वितीय मास[२८] । तीजे जनम[२९] । तृतिय लोचन[३०] । चौथ मास···पंचम मास छठैं मास[३१] ।

१६. सा. १-४३ । १७. सा. ८४१ । १८. सा. ४-११ ।
१९. सा. १-२४ । १. सा. १-२८४ । २. सा. ९-७५ ।
३. सा. ९-८ । ४. सा. ९-१०४ । ५. सा. १-७५ ।
६. सा. ९-१०५ । ७. सा. १-३१ । ८. सा. १-६० ।
९. सा. १-५६ । १०. सा. ९-११३ । ११. सा. ९-४४ ।
१२. सा. ४९७ । १३ सा. २९०१ । १४. सा. ४१९८ । १५. सा. ४१९० ।
१६. सा. ४२१४ । १७. सा. ३-१३ । १८. सा. ६-१ । १९. सा. ६-८ ।
२०. सा. ८-१४ । २१. सा. ९-७९ । २२. सा. ९-१३४ । २३. सा १०-१२१ ।
२४. सा. २४३७ । २५. सा १०-४ । २६. सा. १-१४२ । २७. सा १-२७१ ।
२८. सा. ३-१३ । २९. सा. ३-११ । ३०. सा. १०-१६९ । ३१. सा. ३-१३ ।

सप्तम दिन[३२]। सातवें दिवस[३३]। अष्ठम मास''नवम मास[३४]। नवएं मास[३५]। दसम मास[३६]। दसएँ मास[३७]। सौवौं जज्ञ[३८]।

इ. आवृत्तिवाचक—दूनौ दुख[३९]। दूनैं दूध[४०]। यह मारग चौगुनो चलाऊँ[४१]। जतुरगुन गात[४२]।

ई. समुदायवाचक—इस प्रकार के विशेषण भी पूर्णांकबोधकों से ही बनाये गये हैं। रूप-निर्माण की दृष्टि से इनको तीन वर्गों में रखा जा सकता है—क्ष.'उ' या 'ऊ' युक्त रूप। त्र. 'औं', 'औ' या 'हौं' युक्त रूप तथा ज्ञ. हुँ या 'हूँ' युक्त रूप।

क्ष. 'उ' या 'ऊ' युक्त रूप—इस प्रकार के रूप प्रायः 'दो' और 'छः' से ही बनाये गये हैं; जैसे—कपट लोभ वाके दोउ भैया[४३]। दोऊ जन्म[४४]। छेऊ सास्त्र-सार[४५]।

त्र. 'औं', 'औ' या हौं युक्त रूप—तीनौ पन[४६]। तीन्यौ पन[४७]। चारौं बेद[४८]। इंद्रिय बस राखहि किन पाँचौं[४९]। छहौं रस[५०]। आठौं सिधि[५१]। दसौं दिसि[५२]। बीसौं भुज[५३]। सहसौं पन[५४]। देव कोटि तैंतीसौं[५५]।

ज्ञ. 'हुँ' या 'हूँ' युक्त रूप—दुहूँ लोक[५६]। तिहूँ पुर[५७]। चहुँ दिसि[५८]। चहूंदिसि[५९]। छहूँ रस[६०]। आठहूँ सिधि[६१]। दसहुँ दिसा तैं[६२]। दसहूँ दिसि[६३]।

इनके अतिरिक्त कछ पदों में 'जुग', 'बिवि', आदि का भी समुदायवाचक 'दोंनों' के अर्थ में प्रयोग किया गया है; जैसे—थकि कोउ निरखि जुग जानु''कोउ निरखि जुग जंघ-सोभा[६४]। बिवि लोचन सु बिसाल दुहुँनि के[६५]।

उ. प्रत्येकबोधक—इस वर्ग के विशेषण दो वर्गों में आते हैं—क्ष. 'एक' से बननेवाले रूप और त्र. 'प्रति' से बननेवाले रूप। दूसरे प्रकार के रूपों का प्रयोग सूरदास ने कुछ अधिक किया है; जैसे—

---

३२. सा. १-२९०। ३३. सा. ८-१६। ३४. सा. ३-१३। ३५. सा १०-४०। ३६. सा. ३-१३। ३७. सा. १०-२८। ३८. सा. सा. ९-९। ३९. सा १-२८९। ४०. सा. १०-२४। ४१. सा. १-१४६। ४२. सा. ९-७४। ४३. सा. १-१७३। ४४. सा. १-२९७। ४५. सा. ७-२। ४६. खा. १-७३। ४७. सा. १-१३६। ४८. सा. १-११३। ४९. सा. १-८३। ५०. सा. ४८७। ५१. सा. ८३१। ५२. सा. ८-४। ५३. सा. ९-१०८। ५४. सा. ५८९। ५५. सा. १०-४५। ५६. सा ९-३। ५७ सा. ९-१००। ५८. सा १-६९। ५९. सा. ९-७६। ६०. सा. ४४५। ६१. सा. १-३१४। ६२. सा. ५९२। ६३ सा. २-१९। ६४. सा. ६३४। ६५. सा. ६८९।

क्ष. 'एक' से बननेवाले रूप— एक एक अंग पर[६६] ।

त्र. 'प्रति' से होनेवाले रूप—प्रति रोमनि[६७] । अंग अंग प्रति बानक[६८] । दि[न] प्रति[६९] । द्वारनि प्रति[७०] ।

ख. अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण—इस वर्ग में कुछ विशेषण तो वस्तुतः अनिश्चित संख्या के द्योतक हैं, परंतु कुछ निश्चित संख्यावाचक होते हुए भी अनिश्चित के समान प्रयुक्त हुए हैं।

अ. अनिश्चित संख्या-द्योतक रूप—इस वर्ग में आनेवाले जो रूप सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से मुख्य यहाँ संकलित हैं—

अखिल—अखिल लोकनि[७१] ।

अगनित—अगनित अधम उधारे[७२] । अगनित गुन[७३] । चरित अगनित[७४] ।

अगनिया—ब्यंजन बिबिध अगनिया[७५] ।

अगिनित—कटक अगिनित[७६] । अगिनित कीन्हे खाद[७७] ।

अनंत—और अनंत कथा स्तुति गाई[७८] ।

अनगन—अपराधी अनगन[७९] ।

अनेक—अनेक जन्म गए[८०] । अनेक गन अनुचर[८१] । भूप अनेक[८२] ।

अपार—कीन्हे पाप अपार[८३] । आयुध धरे अपार[८४] ।

अपारा—ब्रजवासी तहँ जुरे अपारा[८५] ।

अमित—अमित अंडमय बेष[८६] । अमित अंडमय गात[८७] ।

और—और पतित तुम जैसे तारे[८८] । और ठौर नहिं[८९] । और देव[९०] ।

और सब—और अहिर सब[९१] ।

कछु—कछु दिन[९२] ।

कछु इक—कछु इक दिन औरौ रहौ[९३] ।

कछुक—कछुक दिननि कौ[९४] ।

केतिक—तुम मोसे अपराधी माधव केतिक स्वर्ग पठाए हौ[९५] । केतिक जनम[९६] ।

कै—सुनि सुनि गे कै बार[९७] ।

---

६६. सा. ६४७ । ६७. सा. १०-१२८ । ६८. सा. १०-१५८ ।
६९. सा. १०-३३१ । ७०. सा. ७८४ । ७१. सा. १-३१६ ।
७२. सा. १-१२५ । ७३. सा. १-१५७ । ७४. सा. ४-११ । ७५. सा. १०-२३८ ।
७६. सा. ९-१०६ । ७७. सा. ८४१ । ७८. सा. १-६ । ७९. सा. १-६६ ।
८०. सा. १-१५४ । ८१ सा. १-१६३ । ८२. सा. १-१७२ । ८३. सा. १-१४१ ।
८४. सा. ९-८९ । ८५. सा. ९०१ । ८६. सा. ५७० । ८७. सा. ५८९ ।
८८. सा. १-१३७ । ८९. सा. १-१३९ । ९०. सा. १-१७० । ९१. सा. ७४० ।
९२. सा. ६६८ । ९३. सा. २९१५ । ९४. सा. १०-२९२ । ९५. सा. १-७[...] ।
९६. सा. १-५२ । ९७. सा. १-८४ ।

कोटि—कोटि मुख[९८] । मनमथ कोटि···कोटि रवि-चंद्र[९९] । कोटि काम[१] ।
कोटिक—कोटिक नाच नचावै[२] । कोटिक तीरथ[३] । कोटिक कला[४] ।
कोटिनि—कोटिनि बसन[५] । कोटिनि बरष[६] ।
बहुतक—असगुन बहुतक पाई[७] ।
घनेरे—भैया-बंधु-कुटुंब घनेरे[८] । पायौ सुख जु घनेरे[९] ।
बहुतेरे—पुत्र अन्याइ करै बहुतेरे[१०] ।
नाना—नाना त्रास निवारे[११] । नाना स्वाँग बनावै[१२] । नाना भाव दिखायौ[१३] ।
लच्छ—लच्छ लच्छ बान[१४] ।
सकल—सकल मिथ्या सौंजाई[१५] । सकल बृतांत सुनाए[१६] । सकल जादव[१७] ।
सारे—सुर सारे[१८] ।
सब—सब लोइ (लोग[१९]) । सब कुसुमनि[२०] । सब सखा[२१] ।
सहस—बोरत सहस प्रकारौ[२२] ।
बहु—बहु बपु धारे[२३] । बहु रतन[२४] । बहु उद्यम[२५] ।
बहुत—बहुत जुग[२६] । बहुत प्रपंच[२७] । बहुत रतन[२८] ।

कुछ अनिश्चित संख्या-वाचक विशेषण ऐसे संज्ञा शब्दों के साथ भी सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं जिनकी संख्या निश्चित है । ऐसे प्रयोगों को निश्चित संख्यावाचक ही समझना चाहिए; जैसे – सर्व पुरान माहिं जो सार[२९] । पुराणों की संख्या 'अठारह' निश्चित है । सूरदास ने भी कहा है—बहुरि पुरान अठारह किये[३०] । अतएव 'पुराणों' के साथ विशेषण रूप में 'सर्व' का प्रयोग इस निश्चित संख्या 'अठारह' के लिए ही किया गया है । इसी प्रकार नवें स्कंध में 'मानधाता' कहता है—हैं पचास पुत्री मम गेह[३१] । इसके आगे वाक्य है—सब कन्यनि सौभरि रिषि बरचौ । और पद के अंत में कहा गया है—सब नारिनि सहगामिनि कियौ । पिछले दोनों वाक्यों में 'सब' का संकेत भी निश्चित संख्या 'पचास' की ओर ही है ।

आ. **अनिश्चितवत् प्रयुक्त निश्चित संख्यावाचक रूप**—सूरदास द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार के विशेषण-रूपों को तीन वर्गों विभाजित किया जा सकता है—क्ष अनिश्चय-

---

९८. सा. १-२४ । ९९. सा. १०-५५ । १. सा. ३५२ ।
२. सा. १-४२ । ३. सा. २-६ । ४. सा. १-१५३ ।
५. सा. १-१५८ । ६. सा. १०-३३ । ७. सा. ५४१ । ८. सा. १-७१ ।
९. सा. १-१७० । १०. सा. ५-४ । ११ सा. १-१० । १२. सा. १-४२ ।
१३. सा. १-२०५ । १४. सा. ९-९६ । १५. सा. १-२४ । १६. सा. १-२८४ ।
१७. सा. १-२८६ । १८. सा. ४-५ । १९. सा. १-२८६ । २०. सा. १-३२५ ।
२१. सा. ५८९ । २२. सा. १-२०९ । २३. सा. १-२७ । २४. सा. १-२०० ।
२५. सा. १-३३६ । २६. सा. १-३१७ । २७. सा. १-३२९ । २८. सा. ८-१३ ।
२९. सा. ७-२ । ३०. सा. १-२३० । ३१. सा. ९-८ ।

बोधक सामान्य पूर्णांक, त्र. अनिश्चयबोधक 'एक' युक्त पूर्णांक, ज्ञ. अनिश्चयबोधक दोहरे पूर्णांकि ।

क्ष. अनिश्चयबोधक सामान्य पूर्णांक—और पतित सब दिवस चारि के[32]। मरियत लाज पाँच पतितनि मैं[33]। दिन दस लेहि गोबिंद गाइ[34]। दिन द्वै लेहु गोबिंद गाइ[35]। कहा भयौ अधिकी द्वै गैयाँ[36]। सौ बातनि की एकै बात[37]।

त्र. अनिश्चयबोधक 'एक' युक्त पूर्णांक—जोजन बीस एक अरु अगरौ डेरा[38]। कहीं-कहीं सूरदास ने 'एक' के स्थान पर केवल 'क' से काम लिया है। इस प्रकार के प्रयोग 'एक'-युक्त प्रयोगों से उन्होंने अधिक किये हैं: जैसे—बर्ष व्यतीत दसक जब होहिं[39]। गाउँ दसक सरदार[40]। पग द्वैक धरै[41]। अच्छर चारिक[42]। दिन पाँचक[43]। बरन पचासक अबिर[44]। बहुतक जीव[45]। बहुतक तपसी[46]।

ज्ञ. अनिश्चयबोधक दोहरे पूर्णांक—दिन चारि-पाँच मैं[47]। मिलि दस-पाँच अली[48]।

अपवादस्वरूप दो-एक प्रयोगों में द्वितीय और तृतीय नियमों को मिलाकर भी सूरदास ने प्रयोग किये हैं : जैसे—दस-बीसक दोना[49]।

ग. परिमाणबोधक—इस वर्ग के रूप सूर-काव्य में अनिश्चित संख्यावाचकों के लगभग बराबर ही हैं और कुछ तो दोनों में समान भी हैं। सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रमुख परिमाणबोधक विशेषण इस प्रकार हैं—

अगाध—दुख है बहुत अगाध[50]।
अघटित—अघटित भोजन[51]।
अति—अति दुख[52]। अति अनुराग[53]।
अतिसय—अतिसय दुख[54]।
अतिसै—अनन्द अतिसै[55]।
अतुल—अतुल बल[56]।
अपरिमित—अपरिमित महिमा[57]।
अपार—अजस अपार[58]।

---

३२. सा.१-१३८ । ३३. सा.१-१३७ । ३४. सा. १-३१५ । ३५. सा. १-३१६ । ३६. सा.७३५ । ३७. सा. २-५ । ३८. सा. ८३० । ३९. सा. ३-१३ । ४०. सा. ८८५ । ४१. सा. १०-७६ । ४२. सा. ३११७ । ४३. सा. ८१२ । ४४. सा.२८९२ । ४५. सा. २-३२ । ४६. सा. ४-९ । ४७. सा. ९-११७ । ४८. सा.१०-२४ । ४९. सा.३९६ । ५०. सा. ८३३ । ५१. सा. १-२०३ । ५२. सा. ६-५ । ५३. सा.१०-४४ । ५४. सा.४-५ । ५५. सा. ९-२६ । ५६. सा. ९-९१ । ५७. सा. ९-२६ । ५८. सा. १-३२५ ।

इती—रिस इती[५९] ।
अमित—अमित आनन्द[६०] । अमित बल[६१] । अमित माधुरी[६२] ।
इतौ—इतौ कोह[६३] ।
एत—तामस एत[६४] ।
इतनक—इतनक दधि-माखन[६५] ।
कछु—कछु संक[६६] । ताहू मैं कछु कानौ[६७] । कछु डर[६८] ।
कितौ—कितौ यह काम[६९] ।
कछुक—कछुक प्रीति[७०] । कछुक करुना[७१] ।
केतिक—केतिक दह्यौ (दही)[७२] ।
कछू—छल करत कछू[७३] ।
घनौ—कपट कपट घनौ[७४] ।
थोरनौ—मोर सुख नहिं थोरनौ[७५] ।
थोरी—रुचि नहिं थोरी[७६] । मति थोरी[७७] ।
तनिकौ—सुख दुख तनिकौ[७८] ।
थोरेक—थोरेक ही बल सौं[७९] ।
नैंसुक—नैंसुक घैया[८०] ।
परम—परम सुख[८१] । परम स्नेह[८२] ।
पूरन—प्रभु पूरन ठाकुर[८३] ।
बड़ौ—बड़ौ दुख[८४] । बड़ौ संताप[८५] ।
बहु—बहु काल[८६] बहु तप[८७] ।
बहुत—बहुत हित जासौ[८८] । बहुत सुख[८९] । बहुत पंयहू नहिं आयौ[९०] ।
भारी—सुख पाऊँ अति भारी[९१] । लोभ-मोह-मद भारी[९२] ।
भारे—अपराध करे.....अति भारे[९३] । महा दुख भारे[९४] ।
भारौ—बहत बिरद भारौ[९५] ।

---

५९. सा. ३५८ । ६०. सा. ९-२५ । ६१. सा. ९-११५ ।
६२. सा. ६६३ । ६३. सा. ३५३ । ६४. सा. ३४९ ।
६५. सा. १०-३१० । ६६. सा. १-१३ । ६७. सा. १-४७ ।
६८. सा. ७-२ । ६९. सा. ९-२२ । ७०. सा. ७-२ । ७१. सा. ३६४ ।
७२. सा. ३५६ । ७३. सा. ७-२ । ७४. सा. १-२०३ । ७५. सा. २८३२ ।
७६. सा. १०-१८३ । ७७. सा. १०-२५३ । ७८. सा. ३-१३ । ७९. सा. ४१० ।
८०. सा. ४६३ । ८१. सा. ७-२ । ८२. सा. १०-११९ । ८३. सा. ७-२ ।
८४. सा. १-१३६ । ८५. सा. ५८९ । ८६. सा. ९-२ । ८७. सा. ९-३ ।
८८. सा. १-७९ । ८९. सा. १-२८४ । ९०. सा. ५-४ । ९१. सा. १-१४६ ।
९२. सा. १-१६५ । ९३. सा. १-१२५ । ९२. सा. १-१५८ । ९५. सा. १-१३१ ।

सकलौ—तेज-तप सकलौ[१६]।
सगरौ—दूध-दही-माखन........सगरौ[१७]।
सिगरी—आस सिगरी[१८]।
सब—रैनि सब निघटी[१९]।
रंच—रंच सुख[१]।
रंचक—रंचक सुख कारन[२]।
समस्त—जल समस्त[३]।

उक्त रूपों में से 'कछुक', 'थोरेक' आदि विशेषण 'क' के योग्य से अल्पार्थक बनाये गये हैं, शेष सब अपने सामान्य मूल या विकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

४. विशेषण शब्दों के प्रयोग—

सूरदास ने विशेषण शब्दों के जो प्रयोग किये हैं, स्थूल रूप से उनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. सामान्य प्रयोग और ख. विशेष प्रयोग।

क. सामान्य प्रयोग—इस शीर्षक के अंतर्गत दो विषयों का अध्ययन करना है--अ. वाक्य में विशेषण का क्रम और आ. विशेषण का तुलनात्मक रूप।

अ. वाक्य में विशेषण का क्रम—वाक्य में विशेषण का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है—कभी तो वह विशेष्य के साथ आता है; जैसे—काली गाय; और कभी क्रिया के साथ, जैसे गाय काली है। प्रथम को 'उद्देश्यात्मक' और द्वितीय को 'विधेयात्मक' प्रयोग[४] कहते हैं। गद्य में तो साधारणतः विशेष्य के बाद या क्रिया के साथ, प्रयुक्त विशेषण 'विधेयात्मक' होता है, परंतु काव्य में कभी ऐसा होता है, कभी नहीं होता। 'जिन श्रम सकल निवारचौ'[५]। इस वाक्य में परिणामवाचक विशेषण 'सकल' अपने विशेष्य 'श्रम' के बाद और क्रिया 'निवारचौ' के साथ आने पर भी 'उद्देश्यात्मक' ही है। परंतु 'जीवन थिर जान्यौ'[६]— इस वाक्य में गुणवाचक विशेषण 'थिर' विशेष्य 'जीवन' के बाद होने पर भी 'विधेयात्मक' हो गया है। यही बात विशेष्य के पूर्व आने वाले, गद्य की दृष्टि से उद्देश्यात्मक, विशेषणों के संबंध में भी है। 'कह्यौ नृपति, मोटौ तू आहि'[७]—इस वाक्य में यद्यपि 'मोटौ' विशेषण, सर्वनाम विशेष्य 'तू' के पूर्व प्रयुक्त हुआ है, फिर भी उसका प्रयोग विधेयात्मक ही है।

क्ष. उद्देश्यात्मक प्रयोग—आछो गात अकारथ गारचौ[८]। महर मनहिं अति हर्ष बढ़ाए[९]। यह दरसन त्रिभुवन नाहिं[१०]। निठुर बचन सुनि स्याम

---

१६. सा. ६-५ । १७. सा. १०- ३३६। १८. सा. १०-३०२। १९. सा. ४०८।
१. सा. १-३२८। २. सा. १-३३०। ३. सा. ९-१४८। ४. विधेय के रूप में प्रयुक्त विशेषण को, अँगरेजी के ढंग पर कभी-कभी 'पूरक' भी कहा जाता है—लेखक।
५. सा. १-३३६। ६. सा. १-३३६। ७. सा. ५-४। ८. सा. १-१०१।
९. सा. ९०४। १०. सा. १०२१।

के[11]। विनती सुनी स्याम सुजान[12]। गगन उठी घटा काली[13]। उकठे तरु भए पात[14]। यह मुरली कुस दाहनहारी[15]। सबनि इक इक कलस लीन्हौ[16]।

त्र. विधेयात्मक प्रयोग—विप्र सुदामा कियौ अजाची[17]। चारु मोहिनी आइ आँध कियौ[18]। तेरौ बचन-भरोसौ साँचौ[19]। कुबिजा भई स्याम-रँग-राती[20]। अधम, तू अंत भयौ बलहीनौ[21]। राजा ह्वै गए राँकौ[22]। कंचन करत खरौ[23]। सुखी हम रहत[24]। अति ऊँचौ गिरिराज बिराजत[25]। तरुनी स्याम रस मतवारि[26]।

कुछ वाक्यों में एक साथ अनेक विशेषण विधेयात्मक रूप से प्रयुक्त हुए हैं; और उनमें क्रिया लुप्त है; जैसे—हरि, हौं महा अधम संसारी[27]।

आ. विशेषण का तुलनात्मक प्रयोग—तुलना कभी दो वस्तुओं, व्यक्तियों या भावों की होती है और कभी दो से अधिक की। दोनों प्रकार की तुलनाओं को सूचित करने के लिए अलग अलग रीतियाँ सूरदास ने अपनायी हैं।

क्ष. 'दो' की तुलना—दो वस्तुओं, व्यक्तियों या भावों की तुलना करते समय एक की अधिकता या न्यूनता सूचित करने के लिए सूरदास ने साधारणतः संज्ञा-सर्वनाम के साथ 'तैं' का प्रयोग किया है, और कहीं-कहीं 'अधिक' और 'तैं' दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया है; जैसे—

१. तैं—राजा कौन बड़ौ रावण तैं[28]। हरि त और न आगर[29]। मोहूँ तैं को नीकौ[30]। काजर हूँ तैं कारी[31]। सबल देह कागद तैं कोमल[32]। हृदय कठोर कुलिस तैं मेरौ[33]। तुमहिं तैं कौन सयानौ[34]। बासुरी बिधि हूँ तैं परबीन[35]।

२. अधिक...तैं—अधिक कुरूप कौन कुबिजा तैं...अधिक सुरूप कौन सीता तैं[36]।

त्र. 'अनेक' की तुलना—अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों या भावों की तुलना के लिए

---

११. सा. १०१८। १२. सा. १०२६। १३ सा. ११८८।
१४. सा. १२४८। १५. सा. १३०९। १६. सा. १४२६।
१७. सा. १-१८। १८. सा. १-४३। १९. सा. १-३२। २०. सा. १-६३।
२१. सा. १-६५। २२. सा. १-११३। २३. सा. १-२२०। २४. सा. १-२८४।
२५. सा. ९०४। २६. सा. १६२४। २७-सा. १-१७३।
२८. सा. १-३५। २९. सा. १-९१। ३०. सा. १-१३८।
३१. सा. १-१७८। ३२. सा. १-३०४। ३३. सा. ७-५।
३४. सा. ४९२। ३५. सा. १२४७। ३६. सा.१-३५।

सूरदास ने साधारणतः विशेष्य के साथ 'अति', 'परम', 'महा' आदि का प्रयोग किया है; जैसे—

अति—ये अति चपल[३७]। रूप अति सुंदर[३८]। अति सुकुमार[३९]।

परम—परम सीतल[४०]। परम सुंदर[४१]। हरि बस बिमल छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप[४२]।

महा—कंस महा खल[४३]।

ख. विशेष प्रयोग—

इस शीर्षक के अंतर्गत सूरदास द्वारा विशेषण के प्रयोगों के संबंध में उन सब स्फुट विषयों की चर्चा करनी है जिनके संबंध में ऊपर विचार नहीं किया जा सका है; यथा—अ. संज्ञा शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग, आ. सर्वनाम के विशेषण-रूप-प्रयोग, इ. विशेषण के विशेषण-रूप प्रयोग, ई. विशेषण का संज्ञा के समान प्रयोग, उ. विशेषण का सर्वनाम के समान प्रयोग, ऊ. संयुक्त सर्वनाम-विशेषण प्रयोग, ए. विशेषण के विकृत रूप-प्रयोग, ऐ. बलात्मक प्रयोग और ओ. सूची-रूप में प्रयोग।

अ. संज्ञा शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग—सूर-काव्य में ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें कवि ने उन शब्दों का विशेषणवत् प्रयोग किया है जो साधारणतः 'संज्ञा' शब्द-भेद के अंतर्गत आते हैं; जैसे अमी बचन[४४]। अमृत बचन[४५]। कनक बरन[४६]। किसोर बिरधौ तन[४७]। बोलहि बचन बिकार[४८]। मधु छीलर[४९]। अटके नैन, माधुरि मुस्कान[५०]। हमरे रसाल गुपालहि[५१]। सिसु तन[५२]। सीतल सलिल सुगंध पवन[५३]। झटकि हाटक मुकुट[५४]। हीरा जनम[५५]।

आ. सर्वनाम के विशेषण-रूप में प्रयोग—कभी कभी सर्वनाम के साथ भी सूरदास ने विशेषण का प्रयोग किया है। इस प्रकार के कुछ प्रयोग ऊपर दिये जा चुके हैं; दो-चार अन्य उदाहरण यहाँ संकलित हैं—तू बड़ौ अधर्मी[५६]। ये अति चपल[५७]। कछु थिर न रहैगी[५८]। यह जानत बिरला कोई[५९]। मोटौ तू आहि[६०]। यह अति हरिहाई[६१]।

इ. विशेषण के विशेषण-रूप प्रयोग—संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के अतिरिक्त अनेक पदों में ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनमें विशेषण शब्द का विशेष्य भी विशेषण है;

---

३७. सा. ९-९२। ३८. सा. ९-८। ३९. सा. ९-२०।
४०. सा. ९-१०। ४१. सा. १-३०७। ४२. सा. १-४०।
४३. सा. १-१७। ४४. सा. ९-१६९। ४५. सा. ५०१।
४६. सा. ६७६। ४७. सा. ७-२। ४८. सा. ११९४।
४९. सा. ९-३६। ५०. सा. १०२३। ५१. सा. ४२६१।
५२. सा. ७-२। ५३. सा. ५८९। ५४. सा. ९-१२९। ५५. सा. १-११६।
५६. सा. १-२९०। ५७. सा. ९-९२। ५८. सा. १-३०२।
५९. सा. १-२९०। ६०. सा. ५-३। ६१. सा. १-४१।

जैसे—अपराध करे मैं तिनहूँ सौं अति भोरे[६२]। छुद्र पतित[६३]। निपट अनाथ[६४]। बड़ौ अधर्मी[६५]। महा ऊँच पदवी[६६]। ऐसे विशेषणों को क्रियाविशेषण-रूप समझना चाहिए।

ई. विशेषण का संज्ञावत् प्रयोग—अनेक विशेषण शब्दों का सूरदास ने संज्ञावत् भी प्रयोग किया है; जैसे—अंधे कौ सब कछु दरसाइ[६७]। आवै अंधौ जग जोइ[६८]। आधे मैं जल-वायु समावै[६९]। कारौ अपनौ रंग न छाँड़ै[७०]। बहुरौ क्रोधवंत जुध चह्यौ[७१]। गरबत कहा गँवार[७२]। बोलै गुंग[७३]। गूँग पुनि बोलै[७४]। सचु पावै गोरी[७५]। बिपति परी दीन पर[७६]। नवमी नवसत साजि कै[७७]। तुम नहिं जानत नान्हा[७८]। नीच पावै ऊँच पदवी[७९]। पंगु गिरि लंघै[८०]। हा हा चलि प्यारी, तेरौ प्यारौ चौंकि परै[८१]। बहिरौ सुनै[८२]। बिगरी लेहु सँवारी[८३]। कहति न मीठी खाटी[८४]। संगीत-सुधानिधि मूढ़हिं कहा सुनैऐ[८५]। उलटि चुंबन देत रसकिनी[८६]। हार बिना ल्याए लड़िवौरी घर नहिं पैठन दैहौं[८७]। देखि सुन्दरि, रहे दोउ लुभाई[८८]। देखि दसा सुकुमारि की[८९]।

उक्त प्रयोगों में 'नवसत' जैसे प्रयोगों को छोड़कर शेष सब रूप एकवचन में हैं; परंतु सूरदास ने विशेषणों के संज्ञावत् बहुवचन रूपों में भी प्रयोग किये हैं, जैसे—समुझाइ अनाथनि[९०]। कै करि कृपा दुखित दीननि पै[९१]। अब लौं नान्हे-नून्हे तारे[९२]। त्रिया-चरित मतिमंत न समुझत[९३]। जा जस कारन देत सयाने तन-मन-धन सब साज[९४]।

ऊपर संकलित उदाहरणों में प्रायः सभी जातिवाचक संज्ञावत् प्रयोगों के हैं। इनके साथ-साथ कुछ विशेषण-रूपों का सूरदास ने व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों की भाँति भी प्रयोग किया है; जैसे—चतुरमुख कह्यौ ··चतुरमुख अस्तुति सुनाई[९५]। तोहि देखि चतुरानन मोहै[९६]। दसमुख बध-बिस्तार[९७]। दससिर बोलि निकट बैठायौ[९८]। सहसानन नहिं जान[९९]। एक अन्य पद में सामान्य विशेषण 'अंध', कौरवपति धृतराष्ट्र के लिए,

---

६२. सा. १-१२५। ६३. सा. १-१३१। ६४. सा. १-१७५।
६५. सा. १-२९०। ६६. सा- १-२४। ६७. सा. १-१।
६८. सा. १-९५। ६९. सा. ३-१३। ७०. सा. १-६३। ७१. सा. ९-१३।
७२. सा. १-८४। ७३. सा. १-९५। ७४. सा. १-१। ७५. सा. २८९४।
७६. सा. १-२५। ७७. सा. २९१४। ७८. सा. १०-२२०। ७९. सा. १-२३५।
८०. सा. १-१। ८१. सा. २७८७। ८२. सा. १-१। ८३. सा. १-११८।
८४. सा. १०-२५४। ८५. सा. ३८१०। ८६. सा. २४५९। ८७. सा. १९७५।
८८. सा. ८-११। ८९. सा. १११८। ९०. सा. ८-४। ९१. स.. ३४८०।
९२. सा. १-९६। ९३. सा. ९-३१। ९४. सा. ३३४०। ९५. सा. ८-१६।
९६. सा. ९-७९। ९७. सा. १-२१५। ९८. सा. ९-१२१। ९९. सा. ४९२।

जो जन्म से अंधे थे, प्रयुक्त हुआ है—अंबर जहत द्रौपदी राखी, पलटि अंध-सु… लाजैं[1]।

जातिवाचक या व्यक्तिवाचक रूप में प्रयुक्त उक्त विशेषण अपने सामान्य रूप में है; परंतु कहीं-कहीं सूरदास ने अभीष्ट कारकीय रूप देने के लिए उनको विकृत भी किया है; जैसे—ज्यौं गूँग मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावै[2]। नोख निधि पाई[3]।

उ. सर्वनामवत् प्रयोग—अनेक विशेषण-रूपों का सूरदास ने सर्वनामवत् प्रयोग भी किया है। ऐसे विशेषणों में प्रायः सभी संख्यावाचक हैं; जैसे—एकनि हरे प्रान गोकुल के[4]। असी इक कर्म बिप्र कौ लियौ[5]। निसा आन कैं बसे साँवरे[6]। कहौं एक की कथा[7]। तोसी मुग्ध न दूजी[8]। दुहुँ तब तीरथ माहिं नहाए[9]। दुहुँनि पुत्र-मुख देखा[10]। एकहिं दिन जनमें दोऊ हैं[11]। आठ मास चंदन पियौ, नवएँ पियौ कपूर[12]। कहौं बनाइ पचासक, उनकी बान गुन एक[13]। आपु देखि, पर देखि दे[14]। इनतैं प्रभु नहिं और बियौ[15]। एक कहत धाए सौ चारी[16]।

ऊ. संयुक्त सर्वनाम-विशेषण प्रयोग—अनेक पदों में सूरदास ने सर्वनाम और विशेषण-रूपों का साथ-साथ प्रयोग किया गया है। ऐसे प्रयोगों में कहीं तो सर्वनाम शब्द विशेषण का विशेष्य होकर आया है और कहीं दोनों संयुक्त रूप बन गये हैं; जैसे—ज्यौं त्यौं करि इन दुहुँनि सँघारौ[17]। ऐसे और कितक हैं नामी[18]। हम तीनौं हैं जग-करतार[19]।

ए. विशेषण के विकृत रूप प्रयोग—संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के समान कुछ विशेषण-रूप भी सूरदास द्वारा इस प्रकार विकृत कर लिये गये हैं कि उनके संबंधी शब्द की कारकीय विभक्ति जैसे उन्हीं में जोड़ ली गयी है अथवा अभीष्ट कारक के अनुसार विशेष्य संज्ञा शब्द में परिवर्तन न करके विशेषण का रूप विकृत कर लिया गया है; जैसे—छठैं मास इंद्री प्रगटावै[20]। सुत बाँधति दधि-माखन थोरैं[21]। पराएं कर ज्यौं[22]। गए स्याम ग्वालिनि घर सूनैं[23]।

ऐ. बलात्मक प्रयोग—संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के समान सूरदास ने अनेक पदों में विशेषणों के भी बलात्मक प्रयोग किये हैं; जैसे—अतिहिं पुनीत[24]। आठौं सिधि[25]। इतौई घृत-सार[26]। उहै स्नेह[27]। एकहुँ आँक[28]। एकै चीर[29]। एकै…

---

१. सा. १-३६। २. सा. १-२। ३. सा. २२४२। ४. सा. ३१०…
५. सा. ५-२। ६. सा. २५१८। ७. सा. ६-३। ८. सा. २८२…
९. सा. ३-१३। १० सा. १०-४। ११. सा. १५८०। १२. सा. १०-…
१३. सा. ४१२५। १४. सा. ३६१३। १५. सा. १०-८५। १६. सा. ९२…
१७. सा. २९२६। १८. सा. २९२२। १९. सा. ४-४। २०. सा. ३-१३…
२१. सा. ३४४। २२. सा. २३४७। २३. सा. १०-३१७। २४. सा. ९-१…
२५. सा. १-३१४। २६. सा. २-४। २७. सा. २१६३। २८. सा. १-३२…
२९. सा. १-२४७।

पल[३०]। एसियै लरिकसलोरी[३१]। प्रान औरहू जन्म मिलत हैं[३२]। औरौ सुभट[३३]। चारहूँ जुग[३४]। उनमें पाँचौं दिन जौं बसियैं[३५]। बहुतै स्रम[३६]। यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम-व्रत, यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ; यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै[३७]। येउ नैन[३८]। वहै बुद्धि, वहै प्रकति, वहै पौरुष तन सबके, वहै नाउ, वहै भाउ[३९]। सबै जुवती[४०]। सिगरोइ दूध[४१]।

ओ. सूची-रूप में प्रयोग—अनेक पदों में सूरदास ने एक साथ इतने विशेषणों का प्रयोग किया है, जैसे वे उनकी सूची प्रस्तुत करना चाहते हों। प्रथम स्कंध के विनय-पदों में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। इस प्रकार की विशेषण-सूचियाँ कहीं तो कवि ने अपने आराध्य के लिए प्रस्तुत की हैं, कहीं अपने लिए और कहीं अन्यों के लिए भी; जैसे—

१. अति उनमत्त, निरंकुस, मैगल, चिंतारहित असोच,
महा मूढ़...[४२]।

२. कामी कुटिल कुचील कुदरसन, अपराधी, मतिहीन।
....।
तुम तौ अखिल, अनंत, दयानिधि, अविनासी, सुखरासि[४३]।

३. बिनय कहा करै सूर कूर, कुटिल, कामी[४४]।

४. घातक, कुटिल, चबाई, कपटी, महाकूर, संतापी।
लंपट, धूत, पूत दमरी कौ, बिषय जाप कौ जापी।
....।
कामी बिबस कामिनी कैं रस.....................................[४५]।

५. माया अति निसंक, निरलज्ज, अभागिनि[४६]।

६. प्रभु जु, हौं तौ महा अधर्मी।
अपत, उतार, अभागौ, कामी, बिषयी, निपट कुकर्मी॥
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी कुमति जुलाई।
औगुन की कछु सोच न संका, बड़ौ दुष्ट अन्याई।
बटपारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठि-कटा, लठबाँसी।

---

३०. सा. १०-२९६। ३१. सा. १०-२८६ ३२. सा. २९१८।
३३. सा. ९-१५२। ३४. सा. ८-९। ३५. सा. ४१५०। ३६. सा. ५-४।
३७. सा. १-१६७। ३८. सा. २२२६। ३९. सा. ४३७। ४०. सा. १०-३१९।
४१. सा. १०-२५९। ४२. सा. १-१०२। ४३. सा१-१११। ४४. सा. १-१२४।
४५. सा. १-१४०। ४६. सा. १-१७३।

चंचल चपल चबाइ चौपटा, लिये मोह की फाँसी।
चुगुल, ज्वारि, निर्दय, अपराधी, झूठौ, खोटौ-खूटा।
लोभी, लौंद, मुकरवा, झगरू, बड़ौ पढ़ैलौ, लूटा।
लंपट धूत पूत दमरी कौ, कौड़ी कौड़ी जोरै।
कृपन, सूम, नहिं खाइ खवावै, खाइ मारि कै औरै।
लंगर, ढीठ, गुमानी, टूँडक, महा मसखरा, रूखा।
मचला अकलै-मूल, पातर, खाउँ खाउँ करै, भूखा।
निर्घिन, नीच, कुलज, दुर्बुद्धी, भोंदू, नित कौ रोऊ।
....।
महा कठोर, सुन्न हृदय कौ, दोष देन कौं नीकौ।
बड़ौ कृतघ्नी और निकम्मा, बेधन, राँकौ, फीकौ।
महा मत्त बुधि बल कौ हीनौ, देखि करै अंधेरा।
....।
मूकू, निंद, निगोड़ा, भोंड़ा, कायर, काम बनावै।
कलहा, कुही मूष रोगी अरु काहूँ नँकु न भावै।
पर-निंदक, पर-धन कौ द्रोही, पर-संतापनि बोरौ[४७]।

७. नैना लोनहरामी ये।
चोर, ढुंढ, बटपार कहावत, अपमारगी, अन्याई ये।
निलज्ज निर्दयी, निसंक, पातकी........................[४८]।

उक्त उद्धृत पदांशों में दो-चार शब्दों को छोड़कर शेष सभी विशेषण हैं। इस प्रकार की सूचियों से कवि के विस्तृत शब्द-कोश के साथ-साथ उसकी शब्द-निर्माण-कला का भी परिचय मिलता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ प्रयुक्त विशेषणों में अनेक –यथा उतार, कलही, कुही, चबाई, चौपटा, जुलाई, टूँडक, मचला, मुकरबा, मैगल, लठबाँसी, लौंद आदि—ऐसे हैं जो या तो कवि द्वारा निर्मित हैं, अथवा, जिनका उद्धार बोलचाल की भाषा से किया गया है। यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से इस प्रकार की सूचियाँ निरर्थक ही हैं, फिर भी इस अंध कवि द्वारा इस प्रकार का शब्द-चयन देखकर कभी-कभी पाठक को आश्चर्य भी होता है।

क्रिया और सूर के प्रयोग—

किसी कवि या लेखक की भाषा-विषयक समृद्धि का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त क्रिया-शब्दों से ही विशेष रूप से मिलता है। साहित्यिक गद्य में जिस प्रकार परिच्छेद के

४७. सा. १-१८६। ४८. सा. २२८५।

प्रत्येक वाक्य के क्रिया-रूपों में परिवर्तन करना कुशल लेखक सामान्यतया आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार चतुर कवि भी छंद या पद के प्रत्येक चरण की क्रिया परिवर्तित करता चलता है। इस विषय में सूरदास का कौशल प्राय: प्रत्येक पद में देखने को मिलता है। 'सूरसागर' के दूसरे से आठवें स्कंध तक के अधिकांश लंबे-लंबे पद काव्य-कला की कसौटी पर भले ही अति साधारण उतरें; परंतु क्रिया-रूपों की विविधता की दृष्टि से इनमें भी यह विशेषता है कि कवि ने उनकी अप्रिय आवृत्ति से सदैव बचने का प्रयत्न किया है।

कवि-विशेष के क्रिया-रूपों का अध्ययन करते समय मुख्य चार विषयों पर विचार करना होता है—१. धातु, २. वृदंत, ३. वाच्य और ४. काल। सूरदास के क्रिया-प्रयोगों का अध्ययन भी इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत करना उचित होगा।

१. धातु—

क्रिया का मूल रूप जो उसके सभी रूपांतरों में विद्यमान रहता है, 'धातु' कहलाता है। धातु में 'नो' या 'बो' जोड़ने से व्रजभाषा-क्रिया का सामान्य रूप बनता है; जैसे—करनो, रहनो, सहनो, पढ़िबो बसिबो आदि। यह रूप वाक्य में क्रिया के समान प्रयुक्त नहीं होता, प्रत्युत लिंग, काल, वचन आदि के अनुसार उसमें परिवर्तन या रूपांतर करके क्रिया के अन्य विकृत रूप बनाये जाते हैं।

क्रिया के मूल रूप अर्थात् धातु की दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त क्रिया-पदों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. संस्कृत से प्रभावित रूप, ख. अपभ्रंश से प्रभावित रूप और ग. जनभाषा से प्रभावित रूप।

क. **संस्कृत से प्रभावित रूप**—संस्कृत भाषा की क्रियाओं के जो मूल रूप हैं, उनसे मिलती-जुलती धातुओं से निर्मित अनेक रूपांतर सूर-काव्य में मिलते हैं; जैसे—एक सुमन लै ग्रंथति माला[४९]। राधे कत रिस सरसतई; तिष्ठति जाइ बार बारनिं पै होति अनीति नई[५०]। द्रुपदसुता भाषति[५१]। सूच्छम वेष धूम की धारा नव घन ऊपर भ्राजति[५२]। मानो मघवा नव घन ऊपर राजत[५३]। बसुधा कमल बैठकी साजति[५४]। इन वाक्यों में प्रयुक्त क्रियाओं—ग्रंथति, तिष्ठति, भाषति, भ्राजति, राजत और साजति—के धातु-रूप ग्रंथ, तिष्ठ, भाष, भ्राज, राज और साज, संस्कृत से प्रभावित ही हैं।

ख. **अपभ्रंश से प्रभावित रूप**—अपभ्रंश में जिस प्रकार द्वित्व वर्णों से युक्त रूप प्रत्युत होते थे, उसी प्रकार के कुछ प्रयोग सूर-काव्य में भी मिलते हैं, यद्यपि वीररस में कवि की रुचि न रहने के कारण इनकी संख्या बहुत कम है। निम्नलिखित

---

४९. सा, २८९२। ५०. सा, २८०६। ५१. सा. १-२५५। ५२. सा. ६३८। ५३. सा. १०-१२८। ५४. सा. १०-११०।

उदाहरणों के 'कट्टे', 'दहपट्टे' और 'लज्जियै' क्रिया-रूपों की कट्ट, दहपट्ट और लज्जि धातुएँ अपभ्रंश से ही प्रभावित हैं—

१. तब बिलंब नहिं कियौ सीस दस रावन **कट्टे**।
नब बिलंब नहिं कियौ सबै दानव **दहपट्टे**[५५]।

२. जिहिं लज्जा जग **लज्जियै** सो लज्जा गई लजाइ[५६]।

ग. **जनभाषा से प्रभावित रूप**—इस प्रकार के रूपों की संख्या प्रथम अर्थात् संस्कृत से प्रभावित रूपों से कम, परंतु अपभ्रंश से प्रभावित रूपों से अधिक है। इसका मुख्य कारण है कि कवि की जनभाषा से शब्द-चयन करने की रुचि। निम्नलिखित वाक्यों की 'निचोवति' और 'सैंतति' क्रियाओं के धातु-रूप 'निचोव' और 'सैंत' जनभाषा से ही प्रभावित हैं—अँसुवनि चीर **निचोवति**[५७]। **सैंतत** अंड अनेक[५८]।

व्युत्पत्ति के विचार से अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से सूरदास द्वारा प्रयुक्त धातुओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—मूल और यौगिक धातु। प्रथम से आशय उन धातुओं से है जो स्वतः निर्मित हैं; किसी दूसरे शब्द से नहीं बनायी गयी हैं; जैसे—

अ. **कर**—सूर कहूँ पर घर माही जैसैं हाल **करायौ**[५९]।
आ. **चल**—काहु सौं बात **चलाई**[६०]।

द्वितीय वर्ग में वे धातुएँ आती हैं जो दूसरे शब्दों से बनायी गयी हैं; जैसे—

छमा, छमनो या छमानो—जाँबवती समेत मनि दै पुनि अपनौ दोष **छमायौ**[६१]।
संताप, सतापनो—अरु पुनि लोभ सदा **संतापै**[६२]।

सूरदास द्वारा प्रयुक्त यौगिक धातुओं के पुनः दो वर्ग किये जा सकते हैं—क. प्रेरणार्थक धातु और ख. नाम धातु।

क. **प्रेरणार्थक धातु**—दूसरे शब्दों से बनी हुई धातुओं के जो विकृत रूप वाक्य में 'कर्त्ता' का किसी कार्य या व्यापार की ओर प्रेरित किया जाना सूचित करते हैं, वे 'प्रेरणार्थक' धातु कहलाते हैं। इसी से प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। साधारणतः 'आनो', 'जानो', 'पानो', 'सकनो' आदि कुछ क्रिया-रूपों को छोड़कर अन्य क्रियाओं के दो प्रेरणार्थक रूप होते हैं—पहला सकर्मक रूप और दूसरा शुद्ध प्रेरणार्थक रूप। सूरदास ने 'सकर्मक और प्रेरणार्थक' रूप बचाने के लिए जिन नियमों का आश्रय लिया है, उनमें मुख्य ये हैं—

अ. क्रिया के मूल रूप अर्थात् धातु के अंतिम अक्षर को आकारांत करके और

५५. सा. १-१८०। ५६. सा. १६४०। ५७. सा. ११०७। ५८. सा. ९-५८।
५९. सा. २५११। ६०. सा. २९९७। ६१. सा. ४१९०। ६२. सा. ३-१३।

कभी-कभी अंत में अतिरिक्त 'आव' या 'वा' जोड़कर; जैसे—माया तुमसौं कपट करावति[६३]। स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ[६४]। बालमुकुंदहिं कत तरसावति[६५]। छेरी कौन दुहावै[६६]। गनिका सुक-हित नाम पढ़ावै[६७]। नाम-प्रताप बढ़ायौ[६८]। आदि पुरुष मोकौं प्रगटायौ[६९]। वे रुचि सौं अँचवावत[७०]। सुमिरत औ सुमिरावत[७१]।

आ. एकाक्षरी आकारांत धातु को ह्रस्व अर्थात् अकारांत करके और उसके बाद 'व' जोड़कर; जैसे—माखन खाइ, खवायो ग्वालनि[७२]।

इ. एकाक्षरी एकारांत और ओकारांत धातु को क्रमशः इकारांत और उकारांत करके और उसके अंत में 'रा', 'ला' या 'वा' जोड़कर; जैसे—गारी होरी देत दिवावत[७३]। जसुदा मदन गुपाल सुवावै[७४]।

ई. दो अक्षरों की धातु के प्रथमाक्षर की 'आ', 'ई' या 'ऊ' मात्राओं को लघु करके और अंत में 'आ', 'आव' या 'वा' जोड़कर; जैसे—बहुरि बिधि जाइ छमवाइ कै रुद्र कौ[७५]। काहूँ कछु न जनावत[७६]। दोउ सुतनि जिवावतिं[७७]। मन मेरैं नट के नायक ज्यौं नितहीं नाच नचायौ[७८]। नयौ देवता कान्ह पुजावत[७९]। मदन चोर सौं जानि (आपुकौं) मुसायौ[८०]। अति रस-रासि लुटावत-लूटत[८१]। राधिका मौन-व्रत किन सधायौ[८२]।

ऊ. दो अक्षरों की धातु के प्रथमाक्षर के 'ए' या 'ओ' की मात्राओं के स्थान पर क्रमशः 'इ' या उ' करके और अंत में 'आ', 'रा' या 'राव' जोड़कर; जैसे फंदन काटि छुड़ायौ[८३]। हौं तुम्हैं दिखराइहौं वह रूप[८४]। जसुमति...लाल लिए कनियाँ चंदा दिखरावति[८५]।

ए. तीन अक्षरों की कुछ धातुओं के द्वितीय अक्षर को दीर्घ करके; जैसे—पछिले कर्म सम्हारत नाहीं[८६]।

ख. नाम धातु—क्रिया के मूल रूप के स्थान पर संज्ञा या विशेषण शब्द का जब धातु के समान प्रयोग किया जाता है और उसमें 'नो' जोड़कर क्रिया का सामान्य रूप बनाया जाता है, तब उसे 'नाम धातु' कहते हैं। सूर-काव्य में इस प्रकार के अनेक प्रयोग मिलते हैं। ऐसे क्रिया-प्रयोगों से वाक्य को संगठित बनाने में तो विशेष सहायता मिलती ही है, संक्षेप में बात कहने की सुविधा भी रहती है। ये प्रयोग भाषा की

६३ सा. १-४२। ६४ सा. १-२७०। ६५ सा ३६५।
६६ सा १-१६८ ६७. सा. १-२२२। ६८. सा. १-१८८। ६९. सा. २-३६।
७०. सा. १३०७। ७१ सा. २-१७। ७२. सा १०-३०३।
७३. सा. २९०१। ७४. सा. १०-६५। ७५. सा ४-६। ७६. सा ८-४।
७७ सा. १०-२२८। ७८. सा. १-२०५। ७९. सा ९०६। ८०. सा. २५११।
८१. सा. ६८६। ८२. सा. १७२९। ८३. सा. १-१८८। ८४. स. ८-१०।
८५. सा. १०-९५। ८६. सा. १-६१।

प्रकृति से मेल खानेवाले और जन-साधारण के लिए बोधगम्य अवश्य होने चाहिये। सूर-काव्य में प्राप्त इस प्रकार के रूपों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अ. संज्ञा से बने रूप और आ. विशेषण से बने रूप।

अ. संज्ञा से बने रूप—जिन संज्ञा शब्दों को धातुवत् स्वीकार करके सूरदास ने 'नो' के योग से सामान्य क्रिया-रूप बनाये हैं और जिनके विविध विकृत रूपों का अपने काव्य में सर्वत्र प्रयोग किया है, उनमें से कुछ यहाँ संकलित हैं;—पुन्यफल अनुभवति नंदघरनि[८७]। स्याम प्रीतिहिं तैं अनुरागत[८८]। वै कितनौं अपमानत[८९]। दसरथ चले अवध आनंदत[९०]। सोइ तुम उपदेसियौ[९१]। को सकै उपमाइ[९२]। आतु अति कोपे हैं रन राम[९३]। कृष्न-जन्म सु प्रेमसागर क्रीड़ैं सब ब्रज लोग[९४]। इंहि तन छनभंगुर के कारन गरवत कहा गँवार[९५]। थोरी कृपा बहुत गरवानी[९६]। हरि उनके दोष छमाए[९७]। यह निंदिहै मोहिं[९८]। मनहुँ प्रसंसत पिक बर बानी[९९]। इनहिं बधायौ कंस[१]। निपट निसंक बिवादति सम्मुख[२]। सुन्दर नारि ताहि बिवाहै[३]। ज्ञान बिवेक बिरोधै दोऊ[४]। ओछनि हूँ ब्यौहारत[५]। उड़त नहीं मन ब्रीड़त[६]। तव संडामर्का संकाइ[७]। अरु पुनि लोभ सदा संतापैं...हरि माया सब जग संतापै...सुख दुख तनिकौ तिहिं न सँतापै[८]। अक्रूर सब कहि संतोषे[९]। भाल-तिलक भुव चाप लै चांद संधान संधानत[१०]। हम प्रतिपालैं, बहुरी संहरैं[११]। उत्तम भाषा ऊँचे चढ़ि-चढ़ि अंग अंग सगुनावै[१२]। अतिथि आए को नहिं सनमानै[१३]। मति माता करि क्रोध सरापै[१४]। मोहन मोहनि अंग सिंगारत[१५]। सेवत जाहि महेस[१६]। अलक अधिक सोभावै[१७]। कपट करि बिप्र कौ स्वाँग स्वाँग्यौ[१८]। नैना हठत खरे री[१९]। हुताशन होमत हवि[२०] आदि।

आ. विशेषण से बने रूप—संज्ञा शब्दों की भाँति कुछ विशेषणों को भी धातु-रूप में स्वीकार करके कवि ने, क्रिया के सामान्य रूप के विकृत प्रयोग किये हैं; परंतु ऐसे प्रयोगों की संख्या, संज्ञा-रूपों की अपेक्षा बहुत कम है; जैसे—देखत सूर अति अधिकानी[२१]। यह दीन्हैं ही अधिकैहै[२२]। तऊ नहिं तृपितात[३२]। जोग दृढ़ान्यौ[२४]। लोचन लोलति[२५]।

---

८७. सा. १०-१०९। ८८. सा. १९०५। ८९. सा. २३१३।
९०. सा. ९-२७। ९१. सा. ३४३१। ९२. सा १८११।
९३. सा. ९-१५८। ९४. सा. १०-२६। ९५. सा. १-८४। ९६. सा. ११२७।
९७. सा. ८००। ९८. सा. ३४१२। ९९. सा. २७८५। १. सा. ३५८७।
२. सा १०-३२६। ३. सा. ३-१३। ४. सा. १-१७३। ५. सा. १-११।
६. सा. १७९१। ७. सा. ७-२। ८. सा. ११-३। ९. सा. २९६७।
१०. सा. २३९८। ११. सा. ४-३। १२. सा. ३४५५। १३. सा. १२-३।
१४. सा. ९-८४। १५. सा. २६२८। १६. सा. ४२१०। १७. सा. १०-६५।
१८. सा. ४२१५। १९. सा. १८६४। २०. सा. २७८१। २१. सा. ५१३।
२२. सा. २२६७। २३. सा. १२९८। २४. सा. ३६०१। २५. सा. १४३१।

उक्त तथा सूर-काव्य में प्राप्त अन्यान्य नामधातुओं को प्रयोग-विस्तार की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे नामधातुएँ आती हैं जिनको कवि-समाज ने उपयुक्त समझ कर अपना लिया है, कोशों में जिनको स्थान मिल चुका है और गद्य में तो कम, पद्य में अवश्य अनेक कवियों ने जिनका यथावसर प्रयोग भी किया है; जैसे—अनुभवना, अनुमानना, अनुरागना, अपमानना, उपदेसना, कोपना, गरबना, छमाना, चोरना, प्रसंसना, बिबाहना, व्यवहारना, संघारना, सनमानना, सिंगारना, सेवना, हठना, होमना आदि। दूसरे वर्ग में वे प्रयोग आते हैं जिनका प्रचार तो अपेक्षाकृत सीमित रहा, परंतु जिनसे कवि की स्वतंत्र मनोवृत्ति के साथ साथ नवीन शब्द-निर्माण करनेवाली उसकी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय मिलता है; जैसे—अधिकना, आदरना, आनंदना उपमाना, क्रीड़ना, तृपिताना, दृढ़ाना, निंदना, प्रसंसना, बधाना, बिबादना, बिरोधना, ब्रीड़ना, लोलना, संकाना, सगुनाना, सोभना, स्वाँगनाँ आदि।

अनुकरण धातु—उक्त रूपों के अतिरिक्त सूर-काव्य में एक प्रकार के और धातु-रूप मिलते हैं जिन्हे 'अनुकरण धातु' कह सकते हैं। ये रूप किसी पदार्थ या व्यापार की ध्वनि के अनुरूप बने शब्दों से अथवा उनमें 'आ' जोड़कर बनाये जाते हैं। इनमें 'ना' या 'नो' के योग से क्रिया का सामान्य रूप बनता है जिसके विकृत प्रयोगों की संख्या सूर-काव्य में प्रर्याप्त है; जैसे—कदम करारत काग[२६]। बरत बन पात भहरात, भहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायौ[२७]। घहरात गररात दररात हररात तररात भहरात माथ नाए[२८]। दरदरात घहरात प्रबल अति[२९]।

२. कृदंत—

संज्ञा और विशेषण शब्दों का प्रयोग सूरदास ने जिस प्रकार धातु रूप में करके, 'नो' के योग से सामान्य क्रियाएँ बनायी हैं, उसी प्रकार अनेक धातुओं का मूल रूप में अथवा विविध प्रत्यय जोड़कर उनका प्रयोग संज्ञा, विशेषण आदि अन्य शब्द-भेदों के समान भी किया है। ये द्वितीय प्रकार के रूप ही 'कृदंत' कहलाते हैं। संयुक्त क्रियाओं के निर्माण में इनका विशेष रूप से उपयोग होता है। स्थूल रूप से इनके दो भेद किये जा सकते हैं—१. विकारी कृदंत और २. अविकारी कृदंत।

१. विकारी कृदंत—इनका प्रयोग मुख्य रूप से संज्ञा और विशेषण के समान किया जाता है। इनके चार भेद होते हैं—क. क्रियार्थक संज्ञा, ख. कर्त्तृवाचक, ग. वर्तमान-कालिक कृदंत और घ. भूतकालिक कृदंत।

क. क्रियार्थक संज्ञा—धातु के अंत में 'नो' या 'बो' जोड़ने से व्रजभाषा-क्रिया का जो सामान्य रूप बनता है, उसका प्रयोग क्रियावत् न होकर प्रायः संज्ञा के समान किया जाता है। इसी को 'क्रियार्थक संज्ञा' कहते हैं। सूर-काव्य में प्रयुक्त अधिकांश क्रियाएँ धातु में 'ना', 'बा' अथवा इनके विकृत रूपों के संयोग से बनायी गयी हैं,

२६. सा. ११२६। २७. सा. ५९६। २८. सा. ८५३। २९. सा. ९३१।

यद्यपि कुछ अतिरिक्त रूप भी यत्र-तत्र मिलते हैं। इस प्रकार इनके तीन वर्ग किये जा सकते हैं—क्ष. 'नो' से बने रूप, त्र. 'बो' से बने रूप और ज्ञ. अन्य रूप।

क्ष. 'नो' से बने रूप—धातु में 'नो' अथवा इसके जिन विकृत रूपों के संयोग से क्रियार्थक संज्ञा के रूप सूरदास ने बनाये हैं, उनमें मुख्य यहाँ दिये जाते हैं—

अ. न—अज भयौहूँ न आवन[३०]। माखन खान सिखाए[३१]। कहत तिनसौं घूँटन, नाहिं चालन प्रीति[३२]। मन, रहन अटल करि जान्यौ[३३]।

नकारांत रूपों के साथ-साथ कहीं-कहीं सूरदास ने विभक्तियों का भी प्रयोग किया है; जैसे—सत्य के गहन की सुधि भुलाई[३४]। धाई नंद सुवन-मुख जोहन कौं[३५]। दोष देन कौं नीकौ[३६]।

आ. ना—व्रजभाषा की ओकारांत प्रकृति से मेल न खाने के कारण नाकारांत रूपों की संस्था बहुत कम है। तुकांत-पूर्ति के लिए अपवाद-रूप में ही ऐसे प्रयोग दिखायी देते हैं; जैसे—तिनहिं कठिन भयौ देहरि उलंघना[३७]।

इ. नि—मुख की कहनि कन्हैया की[३८]। वह चलनि मनोहर[३९]। यह छाँड़नि वह पोषनि[४०]। कर धरि चक्र चरन की धावनि[४१]। वा प्रताप की मधुर बिलोकनि पर वारौं सब भूप[४२]।

ई. नी—निकारांत रूपों की तुलना में इस प्रकार के रूपों की संख्या बहुत कम है : जैसे—मुख मुख जोरि तिलक की करनी[४३]।

उ. नौ—स्याम कौ मिलनौ बड़ी दूरि[४४]। प्रानप्रियहिं रूसनौ कहि कैसौ[४५]।

त्र. 'बो' से बने रूप—धातु में 'बो' या इसके निम्नलिखित रूपांतरों के संयोग से क्रियार्थक संज्ञाएँ सूरदास ने बनायी हैं—

अ. ब—दुरलभ जनम लहब बृंदाबन[४६]।

आ. इबे, बे—इस प्रत्यय के योग से बने रूपों के साथ कभी विभक्ति का प्रयोग सूर ने किया है और कभी नहीं किया है; जैसे—तीनि और कहिबे कौं रहीं[४७]। जोग अगिनि दहिबे कौं ध्यायौ[४८]। मिलिबे माँझ उदास अनत चित[४९]। खैबे कौं कछु भाभी दीन्हौं[५०]। मंत्री काम कुमति दीबे कौं[५१]। लैबे कौं धाए[५२]। उड़ि न सकत उड़िबै अकुलावत[५३]। ऊधौ, और कछु कहिबै कौं[५४]।

---

३०. सा.३६६१ । ३१. सा.२६५७ । ३२. सा.३६९१ । ३३. सा.१.३११
३४. सा.४२२१ । ३५. सा.२९८२ । ३६. सा.१-१८६ । ३७. सा.१०-११३
३८. सा.२००३ । ३९. सा.३६०२ । ४०. सा.४२५८ । ४१. सा.१-२७१
४२. सा.९-१३४ । ४३. सा.९-१०१ । ४४. सा.२९६१ । ४५. सा.२८२६
४६. सा.१२१६ । ४७. सा.१२-४ । ४८. सा.३६१२ । ४९. सा.२५२४
५०. स.४२४५ । ५१. सा.१-१४४ । ५२. सा.४२०० । ५३. सा.१३६८
५४. सा.३५१८ ।

इ. इवैं, वैं—कहिवैं जिय न कछू सक राखौ[५५]। पग दिये तीरथ जैइवै काज[५६]। पकरिवैं धावत[५७]। अपनौ पिंड पोपिवैं कारन[५८]। फुरैं न बचन वरजिवैं कारन[५९]।

ई. इवौ—कहँ माखन कौ खइवौ[६०]। ब्रज कौ बसिवौ मन भावै[६१]। वहिवौ नहीं निवारै[६२]। जिहिं तन हरि भजिवौ न कियौ[६३]। सप्तम दिन मरिवौ निरधार[६४]।

ज्ञ. अन्य रूप—धातु में 'नो', 'वो' अथवा इनके विकृत रूपों का योग न करके अन्य कई प्रत्ययों के संयोग से भी सूरदास ने क्रियार्थक संज्ञाएँ बनायी हैं और कहीं-कही तो मूल धातु का ही प्रयोग क्रियार्थक संज्ञा के समान किया है; जैसे—

अ. मूल धातु—बाँसनि मार मची[६५]।

आ. एकारांत रूप—गाए सूर कौन नहिं उबरयौ[६६]। और भजे तैं काम सरै नहिं[६७]। हरि सुमिरे तैं सब सुख होइ[६८]।

इ. ऐंकारांत— जो सुख होत गुपालहिं गाऐं[६९]। उनहीं कौं मन राखैं काम[७०]।

ई. ऐकारांत—उठि चलि कहै हमारें[७१]।

ख. कर्तृवाचक संज्ञा—मूल धातु अथवा क्रियार्थक संज्ञा में जो प्रत्यय जोड़कर सूरदास ने कर्तृवाचक संज्ञा-रूप बनाये हैं उनको भी स्थूल रूप से चार वर्गों में रखा जा सकता है—क्ष. 'न' के योग से बने रूप, त्र. 'वार' के योग से बने रूप, ज्ञ. 'हार' के योग से बने रूप और द्य. अन्य प्रत्ययों के योग से बने रूप।

क्ष. 'न' के योग से रूप —न, ना, नि, नी, और नौ—इन पाँच प्रत्ययों के योग से बने जो कर्तृवाचक संज्ञा-रूप सूर-काव्य में मिलते हैं, उनमें से प्रमुख यहाँ संकलित हैं—

अ. न—आपुन भए उधारन जग के[७२]। (नंद-नंदन) चरन सकल सुख के करन... रमा कौ हित करन[७३]। रावन कुल-खोवन[७४]। गनिका तारन ... मैं सठ बिसरायौ[७५]। (गंग तरंग) भागीरथहिं भव्य बर दैन[७६]। हरि ब्रज-जन के दुख बिसरावन[७७]। कृपा निधान......सदा सँवारन काज[७८]।

आ. ना—अखिल असुर के दलना[७९]।

---

५५. सा.३५४० । ५६. सा.४-१२ । ५७. सा.१०-११० ।
५८. सा.१-३३४ । ५९. सा.१०-२८३ । ६०. सा.३७६६ ।
६१. सा.४२५४ । ६२. सा.३७७८ । ६३. सा.२-१६ ।
६४. सा.१-२८० । ६५. सा.२९०५ । ६६. सा.१-६६ । ६७. सा.१-६८ ।
६८. सा.२-५ । ६९. सा.२-६ । ७०. सा.२५४० । ७१. सा.२५८७ ।
७२. सा.१-२०७ । ७३. सा.१-३०७ । ७४. सा.९-८८ । ७५. सा.२-३० ।
७६. सा.९-१२ । ७७. सा.६०३ । ७८. सा.१-१०९ । ७९. सा.१०-५४ ।

इ. नि—हरि जू की बाल छबि ... कोटि मनोज सोभा हरनि[८०]।

ई. नी—मूरति दुसह दुःख भय हरनी[८१]।

उ. नौ—मनिमय भूषन कंठ मुकुतावलि कोटि अनंग लजावनौ ... स्यामा स्याम बिहार सुर ललना ललचावनौ[८२]।

ञ. 'वार' के योग से बने रूप—वार, वारी, वारे और वारौ आदि रूपांतरों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये जाते हैं। सूर-काव्य में इनमें से प्रथम दो के कुछ उदाहरण मिलते हैं। इनमें से प्रथम एकवचन रूप है और द्वितीय बहुवचन; जैसे—

अ. वार—यह ब्रज कौ रखवार[८३]।

आ. वारे—बहु जोधा रखवारे[८४]।

ज्ञ. 'हार' के योग से बने रूप—हार, हारि, हारी, हारे और हारौ—इन पांच रूपांतरों के योग से सूरदास ने कृर्तृवाचक संज्ञा-रूप बनाये हैं। इनमें से प्रथम और अंतिम एकवचन पुल्लिग रूप हैं और चतुर्थ बहुवचन पुल्लिग या आदरार्थक। एकवचन हारि और हारी से स्त्रीलिंग रूप बनाये गये हैं; जैसे—

अ. हार—ओढ़नहार कमरि कौ[८५]। खेवनहार न खेवट मेरैं[८६]। तच्छक डसनहार मत जान[८७]। काकौं दीखै दिखहार[८८]। मथनहार हरि[८९]। को है मेटनहार[९०]। राखनहार अहै कोउ औरै[९१]। साँचौ सो लिखहार कहावै[९२]।

आ. हारि—हाट की बेचनहारि[९३]। मथनहारि सब ग्वारि बुलाई[९४]।

इ. हारी—स्यामहिं तुम भई भिरकनहारी[९५]। यह मुरली कुस दाहनहारी[९६]। छाँड़हिं बेचनहारी[९७]। दीखति है कछु होवनिहारी[९८]।

ई. हारे—अधम उधारनहारे[९९]। कमरी के ओढ़नहारे[१]। अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे[२]।

उ. हारौ—सोइ जानत चाखनहारौ[३]। सुगंध चुरावनहारौ[४]। को जो याकौं मेटनहारौ[५]। रोकनहारौ नंद महर-सुत[६]।

---

८०. सा.१०-१०९। ८१. सा.९-१०१। ८२. सा.२८३२।
८३. सा. १३९२। ८४. सा. ९-१०५। ८५. सा. १४८७। ८६.सा. १-१८५।
८७. सा. १२-५। ८८. सा. १२-४। ८९. सा. ९२०। ९०. सा. ९-१२१।
९१. सा. ७-३। ९२. सा. १-१४२। ९३.सा. १०-२९५। ९४. सा. ५२०।
९५. सा. १५३६। ९६. सा. १३०९। ९७. १५१८.। ९८. सा. ४-५।
९९. सा. १-२५। १. सा. १५१७। २. सा. १-१८५। ३. सा. १०-१३५।
४. सा. १६९५। ५. सा. ९-३६। ६. सा. १५९३।

ख. अन्य प्रत्ययों से बने रूप--इया, ई, ऐया, क, त, ता, वा और वैया--इन आठ प्रत्ययों से बने कर्तृवाचक संज्ञा-रूप इस वर्ग में आते हैं। इनमें से 'ऐया' के योग से बने रूपों की संख्या सूर-काव्य में सबसे अधिक हैं। 'ई' को छोड़कर शेष सभी प्रत्यय पुल्लिग-रूप बनाने के लिए काम में लाये गये हैं; जैसे—

अ. इया—ये दोउ नीर गँभीर पैरिया[७]।

आ. ई—जग हित प्रगट करी करुनामय अगतिनि कौ गति दैनी[८]।

इ. ऐया—कोउ नहिं घात करैया[९]। बिबिध चौकरी बनाउ धाय रे बनैया... बहुविधि जरि करि जराउ ल्याउ रे जरैया ...धन्य रे गढ़ैया... झूलौ हो भुलैया[१०]। ये दोउ मेरे गाइ चरैया[११]।

ई. क—कंस-उरहिं के सालक[१२]।

उ. त—ये सबही के त्रात[१३]।

ऊ. ता--तुमहिं भोगता, हरता, करता तुमहीं[१४]। परम पवित्र मुक्ति को दाता[१५]।

ए. वा--जानति हैं गोरस के लेवा याही बाखरि माँझ[१६]।

ऐ. वैया-जहाँ न कोऊ हो रखवैया[१७]। मन-तंत्री सो रथ-हँकवैया[१८]।

ग. **वर्तमानकालिक कृदंत**—धातु के अंत में 'त' जोड़कर वर्तमानकालिक कृदंत सूरदास ने बनाये हैं। स्त्रीलिंग रूपों में 'त' के स्थान पर 'ति' मिलता है; जैसे—

अ. त—लाखागृह तैं जरत पांडु-सुत बुधि-बल नाथ उबारे[१९]। प्रात समम उठि सोवत सिसु कौ बदन उघारचौ नंद[२०]।

आ. ति—ते निकसीं देति असीस[२१]।

घ. **भूतकालिक कृदंत**—धातु के अंत में ई, नौ, न्ही, न्हौ, यौ आदि जोड़कर सूरदास ने भूतकालिक कृदंत बनाये हैं। इनमें 'ई' और 'न्ही' वाले रूप स्त्रीलिंग हैं, शेष सामान्य रूप अर्थात् पुल्लिग एकवचन हैं। भूतकालिक कृदंतों का प्रयोग प्रायः विशेषणों के समान किया गाता है; जैसे—

अ. ई—दीजै बिदा...काल्हि साँझ की आई[२२]। आनँद-भरी जसोदा उमँगि अंग न माति[२३]।

आ. नौ—दूध-दही बहु बिधि कौ दीनौ सुत सौं धरति छिपाई[२४]।

इ. न्ही—इंद्रहिं की दीन्ही रजधानी[२५]।

---

७. सा ३५८७। ८. सा. ९-११। ९. सा. ४२८।
१०. सा. १०-४१। ११. सा. ५१३। १२. सा. ४२६।
१३. सा ९८६। १४. स.. ८४५। १५. सा. ९-१२।
१६. सा. १६७६। १७. सा. १०-३३५। १८. सा. ४-१२। १९. सा. १-१०।
२०. सा. १०-२०३। २१. स. १०-२४। २२. सा. १०-१६। २३. सा. १०-३०।
२४. सा. १०-३२५। २५. सां. ८८६।

ई. न्हौ—मेरैं बहुत दई को दीन्हौ[२६] ।

उ. यौ—भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज[२७] ।

२. अविकारी कृदंत—ये कृदंन प्रायः क्रियाविशेषण और संबंधसूचक अव्ययों के समान प्रयुक्त होते हैं। इनके भी चार भेद हैं—क. पूर्वकालिक, ख. तात्कालिक, ग. अपूर्ण क्रियाद्योतक और घ. पूर्ण क्रियाद्योतक।

क. पूर्वकालिक कृदंत—ये कृदंत अकारांत, आकारांत, एकारांत और ओकारांत धातुओं में इ, ई, ऐ, य आदि प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं। इनके अतिरिक्त धातु के साथ करि, के, कैं, कै आदि के योग से भी सूर ने पूर्वकालिक कृदंत बनाये हैं; जैसे—

अ. इ—सूर कहै कसि फेंट[२८] । कंचन खोइ काँच लै आए[२९] । तब मैं डारि कियौ छोटौ तनु[३०] । तुम कतहिं मरत हौ रोइ[३१] । तू कहि कथा समुझाइ[३२] । तन होमि मदन-मख मिलौं माधवहिं जाइ[३३] ।

आ. ई—(हौं) देखौं जाई[३४] । कहति हौं टेरी[३५] । न्हात भजे कुस डारी[३६] । सब भाई उत्तर दिसा गए हरि ध्याई[३७] । राखि लेहु बलि त्रास निवारी[३८] । दुरबासा दुर्जोधन पठयौ पांडव अहित बिचारी[३९] ।

. ऐ—नैंकु चितै मन हरि लीन्हौं[४०] । ब्रजभामिनि सरबस दै सुत-सदन बिसारे[४१] । गगन-मँडल तैं गहि आन्यौ है पंछी एक पठै[४२] । सूर स्याम हिं भाँति रिझै किनि तुमहुँ अधर-रस लेउ[४३] । गिरि लै भए सहाई[४४] ।

ई. य—ख्वाय बिष गृह लाए दीन्हौं[४५] ।

उ. करि—दैकरि साप पिता पहँ आयौ[४६] ।

ऊ. के—मिटी प्यास जमुना-जल पीके[४७] ।

. कैं—लच्छागृह तैं काढ़ि कैं पांडव गृह लावै[४८] ।

ऐ. कै—देवराज मष भंग जानिकै बरष्यौ ब्रज पर[४९] । मोंहि तजिकै[५०] । अति प्रपंच की मोट बाँधि कै अपनैं सीस धरी[५१] । कै प्रभु हार मानिकै बैठौ[५२] । खाइ मारिकै औरै[५३] । (माया) मुसुक्याइ कै..... मन हरि लीन्हौ[५४] ।

उकारांत धातुओं के पूर्वकालिक कृदंत बनाने के लिए धातु में 'इ' लगाने के साथ अंत्य 'ऊ' के स्थान पर 'व' कर दिया गया है; जैसे—मोतन छ्वै बैहर चले[५५] ।

२६. सा. १०-३२१ । २७ सा. १-१५१ । २८. सा. १-१५५ ।
२९. सा. २५११ । ३०. सा. ९-१०४ । ३१. सा. १-२६२ ।
३२. सा. ११-२ । ३३. सा. ३२९२ । ३४. सा. १-२८६ । ३५. सा. १-२५२ ।
३६. सा. १-२२२ । ३७. सा. १-२८८ । ३८. सा. १-१६० । ३९. १-२२२ ।
४०. सा. १-४४ । ४१. सा. १-९४ । ४२. सा. १०-१९५ । ४३. सा. १३३० ।
४४. सा. १-१२२ । ४५. सा. १-१०२ । ४६. सा. १-२९० । ४७. सा. १३९४ ।
४८. सा. १-४ । ४९. सा. १-१२२ । ५०. सा. ११-२ । ५१. सा. १-१८४ ।
५२. सा. १-१३७ । ५३. सा. १-१८६ । ५४. सा. १-४४ । ५५. सा. १४४३ ।

एकाक्षरी ओकारांत क्रिया 'हो' का पूर्वकालिक रूप सूरदास ने 'ह्वै' बनाया है; जैसे—'ह्वै' गज चल्यौ स्वान की चालहिं[५६]। बान बरषा लागे करन अति क्रुद्ध 'ह्वै'। नृपति रिषिनि पर 'ह्वै' असवार चल्यौ[५८]। गोप-पुत्र 'ह्वै' चल्यौ[५९]। उठि चल्यौ 'ह्वै' दीन[६०]।

इनके अतिरिक्त कुछ धातुओं का मूल रूप में ही पूर्वकालिक कृदंतों के समान सूरदास ने प्रयोग किया है; जैसे—मुक्त होइ नर ताकौ जान[६१]। स्वामिनि-सोभा पर वारति सखि तृन तूर[६२]। जगतपति आए खगपति त्याज[६३]।

ख. तात्कालिक कृदंत—ये कृदंत तकारांत वर्तमानकालिक कृदंतों के अंत में मुख्यतः 'हिं', 'हीं' या 'ही' जोड़कर बनाये गये हैं; जैसे—

अ. हिं—बसुदेव उठे यह सुनतहिं[६४]।

आ. हीं—आवतहीं भई कौन विथा री[६५]। यह बानी कहतहीं लजानी[६६]। चितवतहीं सब गए झुराई[६७]। मुख निरखतहीं सुख गोपी प्रेम बढ़ावत[६८]। प्रभु बचन सुनतहीं हनुमत चल्यौ अतुराई[६९]।

इ. हीं--जैसी कही हमहिं आवतही[७०]। सुरन के कहतही धारि कूरम तनहिं[७१]। सुमिरतही ततकाल कृपानिधि बसन-प्रवाह बढ़ायौ[७२]।

इनके अतिरिक्त सूर-काव्य के अनेक पदों में तकारांत वर्तमानकालिक कृदंतों का मूल रूप में भी तात्कालिक कृदंतों के समान प्रयोग किया गया है; जैसे—मेरी देह छुटत जम पठए दूत[७३]। साँचे बिरद सूर के तारत लोकनि-लोक अवाज[७४]। नाम लेत वाको दुख टार्‌यौ[७५]। सुनत पुकार' 'दौरि छुड़ायौ हाथी[७६]।

ग. अपूर्णक्रियाद्योतक कृदंत—ये कुदंत धातु में 'तौ' जोड़कर बनाये गये हैं; जैसे--नैन थके मग जोइतौ[७७]।

साधारणतः अपूर्णक्रियाद्योतक रूपों में 'हिं', 'हीं' या 'हिं' नहीं जोड़ा जाता; परंतु अपवादस्वरूप सूरकाव्य में कहीं-कही 'हिं' भी दिखायी देता है; जैसे—स्याम खेलतहिं ' कूदि परे कालीदह जाइ[७८]।

घ. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंत—ये कृदंत-रूप धातु में प्रायः 'ए', 'एँ', या 'न्हें', लगाकर बनाये गये हैं; जैसे—धाईं सब ब्रजनारि सहज सिंगार किए[७९]। नाचत महर मुदित मन कीन्हे[८०]। बन तैं आवत धेनु चराए[८१]। खेलत फिरत कनकमय आँगन पहिरे

५६. सा. १-७४। ५७. सा. १-२७१। ५८. सा. ६-७। ५९. सा. ६०४।
६०. सा. ११-२। ६१. सा. ३-१३। ६२. सा. २८६८। ६३. सा. १-२५५।
६४. सा. १०-८। ६५. सा. ६९७। ६६. सा. ७७६। ६७. सा. ९२७।
६८. सा. ६१७। ६९. सा. ९-१४९। ७०. सा. ३५१६। ७१. सा. ८-९।
७२. सा. १-१०९। ७३. सा. १-१५१। ७४. सा. १-९६। ७५. सा. १-१४।
७६. सा. १-११२। ७७. सा. ४२५७। ७८. सा. ५४३। ७९. सा. १०-२४।
८०. सा. १०-४। ८१. सा. ४१७।

लाल पनहियाँ[८२] । बन तैं आवत गो-पद-रज लपटाए[८३] । स्याम आपने कर लीन्हे बाँटत जूठन भोग[८४]

३. **वाच्य**—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य, तीनों में से प्रथम के प्रयोग तो सूर-काव्य में सामान्य हैं; अंतिम दो वाक्यों के प्रयोगों में विशेषता मिलती है।

क. **कर्तृवाच्य**—इस प्रकार के प्रयोगों में वाक्य की क्रिया का पुरुष, वचन और लिंग, तीनों बातें कर्त्ता के अनुसार होती हैं। वर्तमान और भविष्यकाल में प्रयुक्त अकर्मक और सकर्मक, दोनों प्रकार की क्रियाएँ सूर-काव्य में मिलती हैं; परंतु भूतकाल में केवल अकर्मक क्रियाएँ ही कर्तवाच्य में प्रयुक्त हुई हैं; जैसे—मन मेरौं हरि साथ गयौ[८५]। चितै रही राधा हरि कौ मुख[८६]। ब्रज जुवती स्याम-सिर तिलक बनावति[८७]। बैठी मानिनी गहि मौन[८८]। बहुरि फिरि राधा सजति सिंगार[८९]।

ख. **कर्मवाच्य**—वाक्य में क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष जब कर्म के अनुसार होता है, तब उसका प्रयोग 'कर्मवाच्य' कहलाता है। ऐसे प्रयोगवाले वाक्यों में कर्ता, यदि हो तो, करणकारक में रहता है। इस वाच्य के रूप सूरदास ने तीन प्रकार से बनाये हैं—क्ष. 'जानो' क्रिया की सहायता से, त्र. प्रत्ययों के योग से और ज्ञ. अन्य प्रयोग।

क्ष. **'जानो' क्रिया से बने रूप**—गयौ, जाइ, जाई, जात, जाति—'जानो' क्रिया के मुख्यतः इन रूपांतरों से सूरदास ने कर्मवाच्य रूप बनाये हैं; जैसे—

अ. **गयौ**—हमपैं घोष गयौ नहिं जाइ[९०]। बिनु प्रसंग तहँ गयौ न जाई[९१]।

आ. **जाइ**—कहि न जाइ या सुख की महिमा[९२]। तेरौ भजन कियौ न जाइ[९३]। (यह गाइ) अगह, गहि नहिं जाइ[९४]। सो काहू पै जाइ न टारी[९५]। बरनि न जाइ भक्त की महिमा[९६]।

इ. **जाई**—छबि कहि न जाई[९७]। रावन कह्यौ, सो कह्यौ न जाई[९८]। तात की आज्ञा मोपैं मेटि न जाई[९९]। मोपैं लख्यौ न जाई[१]। ताकौ बिषाद मोपैं सह्यौ न जाई[२]।

ई. **जात**—यह उपकार न जात मिटायौ[३]।

उ. **जाति**—अंतर-प्रीति जाति नहिं तोरी[४]। छबि नहिं जाति बखानी[५]। बिपति जाति नहिं बरनी[६]। स्वामी की महिमा कापै जाति बिचारी[७]। अब कैं सहि जाति ढिठाई[८]।

---

८२. सा. ९-१९। ८३. सा. ४१७। ८४. सा. ८४४।
८५. सा. १८८८। ८६. सा. १७६५। ८७. सा. १५८।
८८. सा. २५७४। ८९. सा. २१८३। ९०. सा. १०२२।
९१. सा. ९-३। ९२. सा. ४-१२। ९३. सा. १-४२।
९४. सा. १-५६। ९५. सा. ४-५। ९६. सा. १-११। ९७. सा. ८-१०।
९८. सा. ९-१०४। ९९. सा. ९-५३। १. सा. ९-१६१। २. सा. ९-७।
३. सा. ४-९। ४. सा. १०-३०६। ५. सा. १०-१५३। ६. सा. ९-७३।
७. सा. ३८८। ८. सा. १०-३०३।

ञ. प्रत्ययों के योग से बने रूप—इये, त आदि प्रत्ययों के योग से सूरदास ने कर्मवाच्य रूप बनाये हैं; जैसे—

अ. इयै—तुम घर मथियै सहस मथानी[९]।

आ. त—रंग कापै होत न्यारौ हरद-चूनौ सानि[१०]। ये उतपात मिटत इनहीं पै[११]।

ञ. अन्य प्रयोग—उक्त रूपों के अतिरिक्त अनेक ऐसे कर्मवाच्य प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं, जिन पर उक्त नियम नहीं लगते। ऐसे प्रयोग मुख्यतः 'आवनो' और 'परनो' क्रियाओं के रूपांतरों के सहयोग से बनाये गये हैं; जैसे—

अ. आवनो—करनी करुनासिंधु की मुख कहत न आवै[१२]। अंग अंग प्रति छबि तरंग गति...क्यों कहि आवै[१३]।

आ. परनौ—अबिगत की गति कहि न परति है[१४]। अबिगत गति जानी न परै[१५]। उर की प्रीति...नाहिन परति दुराई[१६]। तेरी गति लखि न परै[१७]।

ग. भाववाच्य—इस वाच्य में प्रयुक्त क्रिया में पुल्लिग, एकवचन और अन्यपुरुष होता है। साधारणतः भूतकाल में प्रयुक्त सकर्मक भाववाच्य क्रिया के साथ 'ने' का प्रयोग किया जाता है और अकर्मक में 'से' का; परंतु सूरदास ने 'ने' का प्रयोग कहीं नहीं किया है; जैसे जब तैं सुनी स्रवन रह्यौ न परै भवन[१८]।

४. काल-रचना—

विभिन्न कालों का संबंध क्रिया के 'अर्थ' से होता है। 'अर्थ' से तात्पर्य क्रिया के उस रूप से है जो विधान करने की रीति का बोध कराता है। इस दृष्टि से क्रिया के मुख्य पाँच अर्थ होते हैं—क. निश्चयार्थ, ख. संभावनार्थ, ग. संदेहार्थ, घ. आज्ञार्थ और ङ. संकेतार्थ। इनके आधार पर कालों के निम्नलिखित १६ भेद किये जाते हैं[१९]—

क. निश्चयार्थ—१ सामान्य वर्तमान, २. पूर्ण वर्तमान, ३. सामान्य भूत, ४. अपूर्ण भूत, ५. पूर्ण भूत और ६. सामान्य भविष्यत।

ख. संभावनार्थ—७. संभाव्य वर्तमान, ८. संभाव्य भूत और ९. संभाव्य भविष्यत।

ग. संदेहार्थ—१०. संदिग्ध वर्तमान और ११. संदिग्ध भूत।

घ. आज्ञार्थ—१२. प्रत्यक्ष विधि और १३. परोक्ष विधि।

ङ. संकेतार्थ—१४. सामान्य संकेतार्थ, १५. अपूर्ण संकेतार्थ और १६. पूर्ण संकेतार्थ।

गीतिकाव्यात्मक विशिष्ट रचना-शैली अपनायी जाने के कारण सूर-काव्य में सभी

---

९. सा. ८८६। १०. सा. १४५९। ११. सा. ६००।
१२. सा. १-४। १३. सा. १-६९। १४. सा. १-१२।
१५. सा. १-१०५। १६. सा. ८०१। १७. सा. १-१०४। १८. सा. १३६७।
१९. पं० कामता प्रसाद गुरु 'हिंदी व्याकरण', पृ. ३३५।

कालों के सभी पुरुषों, वचनों और लिंगों के पर्याप्त उदाहरण नहीं मिलते; विशेष रूप से संभाव्य वर्तमान, संभाव्य भूत, संदिग्ध वर्तमान, संदिग्ध भूत, अपूर्ण संकेतार्थ और पूर्ण संकेतार्थ – इन छह काल-भेदों के उदाहरण बहुत कम हैं। विशेष ध्यान देने पर इन कालों में प्रयुक्त कुछ क्रिया-रूपों के उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं; जैसे—धर्म बिचारत मन में होइ[२०] (संभव्य वर्तमानकाल); प्रेमकथा सोई पै जानै जापै बीती होई[२१] (संभाव्य भूतकाल) आदि; परन्तु इनके आधार पर काल-विशेष के रूप-निर्माण-सम्बन्धी नियमों का निर्धारण करना उपयुक्त न होगा। अतएव उक्त छह काल-भेदों को छोड़कर शेष दस भेदों के विभिन्न कालों, पुरुषों और वचनों के प्रयोगों का संकलन और उनके नियमों की विवेचना यहाँ करना है।

विभिन्न कालों में प्रयुक्त रूपों में पुरुष (उत्तम, मध्यम और अन्य), वचन (एक० और बहु०) तथा लिंग (स्त्रीलिंग और पुल्लिग) के अनुसार परिवर्तन होता है। इसे ध्यान में रखकर ही सूरदास के क्रिया-प्रयोगों की काल-रचना पर विचार करना है।

१. **सामान्य वर्तमान[२२]**—इस कारक के लिए दो प्रकार के प्रयोग सूरदास ने किये हैं। प्रथम वर्ग में 'होना' क्रिया के विकृत रूपों या इनके योग से बने रूपों के प्रयोग आते हैं और द्वितीय वर्ग में अन्य क्रियाओं के।

क्ष. **'होना' क्रिया से बने प्रयोग**—विभिन्न पुरुषों और वचनों में 'होना' क्रिया के मुख्य सामान्य वर्तमानकालिक जो प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं, उनका प्रयोग प्रायः दोनों लिंगों में किया गया है—

क. **सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : एकवचन**—इस वर्ग का प्रमुख रूप 'हौं' है जिसका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र किया गया है; जैसे—(मैं)देखति हौं[२३]। दुख पावत हौं मैं अति[२४]। मैं तबही की वकति हौं[२५]। भक्त-भवन मैं हौं जु बसत हौं[२६]।

ख. **सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : बहुवचन**—इस वर्ग में मुख्य रूप 'आहिं' है; जैसे—तुव ननसाल माहिं हम आहिं[२७]।

ग. **सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : एकवचन**—'आहि' और 'हौ' इस वर्ग के दो मुख्य रूप हैं जिनमें से द्वितीय का प्रयोग सूर-काव्य में अधिक मिलता है; जैसे—

अ. आहि—मोटौ तू आहि[२८]। तू को आहि[२९]। छल करत कछू तू आहि[३०]।

आ. हौ—इसका प्रयोग स्वतंत्र क्रिया के रूप में हुआ है और सहायक क्रिया के रूप में भी; जैसे—तुमहीं हौ साखि[३१]। तुम हौ परम सभागे[३२]।

---

२०. सा. १-२९०। २१. सा. ३५४२।
२२. 'सामान्य वर्तमान' को 'वर्तमान निश्चयार्थ' भी कहते हैं - लेखक।
२३. सा. ७७४। २४. सा. १-३००। २५. सा. २४८७। २६. सा. १-२४३।
२७. सा. ६-५। २८. सा. ५-४। २९. सा. ६-८। ३०. सा. ७-२।
३१. सा. १-१८२। ३२. सा. १०-४।

घ. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग का मुख्य रूप 'हौ' है; जैसे—भीत बिना तुम चित्र लिखति हौ ··· तुम चाहति हौ गगन-तरैयाँ[३३]।

ङ. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : एकवचन— अहै, आह, आहिं, आहि, आहै, हैं और है—इस वर्ग के मुख्य रूप हैं जिनमें 'आहिं' और 'हैं' आदरार्थक हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'हैं' और 'है' का महत्व सबसे अधिक है, यों 'आहि' भी अनेक पदों में मिलता है; जैसे—

अ. अहै—राखनहार अहै कोउ औरै[३४]।

आ. आह—मेरौ पति सिव आह[३५]। नृपति कह्यौ, मारग सम आह[३६]। एक पद में 'न' के साथ 'आह' की संधि भी सूरदास ने की है—तुम-सौ नृप जग मैं नाह[३७]।

इ. आहिं—इनमैं को पति आहिं तिहारे[३८]।

ई. आहि—आहि यह सो मुँडमाल[३९]। नर-सरीर सुर ऊपर आहि[४०]। औरौ दँडदाता कोउ आहि[४१]। ब्याह-जोग अब सोई आहि[४२]। मन तौ एकहि आहि[४३]।

उ. आहै—प्रबल सत्रु आहै यह मार[४४]।

ऊ. हैं—इस आदरार्थक एकवचन रूप का प्रयोग स्वतंत्र और सहायक, दोनों रूपों में किया गया है; जैसे—ऐसे हैं जदुनाथ गुसाईं[४५]। प्रभु भक्तबछल हैं[४६]। अंत के दिन को हैं घनस्याम[४७]। सब संतन के जीवन हैं हरि[४८]। (बासुदेव) बिनु बदलैं उपकार करत हैं[४९]। स्याम इन्हैं भरुहावत हैं[५०]। चित्रगुप्त लिखत हैं मेरे पातक[५१]।

ए. है—'हैं' की तरह 'है' का प्रयोग भी स्वतंत्र और सहायक, क्रिया के दोनों रूपों में सूरदास ने किया है; जैसे—अधम कौन है अजामील तैं[५२]। सूरदास की एक आँखि है[५३]। सूर पतित कौं ··· है हरि-नाम सहारौ[५४]। पाप-पुन्य कौं फल सुख-दुख है[५५]। समदरसी है नाम तिहारौ[५६]। बड़ी है राम-नाम की ओट[५७]। अघ-सिंधु बढ़त है[५८]। जलधारा बरसतु है[५९]।

च. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : बहुवचन—अहैं, आहिं, आहीं और हैं—

३३. सा. ७७३। ३४. सा. ७-३। ३५. सा. ४-७
३६. सा. ५-४। ३७. सा. ९-४। ३८. सा. ९-४५।
३९. सा. १-२२६। ४०. सा. ५-४। ४१. सा. ६-४। ४२. सा. ९-४।
४३. सा. ३७२५। ४४. सा. १-२२९। ४५. सा. १-३।
४६. सा. १-३२। ४७. सा. १-७६। ४८. सा. १-२१२।
४९. सा. १-३। ५०. सा. ३३२७। ५१. सा. १-१९७। ५२. सा. १-३५।
५३. सा. १-४७। ५४. सा. १-१३९। ५५. सा. १-१५१। ५६. सा. १-२२०।
५७. सा. १-२३२। ५८. सा. १-१०७। ५९. सा. ८७६।

इस वर्ग के चार प्रमुख रूप हैं जिनमें से अंतिम का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—

अ. अहैं—अहैं कुलट कुलटा ये दोऊ[६०]।

आ. आहिं ये को आहिं बिचारे[६१]। ते आहिं बचन बिनु[६२]।

इ. आहीं—ब्रज सुंदरि नहिं नारि, रिचा स्रुति की सब आहीं[६३]।

ई. हैं—इसका प्रयोग स्वतंत्र और सहायक, क्रिया के दोनों रूपों के समान सूर-काव्य में मिलता है; जैसे—और हैं आजकाल के राजा[६४]। औगुन मोमैं बहुत हैं[६५]। भावी कैं बस तीनि लोक हैं[६६]। ये कैसी हैं लोभिनी[६७]। नैन स्याम-सुख लूटत हैं ··· आपुहिं सबै चुरावत हैं[६८]। जोहत हैं वे पंथ तिहारौ[६९]। लोग पियत हैं औरै[७०]।

त्र. अन्य क्रियाओं के सामान्य वर्तमानकालिक प्रयोग—विभिन्न कालों और वचनों के अनुसार अन्य क्रियाओं के सामान्य वर्तमानकालिक रूप भी बदलते रहते हैं। लिंग का अंतर साधारणतः तकारांत रूपों में होता है, पुल्लिग में 'त' और स्त्रीलिंग में 'ति' या 'ती'।

क. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : एकवचन—इस वर्ग में कहीं तो वर्तमानकालिक मूल कृदंत रूपों का व्यवहार किया गया है और कहीं धातुओं और कृदंतों में निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर सामान्य वर्तमान के उत्तम पुरुष, एकवचन में प्रयुक्त रूप बनाये गये हैं जिनमें से 'औं' का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है; जैसे —

अ. उँ—तातैं देउँ तुम्हैं मैं साप[७१]। तेइ कमल-पद ध्याउँ[७२]। मैं सेंत-मेंत न बिकाउँ[७३]।

आ. ऊँ—हौं अनतहिं दुख पाऊँ ··· काजर मुख लाऊँ[७४]। गौरि-गनेस्वर बीनऊँ[७५]।

इ. औं—मैं काम-क्रोधऽरु लोभ चितवौं[७६]। हौं अंतर की जानौं[७७]। चरन-कमल बंदौं हरि राइ[७८]। हौं बोलौं साखी[७९]। हौं तैसैं रहौं ··भूख सहौं·· भार वहौं[८०]।

ई. त—सदा करत मैं तिनकौ ध्यान[८१]। कहत मैं तोसौं[८२]। हौं तौ ··रहत विषय के साथ[८३]।

---

६०. सा. १३०९। ६१. सा. १-१७९। ६२. सा. ३५३४। ६३. सा. ११७५। ६४. सा. १-१४५। ६५. सा. १-१८६। ६६. सा. १-२६४। ६७. सा. २४०७। ६८. सा. २३२७। ६९. सा. ४-१२। ७०. सा. १०-३२१। ७१. सा. ३-५। ७२. सा. १०-३६। ७३. सा. १-१२८। ७४. सा. १-१६६। ७५. सा. १०-४०। ७६. सा. १-१२६। ७७. सा. १-२४३। ७८. सा. १-१। ७९. सा. १-१२२। ८०. सा. १-१६१। ८१ सा. २-३५। ८२. सा. २-३१। ८३. सा. १-१२५।

उ. ति—(मैं) कोटि जतन करि-करि परमोधति[८४]। चतुराई इनकी मैं भारति[८५]।

ऊ. तु—मैं नीकैं पहिचानतु नाहिन[८६]।

ख. सामान्य वर्तमान : उत्तमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूपों की संख्या पूर्वोक्त की अपेक्षा बहुत कम है। जो प्रत्यय इस प्रकार के रूप बनाने के लिए सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें निम्नलिखिति मुख्य हैं—

अ. तिं—हम जु मरतिं लवलीन[८७]।

आ. ऐं—यहै हम तुम सौं चहैं[८८]। हम तिनकौं छिन मैं परिहरैं ' ' बिनु अपराध पुरुष हम मारैं ' 'माया-मोह न मन मैं धारैं[८९]।

ग. सामान्य वर्तमान : मध्यमपुरुष : एकवचन—ई, ऐ, त, तिं, ति और हि—विशेष रूप से इन प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं; जैसे—

अ. ई—हनू, सोच कत करई[९०]। (तू) अग्र सोच क्यौं मरई[९१]।

आ. ऐ—रे मन, अजहूँ क्यों न सम्हारै ' 'कत जनम बादि हीं हारै[९२]।

इ. त—लरिकनि कौं तुम (कृष्ण) सब दिन झुठवत[९३]। पूछे तैं तुम बदन दुरावत[९४]। तुमहूँ धरत कौन कौ ध्यान[९५]। (तुम) राम न भजिकैं फिरत काल-सँग लागे[९६]। मोहन, काहे कौं लजियात[९७]।

ई. तिं(आदरार्थक) – कहा तुम (बृषभानु-घरनि) कहतिं[९८]। तुम (यशोदा) नाहिन पहिचानतिं[९९]।

उ. ति—इसके साथ कहीं-कही 'हैं' का प्रयोग मिलता है; जैसे—तू काहे कौं भूलति है[१]।

ऊ. हि—तनक दधि-कारन जसोदा इतौ कहा रिसाहि[२]।

ङ. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप इ, ई, ऐं. ऐ, त, तिं, ति, हिं, हीं, ही आदि के संयोग से बनाये गये हैं। इनमें से इ, ई, ऐं, ए, त, ति और हिं का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है; जैसे—

अ. इ—(जबै आवौं साधु-संगति) कछुक मन ठहराइ[३]। अपने कौं को न आदर देइ[४]।

आ. ई.—पुरुष न तिय बध करई[५]। (वह) कछु कुलधर्म न जानई[६]। अटल न

---

८४. सा. २३५९। ८५. सा. १७७१। ८६. सा. १४८८।
८७. सा. ३३६४। ८८. सा. ३-६। ८९. सा. ९-२। ९०. सा. ९-९९।
९१. सा. १०-४। ९२. सा. १-६३। ९३. सा. १०-२५३। ९४. सा. १०-२७९।
९५. सा. २-३५। ९६. सा. १-६१। ९७. सा. २६७९। ९८. सा. ७५१।
९९. सा. ७०३। १. सा. १२३९। २. सा. ३५०।
३. सा. १-४५। ४. सा. १-२००। ५. सा. १०-४। ६. सा. १-४४।

कबहूँ टरई[७]। (परेवा) तीय जो देखई[८]। आनँद उर न समाई[९]।

इ. ऐं (आदरार्थक)—नंदनँदन कहैं[१०]। अर्जुन रन में गाजैं... ध्रुव आकास बिराजैं[११]। (स्याम) नैंन भरि-भरि प्रिया-रूप चोरैं[१२]। (स्याम) नाना भेष बनावैं[१३]।

ई. ऐ—हरि की प्रीति उर माहिं करकै[१४]। नृप-कुल जस गावै[१५]। कर जोरे प्रहलाद बिनवै[१६]। मूढ़ मन खेलत हार न मानै[१७]।

उ. त—(बासुदेव स्वारथ बिना करत मित्राई[१८]। अरबराइ कर पानि गहावत[१९]। (स्याम) बदन पुनि गोवत[२०]। इंद्र...राज हेत डरपत मन माहिं[२१]। निंदत मूढ़ मलय चन्दन कौं[२२]।

ऊ. तिं (आदरार्थक)—मैया तुमकौं जानतिं[२३]।

ए. ति—नैन-बदन-छबि यौं उपचति[२४]। तृष्ना नाद करति[२५]। चंद्रावली स्माम मग जोवति... कबहुँ मलय रज भोवति... पुनि पुनि धोवति... ऐसैं रैंन बिगोवति[२६]।

ऐ. हिं (आदरार्थक)—इक... देहिं असीस खरी[२७]। एक भेटहिं धाइ[२८]।

ओ. हीं (आदरार्थक)—प्रभु जू साग बिदुर घर खाहीं[२९]। कै रघुनाथ अतुल बल राच्छस दसकंधर डरहीं[३०]। बारंबार कमलदल लोचन यह कहि-कहि पछिताहीं[३१]।

औ. ही—अनुभवी जानही बिना अनुभव कहा[३२]।

'तकारांत' और 'तिकारांत' रूपों के साथ-साथ कहीं-कहीं 'है' या इसके रूपांतरों का प्रयोग भी किया गया है; जैसे—मुरली में जीवन-प्रान बसत अहै मेरौ[३३]। मोहिं होत है दुःख बिसेषि[३४]। मुँह पाए वह फूलति है[३५]।

च. सामान्य वर्तमान : अन्यपुरुष : बहुवचन—इस प्रकार के रूप मुख्यतः इ, ऐं त, तिं, हिं और हीं लगाकर बनाये गये हैं। इनमें से 'इ' से बने रूपों का प्रयोग बहुत कम किया गया है; शेष रूप सूर-काव्य में प्रचुरता से मिलते हैं; जैसे—

अ. इ—सूर हरि की निरखि सोभा कोटि काम लजाइ[३६]।

---

७. सा. ९-९९ । ८. सा. १-३२५ । ९. सा. १०-२७ । १०. सा. १-२४२ ।
११. सा. १-३६ । १२. सा. २१९६ । १३. सा. १०-४५ । १४. सा. २९८७ ।
१५. सा. १-४ । १६. सा. ७-४ । १७. सा. १-६० । १८. सा. १-३ ।
१९. सा. १०-११५ । २०. सा. २५४२ । २१. सा. ११-३ । २२. सा. २-१३ ।
२३. सा. ७०३ । २४. सा. १७६१ । २५. सा. १-१५३ । २६. सा. २४९८ ।
२७. सा. १०-२४ । २८. सा. १०-२६ । २९. सा. १-२४१ । ३०. सा. ९-९१ ।
३१. सा. १०१३ । ३२. सा. १-२२२ । ३३. सा. १८-२८४ । ३४. सा. १-२९० ।
३५. सा. १२३९ । ३६. सा. ३५२ ।

आ. ऐं--सासु-ननद तिन पर झहरैं[३७]। सुनि मुरलि घोरैं सुर-बंधु सीस ढोरैं[३८]। पुर-नारि कर जोरि अंचल छोरि बीनवैं[३९]। रोवैं बृषभ ... निसि बोलैं काग[४०]। अर्थ-काम दोउ रहैं दुवारैं[४१]।

इ. त—उधरत लोग तुम्हारे नाम[४२]। सब कोउ कहत[४३]। तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी[४४]। सुख सौं बसत राज उनकैं सब[४५]। महा मोह के नूपुर बाजत[४६]। जे भजत राम कौं[४७]। सब सेवत प्रभु-पद[४८]।

ई. तिं—(नागरी सब) कबहुँ गावतिं ' कबहुँ नृत्यतिं ' कबहुँ उघटतिं रंग[४९]। कहतिं पुर-नारि[५०]। तिहिंकौं ब्रजबनिता झकझोरतिं[५१]। सूरदास-प्रभु ब्रज-बधु निरखतिं[५२]। सुत कौं चलन सिखावतिं ' 'दोउ जनियाँ[५३]।

उ. हिं—कौसिल्या आदिक महतारी आरति करहिं[५४]। ज्ञानी ताहि बिराट कहाहिं[५५]। कमल-कमला रवि बिना बिकसाहिं''' पदुम नहिं कुम्हिलाहिं... भौरहूँ बिरमाहिं[५६]। (ये) तस्कर ज्यौं सुकृति-धन लेहिं[५७]। तीजे मास हस्त-पग होहिं[५८]।

ऊ. हीं—(जुवती) नैन अंजन अधर आँजहीं[५९]। बिमुख अगति कौं जाहीं[६०]। जुवती''' उलटे बसन धारहीं[६१]। जसुमति-रोहिनी ' नचावहीं सुत कौ[६२]। (मुरली-धुनि सुनि) मृग-जूथ भुलाहीं[६३]। नायिका अष्ट अष्टहुँ दिसि सोहहीं[६४]।

उक्त प्रत्यांत रूपों के अतिरिक्त कहीं-कहीं मूल धातु का ही प्रयोग सामान्य वर्तमान के अन्यपुरुष बहुवचन रूप में किया गया है; जैसे--निगम अंत न पाव[६५]।

२. पूर्णवर्तमान काल[६६]— इस काल में प्रयुक्त अधिकांश क्रिया रूप 'है' युक्त हैं। रूपों की संख्या बहुत अधिक न होने और अनेक रूपों की समानता के कारण पुरुष की दृष्टि से उनका विभाजन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वचन की दृष्टि से अधिकांश 'औ या 'यौ' आदि युक्त रूप एकवचन में तथा 'ए' युक्त आदरार्थक एकवचन या बहुवचन में रहते हैं। अंतिम के साथ 'है' के स्थान पर 'हैं' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार एकारांत रूप पुल्लिग में और इकारांत-ईकारांत स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुए हैं।

---

३७. सा. १९२०। ३८. सा. २८३९। ३९. सा. ३०६७।
४०. सा. १-१८६ ४१. सा. १-४०। ४२ सा. ११-३।
४३. सा.. १-४४। ४४. सा. १.१३३। ४५. सा. १-२९०।
४६. सा. १-१५३। ४७. सा. १०-३९। ४८. सा. १-१६३। ४९. सा. १०५९।
५०. सा. ३०६९। ५१. सा. १०-८८। ५२. सा. १०-११३। ५३. सा. १०-१३२।
५४. सा. ९-२९। ५५. सा. ३-१३। ५६. सा १-३३८। ५७. सा. ५-४।
५८. सा. ३-१३। ५९. सा. ९९८। ६० सा. २-२३। ६१. सा. ९९८।
६२. सा. १०-११६। ६३. सा. ६२०। ६४. सा. १०५२। ६५. सा. ११५५।
६६. 'पूर्ण वर्तमान' का प्रचलित नाम 'आसन्न भूतकाल है—लेखक।

अ. ई—देवकी-गर्भ भई है कन्या[६७]।

आ. ए—जनम-जनम बहु करम किए हैं[६८]। को जानै प्रभु कहाँ चले हैं[६९]। द्वारें ठाढ़े हैं द्विज बामन[७०]। रघुकुल प्रगटे हैं रघुबीर[७१]। (हरि) दाहिन है बैठे[७२]। सब प्रतिकूल भए हैं[७३]।

इ. औ—कह्यौ, पुरुष वह ठाढ़ौ आह[७४]।

ई. न्हे—कहा चरित कीन्हे हैं स्याम[७५]।

उ. न्हौ—तुम बहु पतितनि कौं दीन्हौ है सुखधाम[७६]।

ऊ. यौ—मैं आयौ हौं सरन तिहारी[७७]। कंस-काल उपज्यौ है ब्रज में जादव राई[७८]। गोकुल…घेर्यौ है अरि मन्मथ[७९]। (सूर) द्वार पर्यौ है तेरैं[८०]। तू तौ बिषया-रंग रँग्यौ है[८१]।

३. सामान्य भूतकाल[८२]—सामान्य भूतकाल (निश्चयार्थ) के प्रयोग सूर-काव्य में दो प्रकार के मिलते हैं—क्ष. 'होना' क्रिया के विकृत रूपों या इनके योग से बने प्रयोग और त्र. अन्य क्रियाओं के स्वतंत्र प्रयोग।

क्ष. 'होना' क्रिया के प्रयोग—सामान्य भूतकाल के 'होना' क्रिया से बने निश्चयात्मक रूप तीनों पुरुषों में प्रायः एक ही रहते हैं; उनमें केवल लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तन होता है।

क. सामान्य भूत : एकवचन : पुल्लिंग—'होना' क्रिया के निम्नलिखित विकृत रूप इस वर्ग में आते हैं—

अ. भयउ—नृप कैं मन भयउ कुभाउ[८३]।

आ. भए (आदरार्थक)—बेर सूर की तुम निठुर भए[८४]।

इ. भयौ—तहँ न भयौ बिस्राम[८५]। सोवत मुदित भयौ सपने मैं[८६]। बिरद प्रसिद्ध भयौ जग[८७]। नरपति एक पुरुरवा भयौ[८८]।

ई. भौ—वह सुख बहुरि न भौ री[८९]।

उ. हुते (आदरार्थक)—कोमल कर गोबर्धन धार्यौ, जब हुते नंददुलारे[९०]। अरजुन के हरि हुते सारथी[९१]। हुते कान्ह अबहीं सँग बन मैं[९२]।

---

६७. सा. १०-४ । ६८. सा. १-३२६ । ६९. सा. ८-४ । ७०. सा. ८-१३ ।
७१. सा. ९-१८ । ७२. सा. १-२३ । ७३. सा ३५४८ । ७४. सा. ९-२ ।
७५. सा १०-३१६ । ७६. सा. १-१७९ । ७७. सा. १-१७८ । ७८. सा १०-४ ।
७९. सा. ३३१३ । ८०. सा. १-२०६ । ८१. सा. १-६३ ।
८२. 'सामान्य भूतकाल' को 'भूत निश्चयार्थ' भी कहते हैं—लेखक ।
८३. सा. १-२९० । ८४. सा. १-३३३ । ८५. सा. १-५७ । ८६. सा. १-१४७ ।
८७. सा. १-१९१ । ८८. सा ९-२ । ८९. सा. ३३७१ । ९०. सा. १-२५ ।
९१. सा. १-२६४ । ९२. सा. १०८६ ।

ऊ. हुतोऊ—तब कत रास रच्यौ वृन्दाबन जौ पै ज्ञान हुतोऊ[९३]।

ए. हुतौ—अजामील तौ बिप्र तिहारौ हुतौ पुरातन दास[९४]। हुतौ जु मोतैं आधौ[९५]। हौं हुतौ आढ्य[९६]। तहाँ हुतौ इक सुक कौ अंग[९७]।

ऐ. हो—कहा सुदामा कैं धन हो[९८]। तिहिं दिन को हितू हो[९९]। जहाँ मृतक हो हौं[१]। पहिले हौं ही हो तब एक[२]। तब धौं जोग कहाँ हो ऊधौ[३]।

ख. सामान्य भूत : एकवचन : स्त्रीलिंग—भइ, भई, ही, हुती आदि रूप इस वर्ग में आते हैं, जिनमें से प्रथम दो का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है; जैसे—

अ. भइ—तीनि पैंड़ भइ (भुवि) सारी[४]। कृत्या भइ ज्वाला भारी[५]। नदी भइ भूरपूरि[६]। हौं विमुख भइ हरि सौं[७]।

आ. भई—मुरली भई रानी[८]। हमहूँ तैं तू चतुर भई[९]। प्रीति-काथरी भई पुरानी[१०]। राधा-माधव भेंट भई[११]।

इ. ही—माता कहति, कहाँ ही प्यारी[१२]। हौं न जान्यौ री कहाँ ही[१३]।

ई. हुती—लाज के साज मैं हुती दौपदी[१४]। बूझति जननि, कहाँ हुती प्यारी[१५]। जो हुतो निकट मिलन की आसा[१६]। यहै हुती मन उनकैं[१७]।

ग. सामान्य भूत : बहुवचन : पुल्लिग— भए, हुए, हुते, हे आदि रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें प्रथम अर्थात् 'भए' का प्रयोग सूर-काव्य में सबसे अधिक मिलता है; जैसे—

अ. भए—सुत कुबेर के मत्त मगन भए[१८]। ताके पुत्र-सुता बहु भए[१९]। नैना ढीठि अतिहीं भए[२०]। नैना भए पराए चेरे[२१]। भए सखि नैन सनाथ हमारे[२२]।

आ. हुए—पै तिन हरि-दरसन नहिं हुए[२३]।

इ. हुते—द्वारपाल जय-बिजय हुते[२४]। असुर द्वै हुते बलवंत भारी[२५]। चंद हुते तब सीतल[२६]।

ई. हे—जाके जोधा हे सौ भाई[२७]।

---

९३. सा. ३९७५। ९४. सा. १-१३२। ९५. सा. १-१३९।
९६. सा. १-२१६। ९७. सा. १-२२६। ९८. सा. १-१९।
९९. सा. १-७७। १. सा. १-१५१। २. सा. २-३८। ३. सा. ३६०१।
४. सा. ८-१४। ५. सा. ९-५। ६. सा. १०-५। ७. सा. २९९७।
८. सा. १३२९। ९. सा. २०१२। १०. सा. ३७१४। ११. सा. ४२९१।
१२. सा. ६७७। १३. सा. १४००। १४. साँ. १-५। १५. सा. ७०८।
१६. सा. ३३९८। १७. सा. ३८५२। १८. सा. १-७। १९. सा. ४-१२।
२०. सा. २३६३। २१. सा. २३९५। २२. सा. ३०३२। २३. सा. ४-९।
२४. सा ३-११। २५. सा. ८-११ २६. सा. ३७३६। २७. सा. १-२४।

ध. सामान्य भूत : बहुवचन : स्त्रीलिंग—भईं, हुतीं आदि रूप इस वर्ग के हैं जिनमें से प्रथम का प्रयोग सूरदास ने अधिक किया है; जैसे –

अ. भईं––दासी सहस प्रगट तहँ भईं[२८]। सिथिल भईं ब्रजनारि[२९]। गैयाँ मोटी भईं[३०]। हम न भईं बृंदाबन-रेनु। सब चकित भईं[३१]।

आ. हुतीं—तहाँ हुतीं पनिहारी[३२]।

त्र. अन्य क्रियाओं के प्रयोग––विभिन्न पुरुषों में 'होना' क्रिया के सामान्य भूतकालिक रूप प्रायः समान रहते हैं; परंतु अन्य क्रिया-रूपों में यह बात नहीं होती। अतएव इनका अध्ययन पुरुष और वचन की दृष्टि से करना आवश्यक है।

क. सामान्यभूत : उत्तमपुरुष : एकवचन––यों तो इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूपों में ई, ए, नौ, न्ह, न्हि, न्हे, न्हौं, न्हौ, यौं, यौ आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं; परंतु मुख्य रूप से 'ए' और 'यौं' प्रत्यांत रूपों का ही अधिक प्रयोग सूरदास ने किया है; जैसे––

अ. ई—अपने जान मैं बहुत करी[३३]।

आ. ए—जे मैं कर्म करे[३४]। मैं ... कहे बचन[३५]। मैं चरन गहे ... पाए सुख[३६]। मैं सोधे सब ठौर[३७]।

इ. नौ—मैं अपराध भक्त कौ कीनौ[३८]।

ई. न्ह—(हरि) निसि-सुख बासर दीन्ह...सुफल मनोरथ कीन्ह[३९]।

उ. न्हि—मैं न कीन्हि सत्राई[४०]।

ऊ. न्हे—(हौं) पाप बहु कीन्हे[४१]।

ए. न्हौं—सहस भुजा धरि (मैं) भोजन कीन्हौं[४२]।

ऐ. न्हौ—(हौं) जोग-यज्ञ-जप-तप नहिं कीन्हौ[४३]। तच्छक डसन साप मैं दीन्हौं[४४]।

ओ. यौं—मैं पर्‌यौं मोह की फाँसि[४५]। (मैं) जीत्यौं महभारथ[४६]।

औ. यौ—(मैं) बेद बिमल नहिं भाष्यौ.. यहै कमायौ[४७]। (हौं) कियौ न संत समागम कबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारौ[४८]। मैं पायौ हरि हीरा[४९]। (मैं) बाँध्यौ बैर[५०]।

---

२८. सा. ९-३। २९. सा. १०-२८३। ३०. सा. ६१३।
३१. सा. २८७८। ३२. सा. ६९३। ३३. सा. १-११५।
३४. सा. १-१९८। ३५. सा. ११-२। ३६. सा. १-१७०।
३७. सा. १-३२५। ३८. सा. ९-५। ३९. सा. २५२७। ४०. सा. १-२९०।
४१. सा. १-११६। ४२. सा. ८४४। ४३. सा. १-१११। ४४. सा. १-२९०।
४५. सा. १-१११। ४६. सा. १-२८७। ४७. सा. १-१११। ४८. सा. १-१५२।
४९. सा. १-१३४। ५०. सा. १-१७३।

ख. सामान्य भूत : उत्तमपुरुष : बहुवचन—ए, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययों से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं : जैसे—

अ. ए—(हम) अस्व खोज कतहूँ नहिं पाए[५१]।

आ. न्हौ—राज कौ काज यह हमहिं कीन्हौ[५२]।

इ. यौ—हम तौ पाप कियौ[५३]।

ग. सामान्य भूत : मध्यमपुरुष—इस वर्ग के रूप धातु, उसके विकृत रूप या कृदंत में इसि, ई, ए, औ, नी, न्हीं, नौ, न्हौ, यौ आदि प्रत्ययों से बनाये गये हैं। इनमें से 'ई', 'ए', और 'यौ' से बने रूप सूर-काव्य में सर्वत्र पाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश रूप दोनों वचनों में प्रत्युक्त हुए हैं; जैसे—

अ. इसि—रे मन, (तू) जनम अकारथ खोइसि ... उदर भरे परि सोइसि ... अहमिति जनम बिगोइसि[५४]।

आ. ई—(तुम) कंचन सी मम देह करी[५५]। कहाँ तू आज गई[५६]। तिन पर तू अतिहीं झहरी[५७]। (तुम) जन-प्रहलाद-प्रतिज्ञा पुरई[५८]।

इ. ए—कहौ कपि, कैसे उतरे पार[५९]। द्रौपति के तुम बसन छिनाए[६०]। बिघन तुम टारे[६१]। तुम सब जन तारे[६२]।

ई. औ—(तुम) भीर परैं भीषम-प्रन राख्यौ, अर्जुन कौ रथ हाँकौ[६३]।

उ. नी—(तुम) गर्भ परीच्छित रच्छा कीनी[६४]। भली सिच्छा तुम दीनी[६५]।

ऊ. न्ही—(तुम) गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्ही[६६]। (तुम) असुर-जोनि ता ऊपर दीन्ही[६७]।

ऋ. नौ—नर, तैं जनम पाइ कह कीनौ...प्रभु कौ नाम न लीनौ...गुरु गोबिंद नहिं चीनौ...मन विषया मैं दीनौ...फिरि वाही मन दीनौ[६८]।

ए. न्हौ—बहुत बुरौ तैं कीन्हौ...जौ यह साप नृपति कौं दीन्हौ[६९]। तुम लीन्हौ जग मैं अवतार[७०]।

ऐ. यौ—तुम कहा न कियौ[७१]। तुम भक्तनि अभै दियौ...गिरि कर-कमल लियौ... दावानलहिं पियौ[७२]। औसर हार्‌यौ रे तैं हार्‌यौ...हरि कौ भजन बिसार्‌यौ

---

५१. सा. ९-९। ५२. सा. ५८४। ५३. सा. १८२८।
५४. सा. १-३३३। ५५. सा. १-११६। ५६. सा. २०१२।
५७. सा. २४३४। ५८. सा. १-२६। ५९. सा. ९-८९। ६०. सा. १-२८४।
६१. सा. १-२५। ६२. सा. १-१३२। ६३. सा. १-११३। ६४. सा. १-११३।
६५. सा. ३-११। ६६. सा. १-२६। ६७. सा. १-१०४। ६८. सा. १-६५।
६९. सा. १-२९०। ७०. सा. १-४१। ७१. सा. १-२६। ७२. सा. १-१२१।

...सुन्दर रूप सँवार्‌यौ[७३]। हरि, तुम बलि कौ छलि लीन्यौ...कौन सयानप कीन्यौ[७४]।

घ. सामान्य भूत : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग में बीस के लगभग रूप आते हैं जिनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क्ष. सामान्य प्रत्ययों से बने रूप और त्र. 'नो' से बने रूप।

क्ष. सामान्य प्रत्ययों से बने रूप—इस वर्ग के रूप आ, इ, इयौ, ई, ए, ऐ, औ, यौ आदि प्रत्ययों के योग से बनाये गये हैं। इनमें से इ, ए और यौ से बने रूपों का सर्वत्र प्रयोग किया गया है; जैसे—

अ. आ - हरि दीरघ बचन उचारा[७५]। गर्ब भयौ ब्रजनारि कौं जबहीं हरि जाना[७६]।

आ. इ—इत राजा मन मैं पछिताइ[७७]। काम-अंध कछु रहि न सँभारि[७८]। अंसुमान...साठि सहस की कथा सुनाइ[७९]। इनमैं नित...होइ लराइ[८०]।

इ. इयौ—मेरौ माधैया...जिन चरननि छलियौ बलि राजा[८१]।

ई. ई—नंद-घरनि ब्रज-बधू बुलाईं[८२]।

उ. ई—(ब्रह्मा)सृष्टि तब और उपाई[८३]। बकी गई घोष मैं[८४]।

ऊ. ए—नंद-सुवन उत ते न डगे[८५]। निकसे खंभ बीच तैं नरहरि[८६]। (ताके पुत्र-सुता) बिषय-बासना नाना रए[८७]। हलधर देखि उतहिं कौं सरके[८८]।

ए. ऐ—मन खन तन तबहिं कल हंस गति गै री[८९]।

ऐ. औ—(तुम) ग्वालनि हेत गोबर्धन धारौ[९०]। नृप प्रजा कौं तब हँकारौ[९१]।

ओ. यौ—पिय पूरन काम कयौ[९२]। गज गह्यौ ग्राह[९३]। नारी संग हेत तिन (पुरुरवा) ठयौ[९४]। (हरि) वैसी आपदा तैं राख्यौ, तोष्यौ, पोष्यौ, जिय दयौ।[९५] जब लगि मन मिलयौ नहीं[९६]। (संकर) सेज छाँड़ि भू सोयौ[९७]।

त्र. 'नो' से बने रूप—'नो' या इसके रूपांतरों—न, नी, ने, नौ, न्यौ, न्ह, न्हीं, न्हें, न्हे न्हौं, न्हो, न्हयौ आदि—से भी सूरदास ने इस वर्ग के रूप बनाये हैं। इनमें से नी, ने, नौ आदि का प्रयोग अधिक किया गया है; जैसे—

---

७३. सा. १-३३६। ७४. सा. ८-१५। ७५. सा. १०-४। ७६. सा. १०८५। ७७. सा. १-२९०। ७८. सा. ६-७। ७९. सा. ९-९। ८०. सा. ३-९। ८१. सा. १०-१३१। ८२. सा. ८९०. ८३. सा. ३-७। ८४. सा. १-१२२। ८५. सा. १७८१। ८६. सा. १-१०४। ८७. सा. ४-१२। ८८. सा. २८९१। ८९. सा. २४५३। ९०. सा. १-१७२। ९१. सा. ४-११। ९२. सा. २८८१। ९३. सा. १-७। ९४. सा. ९-२। ९५. सा. १-७७। ९६. सा. १४४३। ९७. सा. १-४३।

अ. न—कत बिधना ये कीन[१८] । रघुबर''जनकसुता सुख दीन[१९] ।

आ. नी—(बलि) कीनी चरन जुहारी[१] । कंस अस्तुति मुख गानी[२] । तब राधा झहरानी[३] । सिव प्रसन ह्वै आज्ञा दीनी[४] । साँटी देखि ग्वालि पछितानी[५] । तिय''बलैया''लीनी[६] । महरि निरखि मुख हिय हुलसानी[७] ।

इ. ने—(हरि) गृह आने बसुदेव-देवकी[८] । साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि तुरत पवित्र[९] । ब्रजलोगनि नंद जू दीने बसन[१०] । (प्रभु) इन्हैं पत्याने[११] । मनमोहन मन मैं मुसुक्याने[१२] ।

ई. नौ—कह्यौ, जोग-बल रिषि सब कीनौ' मोहिं सुख सकल भाँति कौ दीनौ[१३] । परसुराम लीनौ अवतारा[१४] । जनम सिरानौ अटकैं अटकैं[१५] ।

उ. न्यौ—मथुरापति जिय अतिहिं डरान्यौ' सिर धुनि-धुनि पछितान्यौ[१६] ।

ऊ. न्ह—(नंद) प्रभु-पूजा जिय दीन्ह ''काज देव के कीन्ह[१७] ।

ऋ. न्हीं—(हरि) बिप्र सुदामा कौं निधि दीन्हीं[१८] ।

ए. न्ही—कपिल-स्तुति तिहि बहु विधि कीन्ही[१९] । वाकी जाति नहीं उन (हरि) चीन्ही[२०] । चरन परसत (जमुन) थाह दीन्ही[२१] । इंद्रजित लीन्ही तब सक्ती[२२] ।

ऐ. न्हें—(हरि) नृप मुक्त कीन्हे[२३] ।

ओ. न्हे—(हरि) जे रंग कीन्हे मोसौं[२४] । पाँच बान मोहिं संकर दीन्हे[२५] ।

औ. न्हौं—कृष्न सदाही गोकुल कीन्हौं थानौ[२६] । (सुरपति) एक अंस बृच्छनि कौ दीन्हौं[२७] । धर्मपुत्र'''द्विजमुख ह्वै पन लीन्हौं[२८] ।

अं. न्हौ—सोई प्रहलादहिं कीन्हौ[२९] । बसुदेव-देवकिहिं कंस महादुख दीन्हौ[३०] । तेरौ सुत ऊखल चढ़ि सींके कौ लीन्हौ[३१] ।

अः न्ह्यौ—पै इन (नृपति) मोकौं कबहुँ न चीन्ह्यौ''''''तब दयालु ह्वै दरसन दीन्ह्यौ[३२] । हरि गिरि लीन्ह्यौ[३३] ।

---

१८. सा. ३२४१ । १९. सा. ९-२६ । १. सा. ८-१४ ।
२. सा. ५८९ । ३. सा. १९५९ । ४. सा. ९-९ । ५. सा. ३४४ ।
६. सा. १०-२८४ । ७. सा. १०-४६ । ८. सा. १-१७ । ९. सा. ९-९ ।
१०. सा. १०-२७ । ११. सा. २२५० । १२. सा. ६०४ । १७. सा. ९-३ ।
१४. सा. ९-१४ । १५. सा. १-२९२ । १६. सा. १०-६० । १७. सा. १०-२६० ।
१८. सा. १-३६ । १९. सा. ९-९ । २०. सा. १३०९ । २१. सा. १०-५ ।
२२. सा. ९-१४४ । २३. सा. १- १७ । २४. सा. १०-३०६ । २५. सा. १-२८७ ।
२६. सा. १-११ । २७. सा. ६-५ । २८. सा. १-२९ । २९. सा. १-१०४ ।
३०. सा. १-१४ । ३१ सा. १०-३३१ । ३२. सा. ४-१२ । ३३. सा. १-१७ ।

ङ. सामान्य भूत : अन्यपुरुष : बहुवचन—इ, इयौ, इँ, ई, ए, नीं, नी, ने, न्हीं, न्हौं, यौ आदि प्रत्ययों से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं। इनमें से अधिकांश का प्रयोग पिछले वर्ग में एकवचन आदरार्थक रूप बनाने के लिए भी किया जा चुका है। प्रस्तुत वर्ग के इँ, ई, ए और यौ प्रत्यांत रूपों का प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—

अ. इ—तीरथ करत दोउ अलगाइ[३४]।

आ. इयौ—लाखा मंदिर कौरव रचियौ[३५]।

इ. ईं—अष्टसिद्धि बहुरौ तहँ आईं[३६]। दच्छ के उपजीं पुत्री सात[३७]। चौदह सहस सुन्दरी उमहीं[३८]। धाईं सब ब्रज नारि[३९]। बहुरीं सब अति आनंद निज गृह गोप-धनी[४०]। हरषीं सखी-सहेलरी[४१]।

ई. ई—उन तौ करी पाछिले की गति[४२]। (नैननि) लोक-बेद की मर्यादा निदरी[४३]। जिन हरि प्रीति लगाई[४४]। तब सबनि बिनती सुनाई[४५]।

उ. ए—नाम सुनत असुर सकल पराए[४६]। इनि तव राज बहुत दुख पाए[४७]। ब्रह्मादिक हूँ रोए[४८]। (भिल्लिनि) लूटे सब[४९]। मोहिं दंडत धरम-दूत हारे[५०]।

ऊ. नीं—स्याम-अंग जुवती निरखि भुलानीं[५१]।

ऋ. नी—असुर-बुधि इन यह कीनी[५२]। लटैं बगरानी[५३]। जुवती बिकलानी[५४]। जुवति लजानी[५५]।

ए. ने—भीर देखि (दोउ) अति डराने[५६]। रबि-छबि कैधौं निहारि पंकज बिकसाने[५७]। ब्रज-जन निरखत हिय हुलसाने[५८]।

ऐ. न्हीं—दूतनि दीन्हीं मार[५९]।

ओ. न्हौं—जय जय धुनि अमरनि नभ कीन्हौं[६०]। प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौं[६१]।

औ. यौ—(सब) बीचहिं बाग उजार्‌यौ[६२]। सुरासुर अमृत बाहर कियौ[६३]। जिन-जिन ही केसव उर गायौ[६४]। उन तौ...गुन तोर्‌यौ बिच धार[६५]।

४. **अपूर्ण भूतकाल**—इस काल के रूप कृदंतों के साथ हीं, ही, हुती, हुते, हुतौ, हे, हो आदि के प्रयोग से बनाये गये हैं और इन्हीं के अनुसार उनका लिंग तथा वचन होता है। पुरुष की दृष्टि से इस काल के रूपों में विशेष अंतर नहीं होता; जैसे—

---

३४. सा. ३-४। ३५. सा. १-२८२। ३६. सा. ५-२। ३७. सा. ४-४।
३५. सा. ९-१६०। ३९. सा. १०-२४। ४०. सा. १०-२४। ४१. सा. १०-४०।
४२. सा. १-१७५। ४३. सा. २३८६। ४४. सा. १-३१८। ४५. सा. ८-९।
४६. सा. १-३४३। ४७. सा. १-२८४। ४८. सा. १-५२। ४९. सा. १-२८६।
५०. सा. १-१२०। ५१. सा. ६४४। ५२. सा. ३-११। ५३. सा. १०५७।
५४. सा. १०१८। ५५. सा. १०३७। ५६. सा. १०-२८९। ५७. सा. ६४२।
५८. सा. १०-११७। ५९. सा. १-३२५। ६०. सा. ५७६। ६१. सा. १-१७६।
६२. सा. ९-१०३। ६३. सा. ८-९। ६४. सा. १-१९३। ६५. सा. १-१७५।

अ. हीं—हम जरत हीं[६६]।

आ. ही—जो मन में अभिलाष करति ही सो देखति नँदरानी[६७]। हौं ही मथत दही[६८]।

इ. हुती—(सो) चितवति हुती[६९]। आजु सो बात बिधाता कीन्ही, मन जो हुती अति भावति[७०]।

ई. हुते—गुरु-गृह पढ़त हुते जहँ विद्या[७१]।

उ. हुतौ—कपि सुग्रीव बालि के भय तैं बसत हुतौ तहँ आई[७२]।

ऊ. हे—स्याम धनुष तोरि आवत हे[७३]। जब हरि ऐसौ साज करत हे[७४]। आजु मोहिं बलराम कहत हे[७५]। देते हे मोहिं भोग[७६]। पाछै नंद सुनत हे[७७]।

ए. हो—माखन हो उतरात[७८]। कमल-काज नृप मारत हो[७९]।

५. पूर्ण भूतकाल—इस काल के रूप भूतकालिक सामान्य क्रिया के साथ ही, हुती, हुते, हे, हो आदि के प्रयोग से बनाये गये हैं; जैसे—

अ. ही—मैं खेई ही पार कौं[८०]। तब न विचारी ही यह बात[८१]।

आ. हुती—तहाँ उरबसी सखिनि समेत आई हुती[८२]।

इ. हुते—हरि गए हुते माखन की चोरी[८३]। हम पकरे हुते हृदय उर-अंतर[८४]।

ई. हे—प्रगट कपाट बिकट दीन्हे हे बहु जोधा रखवारे[८५]।

उ. हो—स्याम कह्यौ हो आवन[८६]। (जब) राख्यौ हो जठर माँहि[८७]।

६. सामान्य भविष्यत् काल—इस काल के रूप पुरुष और वचन के अनुसार बदलते रहते हैं। लिंग की दृष्टि से इकारांत और ईकारांत रूप प्रायः स्त्रीलिंग में आते हैं, शेष पुल्लिग में।

क. सामान्य भविष्यत् : उत्तमपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में इहौं, उँगी, उँगौ, ऐहैं, ऐहौं, औं, औंगीं, औंगौ, हुँगौ, आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं। इनमें से 'इहौं,' 'ऐहौं', 'औंगी' से बने रूपों के प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं; जैसे—

---

६६. सा. ३७०३। ६७. सा. १०-१२३। ६८. सा. ३३९५।
६९. सा. ८०८। ७०. सा. १०-२३। ७१. सा. ३४११।
७२. सा. ९-६८। ७३. सा. ३१००। ७४. सा. २९९७। ७५. सा. ३९९।
७६. सा. ८५३। ७७. सा. १०-२१७। ७८. सा. १०-२७०। ७९. सा. ६०२।
८०. सा. ९-४२। ८१. सा. ३००१। ८२. सा. ९-२। ८३. सा. १०-२९८।
८४. सा. ३७३४। ८५. सा. ९-१०५। ८६. सा. ३३६७। ८७. सा. १-७७।

अ. इहौं—कंस कौ मारिहौं, धरनि निरवारिहौं, अमर उद्धारिहौं[८८]। सेवा मैं करिहौं[८९]। छाँड़िहौं नहिं बिनु मारे[९०]। आजु हौं एक एक करि टरिहौं...अपने भरोसैं लरिहौं...पतितैं ह्वै निस्तरिहौं[९१]। हौं रहिहौं अवशेष[९२]।

आ. उँगी—मैं ल्याउँगी तुमकौं धरि[९३]।

इ. उँगौ—जोबन-दान लेउँगौ तुमसौं[९४]।

ई. ऐहैं—हमहूँ कृष्न-घर जैहैं[९५]।

उ. ऐहौं—मैं भक्ति स्याम की कैहौं[९६]। तब लगि हौं बैकुंठ न जैहौं[९७]। सुनि राधा, अब तोहिं न पत्यैहौं...तेरैं कंठ न नैहौं...सो जब तौसौं लैहौं...तबहीं तौ सचु पैहौं...नाउँ नहीं मुख लैहौं[९८]।

ऊ. औं—कालिह जाहि अस उद्यम करौं, तेरे सब भंडारनि भरौं[९९]। (मैं) बचन भंग भऐ तैं परिहरौं[१]।

ऋ. औंगी—ललन सौं झगरी माँड़ौंगी...अधर दसन खाँड़ौंगी...कैसे छाँड़ौंगी[२]। हौं तब संग जरौंगी[३]। मैंहुँ डुलावौंगी...स्रम मेटौंगी[४]। अब मैं याहि जकरि बाँधौंगी[५]। हौं तौ तुरत मिलौंगी हरि कौं[६]।

ए. औंगौ—मैं निज प्रान तजौंगौ[७]। (हौं) चारि दुहौंगौ[८]। मैं चंद लहौंगौ...कैसैं कै जु लहौंगौ...बरज्यौ हौं न रहौंगौ...बौराऐं न बहौंगौ...ससि तन दाप दहौंगौ[९]।

ऐ. ब—(मैं) भूँजब क्यौं यह खेत[१०]।

ओ. हुँगौ—मैं दान लेहुँगौ[११]।

ख. सामान्य भविष्यत् : उत्तमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में इहैं, ऐंगी, ऐंगे, ऐहैं, ब, हिंगी, हिगे आदि प्रत्ययों के योग से बनाये गये हैं। इनमें से 'इहैं' से बने रूपों का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है; जैसे—

अ. इहैं—नंद-नृपति-कुमार कहिहैं, अब न कहिहैं ग्वाल[१२]। अब हम तुमहिं नँगइहैं[१३]। बरस चतुरदस (हम) भवन न बसिहैं[१४]। हम न बहकिहैं[१५]।

आ. ऐंगी—हम उनकौ देखैंगी[१६]।

---

८८. सा. ५५१। ८९. सा. १-२८४। ९०. सा. ३-११। ९१. सा. १-१३४।
९२. सा. २-३८। ९३. सा. ६८१। ९४. सा. १४६९। ९५. सा. १०१७।
९६. सा. ४-९। ९७. सा. ७-५। ९८. सा. १९७५। ९९. सा. ४-१२।
१. सा. ९-२। २. सा. १९३६। ३. सा. २-३०। ४. सा. ११४७।
५. सा. १०-३३०। ६. सा. ८०८। ७. सा. ९-१४६। ८. सा. ६६८।
९. सा. १०-१९४। १०. सा. ९-३९। ११. सा. १५३८। १२. सा. ३२२७।
१३. सा. २९०३। १४. सा. ९-४३। १५. सा. ३६१२। १६. सा. १७३८।

इ. ऐंगे—(हम) काल्हि दुहैंगे[१७] । (हम) बहुरि मिलैंगे[१८] ।

ई. ऐहे—हम कैहैं...जसोदा सौं[१९] । कौन ज्वाब हम दैहैं[२०] । कहा....लैहैं हम ब्रज[२१] ।

उ. ब—हम तेई करब उपाइ[२२] ।

ऊ. हिंगी—दाउँ हम लेहिंगी...वहै फल देहिंगी[२३] । हम मानहिंगी उपकार रावरौ[२४] ।

ए. हिंगे—(हम) देखहिंगे तुम्हरी अधिकाई[२५] । हम स्याम) कछु मोल लेहिंगे[२६] ।

ग. सामान्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष : एकवचन—धातु या उसके विकृत रूपों में इगौ, इहै, इहौ, ऐगी, ऐहै, ऐहौ, औगी, औगे, हुगे, हौ आदि प्रत्यय जोड़कर इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं। इनमें से इहै, इहौ, ऐहै, ऐहौ आदि का प्रयोग अधिक किया गया है; जैसे—

अ. इगौ—छनकहिं मैं (तू)...भस्म होइगौ[२७] ।

आ. इहै—तैं हूँ जो हरि-हित तप करिहै[२८] । (तू) देव-तन धरिहै[२९] । (तू) मुक्ति-स्थान पाइहै[३०] । मेरी कह्यौ (तू) मानिहै नाहीं[३१] ।

इ. इहौ (आदरार्थक)—कौन गति करिहौ मेरी नाथ[३२] । जौ (तुम) मोहिं तारिहौ[३३] । (जौ) सोइ चित्त धरिहौ[३४] । (तुम) जीवित रहिहौ कौ लौं भू पर[३५] । अब रुठाइहौ जौ गिरिधारी[३६] ।

ई. ऐगी—तू कहा करैगी[३७] ।

उ. ऐहै—जब गजेंद्र कौं पग तू गैहै...तू नारायन सुमिरन कैहै[३८] । जा रानी कौं तू यह दैहै[३९] । (तू) पाछैं पछितैहै[४०] । (तू) संतनि मैं कुछ पैहै[४१] । (तू) और बसैहै नैरी[४२] ।

ऊ. ऐहौ (आदरार्थक)—भक्ति बिनु (तुम) बैल बिराने ह्वैहौ...तब कैसैं गुन गैहौ...तऊ न पेट अघैहौ...कौ लौं धौं भुस खैहौ...तब कहँ मूड़ दुरैहौ...जनम गवैहौ[४३] । जज्ञ किऐं (तुम) गंध्रबपुर जैहौ[४४] । (तुम) दैहौ बीरा[४५] । नाथ, फिरि पछितैहौ[४६] । (तुम) सकल मनोरथ मन के पैहौ...अजहूँ जौ हरिपद चित लैहौ[४७] ।

१७, ६६८ । १८. सा. ९-४४ । १९. सा. १४८३ ।
२०. सा. १५३३ । २१. सा. १०२१ । २२. सा. ३७१० । २३. सा. २८७७ ।
२४. सा. ७९२ । २५. सा. ६६८ । २६. सा. १५२९ । २७. सा. ५५० ।
२८. सा. ४-९ । २९. सा. ८-२ । ३०. सा. ४-९ । ३१. सा. १६५० ।
३२. सा. १-१२५ । ३३. सा. १-१३२ । ३४. सा. १-१२४ । ३५. सा. १-२८४ ।
३६. सा. २८२८ । ३७. सा. ७११ । ३८. सा. ८-२ । ३९. सा. ६-५ ।
४०. सा. ७११ । ४१. सा. १-८६ । ४२. सा. १०-३२४ । ४३. सा. १-३३१ ।
४४. सा. ९-२ । ४५. सा. १-१३४ । ४६. सा. १-२४८ । ४७. सा. ४-९ ।

ऋ. औगे (आदरार्थक)—स्याम, फिरि कहा करौगे[४८]।

ए. हुगे (आदरार्थक)—मोहिं छाँड़ि जौ (तुम) कहुँ जाहुगे[४९]। पावहुगे (तुम) अपनौ कियौ[५०]। (तुम) अपनौ बिरद सम्हारहुगे[५१]।

ऐ. हौ—(तब जसुदा) नंदहिं कह्यौ, और कितने दिन जीहौं[५२]।

सामान्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष : बहुवचन—इहौ, ऐहौ, औगी, औगे, हुगी, हुगे आदि प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं जिनमें से 'इहौ' से बने रूपों का प्रयोग सबसे अधिक मिलता है : जैसे—

अ. इहौ—(तुम) स्रम करिहौ जब मेरी सी...बिना कष्ट यह फल पाइहौ[५३]। तुम सब मरिहौ...परसत ही जरिहौ[५४]। (तुम) जीतिहौ तब असुर कौ[५५]। जब (तुम) सुनिहौ करतूति हमारी[५६]।

आ. ऐहौ—नैंकु दरस की आस है ताहू तैं (तुम) जैहौ[५७]। मन-मन तुमहीं पछितैहौ[५८]।

इ. औगी—कंत मानहु (तुम) भव तरौगी[५९]। तुम अपनें जो नेम रहौगी[६०]।

ई. औगे—सूर स्याम पूछत सब ग्वालनि, खेलौगे किहिं ठाहर[६१]।

उ. हुगी—(तुम) रिस पावहुगी[६२]। (तुम, अब रोवहुगी[६३]। (तुम) सुनहुगी[६४]।

ऊ. हुगे—(तुम) आवहुगे जीति भुवाल[६५]। पावहुगे (तुम) पुनि कियौ आपनौ[६६]।

ड. सामान्य भविष्यत् : अन्यपुरुष : एकवचन—धातु या उसके विकृत रूप के अंत में इ, इगी, इगौ, इहि, इहैं, इहै, ऐंगे, ऐगी, ऐगौ, ऐहैं, ऐहै, हिंगे, हिगी, हिगौ आदि प्रत्ययों के जोड़ने से इस काल-वर्ग के रूप बनाये गये हैं। इनमें से इहैं, ऐहैं, हिंगे और ऐंगे से बने रूप आदरार्थक हैं। प्रयोग की दृष्टि से इहैं, इहै, ऐंगे, ऐगी, ऐगौ, ऐहैं, ऐहै और हिंगे से बने रूप विशेष महत्व के हैं।

अ. इ—सप्तम दिन तोहिं तच्छक खाइ[६७]। बन मैं भजन कौन बिधि होइ[६८]।

आ. इगी—दूरि कौन सौं (यह) होइगी[६९]।

इ. इगौ—कैसै तप निरफलहिं जाइगौ[७०]। मन बिछुरैं तन छार होइगौ[७१]।

ई. इहि—काकी ध्वजा बैठि कपि किलकिहि[७२]। मैं निज प्रान तजौंगी सुन कपि, तजिहि जानकी सुनिकै[७३]।

---

४८. सा. १-२४९ । ४९. सा. ६८१ । ५०. सा. ५३७ । ५१. सा. १-१३० ।
५२. सा. ५८९ । ५३. सा. १३३८ । ५४. सा. १३४२ । ५५. सा. ८-८ ।
५६. सा. १३३२ । ५७. सा. १३४३ । ५८. सा. १३३२ । ५९. सा. १०१६ ।
६०. सा. १३४४ । ६१. सा. १०-२४३ । ६२. सा. १३३२ । ६३. सा. १४८० ।
६४. सा. १५८४ । ६५. सा. १५३२ । ६६. सा. १५३३ । ६७. सा. १-२९० ।
६८. सा. १-२८४ । ६९. सा. १२५२ । ७०. सा. १३४८ । ७१. सा. १-३०२ ।
७२. सा. १-२९ । ७३. सा. ९-१४ ।

उ. इहैं (आदरार्थक)—हरि करिहैं कलंकि अवतार[७४]। कहिहैं तुम्हें मयत्रेय आन[७५]। महर खीझिहैं हमकौ[७६]। रघुबर हतिहैं कुल दैयत कौ[७७]। भूमि-भार येई हरिहैं[७८]।

ऊ. इहै—वहै ल्याइहै सिय-सुधि छिन मैं अरु आइहै तुरंत[७९]। को कौरव-दल-सिंधु मथन करि या दुख पार उतरिहै[८०]। अबधौं वैसी करिहै दई[८१]। काल ग्रसिहै[८२]। तुव सराप तैं मरिहै सोइ[८३]।

ए. ऐंगे (आदरार्थक)—हरि आवैंगे[८४]। नंद सुनि मोहिं कहा कहैंगे[८५]। नंद-नंदन हमकौ देखगे[८६]। बाबा नंद बुरौ मानैंगे[८७]।

ऐ. ऐगी—(मुरली) अब करैगी बाद[८८]। यह तो कथा चलैगी आगैं[८९]। मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी[९०]। डीठि लगैगी काहू की[९१]।

ओ. ऐगौ—तेरौ कोऊ कहा करैगौ[९२]। कब मेरौ लाल बात कहैगौ[९३]। कहा घटैगौ तेरौ[९४]। सिर पर धरि न चलैगौ कोऊ[९५]। जम-जाल पसार परैगौ[९६]। वह देवता कंस मारैगौ[९७]। कछु थिर न रहैगौ[९८]। कौन सहैगौ भीर[९९]।

औ. ऐहैं (आदरार्थक)—काके हित श्रीपति ह्याँ ऐहैं[१]। नंदहुँ तैं ये बड़े कहैहैं... फेरि बसैहैं यह ब्रजनगरी[२]। राम ...ईसहिं...दससीस चढ़ैहैं[३]। जौ जैहैं बलदेव पहिलैं[४]।

अं ऐहै—खाक उड़ैहै[५]। त्रास-अक्रूर जिय (कंस) कहा कैहै[६]। हरि जू ताको आनि छुटैहै[७]। (नर) जैहै काहि समीप[८]। कौसिल्या बधू-बधू कहि मोहिं बुलैहै[९]।

अअ. हिंगे (आदरार्थक)—छमा करहिंगे श्रीसुन्दरबर[१०]। (स्याम) कबहिं घुटरुवनि चलहिंगे[११]। (कृष्न) तिनके बंधन मोचहिंगे[१२]।

अआ. हिगी—टूटहिगी मोतिनि लर मेरी[१३]।

अइ. हिगौ—क्यौं बिस्वास करहिगौ कौरौ[१४]।

---

७४. सा. १२-३। ७५. सा. ३-४। ७६. सा. ६८१।
७७. सा. ९-८४। ७८. सा. १०-८५। ७९. सा. ९-७४।
८०. सा. १-२९। ८१. सा. १-२६१। ८२. सा. १-३१५। ८३. सा. १-२९०।
८४. सा. ३६८३। ८५. सा. ३८७। ८६. सा. ७७९। ८७. सा. ४४५।
८८. सा. १२३४। ८९. सा. १-१९२। ९०. सा. १०-१७५। ९१. सा. ९८७।
९२. सा. १४१७। ९३. सा. १०-७६। ९४. सा. १-२६६। ९५. सा. १-३०३।
९६. सा. १-३१२। ९७ सा. ५३१। ९८. सा. १-३०२। ९९. सा. ८७४।
१. सा. १-२९। २. सा. १०-३१९। ३. सा. ९-८१। ४. सा. १०-२२३।
५. सा. १-८६। ६. सा. २९२९। ७. सा. ८-२। ८. सा. १-२१०।
९. सा. ९-८१। १०. सा. ९४६। ११. सा. १०-७४। १२. सा. १६१९।
१३. सा. १६७०। १४. सा. ११-१।

च. **सामान्य भविष्यत् : अन्यपुरुष : बहुवचन**—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में इहैं, ऐंगे, ऐहैं, हिंगी, हिंगे आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं। इनमें से प्रथम तीन प्रत्ययों से बने रूपों का प्रयोग अधिक किया गया है ; जैसे—

अ. इहैं—निकसत हंस (सब) तजिहैं[१५]। कछु (गाइ) मिलिहैं मग माहिं[१६]। कुसल सदा ये रहिहैं[१७]। वै सुनिहैं यह बात[१८]। हँसिहैं सब ग्वाल[१९]। कलि मैं नृप होइहैं अन्याई[२०]।

आ. ऐंगे—जहाँ-तहाँ तैं सब आवैंगे[२१]। (वे) कहि, कहा करैंगे[२२]। ब्रज लोग डरैंगे[२३]। (ये) काकी सरन रहैंगे[२४]। बानर-बीर हँसैंगे[२५]।

इ. ऐहैं—स्यार-काग-गिध खैहैं[२६]। पुहुप लेन जैहैं नँद-ढोटा[२७]। तप कीन्हैं सो (गंधर्व) दैहैं आग[२८]। गोपी-गाइ बहुत दुख पैहैं[२९]। (ब्रजबासी) मेरैं मारत काहि मनैहैं[३०]। कलि मैं नृप... कृषी-अन्न लैहैं बरिआई[३१]।

ई. हिंगी—वे मारहिंगी[३२]।

उ. हिंगे—जात-पाँति के लोग हँसहिंगे[३३]। ऐसे निठुर होहिंगे तेऊ[३४]।

७. **संभाव्य भविष्यत्काल**—इस काल के रूपों की संख्या भी यद्यपि कम है, फिर भी उक्त संभाव्य वर्तमान और संभाव्य भूतकालों से वह बहुत अधिक है। अतएव अन्य कालों की भाँति विभिन्न पुरुषों और वचनों की दृष्टि से इस काल के प्रयोगों पर भी विचार किया जा सकता है।

क. **संभाव्य भविष्यत् : उत्तमपुरुष : एकवचन**—इस वर्ग के रूप धातु या उसके विकृत रूप में ऊँ, ऐ, औं, यौं, हूँ आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं; जैसे—

अ. ऊँ—अब मैं उनकौं ज्ञान सुनाऊँ, जिहिं तिहिं बिधि बैराग्य उपाऊँ[३५]। चूक परी मोतैं मैं जानी मिलैं स्याम बकसाऊँ, लोचन-नीर बहाऊँ... पुनि-पुनि सीस छुवाऊँ...रुचि उपजाऊँ...तपति जनाऊँ...कहि कहि जु सुनाऊँ[३६]। आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ[३७]।

आ. ऐ—सूरदास बिनती कह बिनवै[३८]। सोइ करहु जिहिं चरन सेवै सूर[३९]।

---

१५. सा. १-३१९। १६. सा. ४४३। १७. सा. ८४३। १८. सा. ५२२। १९. सा. १०-२२३। २०. सा. १२-३। २१. सा. १-१९१। २२. सा. १६८५। २३. सा. ५२२। २४. सा. ९२३। २५. सा. ९-७५। २६. सा. १-८६। २७. सा. ५२२। २८. सा. ९-२। २९. सा. ४३८। ३०. सा. ९०७। ३१. सा. १२-३। ३२. सा. ११-२। ३३. सा. १५५७। ३४. सा. १२५४। ३५. सा. १-२८४। ३६. सा. २१०३। ३७. सा. १-२७०। ३८. सा. १-१३०। ३९. सा. १-१२६।

इ. औं—मैं तुव सुत की रक्षा करौं, अरु तेरौ यह दुख परिहरौं[४०]। छाँड़ौ नाहिं बृंदाबन रजधानी[४१]। जौन दिय मैं छूटौं[४२]। (हौं) काकी सरन तकौं[४३]। कहा गुन बरनौं स्याम तिहारे[४४], काहि भजौं हौं दीन[४५]।

ई. यौं—नैंकु रहौ, माखन द्यौं तुमकौं[४६]।

उ. हुँ—जौ माँगौ सो देहुँ[४७]।

ख. संभाव्यभविष्यत् : उत्तम पुरुष : बहुवचन—'हिं', 'हीं' आदि प्रत्ययों से बने इस वर्ग के रूपों का प्रयोग कुछ ही पदों में मिलता है; जैसे—(हम) अधरनि कौ रस लेहिं...लोचन उनके आँजहीं[४८]।

ग. संभाव्य भविष्यत् : मध्यमपुरुष :—इस वर्ग के रूप दोनों लिंगों और वचनों में प्रायः समान होते हैं। प्रयोग इनका भी बहुत कम पदों में हुआ है; जैसे—(तुम) बचन एक जौ बोलौ[४९]।

घ. संभाव्य भविष्यत् : अन्यपुरुष : एकवचन—इस वर्ग के रूप इस काल के सभी वर्गों से अधिक हैं और धातु या उसके विकृत रूप में निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर लगाकर बनाये गये हैं—

अ. ई.- दीन जन कहा अब करई[५०]। कौन ऐसौ जो मोहित न होई[५१]।

आ. उ—बरु मेरी पति जाउ[५२]।

इ. ऐं (आदरार्थक)—स्याम जौ कबहूँ त्रासैं[५३]। जौ प्रभु मेरे दोष विचारैं[५४]।

ई. ऐ—जातैं...जम न चढ़ावै कागर[५५]। जौ अपनौ मन हरि सौं राँचै[५६]। जौ गिरिपति ..मम कृत दोष लिखै[५७]। स्यामसुन्दर जौ सेवै, क्यों होवै गति दीन[५८]।

उ. औ—लाज रहौ कि जाउ[५९]।

ऊ. वै—वह अपनौ फल भोगवै[६०]।

ए. हिं (आदरार्थक)—बहुत भीर है, हरि न भुलाहिं[६१]।

ङ. संभाव्य भविष्यत् : अन्य पुरुष : बहुवचन--इस वर्ग के रूप धातु में उ, ऐं, हिं आदि प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं और इनमें भी अधिक प्रयोग हुआ है ऐं और हिं से बने रूपों का; जैसे—

अ. उ--साँवरे सौं प्रीति बाढ़ी लाख लोग रिसाउ[६२]।

---

४०. सा. ४३०७। ४१. सा. १-८७। ४२. सा. १-१८५।
४३. सा. १-१५१। ४४. सा. १-२५। ४५. सा. १-१११। ४६. सा. १-१६७।
४७. सा. ८-१४। ४८. सा. २९०९। ४९. सा. १-१३६। ५०. सा. १-४८
५१. सा. ८-१०। ५२. सा. १-२७४। ५३. सा. २२६८। ५४. सा. १-१८३।
५५. सा. १-९१। ५६. सा. १-८१। ५७. सा. १-१११। ५८. सा. १-४६।
५९. सा. १४५६। ६०. सा. १३४३। ६१. सा. ८२७। ६२. सा. १४५६।

आ. ऐं--याकी कोख अवतरैं जे सुत[६३]। नंद-गोप नैननि यह देखैं ....बड़े देवता कौ सुख पेखैं[६४]।

इ. हिं--अपनी कृत येऊ जो जानहिं[६५]। (गैयाँ) काहे न दूध देहिं[६६]।

८. प्रत्यक्ष विधिकाल[६७]—इस काल में मुख्य रूप मध्यम और अन्यपुरुष के ही होते हैं; अतएव इन्हीं की सोदाहरण चर्चा यहाँ की जायगी।

क. प्रत्यक्षविधि : मध्यमपुरुष : एकवचन— इस वर्ग के रूपों की संख्या पर्याप्त है। धातु या उसके विकृत रूप में जिन प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप बनाये गये हैं, उनमें मुख्य ये हैं--

अ. इ—तिहिं चित्त आनि[६८]। करि हरि सौं सनेह मन साँचौ[६९]। कहि, कब हरि आवैंगे[७०]। नीकैं गाइ गुपालहिं मन रे[७१]। इहीं छन भजि...पाइ यह समय लाहु लहि[७२]।

आ. इए—जागिए गोपाल लाल[७३]।

इ. इऐ--कृपा अब कीजिऐ[७४]। प्रभु लाज धरिऐ[७५]। लाल, मुख धोइऐ[७६]। कृपानिधि...मम लज्जा निरबहिऐ[७७]। भजिऐ नंदकुमार[७८]।

ई. ईजौ—नृप कैं हाथ पत्र यह दीजौ, बिनती कीजौ मोरि...मेरौ नाम नृपति सौं लीजौ।[७९]

उ. इयै—ब्रज आइयै गोपाल[८०]। अपनी धरियै नाउँ[८१]। रे मन....जम की त्रास न सहियै...आइ परै सो सहियै...अंत बार कछु लहियै[८२]। सुजल सींजियै कृपानिधि[८३]। कृपानिधान सुदृष्टि हेरियै[८४]।

ऊ. ईजै—अब मोपै प्रभु, कृपा करीजै[८५]। (तुम) आपुहिं चलीजै[८६]।

ए. उ—हरि की सरन महँ तू आउ[८७]। जाउ बदरीबन[८८]। मोहिं बताउ[८९]। ताकौं तू निज बज्र बनाउ[९०]। होउ मन राम-नाम कौ गाहक[९१]।

ओ. ओ--सुनो बिनती सुरराइ[९२]।

---

६३. सा. १०-४। ६४. सा. ९२५। ६५. सा. ९-९५। ६६. सा. ६१३।
६७. 'प्रत्यक्ष विधिकाल' के लिए प्रचलित नाम 'विधि' है--लेखक।
६८. सा. १-७७। ६९. सा. १-८३। ७०. सा. ३६८३। ७१. सा. १-६६।
७२. सा. १-६८। ७३. सा. १०-२०५। ७४. सा. १-१२८। ७५. सा. १-११०।
७६. सा. ४३९। ७७. सा. १-११२। ७८. सा. १-६८। ७९. सा. ५८३।
८०. सा. ३२२७। ८१. सा. १-१८५ ८२. सा. १-६२। ८३. सा. १-९८।
८४. सा. १-२०५। ८५. सा. ३-१३। ८६. सा. २५७३। ८७. सा. १-३१४।
८८. सा. ७-२। ८९. सा. १-१४४। ९०. सा. ६-५। ९१. सा १-३१०।
९२. सा. १-२२६।

औ. औ—बैद बेगि टोहौ[१३] । स्याम, अब तजौ निठुरई[१४] । (पिय, तुम) तहँई पग धारौ[१५] । कछू अचरज मति मानौ[१६] । मेरी सुधि लीजौ ब्रजराज[१७]।

अअ. व—तहूँ आव[१८]

अआ. ह—एक बेर इहिं दरसन देह[१९] ।

अइ. हिं—तू जननी...भूलिहुँ चित चिंता नहिं आनहिं[१] ।

अई. हि—रिषि कह्यौ, दान-रति देहि, मैं बर देउँ तोहिं सो लेहि[२] । सँभारहि रे नर ।[३]

अउ. हुँ—तुम सुनहुँ जसोदा गोरी[४] ।

अऊ. हु—ताहि कहु कैसैं कृपानिधि सकत सूर चराइ[५] । तुम जाहु[६] । सखी री दिखरावहु वह देस[७] । देहु कृपा करि बाँह[८] ।

ख. प्रत्यक्ष विधि : मध्यमपुरुष : बहुवचन—इस वर्ग के रूपों की संख्या भी बहुत कम है। मुख्य रूप धातु या उसके विकृत रूप में निम्नलिखित प्रत्यय जोड़कर बनाये गये हैं—

अ. ऐहौ—तुम कुल बधू ‥ऐसैं जनि कहवैहौ‥तुम जनि हमहिं हँसैहौ‥कुल जनि नाउँ धरैहौ[९] ।

आ. औ—सुनौ सब संतौ[१०] ।

इ. हू—काजर-रोरी आनहू (मिलि) करौ छठी कौ चार[११] ।

९. परोक्ष विधिकाल—इस काल-भेद के प्रयोगों में वचन और लिंग की दृष्टि से प्रायः समानता रहती है । पुरुषों की दृष्टि से उनका वर्गीकरण अवश्य किया जा सकता है, परन्तु वह भी इस कारण अनावश्यक है कि सूर-काव्य में इस काल-भेद के प्रयोग भी अधिक नहीं हैं । जिन प्रत्ययों के योग से इस वर्ग के रूप सूरदास द्वारा बनाये गये हैं, उनमें मुख्य ये हैं—

अ. इबी—तब जानिबी किसोर जोर रुपि रहौ जीति करि खेत सबै फर[१२] ।

आ. इयौ—बंधू. करियौ राज सँभारे[१३] । महरि हमारी बात चलावत, मिलन हमारौ कहियौ[१४] । मेरी सौं तुम याहि मारियौ[१५] ।

इ. इहौ—पुनि खेलिहौ सकारे[१६] । तुम अनेक वह एक है, वासौं जनि लरिहौ[१७] ।

ई. नी—मेरी कैंती बिनती करनी[१८] ।

---

१३. सा. ३६११ । १४. सा. २५०९ । १५. सा. २४८७ ।
१६. सा. ४२१० । १७. सा. १-२१९ । १८. सा. २८८७ । १९. सा. ९-२
१. सा. ९-४५ । २. सा. १-२२९ । ३. सा. २-२२ ।
४. सा. १०-२८६ । ५. सा. १-५६ । ६. सा. २८७७ । ७. सा. ३२२५ ।
८. सा. ९-५१ । ९. सा. १९२३ । १०. सा. ९-१०५ । ११. सा. १०-४० ।
१२. सा. २४५५ । १३. सा. ९-५४ । १४. सा. ७२७ । १५. सा. १०-३३० ।
१६. सा. १०-२२६ । १७. सा. १३४२ । १८. सा. ९-१०१ ।

उ. बी--प्रभु हित सूचित कै बेगि प्रगटबी तैसी[१९]।

ऊ. बौ—या ब्रज कौ ब्यौहार सखा तुम, हरि सौं सब कहिबौ[२०]।

ए. यौ—परसन हमहिं सदा प्रभु हूज्यौ[२१]।

१०. सामान्य संकेतार्थकाल[२२]—इस काल-भेद के रूप जिन प्रत्ययों के योग से बनाये गये हैं, उनमें मुख्य ये हैं—

अ. ती—औरनि सौं दुराव जौ करती[२३]। तबहिं हमसौं जौ कहती[२४]। जौ मेरी अँखियनि रसना होती[२५]।

आ. ते—जौ प्रभु नर-देही नहि धरते, देवै-गर्भ नहीं अवतरते[२६]। भक्ति बिना जौ (तुम) कृपा न करते[२७]। एक बार''हरि दरसन देते[२८]। राजकुमार नारि जौ पवते तौ कब अंग समाते[२९]। जौ मेरे दीनदयाल न होते[३०]।

इ. तौ—मेरैं गर्भ आनि अवतरतौ''राजा तोकौ लेतौ गोद[३१]। हौं आस न करतौ''हौं तिनकौ अनुसरतौ''सुद्ध पंथ पग धरतौ''नहिं साप पाप आचरतौ''मन पिटरी लै भरतौ''मित्र-बंधु सौं लरतौ[३२]। जो तू राम-नाम धन धरतौ''''भक्त नाम तेरौ परतौ''होतौ नफा''कोउ न फँट पकरतौ''मूल गाँठि नहिं टरतौ[३३]।

संयुक्त क्रिया—वाक्य में कभी-कभी दो क्रियाएँ साथ-साथ प्रयुक्त होती हैं—एक, मुख्य रूप में और दूसरी, सहायक रूप में। ऐसे संयुक्त प्रयोगों से प्रायः मुख्य क्रिया के अर्थ में कुछ विशिष्टता या नवीनता आ जाती है। सूरदास ने भी क्रिया के अनेकानेक अर्थों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए क्रियाओं के ऐसे संयुक्त प्रयोग किये हैं। जिन क्रियाओं के योग से उन्होंने इस प्रकार के संयुक्त रूप बनाये हैं उनमें मुख्य हैं—आनो, उठनो, करनो, चाहनो, जानो, देनो, पड़नो, पानो, बननो, बैठनो, रहनो, लगनो, लेनो, सकनो, होनो आदि। इनमें से कुछ क्रियाएँ मुख्य और सहायक दोनों रूपों में प्रयुक्त हुई हैं। रूप के अनुसार सूरदास द्वारा प्रयुक्त ऐसी संयुक्त क्रियाओं को आठ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—क. क्रियार्थक संज्ञा से बने रूप, ख. वर्तमानकालिक कृदन्तों से बने रूप, ग. भूतकालिक कृदन्तों से बने रूप, घ. पूर्वकालिक कृदन्तों से बने रूप, ङ अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों से बने रूप, च. पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तों से बने रूप, छ. पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ और ज. तीन क्रियाओं से बने रूप।

क. क्रियार्थक संज्ञाओं से बने रूप—क्रियार्थक संज्ञा शब्दों से सूरदास ने जो संयुक्त क्रियाएँ बनायी हैं, कहीं उनसे आवश्यकता और अनुमति सूचित होती है, कहीं

१९. सा. २८५२। २०. सा. ४०५६। २१ सा. ९२१।
२२. 'सामान्य संकेतार्थकाल' का प्रचलित नाम 'हेतुहेतुमद्भूतकाल' है—लेखक।
२३. सा. १७२३। २४. सा. १७३२। २५. सा. १०-१३१।
२६. सा. १६०७। २७. सा. १-२०३। २८. सा. ३७८६। २९. सा. ३१५३।
३०. सा. १-२५९। ३१. सा. ४-९। ३२. सा. १-२०३। ३३. सा. १-२९७।

क्रिया का आरंभ और अवकाश; जैसे—नाहिं चितवन देत सुत-तिय नाम-नौका ओर[३४] (अनुमति)। गोपी लागी पछतावन[३५] (आरंभ)। होइ कान्ह की अइयौ[३६] (आवश्यकता)। इस प्रकार की संयुक्त क्रियाएँ सूर-काव्य में आदि से अंत तक मिलती हैं, जैसे—साँझ-सवारैं आवन लागी[३७]। जो कछु करन चहत[३८]। पारथ-तिय कुरुराज सभा मैं बोलि करन चहै नंगी[३९]। पुरवासी नाहिंन चहत जियौ[४०]। कछू चाहौं कह्यौं[४१]। (तुम प्रभु) पावक जठर जरन नहिं दीन्हो[४२]। मधुप कौं प्रेमहिं पढ़न पठायौ[४३]। अपनी वदन विलोकन लागी[४४]। लागन नहिं देत कहूँ समर आँच ताती[४५]। (स्याम) मथुरा लागे राजन[४६]। अब लाग्यौ पछितान[४७]। होन चाहत कहा[४८]।

ख. वर्तमानकालिक कृदंतों से बने रूप—वर्तमानकालिक कृदंतों की सहायता से सूरदास ने जो संयुक्त क्रियाएँ बनायी हैं, वे प्रायः नित्यता या निरंतरता-सूचक हैं; जैसे—चितै रहति ज्यौं चंद चकोरी[४९]। कुंज-कुंज जपत फिरौं तेरी गुन-माला[५०]। रैनि रहौंगौ जागत[५१]। अब दुहत रहौंगौ[५२]।

ग. भूतकालिक कृदंतों से बने रूप--इस वर्ग के रूपों की संख्या भी सूर-काव्य में पर्याप्त है। ऐसी संयुक्त क्रियाओं से तत्परता, निश्चय, अभ्यास आदि की सूचना मिलती है; जैसे—कह्यौ, उहाँ अब गयौ न जाइ[५३]। जुग-जुग बिरद यहै चलि आयौ[५४]। नरकपति दीन्हे रहत किवार[५५]। वा रूप-रासि बिनु मधुकर कैसे परत जियौ[५६]। अब तौ परचौ रहैगौ दिन दिन तुमकौं ऐसौ काम[५७]। सब्द जोरि बोल्यौ चाहत हैं[५८]। (हौं) अनुचर भयौ रहौं[५९]। ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत[६०]।

घ. पूर्वकालिक कृदंतों से बने रूप—सूरदास द्वारा प्रयुक्त पूर्वकालिक कृदंतों से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ प्रायः कार्य की निश्चयता, आकस्मिकता, सशक्तता, पूर्णता आदि सूचित करती हैं; जैसे औरौ आइ निकसिहैं[६१]। कामिनि आजुहिं आनि रहैंगी[६२]। हरि तहँ उठि धाए[६३]। च्वै चले दोऊ नैन[६४]। नृपति जान जो पावहीं[६५]। बीचहिं बोलि उठे हलधर[६६]। अंकम भरि पिय प्यारी लीन्ही[६७]। कर रहि गयौ उचायौ[६८]।

---

३४. सा. १-९९। ३५. सा. ३६६०। ३६. सा. ३७६६।
३७. सा. ७१०। ३८. सा. १-१६३। ३९. सा. १-२१। ४०. सा. ९-४६।
४१. सा. १-११०। ४२. सा. १-११६। ४३. सा. ३६८२।
४४. सा. १०-४। ४५. सा. १-२३। ४६. खा. ३३०२। ४७. सा. १-१०१।
४८. सा. ३०६७। ४९. सा. १०-३०५। ५०. सा. १११७। ५१. सा. ४२०।
५२. सा. ४००। ५३. सा. ४-५। ५४. सा. १-११। ५५. सा. १-१४१।
५६. सा. ३७२७। ५७. सा. १-१९१। ५८. सा. १०-१०२। ५९. सा. १-१६१।
६०. सा. १-९७। ६१. सा. १-१९१। ६२. सा. २४५४। ६३. सा १-७।
६४. सा. ७४९। ६५. सा. १४६१। ६६. सा. १०-२१४। ६७. सा. २५२७।
६८. सा. ९-३।

जल मैं रह्यौ लुकाऊ[६९]। यह हमकौं बिधिना लिखि राख्यौ[७०]। (हरि) हाथ चक्र लै धायौ[७१]। रे मन, गोबिंद के ह्वै रहियै[७२]।

ङ. अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतों से बने रूप—इस वर्ग की संयुक्त क्रियाएँ प्रायः योग्यता, विवशता, आश्चर्य आदि सूचित करती हैं। इनकी संख्या उक्त रूपों की अपेक्षा कम है। 'बननो' के विकृत रूपों से इस वर्ग के अधिकांश रूप बनाये गये हैं; जैसे—स्याम, कछु करत न बनिहै[७३]। आजु कलेऊ करत बन्यौ नाहि[७४]। छाँड़त बनत नहीं कैसेहूँ[७५]। जात न बनै देखि सुख हरि कौ[७६]। घर तैं निकसत बनत नाहीं[७७]।

च. पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतों से बने रूप—सूर-काव्य में प्रयुक्त पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंतों से निर्मित संयुक्त क्रियाएँ प्रायः कार्य की निरंतरता या निश्चयता सूचित करती हैं; जैसे—नंद कौ कर गहे ठाढ़े[७८]। (ते) भागे आवत ब्रज ही तन कौं[७९]। लीन्हें फिरत घरहिं के पासन[८०]।

छ. पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ—क्रिया की निरंतरता, अधिकता आदि को प्रभावोत्पादक रीति से सूचित करने के लिए कभी-कभी क्रियाओं की आवृत्ति की जाती है। ऐसी क्रियाएँ प्रायः सहचर-रूप में प्रयुक्त होती हैं जिनकी कभी तो ध्वनि में समानता रहती है और कभी अर्थ में एकरूपता। गद्य में क्रियाओं की इस प्रकार की आवृत्ति विशेष रूप से होती है। काव्य में ऐसे प्रयोगों को प्रचुर संख्या में सम्मिलित करके सूरदास ने अपनी भाषा को जन-रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। संयुक्त क्रियाओं की पुनरुक्तिवाले उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—आवत-जात चहूँ मैं लोइ[८१]। खात-खेलत रहै नीकैं[८२]। खेलत-दौरत हारि गए री[८३]। लै आई गृह चूमति-चाटति[८४]। जान-बूझि इन मोहिं भुलायौ[८५]। तौ अब बहुत देखिबै-सुनिबै[८६]। और सकल मैं देखे-ढूँढ़े[८७]। भोग-समग्री धरति-उठावति[८८]। फूले-फले तरुवर[८९]। बैठत-उठत सेज सोवत मैं कंस डरनि अकुलात[९०]। इहिं बिधि रहसत-विलसत दंपति[९१]। नँकु टरत नहिं सोवत-जागत[९२]।

आवृत्ति की दृष्टि से सूरदास के वे प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं, जो यद्यपि 'संयुक्त क्रिया' के अंतर्गत नहीं आ सकते तथापि जिनमें एक ही क्रिया की द्विरुक्ति, कार्य की निरंतरता, अधिकता या अन्य कोई विशेषता सूचित करने के उद्देश्य से की गयी है; जैसे—स्याम कछु कहत-कहत ही बस करि लीन्हे आह निंदरिया[९३]। खेलत-खेलत''

६९. सा. १०-२२१। ७०. सा. १३०१। ७१. सा. १-१०। ७२. सा. १-६२। ७३. सा. १४७९। ७४. सा. ४६१। ७५. सा. ७३८। ७६. सा. १०४५। ७७. सा. १४५३। ७८. सा. ८३७। ७९. सा. ९३२। ८०. सा. ९३४। ८१. सा. १२-४। ८२. सा. ८५२। ८३. सा. १०-२४७। ८४. सा. १०-७८। ८५. सा. ८५१। ८६. सा. ३५१९। ८७. सा. १-३२३। ८८. सा. ८९४। ८९. सा. १०-३४। ९०. सा. १०-१२। ९१. सा. ७३२। ९२. सा. १६३३। ९३. सा. १०-२४६।

झपि जमुना-जल लीन्हौ[९४]। फिरत-फिरत बलहीन भयौ[९५]। लैं-लैं ते हथियार आपने · चले[९६]।

ज. दो से अधिक क्रियाओं से बने रूप—सूर-काव्य में कुछ ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमें तीन-तीन या चार-चार क्रियाओं का पूर्ण क्रिया-रूप में प्रयोग किया गया है; जैसे—अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं[९७]। गगन मँडल तैं गहि आन्यौ है[९८]। ये अति चपल चल्यौ चाहत हैं[९९]। सूरजदास जनाइ दियौ है[१]। बहुत ढीठो दै रहे हो[२]। गर्ग सुनाइ कही जो बानी, सोई प्रगट होति है जात[३]। दिन ही दिन वह बढ़त जात है[४]। स्रवनन सुनत रहत हे[५]।

क्रिया के विशेष प्रयोग—सूरदास के अनेक पदों में क्रिया शब्दों के चयन की एक यह विशेषता दिखायी देती है कि उन्होंने निकटवर्ती शब्द या शब्दों से अनुप्रास के निर्वाह का प्रयत्न किया है। ऐसे प्रयोग भाषा की सुंदरता बढ़ाने में सहायक होते हैं। साथ ही कवि ने अर्थ की उपयुक्तता का भी उचित ध्यान रखा है; जैसे—कछु करौ कलेऊ[६]। कदम करारत काग[७]। करुना करति[८]। गुनत गुन[९]। जागु जसोदा[१०]। झरना सी झरत[११]। दमकत दसन[१२]। धरि ध्यान ध्यावहु[१३]। निसि निघटी[१४]। पहिरे पीरे पट[१५]। प्रन प्रतिपारयौ[१६]। बरबीर बिराजत[१७]। बिरद बदत[१८]। बिरद बुलावैं[१९]। बैठी बैदेही[२०]। भए भस्म[२१]। भाजत भाजन भानि[२२]। रंग रँगे[२३]। लटकन लटकि रह्यौ[२४]। लोचन लोलति[२५]। सखा संग सोहत[२६]। सुनि सुबात सजनी[२७]। सुमति सुरूप सँचै[२८]।

अव्यय और सूर के प्रयोग—

अव्यय के मुख्य चार भेद होते हैं—१. क्रियाविशेषण,[२९] २. संबंधसूचक, ३. समुच्चयबोधक और ४. विस्मयादिबोधक। अतएव 'अव्यय' शीर्षक के अंतर्गत इन्हीं भेदों के प्रयोगों की विवेचना करना है।

१. क्रियाविशेषण—अर्थ के अनुसार क्रियाविशेषण के भी चार भेद होते हैं—

---

९४. सा. ५७६। ९५. सा ९-६। ९६. सा. १-१५१। ९७. सा. १-१३४।
९८. सा. १०-१९५। ९९. सा. ९-९२। १. सा. ४४५। २. सा. २८७६।
३. सा. ९८६ ४. सा. १०-६०। ५. सा. ३०२०। ६. सा. ६०९।
७. सा. ११२६। ८. सा. ९-१६०। ९. सा. १०-२०५। १०. सा. १०-१४।
११. सा. ३५७१। १२. सा. १४४६। १३. सा. ८३५। १४. सा. १०-२३३।
१५. सा. १४५२। १६. सा. ९-१५९। १७. सा. ९-१६७। १८. सा. १०-२०५।
१९. सा. १-१८३। २०. सा. ९-१६१। २१. सा. ९-१५८। २२. सा. १०-२८०।
२३. सा. ३५११। २४. सा. १०-९३। २५. सा. १४३९। २६. सा. ६४५।
२७. सा. १०-२०१। २८. सा. २-१२।
२९. 'क्रियाविशेषण' का शाब्दिक अभिप्राय उन शब्दों से है जो क्रिया की विशेषता बताते हों; परन्तु इस शब्द-भेद के अन्तर्गत जितने शब्द-रूप आते हैं, उनमें अनेक

क. स्थानवाचक, ख. कालवाचक, ग. परिमाणवाचक और घ. रीतिवाचक। सूर-काव्य में इन सबके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

क. स्थानवाचक क्रियाविशेषण—इसके पुनः दो भेद किये जा सकते हैं—क्ष. स्थितिवाचक और त्र. दिशावाचक। प्रथम भेद के अंतर्गत आनेवाले रूपों की संख्या सूर-काव्य में द्वितीय से अधिक है।

अ. स्थितिवाचक—सूरदास ने जिन स्थितिवाचक क्रियाविशेषणों का प्रयोग अपने काव्य में किया है, उनमें से मुख्य यहाँ संकलित हैं। इनमें से कुछ बलात्मक रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं; जैसे—

अनत—मन अनत लगावै[३०]। यह बालक काढ़ि अनतही दीजै[३१]।

अन्यत्र - इक छिन रहत न सो अन्यत्र[३२]।

आगैं—आगैं है सो लीजै[३३]।

इहाँ—लैन सो इहाँ सिधारे ··छल करि इहाँ हँकारे[३४]। इहाँ अटक अति प्रेम पुरातन[३५]।

इहाँउ—और इहाँउ बिबेक-अगिनि के बिरह-बिपाक दहौं[३६]।

उहाँ—उहाँ जाइ कुरुपति[३७]। हरि बिनु सुख नाहिं ··उहाँ[३८]। वै राजा भए जाइ उहाँ[३९]।

ऊपर—चरन राखि उर ऊपर[४०]।

कहँ—तब कहँ मूड़ दुरैहौ[४१]।

कहाँ—पर-हथ कहाँ बिकाऊँ[४२]। कुरुपति हैं कहाँ[४३]।

कहुँ—सूझत कहुँ न उतारौ[४४]। कहुँ हरि-कथा ··कहुँ संतनि कौ डेरौ[४५]। इक दिन मृग-छौना कहुँ गयौ[४६]।

कहुँवै—ज्ञान बिना कहुँवै सुख नाहीं[४७]।

कहूँ—पतित कौ ठौर कहूँ नहिं[४८]। कहूँ कर न पसारौं[४९]।

ऐसे हैं जिनसे क्रिया की प्रत्यक्ष विशेषता नहीं प्रकट होती। अतएव 'क्रियाविशेषण' के 'विशेषण' अंश का अभिप्राय व्यापक रूप से लेना चाहिए। इसके अनुसार क्रिया के काल, स्थान, परिमाण, ढंग आदि के संबंध में प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत करनेवाले सभी शब्द 'क्रियाविशेषण' माने जाते हैं—लेखक।

३०. सा. २-९। ३१. सा. १०-९। ३२. सा. ४-१२। ३३. सा. १-१९१। ३४. सा. ३०३२। ३५. सा. ३७२१। ३६. सा. ३-२। ३७. सा. १-२८४। ३८. सा. २-५। ३९. सा. ३१४६। ४०. सा. १-३। ४१. सा. १-३३१। ४२. सा. १-१६४। ४३. सा. १-२८४। ४४. सा. १-२१०। ४५. सा. १-२६६। ४६. सा. ५-२। ४७. सा. २६०६। ४८. सा. १-१४७। ४९. सा. १०-३७।

जहँ—जहँ आदर-भाव न पइयै[५०] । जहँ रघुनाथ नहीं[५१] । जहँ भ्रम-निसा होति नहिं[५२] ।

जहाँ—जहाँ गयौ[५३] । पांडु-सुत-मंदिर जहाँ[५४] । जहाँ न प्रेम-बियोग[५५] ।

ढिग—सिव प्रनाम करि ढिग बैठाए[५६] । पुनि अंगद कौं बोलि ढिग[५७] ।

तरैं—लोह तरैं मधि रूपा लायौ[५८] ।

तहँ—जम तहँ जात डरै[५९] । तहँ तैं फिरि निज आस्रम गयौ[६०] । दसरथ तहँ आए[६१] ।

तहँउ—तेरौ प्रानपति तहँउ न छाँड़चौ संग[६२] ।

तहँई—मन इंद्री तहँई गए[६३] ।

तहाँ—तहाँ जाइकै सुख बहु पैए[६४] । राच्छसि एक तहाँ चलि आई[६५] । बालि-सुतहुँ तहाँ तैं सिधायौ[६६] ।

तहीं—काल तहीं तिहिं पकरि निकारचौ[६७] । कौतुक तहीं-तहीं[६८] ।

तीर—रुकमिनि चौंर डुलावति तीर[६९] ।

निकट—सोइ-सोइ निकट बुलायौ[७०] । कोऊ निकट न आवै[७१] । आइ निकट श्रीनाथ निहारे[७२] ।

नियरैं—तीर नाहिं नियरैं[७३] ।

नीचैं—नाग रहे सिर नीचैं नाइ[७४] ।

नेरे—कोउ न आवै नेरे[७५] ।

नेरैं—तुम तौ दोष लगावन कौ सिर बैठे देखत नेरैं[७६] ।

पाछैं—डोलत पाछैं लागे[७७] । सेनापति हरि के पाछैं लागे आवत[७८] ।

बिच—कंचन कौ कठुला मनि-मोतिनि बिच बघनहँ रह्यौ पोइ[७९] ।

भीतर—तृष्णा नाद करत घट भीतर[८०] ।

मधि—लोह तरैं मधि रूपा लायौ[८१] । बिधु मधि गन तारे[८२] ।

सामुहे—सुभट सामुहैं आए[८३] ।

---

५०. सा १-२३९ । ५१. सा. १-२८३ । ५२. सा. १-३३७ । ५३. सा. १-१०२ ।
५४. सा. १-२८४ । ५५. सा. १-३३७ । ५६. सा. ४-५ । ५७. सा. ९-७१ ।
५८. सा. ७-७ । ५९. सा. १-३५ । ६०. सा. ६-५ । ६१. सा. ९-२४ ।
६२. सा. १-३२५ । ६३. सा. २२५३ । ६४. सा. १-२९० । ६५. सा. ९-५६ ।
६६. सा. ९-१३५ । ६७. सा. ४-१२ । ६८. सा. १०-२४ । ६९. सा. ४२२८ ।
७०. सा. १-१९३ । ७१. सा. १-१९७ । ७२. सा. १-२७४ ।
७३. सा. १-१७५ । ७४. सा. ७-२ । ७५. सा. १-७९ ।
७६. सा. १-२०६ । ७७. सा. १-८ । ७८. सा. ८-४ । ७९. सा. १०-१४८ ।
८०. सा. १-१५३ । ८१. सा. ७-७ । ८२. सा. १०-१३४ । ८३. सा. १-२७४ ।

ह्याँ—इनकौं ह्याँ तैं देहु निकास[८४]। यह सुनि ह्याँ तैं भरत सिधायौ[८५]। इंद्रासन तजिकै ह्याँ आयौ[८६]।

ह्वाँ—ह्वाँ (अटक) निज नेह नए[८७]।

उक्त उदाहरणों में एक ही स्थितिवाचक क्रियाविशेषण का प्रयोग किया गया है; परंतु सूर-काव्य में ऐसे भी अनेक पद हैं जिनमें इनके दोहरे रूप मिलते हैं; जैसे—

अनत कहूँ—हरि-चरनारबिंद तजि लागत अनत कहूँ तिनकी मति कांची[८८], अनत कहूँ नहिं दाउ[८९]।

कहूँ अनत—गोबिंद सौं पति पाइ कहूँ मन अनत लगावै[९०]।

जहँ-तहँ—जहँ-तहँ सुनियत यहै बड़ाई[९१]। रामहिं जहँ-तहँ होत सहाई[९२]।

जहँ-तहाँ—हरि हरि हरि सुमिरौ जहँ-तहाँ[९३]।

जहाँ-तहँ—जहाँ-तहँ गए सबही पराई[९४]।

जहाँ-तहाँ—जहाँ-तहाँ उठि धाए[९५]। जहाँ-तहाँ तैं सब आवहिंगे[९६]। हरि के दूत जहाँ-तहाँ रहैं[९७]।

जहीं तहीं—रन अरु बन, बिग्रह डर आगैं, आवत जहीं-तहीं[९८]।

आ. दिशावाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में स्थितिवाचक क्रियाविशेषणों से कुछ कम है। जिन दिशावाचक क्रियाविशेषणों का प्रयोग सूरदास ने किया है, उनमें प्रमुख ये हैं—

इत—इत पारथ कोप्यो हम पर[९९]। इत तैं नंद बुलावत हैं[१]।

उत—उत कोप्यौ भीषम भट राउ[२]। उत तैं जननि बुलावै री[३]। नंद उततैं आए[४]।

कित—निरालंब कित धावै[५]। कित जाउँ[६]। कित चलन कहौ (हौ)[७]।

जित—जित जित मन अरजुन कौ तितहिं रथ चलायौ[८]। अपनी रुचि जित ही ऐंचति[९]। जित देखौं[१०]।

तित—तितहिं रथ चलायौ[११]। हौं तितहीं उठि चलत[१२]। जित देखौं मन गयौ तितहिं कौ[१३]।

दाहिन—बाएँ कर बाजि बाग दाहिन हैं बैठे[१४]।

दूर—कूर तैं दूर बसिये सदा[१५]।

---

८४. सा. ४-५। ८५. सा. ५-३। ८६. सा. ६-८। ८७. सा. ३७८१।
८८. सा. १-१८। ८९. सा. १-१६४। ९०. सा. २-९। ९१. स. १-१४५।
९२. सा. ७-२। ९३. सा. २-५। ९४. सा. ८-८। ९५. सा. १-१५८।
९६. सा. १-१९१। ९७. सा. ६-४। ९८. सा. १-२८३। ९९. सा. १-२७४।
१. सा. १०-९८। २. सा. १-२७४। ३ सा. १०-९८। ४ सा. १०-१८३।
५. सा. १-२। ६. सा. १-१९६। ७. सा. ९-३३। ८. सा. १-२३।
९. सा. १-९८। १०. सा. १०-१३९। ११. सा १-२३। १२. सा. १-९८।
१३. सा. १०-१३९। १४. सा. १-२३। १५. सा. १-२२३।

दूरि--दूरि जब लौं जरा[१६]। भव-दुख दूरि नसावत[१७]।
पाछे--परत सबनि के पाछे[१८]।

स्थितिवाचक रूपों के समान सूरदास ने दोहरे दिशावाचक क्रिया-विशेषणों के भी प्रयोग किये हैं, यद्यपि इनकी संख्या भी अपेक्षाकृत कम है; जैसे--

इत-उत—पग न इत-उत धरन पावत[१९]। ते इत-उत नहिं चाहत[२०]। इत-उत देखि द्रौपदी टेरी[२१]।

जित-तित--जित-तित गोता खात[२२]। जित-तित हरि पर-धन[२३]।

ख. कालवाचक क्रियाविशेषण--इसके तीन भेद होते हैं- क्ष. समयवाचक, त्र. अवधिवाचक और ज्ञ. पौनःपुन्यवाचक। इनमें से प्रथम दो भेदों की संख्या सूर-काव्य में अंतिम से बहुत अधिक हैं।

अ. समयवाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में तीस से भी अधिक है। इनमें से मुख्य रूप यहाँ संकलित हैं जिनमें कुछ बलात्मक भी हैं; जैसे—

अगमनै—सो गई अगमनै[२४]।
अब—अब लाग्यौ पछितान[२५]। तकै अब सरन तेरी[२६]। अब बारि तुम्हारी[२७]।
अबहीं—कै (प्रभु) अबहीं निस्तारौ[२८]।
अबै - (जानकी) निसाचर के संग अबै जात हौं देखी[२९]।
आगैं—पाछैं भयौ न आगैं ह्वैहै[३०]।
आज तैं—(यह गाइ) आज तैं आप आगैं दई[३१]।
आजु--आजु गह्यौ हम पापी एक[३२]।
आजुही--भावै परौ आजुही यह तन[३३]।
कब - कब मोसौं पतित उधार्यौ[३४]। ऐसी कब करिहौ गोपाल[३५]। भक्ति कब करिहौ[३६]।
कबहुँ— भवसागर में कबहुँ न झूकै[३७]। हृदय की कबहुँ न जरनि घटी[३८]।
कबहुँक—कबहुँक तृन बूड़ै पानी में, कबहुँक सिला तरै[३९]। कबहुँक भोजन लहौं... कबहुँक भूख सहौं .. कबहुँक चढ़ौं तुरंग....कबहुँक भार बहौं[४०]।
कबहूँ—समय न कबहूँ पावै[४१]। कबहूँ...तृप्ति न पावत प्रान[४२]। कबहूँ नहिं आयौ[४३]।

१६. सा. १-३१५। १७. सा- २-१७। १८. सा. १-१३६। १९. सा. १-९९।
२०. सा. १-२१०। २१. सा. १-२५०। २२. सा. १-१७५। २३. सा. १-२१६।
२४. सा. ८०७। २५. सा. १-१०१। २६. सा. १-११०। २७. सा. १-११८।
२८. सा. १-१३९। २९. सा. ९-६४। ३०. सा. १-९६। ३१. सा. १-५१।
३२. सा. ६-४। ३३. सा. २-३३। ३४. सा. १-१३२। ३५. सा. १-१८९।
३६. सा. १-३२९। ३७. सा. १-३६। ३८. सा. १-९८। ३९. सा. १-१०५।
४०. सा. १-१६१। ४१. सा. १-४०। ४२. सा. १-१०३। ४३. सा. १-१०८।

ज़ब—जब गज-चरन ग्राह गहि राख्यौ[४४]। जब सुन्यौ बिरद यह[४५]।

जबहीं—द्रुपद-सुता कौ मिट्यौ महादुख जबहीं सो हरि टेरि पुकार्यौ[४६]।

जबै—जबै हिरनाकुस मार्यौ[४७]।

ततकाल—सुमिरत ही ततकाल कृपानिधि बसन-प्रवाह बढ़ायौ[४८]। कह दाता जो द्रवै न दीनहिं देखि दुखित ततकाल[४९]।

ततकालहिं—ततकालहिं तब प्रगट भए हरि[५०]।

ततछन—सो ततछन सारिखे सँवारी[५१]। हति गज...ततछन सुख उपजाए[५२]।

ततछनही—तामैं तैं ततछनही काढ्यौ[५३]।

तब—तब धीरज मन आयौ[५४]। तब कुंती बिनती उच्चारी[५५]।

तबै—उचित अपनी कृपा करिहौ, तबै तौ बन जाइ[५६]।

तुरत—संकट परैं तुरत उठि धावत[५७]। लागि पुकार तुरत छुटकायौ[५८]। सगर के पुत्र, कीन्हे सुरसरि तुरत पवित्र[५९]।

पहिलैं—मन ममता-रुचि सौं रखवारी पहिलैं लेहु निबेरि[६०]।

पहिलैं ही—मैं तौ पहिलैं ही कहि राख्यौ[६१]। सरबस मैं पहिलैं ही वार्यौ[६२]।

पहिलै—पहिलै हौं ही हो तब एक[६३]।

पाछैं—पाछैं भयौ न आगे ह्वैहै[६४]।

पुनि—पुनि अघ-सिंधु बढ़त है[६५]। नैंकु चूक तैं यह गति कीनी, पुनि बैंकुंठ निवास[६६]। पुनि जीतौ, पुनि मरतौ[६७]।

पूर्व—कृपा करौ ज्यौं पूर्व करी[६८]।

प्रथम—जिहिं सुत कैं हित बिमुख गोबिंद तैं प्रथम तिहीं मुख जार्यौ[६९]।

फिरि—छः दस अंक फिरि डारै[७०]। फिरि औटाए स्वाद जात है[७१]। पत्ता फिरि न लागै डार[७२]।

फेरि—तौ हौं अपनी फेरि सुधारौं[७३]। फेरि परैगी भीर[७४]। सुमारग फेरि चलैंगौ[७५]।

---

४४. सा. १-१०९ । ४५. सा. १-१२५ । ४६. सा. १-१७२ । ४७. सा. १-१८० ।
४८. सा १-१०९ । ४९. सा. १-१५९ । ५०. सा. १-१०९ । ५१. सा. १-३० ।
५२. सा. ८-६ । ५३. सा. २-३० । ५४. सा. १-१२५ । ५५. सा. १-२८१ ।
५६. सा. १-१२६ । ५७. सा. १-९ । ५८. सा. १-११३ । ५९. सा. ९-९ ।
६०. सा. १-५१ । ६१. सा. ४-५ । ६२. सा. १०-९२ । ६३. सा. २-३८ ।
६४. सा. १-९६ । ६५. सा. १-१०७ । ६६. सा. १-१३२ । ६७. सा. १-२०३ ।
६८. सा. १-२६८ । ६९. सा. १-३३६ । ७०. सा. १-६० । ७१. सा. १-६३ ।
७२. सा. १-८८ । ७३. सा. १-१३६ । ७४. सा. १-१९१ । ७५. सा. १-१९३ ।

बहुरि—बहुरि वहै सुभाइ[७६]। बहुरि जगत नहिं नाचै[७७]। बहुरि पुरान अठारहं किए[७८]।

बहुरौ—बहुरौ तिन निज मन में गुने[७९]। तू कुमारिका बहुरौ होइ[८०]। बहुरौ भयौ परीच्छित राजा[८१]।

आ. अवधिवाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में समयवाचक क्रिया-विशेषणों से कुछ अधिक ही है। दोनों में अन्तर यह भी है कि अधिकांश अवधिवाचक रूपों का निर्माण सूरदास ने प्रायः दो शब्दों से किया है। इनमें 'लगि' और 'लौं' के योग से बने रूपों की संख्या अधिक है। उनके काव्य में प्रयुक्त मुख्य अवधिवाचक क्रिया-विशेषण नीचे दिये जाते हैं—

अजहुँ—अवगुन मोपै अजहुँ न छूटत[८२]।

अजहुँ लौं—अजहुँ लौं जीवत जाके ज्याए[८३]।

अजहूँ—रे मन, अजहूँ क्यौं न सम्हारै[८४]। अजहूँ करौ सत्संगति[८५]। अजहूँ चेति[८६]।

अजहूँ लगि—अजहूँ लगि...राज करै[८७]।

अजहूँ लौं— अजहूँ लौं मन मगन काम सौं[८८]।

अजौ—अजौ अपुनपौ धारौ[८९]।

आजु-काल्हि—आजु-काल्हि कोसलपति आवै[९०]।

अब ताईं—बहुत पच्यौ अब ताईं[९१]।

अब लौं—अब लौं नान्हे-नून्हे तारे[९२]।

अहनिसि—अहनिसि रहत बेहाल[९३]। अहनिसि भक्ति तुम्हारी करै[९४]। रानी सौं अहनिसि मन लायौ[९५]।

कब लगि—कब लगि फिरिहौं दीन बह्यौ[९६]। प्रान कौ पहिरौ कब लगि देत रहौं[९७]।

कबहिं लौं—अपने पाइनि कबहिं लौं मोहिं देखन धावै[९८]।

कौ लौं—जीवित रहिहौ कौ लौं भू पर[९९]। कौ लौं दुख सहियै[१]।

जब लगि—जब लगि सरबस दीजै उनकौ[२]। जब लगि जिय घट अंतर मेरै[३]। जब लगि काल न पहुँचै आइ[४]।

---

७६. सा. १-४५। ७७. सा. १-८१। ७८. सा. १-२३०। ७९. सा. १-२२८। ८०. सा. १-२२९। ८१. सा. १-२६०। ८०. सा. १-१४७। ८३. सा. १-३२०। ८४. सा. १-६३। ८५. सा. १-८६। ८६. सा. १-२६९। ८७. सा. १-३७। ८८. सा. १-१८७। ८९. सा. १-१५७। ९०. सा. ९-८२। ९१ सा. १-१४७। ९२. सा. १-९६। ९३. सा. १-१२७। ९४. सा. ३-१३। ९५. सा. ४-१२। ९६. सा. १-१६२। ९७. सा. ९-९२। ९८. सा. १०-११२। ९९. सा. १-२८४। १. सा. ३३९०। २. सा. १-१७७। ३. सा. १-२७५। ४. सा. ७-२।

जब लौं—दूरि जब लौं जरा[५]। जब लौं तन कुसलात[६]। द्वितीय सिंधु ''जब लौं मिलै न आइ[७]।

जौ लगि—जौ लगि आन न आनि पहूँचै[८]।

जौ लौं—जौ लौं रहे घोष मैं[९]।

तब तैं—तब तैं तिहिं प्रतिपारचौ[१०]।

तब लगि—तब लगि सेवा करि निश्चय सौं[११]। तब लगि हौं बैकुंठ न जैहौं[१२]।

तबहीं लगि—तबहीं लगि यह प्रीति[१३]।

तबहुँ—तबहुँ न द्वार छाँड़ौं[१४]।

तबहूँ—अमित अघ ब्याकुल तबहूँ कछु न सँभार्यौ[१५]।

तौ लगि—तौ लगि बेगि हरौ किन पीर[१६]।

तौ लौं—चिरंजीव तौ लौं दुरजोधन[१७]।

दिन-राती—दिन-राती पोषत रह्यौ[१८]।

नित—तेली के बृष सौं नित भरमत[१९]। नित नौबत द्वार बजावत[२०]।

नितहीं—नितहीं नौबत द्वार बजायौ[२१]।

नित्त—मुख कटु बचन नित्त पर-निंदा[२२]।

निरंतर—ज्यौं मधु माखी सँचति निरंतर[२३]। चरनन चित्त निरंतर अनुरत[२४]। यह प्रताप दीपक सु निरंतर लोक सकल भजनी[२५]।

निसिबासर—दुबिधा-दुंद रहै निसिबासर[२६]। बिषयासक्त रहत निसिबासर[२७]। स्रवन करौं निसिबासर[२८]।

निसिदिन—निसिदिन करत गुलामी[२९]। निसिदिन रोवै[३०]। निसिदिन होत खई[३१]।

निसादिन—पर-तिय-रति-अभिलाष निसादिन[३२]।

रातदिन—यह ब्यौहार लिखाइ रातदिन पुनि जीतौ पुनि मरतौ[३३]।

लौं—ये देवता खान ही लौं के[३४]।

संतत—संतत दीन महा अपराधी[३५]। करुनामय संतत दीनदयाल[३६]। लेते राखि '''संतत तिन सबहीं[३७]।

---

५. सा. १-३१५। ६. सा. २-२२। ७. सा. ९-११०। ८. सा. १-१९१। ९. सा. ३७६६। १०. सा. १-३३६। ११. सा. १-३२२। १२. सा. ७-५। १३. सा. १-१७७। १४. सा. १-१०६। १५. सा. १-१०२। १६. सा. १-१९१। १७. सा. १-२७५। १८. सा. १-३२५। १९. सा. १-१०२। २०. सा. १-१४१। २१. सा. १-२०५। २२. सा. २-१५। २३. सा. १-५०। २४. सा. १-१८९। २५. सा. २-२८। २६. सा. १-१४१। २७. सा. १-३०२। २८. सा. २-३३। २९. सा. १-१४८। ३०. सा. १-२५९। ३१. सा. १-२९९। ३२. सा. १-२०३। ३३. सा. १-१४८। ३४. सा. ९३३। ३५. सा. १-१७२। ३६. सा. १-२०१। ३७. सा. १-२८३।

सदा—इहिं लाजनि मरिऐ सदा[३८]। मुद्रिका ''सदा सुभग[३९]। सुमिरन-कथा सदा सुखदायक[४०]।

सदाई—सहस मथानी मथति सदाई[४१]। भक्त-हेतु अवतार सदाई[४२]। रहत स्याम आधीन सदाई[४३]।

इ. पौनःपुन्यवाचक—इस वर्ग के अंतर्गत वे शब्द आते हैं जिनमें समय-सूचक शब्दों की प्रत्यक्ष आवृत्ति अथवा 'प्रति' के योग से परोक्ष आवृत्ति हो। सूर-काव्य में ऐसे प्रयोगों की संख्या कालवाचक क्रियाविशेषण के उक्त दोनों भेदों से बहुत कम है। उनके प्रमुख प्रयोग यहाँ संकलित हैं—

अनुदिन—ज्यों मृग-नाभि कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत[४४]। प्रेम-कथा अनुदिन सुनै[४५]। संगति रहै साधु की अनुदिन भव-दुख दूरि नसावत[४६]।

छिन-छिन—बढ़ै छिन छिन[४७]। देह छिन-छिन होति छीनी[४८]। छिन-छिन करत प्रबेस[४९]।

दिन-दिन—दिन-दिन हीन-छीन भइ काया[५०]। मन की दिन-दिन उलटी चाल[५१]।

दिनप्रति—पतितनि सौं रति जोरत दिनप्रति[५२]।

नित-प्रति—सूरदास प्रभु हरिगुन मीठे नितप्रति सुनियत कान[५३]। यौं ही नित प्रति आवै जाइ[५४]।

पलपल—घटै पलपल[५५]।

पुनि पुनि—तंदुल पुनि पुनि जाँचत[५६]। पुनि पुनि योंही आवै-जावै[५७]। पुनि पुनि राव सोचै सोइ[५८]।

प्रतिदिन—प्रतिदिन जन जन कर्म सबासन नाम हरै जदुराई[५९]।

फिरि फिरि—फिरि फिरि ऐसोई है करत[६०]। एक पौ नाम बिना जग फिरि फिरि बाजी हारी[६१]। फिरि फिरि जोनि अनंतनि भरम्यौ[६२]।

बारंबार—भक्त की महिमा बारंबार बखानी[६३]। नहिं अस जनम बारंबार[६४]। बारंबार सराहि सूर-प्रभु साग बिदुर-घर खाहीं[६५]।

बारंबारी—कहति जो या बिधि बारंबारी[६६]।

---

३८. सा. १-४४। ३९. सा. १-६९। ४०. सा. १-८२। ४१. सा. ८११।
४२. सा. ८३९। ४३. सा. १२७४। ४४. सा. १-४९। ४५. सा. १-३२५।
४६. सा. २-१७। ४७. सा. १-८८। ४८. सा. १-३२१। ४९. सा. ३३९।
५०. सा. १-९८। ५१. सा. १-१२७। ५२. सा. १-१४९। ५३. सा. १-१६९।
५४. सा. ४-१५। ५५. सा. १-८८। ५६. सा. १-३१। ५७. सा. ३-१३।
५८. सा. ४-१२। ५९. सा. १-९३। ६०. सा. १-५५। ६१. सा. १-६०।
६२. सा. १-१५६। ६३. सा. १-११। ६४. सा. १-८८। ६५. सा. १-२४१।
६६. सा. ४-५।

बारबार—बारबार' 'फिरत दसौं दिसि धाए[६७] । बारबार यह बिनती करै[६८] ।

ग. परिमाणवाचक क्रियाविशेषण—सूरदास द्वारा प्रयुक्त परिमाणवाचक क्रियाविशेषणों की संख्या स्थान और कालवाचक-रूपों से बहुत कम है । परिमाण-वाचक वर्ग के जो प्रयोग उनके काव्य में मिलते हैं, स्थूल रूप से उनको निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

अ. अधिकताबोधक—निपट, बहुत, बहुतक आदि प्रयोग इस वर्ग में आते हैं ; जैसे—

निपट—अब तौ जरा निपट नियरानी[६९] ।
बहुत—भ्रम्यौ बहुत लघु धाम बिलोकत[७०] ।
बहुतक—ता रिस मैं मोहिं बहुतक मार्‍यौ[७१] ।

आ. न्यूनताबोधक—कछुक, नेकु, नैंकु आदि प्रयोग इस वर्ग में आते हैं; जैसे—

कछुक – जबै आवौं साधु-संगति कछुक मन ठहराई[७२] ।
नेक—टरत टारैं न नेक[७३] ।
नैंकु—पांडु की बधू जस नैंकु गायौ[७४] । प्रहलाद न नैंकु डरै[७५] ।

इ. तुलनावाचक—अधिक, एतौ आदि प्रयोग तुलनावाचक हैं; जैसे –

अधिक—पवन के गवन तैं अधिक धायौ[७६] ।
एतौ—तोहिं एतौ भरमायौ[७७] ।

ई. श्रेणीवाचक—'क्रम कम' या 'क्रम कम करि', 'सनै सनै'-जैसे प्रयोग इस वर्ग में आते हैं—

अ. क्रमक्रम करि—क्रम क्रम करि सबकी गति होइ' 'क्रम क्रम करि' 'पग धरै[७८] । आभूषन अंग जे बनाये, लालहिं क्रम क्रम पहिराए[७९] ।

आ. सनै सनै—सनै सनै तैं सब निस्तरै[८०] । दीनौ उनहिं उरहनौ मधुकर सनै सनै समुझाइ[८१] ।

घ. रीतिवाचक क्रियाविशेषण—सूर-काव्य में प्राप्त रीतिवाचक क्रियाविशेषणों की संख्या पर्याप्त है । सुविधा के लिए उनको मुख्य तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अ. प्रकारवाचक, आ. कारणवाचक और इ निषेधवाचक ।

अ. प्रकारवाचक—सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रकारवाचक क्रियाविशेषणों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

---

६७. सा. १-१०० । ६८. सा. ३-१३ । ६९. सा. १-५७ ।
७०. सा. १-८७ । ७१. सा. १-१५१ । ७२. सा. १-४५ । ७३. सा. १-१०६ ।
७४. सा. १-५ । ७५. सा. १-३७ । ७६. सा. १-५ । ७७. सा. ४२१० ।
७८. सा. ३-१३ । ७९. सा. १०-१८३ । ८०. सा. ३-१३ । ८१. सा. ३७७५ ।

अचानक—परै अचानक त्यौं रस लंपट[८२]। आनि अचानक अँखियाँ मीचै[८३]।

अचानक ही—कबहुँ गहत दधि-मटुकी अचानक ही॰॰ कबहुँ गहत हौ अचानक ही गगरी[८४]।

अनयास—बासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास[८५]।

अनायास—सिसुपाल सुजोधा अनायास लै जाति समोयौ[८६]। अनायास॰॰ अजगर उदर भरै[८७]। अनायास चारिउँ फल पावै[८८]।

औचक—धरै भरि अँकवारि औचक[८९]।

छरछर—छरछर मारी साँटी[९०]।

परस्पर—मोहिं देखि सब हँसत परस्पर[९१]।

मलिमलि—बस्तर मलिमलि धोए[९२]। अंग मलिमलि न्हाहिं[९३]।

सूधैं—सूधैं कहत न बात[९४]।

सेंतमेंत—कलुषी अरु मन मलिन बहुत मैं सेंतमेंत न बिकाउँ[९५]।

आ. कारणवाचक—इस वर्ग के रूपों की संख्या सूर-काव्य में सीमित है। उसमें प्रयुक्त प्रमुख कारणवाचक क्रियाविशेषण यहाँ संकलित हैं—

कत—जननि बोझ कत मारी[९६]। कत जड़ जंतु जरत[९७]। कत तू सुआ होत सेमर कौ[९८]।

कतहिं—कतहिं मरत हौ रोइ[९९]।

कहा—गरबत कहा गँवार[१]। कहा भयौ जुग कोटि जिऐं[२]।—तुमतैं कहा न होही[३]।

काहे कौं—रे नर, काहे कौं इतरात[४]।

काहैं—काहैं सुधि बिसारी[५]। काहैं सूर बिसार्‌यौ[६]।

किन—बेगि बड़ौ किन होइ[७]। तब किन मुई[८]। धावहु नंद गोहारि लगौ किन[९]।

कैसैं—सो कैसैं बिसरै[१०]। कैसैं तुव गुन गावै[११]। अब कैसैं पैयत सुख माँगे[१२]।

तातैं—अब सिर परी ठगौरी॰॰ तातैं बिबस भयौ[१३]। कुबिजा भई स्याम-रँग राती, तातैं सोभा पाई[१४]। तातैं कहत दयाल[१५]।

---

८२. सा. २-२४। ८३. सा. २८९६। ८४. सा. १४७८। ८५. सा. १-९०।
८६. सा. १-५४। ८७. सा. १-१०५। ८८. सा. १-२३३। ८९. सा. २८७६।
९०. सा. ३७५। ९१. सा. १-१७५। ९२. सा. १-५२। ९३. सा. १-३३८।
९४. सा. २-२२। ९५. सा. १-१२८। ९६. सा. १-३४। ९७. सा. १-५५।
९८. सा. १-५९। ९९. सा. १-२६२। १. सा. १-८४। २. सा. १-८९।
३. सा. १-९५। ४. सा. २-२२। ५. सा. १-१६। ६. सा. १-१०१।
७. सा. १०-७५। ८. सा. ९-७७। ९. सा. १०-७७। १०. सा. १-३७।
११. सा. १-४२। १२. सा. १-६१। १३. सा. १-४९। १४. सा. १-६३।
१५. सा. १-१०१।

यातैं--जुग-जुग बिरद यहै चलि आयौ, टेरि कहत हौं यातैं[१६]।

ग. निषेधवाचक--इस वर्ग के रूपों की संख्या भी सूर-काव्य में प्रकार और कारण-वाचकों के समान ही है। सूरदास द्वारा प्रयुक्त प्रमुख निषेधवाचक क्रियाविशेषण इस प्रकार हैं—

जनि--जनम जुआ जनि हारि[१७]। मेरी नौका जनि चढ़ौ[१८]। बालक करि इनकौ जनि जानौ[१९]।

जिनि--लोग बुरौ जिनि मानौ[२०]। कपट जिनि समझौ[२१]।

न-- मारि न सकै॰॰ जम न चढ़ावै कागर[२२]। तेरी गति लखि न परै[२३]। रवि की किरन उलूक न मानत[२४]।

नहिं हौं अजान नहिं जानौं[२५]। सुख-दुख नहिं मानै[२६]। नहिं अस जनम बारंबार[२७]।

नहीं--हरि बिनु मीत नहीं कोउ[२८]। जात नहीं बिनु खाए[२९]। मैं निरबल बित-बल नहीं[३०]।

ना--ना जानौं करिहौ कहा[३१]। ना कुछ घटै तुम्हारौ[३२]। छिन कल ना[३३]।

नाहिं--नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौ[३४]। समुझत नाहिं हठी[३५]। नाहिं काँचौ कृपानिधि हौं[३६]।

नाहिंन--काया-नगर बड़ी गुंजाइस नाहिंन कछु बढ़यौ[३७]। मारिबै की सकुच नाहिंन मोहिं[३८]। कबहूँ तुम नाहिंन गहरु कियौ॰॰ नाहिंन और बियौ[३९]।

नाहिंनै--कोटि लालच जौ दिखावहु नाहिनैं रुचि आन[४०]। मन बस होत नाहिनैं मेरे[४१]।

नाहीं--तहाँ प्रभु नाहीं[४२]। नाहीं डरत करत अनीति[४३]। सो पाएहु नाहीं पहिचानत[४४]।

मति--(नौका) मति होहि सिलाई[४५]। मुख मृदु बचन जानि मति जानहु सुद्ध पंथ पग धरतौ[४६]।

घ. अन्य रीतिवाचक क्रियाविशेषण--सूर-काव्य में कुछ ऐसे रीतिवाचक क्रिया-विशेषण मिलते हैं जो उक्त तीनों भेदों—प्रकार, कारण और निषेधवाचक—में नहीं आते।

---

१६ सा. १-१३७। १७. सा. १-३१। १८. सा. ९-४२। १९. सा. १०-८५। २०. सा. १-६३। २१. सा. ९-८७। २२. सा. १-९१। २३. सा. १-१०४। २४. सा. १-११४। २५. सा. १-११। २६. सा. १-८१। २७. सा. १-८८। २८. सा. १-८५। २९. सा. १-१००। ३०. सा. ९-४२। ३१. सा. १-१३०। ३२. सा. १-२१५। ३३. सा. १० ५४। ३४. सा. १-८६। ३५. सा. १-९८। ३६. सा. १-१०६। ३७. सा. १-६४। ३८. सा. १-१०६। ३९. सा. १-१२१। ४०. सा. १-१०६। ४१. सा. १-२०३। ४२. सा. १-११। ४३. सा. १-१०६। ४४. सा. १-११४। ४५. सा. ९-४२। ४६. सा. १-२०३।

इनको निश्चयवाचक—जैसे 'निसंदेह'— और अवधारणसूचक—जैसे 'तौ'- आदि कहा जा सकता है : जैसे—

तौ (अवधारण०)—तुम तौ तीनि लोक के ठाकुर[४७]।

निसंदेह (निश्चय०)— या विधि जौ हरि-पद उर धरिहौ, निसंदेह सूर तौ तरिहौ[४८]।

२. संबंधसूचक अव्यय—संज्ञा अथवा उसी के समान प्रयुक्त शब्द के पश्चात् आकर जो अव्यय वाक्य की क्रिया, क्रियार्थक संज्ञा अथवा इसी प्रकार के अन्य शब्द के साथ उसका संबंध जोड़ते हैं, वे 'संबंधसूचक' कहलाते हैं। प्रयोग के अनुसार इसके दो भेद होते हैं क. संबद्ध संबंधसूचक और ख. अनुबद्ध संबंधसूचक।

क. संबद्ध संबंधसूचक—ये संबंधसूचक अव्यय संज्ञा अथवा उसी के समान प्रयुक्त शब्द के मूल रूप की विभक्ति— प्रायः संबंधकारकीय विभक्ति— के अनंतर प्रयुक्त होते हैं; कभी कभी इनका विभक्तिरहित प्रयोग भी किया जाता है। सूर-काव्य में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं : जैसे—

अ. विभक्ति के पश्चात प्रयोग—उलटि भईं सब हरि की घाईं[४९]। रहै हरि के ढिग[५०]। दूरि गयौ दरसन के ताईं[५१]। भ्रमि आयौ कपि गुंजा की नाईं[५२]।

आ. विभक्तिरहित प्रयोग—सूर-काव्य में इस वर्ग के प्रयोगों की संख्या उक्त वर्ग से बहुत अधिक है : जैसे—पथिक जात मधुबन तन[५३]। गई बन तीर[५४]। भगवंत भजन बिनु[५५]। कौड़ी लगि मग की रज छानत[५६]। याहि लागि को मरै हमारैं[५७]। क्यौं नाहीं जदुपति लौं जात[५८]। सूखचौ सलिल समेत[५९]। गिरिवर सह ब्रज देहुँ बहाई[६०]। कपिध्वज सहित गिराऊँ[६१]।

ख. अनुबद्ध संबंधसूचक— ये शब्द संज्ञा अथवा समवर्गीय शब्दों के विकृत रूपों के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं; जैसे—नंद-गोप-ग्वालनि के आगैं देव कह्यौ यह प्रगट सुनाई[६२]। सबनि तन हेरी[६३]। सुरनि समेत[६४]। भक्तनि हित तुम धारी देह[६५]।

इ. समुच्चयबोधक अव्यय—इस अव्यय-रूप के दो भेद होते हैं—क. समानाधिकरण और ख. व्यधिकरण। दोनों प्रकार के पर्याप्त प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं।

क. समानाधिकरण—इस अव्यय—रूप के जो प्रयोग सूरदास ने किये हैं, उनको पुनः चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अ. संयोजक, आ. विभाजक, इ. विरोधसूचक और ई. परिणामसूचक।

---

४७. सा. १-२३९। ४८. सा. १-३४२। ४९. सा. २८२८। ५०. सा. ३५२३। ५१. सा. १-११५। ५२. सा. १-१४७। ५३. सा. ३२९५। ५४. सा. २६०४। ५५. सा. २-३। ५६. सा. १-११४। ५७. सा. ३७२४। ५८. सा. ४२२५। ५९. सा. १-३२५। ६०. सा. ९८३। ६१. सा. १-२७०। ६२. सा. ८७१। ६३. सा. १-२५२। ६४. सा. ७-२। ६५. सा. ७-२।

अ. संयोजक—इस वर्ग का मुख्य रूप 'अरु' है जिसका प्रयोग सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता है; जैसे—सुत-कलत्र कौं अपनौ जानै, अरु तिनसौं ममत्व बहु ठानै[६६]। मैं तौं एक पुरुष कौं ध्यायौ अरु एकहिं सौं चित्त लगायौ[६७]। पठियौ कहि उपनंद बुलाई अरु आनौ बृषभानु लिवाई[६८]।

आ. विभाजक—अथवा, कि, किधौं, की, कै, कैधौं, भावै आदि अव्यय इस वर्ग में आते हैं जिनमें से 'की' और 'कै' के प्रयोग सूर-काव्य में विशेष रूप से मिलते हैं; जैसे—

अथवा—जंघनि कौं कदली सम जानै अथवा कनकखंभ सम मानै[६९]।

कि—हौं उन माहँ कि वै मोहिं महियाँ.. तरु मैं बीजु कि बीज माँह तरु[७०]।

किधौं—किधौं बारि-बूँद सीप हृदय हरष पाए। किधौं चक्रवाकि निरखि पतिहिं रति मानै[७१]।

की—रसना-स्रवन नैन की होते की रसना ही इनहीं दीन्ही[७२]। स्याम-सखा तुम साँचे, की करि लियौ स्वाँग बीचहिं तैं[७३]।

कै—रंक होइ कै रानी[७४]। भृगु कै दुरबासा....कपिल कै दत्त[७५]। कै वह भाजि सिंधु में बूड़ी, कै उहिं तज्यौ परान[७६]।

कैधौं—धनुष-बान सिरान कैधौं गरुड़ बाहन खोर...चक्र काहु चौरायौ, कैधौं भुजनि बल भयौ थोर[७७]। कैधौं नव जल स्वातिचातक मन लाए...कैधौं मृग-जूथ जुरे मुरली-धुनि रीझे[७८]।

भावै—भावै परौ आजुही यह तन भावै रहौ अमान[७९]। असुर होइ भावै सुर होइ[८०]।

इ. विरोधसूचक—नतरु, नतरुक, नातरु, पै आदि रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से अंतिम दोनों का प्रयोग सूर-काव्य में अधिक मिलता है; जैसे—

नतरु—अजहूँ सिय सौंपि नतरु बीस भुज भानै[८१]।

नतरुक—तजि अभिमान राम कहि बौरे नतरुक ज्वाला तचिबौ[८२]।

नातरु—गाइ लेउ मेरे गोपालहिं नातरु काल-ब्याल लेतै है[८३]। रामहिं-राम कहौ दिन रात, नातरु जन्म अकारथ जात[८४]। मोकौं राम रजायसु नाहीं, नातरु प्रलय करौं छिन माहीं[८५]।

पै—सिवहू ताके पाछैं धाए, पै ताकौ मारन नहिं पाए[८६]। याही बिधि दिलीप तप कीन्हौ, पै गंगा जू बर नहिं दीन्हौ[८७]। बरस सहस्र भोग नृप किये, पै संतोष न आयौ हिये[८८]।

---

६६. सा. ३-१३। ६७. सा. ४-३। ६८. सा. ८८७।
६९. सा. २-१३। ७०. सा. १०-१३५। ७१. सा. ६४२। ७२. सा. १८५८।
७३. सा. ३५१६। ७४. सा. १-११। ७५. सा. ५-४। ७६. सा. ९७५।
७७ सा. १-२५३। ७८. सा. ६४२। ७९. सा. २-३३। ८०. सा. ७-२।
८१. सा. ९-९७। ८२. सा. १-५९। ८३. सा. १-७४। ८४. सा. ७-२।
८५. सा. ९-१३२। ८६. सा. १-२२६। ८७. सा. ९-९। ८८. सा. ९-१७४।

ई. परिणामसूचक—जातैं, तातैं आदि रूप इस वर्ग में आते हैं जिनमें से द्वितीय का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है; जैसे—

जातैं—कौन पाप मैं ऐसौ कियौ जातैं मोकौं सूली दियौ[८९]।

तातैं—कर्दम-मोह न मन तैं जाइ, तातैं कहियै सुगम उपाइ[९०]। सिव की लागी हरि पद तारी, तातैं नहिं उन आँखि उघारी[९१]।

ख. व्यधिकरण—इस वर्ग के अव्यय एक मुख्य वाक्य का सम्बन्ध एक या अधिक वाक्यों से जोड़ते हैं। सूर-काव्य में इनके जो प्रयोग मिलते हैं, उनके तीन भेद किये जा सकते हैं—अ. उद्देश्यसूचक, आ. संकेतसूचक और इ. स्वरूपवाचक।

अ. उद्देश्यसूचक—जातैं, जौ आदि अव्यय इस वर्ग में आते हैं जिनमें से प्रथम का प्रयोग सूरदास ने अपेक्षाकृत अधिक किया है; जैसे—

जातैं—अब तुम नाम गहौ मन नागर, जातैं काल-अगिनि तैं बाँचौ[९२]। सोई कछु कीजै दीनदयाल, जातैं जन छन चरन न छाँड़ै[९३]। जातैं रहै छत्रपन मेरौ सोइ मंत्र कछु कीजै[९४]।

जौ—अब तुम मोकौं करौ अजाँची, जौ कहुँ कर न पसारौं[९५]।

आ. संकेतसूचक—जद्यपि, जद्यपि....तऊ, जद्यपि....पै, जौ, जौ...तउ, जौ....तऊ, जौ...तौ, जौपै, जौपै...तौ, तौ...जौ, तौपै....जौ, यदि...तो आदि रूप इस वर्ग में आते हैं; जैसे—

जद्यपि—प्रकट खंभ तैं दए दिखाई जद्यपि कुल कौ दानौ[९६]।

जद्यपि··तऊ—जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटै कर कुठार पकरै, तऊ सुभाव न सीतल छाँड़ै[९७]।

जद्यपि··पै—जद्यपि रानी बरी अनेक, पै तिनतैं सुत भयौ न एक[९८]।

जौ—जौ तू रामहिं दोष लगावै, करौं प्रान कौ घात[९९]।

जौ····तउ—छहौं रस जौ धरौं आगैं तउ न गंध सुहाइ[१]।

जौ··तऊ—जौ गिरिपति मसि घोरि उदधि मैं ··तऊ नहीं मिति नाथ[२]।

जौ····तौ—जौ हरि-ब्रत निज उर न धरैगौ ··तौ को अस त्राता जु अपुन करि कर कुठावँ पकरैगौ[३]। प्रभु हित कै सुमिरौ जौ, तौ आनंद करिकै नाचौं[४]।

जौपै—जौपै रामभक्ति नहिं जानी, कह सुमेरु सम दान दिऐं[५]।

जौपै····तौ—जौपै तुमहीं बिरद बिसारौ, तौ कहौ, कहाँ जाइ करुनामय कृपिन करम कौ मारौ[६]। जौपै यही बिचार परौ तौ कत कलि-कलमष लूटन कौं मेरी देह धरी[७]।

---

८९. सा. ३-५। ९०. सा. ३-१३। ९१. सा. ४-५। ९२. सा. १-९१। ९३. सा. १-१२७। ९४. सा. १-२६९। ९५. सा. १०-३७। ९६. सा. १-११। ९७. सा. १-११७। ९८. सा ६-५। ९९. सा ९-७७। १. सा. १-५६। २. सा. १-१११। ३. सा. १-७५। ४. सा. १-८३। ५. सा. १-८९। ६. सा. १-१५७। ७. सा. १-२११।

तौ··जौ—तौ तुम कोऊ तारचौ नाहिं, जौ मोसौं पतित न दाग्यौ[८]। तौ जानौं जौ मोहिं तारिहौ[९]।

तौपै···जौ—तौपै सूर पतिव्रत साँचौ, जौ देखौं रघुराइ[१०]।

(यदि)··जौ—नाथ, (यदि) सकौ तौ मोहिं उधारी[११]।

इ. स्वरूपवाचक—जो, मनहुँ, मनु, मनौ, मानौ आदि अव्यय इस वर्ग में आते हैं जिनमें से अंतिम तीन का प्रयोग सूरदास ने बहुत किया है; जैसे—

जो—मैं निरबल बित-बल नहीं जो और गढ़ाऊँ[१२]।

मनहुँ—सदन-रज तन स्याम सोभित ··मनहुँ अंग बिभूति राजति[१३]। भुजा बाम पर कर-छबि लागति··मनहुँ कमल-दल नाल मध्य तैं उयौ[१४]।

मनु—ललित लट छिटकाति मुख पर ··मनु मयंकहिं अंक लीन्हौ सिंहिका कै सुन[१५]। मोलन कर तैं धार चलति, परि मोहनि मुख अतिहीं छबि बाढ़ी, मनु जलधर जलधार वृष्टि लघु पुनि-पुनि प्रेम-चंद पर बाढ़ी[१६]।

मनौ—स्वाति-सुत-माला बिराजत··मनौ गंगा गौरि डर हर लई कंठ लगाइ[१७]। तनक कटि पर कनक करधनि··मनौ कनक कसौटिया पर लीक सी लपटाति[१८]।

मानहुँ—कोउ मरम न पावत, मानहुँ मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख[१९]।

मानौ—मुख आँसू अरु माखन कनुका·· मानौ स्रवत सुधानिधि मोती उडुंगन अवलि समेत[२०]। त्रास तैं अति चपल गोलक सजल सोभित छीर, मीन मानौ बेधि बंसी करत जल झकझोर[२१]।

४. विस्मयादिबोधक अव्यय—सूरदास द्वारा प्रयुक्त विस्मयादिबोधक अव्ययों से आश्चर्य, तिरस्कार, शोक, हर्ष आदि सूचित होते हैं; जैसे—

अ. आश्चर्य—इंद्र हाथ ऊपर रहि गयौ, तिन कह्यौ, दई ! कहा यह भयौ[२२]।

आ. तिरस्कार—धिक् तुम, धिक् या कहिबे ऊपर[२३]।

इ. शोक—त्राहि त्राहि द्रौपदी पुकारी[२४]। त्राहि त्राहि करि ब्रजजन धाए[२५]। हा करुनामय ! कुंजर टेरचौ[२६]। हा जगदीस ! राखि इहिं अवसर[२७]। हा हा लकुट त्रास दिखरावति[२८]।

ई. हर्ष—जय जय कृपानिधान[२९]। जय जय जय चिंतामनि स्वामी[३०]। बलि

---

८. सा. १-७३। ९. सा. १-१३२। १०. सा. ९-७७। ११. सा. १-१३१। १२. सा. ९-४२। १३. सा. १०-१६९। १४. सा. ६८७। १५. सा. १०-१८४। १६. सा. ७३६। १७. सा. १०-१७०। १८. सा. १०-१८४। १९. सा. ६४८। २०. सा. ३४९। २१. सा. ३५८। २२. सा. ९-३। २३. सा. १-२८४। २४. सा. १-२४९। २५. सा. १०-५१। २६. सा. १-११३। २७. सा. १-२४७। २८. सा. ३५६। २९. सा. १-९७। ३०. सा. १-२७४।

वलि नंददुलारे[३१] । बसन-प्रवाह बढ़चौ जब जान्यौ, साधु-साधु सबहिनि मति फेरी[३२] । साधु-साधु सुरसरी-सुवन तुम[३३] ।

वाक्य-विन्यास—

वाक्य-विन्यास का अध्ययन मुख्यतः गद्य-रचनाओं को लेकर किया जाता है। कारण यह है कि वाक्य में विभिन्न शब्द-भेदों, वाक्यांशों, उपवाक्यों आदि के क्रम और पारस्परिक संबंध के विषय में जो नियम निर्धारित किये जाते हैं, वे प्रायः गद्य-रचनाओं के आधार पर ही होते हैं और गद्य-लेखक ही उनका उचित निर्वाह भी करते हैं। इसके विपरीत, पद्य-लेखक को तो इस क्रम में अपनी इच्छा या रुचि और छंद की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। अतएव न तो तत्संबंधी नियम सरलता से बनाये जा सकते हैं और न उनसे विशेष लाभ ही हो सकता है। संभवतः इसी कारण डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'व्रजभाषा-व्याकरण' नामक अपने पुराने और 'व्रज-भाषा' नामक नये ग्रंथ में वाक्य का विवेचन गद्य-रचनाओं के आधार पर ही किया है।

फिर भी किसी काव्य के वाक्य-विन्यास का अध्ययन दो विषयों - १. वाक्य में शब्दों का क्रम और उनका पारस्परिक संबंध तथा २. सरल और जटिल वाक्य-रचना— की दृष्टि से किया जाय तो निस्संदेह कुछ ऐसी बातें प्रकाश में आयँगी जिनकी ओर गद्य-रचनाओं का अध्ययन करते समय कम ही ध्यान जाता है। अतएव सूरदास के वाक्य-विन्यास का अध्ययन उक्त शीर्षकों के अंतर्गत इसी दृष्टिकोण से करना है।

१. **वाक्य में शब्दों का क्रम और उनका पारिस्परिक संबंध**—वाक्य के दो भाग होते हैं—एक, उद्देश्य और दूसरा, विधेय। उद्देश्य के अंतर्गत क्रिया का कर्त्ता और कर्त्ता के विशेषण आते हैं तथा विधेय में क्रिया, उसका कर्म और क्रियाविशेषण। वाक्य में इन्हीं पाँच के क्रम और पारस्परिक संबंध पर विचार करना है।

क. **क्रिया का कर्त्ता या मुख्य उद्देश्य**—संज्ञा, सर्वनाम, क्रियार्थक संज्ञा और संज्ञावत् प्रयुक्त कुछ विशेषण शब्द वाक्य में मुख्य उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका स्थान क्रिया के पूर्व और पश्चात्, प्रभाव की दृष्टि से जहाँ भी उपयुक्त हो, हो सकता है; जैसे—

१. मन हरि लीन्हौ **कुँवर कन्हाई**[३४]।
२. **नैना** घूँघट में न समात[३५]।

पहले वाक्य में 'कुँवर कन्हाई' उद्देश्य है जो क्रिया 'हरि लीन्हौ' के बाद प्रयुक्त हुआ है और दूसरे में 'नैना' उद्देश्य 'समात' क्रिया के पूर्व ही है।

अर्थ-बोध की दृष्टि से उक्त वाक्यों में एक और बात ध्यान देने की है। पहले में दो संज्ञा शब्द हैं—'मन' और 'कुँवर कन्हाई'। दोनों विभक्तिरहित हैं। इसलिए

---

३१. सा. १-२५७। ३२. सा. १-२५२। ३३. सा. १-२७४।
३४. सा. १८७६। ३५. सा. २३४६।

गद्य-रचना के वाक्यों का शब्द-क्रम ध्यान में रखनेवाला साधारण पाठक वाक्यारंभ में प्रयुक्त 'मन' को ही उद्देश्य या कर्त्ता मान सकता है । इस भ्रम का किसी सीमा तक निवारण यह कह कर किया जा सकता है कि चेतन व्यक्ति कुँवर कन्हाई में 'हरण करने' की जितनी क्षमता है, 'मन' में 'हरे जाने' की ही उतनी योग्यता है। अतः यहाँ 'कुँवर कन्हाई' को ही उद्देश्य मानना चाहिए। दूसरे वाक्य में दो संज्ञा शब्द हैं— 'नैना' और 'घूंघट' । इनमें से दूसरा अर्थात् 'घूँघट' अधिकरणकारक में है जिसकी ओर उसकी विभक्ति 'में' भी संकेत करती है । अतः यहाँ कर्त्ता के संबंध में कोई भ्रम नहीं उठता । सूरदास का एक तीसरा वाक्य देखिए—

बहुरि **बन** बोलन लागे **मोर**[३६] ।

यहाँ भी क्रिया का उद्देश्य या कर्त्ता 'मोर' वाक्यान्त में है, यद्यपि क्रिया के पूर्व एक और संज्ञा शब्द 'बन' प्रयुक्त हो चुका है ।

यह ठीक है कि व्रजभाषा में सभी कारकीय विभक्तियों का लोप किया जा सकता है ; परन्तु कभी-कभी, विशेषतः उद्देश्य के साथ, विभक्ति न रहने से वाक्य-रचना भ्रमोत्पादक हो जाती है । उक्त उदाहरणों में कर्त्ता के सम्बन्ध में जो भ्रम होता है, उसका यही मुख्य कारण है । इसी प्रकार नीचे के वाक्यों में भी कर्त्ता के संबंध में अनिश्चयता के लिए स्थान है—

१. भली बात सुनियत हैं आज ।
कोऊ कमलनैन पठयौ है तन बनाइ अपनौ सौ साज[३७] ।

२. **सुने ब्रज लोग** आवत **स्याम**[३८] ।

३. साठ सहस्र **सगर के पुत्र,** कीने **सुरसरि** तुरत पवित्र[३९] ।

पहले वाक्य का अर्थ है 'कमलनैन ने कोऊ को भेजा है'; परन्तु भ्रम से जान पड़ता है 'किसी कमलनैन ने भेजा है' अथवा 'किसी ने कमलनैन को भेजा है'। दूसरे में कर्त्ता है 'ब्रजलोग'; परन्तु 'स्याम' के भी कर्त्ता होने का भ्रम होता है । तीसरे में कर्त्ता है 'सुरसरि'; परन्तु 'पुत्र' की ओर भी भ्रम से संकेत किया जा सकता है ।

कुछ विभक्तियाँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग सूर ने कई कारकों में किया है । वाक्य में ऐसी विभक्ति किसी शब्द के साथ रहने पर भी भ्रम के लिए स्थान रह ही जाता है; जैसे—

जानत हैं **तुम जिनहिं** पठाए[४०] ।

यहाँ 'हि' विभक्ति कर्त्ता के साथ प्रयुक्त है जिससे वाक्य का अर्थ है—तुमको जिसने भेजा है ? परन्तु कर्त्ता कारक में 'हिं' का प्रयोग बहुत कम होता है; इसलिए भ्रम से यह अर्थ भी निकलता है—तुमने जिसको भेजा है । यह भ्रम होता ही नहीं, यदि 'हिं' विभक्ति 'जिन' के साथ न होकर 'तुम' के साथ रहती अथवा 'जिन'

३६. सा. ३२२५ । ३७. सा. ३४७६ ।
३८. सा. ३४६३ । ३९. सा. ९-९ । ४०. सा. ३५१० ।

या 'जिनहिं' का प्रयोग तुम के पहले किया जाता। इस वाक्य का यह शुद्ध **रूप एक** अन्य पद में मिलता भी है--

जानी सिद्धि तुम्हारे सिधि की **जिन तुम** इहाँ पठाए[४१]।

विभक्ति या विभक्तियों का लोप रहने पर भी शब्दों के क्रम से ही इस वाक्य का अर्थ सरलता से निकल आता है—जिन्होंने तुम्हें भेजा है। वास्तव में गद्य हो चाहे पद्य, वाक्य-रचना ऐसी होनी चाहिए कि भ्रम के लिए अवकाश ही न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब वाक्य का प्रथम संज्ञा, सर्वनाम या अन्य समकक्ष प्रयोग, उद्देश्य या कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हो। सूरदास ने अनेक पदों में ऐसा किया भी है : जैसे--

१. **कंस नृप** अक्रूर ब्रज पठाये[४२]।
२. कहति **दूतिका** सखिनि बुझाइ[४३]।
३. **मैं** तौ तुम्हें हँसतऽरु खेलतहिं छाँड़ि गई[४४]।
४. **लाल** उनींदे लोइननि आलस भरि लाए[४५]।
५. **सिखिनि** सिखर चढ़ि टेर सुनायौ[४६]।

इन वाक्यों में 'कंस नृप', 'दूतिका', 'मैं', 'लाल', 'सिखिनि' शब्द क्रियाओं के कर्त्ता हैं और इनका प्रयोग अन्य संज्ञा-सर्वनाम शब्दों से पूर्व होने के कारण वाक्यार्थ-बोध में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती।

वाक्य में प्रयुक्त अन्य शब्दों के बीच से 'कर्त्ता' को चुन लेने में कोई कठिनाई न हो, इसका दूसरा उपाय यह है कि या तो उसी के साथ अथवा अन्य समकक्ष शब्दों के साथ कारकसूचक विभक्तियों का प्रयोग किया जाय। जहाँ-जहाँ सूर ने ऐसा किया है, वहाँ-वहाँ अर्थ की स्पष्टता में कोई बाधा नहीं होती और 'कर्त्ता' को भी सरलता से बताया जा सकता है; जैसे—

१. भीजत **कुंजनि** मैं दोउ आवत[४७]।
२. **नंदहिं** कहत **हरि**[४८]।
३. कहति **सखिनि सौं राधिका**[४९]।
४. सुफलक-**सुत के संग तैं हरि** होत न न्यारे[५०]।
५. **स्यामहिं सुख दै राधिका** निज **धाम** सिधारी[५१]।

इन वाक्यों में उद्देश्य हैं क्रमशः 'दोउ', 'हरि', 'राधिका', 'हरि' और 'राधिका'। वाक्यारंभ में न प्रयुक्त होने पर भी इनके पहचाने जाने में कोई भ्रम नहीं उठता, क्योंकि इनके पूर्व प्रयुक्त अन्य समकक्ष शब्दों के साथ कारकीय विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अंतिम

---

४१. सा. ३६९३। ४२. सा. २९५६। ४३. सा. २४२५। ४४. सा. २७९१।
४५. सा. २५१२। ४६. सा. ३३२८। ४७. सा. १९९२। ४८. सा. ३१२१।
४९. सा. २६५३। ५०. सा. २९७६। ५१. सा. २६५१।

वाक्य में अवश्य 'सुख' और 'धाम' के साथ कोई विभक्ति नहीं है; परंतु 'सिधारी' क्रिया इनके अनुकूल न होकर 'राधिका' के लिंग-वचन के अनुसार है जिससे भ्रम को स्थान नहीं मिलता। ऐसी स्पष्ट वाक्य-रचना सूर काव्य में सर्वत्र मिलती है।

ख. विशेषण—इस शीर्षक के अन्तर्गत सामान्य विशेषण शब्दों के अतिरिक्त संबंध-कारकीय रूप भी आ जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि वाक्यांतर्गत उद्देश्य भाग के 'कर्त्ता' और विधेय भाग के 'कर्म' दोनों के विशेषण रूप में इनका—संबंधकारकीय रूपों और सामान्य विशेषण शब्दों का—प्रयोग किया जाता है। वाक्य योजना में विशेष्य या संबंधी शब्द के पूर्व भी सूरदास ने इनको स्थान दिया है और उनके पश्चात् भी; जैसे—

१. दीजै स्याम **काँधे कौ** कंबर[५२]।
२. **सब खोटे मधुबन के** लोग[५३]।
३. **नंद के** लाल हर्‍यो मन मोर[५४]।
४. गोबिंद बिनु कौन हरै **नैननि की** जरनि[५५]।
५. तुम आए लै जोग सिखावन, सुनत **महा** दुख दीनौ[५६]।

इन वाक्यों में विशेष्य या संबंधी शब्द हैं—कंबर, लोग, लाल, जरनि और दुख। बड़े टाइप में छपे शब्द इनके विशेषण हैं जो इनके पूर्व प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित वाक्यों में विशेषणों का प्रयोग विशेष्यों के बाद किया गया है—

१. रे मधुकर, **लंपट अन्याई**, यह सँदेस कत कहैं कन्हाई[५७]।
२. रहु रहु रे बिहंग, **बनवासी**[५८]।
३. ऊधौ, जननी **मेरी कौ** मिलि अरु कुसलात कहौगे[५९]।
४. तजी सीख **सब सास-ससुर की**[६०]।

इन वाक्यों में विशेष्य हैं—मधुकर, बिहंग, जननी और सीख, जिनके विशेषण या संबंधकारकीय रूप—लंपट-अन्याई, बनबासी, मेरी कौ और सब सास-ससुर की—उनके पश्चात् प्रयुक्त हुए हैं।

विशेषण शब्द का प्रयोग विशेष्य के पूर्व किया जाय चाहे उसके पश्चात्, परंतु होना चाहिए वह सर्वथा स्पष्ट ही—उसके विशेष्य के संबंध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए। सूरदास का एक वाक्य ऊपर दिया गया है—

साठ सहस्र सगर के पुत्र, कीने सुरसरि तुरत पवित्र[६१]।

इसमें 'साठ सहस्र' विशेषण का विशेष्य है—'पुत्र'; परंतु बीच में 'सगर' शब्द आ जाने से इसी के विशेष्य होने का भ्रम हो सकता है। ऐसे भ्रमोत्पादक विशेषण-प्रयोग

---

५२. सा. १९९१। ५३. सा. ३५९०। ५४. सा. १८७१। ५५. सा. ३३४४। ५६. सा. ३५६३। ५७. सा. ४०४९। ५८. सा. ३३३१। ५९. सा. ३४४०। ६०. सा. ३५६६। ६१. सा. ९-९।

सूर-काव्य में बहुत कम हैं, यद्यपि विशेष्य और विशेषण के बीच में अन्य शब्द अनेक वाक्यों में आये हैं; जैसे--

१. रितु बसंत अरु ग्रीषम बीते **बादर** आए **स्याम**[६१]।
....
तारे गनत **गगन** के सजनी, बीतैं चारौं जाम[६२]।

२. मित्र एक **मन** बसत **हमारैं**[६३]।

इन वाक्यों में विशेषण हैं--स्याम, गगन के और हमारैं; एवं विशेष्य हैं—बादर तारे और मन। इनके बीच में 'आए', 'गनत' और 'बसत' के आने पर भी विशेषण-विशेष्य के संबंध में कोई भ्रम नही होता।

ग. क्रिया--वाक्य के विधेयांश का सबसे महत्वपूर्ण अंग है क्रिया। गद्य-रचना में तो वाक्य की पूर्णता इसी अंग पर निर्भर रहती है और 'हाँ', 'ना'—जैसे एक-दो शब्दों के वाक्यों को छोड़कर, जो प्रायः वार्तालाप में ही प्रयुक्त होते हैं, साधारणतः क्रिया ही वाक्यों को विन्यास की दृष्टि से पूर्ण करती है। काव्य में ऐसा नहीं होता; उसमें विन्यास से बहुत अधिक ध्यान अर्थ पर रहता है और अनेक वाक्यों के अर्थ की सिद्धि क्रिया न रहने पर भी सुगमता से हो जाती है। सूरदास के काव्य में भी अनेक वाक्य ऐसे मिलते हैं जिनमें क्रिया है ही नहीं। यह बात पद के प्रथम चरण में विशेष रूप से देखने को मिलती है; जैसे—

१. बासुदेव की बड़ी बड़ाई[६४]।

२. हरि सौं ठाकुर और न जन कौ[६५]।

३. अद्भुत राम-नाम के अंक।
धर्म-अंकुर के पावन द्वै दल मुक्ति-बधू ताटंक[६६]।

४. दानव बृषपर्वा बल भारी, नाम स्त्रमिष्ठा तासु कुमारी।
तासु देवयानी सौं प्यार..............................[६७]।

५. सखी री, काके मीत अहीर[६८]।

उक्त वाक्यों में कोई क्रिया शब्द प्रयुक्त नहीं है, फिर भी अर्थ की दृष्टि से उनमें कोई कमी नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार पद के बीच बीच में भी कभी कभी ऐसे क्रिया-रहित वाक्य मिल जाते हैं, यद्यपि इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है; जैसे—

१. हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं[६९]।

---

६१. सा. ९-९। ६२. सा. ३३०९। ६३. सा. ३५४९।
६४. सा. १-३। ६५. सा. १-९। ६६. सा. १-९०। ६७. सा. ९-१७४।
६८. सा. ३१५६। ६९. सा. १-११।

२. माता-पिता-बंधु-सुत तौ लगि, जौ लगि जिहिं कौ काम।
आमिष-रुधिर-अस्थि अँग जौ लौं, तौ लौं कोमल चाम[७०]।

३. राम-राम तौ बहुरि हमारी[७१]।

इन वाक्यों में भी, क्रिया न रहने पर, अर्थ की दृष्टि से अपूर्णता नहीं है। इस प्रकार के वाक्यों का अर्थ प्रसंग के साथ बड़ी सरलता से समझ में आ जाता है। परंतु सूरदास केवल छुट-पुट वाक्यों के क्रिया-लोप से ही संतुष्ट नहीं रहे। उन्होंने पूरे-पूरे पद ऐसे लिख दिये हैं जिनमें कोई क्रिया नहीं है; जैसे—

१. हरि-हर संकर नमो नमो।
अहिसायी अहि-अंग-बिभूषन, अमित-दान, बल-बिष-हारी।
नीलकंठ, बर नील कलेवर, प्रेमपरस्पर कृतहारी।
कंठ चूड़, सिखि -चंद्र-सरोरुह, जमुनाप्रिय गंगाधारी।
सुरभि-रेनु तन, भस्म-बिभूषित, बृष-बाहन, बन बृष-चारी।
अज-अनीह-अबिरुद्ध, एकरस, यहै अधिक ये अवतारी।
सूरदास सम, रूप-नाम-गुन अंतर अनुचर-अनुसारी[७२]।

२. गिरिधर, बज्रधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ, पीतांबरधर।
संख-चक्रधर, गदा-पद्मधर, सीस मुकुटधर, अधर-सुधाधर।
कंबु कंठ धर, कौस्तुम मनि धर, बनमाला धर, मुक्त माल धर।
सूरदास प्रभु गोप बेष धर, काली फन पर चरन कमल धर[७३]।

प्रथम पद की प्रारंभिक पंक्ति में केवल 'नमो नमो' पद क्रिया वर्ग में आता है। इसके अतिरिक्त और कोई सामान्य क्रिया-रूप इन पदों में नहीं है। ऐसी क्रियारहित वाक्य-योजना सूरदास की सामासिक पद-प्रधान स्तुतियों में विशेष रूप से देखने को मिलती है। इस प्रकार की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि क्रिया न रहने पर भी वाक्य का अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती। भाषा का सामान्य कार्य, कवि के विचारों का बोध पाठक को सुगमता से करा देना होता है। क्रिया न रहने पर भी सूरदास के वाक्य इस दायित्व का निर्वाह सरलता से कर देते हैं।

वाक्य में यदि कर्त्ता या उद्देश्य एक से अधिक हैं और उनमें पहला एकवचन में है और दूसरा बहुवचन में, तो सूरदास ने क्रिया द्वितीय या अंतिम के अनुसार रखी है; जैसे—

इक मन अरु ज्ञानेंद्री पाँच, मन कौं सदा नचावैं नाच[७४]।

इस वाक्य में 'इक मन' और 'ज्ञानेन्द्री पाँच', दोनों सम्मिलित रूप से 'नचावैं' क्रिया

७०. सा. १-७६। ७१. सा. २८२८। ७२. सा. १०-१७१। ७३. सा. ५७२। ७४. सा. ५-४।

के कर्त्ता हैं; परंतु क्रिया को बहुवचन रूप द्वितीय को ध्यान में रखकर ही दिया गया है। इसी प्रकार यदि दो एकवचन कर्त्ता किसी क्रिया के साथ हैं, तो भी सूरदास ने इसको बहुवचन कर दिया है; जैसे—

मत्स्य अरु सर्प तिहिं ठौर **परगट भए**[७५]।

यहाँ 'मत्स्य' और 'सर्प', दोनों एकवचन में हैं। इन दोनों कर्त्ताओं के सम्मिलित रूप के अनुसार क्रिया 'परगट भए' बहुवचन में आयी है।

किसी वाक्य में यदि क्रिया द्विकर्मक रूप में प्रयुक्त हुई है तब मुख्य कर्म तो सदैव उसके पूर्व प्रयुक्त हुआ है और गौण कर्म कभी पहले और कभी बाद में; जैसे—

१. **ध्रुवहिं अभै पद दियौ** मुरारी[७६]।
२ अति दुख मैं **सुख दै पितु-मातहिं** सूरज-प्रभु नँद-भवन सिधारे[७७]।
३. **ललिता कौ सुख दै गए** स्याम[७८]।

इन वाक्यों में मुख्य कर्म हैं—'अभै पद', 'सुख' और 'सुख' जो तीनों कियाओं—'दियौ', 'दै'और 'दै गए' के पूर्व प्रयुक्त हुए हैं तथा गौण कर्म हैं—'ध्रुवहिं', 'पितु-मातुहिं' और 'ललिता कौ' जिनमें प्रथम और अन्तिम तो क्रियाओं के पूर्व आये हैं, परन्तु द्वितीय 'पितु-मातुहिं' को उसके पश्चात् स्थान मिला है।

विनोदी कवि सूरदास ने यदि कुछ ऐसे पद रच दिये हैं जिनमें कोई क्रिया नहीं है, तो ऐसे पदों की रचना भी उन्होंने की है जिनमें एक ही क्रिया-पद की अनेक बार आवृत्ति है; जैसे—

आँखिनि में **बसै**, जिय में **बसै** हिय में बसत निसि दिवस प्यारौ।
तन मैं **बसै**, मन मैं **बसै**, रसना हू मैं **बसै** नंदवारौ।
सुधि मैं **बसै** बुधिहू मैं **बसै** अंग अंग **बसै** मुकुटवारौ।
सूर बन **बसै**, घरहू मैं **बसै** संग ज्यौं तरंग जलतैं न न्यारौ[७९]।

घ. **अव्यय**—वाक्य में अव्यय-प्रयोगों के सम्बन्ध में एक मुख्य बात यह है कि जब तब, जौ तौ, जद्यपि तद्यपि या तथापि आदि कभी तो साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं और कभी चरण में स्थान न रह जाने पर द्वितीय रूप का लोप भी कर दिया जाता है। सूरदास ने दोनों तरह के प्रयोग किये हैं; जैसे—

१. **जब** गज गह्यौ ग्राह जल भीतर **तब** हरि कौ उर ध्याए (हौ)[८०]।
२. **जब जब** दीननि कठिन परी...**तब तब** सुगम करी[८१]।
३. **जहँ जहँ** गाढ़ परी भक्तनि कौं, **तहँ तहँ** आपु जनायौ[८२]।

७५. सा. ८-१६। ७६. सा. १-२९। ७७. सा १०-१०। ७८. सा. २४७८। ७९. सा. १९१९। ८०. सा. १-७। ८१. सा. १-१६। ८२. सा. १-२०।

४. **जहँ जहँ** जात **तहीं तहिं** त्रासत[८३] ।

५. हमता **जहाँ, तहाँ** प्रभु नाहीं[८४] ।

६. **जौ** मेरे दीनदयाल न होते ।
तौ मेरी अपत करत कौरव-सुत होत पांडवनि ओते[८५] ।

७. **ज्यौं** कपि सीत हतन हित...**त्यौं** सठ बृथा तजत नहिं कबहूँ[८६]।

जब तब, जब जब तब तब, जहँ जहँ तहँ तहँ, जहँ जहँ तहीं तहिं, जौ तौ, ज्यौं त्यौं आदि सम्बन्धवाचक अव्ययों का सामान्य प्रयोग तो सूर-काव्य में सर्वत्र मिलता ही है, इनका विलोम रूप भी कहीं कहीं दिखायी देता है; जैसे—

तब तब रच्छा करी, भगत पर **जब जब** बिपति परी[८७] ।

तीसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमें एक अव्यय के साथ उसके सामान्य सम्बन्धी शब्द का प्रयोग न करके अन्य रूप का प्रयोग किया गया है; जैसे—

१. **जब जब** भीर परी संतन कौं, चक्र सुदरसन **तहाँ** सँभारयौ[८८] ।

२. **जब लगि** जिय घट अंतर मेरैं...चिरंजीव **तौलौं** दुरजोधन[८९] ।

इन वाक्यों में 'जब जब' के साथ 'तब' या 'तब तब' का प्रयोग न करके 'तहाँ' का और 'जब लगि' के साथ 'तब लगि' के स्थान पर 'तौलौं' का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के और भी अनेक प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं; जैसे—'जद्यपि' के साथ 'तथापि' या 'तद्यपि' का प्रयोग न करके 'तउ' या 'तऊ' का प्रयोग किया गया है। इसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं ।

चौथे प्रकार के प्रयोग वे हैं जिनमें केवल प्रथम रूप का प्रयोग मिलता है और द्वितीय रूप लुप्त रहता है और एक अल्पविराम से उसका काम निकाला गया है; जैसे—

१. द्रुपद-सुता **जब** प्रगट पुकारी, गहत चीर हरि नाम उबारी[९०] ।

२. **जब लगि** डोलत बोलत चितवत, धन-दारा हैं तेरे[९१] ।

३. **जौ** तू राम-नाम-धन-धरतौ ।
अबकौं जन्म, आगिलौ तेरौ, दोऊ जन्म सुधरतौ[९२] ।

पहले वाक्य में 'तब', दूसरे में 'तब लगि' या 'तौलौं' और तीसरे में 'तौ' आदि लुप्त हैं। भाषा-संगठन की दृष्टि से यह अन्तिम रूप अपेक्षाकृत सफल समझना चाहिए ।

---

८३. सा. १-१०३ । ८४. सा. १-११ । ८५. सा. १-२५९ । ८६. सा. १-१०२ । ८७. सा. १-१६ । ८८. सा. १-१४ । ८९. सा. १-२७५ । ९०. सा. १-२८ । ९१. सा. १-३१९ । ९२. सा. १-२९७ ।

२. **सरल और जटिल वाक्य-रचना**—रचना की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सरल वाक्य और जटिल वाक्य। सरल वाक्यों में एक मुख्य क्रिया अपने उद्देश्य या कर्त्ता के साथ अपना स्वतन्त्र परिवार बनाकर विराजती है जिससे वाक्य छोटा परन्तु संगठित रहता है। जटिल वाक्यों में एक से अधिक मुख्य क्रियाएँ अपने-अपने कर्त्ताओं के साथ सम्मिलित परिवार बनाकर रहती हैं। ऐसे वाक्यों में कभी-कभी एक दो क्रियाओं के कर्त्ता लुप्त भी रहते हैं और उनके छोटे-छोटे उपवाक्यों को परस्पर सम्बन्धित करने के लिए अतिरिक्त अव्ययों की आवश्यकता पड़ती है। काव्य में साधारणतः प्रथम अर्थात् सरल वाक्यों की और गद्य में जटिल वाक्यों की अधिकता रहती है।

क. **सरल वाक्य**—सूर-काव्य में भी सर्वत्र सरल वाक्यों की ही अधिकता है। ये वाक्य चार-पाँच शब्दों से लेकर दस-बारह शब्दों तक के हैं; जैसे—

१. नमो नमो हे कृपानिधान[९३]।
२. जज्ञ-प्रभु प्रगट दरसन दिखायौ[९४]।
३. मन बच-क्रम मन, गोबिंद सुधि करि[९५]।
४. सूरजदास दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई[९६]।
५. आदर सहित बिलोकि स्याम-मुख नंद अनंदरूप लिए कनियाँ[९७]।
६. राहु ससि-सूर के बीच मैं बैठिकै मोहिनी सौं अमृत माँगि लीन्ह्यौ[९८]।

ऊपर के सभी वाक्य एक ही चरण में पूर्ण हो जाते हैं। परन्तु सूरकाव्य में कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें एक ही चरण में सूरदास ने कई सरल वाक्य रख दिये हैं। ऐसा वाक्य-विन्यास नेत्रों के सामने विषय का पूरा दृश्य अंकित कर देता है; जैसे—

प्रभु जागे। अर्जुन तन चितयौ। कब आये तुम ? कुसल खरी[९९] ?

इस चरण में चार सरल वाक्य माने जा सकते हैं। ये सभी वाक्य पूर्ण हैं; यद्यपि द्वितीय में कर्त्ता 'प्रभु' लुप्त है और अंतिम में क्रिया 'है'; परन्तु काव्य में ऐसा लोप अनुचित नहीं होता; क्योंकि कर्ता तो पूर्व वाक्य में आ ही चुका है और क्रिया-लुप्त अनेक वाक्य पूर्ण वाक्यवत् सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार नीचे के चार चरणों में से पहले, दूसरे और चौथे से तीन; और तीसरे से चार सरल वाक्य बनाये जा सकते हैं; केवल कर्त्ता जोड़ने की कहीं-कहीं आवश्यकता होगी—

जागी महरि। पुत्र-मुख देख्यौ। पुलकि अंग उर मैं न समाई।
गदगद कंठ। बोल नहिं आवै। हरषवंत ह्वै नंद बुलाइ।

९३. सा. २-३३। ९४. सा. ४-६। ९५. सा. १-३१२। ९६. सा. ९-७।
९७. सा. १०-१०६। ९८. सा. ८-८। ९९. सा. १-२६८।

आवहु कन्त । देव परसन भये । पुत्र भयौ । मुख देखौ धाइ ।
दौरि नन्द गये । सुत मुख देख्यौ । सो सुख मोपै बरनि न जाइ[१] ।

कुछ सरल वाक्यों की रचना इतने व्यवस्थित ढंग से की गयी है कि गद्य में उनका अन्वय करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती; जैसे--

(माइ) मोहन की मुरली मैं मोहिनी बसत है[२] ।

इस वाक्य में सभी आवश्यक विभक्तियाँ प्रयुक्त हैं, किसी का भी लोप कवि ने नहीं किया है। यही इस वाक्य के गद्यात्मक विन्यास का प्रमुख कारण है।

इसी प्रकार सूर-काव्य में कुछ पूरे-पूरे पद मिलते हैं जिनका वाक्य-विन्यास बिलकुल सीधा-सादा है और उनमें अधिकांश वाक्य भी सरल ही हैं; जैसे—

चलन कौं कहियत हैं हरि आज ।
अबहीं सखी देखि आई है, करत गवन कौ साज ।
कोउ इक कंस कपट करि पठयौ, कछु सँदेस दै हाथ ।
सु तौ हमारौ लिये जात है सरबस अपनैं साथ ।
सो यह सूल नाहिं सुनि सजनी सहियै धरि जिय लाज ।
धीरज जात, चलौ अबहीं मिलि, दूरि गऐं कह काज ।
छाँड़ौ जग जीवन की आसा अरु गुरुजन की कानि ।
बिनती कमलनयन सौं करियै, सूर समै पहचानि[३] ।

ख. जटिल वाक्य—सूरदास के जटिल वाक्यों की रचना भी सरल वाक्यों के समान ही सीधी-सादी है। साधारणतः एक या दो चरणों में उनके जटिल वाक्य पूर्ण हो जाते हैं। समस्त सूर-काव्य में बहुत थोड़े वाक्य ऐसे हैं जो एक चरण में समाप्त नहीं होते। पहले स्कंध का यह वाक्य तीन चरणों में समाप्त हुआ है।

लै लै ते हथियार आपने, सान धराए त्यौं ।
जिनके दारुन दरस देखि के पतित करत म्यौं म्यौं ।
दाँत चबात चले जमपुर तैं धाम हमारे कौं[४] ।

इस वाक्य में दूसरे चरण का अंश 'जिनके दारुन दरस देखि कै पतित करत म्यौं-म्यौं' विशेषण उपवाक्य है जिसका विशेष्य है 'ते'। इतना जान लेने पर पूरे वाक्य का अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। जटिल परन्तु सरल वाक्यों का यह अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है—

१. सा. १०-१३। २. सा. १३६७। ३. सा. २९८३।
४. सा. १-१५१।

जहाँ सनक सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि लीजै[५]।

यह वाक्य चार चरणों में पूरा होता है और इसमें नौ उपवाक्य तक बनाये जा सकते हैं; फिर भी अर्थ स्पष्ट है और विन्यास भी सुन्दर है।

सूरदास की रचना में अपवादस्वरूप ही ऐसे जटिल वाक्य मिलते हैं जो एक पूरे चरण से आगे बढ़कर दूसरे चरण के मध्य में समाप्त हुए हों। 'सूरसागर' के दूसरे स्कन्ध में इस प्रकार का एक उदाहरण है—

मेरैं जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान।
स्रवन करौं निसि बासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन[६]।

यहाँ दूसरे चरण के अन्त में दिया गया 'सूर तुम्हारी आन' वास्तव में एक स्वतंत्र और सरल वाक्य है। इसको हटा देने पर मुख्य जटिल वाक्य दूसरे चरण के मध्य में 'हित सौं' के बाद ही समाप्त हो जाता है।

व्याकरण में गद्य-रचना के वाक्य-विश्लेषण के उद्देश्य से जटिल वाक्यों को संयुक्त और मिश्रित, दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। परन्तु काव्य के जटिल वाक्यों की चर्चा करते समय इन भेदों को ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं है। सामान्य जटिल वाक्य के अन्तर्गत जो उपवाक्य रहते हैं, वे मुख्यतः छः प्रकार के होते हैं—अ. प्रधान उपवाक्य, आ. प्रधान के समानाधिकरण उपवाक्य, इ. संज्ञा उपवाक्य, ई विशेषण उपवाक्य, उ. क्रियाविशेषण उपवाक्य, और ऊ. संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण उपवाक्यों के सामानाधिकरण उपवाक्य। यह आवश्यक नहीं कि 'सूर-काव्य' के प्रत्येक जटिल वाक्य में उक्त छहों प्रकार के उपवाक्य मिल सकें; क्योंकि काव्य में साधारणतः एक ऐसे वाक्य में दो से लेकर तीन चार तक ही उपवाक्यों का प्रयोग सूरदास ने किया है।

अ. प्रधान उपवाक्य—वाक्य में प्रधान उपवाक्य का स्थान निश्चित नहीं रहता; अन्य उपवाक्यों के पहले अर्थात् वाक्यारंभ में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और अंत में भी; जैसे—

१. जब जब दुखी भयौ, तब तब कृपा करी बलबीर[७]।

२. तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी।
जिनकें बस अनिमिष अनेक गन अनुचर आज्ञाकारी[८]।

पहले वाक्य का प्रधान उपवाक्य, 'तब तब कृपा करी बलबीर' अंत में और दूसरे का 'तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी' आरंभ में रखा गया है।

५. सा. १-३३७। ६. सा. २-३३। ७. सा. १-१७। ८. सा. १-१६३।

आ. प्रधान का समानाधिकरण—सूरदास के जिन जटिल वाक्यों में प्रधान उप-वाक्य के समानाधिकरण मिलते हैं, वे बहुत सरल हैं, जैसे—

१. कर कंपै, **कंकन नहिं छूटै**[९]।

२. सुरनि हित हरि कच्छप रूप धर्‌यौ, **मथन करि जलधि अमृत निकार्‌यौ**[१०]।

इ. संज्ञा उपवाक्य—सूरदास के जटिल वाक्यों में जब संज्ञा उपवाक्य मिलता है, तब भी वाक्य छोटे-छोटे हैं और दो-तीन से अधिक उपवाक्यों को उसमें स्थान देने के पक्ष में कवि नहीं रहा है; जैसे—

१. इंद्र कह्यौ, **मम करौ सहाइ**[११]।

२. श्री सुक के सुनि बचन नृप लाग्यौ करन बिचार,
झूठे नाते जगत के, सुत-कलत्र-परिवार[१२]।

३. देखौ कपिराज, **भरत वै आए**[१३]।

इन वाक्यों में बड़े टाइप में छपे उपवाक्य, संज्ञा उपवाक्य हैं। दोहरे संज्ञा उप-वाक्यों का एक रोचक उदाहरण निम्नलिखित वाक्य में मिलता है—

कठिन पिनाक, कहौ किन तोर्‌यौ, (परसुराम) क्रोधित बचन सुनाए[१४]।

'परसुराम क्रोधित बचन सुनाए' हैं प्रधान उपवाक्य, 'कहौ' है पहला संज्ञा उप-वाक्य जिसमें कर्ता लुप्त है और 'कठिन पिनाक किन तोर्‌यौ' दूसरा संज्ञा उपवाक्य है प्रधान के आश्रित और दूसरे रूप में 'कहौ' वाले उपवाक्य का भी संज्ञा उपवाक्य है। ऐसे उदाहरण भी सूर-काव्य में कम ही हैं।

ई. विशेषण उपवाक्य—सूर-काव्य में सामान्य विशेषण उपवाक्यों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। उनके विशिष्ट प्रयोगों के संबंध में दो बातें महत्व की हैं। पहली तो यह कि दो-चार पदों में ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमें प्रधान उपवाक्य के साथ विशेषण उप-वाक्यों की झड़ी-सी लगा दी गयी है; जैसे—

बंदौं चरन-सरोज तिहारे।
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे।
जे पद-पदुम सदा सिव के धन, सिन्धु-सुता उर तैं नहिं टारे।
जे पद-पदुम तात रिस त्रासत, मन बच क्रम प्रहलाद सँभारे।
जे पद-पदुम परस जल पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पद-पदुम परस रिषि-पतिनी, बलि, नृग, ब्याध, पतित बहु तारे।

---

९. सा. ९-२५। १०. सा. ८-८। ११. सा. १-३४३।
१२. सा. २-२९। १३. सा. ९-१६८। १४. सा. ९-२६।

जे पद-पदुम रमत बृन्दाबन अहिसिर धरि, अगनित रिपु मारे।
जे पद-पदुम परसि ब्रजभामिनि सरबस दै, सुत-सदन बिसारे।
जे पद-पदुम रमत पांडव-दल दूत भए, सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध ताप दुख-हरन हमारे।[१५]

इस पद में 'जे पद-पदुम' से आरंभ होनेवाला प्रत्येक चरण एक विशेषण उपवाक्य है जो अंतिम चरण के प्रधान उपवाक्य के आश्रित है। ऐसी वाक्य-योजना सूरदास के बहुत कम पदों में मिलती है। एक दूसरा उदाहरण है—

स्याम कमल-पद नख की सोभा।
जे नख-चंद्र इंद्र सिर परसे, सिव-बिरंचि मन लोभा।
जे नख-चंद्र सनक मुनि ध्यावत, नहिं पावत भरमाहीं।
ते नख-चंद्र प्रगट ब्रज-जुबती, निरखि निरखि हरषाहीं।
जे नख-चंद्र फनिंद्र हृदय तैं एकौ निमिष न टारत।
जे नख-चंद्र महा मुनि नारद, पलक न कहूँ बिसारत।
जे नख-चंद्र भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति।
सूर स्याम नख-चंद्र बिमल छबि, गोपीजन मिलि दरसति[१६]।

प्रथम पद में केवल दो वाक्य हैं—एक सरल और दूसरा जटिल; परंतु इस दूसरे पद में तीन वाक्य हैं—प्रथम चरण एक सरल वाक्य है, फिर तीन चरणों का एक जटिल वाक्य है और शेष चार चरणों में दूसरा। 'जे नख-चंद्र' से आरंभ होनेवाला प्रत्येक चरण इसमें भी विशेषण उपवाक्य रूप में है। ऐसे पद भक्ति के भावावेश में लिखे जाते हैं; और वैसी स्थिति में कवि अपने आराध्य की महिमा गाता नहीं अघाता।

सूरदास के विशेषण उपवाक्यों के संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि कहीं-कहीं उन्होंने इनके संबंधसूचक शब्द 'जो' आदि लुप्त भी रखे हैं जिससे उपवाक्य एक साधारण वाक्यांश-सा जान पड़ता है; जैसे—

नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै[१७]।

इस वाक्य में 'जन' के पूर्व 'जो' न रहने से यह विशेषण उपवाक्य, वाक्यांश मात्र जान पड़ता है विशेषकर इसलिए कि इसमें क्रिया भी लुप्त है। परंतु 'जो' का संबंधी शब्द 'सो' आगे के उपवाक्य 'जम की मार सो खैहै' में रखा हुआ है; अतएव पूर्ण विशेषण उपवाक्य इस प्रकार होना चाहिए—नर बपु धारि जो जन नाहिं हरि को; क्योंकि पूरे वाक्य का अर्थ इसे इसी रूप में स्वीकार करके करना पड़ता है।

ङ. **क्रियाविशेषण उपवाक्य**—विशेषण उपवाक्यों के समान ही क्रियाविशेषण उपवाक्य भी सूर-काव्य में सर्वत्र सामान्य रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश पदों में क्रियाविशेषण उपवाक्य संबंधी शब्द की दृष्टि से पूर्ण हैं; जैसे—

१५. सा. १-९४। १६. सा. १८०६। १७. सा. १-८६।

जौलौं सत सरूप नहिं सूझत।
तौलों मृग-मद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत[१८]।

कुछ पदों में तो ऐसे वाक्य भी मिलते हैं जिनमें एक क्रियाविशेषण उपवाक्य के साथ काल या स्थान-सूचक कई कई अव्ययों का प्रयोग सूरदास ने किया है; जैसे—

जनम जनम, जब जब, जिहिं जिहिं जुग, जहाँ जहाँ जन जाइ।
तहाँ तहाँ हरि चरन-कमल-रति सो दृढ़ होइ रहाइ[१९]।

इस वाक्य में प्रथम चरण क्रियाविशेषण उपवाक्य रूप में है जिसमें बड़े टाइप में छपे अनेक अव्यय शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार के उपवाक्य सूर-काव्य में कम ही हैं, यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से यह रचना अधिक सफल है।

कहीं-कहीं ऐसे वाक्य भी सूरदास ने बनाये हैं जिनमें एक मुख्य उपवाक्य के साथ पाँच-छह क्रियाविशेषण उपवाक्यों की योजना है और क्रिया, कर्त्ता आदि की दृष्टि से सभी पूर्ण भी हैं; जैसे—

डोलै गगन सहित सुरपति अरु **पुहुमि पलटि जग परई।**
नसै धम मन बचन काय करि, सिंधु अचंभौ करई।
अचला चलै, चलत पुनि थाकै, चिरंजीवि सो मरई।
श्रीरघुनाथ प्रताप **पति**व्रत, सीता-सत नहिं टरई[२०]।

इस वाक्य में प्रधान उपवाक्य अंतिम चरण में है और प्रथम तीन चरणों में सात क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं। 'चाहे', 'बरु' या इनका पर्यायवाची संबंधी शब्द इन सबमें लुप्त है। प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से यह शैली निश्चय ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार का एक अन्य वाक्य है—

डुलै सुमेरु, शेष-सिर कंपै, पश्चिम उदै करै बासरपति।
सुनि त्रिजटी, तौहूँ नहिं छाँड़ौं मधुर मूर्ति रघुनाथ-गात-रति[२१]।

इस वाक्य में भी प्रथम चरण में तीन क्रियाविशेषण उपवाक्य हैं। संबंधी शब्द तीनों में लुप्त है; फिर भी अर्थ स्पष्ट है और ऐसे उपवाक्यों की सम्मिलित योजना ने कथन को बहुत ओजपूर्ण बना दिया है।

ऊ. **समानाधिकरण उपवाक्य**—संज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण, तीनों प्रकार के उपवाक्यों के समानाधिकरण उपवाक्य भी सूरदास के अनेक वाक्यों में मिलते हैं। संज्ञा उपवाक्य के समानाधिकरण का उदाहरण—

कह्यो सुक श्री भागवत बिचारि।
हरि की भक्ति जुगै जुग बिरधै, **आन धर्म दिन चारि**[२२]।

१८. सा २-२५। १९. सा. १-३५५। २०. सा. ९-७८। २१. सा. ९-८१।
२२. सा १-२३१।

यहाँ प्रथम चरण प्रधान वाक्य के रूप में है, द्वितीय चरण का पूर्वार्द्ध संज्ञा उपवाक्य है और उत्तरार्द्ध का उपवाक्य इसके समानाधिकरण-रूप में है।

विशेषण और क्रियाविशेषण उपवाक्यों की चर्चा करते समय पूरे पदों या तीन-चार चरणों के अनेक उद्धरण ऊपर दिये गये हैं। इनमें कई कई विशेषण और क्रिया-विशेषण उपवाक्य साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी परस्पर समानाधिकरण हैं। अतएव इनके अतिरिक्त उदाहरण देना अनावश्यक है।

सारांश यह कि सूरदास के सरल और जटिल, दोनों तरह के वाक्यों का विन्यास अर्थबोध की दृष्टि से साफ और सुंदर है। उनके काव्य में ऐसे वाक्य बहुत कम हैं जिनके उपवाक्यों के क्रम में अर्थ के लिए उलट-फेर करना पड़े। निम्नलिखित-जैसे वाक्य खोजने पर ही उनके काव्य में मिलते हैं--

तेरौ तब तिहिं दिन, कौ हितू हो हरि बिन,
सुधि करिकै कृपिन, तिहिं चित आनि।
जब अति दुख सहि, कठिन करम गहि,
राख्यौ हो जठर माहिं स्रोनित सौं सानि[२३]।

इस वाक्य में तीन उपवाक्य हैं—

क. तेरौ तब तिहिं दिन को हितू हो हरि बिन—संज्ञा उपवाक्य।

ख. सुधि करिकै कृपिन तिहिं चित आनि—प्रधान उपवाक्य।

ग. जब अति दुख सहि ... स्रोनित सौं सानि—क्रियाविशेषण उपवाक्य।

अर्थ की स्पष्टता के लिए इन उपवाक्यों का क्रम उलट कर क, ग और ख; या ख, ग और क करना पड़ता है। अन्यत्र लंबे वाक्यों में भी, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, उनकी उपवाक्य योजना सीधी-सादी है।

गठन की दृष्टि से भी सूर-काव्य में अपवादस्वरूप ही ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनके वाक्य-विन्यास को शिथिल कहा जा सके; जैसे—

संभु सुत कौ **जो बाहन है** कुहुकै असल सलावत[२४]।

यहाँ 'जो बाहन है' विशेषण उपवाक्य है जिसके बीच में आ जाने से वाक्य शिथिल हो गया है; परंतु इसका कारण दृष्टकूट पद्धति का अपनाया जाना कहा जा सकता है। अतएव अर्थबोध और गठन, दोनों की कसौटी पर उनकी वाक्य-योजना खरी उतरती है और यह भी उनके काव्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण है।

२३. सा. १-७७। २४. सा. ३६८२।

६ सूर की भाषा का व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष

आत्मानुभूति की मार्मिक व्यंजना कविता का आवश्यक गुण है। बाल्यकालीन वातावरण के संस्कार, पूर्ववर्ती साहित्य के अध्ययन, भूतकालिक जीवन में सचराचर विश्व के मनन और सामयिक विचारधारा के प्रभाव से जो अनुभूतियाँ जाग्रत होती हैं, बुद्धितत्व और कल्पनाशक्ति द्वारा पोषित करके जो व्यक्ति उन्हें व्यक्त कर सकता है, वही 'कवि' है एवं जो रचना इस प्रकार प्रत्यक्ष होती है, वही 'कविता' है। मानव की स्वभावगत सौंदर्यप्रियता उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि भावों और अनुभूतियों की यह व्यंजना अधिक से अधिक रोचक और आकर्षक रूप में हो। भावाभिव्यंजन का सर्वश्रेष्ठ साधन है 'भाषा' जिसे सार्थक, सबल और अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयत्न अनादि काल से होता आया है। काव्य के शास्त्रीय पक्ष का संबंध इसी प्रयत्न से है। भाषा के मुख्य अंग हैं 'शब्द' और 'अर्थ' जिनके कई भेद और उपभेद हैं। भाषा को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए उसके सभी अंगों-उपांगों को अलंकृत करने की आवश्यकता होती है। साहित्यशास्त्रियों ने इनकी विवेचना करके, नियम और लक्षणों के साथ तत्संबंधी परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कला-पक्ष के शास्त्रीय ग्रंथों के ये ही प्रतिपाद्य विषय हैं।

काव्यभाषा का दायित्व—भाषा और काव्य के कलापक्ष का संबंध एक दृष्टि से और भी महत्व का है। अन्य विषयों में प्रसंग का स्पष्ट रूप से बोध करा देने पर ही भाषा का दायित्व समाप्त हो जाता है; परन्तु काव्य में तो वस्तु-बोध के पश्चात् ही भाषा का कार्य, एक प्रकार से आरम्भ होता है। हल्की-गहरी, पूरी-अधूरी प्रत्येक रेखा, चित्र की संपूर्णता में योग देने के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से भी जिस प्रकार विशेष संदेश की सांकेतिक वाहिका रहती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ काव्य के शब्द, सामान्य अर्थ-बोध में योग देने के अतिरिक्त विज्ञ पाठक के लिए विशिष्टता-निर्देशक भी होते हैं। शब्द-विशेष के अर्थ में, व्युत्पत्ति के आधार पर, जो ऐतिहासिक सांकेतिकता रहती है, प्रसंग के उपयुक्त समझे जाने के कारण भाव के सूक्ष्म निर्देशन का जो दायित्व उसको सौंपा जाता है, वक्ता की भाव-भंगिमा की जो छाया उस पर प्रतिबिंबित होकर पाठक या श्रोता के मानस-पटल पर प्रत्यावर्तित होने की क्षमता रखती है और कवि के कंठ की जो वक्रता उसमें ध्वनित होती है, जिज्ञासु पाठक को सामान्य अर्थ-बोध के अतिरिक्त, इन सबसे भलीभाँति परिचित कराना भी काव्य-भाषा का ही कार्य है। सारांश यह कि कवि के शब्द उसके हृदय और मस्तिष्क के ऐसे संदेशवाहक हैं जो उसके अभीष्ट भाव को तो पूर्णतया हृदयंगम किये रहते हैं, परन्तु प्रत्येक श्रोता या पाठक के लिए उतना ही रहस्य उद्घोषित करते हैं जितने को आत्मसात् करने की मानसिक योग्यता उसमें होती है।

वे कवि के भाव-कोष के मुक्त, परन्तु सुचतुर दाता हैं और पात्रता के अनुसार ही अर्थ-दान दिया करते हैं। उनके पास जाकर कोई खाली हाथ नहीं लौटता; सभी उनकी उदारता से लाभ उठाते और चमत्कृत होते हैं; फिर भी यह कोष रिक्त नहीं होता। इस कोष को अक्षय बनाये रखने का दायित्व भी काव्यभाषा का ही है।

भाषा के व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्ष—काव्यभाषा के जिन दो कार्यों—सामान्य अर्थ-द्योतन और विशेषार्थ-बोधन की ऊपर चर्चा की गयी है, उनके आधार पर उसके अध्ययन के दो पक्ष हो जाते हैं—प्रथम है व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय है शास्त्रीय पक्ष। प्रथम के अंतर्गत विषय, पात्र और मनोभावों के विभिन्न रूपों, सामान्य और प्रयासपूर्ण शब्द-योजनाओं, मुहावरों-कहावतों के प्रयोगों आदि का अध्ययन किया जाता है। द्वितीय अर्थात् शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत उन विषयों की चर्चा की जाती है जिनकी विवेचना भाषा के अंगों के रूप में रीति या लक्षण-ग्रंथों में मिलती है; यथा - शब्दशक्ति वृत्ति, रीति, अलंकार, गुण, दोष और रस-छन्द की दृष्टि से भाषा की उपयुक्तता आदि। सूर की भाषा का अध्ययन इन विषयों के आधार पर भी करना है।

सूर का तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण—भाषा के व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान सभी कवियों को योग्यतानुसार रहता है और रचनाभ्यास के साथ-साथ बढ़ता भी जाता है। अतः इस पक्ष का अध्ययन भी सुगमता से किया जा सकता है। परन्तु शास्त्रीय पक्ष का अध्ययन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक होता है कि कवि ने काव्य-शास्त्र का कितना अध्ययन किया था और काव्य-रचना के समय उसका तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या था। इससे भाषा के तद्विषयक अध्ययन में सुगमता होती है। परन्तु सूरदास अन्य विषयों की तरह इस सम्बन्ध में भी मौन हैं। उन्होंने अपने ग्रंथों में कहीं इस बात का प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत नहीं किया है कि उन्होंने भाषा के शास्त्रीय या कला पक्ष का कितना और कब अध्ययन किया था। हाँ, 'साहित्यलहरी' के अनेक पदों में नायिकाओं और अलंकारों के नाम अवश्य मिलते हैं; जैसे—

१. सूरस्याम सुजान **सुकिया** **अघट** **उपमा** दाव[२५]।
२. सूरस्याम कोबिदा **सुभूषन** कर **बिपरीत** बनावै[२६]।
३. सूरज प्रभु **उल्लेख** सबन कौ हौ **परपतनी** हेरो[२७]।
४. सूरज प्रभु पर होहु **अनूढ़ा** **सुमिरन** जनि बिसरावो[२८]।
५. सूर **छेक** ते **गुप्त** बातहू तोकौ सब्र समुझैहै[२९]।
६. सूर सरस **सरूप** **गर्वित** दीपिकाबृत चाइ[३०]।
७. सूर **प्रस्तुत** कर **प्रसंसा** करत **षंडिता** नास[३१]।
८. सूरज प्रभु **बिरोध** सो भाषत **बस** **परजंक** निहार[३२]।

२५. लहरी, १। २६. लहरी, ५। २७. लहरी, ८। २८. लहरी, ९। २९. लहरी, १०। ३०. लहरी, १८। ३१. लहरी, २८। ३२. लहरी, ३५।

९. सूर **अनसंग** तजत तावत **अयोपतिका** सूप[३३],

इन वाक्यों में क्रमशः स्वकीया, प्रौढ़ा (कोविदा = पंडिता = प्रौढ़ा), परकीया, अनूढ़ा, सुरतगुप्ता, रूपगर्विता, खंडिता, वासकसज्जा (बस-परजंक = पर्यंक पर बसी या बैठी), आगतपतिका नायिकाओं और पूर्णोपमा (अघट = न घटने वाली = पूर्ण), प्रतीप (विपरीत उल्टा = प्रतीप) उल्लेख, स्मरण, छेकापह्नुति, आवृत्तिदीपक, अप्रस्तुत-प्रशंसा, विरोधाभास, असंगति (अनसँग = अन्य का संग अलंकारों का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त 'साहित्यलहरी' में अनेक पद ऐसे भी हैं जिनमें केवल अलंकारों के ही नाम आये हैं; जैसे—

१. सूरदास अनुराग प्रथम तें **बिषम** बिचार बिचारो[३४]।
२. सूरस्याम सुजान **सम** बस भई है रस रीति[३५]।
३. सूरजदास **अधिक** का कहियै करौ सत्रु-सिव साखी[३६]।
४. **अल्प** सूर सुजान कासो कहौ मन की पीर[३७]।
५. **उक्तगूढ़** तें भाव उदै सब सूरज स्याम सुजान[३८]।

इन वाक्यों में क्रमशः विषम, सम, अधिक, अल्प और गूढ़ोक्ति अलंकारों के नाम आये हैं। इसी प्रकार 'साहित्यलहरी' के कुछ पदों में संचारी भावों के साथ-साथ अलंकारों का नाम-निर्देश है; जैसे —

१. **एक अवल** करि रही **असूया** सूर सुतन कह चाई[३९]।
२. भूषन **सार** सूर **स्रम** सीकर सोभा उड़त अमल उजियारी[४०]।
३. सूरज **आलस जथासंख** कर बूझ सखी कुसलात[४१]।
४. कासो कहो **समूचे** भूषन **सुमिरन** करत बखानी[४२]।
५. **अपसमार** जहँ सूर सम्हारत बहु **बिषाद** उर पेरीं[४३]।

इन वाक्यों में एकावलि, सार, यथासंख्य, समुच्चय और विषाद अलंकारों के साथ-साथ असूया, श्रम, आलस्य, स्मरण और अपस्मार संचारी भावों के नाम आये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पद भी 'साहित्यलहरी' में हैं जो रस-विशेष के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किये गये जान पड़ते हैं[४४]। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि सूरदास को काव्यांगों का सामान्य ही नहीं, अच्छा ज्ञान था; परन्तु उन्होंने इसका अर्जन कब और किससे किया, यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान यह होता है कि नैत्यिक रूप से ज्ञान-भक्ति-चर्चा में रत रहनेवाले सूरदास तथा उनके वर्ग के अन्य

---

३३. लहरी, ३९। ३४. लहरी ४०। ३५. लहरी ४१। ३६. लहरी ४३।
३७. लहरी ४४। ३८. लहरी ८५। ३९. लहरी ४९। ४०. लहरी ५१।
४१. लहरी ५२। ४२. लहरी ५५। ४३. लहरी ६७।
४४. लहरी ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८ आदि।

कवियों में नैमित्यिक रूप से काव्यशास्त्र की चर्चा अवश्य होती होगी जिसको हृदयंगम कर लेना आलोच्य कवि के लिए एक सामान्य बात थी। उनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी ही; अतएव वे कूटपदों में विभिन्न अलंकारों और रसों के उदाहरण देने में सहज ही समर्थ हो सके।

काव्यशास्त्र की इस प्रकार की जानकारी रखने और 'साहित्यलहरी' की रचना करके उसका परिचय भी देनेवाले सूरदास ने अपने को न आचार्य समझा और न तद्विषयक उल्लेख ही किया। गोस्वामी तुलसीदास जब अपने को काव्यांगों के ज्ञान से सर्वथा शून्य बताते हैं—

> कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू, सकल कला सब बिद्या हीनू।
> आखर अरथ अलंकृति नाना, छंद-प्रबंध अनेक बिधाना।
> भाव-भेद रस-भेद अपारा, कवित दोष-गुन बिबिध प्रकारा।
> कबित बिबेक एक नहिं मोरे, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।
> भनिति मोर सब गुन-रहित....................[४५]।

तब उनकी विनम्रता के प्रति सम्मान-भाव रखते हुए भी, स्थूल रूप से तो यही जान पड़ता है कि वस्तुतः वे अनेक काव्यांगों के ज्ञान में पारंगत होने की ही सूचना देते हैं। और उक्त कथन को उनकी शुद्ध विनयोक्ति के रूप में ही स्वीकार कर लिया जाय, तब भी इननी ध्वनि तो उससे निकलती ही है कि वे उन सभी विषयों से परिचित अवश्य थे। सूर-काव्य में इस प्रकार की कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष स्वीकारोक्ति कहीं नहीं मिलती। 'सूरसागर' के कुछ पदों में 'कवि' शब्द का प्रयोग इस ढंग से अवश्य मिलता है कि उसका संकेत सूरदास की ओर ही जान पड़ता है; जैसे—

१. तौ जानिहौं जौ मोहिं तारिहौं सूर कूर **कवि** ढोट[४६]।
२. **कवि** उपमा बरनै कछु छोटी[४७]।
३. बारबार जमुहात सूर प्रभु इहि उपमा **कवि** कहै कहा री[४८]।
४. दामिनि घन पटतर दीजै क्यौं सकुचत **कवि** लिये नामा[४९]।
५. कनक जटित जराइ बीरे, **कवि** जु उपमा पाइ[५०]।
६. बन-बिलास ब्रज-बास रास-सुख देखि देखि सुख पावत।
   सूरदास बहुरौ बियोग गति **कुकवि** निलज ह्वै गावत[५१]।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'कवि' शब्द का संकेत निश्चय ही 'सूरसागर' के रचयिता की ओर ही है। केवल अंतिम वाक्य में सूरदास ने अपने लिए 'कुकवि' कर रहा है। उसका तात्पर्य तो यह है कि श्रीकृष्ण के व्रज-विलास की अनेक सुखद लीलाओं का चित्रण करने के

---

४५. 'मानस', बालकाण्ड, दोहा ९, पृ० १३।
४६. सा. १-१३२। ४७. सा. १०-१६५। ४८. सा. १०-२८८। ४९. सा. २१८१।
५०. सा. २८३१। ५१. सा. ४०२६।

पश्चात् अब उनके मथुरा चले जाने पर, उनके प्रिय संबंधियों और प्रेमिकाओं के वियोग-दुख का वर्णन जिसको करना पड़े, निस्संदेह वह कवि 'अभागा' ही है। अतएव इन वाक्यों में 'कवि' शब्द के प्रयोग द्वारा वह अपने को स्पष्ट रूप से 'कवि' स्वीकार करता और एक बड़े दायित्व के निर्वाह की प्रतिज्ञा में बद्ध होता है। इसी तरह के कुछ और भी वाक्य 'सूरसागर' में मिलते हैं जिनमें प्रयुक्त 'कवि' शब्द का संकेत निश्चयपूर्वक दूसरों की ओर है; जैसे—

१. लाल गोपाल बाल-छबि बरनत करिहै **कवि-कुल** हास री[५२]।
२. लोचन आँजि स्रवन-तरिवन छबि को **कवि** कहै निवारि[५३]।
३. सूरदास प्रभु-प्यारी की छबि प्रिय गावत नित,
पावत **कवि** उपमा जे ते बढ़भागे[५४]।
४. तुम अँग अँग छबि की पटतर कौं **कविअनि** बुद्धि नची[५५]।
५. सूरस्याम उर-करज कौं को बरनि सकै **कवि**[५६]।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'कवि' शब्द प्रत्यक्ष रूप से सूरदास की ओर भले ही संकेत न करता हो, परन्तु उससे यह ध्वनि तो निकलती ही है कि वह अपने को कवि वर्ग में ही समझता है। अब प्रश्न यह है कि इस शब्द के प्रयोग से, काव्य-प्रतिभा के अभिमान में, सूरदास अपने को 'कवि' घोषित करते हैं अथवा यह सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है? इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में 'सूर-काव्य' में प्रयुक्त 'कवि' शब्द में किसी प्रकार के अभिमान का भाव नहीं है और वह सामान्य स्थिति में ही प्रयुक्त हुआ है। वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रवेश के उपरांत, आराध्य की सगुण लीला-गान की प्रतिज्ञा[५७] कर लेने पर सूरदास का कवि-रूप गौण हो गया और भक्त-रूप प्रधान जिसका समर्थन इस बात से भी होता है कि 'कवि-रूप' की घोषणा करनेवाले उक्त वाक्य तो 'सूरसागर' में बहुत थोड़े हैं, परन्तु भक्त-रूप समस्त सूर-काव्य में व्याप्त है। कवि को प्रसिद्धि की चाह हो सकती है, परन्तु भक्त को तो उसके लिए भी अवकाश नहीं मिलता। यही कारण है कि काव्य-ज्ञान के सम्बन्ध में सूरदास ने जानबूझकर कोई उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी। आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन और आराध्य-युग्म की मधुर लीलाओं के वर्णन का जो प्रिय कार्य वह संपादित कर रहा था, उसमें आंतरिक अनुभूति और तन्मयता की जितनी आवश्यकता थी, उसकी तुलना में काव्य-ज्ञान की अपेक्षा सूरदास को उसके सतांश की भी नहीं थी। यह ठीक है कि ऊपर उद्धृत 'साहित्यलहरी' के उदाहरणों से कवि की तद्विषयक प्रदर्शन-प्रवृत्ति स्पष्ट होती है; परन्तु उसका सम्बन्ध कवि की विनोदी प्रकृति से अधिक है, शास्त्रज्ञता का परिचय देकर उस क्षेत्र में कीर्ति-लाभ के लोभ से बहुत कम।

---

५२. सा. १०-१३९। ५३ सा. २०२७। ५४. सा. २१७१।
५५. सा. २४४८। ५६. सा. २७३१।
५७. सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन (लीला) पद गावैं—सा. १-२।

व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन—

इस शीर्षक के अंतर्गत सूरदास की भाषा के जिन पक्षों का अध्ययन करना है, उनमें मुख्य हैं—१. विषय के अनुसार भाषा-रूप, २. पात्र के अनुसार भाषा-रूप, ३. मनोभावों के अनुसार भाषा-रूप, ४. संवादों की भाषा, ५. सूक्तियों की भाषा, ६. मुहावरों के प्रयोग और ७. कहावतों के प्रयोग।

विषय के अनुसार भाषा-रूप—

विषय की दृष्टि से समस्त सूर-काव्य—'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी'—को स्थूल रूप से ग्यारह वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— क. विनयपद और स्तुतियाँ, ख. पौराणिक कथाएँ, ग. बाललीला और माता-पिता की अभिलाषाओं का चित्रण, घ. रूप-वर्णन, ङ. संयोग-वर्णन, च. मुरली के प्रति उपालंभ, छ. नेत्रों के प्रति उपालंभ, ज. पर्वोत्सव और ऋतु-चित्रण, झ. वियोग-वर्णन और भ्रमर-गीत, ञ. स्फुट विषय : पारिभाषिक विवेचन और ट. कूट पद। प्रत्येक के अनुसार सूरदास की व्यावहारिक भाषा में क्या परिवर्तन हुआ है, इसी की सोदाहरण व्याख्या यहाँ की जायगी।

क. **विनयपद और स्तुतियाँ**—इस वर्ग में सूर-काव्य का जो अंश आता है, उसको पुनः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे सामान्य पद आते हैं जिनमें भक्त का दैन्य-प्रदर्शन है और अपनी अकिंचनता का दीन स्वर में तथा आराध्य की अति महानता और परम उदारता का गद्गद् होकर वह वर्णन करता है। ऐसे पद मुख्य रूप से 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध के पूर्वार्द्ध में संकलित हैं; जैसे—

१. स्याम गरीबनि हूँ के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति-निबाहक।
कहा बिदुर की जाति-पाँति-कुल, प्रेम-प्रीति के लाहक।
कह पांडव कैं घर ठकुराई? अरजुन के रथ-बाहक।
कहा सुदामा कैं धन हो? तौ सत्य प्रीति के चाहक।
सूरदास सठ, तातैं हरि भजि आरत के दुख-दाहक[५८]।

२. प्रभु तेरौ बचन-भरोसौ साँचौ।
पोषन-भरन बिसंभर साहब, जो कलपै सौ काँचौ[५९],

३. बिनती करत मरत हौं लाज।
नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज।

---

५८. सा. १-१९। ५९. सा. १-१२।

और पतित आवत न आँखि तर देखत अपनौ साज।
तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ तऊ न आयौ बाज।
पाछैं भयौ न आगे ह्वैहै, सब पतितनि-सिरताज।
नरकौ भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज।
अबलौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब बृथा अकाज।
साँचे बिरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज[६०]।

४. प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि कै, हौं तौ जनमत ही कौ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौं।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं, मोहूँ तैं कौ नीकौ[६१]।

५. तुम तजि और कौन पै जाउँ?
काकैं द्वार जाइं सिर नाऊँ, पर-हथ कहा बिकाउँ?
ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दिएँ अघाउँ?
अंतकाल तुम्हरें सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं ठाउँ?[६२]।

इन पदों की भाषा में प्रयास नहीं है और अर्द्धतत्सम-तद्भव शब्दों की संख्या तत्सम से कुछ अधिक है। बीच-बीच में विदेशी शब्द भी अनायास आ गये हैं। आराध्य की उदारता को नतमस्तक होकर स्वीकार करने और अपनी दीनता दिखाने के लिए आडंबर की तो कभी आवश्यकता होती नहीं; फिर जिस कवि को विश्वास हो कि उसका इष्टदेव भाव का ही भूखा है, भाव में ही बसता है[६३], वह भाषा में शब्दों के चयन और संस्कार की भी क्यों चिंता करने लगा? अतएव सीधी-सादी प्रसादगुण-युक्त भाषा में भक्त सूर अपनी दीनता दिखाता हुआ, इष्टदेव से कृपा-दृष्टि एक बार इधर भी फेरने की प्रार्थना करता है। भगवान यदि कृत्रिमता या सजावट नहीं चाहते तो भक्त भी भाषा को सजाने-सँवारने की आवश्यकता नहीं समझता। अतएव इस प्रकार के विनय-पदों में न अलंकारों का चमत्कार है और न लक्षणा-व्यंजना की कवित्वपूर्ण मार्मिकता है। इनमें तो दीन प्राणी के हृदय की करुण पुकार है जो आत्मानुभूति की तीव्रता के कारण सभी को प्रभावित करती है। अपनी अत्यधिक हीनता दिखाने के लिए इन पदों में सूरदास ने कहीं-कहीं दृष्टांत, उदाहरण—जैसे अलंकारों का सहारा भले ही लिया हो, परन्तु उसका उद्देश्य भी काव्यात्मक चमत्कार-प्रदर्शन नहीं, विषय को सरल करते हुए आत्मनिवेदन की पुष्टि करना मात्र है।

६०. सा. १-९६। ६१. सा. १-१३८। ६२. सा. १-१६४।
६३. भाव सौं भजैं, बिनु भाव मैं ये नहीं, भाव ही माँहि ध्यानहिं बसावैं—१००६।

उक्त पदों की भाषा कहीं-कहीं बड़ी सशक्त हो गयी है। कारण यह है कि भक्त का इह लोक में तिरस्कृत और सुख-सौभाग्य से वंचित हृदय ऊँचे स्वर में अपनी मूर्खता, असार-प्रियता और असफलता की कहानी विश्व के कोने-कोने में फैलाकर, अपनी पापमय सुख-लोलुपता का प्रायश्चित-सा करके, शीघ्र से शीघ्र इसलिए निर्मल हो जाना चाहता है जिससे भगवान की दयामय उदारता का वह भी पात्र हो सके। उसे न लोक-लाज का ध्यान है, न सामाजिक मर्यादा या शिष्टाचार का। जो अपने को तुच्छतम पापी घोषित और सिद्ध करने पर तुला है, उसे उच्चवर्गीय वस्त्राभूषणों की क्या चिंता ? अतएव अनलंकृत और आडंबररहित भाषा में रचे सूरदास के ये विनय-पद, दीन-निरीह के करुण स्वर की तीव्रता के समान ही, भक्तजन को आकृष्ट कर लेते हैं।

विनय-पदों के दूसरे वर्ग में वे पद आते हैं जिनमें उक्त विषयों के साथ-साथ माया के प्रपंचों और उसके प्रलोभन में फँस जाने की मूर्खता का वर्णन है; परन्तु जिसके लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयासपूर्ण भाषा का उपयोग किया गया है। ऐसे पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध के उत्तरार्द्ध और द्वितीय स्कंध में विशेष रूप से मिलते हैं; जैसे—

१. अद्भुत राम-नाम के अंक।
धर्म-अँकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति-बधू ताटंक।
मुनि-मन-हंस पच्छ जुग, जाकैं बल उड़ि ऊरध जात।
जनम-मरन काटन कौं कर्तरि तीछनि बहु बिख्यात।
अंधकार-अज्ञान-हरन कौं रबि-ससि जुगल प्रकास।
बासर-निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुखकरन, हरनदुख, बेद-पुराननि साखि।
भक्ति-ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेम निरंतर भाखि[६४]।

२. ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसानाथ, मनोरथ-दाता, हौ प्रभु दीनदयाल।
चरननि चित्त निरंतर अनुरत, रसना चरित रसाल।
लोचन-सजल, प्रेम-पुलकित तन, गर अंचल, कर माल।
इहिं बिधि लखत, झुकाइ रहे जम अपनैं हीं भय भाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि जातना कराल[६५]।

३. द्वै मैं एकौ तौ न भई।
न हरि भज्यौ, न गृह-सुख पायौ, बृथा बिहाइ गई।
ठानी हुती और कुछ मन मैं, औरै आनि ठई।

६४. सा. १-९०। ६५. सा. १-१८९।

अविगत-गति कछु समुझि परत नहिं, जो कछु करत दई।
सुत-सनेहि-तिय सकल कुटुँब मिलि, निसिदिन होत खई।
पद-नख-चंद चकोर बिमुख मन, खात अँगारमई।
बिषय-बिकार दवानल उपजी, मोह-बयारि लई।
भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहुँ न टेव गई।
होत कहा अबके पछताऐं, बहुत देर बितई।
सूरदास सेये न कृपानिधि जो सुख सकल मई[६६]।

४. चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल-कमला, रबि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्जल, पंख निर्मल, अंग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ, चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन-मध्य समाहिं।
पदुम-बास सुगंध-सीतल, लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं, जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन पर भौंरहूँ बिरमाहिं।
देखि नीर जु छिलछिलौ जग, समुझि कछु मन माहिं।
सूर क्यौं नहिं चलै उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं[६७]।

५. भजन बिनु जीवत जैसे प्रेत।
मलिन मंदमति डोलत घर घर, उदर भरन के हेत।
मुख कटु बचन, नित्त पर निंदा, संगति सुजस न लेत।
कबहूँ पाप करै पावत धन, गाड़ि धूरि तिहिं देत।
गुरु ब्राह्मन अरु संत सुजन के, जात न कबहुँ निकेत।
सेवा नहिं भगवंत-चरन की, भवन नील कौ खेत।
कथा नहीं, गुन-गीत सुजस हरि, सब काहूँ दुख देत।
ताकी कहा कहौं सुनि सूरज, बूड़त कुटुँब समेत[६८]।

इन पदों की भाषा पूर्वोद्धृत पदों से निश्चय ही अधिक तत्समता-प्रधान है। कारण यह है कि इनकी रचना अपेक्षाकृत कम भावावेश में और अधिक चिंतन के पश्चात् हुई है। अपनी अकिंचनता की चर्चा कवि ने ऐसे पदों में कम की है। वह तो जैसे अपनी जन्म-जन्म की मूर्खता के ही चिन्तन में और अपने मन के प्रबोधन में लीन है जिससे भावोद्गार कुछ दब-सा गया है। आश्वासन उसे अपने इष्टदेव की दयालुता और उदारता का है।

६६. सा. १-२९९। ६७. सा. १-३३८। ६८. सा. २-१५।

वह विश्वस्त है कि मोह-ममता के बंधनों को जब उसने जान लिया है, सांसारिक संबंधों की निस्सारता और दृश्य जगत की क्षणभंगुरता से जब वह परिचित हो गया है, तब आराध्य की कृपा से उसका उद्धार अवश्य हो जायगा। चिंतन के ऐसे क्षणों में भाषा का भी अपेक्षाकृत तत्समता-प्रधान हो जाना स्वाभाविक ही है।

विनय-पदों के तीसरे वर्ग में स्तुतियाँ आती हैं। इनकी संख्या सूर-काव्य में अधिक नहीं है; फिर भी इनका इस दृष्टि से अधिक महत्व है कि इनकी भाषा उक्त दोनों रूपों की भाषा से कहीं मिलती-जुलती है और कहीं भिन्न है; जैसे—

प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै।
जग सिरजत-पालत-संहारत, पुनि क्यों बहुरि करै।
ज्यों पानी मैं होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ।
त्योंही सब जग प्रगटत तुमतैं, पुनि तुम माहिं बिलाइ।
माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहिं कोइ।
नाम-जहाज चढ़ै जो कोऊ, तुव पद पहुँचै सोइ।
पापी नर लोहै जिमि प्रभु जू, नाहीं तासु निबाह।
काठ उतारत पार लौह ज्यों, नाम तुम्हारौ ताह।
पारस परसि होत ज्यों कंचन, लौहपनौ मिटि जाइ।
त्यों अज्ञानी ज्ञानहिं पावत, नाम तुम्हारौ गाइ।
अमर होत ज्यों संसय नासै, रहत सदा सुख पाइ।
यातैं होत अधिक सुख भगतनि, चरन-कमल चित लाइ।
थावर-जंगम सब तुम सुमिरत, सनक-सनंदन ताहीं।
ब्रह्मा-सिव अस्तुति न सकैं करि, मैं बपुरा केहि माही[६१]।

इस पद में श्रीकृष्ण के प्रति नारद की स्तुति है। इसके पूर्व ऋषि और वेद की स्तुतियाँ भी इसी ढंग की हैं, यद्यपि उनका राग भिन्न है। ये स्तुतियाँ लगभग उसी भाषा में लिखी गयी हैं जो विनय-पदों के प्रथम वर्गीय पदों की है। उद्देश्य-साम्य ही भाषा की समानता का प्रमुख कारण ह। कुछ स्तुतियाँ इससे परिष्कृत भाषा में भी सूर-काव्य में मिलती हैं; जैसे—

१. हरि जू की आरती बनी।
अति बिचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँडी सहसफनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी।

६१. सा. ४३०२।

रबि-ससि ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ-अंतर, अंजन घटा घनी।
नारदादि-सनकादि-प्रजापति-सुर-नर-असुर-अनी।
काल-कर्म-गुन ओर अंत नहिं, प्रभु-इच्छा रचनी।
यह प्रताप-दीपक सुनिरंतर, लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान में, अति बिचित्र सजनी[७०]।

२. नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारे, मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह-निसा कौ लेस रह्यौ नहिं, भयौ बिबेक बिहान।
आतम-रूप सकल घट दरस्यौ, उदय दियौ रबि-ज्ञान।
मैं-मेरी अब रही न मेरैं, छुट्यौ देह-अभिमान।
भावैं परौ आजुही यह तन, भावै रहौ अमान।
मेरैं जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान्।
स्रवन करौं निसि बासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन[७१]।

३. जय जय जय जय माधव बेनी।
जग हित प्रकट करी करुनामय, अगतिनि कौं गति दैनी।
जानि कठिन कलिकाल कुटिल नृप, संग सजी अघ-सैनी।
जनु ता लगि तरवारि त्रिबिक्रम, धरि करि कोप उपैनी।
मेरु मूठि, बर बारि पाल छिति, बहुत बित्त की लैनी।
सोभित अंग तरंग त्रिसंगम, धरी धार अति पैनी।
जा परसैं जीतें जम सैनी, जमन, कपालिक, जैनी।
एकै नाम लेत सब भाजैं, परि सो भव भय सैनी।
जा जल सुद्ध निरखि सम्मुख है, सुन्दरि सरसिज-नैनी।
सूर परस्पर करत कुलाहल, गर-सृग पहिरावैनी[७२]।

इन तीनों स्तुतियों की भाषा प्रथम वर्गीय विनय-पदों से अधिक साहित्यिक होने के कारण द्वितीय वर्ग की तत्समता-प्रधान भाषा के अधिक निकट है। भावातिरेक के बुद्धि तत्व का प्रयोग सूर-काव्य में जहाँ भी हुआ है, भाषा का यही रूप वहाँ देखा जाता है। स्तुतियों के तीसरे वर्ग की भाषा इससे भिन्न है। जैसे—

१. हरि हर संकर, नमो नमो।
अहिसायी, अहि अंग बिभूषन, अमित दान, बल बिष हारी।

७०. सा. २-२८। ७१. सा. २-३३। ७२. सा. ९-११।

नीलकंठ, बर नील कलेवर, प्रेम परस्पर कृतहारी।
कंठ चूड़, सिखि चंद सरोरुह, जमुना प्रिय, गंगाधारी।
सुरभि रेनु तन, भस्म बिभूषित, बृष-बाहन, बन बृष चारी।
अज अनीह अबिरुद्ध एकरस, यहै अधिक ये अवतारी।
सूरदास सम, रूप-नाम-गुन अंतर अनुचर अनुसारी [७३]।

२. जयति नँदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजलाल आनंदकारी।
कृष्न कमनीय मुखकमल राजिव सुरभि, मुरलिका मधुर धुनि बन बिहारी।
स्याम घन दिव्य तन पीत पट दामिनी, इंद्र धनु मोर कौ मुकुट सोहे।
सुभग उर-माल मनि कंठ चंदन अंग, हास्य ईषद जु त्रैलोक्य मोहै।
सुरभि मंडल मध्य भुज सखा अंस दियै, त्रिभंगि सुन्दर लाल अति बिराजै।
बिश्व पूरन काम कमल लोचन खरे, देखि सोभा काम कोटि लाजै।
स्रवन कुंडल लोल, मधुर मोहन बोल, बेनु धुनि सुनि सजनि चित्त मोदै।
कलप तरुवर मूल सुभग जमुना कूल, करत क्रीड़ा रंग सुख बिनोदै।
देव, किन्नर, सिद्ध, सेस सुक, सनक, सिव, देखि बिधि, ब्यास मुनिसुजस गायौ।
सूर श्री गोपाल सोइ सुख निधि नाथ, आपुनौ जानि कै सरन आयौ [७४]।

इन दोनों स्तुतियों की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग तो दूसरे वर्ग से अधिक हुआ ही है, सामासिक पद भी अनेक आये हैं। पीछे बताया जा चुका है कि सूरदास ने अपने काव्य में छोटे-छोटे सामासिक पदों का अधिक प्रयोग किया है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त होते हैं। उक्त स्तुतियों में जैसे लंबे-लंबे सामासिक पद आये हैं, वैसे सूर-काव्य में बहुत कम पदों में प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों की सामासिक प्रधानता गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के प्रारंभिक पदों की भाषा से कुछ-कुछ मेल खाती है।

ख. पौराणिक कथाएँ 'सूरसागर' के द्वितीय स्कंध से नवें तक, दशम के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवें-बारहवें स्कंधों में, श्रीमद्भागवत के क्रम-निर्वाह के उद्देश्य से, उसमें वर्णित अनेक पौराणिक कथाएँ दी गयी हैं अथवा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की उन लीलाओं का वर्णन है जिनका संबंध ब्रजवासियों से किसी रूप में नहीं रहा। भाषा की दृष्टि से सूर-काव्य के इस अंश के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—प्रथम वर्ग में 'सूरसागर' के नवें स्कंध में वर्णित राम-कथा आती है, द्वितीय में दशम को छोड़कर शेष स्कंधों में वर्णित अन्य पौराणिक कथाएँ और तृतीय में श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की लीलाएँ। राम-कथा के प्रति कवि की श्रद्धा और रुचि अन्य पौराणिक कथानकों की अपेक्षा बहुत अधिक है। संभवतः इसी कारण नवम स्कंध में संकलित राम-कथा संबंधी १५७ पदों की भाषा अपेक्षाकृत सुन्दर है। जैसे—

---

७३ सा १०-१७१। ७४ सा. ९८०।

१. धनुहीं-बान लए कर डोलत।
चारों बीर संग इक सोभित, बचन मनोहर बोलत।
लछिमन-भरत-सत्रुहन सुंदर, राजिव-लोचन राम।
अति सुकुमार, परम पुरुषारथ, मुक्ति-धर्म-धन-धाम।
कटि तट पीत पिछौरी बाँधे, काकपच्छ धरै सीस।
सर-क्रीड़ा दिन देखन आवत, नारद, सुर तैंतीस।
सिव मन सकुच, इंद्र मन आनँद, सुख-दुख बिधिहिं समान।
दिति दुर्बल अति, अदिति हृष्टचित, देखि सूर संधान [७५]।

२. कर कंपै, कंकन नहिं छूटै।
राम-सिया कर परस मगन भए, कौतुक निरखि सखी सुख लूटैं।
गावत नारि गारि सब दै दै, तात-भ्रात की कौन चलावैं।
तब कर-डोरि छुटै रघुपति जू, जब कौसिल्या माता आवैं।
पूँगीफल जुत जल निरमल धरि, आनी भरि कंडी जो कनक की।
खेलत जूप सकल जुवतिनि में, हारे रघुपति, जिती जनक की।
धरे निसान अजिर गृह-मंगल, बिप्र-बेद अभिषेक करायौ।
सूर अमित आनंद जनकपुर, सोइ सुकदेव पुराननि गायौ [७६]।

३. फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम-बेली।
अहो बंधु, काहूँ अवलोकी इहिं मग बधू अकेली।
अहो बिहंग, अहो पन्नग नृप, या कंदर के राइ।
अबकैं मेरी बिपति मिटावौ, जानकि देहु बताइ।
चंपक पुहुप-बरन तन सुंदर, मनौ चित्र अबरेखे।
हो रघुनाथ, निसाचर कैं सँग अबै जात हौं देखी।
यह सुनि धावत धरनि चरन की प्रतिमा पथ में पाई।
नैन नीर रघुनाथ सानि सो, सिव ज्यौं गात चढ़ाई।
कहुँ हिय हार, कहूँ कर-कंकन, कहुँ नूपुर, कहुँ चीर।
सूरदास बन-बन अवलोकत बिलख बदन रघुवीर [७७]।

४. मनिमय आसन आनि धरे।
दधि-मधु-नीर कनक के कोपर आपुन भरत भरे।
प्रथम भरत बैठाइ बंधु कौं, यह कहि पाइ परे।

---

७५. सा. ९-२०। ७६. सा. ९-२५। ७७. सा. ९-६४।

हौं पावौं प्रभु-पाइँ पखारन, रुचि करि सो पकरे।
निज कर चरन पखारि प्रेम-रस आनँद-आँसु ढरे।
जनु सीतल सौं तप्त सलिल दै, सुखित समोइ करे।
परसत पानि चरन पावन, दुख अँग-अँग सकल हरे।
सूर सहित आमोद चरन-जल लै करि सीस धरे[७८]।

ये चारों पद राम-कथा के विविध प्रसंगों से संबंधित हैं। इनकी भाषा विनय-पदों के द्वितीय वर्ग की तत्समता-प्रधान भाषा के अधिक निकट है। अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का पर्याप्त प्रयोग होते हुए भी कवि का झुकाव तत्सम शब्दों की ओर कुछ अधिक है। परंतु राम-कथा विषयक पदों में सर्वत्र ऐसा नहीं है। नीचे के पद की भाषा उक्त पदों से भिन्न है—

बैठी जननि करति सगुनौती।
लछिमन-राम मिलैं अब मोकौं, दोउ अमोलक मोती।
इतनी कहत, सुकाग उहाँ तैं हरी डार उड़ि बैठ्यौ।
अंचल गाँठि दई, दुख भाज्यौ, सुख जु आनि उर पैठ्यौ।
जब लौं हौं जीवौं जीवन भर, सदा नाम तव जपिहौं।
दधि-ओदन दोना भरि दैहौं, अरु भाइनि मैं थपिहौं।
अब कैं जो परचौ करि पावौं अरु देखौं भरि आँखि।
सूरदास सोने कैं पानी मढ़ौं चोंच अरु पाँखि[७९]।

इस पद में तत्सम से अधिक अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह भाषा विनय-पदों के प्रथम वर्ग की भाषा से मिलती-जुलती है। इसका कारण है माता का पुत्रों और पुत्र-वधू के प्रति उमड़ता हुआ वात्सल्य। पुत्रों की अनुपस्थिति से विकल विधवा माता कौशल्या का हृदय भाषा के संस्कार-परिष्कार की चिंता ही कैसे करता ? उसका बल तो उसका वात्सल्य है। अतएव भाषा की सरलता और स्वाभाविकता ही ऐसे हृदयस्पर्शी प्रसंगों के उपयुक्त होती और उसकी मार्मिकता बढ़ा सकती है।

अन्य पौराणिक कथाएँ जिस भाषा में लिखी गयी हैं वह बहुत साधारण और विशेषता-रहित है। 'सूरसागर' में इन कथाओं का समावेश 'श्रीमद्भागवत' के केवल क्रम-निर्वाह के उद्देश्य से किया गया था। कवि स्वभावतः इनमें कोई रुचि न ले सका और बड़े चलताऊ ढंग से उसने इनका वर्णन किया है। भाषा भी इन पदों की चलताऊ ही है; जैसे—

---

७८. सा. ९-१७१। ७९. सा. ९ १६४।

१. भारत जुद्ध होइ जब बीता। भयौ जुधिष्ठिर अति भयभीता।
गुरुकुल - हत्या मोतें भई। अब धौं कैसी करिहै दई।
करौं तपस्या, पाप निवारौं। राज-छत्र नाहीं सिर धारौं।
लोगनि तिहिं बहु बिधि समुझायौ। पै तिहिं मन संतोष न आयौ[८०]।

२. ब्रह्मा यों नारद सौं **कह्यो**। जब मैं नाभि-कमल मैं रह्यौ।
खोजत नाल कितौं जुग गयौ। तौहूँ मैं कछु मरम न लयौ।
भई अकासबानी तिहिं बार। तू ये चारि स्लोक बिचार।
इन्हें बिचारत ह्वैहै ज्ञान। ऐसी भाँति **कह्यो** भगवान[८१]।

३. ब्रह्मा रिषि मरीचि निर्मायौ। रिषि मरीचि कस्यप उपजायौ।
सुर अरु असुर कस्यप के पुत्र। भ्रात-बिमात आप मैं सत्रु।
सुर हरि-भक्त असुर हरि-द्रोही। सुर अति छमी, असुर अति कोही।
उनमैं नित उठि होइ लराई। करैं सुरनि की कृष्न सहाई[८२]।

४. ब्रह्मा, महादेव, रिषि सारे। इक दिन बैठे **सभा मँझारे**।
दच्छ प्रजापति हूँ तहँ आए। करि सनमान सबनि बैठाए।
काहू समाचार कछु पूछे। काहू सौं उनहूँ तब पूछे।
सिव की लागी हरि-पद तारी। तातैं नहिं उन आँखि उघारी[८३]।

५. रिषभदेव जब बन कौं गए। नव सुत नवौ खंड नृप भए।
भरत सो भरतखंड कौ राव। करै सदाही धर्मऽरु न्याव।
पालै प्रजा सुतनि की नाईं। पुरजन बसैं सदा सुख पाईं।
भरतहु दै पुत्रनि कौं राज। गए बन कौं तजि राज समाज[८४]।

६. इंद्र एक दिन **सभा मँझारि**। बैठ्यौ हुतौ सिंहासन डारि।
सुर, रिषि, सब गंधर्ब तहँ आए। पुनि कुबेरहू तहाँ सिधाए।
सुर गुरुहू तिहिं औसर आयौ। इन्द्र न तिहिं उठि सीस नवायौ।
सुर गुरु, जानि गर्व तिहिं भयौ। तहँ तैं फिर निज आस्रम गयौ[८५]।

७. हिरनकसिप दुस्सह तप कियौ। ब्रह्मा आइ दरस तब दियौ।
कह्यौ तोहिं इच्छा जो होइ। माँगि लेहि हमसौं बर सोइ।
राति-दिवस नभ-धरनि न मरौं। अस्त्र-सस्त्र परहार न डरौं।
तेरी सृष्टि जहाँ लगि होइ। मोकौं मारि सकै नहिं कोइ[८६]।

---

८०. सा. १-२६१। ८१. सा. २-३७। ८२. सा. ३-९। ८३. सा. ४-५।
८४. सा. ५-३। ८५. सा. ६-५। ८६. सा. ७-२।

८. असुर द्वै हुते बलवंत भारी । सुंद-उपसुन्द स्वेच्छा-विहारी ।
भगवती तिन्हैं दीन्हीं दिखाई । देखि सुन्दरि रहे दोउ लुभाई ।
भगवती **कह्यौ** तिनकौ सुनाई। जुद्ध जीतै सो मोहिं बरै आई।
तब दुहुनि जुद्ध कीन्हौ बनाई । लरि मुए तुरत ही दोउ भाई[८७] ।

९. एक बार महा परलै भयौ । नारायन आपुहिं रहि गयौ ।
नारायन जल मैं रहे सोइ । जागि **कह्यौ**, बहुरौ जग होइ ।
नाभि-कमल तैं ब्रह्मा भयौ । तिन मन मैं मरीचि कौं ठयौ।
पुनि मरीच कस्यप उपजायौ। कस्यप की तिय सूरज जायौ[८८]।

१०. ब्रह्मा हरि-पद ध्यान लगाये । तब हरि हंस-रूप धरि आए।
सबनि सो रूप देखि सुख पायौ। सबहिनि उठि क माथौ नायौ।
सनकादिकन **कह्यो** या भाइ । हमकौं दीजै प्रभु समुझाइ ।
को तुम, क्यौं करि इहाँ पधारे । परमहंस तब बचन उचारे[८९] ।

११. असुर इक समै सुक्र पै जाइ । **कह्यो**, सुरनि जीतैं किहिं भाइ ।
सुक्र **कह्यो**, तुम **जग** बिस्तरौ। करिकै **जज्ञ** सुरनि सौं लरौ ।
याही बिधि तुम्हरी जय होइ । या बिनु और उपाइ न कोइ।
असुर सुक्र की आज्ञा पाइ। लागे करन **जज्ञ** बहु भाइ[९०] ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कवि को न तो ऐसे पौराणिक विषय प्रिय ही थे और न उसने इनकी चर्चा में किसी प्रकार का श्रम ही किया। वर्णन का जो शिथिल ढंग इन पदों में मिलता है, उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है। ऐसी कथाओं के लिए जो छंद अपनाये गये हैं, वे 'सूरसागर' के मार्मिक और कवित्वमय अंशों के छंदों से भिन्न हैं। उनमें उस संगीतात्मकता का भी अभाव है जिसके कारण गीतिकाव्यकारों में सूरदास को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। इन पदों के द्रुतगामी छंद इतनी गति से विषय को आगे बढ़ाते हैं कि कवि, वर्णित और वर्ण्य विषय के संबंध तक का ध्यान नहीं रख पाता। एक मुख्य बात यह भी है कि ऐसी कथाओं का वर्णन बहुत साधारण ढंग से करने के बाद कवि ने उनकी अपने प्रिय विषयों की तरह विभिन्न दृष्टिकोणों से आवृत्ति भी नहीं की है। इससे स्पष्ट है कि कवि सूर के लिए 'श्रीमद्भागवत' का यह संबंध-निर्वाह एक भार-सा था जिसे ढोना उसे लगा तो बहुत अप्रिय; परंतु उसने किसी प्रकार प्रस्तावक के आदेश की मर्यादा निभा दी।

रूप की दृष्टि से ऐसे प्रसंगों की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक ही हुआ है; क्योंकि छोटे छंद के शिथिल वाक्यों में कवि को अपने ढंग से पूरी बात कहने का अवकाश ही नहीं मिल पाता। ऊपर के उदाहरणों में जिस प्रकार कुछ शब्द बार-

---

८७. सा. ८-११। ८८. सा. ९-२। ८९. सा. ११-४। ९०. सा. १२-२।

बार दोहराये गये हैं, उनसे भी भाषा की शिथिलता बढ़ी ही है। सारांश यह है कि इन प्रसंगों में न कवि सूर की काव्य-प्रतिभा की रमणीयता के दर्शन होते हैं, न भक्त सूर की आत्मानुभूति की तीव्रता-जन्य प्रभावोत्पादकता के और न गायक की संगीतात्मक मधुरिमा के ही।

तीसरे वर्ग में द्वारिकावासी श्रीकृष्ण की लीलाओं की गाथा है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध में इन लीलाओं की चर्चा है। इनमें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य-रूप के दर्शन होते हैं। व्रजवासी जिस प्रकार श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य रूप से तृप्त न हो सके, जान पड़ता है, उसी प्रकार सूरदास की वृत्ति भी उन लीलाओं में बहुत न रम सकी। अधिक से अधिक, इस संबंध में, यह कहा जा सकता है कि जितनी श्रद्धा राम-कथा के प्रति उन्होंने दिखायी थी, लगभग उतनी ही श्रद्धा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की इन लीलाओं के प्रति वे दिखा सके। वर्णन भी अधिकांश लीलाओं का उन्होंने गेय पदों में ही किया है। अतएव राम-कथा में भाषा के जो दो रूप दिखायी देते हैं, प्रायः वे ही द्वारकावासी श्रीकृष्ण की इन लीलाओं में भी मिलते हैं; जैसे—

१. आवहु री मिलि मंगल गावहु।
हरि रुकमिनी लिए आवत हैं, यह आनंद जदुकुलहिं सुनावहु।
बाँधहु बंदनवार मनोहर, कनक कलस भरि नीर धरावहु।
दधि-अच्छत-फल-फूल परम रुचि, आँगन चंदन चौक पुरावहु।
कदली-जूथ अनूप किसल दल, सुरँग सुमन लै मंडल छावहु।
हरद-दूब-केसर मग छिरकहु, भेरि-मृदँग-निसान बजावहु।
जरासंध-सिसुपाल नृपति तैं, जीते हैं उठि अरघ चढ़ावहु।
बल समेत तन कुसल सूर प्रभु, आए हैं आरती बनावहु[९१]।

२. बारुनी बलराम पियारी।
गौतम-सुता भगीरथ धीवर, सबहिनि तैं सुन्दर सुकुमारी।
ग्रीवा बाहु गलारत गाजत, सुख सजनी सतिभाइ सँवारी।
संकर्षन कै सदा सुहागिनि, अति अनुराग भाग बहु वारी।
बसुधातल जु बाम गिरि राजत, भ्राजत सकल लोक सुखकारी।
प्रथम समागम आनँद आगम, दूलह बर दुलहिनी दुलारी।
रति-रस रीति प्रीति परगट करि, राम काम पूरन प्रतिपारी।
सूर सुभाग उदित गोपिनि के हरि मूरति भेंटे हलधारी[९२]।

प्रथम पद श्रीकृष्ण के विवाह-प्रसंग का है और द्वितीय में बलराम-'बारुनी' की प्रेम-चर्चा है। इनकी भाषा राम-कथा के उन पदों की भाषा से मिलती-जुलती है जिनमें तत्सम शब्दों की अधिकता है और तद्भव शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम

---

९१. सा. ४१८५। ९२. सा. ४२०२।

हुआ है। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में इस प्रकार के गेय पद अधिक नहीं हैं; अधिक संख्या तो ऐसे पदों की है जिनमें कथा को वर्णनात्मक ढंग से लिखा गया है। उक्त पदों में भी संस्कृत और परिष्कृत भाषा का प्रयोग संभवतः इस कारण किया गया है कि इनमें कवि के परम आराध्य और उनके प्रिय बंधु के शुभ विवाह और प्रेम की चर्चा है जिससे कवि इतने उल्लास से भर जाता है कि प्रथम प्रसंग को लेकर कई लंबे पद रचकर ही उसको संतोष होता है। इनके अनंतर तो कवि प्रायः प्रत्येक पद में नये विषय को आरंभ करता है और उसके वर्णनात्मक ढंग से जान पड़ता है कि वह अपने काव्य को समाप्त करने की शीघ्रता में है। ऐसे पद प्रायः पौराणिक कथाओं की भाषा-शैली में लिखे गये हैं। तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की मिश्रित योजना की दृष्टि से निम्नलिखित पदों की भाषा ध्यान देने योग्य है—

१. द्विज कहियौ जदुपति सौं बात।
बेद बिरुद्ध होत कुंडिनपुर, हंस के अंस काग नियरात।
जनि हमरे अपराध बिचारहु, कन्या लिख्यो मेटि गुरु तात।
तन आतमा समरप्य तुमकौं, उपजि परी तातैं यह बात।
कृपा करहु उठि बेगि चढ़हु रथ, लगन समै आवहु परभात।
कृष्न सिंह बलि धरी तुम्हारी, लैबै कौं जंबुक अकुलात।
तातैं मैं द्विज बेगि पठायौ, नेम-धरम मरजादा जात।
सूरदास सिसुपाल पानि गहै पावक रचौं करौं अपघात[१३]।

२. चले हरि धर्म-सुवन के देस।
संतन हित भू-भार उतारन, काटन बंदि नरेस।
जब प्रभु जाइ संख-ध्वनि कीन्ही, होत नगर परबेस।
सुनि नृप बंधु सहित उठि धाए, झारत पद-रज केस।
आसन दै भोजन-बिधि पूछी, नारद सभा सुदेस।
तच्छन भीम धनञ्जय माधौ, धर्‌यो बिप्र कौ भेष।
पहुँचे जाइ राजगिरि द्वारैं, घुरै निसान सुदेस।
माँग्यौ जुद्धहिं जरासिंधु पै, छत्री कुल आवेस।
जरासंध कौं जुद्ध अर्थ, बल रहत न क्षत्री लेस।
सूरज प्रभु दिन सात बीस मैं काटे सकल कलेस[१४]।

३. ऐसी प्रीति की बलि जाउँ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाउँ।

१३. सा. ४१७१। १४. सा. ४२१४।

कर जोरे हरि बिप्र जानि कै, हित करि चरन पखारे।
अंक-माल दै मिले सुदामा, अर्धासन बैठारे।
अर्धंगी पूछत मोहन सौं, कैसे हितू तुम्हारे।
तन अति छीन मलीन देखियत, पाउँ कहाँ तैं धारे।
संदीपन कै हमऽरु सुदामा, पढ़े एक चटसार।
सूर स्याम की कौन चलावै, भक्तनि कृपा अपार[९५]।

प्रथम पद में रुक्मिणी की विनय है और अंतिम में सुदामा पर श्रीकृष्ण की कृपा देखकर कवि का उल्लास जिसके फलस्वरूप दोनों पदों की भाषा सरल और सरस हो गयी है। द्वितीय पद में सामान्य वर्णन है जिसके अनुरूप भाषा भी सामान्य ही है। इन उदाहरणों की भाषा राम-कथा के अंतर्गत 'बैठी जननि करति सगुनौती' से आरंभ होने वाले पद की भाषा के समकक्ष कही जा सकती है। पौराणिक कथा-प्रसंगों की भाषा की तुलना में तत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें कहीं कहीं कम हुआ है, परंतु वाक्य-विन्यास में उतनी शिथिलता नहीं है और न शब्दों की शिथिल आवृत्ति ही यहाँ की गयी है।

भाषा का जो सामान्य रूप पौराणिक कथाओं में दिखायी देता है, प्रायः वही रूप 'सूरसारावली' के अधिकांश भाग में मिलता है। कारण यह है कि इस काव्य में भी कवि ने विषय का बहुत चलताऊ ढंग से वर्णन किया है जिसमें रुचि और लीनता न्यून है। उदाहरणार्थ—

१. देवहुती कर्दम को दीनी तिन कीन्हों तप भारी।
बिंदु सरोवर आये माधव किये गरुड़ असवारी।
दियौ बरदान सृष्टि करिबे को अस्तुति करी प्रमान।
मेरो अंस अवतार होयगो कहि भये अंतरध्यान[९६]।

२. चार बेद लै गयौ सँखासुर जल में रह्यो छपाय।
धरि हय-ग्रीव रूप हरि मारेउ लीने बेद छुड़ाय[९७]।

३. हरिनकसिप अति प्रबल दनुज है कीन्हो तप परचंड।
तब उन बर दीन्हों चतुरानन कीन्हों अमर अखंड[९८]।

ये तो हुए पौराणिक प्रसंग जिनकी भाषा में तत्सम शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग भले ही किया गया हो, परंतु वाक्य-विन्यास बिलकुल शिथिल है। यही भाषा 'सारावली' के उन छंदों में भी मिलती हैं जिनमें श्रीकृष्ण की व्रज या परवर्ती जीवन की लीलाएं वर्णित हैं; जैसे—

९५. सा. ४२३०। ९६ सारा. न. कि. ५१-५२। ९७ सारा. न. कि. ९०। ९८ सारा. न कि. १०१।

१. गर्गराज मुनिराज महाऋषि सो बसुदेव पठायो ।
नामकरन ब्रजराज महरघर अति आनंदित आयो[११] ।
नामकरन कीन्हों दोहुन को नारायन सम भाषे ।
तुम्हरे दुःख मिटावन कारन पूरन को अभिलाषे[१] ।

२. राधा सों मिलि अति सुख उपज्यो उन पूछी इक बात ।
कहो जु आज रैन कहँ सोये हम देखे तुम जात[२] ।
तब हरि कहेउ सुनौ मृगनैनी गाय गई इक दौर ।
ताको लेन गयो गोवर्धन सोय रहेउँ तेहि ठौर[३] ।

३. कछु हमको उपहार पठायो भाभी तुम्हरे साथ ।
फाटे बसन सकुच अति लागत काढ़त नाहिन **हाथ**[४] ।
हरि अपने कर छोरि बसन को तंदुल लीन्हें **हाथ** ।
मुठ्ठी एक प्रथम जब लीन्हें खान लगे जदुनाथ[५] ।

४. **पुनि** मिथिला यक दिवस **पधारे** हरि बलदेव गोसाईं ।
गदा युद्ध दुर्योधन सिखयो नाना भेद बताई[६] ।
पुनि द्वारका पधारे निजपुर अति आनँद-सुख बाढ़्यो ।
प्रगट ब्रह्म नित बसत **द्वारका** कलह भूमि को काढ़्यो[७] ।

इन उदाहरणों की भाषा अपेक्षाकृत कम तत्समप्रधान है, परन्तु वाक्य-विन्यास की शिथिलता इनमें भी पूर्ववत् है और एक के बाद दूसरी ही पंक्ति में कुछ शब्दों की आवृत्ति भी स्थान-स्थान पर खटकती है ।

ग. **इतिवृत्तात्मक कथा-वर्णन**—श्रीकृष्ण की ब्रज-लीला के अनेक प्रसंगों का सुन्दर गेय पदों में वर्णन करने के पश्चात् कवि ने सामान्य छन्दों में उनको पुनः इति-वृत्तात्मक ढंग से लिखा है । यमलार्जुन-उद्धार, चीर-हरण, ब्रह्मा द्वारा बाल-वत्स हरण, कालिय-नाग-दमन, गोबर्धन-धारण, दान-लीला, श्रीकृष्ण-विवाह, रास-लीला, मान-लीला आदि लीलाओं को लेकर इनके विविध अंगों का वर्णन पहले तो कवि सुन्दर पदों में करता है; तदनंतर पद्यबद्ध स्फुट कथा के रूप में भी उनको लिखता है । इन वर्णनात्मक प्रसंगों की भाषा पौराणिक कथानकों की भाषा के निकट होने पर भी उससे सरल और परिष्कृत है; जैसे—

१. भक्त-बछल हरि अंतरजामी । सुत कुबेर के ये दोउ नामी ।
इहिं अवतार कह्यो इन तारन । इनको दुखअब करौं निवारन ।

---

११ सारा. वें. ४३०१. । सारा. वें. ४३१ । २ सारा. वें. ९११ । ३ सारा. वें. ९१२ ।
४ सारा. वें. ८१४ । ५ सारा. वें. ८१५ । ६ सारा. वें. ८३७ । ७ सारा. वें. ८३८।

जो जिहिं ढँग तिहिं ढँग सब लाए। जमला-अर्जुन पै प्रभु आये।
बृच्छ जीव ऊखल लै अटक्यो । आगैं निकसि नैंकुगहि झटक्यो।
अरअरात दोउ बृच्छ गिरे धर। अति आघात भयो ब्रज भीतर।
भए चकित सब ब्रज के वासी । इहिं अंतर दोउ कुँवर प्रकासी।
संख चक्र कर सारँगधारी । भगत हेत प्रगटे बनवारी।
देखि दरस मन हरष बढ़ायौ । तुमहिं बिना प्रभु कौन सहायौ[८]।

२. हरि लै बालक - बच्छ ब्रह्म लोकहिं पहुँचाए।
फिरि आए जो कान्ह, कहूँ कोऊ नहिं पाए।
प्रभु तबहीं जान्यौ यहै, बिधि लै गयौ चोराइ।
जो जिहिं रँग जिहिं रूप कौ, बालक - बच्छ बनाइ।
तातैं कीनै और ब्रह्म - हृद नाल उपायौ।
अपनौ कर तिहिं जानि कियौ ताकौ मन भायौ।
उद्धारन मारन छमी, मन हरि कीन्हो ज्ञान।
अनजानैं बिधि यह करी, नए रचे भगवान[९]।

३. बिषधर झटकी पूँछ, फटकि सहसौ फन काढ़ौ।
देख्यौ नैन उघारि, तहाँ बालक इक ठाढ़ौ।
बार बार फन घात कै बिष ज्वाला की झार।
सहसौ फन फनि फुंकरै, नैंकु न तिन्हैं बिकार।
तब काली मन कहत, पूँछ चाँपी इहिं पग सौं।
अतिहिं उठ्यौ अकुलाइ, हर्‌यौ हरि बाहन खग सौं।
यह बालक धौं कौन कौ, कीन्हौ जुद्ध बनाइ।
दाउँ - घात बहुतै कियौ, मरत नहीं जदुराइ[१०]।

४. भूषन-बसन सबै हरि ल्याए। कदम-डार जहँ-तहँ लटकाए।
ऐसौ नीप बृच्छ बिस्तारा । चीर-हार धौं कितक हजारा।
सबै समाने तरुवर डारा । यह लीला करी नन्द कुमारा।
हार-चीर मान्यौ तरु फूल्यौ । निरखि स्याम आपुन अनुकूल्यौ[११]।

५. गोपनि कियौ बिचार, सकट सबहिन मिलि साजे।
बहु बिधि लै पकवान, चले सँग बाजत बाजे।
इक तौ बन हीं बन चले, एक जमुन-तट भीर।
एक न पैंड़ौं पावहीं, उमड़े फिरत अहीर।

---

८. सा. ३९१। ९. सा. ४३७। १०. सा. ५८९। ११. सा. ७९९।

इक घर तैं उठि चले, एक घर कौं फिर जाहीं।
गावत गुन गोपाल ग्वाल उमँगे न समाही।
गोपनि कौ सागर भयौ, गिरि भयौ मंदर चारु।
रत्न भईं सब गोपिका, कान्ह बिलोवनहारु[१२]।

६. ब्रज जुवतिन घेरे ब्रजराज। मनहुँ निसाकर किरनि समाज।
रास-रसिक गुन गाइहो।
हरिमुख देखत भूले नैन। उर उमँगे कछु कहत न बैन।
स्यामहिं गावत काम बस।
हँसत हँसावत करि परिहास। मन मैं कहत, करैं अब रास।
अंचल गहि चंचल चल्यौ।
ल्यायौ कोमल पुलिन मँझार। नख-सिख-भूषन अंग सँवार।
पट-भूषन जुवतिनि सजे[१३]।

इन तथा ऐसे ही अन्य पदों में वर्ण्य विषय को स्वतंत्र पद्यबद्ध कथा का रूप दिया गया है। अपने परम आराध्य की ब्रज-लीला होने के कारण कवि ने इसमें पूर्ण रुचि ली है और अनेक कथाओं का तो बड़े उल्लास से वर्णन किया है। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ पौराणिक प्रसंग, दो-एक—यथा श्री नृसिंह-अवतार[१४], राजा-पुरुरवा का वैराग्य[१५] आदि—को छोड़कर शेष प्राय. सभी बहुत संक्षेप में वर्णित हैं, वहाँ ब्रजलीला-संबंधी इतिवृत्तात्मक कथानक बड़े विस्तार से, कोई-कोई तो सात-सात आठ-आठ पृष्ठों तक में, लिखे गये हैं। दूसरी बात यह है कि लंबे पौराणिक प्रसंगों का वर्णन उन्होंने प्रायः 'राग बिलावल' ही में किया है, परंतु ब्रज-लीलाएँ इसके अतिरिक्त, गौरी, जैतश्री, धनाश्री, बिहागरौ, मारू, राग्नी हठीली, सूहौ आदि अनेक रागों में लिखी गयी हैं। स्थान स्थान पर सांगोपांग चित्रों, मनोहर रूप के हृदयाकर्षक वर्णनों और पात्रों की मानसिक दशाओं के अनुरूप भाषा-प्रयोगों के कारण श्रीकृष्ण की इन लीलाओं के वर्णनात्मक पद बहुत रोचक हो गये हैं। विभिन्न गेय पदों के बीच-बीच में ये सरल कथानक रसमग्न पाठक को प्रकृतिस्थ करके आगे के सुन्दर प्रसंगों का आस्वादन करने को पुनः प्रोत्साहित करते हैं। सरल अलंकारों का प्रयोग भी इन पदों में विषय की स्पष्टता के लिए किया गया है और कथोपकथन का निखरा हुआ रूप भी इनमें कहीं-कहीं दिखायी देता है। सारांश यह है कि इतिवृत्तात्मक होते हुए भी ये पद कई दृष्टियों से महत्व के हैं और इनका सरल भाषा-रूप इनकी रोचकता-वृद्धि में सहायक होता है। सामान्य ब्रजभाषा का मुहावरों से युक्त प्रयोग इनकी भाषा की अन्य विशेषता है।

घ. बाल-लीला-वर्णन—इन वर्ग में श्रीकृष्ण का जन्म, उनकी बाल-लीलाएँ, उन्हें देखकर पुरजन-परिजन का आनंद-विनोद, बालक के संबंध में माता-पिता की वात्सल्यभरी

१२. सा. ८४१। १३. सा. ११८०। १४. सा. ७-२। १५. सा. ९-२।

कल्पनाएँ और अभिलाषाएँ आदि विषय आते हैं। 'सूरसागर' के दशम स्कंध के आरम्भ में इन विषयों की चर्चा है। इन सभी का वर्णन सूरदास ने सामान्यत: मिश्रित भाषा में किया है; जैसे—

१. उठीं सखी सब मंगल गाइ।
जागु जसोदा, तेरैं बालक उपज्यौ कुँवर कन्हाइ।
जो तू रच्यौ-सच्यौ या दिन कौं, सो सब देहि मँगाइ।
देहि दान बंदीजन गुनिगन, ब्रज-बासिनि पहिराइ।
तब हँसि कहति जसोदा ऐसैं, महरहिं लेहु बुलाइ।
प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ।
आए नंद हँसत तिहिं औसर, आनँद उर न समाइ।
सूरदास ब्रजबासी हरषे, गनत न राजा-राइ[१६]।

२. नान्हरिया गोपाल लाल तू बेगि बड़ौ किन होइ।
इहिं मुख मधुर बचन हँसिकै धौं, जननि कहै सब मोहिं।
यह लालसा अधिक मेरैं जिय जौ जगदीस कराहिं।
मो देखत कान्हर इहिं आँगन, पग द्वै धरनि धराहिं।
खेलहिं हलधर-संग रंग-रुचि, नैन निरखि सुख पाऊँ।
छिन-छिन छुधित जानि पय कारन, हँसि-हँसि निकट बुलाऊँ।
जाकौ सिव बिरंचि-सनकादिक मुनिजन ध्यान न पाव।
सूरदास जसुमति ता सुत-हित मन अभिलाष बढ़ाव[१७]।

३. कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सुउर की।
रोचन भरि लै देत सींक सौं, स्त्रवनि निकट अतिही चातुर की।
कंचन के द्वै दुर मँगाइ लिए, कहौं कहा छेदनि आतुर की।
लोचन भरि भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी।
हँसत नंद, गोपी सब बिहँसीं, झमकि चलीं सब भीतर ढुरकी।
सूरदास नँद करत बधाई, अति आनन्द बाल ब्रजपुर की[१८]।

४. आजु सखी मनि खंभ निकट हरि, जहँ गोरस कौं गो री।
निज प्रतिबिंब सिखावत ज्यौं सिसु, प्रगट करै जनि चोरी।

१६. सा. १०-१४। १७. सा. १०-७५। १८. सा. १०-१८०।

अरध बिभाग आजु तैं हम तुम, भली बनी है जोरी।
माखन खाहु कतहिं डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी।
बाँट न लेहु, सबै चाहत हौ, यहै बात है थोरी।
मीठौ अधिक, परम रुचि लागै, तौ भरि देउँ कमोरी।
प्रेम उमँगि धीरज न रह्यौ, तब प्रगट हँसी मुख मोरी।
सूरदास प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी[१९]।

५. चले सब गाइ चरावन ग्वाल।
हेरी टेर सुनत लरिकनि के, दौरि गए नँदलाल।
फिरि इत उत जसुमति जो देखै, दृष्टि न परै कन्हाई।
जान्यौ जात ग्वाल सँग दौर्‌यौ, टेरति जसुमति धाई।
जात चल्यौ गैयनि के पाछैं, बलदाऊ कहि टेरत।
पाछैं आवति जननी देखी, फिरि फिरि इत कौं हेरत।
बल देख्यौ मोहन कौं आवत, सखा किये सब ठाढ़े।
पहुँची आइ जसोदा रिस भरि, दोउ भुज पकरे गाढ़े।
हलधर कह्यौ, जान दै मो सँग, आवहिं आज सवारे।
सूरदास बल सौं कहै जसुमति, देखे रहियौ प्यारे[२०]।

श्रीकृष्ण की बाललीला के विविध प्रसंगों से उद्धृत इन सभी उदाहरणों की भाषा का लगभग एक ही रूप है जिसमें बाल-लीला से संबंधित प्रायः सभी पद रचे गये हैं। जिन तत्सम शब्दों का प्रयोग ऐसे पदों में किया गया है, वे सभी छोटे छोटे और सरलोच्चरित हैं। यदि तत्संबंधी किसी दृश्य या लीला का वर्णन सूरदास ने इससे कुछ भिन्न भाषा में किया है तो उसमें तत्सम शब्दों की संख्या कुछ अधिक हो गयी है; परंतु इतनी नहीं कि उसको साहित्यिक रूप के अंतर्गत माना जा सके। इसी प्रकार जहाँ लालसाओं अथवा मनोभावों का वर्णन है, वहाँ उनकी संख्या कभी कभी कम भी हो गयी है। विनय-पदों के प्रथमवर्गीय पदों की भाषा से यह मिश्रित रूप मिलता-जुलता है।

ङ. **रूप-वर्णन**—सूरदास ने अपने आराध्य का रूप-चित्रण करते हुए भी अनेक पद लिखे हैं। इनको पढ़कर कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि दिव्य चक्षु-संपन्न यह कवि जैसे चित्रकार बन गया है और श्रीकृष्ण की प्रत्येक अवस्था की प्रत्येक मुद्रा के विभिन्न अवसरों, स्थानों और वातावरणों में अनेकानेक चित्र अंकित करते नहीं अघाता। विषय की अतिशय प्रियता के कारण ऐसे पदों की भाषा आलंकारिक-सी हो गयी है जो मिश्रित और साहित्यिक रूपों से सर्वथा भिन्न है; जैसे--

१. ललन हौं या छबि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लगौ इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हारी।

१९. सा. १०-२६७। २०. सा. ४१३।

लट लटकनि, मोहन मसि बिंदुका, तिलक भाल सुखकारी।
मनौ कमल-दल सावक पेखत, उड़त मधुप छबि न्यारी।
लोचन ललित, कपोलनि काजर, छबि उपजति अधिकारी।
सुख में सुख औरे रुचि बाढ़ति, हँसत देत किलकारी।
अलप दसन, कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत बिचारी।
बिकसित ज्योति अधर बिच, मानौ बिधु मैं बिज्जु उज्यारी।
सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी।
सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी[२१]।

२. हरि के बाल-चरित अनूप।
निरखि रहीं ब्रजनारि इकटक अंग अंग प्रति रूप।
बिथुरि अलकैं रहीं मुख पर बिनहिं बपन सुभाइ।
देखि कंजनि चंद के बस मधुप करत सहाइ।
सजल लोचन चारु नासा परम रुचिर बनाइ।
जुगल खंजन करत अबिनति, बीच कियौ बनराइ।
अरुन अधरनि दसन झाईं कहौं उपमा थोरि।
नील पुट बिच मनौ मोती धरे बंदन बोरि।
सुभग बालमुकुंद की छबि बरनि कापै जाइ।
भृकुटि पर मसि बिंदु सोहै सकै सूर न गाइ[२२]।

३. सोभा कहत कही नहिं आवै।
अँचवत अति आतुर लोचन पुट, मन न तृप्ति कौं पावै।
सजल मेघ घनस्याम सुभग बपु, तड़ित बसन बनमाल।
सिखि सिखंड, बनधातु बिराजत, सुमन सुगंध प्रबाल।
कछुक कुटिल कमनीय सघन अति, गोरज मंडित केस।
सोभित मनु अंबुज पराग रुचि रंजित मधुप सुदेस।
कुंडल किरनि कपोल लोल छबि, नैन कमल-दल मीन।
प्रति प्रति अंग अनंग कोटि छबि, सुनि सखि परम प्रबीन।
अधर मधुर मुसुक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तहीं लवलीन[२३]।

४. देखौ माई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि बिबेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर।

---

२१. सा. १०-९१। २२. सा. १०-२२५। २३. सा. ४७८।

तनु अति स्याम अगाध अंबु निधि, कटि पट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति, भँवर परति सब अंग।
नैन मीन, मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग।
मुक्ता माल मिलीं मानौ द्वै सुरसरि एकै संग।
कनक खचित मनिमय आभूषन, मुख, स्रम-कन सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियौ ससि, श्री अरु सुधा समेत।
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं बिचारि बिचारि।
तदपि सूर तरि सकीं न सोभा, रहीं प्रेम पचि हारि[२४]।

५. देखि सखी मोहन मन चोरत।
नैन कटाच्छ बिलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि बिबि मोरत।
चंदन खौरि ललाट स्याम कै, निरखत अति सुखदाई।
मनौ एक सँग गंग जमुन नभ, तिरछी धार बहाई।
मलयज भाल भ्रकुटि रेखा की, कवि उपमा इक पाई।
मानहुँ अर्द्धचंद्र तट अहिनी, सुधा चुरावन आई।
भ्रकुटि चारु निरखि ब्रज सुन्दरि, यह मन करति बिचार।
सूरदास प्रभु सोभा सागर, कोउ न पावत पार[२५]।

इन पदों में श्रीकृष्ण की विभिन्न अवस्थाओं के वे सुन्दर चित्र हैं जो कवि के मानस-पटल पर अंकित थे और जिनका दर्शन स्वयं वह दिव्य चक्षुओं से सतत किया करता था। साथ ही वह इतना उदार है कि अपने आराध्य के अलौकिक रूप की प्रत्येक झाँकी अपने पाठक के लिए भी अंकित कर देता है जिससे लौकिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने नेत्रों की सार्थकता सिद्ध कर सके। उक्त पदों में श्रीकृष्ण के ऐसे ही पूर्ण चित्र हैं। इनके अतिरिक्त उनके एक-एक अंग को लेकर भी सूरदास ने अनेक पद इसी प्रकार की भाषा में लिखे हैं; जैसे—

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली।
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यौं दामिनि बिच दमकि रहत है फहरत पीत सुवास।
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिंब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके।
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।
मनौ नीलमनि पुट मुकुता-गन, बंदन भरि बगराइ।

२४. सा. ६२८। २५. सा. १८१४।

किधौं बज्रकन, लाल नगनि खचि, तापर बिद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बंधूक कुसुम तर, झलकत जलकन काँति।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी सुंदरताई जाइ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा बरनत बरनि न जाइ[२६]।

पूर्ण और एकांगी रूप-चित्रण विषयक जो पद ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनकी भाषा विनय-पदों की द्वितीय वर्गीय भाषा से भी अधिक तत्समता-प्रधान है जिसका मुख्य कारण है शैली की आलंकारिता। कवि अपने आराध्य के रूप-वर्णन के लिए जिस प्रकार उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं का बड़ी सावधानी से चयन करता है, उसी प्रकार इन पदों की शब्दावली भी ऐसी रखना चाहता है जिसका प्रयोग अन्य विषयों के वर्णन के लिए न किया गया हो। और यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सूरदास को इस प्रयत्न में पूरी सफलता मिली है। यदि किसी अन्य विषय के लिए कवि ने इस भाषा का प्रयोग किया है, तो वह है केवल राधा का रूप-वर्णन। परन्तु सूर-काव्य में राधा के किशोरी रूप के चित्र हैं, बाल-रूप के नहीं; जैसे—

१. कबहुँक केलि करति सुकुमारी।
अति सूछम कटि तट आड़े जिमि, बिसद नितंब पयोधर भारी।
अंचल चंचल, फटी कंचुकी, बिलुलित बर कुच सटी उधारी।
मनु नव जलद बंध कीनौं बिधु, निकसी नभ कसली अनियारी।
तिलक तरल, ताटंक निकट तट, उभय परस्पर सोम सिंगारी।
जलरुह हंस मिले मनु नाचत, ब्रज कौतुक बृष-भानु दुलारी।
मुक्तावलि कौ हार लोल गति, तापर लटपटाति लट कारी।
तामैं सो लर मनौ तरंगिनि, निसिनायक तम मोचनहारी।
अरु कंकन किंकिन नूपुर छबि, निसा पान सम दुति रतनारी।
श्री गोपाल लाल उर लाई, बलि बलि सूर मिथुन-कृत भारी[२७]।

२. मोहिनी मोहन की प्यारी।
रूप उदधि मथि कै बिधि, हठि पचि रची जुवति यह न्यारी।
चंपक कनक कलेवर की दुति, ससि न बदन समता री।
खंजरीट मृग मीन की गुरुता, नैननि सबै निवारी।
भृकुटी कुटिल सुदेस सोभित अति, मनहुँ मदन धनु धारी।
भाल बिसाल, कपोल अधिक छबि, नासा द्विज मदगारी।
अधर बिंब बंधूक निरादर, दसन कुंद अनुहारी।
परम रसाल स्याम सुखदायक बचननि सुनि, पिक हारी।

२६. सा. १८३२। २७. सा. ११९४।

कबरी अहि जनु हेम खंभ लगी, ग्रीव कपोत बिसारी।
बाहु मृनाल जु उरज कुंभ-गज निम्न नाभि सुभ गारी।
मृग-नृप खीन सुभग कटि राजति जंघ जुगल रंभा री।
अरुन रुचिर जु बिड़ाल-रसन सम चरन-तली ललिता री।
जहँ तहँ दृष्टि परति तहँ अरुझति, भरि नहि जाति निहारी।
सूरदास-प्रभु रस बस कीन्हे, अंग अंग सुखकारी[२८]।

३. आजु अति राधा नारि बनी।
प्रति प्रति अंग अनंग जीति, रस-बस त्रैलोक्य धनी।
सोभित केस बिचित्र भाँति दुति सिषि सिषंड हरनी।
रची माँग सम भाग राग-निधि, काम धाम सरनी।
अलक तिलक राजत अकलंकित, मृग-मद अंक बनी।
खुभिनि जराव फूल दुति यौं, मनु द्वै ध्रुव-गति रजनी।
भौंह कमान समान बान मनु, हैं जुग नैन अनी।
नासा तिल प्रसून, बिंबाधर, अमल कमल बदनी।
चिबुक मध्य मेचक रुचि राजत, बिंदु कुंद रदनी।
कंबु कंठ बिधि लोक बिलोकत, सुंदरि एक गनी।
बाहु मृनाल, लाल कर पल्लव, मद गज-गति गवती।
पति मन मनि कंचन संपुट कुच, रोम राजि तटनी।
नाभि भँवर, त्रिवली तरंग गति, पुलिन तुलिन ठटनी।
कृस कटि, पृथु नितंब, किंकिनि जुत, कदलि खंभ जघनी।
रचि आभरन सिंगार, अंग सजि, ज्यौं रति पति सजनी।
जीते सूर स्याम गुन कारन, मुख न मुरचौ लजनी[२९]।

ये तो हुए व्यक्तिगत रूप-चित्रण की भाषा के उदाहरण। इनके अतिरिक्त 'सूरसागर' में रासलीला-जैसे अवसरों पर सामूहिक रूप से अनेक ब्रज-बालाओं का अथवा उनके साथ बिराजते रसिकवर श्रीकृष्ण का भी रूप-वर्णन लगभग ऐसी ही आलंकारिक भाषा में किया गया है; जैसे—

१. बनी ब्रज नारि सोभा भारि।
पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अंग पँचरँग सारि।
किंकिनी कटि, कनित कंकन, कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिनि हार।

२८. सा. ११९७। २९. सा. २१८४।

कंठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंद।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नँद-नंद।
स्रवन बर ताटंक की छबि, गौर ललित कपोल।
सूर प्रभु बस अति भए हैं निरखि लोचन लोल[३०]।

२. देखौ माई रूप सरोवर साज्यौ।
ब्रज-बनिता बर बारि बृंद मैं, श्री ब्रजराज बिराज्यौ।
लोचन जलज, मधुप अलकावलि, कुंडल मीन सलोल।
कुच चकवाक बिलोकि बदन-बिधु, बिछुरि रहे अनबोल।
मुक्ता-माल बाल बग-पंगति, करत कुलाहल कूल।
सारस हंस मोर सुक स्रेनी, बैजयंति सम तूल।
पुरइनि कपिस निचोल, बिबिध अंग, बहु रति-रुचि उपजावै।
सूर स्याम आनंदकंद की सोभा कहत न आवै[३१]।

आराध्य-प्रिया के साथ प्रेममयी गोपिकाओं के प्रति कवि की पूर्ण श्रद्धा रहने के कारण ये पद भी प्राय. उसी आलंकारिक भाषा में लिखे गये हैं जिसका दर्शन श्रीकृष्ण के रूप-चित्रण वाले पदों में मिलता है। तत्समता-प्रधानता और आलंकारिता की दृष्टि से सूरदास की ब्रजभाषा का यह रूप सर्वोत्कृष्ट है।

च. संयोग शृङ्गार वर्णन—दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध का दूसरा महत्वपूर्ण विषय है सयोग शृंगार वर्णन। सगुण ब्रह्म के समीप रहकर नाना केलि-क्रीड़ाओं में भाग लेना ऐसे परम सौभाग्य की बात है जिसके लिए देवता और उनकी पत्नियाँ सदैव ल.लायित रही हैं और वैसा सौभाग्य न मिलने पर अपना अभाग्य समझतीं और ब्रजवासियों का भाग्य सराहती हैं[३२]। सूरदास-जैसे भक्त कवियों की सारी साधना इसी अपूर्वानंद

---

३०. सा. १०४३। ३१. सा. १०४९।
३२. अ. सुरगन चढ़ि बिमान नभ देखत।
ललना सहित सुमनगन बरषत धन्य जन्म ब्रज लेखत—'सागर', १०४४।
आ. हमकौं बिधि ब्रज-बधू न कीन्ही, कहा अमरपुर बास भऐं।
बार-बार पछितातिं यहै कहि सुख होतौ हरि संग रहैं—'सागर', १०४६।
इ. सूर अमर ललनागन अंबर, बिथरी लोक बिसारी—'सागर', १०४७।
ई. मुरली धुनि बैकुंठ गई।
नारायन कमला सुनि दम्पति, अति रुचि हृदय भई।
....
धनि बन धाम; धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै जौ धूरि।
यह सुख तिहूँ भुवन में नाहीं, जो हरि संग पल एक।
सूर निरखि नारायन इकटक, भूले नैन निमेष—'सागर', १०६४।

की प्राप्ति के लिए है। अतएव उन्होंने संयोग शृङ्गार का वर्णन सदैव आनन्द में विभोर रहकर ही किया हैं। भाषा के मुख्यतः दो रूप इस वर्णन में दिखायी देते हैं—एक, परिष्कृत मिश्रित और दूसरा, साहित्यिक। इनमें से प्रथम का प्रयोग सामान्य संयोग वर्णन के लिए किया गया है; जैसे—

१. गावत स्याम स्यामा रंग।
सुधर गति नागरि अलापति, सुर भरति पिय संग।
तान गावति कोकिला मनु, नाद अलि मिलि देत।
मोर संग चकोर डोलत, आपु अपने हेत।
भामिनी अँग जोन्ह मानौ, जलद स्यामल गात।
परस्पर दोउ करत क्रीड़ा, मनहिं मनहिं सिहात।
कुचनि बिच कच परम सोभा, निरखि हँसत गुपाल।
सूर कंचन-गिरि बिचनि मनु, रह्यौ है अँधकाल[३३]।

२. मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरनि, नैन फेरनि, तहाँ तैं नहिं टरे।
अंग निरखि अनंग लज्जित, सकै नहि ठहराइ।
एक की कह चलै, सत सत कोटि रहत लजाइ।
इते पर हस्तकनि गति छबि, नृत्य भेद अपार।
उड़त अंचल, प्रगटि कुच दोउ, कनकघट रससार।
दरकि कंचुकि, तरकि माला रही धरनी जाइ।
सूर प्रभु करी निरखि करुना तुरत लरि उचाइ[३४]।

इन पदों की भाषा सामान्य रूप से तो मिश्रित ही है; परन्तु विनय-पदों की मिश्रित भाषा से इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक हुआ है, यद्यपि हैं वे बहुत सरल ही। रुचिकर विषय के कारण अनुभवी पाठक के लिए इसमें सामान्य मिश्रित रूप से कुछ अधिक सरसता भी है; इसी कारण इसको 'परिष्कृत मिश्रित रूप' कहा गया है। साहित्यिकता की दृष्टि से भाषा का वह रूप इससे भी सुन्दर समझा जायगा जो निम्नलिखित पदों में मिलता है—

१. राजत दोउ निकुंज खरे।
स्यामा नव किसोर, पिय नव रंग, अति अनुराग भरे।
अति सुकुमारि सुभग चंपक तनु, भूषन भृंग अरे।

उ. आजु हरि ऐसौ रास रचायौ।
....
सिव नारद सारदा कहत यौं, हम इतने दिन बादि पच्यौ—'सागर', ११३९।

ऊ. गन गंधर्व देखि सिहात।
धन्य ब्रज ललनानि कर तैं, ब्रह्म माखन खात—'सागर', १६०३।

३३ सा. १०८३। ३४. सा. ११४५।

मरकत कमल सरीर सुभग हरि, रति पिय बेष करे।
चर्चित चारु कमल दल मानौं, पिय के दसन समात।
मुख मयंक मधु पियत करनि कसि, ललना तउ न अघात।
लाजति बदन दुराइ मधुर, मृदु, मुसुकनि मन हरि लेत।
छूटी अलक भुवंगिनि कुच तट, पैठी त्रिबलि निकेत।
रिस रुचि रंग बरह के मुख लौं, आने सोम समेत।
प्रेम पियूष पूरि पोंछत पिय, इत उत जान न देत।
बदन उघारि निहारि निकट करि, पिय के आनि धरे।
बिष संका नख रहत मुदित मन, मनसिज ताप हरे।
जुगल किसोर चरन रज बंदौं, सूरज सरन समाहिं।
गावत सुनत स्रवन सुखकारी, बिस्व-दुरित दुरि जाहिं[३५]।

२. जमुना-पुलिन रच्यौ हिंडोर।
घोष-ललना संग तरुनी, तरुन नंद-किसोर।
एक सँग लै मचति मोहन, एक देति झुलाइ।
एक निरखत अंग माधुरि, इक उठति कछु गाइ।
स्याम सुंदर गोपिकागन, रहीं घेरि बनाइ।
मनु जलद कौ दामिनीगन, चहत लेन लुकाइ।
नारि सँग बनवारी गावत, कोकिला छबि घोर।
डुलत झूलत मुकुट सिर पर, मनौ नृत्यत मोर।
सुभग मुख दुहुँ पास कुंडल, निरखि जुवती भोर।
चक्रवाक चकोर लोचन, करि रहीं हरि ओर।
थकित सुर ललना सहित नभ, निरखि स्याम बिहार।
हरषि सुमन अपार बरषत, मुखहिं जै-जै कार।
करत मन-मन यहै बांछा, भए न बन द्रुम-डार।
देह धरि प्रभु सूर बिलसत ब्रह्म पूरन सार[३६]।

३. झूलत नंदनंदन डोल।
कनक खंभ जराइ पटुली, लगे रतन अमोल।
सुभग सरल सुदेस डाँड़ी, रची बिधना गोल।
मनौ सुरपति सुर-सभा तैं, पठै दियौ हिंडोल।
जबहिं झंपति तबहिं कंपति, बिहँसि लगति उरोल।

---

३५. सा. २४७२। ३६. सा. २८३६।

त्रिदसपति सजि चढ़ि बिमाननि, निरखि दै दै ओल।
थके मुख कछु कहि न आवै, सकल मष कृत झोल।
सखी नवसत साज कीन्हे, बदति मधुरे बोल।
थक्यौ रति-पति देखि यह छवि, भयौ बहु भ्रम भोल।
सूर यह सुख गोप गोपी, पियत अमृत कलोल[३७]।

इन पदों में तत्सम शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग होने से यह भाषा-रूप विनय संबंधी द्वितीय वर्गीय पदों की भाषा के समकक्ष हो जाता है, यद्यपि विषयानुसार सरसता इसमें अधिक है। स्थान-स्थान पर शृंगार के ऐसे पदों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग संयोग-लीला का स्पष्ट चित्र पाठक के सामने अंकित कर देता है। आलंकारिक भाषा वाले पदों की, प्रत्येक चरण में सप्रयास अलंकार-योजना की अपेक्षा इन पदों में उनका प्रयोग अधिक संयत है।

छ. मुरली के प्रति उपालंभ—संयोग शृंगार के अंतर्गत ही सूरदास के वे पद भी आते हैं जिनमें मुरली के प्रति गोपियों के उपालंभ हैं। दशम स्कंध में संगृहीत ये पद सूर-काव्य का बहुत महत्वपूर्ण अंश हैं जिनसे कवि की काव्य-कला और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय मिलता है। इन पदों में से कुछ मिश्रित भाषा में लिखे गये हैं और कुछ साहित्यिक में; जैसे—

१. अधर-रस मुरली लूटन लागी।
जा रस कौं षट रितु तप कीन्हौ, सो रस पियति सभागी।
कहाँ रही, कहँ तैं इहँ आई, कौनैं याहि बुलाई।
चक्रित भई कहति ब्रज-बासिनि, यह तौ भली न आई।
सावधान क्यौं होति नहीं तुम, उपजी बुरी बलाइ।
सूरदास प्रभु हम पर ताकौं, कीन्ही सौति बजाइ[३८]।

२. मुरली कैं बस स्याम भए री।
अधरनि तैं नहिं करत निनारी, वाकैं रंग रए री।
रहत सदा तन-सुधि बिसराए, कहा करन धौं चाहति।
देखी, सुनी न भई आजु लौं, बाँस बँसुरिया दाहति।
स्यामहिं निदरि, निदरि हमहूँ कौं, अबहीं तै यह रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुँह पाऐं, बोलति बचन अनूप[३९]।

३. सुनहु री मुरली की उतपत्ति।
बन मैं रहति, बाँस कुल याकौ, यह तौ याकी जत्ति।
जलधर पिता, धरनि है माता, अवगुन कहौं उघारि।

३७. सा. २९२१, ३८. सा. १२२१। ३९. सा. १२३१।

बनहूँ तें याकौं घर न्यारैं, निपटहिं जहाँ उजारि।
इक तें एक गुननि हैं पूरे, मातु पिता अरु आपु।
नहि जानियै कौन फल प्रगट्यौ, अतिहीं कृपा प्रताप।
बिसवासिन पर-काज न जानै, याके कुल कौ धर्म।
सुनहु सूर मेघनि की करनी अरु धरनी के कर्म[४०]।

१. रिझै लेहु तुमहुँ किन स्यामहिं।
काहे को बकबाद बढ़ावति, सतर होति बिनु कामहिं।
मैं अपने तप कौ फल भोगवति, तुमहूँ करि फल लीजौ।
तब धौं बीच बोलिहै कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ।
अपनौ भाग नहीं काहूसौं, आपु आपनैं पास।
जो कछु कहौ सूर के प्रभु कौं, मो पर होतिं उदास[४१]।

इनमें से प्रथम तीन पदों में गोपियों के वचन हैं और अंतिम में उनके प्रति मुरली का उत्तर है। भाषा चारो पदों की मिश्रित है। मुरली-संबंधी अधिकांश पद इसी भाषा में लिखे गये हैं। विनय-पदों की सामान्य मिश्रित भाषा से इन पदों की भाषा कभी-कभी कुछ अधिक तत्समता-प्रधान हो जाती है और मुहावरों का प्रयोग भी इसमें उससे अधिक हुआ है। इसके कई कारण हैं। मुरली के प्रति गोपियों के उपालंभों की नयी सूझ में कवि की चमत्कारप्रियता की देन अधिक है, भावावेश की कम। अतः भाषा के संस्कार-परिष्कार की भी उसे कभी-कभी आवश्यकता पड़ जाती है जिससे तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो ही जाता है। और मुहावरों की अधिकता का कारण है इन पदों में गोपियों की उक्तियों की प्रधानता होना। नारियों की ईर्ष्या और व्यंग्य-प्रधान भाषा में मुहावरों की स्वतः अधिकता हो जाना स्वाभाविक ही समझा जायगा। इस भाषा से कुछ अधिक तत्समता-प्रधान रूप भी मुरली-संबंधी कुछ पदों में मिलता है; जैसे—

१. स्याम-मुख मुरली अनुपम राजत।
सुभग श्रीखंड पीड़ सिर सोहत, स्रवननि कुंडल भ्राजत।
नील जलद पर सुभग चाप सुर मंद मंद रव बाजत।
पीतांबर कटि तड़ित भाव-जनु नारि, बिबस मन लाजत।
ठाढ़े तरु तमाल तर सुंदर, नंदनँदन बन माली।
सूर निरखि ब्रजनारि चकित भईं, लगी मदन की भाली[४२]।

२. जौ पै मुरली कौ हित मानौ।
तौ तुम बार बार ऐसे कहि, मन में दोष न आनौ।
बासर याम बिरह अति ग्रासित, हूजत मृतक समान।

४०. सा. १२५६ ४१. सा. १३३६। ४२. सा. १२२६।

लेति जिवाइ सुमंत्र सुरस कहि, करति न डर अपमान।
निज संकेत लेखावति अजहूँ, मिलवति सारँगपानि।
सरद निसा रस रास करायौ, बोलि बोलि मृदु बानि।
परकृत सील सुकृत उपमा रमी तासौं यौं कत कहियै।
पर कौ सूरजदास मेटि कृत, न्याइ इतौ दुख सहियै [४३]।

भाषा का जो साहित्यिक रूप इन पदों में मिलता है वह विनय के द्वितीय वर्गीय पदों से कुछ कम तत्सम शब्दों से युक्त है। वस्तुतः इसे मिश्रित और साहित्यिक भाषा का मध्यवर्ती रूप कहना चाहिए। इन पदों में ग्राम-वासिनी व्रजबालाओं की उक्तियाँ हैं जिनकी भाषा संस्कृत और परिष्कृत होने पर अपनी स्वाभाविकता खो बैठती है। अतएव विषय-लीनता की स्थिति में कवि की प्रतिभा पाठक को चमत्कृत करनेवाला कोई नया सूत्र जब पा जाती है तब भाषा के मिश्रित रूप में तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग स्वतः हो जाता है। ऐसी भाषावाले पद मुरली-प्रसंग में पूर्वोद्धृत पदों की अपेक्षा कम हैं। कभी-कभी अलंकारों की योजना ने भी भाषा को कुछ-कुछ साहित्यिक रूप प्रदान किया है।

ज. नेत्रों के प्रति उपालंभ—संयोग श्रृंगार के अंतर्गत अंतिम महत्वपूर्ण प्रसंग है गोपियों के अपने नेत्रों के प्रति उपालंभ जो श्रीकृष्ण के दिव्य रूप पर अत्यंत मुग्ध होकर उन्हीं में रम गये हैं। भावों की सुकुमारता और उक्तियों की मार्मिकता की दृष्टि से 'सूरसागर' का यह अंश बहुत सुन्दर है। मुरली-संबंधी पदों के समान ही नेत्रोपालंभ विषयक पद भी मिश्रित और साहित्यिक, दोनों भाषा-रूपों में लिखे गये हैं। इनमें प्रधानता प्रथम प्रकार के रूपों की ही है; जैसे—

१. नैना भए बजाइ गुलाम।
मन बेंच्यौ लै बस्तु हमारी, सुनहु सखी ये काम।
प्रथम भेद करि आयौ आपुन, माँगि पठायौ स्याम।
बेंचि दिये निधरक हरि लीन्हें, मृदु मुसुकनि दै दाम।
यह बानी जहँ तहँ परकासी, मोल लए कौ नाम।
सुनहु सूर यह दोष कौन कौ, यह तुम कहौ न बाम [४४]।

२. नैना अतिहिं लोभ भरे।
संगहिं संग रहत वै जहँ तहँ, बैठत चलत खरे।
काहू की प्रतीति न मानत, जानत सबहिनि चोर।
लूटत रूप अखूट दाम कौ, स्याम बस्य यौं भोर।
बड़े भागमानी यह जानी, कृपिन न इनतैं और।
ऐसी निधि मैं नाउँ न कीन्हौ, कहँ लैहैं, कहँ ठौर।

४३. सा. १३५६। ४४. सा. २२३९।

आपुन लेहिं औरहूँ देते, जस लेते संसार।
सूरदास प्रभु इनहिं पत्याने, को कहै बारंबार[४५]।

३. नैना हैं री ये बटपारी।
कपट नेह करि करि इन हमसौं, गुरुजन तैं करी न्यारी।
स्याम दरस लाड़ू कर दीन्हौ, प्रेम ठगौरी लाइ।
मुख परसाइ हँसनि माधुरता, डोलत संग लगाइ।
मन इनसौं मिलि भेद बतायौ, बिरह-फाँस गर डारी।
कुल-लज्जा-संपदा हमारी, लूटि लई इन सारी।
मोह-बिपिन मैं परी कराहति नेह-जीव नहिं जात।
सूरदास गुन सुमिरि सुमिरि वै अंतरगत पछितात[४६]।

४. कपटी नैननि तैं कोउ नाहीं।
घर कौ भेद और के आगैं, क्यौं कहिबै कौं जाहीं।
आपु गए निधरक ह्वै हमतैं, बरजि बरजि पचि हारी।
मनकामना भई परिपूरन, ढरि रीझे गिरिधारी।
इनहिं बिना वै, उनहिं बिना ये, अंतर नाहीं पावत।
सूरदास यह जुग की महिमा कुटिल तुरत फल भावत[४७]।

इन पदों की मिश्रित भाषा में तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों की प्रधानता देखी जा सकती है। यह भाषा सरलहृदया गोपियों की मार्मिक उक्तियों के सर्वथा अनुकूल है। कारण यह है कि इनमें कल्पना और आलंकारिक योजना का उतना चमत्कार नहीं है जितना उक्तियों की मार्मिकता का प्रभाव है। इसके विपरीत, जिन पदों में कवि की कल्पना ने कुछ चमत्कार दिखाया है अथवा अलंकारों की जिनमें योजना हैं, उनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक हो गयी है; जैसे --

१. लोचन भए पखेरू माई
लुब्धे स्याम-रूप-चारा कौं, अलक-फंद परे जाई।
मोर-मुकुट टाटी मानौ, यह बैठनि ललित त्रिभंग।
चितवनि लकुट, लास लटकनि पिय, काँपा अलक तरंग।
दौरि गहनि मुख मृदु मुसुकावनि, लोभ-पींजरा डारे।
सूरदास मन-ब्याध हमारौ, गृह-बन तैं जु बिसारे[४८]।

२. मेरे इन नैननि इते करे।
मोहन-बदन चकोर-चंद ज्यौं, इकटक तैं न टरै।

४५. सा. २२६६। ४६. सा. २२९०। ४७. सा. २३३५। ४८. सा. २२७२।

प्रमुदित मनि अवलोकि उरग ज्यौं, अति आनंद भरे।
निधिहिं पाइ इतराइ नीच ज्यौं, त्यौं हमकौं निदरे।
जौ अटके गोचर घूँघट पट, सिसु ज्यौं अरनि अरे।
धरे न धीर निमेष रुदन जल, सौं हठ करनि परे।
रहीं ताड़ि, खिझि लाज-लकुट लै, एकहु डर न डरे।
सूरदास गथ खोटो, काहे पारखि दोष धरे[४९]।

३. मेरे नैना अटकि परे।
सुन्दर स्याम अंग की सोभा, निरखत भटकि परे।
मोर मुकुट लट घूँघरवारी, तामैं लटकि परे।
कुंडल तरनि किरनि ते उज्जवल चमकनि चटकि परे।
चपल नैन मृग मीन कंज जित, अलि ज्यों लुब्धि परे।
सूर स्याम मृदु हँसनि लुभाने, हमतैं दूरि परे[५०]।

४. नैना नाहिन कछू बिचारत।
सनमुख समर करत मोहन सौं, जद्यपि हैं हठि हारत।
अवलोकत अलसात नवल छबि, अमित दोष अति आरत।
तमकि तमकि तरकत मृगपति ज्यौं घूँघट पटहिं बिदारत।
बुधि-बल, कुल-अभिमान, रोष-रस जोवत भँवहिं निवारत।
निदरे ब्यूह समूह स्याम अँग, पेलि पलक नहिं पारत।
स्रमित सुभट सकुचत, साहस करि, पुनि पुनि सुखहिं सम्हारत।
सूर स्वरूप मगन झुकि ब्याकुल टरत न इकटक टारत[५१]।

पूर्वोद्धृत उदाहरणों से इन पदों की भाषा निस्संदेह अधिक तत्समता-प्रधान है। ऐसे पदों में कवि की दृष्टि उक्ति की मार्मिकता पर न टिकी रहकर कुछ-कुछ आलंकारिक योजना की ओर झुक गयी है। पैनी अंतर्दृष्टिवाले कवि के लिए यह स्वाभाविक ही कहा जायगा, क्योंकि उसकी जिस नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने नेत्रों की आकर्षण-वृत्ति-जैसे सामान्य प्रकृत विषय को लेकर अनेक हृदयहारी पदों की रचना कर दी, वह केवल एक ही प्रकार की भाषा से संतुष्ट कैसे रह सकती थी? फिर भी नेत्र-विषयक थोड़े पदों में ही इस साहित्यिक भाषा के दर्शन होते हैं; अधिक संख्या तो भाषा के सामान्य मिश्रित रूप में रचे गये पदों की ही है जिनकी सरलता सहृदय पाठक को सहज़ ही मुग्ध कर लेती है। परन्तु मुरली-सम्बन्धी साहित्यिक भाषा प्रधान पदों से नेत्र-विषयक तत्सम्बन्धी भाषा वाले पदों की संख्या निश्चय ही अधिक है और इसका कारण यह है कि उनमें ईर्ष्या-व्यंग्य इतने हल्के स्तर पर व्यंजित है कि इन भावों की

४९. सा. २३४०। ५०. सा. २३६७। ५१. सा. २३८३।

अभिव्यक्ति भाषा को अधिक संस्कृत-परिष्कृत बनाने में बाधक है; परन्तु नेत्रों के प्रति उपालंभ वाले पदों में व्रजबालाओं की, प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति, प्रेमासक्ति की गूढ़ता-गम्भीरता ने भाषा को साहित्यिक बनाने में अधिक सुयोग दिया है।

झ. पर्वोत्सव और ऋतु-चित्रण—जीवन-व्यस्तता के लिए उत्सव के आयोजन विश्राम के ऐसे स्थल हैं जो शारीरिक और मानसिक श्रांति को दूर करके नव स्फूर्ति प्रदान करते हैं। जटिल से जटिल परिस्थिति में पड़ा व्यक्ति इस लाभ से वंचित न रह जाय, इस उद्देश्य से सामान्य उत्सवों के साथ धार्मिक पर्वों को भी संबद्ध कर दिया गया है। इसी प्रकार वर्षा[५२], शरद्, वसंत आदि ऋतुओं का शुभागमन भी स्वस्थ चित्त को उल्लास से भर देता है। तात्पर्य यह है कि ये सभी विषय उल्लास-प्रदत्तता की दृष्टि से एक ही वर्ग में रखे जा सकते हैं। और सूरदास ने अपने काव्य, विशेषतः 'सूरसागर' के दशम स्कंध, में इन सबका चित्रण बहुत उमंग में भरकर किया भी है। कृष्ण-जन्मोत्सव, दीप-मालिका पर्व, वसंतागमन और होलिकोत्सव, सभी के वर्णन में यह बात देखी जा सकती है। भावोल्लास के ऐसे क्षणों में भाषा के संस्कार-परिष्कार की आवश्यकता नहीं होती। अतएव मिश्रित भाषा में ही सूरदास ते पर्वोत्सवों और ऋतुओं का सुन्दर चित्रण किया है; जैसे—

१. ब्रज भयो महर कैं पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक गुनी।
....
सुनि धाईं सब ब्रजनारि सहज सिंगार किये।
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिये।
....
ते अपनैं अपनैं मेल, निकसीं भाँति भली।
मनु लाल मुनैयनि पाँति, पिंजरा तोरि चली।
गुन गावत मंगल गीत मिलि दस-पाँच अली।
मनु भोर भएँ रबि देखि, फूलीं कमल कली[५३]।

२. हो हो हो हो हो हो होरी।
खेलत अति सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहिं राधिका गोरी।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ, बीच बीच बाँसुरी धुनि थोरी।हो०।

---

५२. व्रजवासियों की गोबर्द्धन-पूजा से क्षुब्ध होकर इंद्र ने उनके प्रदेश पर जो घोर वर्षा की, वह स्वाभाविक न थी। अतएव उसका चित्रण सूरदास ने उल्लास से नहीं किया है—लेखक।

५३. सा. १०-२४

गावत दै दै गारि परस्पर, उत हरि, इत बृषभानु-किसोरी ।
मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै मिलै मथि घोरी ।हो०।
गोपी-ग्वाल गुलाल उड़ावत, मत्त फिरैं रति-पति मनु धोरी ।
भरति रंग रति नागरि राजति, मनहुँ उमँगि बेला वल फोरी ।हो०।
छुटि गई लोक-लाज कुल-संका, गनति न गुरु गोपिनि कौ को री ।
जैसैं अपने मेर मतै मैं, चोर भोर निरवत निसि चोरी ।हो०।
उन पट पीत किये रँग राते, इन कंचुकी पीत रँग बोरी ।
रही न मन मरजाद अधिक रुचि सहचरि सकति गाँठि गहि जोरी ।हो०।
बरनि न जाय बचन रचना रचि, वह छबि झकझोरा झकझोरी ।
सूरदास सारदा सरल मति, सो अवलोकि भूल भई भोरी[५४] ।हो०।

ऐसे सभी उदाहरणों की रचना आनंद-विभोर अवस्था में की गयी जान पड़ती है । इसीलिए भाषा का वह स्वाभाविक रूप इनमें मिलता है जिसमें प्रयास का सर्वथा अभाव है । कवि ने ऐसे पदों में न शब्द-चयन की ओर विशेष ध्यान दिया है और न आलंकारिक योजना की ओर ही । इनकी भाषा विनय के प्रथम वर्गीय पदों की भाषा के समकक्ष कही जा सकती है, यद्यपि तत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें उससे कुछ अधिक है । इनके अतिरिक्त कुछ पदों में साहित्यिक भाषा का वह रूप भी मिलता है जिसमें तद्भव वर्गीय शब्दों से अधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है; जैसे –

१. आजु दीपति दिव्य दीपमालिका ।
मनहु कोटि रबि-चंद्र कोटि छबि मिटि जो गई निसि कालिका ।
गोकुल सकल बिचित्र मनि मंडित सोभित झाक झब झालिका ।
गज मोतिनि के चौक पुराये बिच बिच लाल प्रबालिका ।
बर सिंगार बिरचि राधा जू चली सकल ब्रज बालिका ।
झलमल दीप समीप सौंज भरि लेकर कंचन थालिका ।
करी प्रगट मदन मोहन पिय थकित बिलोकि बिसालिका ।
गावत हँसत गवाय हँसावत पटकि पटकि करतालिका ।
नंद-द्वार आनंद बढ़यौ अति देखियत परम रसालिका ।
सूरदास कुसुमनि सुर बरषत कर संपुट करि मालिका[५५] ।

२. मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज-भामिनि ।

५४. सा. २८६८ । ५५. सा. ८०९ ।

जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप राग निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिकराइ सौं, मुदित भई गुनग्रामिनि।
रूप-निधान स्याम सुंदर बर आनँद मन बिस्रामिनि।
खंजन मीन मयूर हंस पिक भाइ-भेद गजगामिनि।
को गति गनै सूर मोहन सँग, काम बिमोह्यौ कामिनि [५६]।

३. अद्‌भुत कौतुक देखि सखी री बृन्दावन नभ होड़ परी।
उत घन उदित सहित सौदामिनि, इतहिं मुदित राधिका हरी।
उत बग-पाँति, सु इतहिं स्वाति-सुत दाम, बिसाल सुदेस खरी।
ह्वाँ घन गरज, इहाँ मुरली धुनि, जलधर उत, इत अमृत भरी।
उतहिं इंद्र धनु, इत बनमाला, अति बिचित्र हरि कंठ धरी।
सूरदास प्रभु कुँवरि राधिका, गगन की सोभा दूरि करी [५७]।

इन पदों में क्रमशः दीपावली पर्व, रासलीलोत्सव और वर्षा-सौंदर्य वर्णित है। इनकी भाषा पूर्वोद्‌धृत पदों से अधिक तत्समता-प्रधान है कारण स्पष्ट है द्वितीय पद का विषय भक्तों के जीवन का चरम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि कोमल कलेवरा गोपिकाओं को वर्ष भर कठोर व्रत-साधन के पश्चात् प्राप्त हो सकी थी समस्त वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर रसिकवर प्रियतम के साथ उन्होंने जो आनंद शरद् की उस शुभ्र रजनी में अनुभव किया, वह असाधारण था, दिव्य था। स्वयं कवि भी इस अलौकिक रस में आकंठ निमग्न है और उसका वर्णन भी सामान्य शब्दावली में करना उसको अनुपयुक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रथम पद में इंद्र-विजय के पश्चात् के दीपमालिकोत्सव का वर्णन है जिसको व्रजवासी अपने परम सौभाग्य की सराहना करते हुए अत्यंत उल्लास से मनाते हैं और अंतिम पद में ऋतु-शोभा का अद्‌भुत दृश्य कवि की कल्पना को सजग कर देता है। सूर की अंतर्दृष्टि ऐसे अवसरों पर अलंकारों की जिस कौशलपूर्ण योजना में संलग्न हो जाती है, उससे शब्दावली स्वभावतः अत्यन्त परिष्कृत और साहित्यिक हो गयी है।

ञ. **वियोग वर्णन और भ्रमर गीत**—संयोग शृंगार के पश्चात् 'सूरसागर' के दशम स्कंध का सबसे महत्वपूर्ण विषय है गोपियों का वियोग वर्णन जिससे 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध पद भी घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं। 'सूरसागर' का यह अंश उक्तियों की मार्मिकता और वाग्विदग्धता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक, तीनों भाषा-रूपों के दर्शन इसमें होते हैं; जैसे—

१. बारक जाइयौ मिलि माधौ।
कौ जानै तन छूटि जाइगौ, सूल रहै जिय साधौ।

---

५६. सा. १०४८। ५७. सा. ११८९।

पंहुनहु नन्द बबा के आवहु, देखि लेउँ पल आधौ।
मिलैंही मैं बिपरीत करी बिधि, होत दरस कौ बाधौ।
सो सुख सिव सनकादि न पावत, जो सुख गोपिनि लाधौ।
सूरदास राधा बिलपति है, हरि कौ रूप अगाधौ[५८]।

२. ऊधौ, हम हैं हरि की दासी।
काहे कौं कटु बचन कहत हौ, **करत आपनी हाँसी।**
हमरे गुनहिं **गाँठि किन बाँधौ,** हम कह कियौ बिगार।
जैसी तुम कीन्ही सो सबहीं, जानत है संसार।
जो कुछ **भली बुरी तुम कहिहौ** सो सब **हम सहि लैहैं।**
आपन कियो आपही भुगतहिं, दोष न काहू दैहैं।
तुम तौ बड़े बड़े कुल जनमे, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयौ सूर के प्रभु सौं, कहत लगावन छार[५९]।

३. और सकल अंगनि तैं ऊधौ, अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिराति सिराति न कबहू, बहुत जतन करि हारी।
मग जोवत **पलकौ नहि लावति,** बिरह बिकल भईं भारी।
भरि गइ बिरह-बयारि दरस बिनु, निसि दिन रहति उघारी।
तें अलि अब ये ज्ञान-सलाकैं, क्यौं सहि सकति तिहारी।
सूर सु अंजन आँजि रूप-रस, आरति हरहु हमारी[६०]।

४. ऊधौ-अब कछु कहत न आवै।
सिर पर सौति हमारे कुबिजा, **चाम के दाम चलावै।**
कछु इक मंत्र कर्‍यो चंदन मैं, तातैं स्यामहिं भावै।
अपनैं ही **रँग रँगे साँवरे,** सुक **ज्यौं बैठि पढ़ावै।**
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-बधू कहावै।
नटिनी लौं कर लिए लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।
टूट्यौ नातौ या गोकुल कौ, लिखि लिखि जोग पठावै।
सूरदास प्रभु हमहिं निदरि, **डाढ़े पर लोन लगावै**[६१]।

५. (ऊधौ) जौ कोउ यह तन फेरि बनावै।
तौऊ नंदनँदन तजि मधुकर, **और न मन में आवै।**

---

५८. सा. ३२३२। ५९. सा. ३५४३। ६० सा. ३५७०। ६१. सा. ३६३९।

जौ या तन की त्वचा काटि कै, लै करि दुन्दुभि साजै।
मधुर उतंग सप्त सुर निकसै, कान्ह कान्ह करि बाजै।
निकसैं प्रान परैं जिहिं माटी, द्रुम लागै तिहिं ठाम।
अब सुनि सूर पत्र-फल-साखा, लेत उठैं हरि नाम[६२]।

इस प्रकार के पद गोपियों की विरह-दशा से परिचित कराते हैं; इनमें विरहिणी व्रजबालाओं का करुण क्रंदन-सा गूँजता हैं। प्रियतम से विमुक्त होने पर जिस प्रकार गोपिकाओं को साज-शृंगार नही सुहाता, उसी प्रकार कवि ने भी उक्त विषयक अनेक पदों की भाषा को अनलंकृत ही रखा है। विनय-पदों की मिश्रित भाषा से विरह-संबंधी पदों की ऐसी भाषा में एक मुख्य विशेषता है मुहावरे-कहावतों के प्रयोग में। एक तो ग्रामीण युवतियों की सीधी-सादी भाषा में साधारणतः मुहावरों-कहावतों का प्रयोग खूब रहता है; फिर भग्नहृदय की जो दयनीय स्थिति इन पदो में दर्शायी गयी है, भाषा को उसके अनुरूप बनाने के उद्देश्य से, उसमें जैसा कि उक्त पदों के बड़े टाइप में छपे अंश से स्पष्ट है, मुहावरों और कहावतों का और भी अधिक प्रयोग किया गया है भोली-भाली प्रेममयी गोपिकाओं की विरह-जन्य कातरता कभी संयोग की पूर्व स्मृतियों से उन्हें पुलकित करती है, कभी अपने अभाग्य को कोसने को विवश करती है और कभी क्षुब्ध स्वर में प्रियतम की निष्ठुरता का बखान करने को प्रेरित करती है। निराशा, उन्माद और प्रलाप की ऐसी स्थितियों में सामान्य भाषा का इस प्रकार मुहावरे और लोकोक्तियों से युक्त हो जाना स्वाभाविक ही कहा जायगा। अस्तु, भाषा के केवल मिश्रित रूप की दृष्टि से यदि देखा जाय तो कहा जा सकता है कि वियोग-वर्णन और भ्रमर-गीत-प्रसंग के पदों में आधे से कम ही इस प्रकार की भाषा में लिखे गये हैं और अधिकांश पदों की भाषा इससे अधिक परिष्कृत और तत्समता-प्रधान है; जैसे —

१. देखियत कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक, कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह-जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग-तरफ तन भारी।
तट-बारू उपचार चूर, जल-पूर-प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस-काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी[६३]।

२. बरु ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए।

---

६२. सा. ३१८०। ६३. सा. ३१९१।

कहियत हैं सुर-लोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-पिक की पीर जानि कै, तेउ तहाँ तैं धाए।
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलीं, दादुर मृतक जिवाए।
साजे निबिड़ नीड़ तृन सँचि सँचि, पंछिनहूँ मन भाए।
समुझति नहीं चूक सखि अपनी, बहुतैं दिन हरि लाए।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुबन बसि बिसराए[६४]।

३. कोउ माई, बरजै री या चंदहिं।
अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदिनि-कुल आनंदहिं।
कहाँ कहौ बरषा रबि तमचुर, कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर कै रथ, बिरहिनि के तन जारे।
निंदति सैल उदधि पन्नग कौ, श्रीपति कमठ कठोरहिं।
देतिं असीस जरा देवी कौ, राहु-केतु किन जोरहिं।
ज्यौं जल-हीन मीन तन तलफतिं, ऐसी गति ब्रजबालहिं।
सूरदास अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिं[६५]।

४. ऊधौ, क्यौं राखौं ये नैन।
सुमरि सुमरि गुन अधिक तपत हैं, सुनत तुम्हारे बैन।
ये जु मनोहर बदन-इंदु के, सारद कुमुद चकोर।
परम तृषारत सजल स्याम घन-तन के चातक-मोर।
मधुप-मराल जु पद-पंकज के, गति-बिलास-जल मीन।
चक्रवाक दुतिमनि दिनकर के, मृग मुरली आधीन।
सकल लोक सूनौ लागत है, बिनु देखे बर रूप।
सूरदास प्रभु नंदनँदन के नख-सिख अंग अनूप[६६]।

५. ऊधौ, अब हम समुझि भई।
नंदनँदन के अंग अंग प्रति, उपमा न्याय दई।
कुंतल कुटिल भँवर भामिनि बर, मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियौ तिन कपटी, जानी निरस भई।
आनन इंदु बिमुख संपुट तजि, करखे तैं न नई।
निर्मोही नव नेह कुमुदिनी, अंतहु हेम हई।
तन घन सजल सेइ निसि-बासर, रटि रसना छिजई।
सूर बिबेकहीन चातक मुख, बूँदौ तौ न स्रई[६७]।

६४. सा. ३३०८। ६५ सा. ३३५९। ६६. सा. ३५६९। ६७. सा. ३९१८।

सूरदास के ऐसे पद प्रौढ़ावस्था की रचना हैं। इस समय तक इस प्रकार की साहित्यिक भाषा पर उनका इतना अधिकार हो गया था कि उसका यही रूप प्रायः सदैव उनके मुख से निःसृत होता था। सामान्य विषयों पर भी इसी प्रकार की भाषा में रचना करने के वे अभ्यस्त थे। यही कारण है कि वियोग-वर्णन और भ्रमरगीत के अधिकांश पदों की भाषा इसी प्रकार परिष्कृत और तत्समता-प्रधान है। इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमें सर्वत्र ऐसे ही तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो उच्चारण की दृष्टि से साधारणतया प्रचलित थे, जिससे वे सामान्य पाठक को नहीं खटकते। मुहावरों-कहावतों का प्रयोग भी ऐसे पदों में कहीं-कहीं किया गया है, यद्यपि उतना नहीं जितना पूर्वोद्धृत पदों में मिलता है। सरल अलंकारों की योजना ने भी इन पदों की भाषा को साहित्यिक बनाने में योग दिया है। साहित्यिक शब्दों की इससे कुछ अधिक योजना उन पदों में मिलती है जिनमें कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के प्रयोग में विशेष रुचि दिखायी है; जैसे—

१. सखी री, इन नैननि तैं घन हारे।
बिनहीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वाँस समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन करि बसे बचन-खग, दुख-पावस के मारे।
दुरि दुरि बूँद परति कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परन-कुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरति धरि न्यारे।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे[६८]।

२. देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरें।
मानौ मत्त मदन के हथियनि, बल करि बंधन तोरे।
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरषत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावतहूँ पै, मुरत न अंकुस मोरे।
मानौ निकसि बग-पंक्ति दंत, उर-अवधि-सरोवर फोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल, कुच-कंचुकि-बँद बोरे।
तब तिहिं समय आनि ऐरावति, ब्रजपति सौं कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु गरत गात जैसें ओरे[६९]।

३. नैननि नंद-नंदन ध्यान।
तहाँ यह उपदेस दीजै, जहाँ निरगुन ज्ञान।

---

६८. सा. ३२३४। ६९. सा. ३३०३।

पानि पल्लव रेख गनि गुन, अवधि बिविध बिधान।
इते पर उन कटुक बचननि, क्यौं रहै तन प्रान।
चंद कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजत दान।
भृकुटि कोटि कोदंड रुचि, अवलोकनी संधान।
कोटि बारिज बक्र नैन कटाच्छ कोटिक बान।
मनि कंठ-हार, उदार उर, अतिसय बन्यौ निरमान।
संख, चक्र, गदा धरे कर पद्म सुधा-निधान।
स्याम तनु पट पीत की छबि, करै कौन बखान।
मनहु नृत्यत नील घन मैं, तड़ित देती भान।
रास रसिक गुपाल मिलि, मधु-अधर करतीं पान।
सूर ऐसे स्याम बिनु, को इहाँ रच्छक आन ×।

यहाँ उद्धृत प्रथम दोनों पदों की भाषा को आलंकारिक योजना ने और अंतिम को श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन ने अधिक साहित्यिक बना दिया है। इस प्रकार की भाषा के उदाहरण वियोग शृंगार और भ्रमरगीत विषयक पदों में अधिक नहीं हैं। यह आलंकारिक भाषा कल्पना के विशेष सक्रिय होने पर ही प्रयुक्त होती है, हृदय के सामान्य गतिशील भावों के प्रवाह की तीव्रता का साथ इस भाषा में आये हुए संचित और बोझिल शब्द नहीं दे पाते। वियोग की प्रबलता में जब नेत्रों से निरंतर अश्रु-वर्षा हो रही हो तब मौखिक साज-शृंगार की रक्षा कैसे हो सकती है और उसकी चिंता भी कौन करता है? यही कारण है कि सामान्य मिश्रित और सरल साहित्यिक भाषा ही, जो कवि की भाषा के प्रकृत और अकृत्रिम रूप हैं, ऐसे प्रसंगों में प्रयुक्त होने पर खूब फबती है। इसका आलंकारिक रूप, प्रयास का बोझीलापन लिये हुए, केवल उन स्थलों पर दिखायी देता है, जहाँ भाव अपेक्षाकृत कम तीव्र हैं और उद्धव-जैसे शुष्कहृदय व्यक्ति को सामने पाकर भग्नाश गोपिकाओं को चिंतन का कुछ अवकाश मिल जाता है।

ट. स्फुट विषय—इस शीर्षक के अंतर्गत मुख्य रूप से दो विषयों पर विचार करना है—प्रथम है पारिभाषिक विवेचन और द्वितीय, वर्णन-विस्तार-युक्त प्रसंग। पौराणिक कथानकों के साथ साथ 'सूरसागर' के कई स्थलों पर ज्ञान, भक्ति, योग, मुक्ति आदि विषयों का विवेचन मिलता है जो न विषय की स्पष्टता की दृष्टि से महत्व का है और न जिसमें वांछनीय गंभीरता ही है। सूरदास वास्तव में अनन्य भक्त, सगुणोपासक भावुक कवि और सफल गायक थे ऐसे व्यक्तित्ववाले सहृदय मनुष्य के लिए दार्शनिक चिंतन में कोई आकर्षण नहीं रहता और न उसकी वृत्ति ही तात्विक विवेचन में रम

× सा. ३५६१।

सकती है। यही कारण है कि जिन पदों में सूरदास ने पारिभाषिक विवेचना की है, वे कदाचित् किसी भी दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते। भाषा-शैली भी इनकी सामान्य ही है; जैसे—

१. भक्ति पंथ कौं जो अनुसरै। सो **अष्टांग** जोग कौं करै।
यम, नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ **निष्काम**।
प्रत्याहार धारना ध्यान। करै जु छाँड़ि बासना आन।
क्रम क्रम सौं पुनि करै **समाधि**। सूर स्याम भजि मिटै **उपाधि**[७०]।

२. माता, **भक्ति** चारि परकार। **सत, रज, तम** गुन, **सुद्धा** सार।
भक्ति एक, पुनि बहु बिधि होइ। ज्यौं जल रंग मिलि रंग सो होइ।
भक्ति **सात्विकी** चाहत **मुक्ति**। **रजोगुनि,** धन-कुटुंबऽनुरक्ति।
तमोगुनी चाहे या भाइ। मम बैरी क्यौहूँ मरि जाइ।
सुद्धा भक्त मोहिं कौं चाहै। मुक्तिहुँ कौं सो नहिं अवगाहै[७१]।

३. **इड़ा पिंगला सुषमन** नारी। **सुन्य** सहज मैं बसत मुरारी।
ब्रह्म भाव करि सब मैं देखौ। **अलख निरंजन** ही कौं लेखौ।
पदमासन इक चित मन ल्यावौ। नैन मूँदि **अंतरगत ध्यावौ**।
हृदै कमल मैं **ज्योति** प्रकासी। **सोइ अच्युत अबिगत अबिनासी**[७२]।

४. **हृदय-कमल** तैं **जोति** बिराजै। **अनहद नाद** निरंतर बाजै।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी। सहज **सुन्न** मैं बसत मुरारी[७३]।

उक्त पदों में जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनका सम्यक् ज्ञान सूर-काव्य से नहीं होता। ऐसे विवेचन से केवल इतना लाभ माना जा सकता है कि सूरदास के समय में प्रचलित और उनको ज्ञात पारिभाषिक शब्दों की सूची भले ही बना ली जाय, अन्यथा ये पारिभाषिक व्याख्याएँ अपूर्ण हैं। पौराणिक कथाओं की-सी सामान्य भाषा में ही यह विवेचन मिलता है। अनेकानेक पारिभाषिक शब्दों के कारण कहीं कहीं इस भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, और ऐसा केवल लंबी व्याख्या वाले पदों में हो, सो बात भी नहीं है। मिश्रित भाषा में लिखे गये अनेक पदों के कुछ चरणों में भी, पारिभाषिक शब्दों के आ जाने पर, भाषा का यह रूप देखा जा सकता है; जैसे—

१. प्रथम **ज्ञान, बिज्ञानक** द्वितीय मत, तृतीय **भक्ति** कौ भाव।
सूरदास सोई **समष्टि** करि, **ब्यष्टि** दृष्टि मन लाव[७४]।

२. **सालोकता सामीपता सारूपता,** भुज चारि।
इक रही **सायुज्यता** सो, **सिद्ध** नहिं बिनु ज्ञान[७५]।

---

७०. सा. २-२१। ७१. सा. ३-१३। ७२. सा. ४०४९। ७३. सा. ४०१४।
७४. सा. २-३८। ७५. सा. ३४३१।

३. **षट** दल, **अठ द्वादस दस** निरमल **अजपा जाप जपाली।**
त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, यौं मिलिहैं बनमाली ७६।

वास्तविकता यह है कि सूरदास अपने भक्त, कवि और गायक-रूपों में ही संतुष्ट थे; दार्शनिक विवेचक और तत्वदर्शी चिंतक बनने के लिए न उनके पास अवकाश था और न साधन ही। इसीलिए दार्शनिक व्याख्या-प्रधान स्थलों की अति सामान्य विवेचना में पारिभाषिक शब्दों का संग्रह-मात्र है और इनकी भाषा को उसका स्वतंत्र रूप भी नहीं कहा जा सकता।

अब रही वर्णन-विस्तारयुक्त प्रसंगों की भाषा की बात। इन प्रसंगों से आशय उन पदों से है जिनमें कवि सूर ने वस्तुओं-पदार्थों की लंबी-लंबी सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। ऐसे स्थलों की भाषा बहुत सामान्य और सर्वथा विशेषतारहित है; तथा वाक्य-विन्यास भी बहुत शिथिल और अरोचक है। 'सूरसागर' में भोज्य पदार्थों, वस्त्राभूषणों, वाद्ययंत्रों आदि और 'सारावली' में राग-रागिनियों आदि की सूचियोंवाले पदों में इस प्रकार का वर्णन-विस्तार मिलता है। 'व्याकरणिक अध्ययन' वाले परिच्छेद में विशेषणों की सूची-वाला जो लंबा पद उद्धृत किया गया है, उससे इस प्रकार के विस्तारवाले पदों की भाषा का कुछ अनुमान हो सकता है। स्थानाभाव से अन्य उदाहरण देना अनावश्यक जान पड़ता है।

ठ. **कूट पद**—सूरदास के 'साहित्यलहरी' नामक संग्रह में तो कूट पद मिलते ही हैं, 'सूरसागर' के दशम स्कंध में भी ऐसे अनेक पद संकलित हैं। इन पदों में से कुछ के अंत में शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनकी सोदाहरण चर्चा इस परिच्छेद के आरंभ में की जा चुकी है; शेष पद सामान्य हैं। भाषा-रूप की दृष्टि से दोनों प्रकार के पदों में कोई अंतर नहीं है और दोनों में समान रूप से प्रत्येक चरण में छोटे-बड़े सामासिक पदों का प्रयोग किया गया है। सूर-काव्य की भाषा के जो मुख्य चार रूप विविध विषयों के आधार पर ऊपर बताये गये हैं, यदि उन्हीं को ध्यान में रखकर कूट पदों की भाषा का रूप निश्चित किया जाय तो कह सकते हैं कि मिश्रित भाषा को ही समास-प्रधान बनाकर कवि ने उसमें कूट पद रचे हैं। इनके मुख्य विषय हैं श्याम-श्यामा-प्रेम, सौंदर्य, मान, क्रीड़ा आदि। 'सूरसागर' के साधारण पदों में इन विषयों का जैसा वर्णन है, प्रायः वैसा ही कूट पदों में भी है। अंतर केवल इतना है कि 'सूरसागर' के सामान्य पदों का अर्थ सहज ही समझ में आ जाता है, परंतु कूट पदों के सामासिक शब्दों का अर्थ निकालने में बड़ी माथा-पच्ची करनी पड़ती है; इनका ठीक-ठीक अर्थ समझना साधारण पाठक के वश की बात है ही नहीं। इसके लिए तो द्राविड़ी प्राणायाम-जैसा भीषण मानसिक व्यायाम चाहिए और स्थान-स्थान पर पाठक को प्रहेलियाँ भी बुझानी पड़ती हैं। इनका ठीक-ठीक तात्पर्य समझने के लिए शब्दों के प्रचलित अर्थ जानने से ही काम नहीं चलता; प्रत्युत शब्द के अनेक अर्थों में से पाठक

७६. सा. ३८६६।

को वही अर्थ छाँटना होता है जो कवि को अभीष्ट है। उदाहरण के लिए 'कुंती-सुत' का संकेत चार पुत्रों में से किसके लिए हैं, तभी ज्ञात होगा जब पारस्परिक प्रसंग स्पष्ट हो जाय। नीचे कूट पदों के कुछ वाक्यों के अर्थ दिये जा रहे हैं। इनसे ज्ञात हो जायगा कि 'साहित्यलहरी' की जटिलता और दुरूहता किस प्रकार की है और उसकी क्लिष्टता के परिहार के लिए कितना मानसिक व्यायाम अपेक्षित है। जिन-जिन प्रणालियों से सूरदास ने कूट पदों की रचना की है अथवा जिन प्रणालियों से अर्थ-बोध में सहायता मिलती है, उनको, स्थूल रूप से, छह वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं—

अ. **पर्यायवाची प्रणाली** कुछ पदों में कवि ने एक पद के भिन्न भिन्न अर्थों और उनके पर्यायवाची शब्दों को लेकर खेल किया है; जैसे—

१. दरभूषन छन छन उठाय कै **नीतन** हरि घर हेरत [७७]।

'नीतन' से कवि ने 'नेत्र' का अर्थ इस प्रकार निकाला है—'नीतन'=नीत+न। नीत—१. 'नेत्र' का अपभ्रंश, २. नीति। नीति—नय। नीतन = नय+न = नयन।

२. **दधिसुत-सुत-पतिनी** न निकासत······[७८]।

इस वाक्य में 'दधि-सुत-सुत-पतिनी' से 'बोली' का अर्थ इस प्रकार निकाला गया है—दधि—उदधि—समुद्र—जल। दधिसुत—जल-सुत—कमल। दधि-सुत सुत—कमल-सुत—ब्रह्मा। दधि-सुत-सुत पतिनी - ब्रह्मा की स्त्री—सरस्वती—गिरा—वचन—बोली।

३. **अष्टसुर** इनको पठाए कंस नृप के पास[७९]।

'वसुदेव' (कृष्ण के पिता) अर्थ यहाँ 'अष्टसुर' से इस तरह निकाला गया है—अष्टसुर—अष्ट+सुर। अष्ट = आठ=वसु—'वसु' आठ होते हैं; इसलिए 'आठ' शब्द 'वसु' का संकेतार्थ मान लिया गया है। सुर = देव (पर्यायवाची)। अष्टसुर=(वसु+देव) वसुदेव।

४. **दधि-सुत-अरि-भष-सुत-सुभाव** चलि तहाँ उताइल आई[८०]।

इस पंक्ति में 'दधिसुत अरि-भष-सुत-सुभाव'-जैसे बड़े सामासिक पद से कवि ने पर्यायवाची प्रणाली द्वारा 'सखी' अर्थ यों निकाला है--दधि=उदधि। दधि-सुत=उदधि-सुत=चंद्रमा जो समुद्र-मंथन से निकले रत्नों में एक है। दधि-सुत-अरि=चंद्रमा का शत्रु = राहु। दधि-सुत-अरि-भष = राहु का भक्षण = सूर्य। दधि-सुत-अरि-भष-सुत= सूर्य का पुत्र=कर्ण। दधि-सुत-अरि-भष-सुत-सुभाव = कर्ण का स्वभाव = दान करता= 'दानी' होना—'दानी' को उर्दू में 'सखी' कहते हैं; अतः दानी = सखी, सहेली।

आ. **प्रहेलिका प्रणाली**—कुछ पदों में कवि ने शब्द के आदि, मध्य अथवा अंत के अक्षरों का लोप करके नया शब्द बनाया है और तब उसका अभीष्ट अर्थ में प्रयोग किया है; जैसे—

---

७७. लहरी. ३। ७८. लहरी. ६। ७९. लहरी. ३८। ८०. लहरी. ८७।

कारन-अंत अंत ते घट कर आदि घटत पै जोई।
मद्ध घटे पर नास कियौ है नीतन में मन मोई।[८१]

यहाँ उक्त दोनों पंक्तियों के प्रारंभिक चौदह शब्दों से एक छोटा सा शब्द 'काजल' इस प्रकार निकाला गया है - कारन अंत = कारण का अंत = काम, काज; 'कारण' का फल 'काज' होता ही है। पै = पय = जल। नास = नाश = काल; 'काल' सबका नाश करता ही है। अब कवि जैसे पहेली बुझाता है। वह तीन प्रश्न पूछता है— १. वह कौन सा-शब्द है जिसका 'अंत ते घट कर' अर्थात् अंत्यक्षर हटाने पर 'काज' (कारन अंत) बच रहेगा? २. वह कौन सा शब्द है जिसका 'आदि घटत' अर्थात् आद्य अक्षर हटाने पर 'जल' बच रहेगा? ३. वह कौन सा शब्द है जिसका 'मद्ध घटे पर' अर्थात् बीच का अक्षर हटाने पर 'काल' बच रहेगा? तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है - काजल।

इ. **पुनरावृत्ति प्रणाली**—कहीं-कहीं कवि ने अक्षरों, शब्दांशों अथवा शब्दों की अनेक आवृत्तियाँ करके अभीष्ट अर्थ निकाला है; जैसे—

१. **तीन लल** बल करे तो सँग कौन भल अलि जान।
डेढ़ लल कल लेत नाहीं प्रान प्रीतम आन।
तीन कीकी रूप रति पति ब्रज न दूजी आन।[८२]

'छल', 'तिल', 'छकी' शब्द उक्त पंक्तियों के बड़े छपे अंशों से कवि ने इस प्रकार निकाले हैं - तीन लल—तीन बार 'लल' कहने से छह 'ल' हुए; अतः छह = छ + ल = छल। डेढ़ लल—डेढ़ बार 'लल' कहने से तीन 'ल' हुए; अतः तीन + ल = ति + ल = तिल। तीन कीकी—तीन बार 'की की' कहने से छह 'की' हुईं; अतः छह + की = छ + की = छकी।

२. **ति पीपी** पल माँझ कीनो निपट जीव निरास[८३]।

यहाँ 'ति पीपी' से गोपी' का अर्थ इस प्रकार निकलता है—ति = तीन बार 'पीपी' कहने से हुआ छह 'पी,' अतः छह + पी = छ + पी = छपी = छिपी। अब छिपी = छिपाना = गोपना = 'गोपी'; क्योंकि 'गोपी' का अर्थ भी 'छिपायी', 'छपी' या 'छिपी' होता है।

ई. **गणित प्रणाली**—इनमें निश्चत संख्यावाले शब्द का प्रयोग करके, उसका संकेतार्थ केवल उस संख्या को ही मान लिया जाता है; जैसे—

१. **ग्रह, नक्षत्र अरु बेद अरध करि** को बरजै मुहि खात[८४]

हमारे यहाँ ग्रहों की संख्या ९, नक्षत्रों की २७ और वेदों की ४ मानी गयी है। इनका योग ९ + २७ + ४ = ४० हुआ; अतः ग्रह, नछत्र अरु वेद = ४०। इनका 'अरध' = आधा; ४० का आधा = २० या बीस (अर्द्धतत्सम रूप) = विष (तत्सम रूप)।

---

८१. लहरी. ५। ८२. लहरी. २१। ८३. लहरी. ३८। ८४. लहरी. २३।

२. ग्रह, नछत्र अरु बेद सबन मिलि तन प्रन करिकै बेचो[८५]।

इस पंक्ति के 'ग्रह नक्षत्र अरु वेद' उक्त उदाहरण की तरह ही हैं; परंतु अर्थ इनसे दूसरा ही निकाला गया है—ग्रह ९, नक्षत्र २७ और वेद ४; इनका योग हुआ ४०। ४० सेर का होता है एक मन; अतः ४० मन = चित्त।

उ. **क्रम-प्रणाली**—कुछ पदों में कवि ने तीन-तीन चार-चार शब्दों के क्रमानुसार अक्षरों के योग से अभीष्ट अर्थ-द्योतक शब्द बनाया है; जैसे—

चपला औ बराह रस आखर आद देख झपटाने[८६]।

इस पंक्ति के प्रथम छह शब्दों से नया शब्द 'चकोर' इस प्रकार बनाया गया है—बराह = कोल। अब 'चपला', 'कोल' और 'रस' के प्रथम अक्षर (= आखर आद) जोड़ने से बनता है— 'चकोर'।

ऊ. **विपर्यय प्रणाली**—कुछ पदों में सूरदास ने शब्दों के अक्षरों का क्रम 'उलटा' करके नया शब्द बनाया है; जैसे—

सारँग पलट पलट छबि दोई लै गौ आइ चुराइ[८७]।

यहाँ 'साँरग' के अनेक अर्थों में से कवि को अभीष्ट है 'लवा' पक्षी; फिर इसके अक्षरों का क्रम पलट कर नया शब्द बनाया गया है—लवा = वाल = बाल (ग्वाल-बाल)। इसी प्रकार 'छवि' = छब के अक्षरों का क्रम पलट कर 'बछ' शब्द बना जो 'वत्स' का अपभ्रंश है। अतः 'सारँग-पलट' का अर्थ हुआ 'ग्वाल-बाल' और 'पलट-छबि' का 'गोवत्स'।

ए. **सम्मिलित प्रणाली**—अनेक पदों में कवि ने उक्त छहों प्रणालियों में से दो-एक को मिला दिया है अर्थात् अपने अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने के लिए उक्त प्रणालियों में से एक से अधिक का आश्रय लिया है; जैसे—

१. अंत ते कर हीन माने तीसरो दो बार [८८]।

इस पंक्ति के शब्दों को लेकर कवि ने प्रहेलिका और गणित प्रणाली द्वारा 'कृतकृत्य' अर्थ इस प्रकार निकाला है = तीसरो = तीसरा = कृतिका नक्षत्र; क्योंकि इसका स्थान नक्षत्रों में तीसरा माना जाता है। तीसरो दो बार = दो बार कृतिका कृतिका = कृतका कृतका। अब इन 'कृतका कृतका' को अंत से हीन अर्थात् अंत्यक्षर-रहित करने पर हुआ 'कृत कृत' = कृतकृत्य = धन्य होना = सफल होना, कृतकार्य होना।

२. **ग्रह नक्षत्र है बेद** जासु घर ताहि कहा सारंग सम्हारो[८९]।

गणित प्रणाली के अनुसार ग्रह, नक्षत्र और वेद की संख्या का योग ४० होता है।

---

८५. लहरी. ४८। ८६. लहरी. ७२। ८७. लहरी. ७८। ८८. लहरी. १०१।
८९. लहरी. १११।

इससे, पूर्वोद्‌धृत एक पंक्ति में कवि ने 'मन' = चित्त अर्थ निकाला है ; अब इस उदाहरण में, पर्यायवाची प्रणाली द्वारा, 'मन' का संकेतार्थ 'मनि' = मणि निकाला गया है।

३. **सिंधु-रिपु-हित तासु पतिनी भ्रात सिव कर जौन।**
आदि कासों पदों बैरी जान परत न तौन[१०] ॥

इस उदाहरण में प्रथम दस शब्दों से पर्यायवाची और क्रम प्रणालियों द्वारा कवि ने 'मंत्र' अर्थ इस प्रकार निकाला है—सिंधु-रिपु = समुद्र का शत्रु = अगस्त्य मुनि। अगस्त्य-हित = श्रीराम। तासु पतनी = श्रीराम की पत्नी = सीता। सीता भ्रात = सीता का भाई, मंगल; क्योंकि 'मंगल' की उत्पत्ति भी सीता की तरह पृथ्वी से ही मानी गयी है। सिव कर जौन = शिव जी के हाथ में जो रहता है, त्रिशूल। अब 'मंगल' और 'त्रिशूल' = त्रशूल का आदि अर्थात् पहला अक्षर मिलाने से बना 'मंत्र'।

उक्त उदाहरणों से 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर' के कूट पदों की भाषा का अर्थ लगाने की पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, संभव, है इसी प्रकार की दो-एक और प्रणालियाँ भी ज्ञात हों, परन्तु मुख्य ये ही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कूट पदों में सूरदास ने एक ही शब्द की अनेक बार आवृत्ति की है। ऐसे शब्द अनेकार्थी होते हैं और प्रायः प्रत्येक आवृत्ति में उनका भिन्नार्थ लगता है; जैसे—

१. बोल न बोलिए ब्रजचंद।
कौन है संतोष सब मिलि जानि आप अनंद।
कहै **सारँग** सुत बदन सुनि रही नीचे हेर।
निरखि **सारँग** बदन **सारँग** सुमुख संदर फेर।
गहत **सारँग** रिपु **सुसारँग** दियौ **सारँग** सीस।
कियौ भूषन पुत्र **सारँग** संग **सारँग** दीस।
उदै **सारँग** जान **सारँग** गयौ अपने देस।
'सूर' स्याम सुजान सँग ह्वै चली बिगत कलेस[११]।

इस पद में 'सारँग' शब्द दस बार आया है और क्रमशः इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. समुद्र (सारँग-सुत=समुद्र का सुत, चंद्रमा), २. कृष्ण, ३. कमल, ४. दीपक (सारँग रिपु = दीपक का शत्रु, वस्त्र), ५. कर-कमल, ६. मेघ, पयोधर, स्तन। ७. दीपक (पुत्र सारँग=दीपक का पुत्र, काजल), ८. कृष्ण, ९. सूर्य और १०. चंद्रमा।

२. **सारँग सारँगधरहिं** मिलावहु।
सारँग बिनय करति **सारँग** सौं, **सारँग** दुख बिसरावहु।
सारँग समय दहत अति **सारँग**, **सारँगतिनहिं** दिखावहु।
सारँगपति[१२] **सारँगधर** जे हैं, **सारँग** जाइ मनावहु।

१०. लहरी. ११६। ११. लहरी. ५६। १२. पाठा. 'सारंगगति' सूरसागर २०९७।

सारँग-चरन सुभग-कर **सारँग**, **सारँग**-नाम बुलावहु ।
सूरदास **सारँग** उपकारिनि, **सारँग** मरत जियावहु[१३] ।

इस पद में 'सारँग' शब्द सोलह बार प्रयुक्त हुआ है जिसके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—१. श्रेष्ठ उर या हृदयवाली (सारँग= मयूर; 'मयूर'का पर्याय है 'वर्ही'=वरही=वर हिय = श्रेष्ठ हृदयवाली), २. (गिरि सारँगधर=गिरिधर), ३. अनंत, असीम (सारँग= आकाश, अनंत), ४. विष्णु, ५. ताप, काम-ताप (सारँग = सूर्य, तपन = ताप), ६. रात्रि, ७. कमल, हृदय-कमल, ८. कृष्ण, ९. दीप्ति, १०. दीपक, ११. नेह, स्नेह, १२. कमल, १३. कमल, १४. सखी (सारँग = अलि = सखी), १५. दुर्दशाग्रस्त, पीड़ित (सारँग= मृग = कुरंग; फिर कुरंग = बुरे रंगवाला, कांतिहीन, दुर्दशाग्रस्त, पीड़ित), १६. सखी।

सारांश—सारांश यह है कि विषय के अनुसार सूरदास की भाषा के प्रमुख चार रूप सूर-काव्य में मिलते हैं—सामान्य, मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक। प्रथम रूप में तत्सम शब्द कुछ अधिक मिलते हैं; परन्तु एक तो उसमें मुहावरों-कहावतों का प्रयोग नहीं है और दूसरे, विन्यास भी बहुत अनगढ़ और शिथिल है। अतएव भाषा का यह रूप सूरदास की गौरव-वृद्धि में बाधक ही है, सहायक नहीं। मिश्रित रूप में तत्सम, अर्द्धतत्सम, और तद्भव रूप प्रायः समान अनुपात में मिलते हैं तथा विदेशी शब्दों का भी यत्र–तत्र प्रयोग करने में कवि ने संकोच नहीं किया है। साथ ही, स्थान-स्थान पर मुहावरों-कहावतों के प्रयोग ने इस मिश्रित रूप को और भी सजीवता प्रदान की है। तत्कालीन जन-भाषा का परिचय ओर व्रजभाषा की प्रारंभिक अवस्था का ज्ञान कराने की दृष्टि से यह भाषा-रूप विशेष महत्व का है।

अंतिम दोनों रूपों में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है; अतएव इनमें विदेशी शब्दों का विशेष रूप से और तद्भव-अर्द्धतत्सम शब्दों का सामान्य रूप से, कम प्रयोग किया गया है। इस बात को ध्यान में रखकर यदि साहित्यिक और आलंकारिक भाषा-रूपों का अंतर देखा जाय तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रथम में तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव और अर्द्धतत्सम रूप तो मिल ही जाते हैं, प्रचलित विदेशी शब्दों को भी कवि ने रुचि से उसमें स्थान दिया है; परन्तु आलंकारिक रूप में सूरदास ने इनसे, विशेषकर विदेशी शब्दों से, बचने का ही प्रयत्न किया है।

दूसरा अन्तर अलंकारों के प्रयोग से संबंध रखता है। भाषा के सामान्य रूप में इनका प्रयोग नहीं के बराबर किया गया है, मिश्रित रूप में कहीं-कहीं सरल अलंकार मिलते हैं, साहित्यिक में सामान्य अनुप्रासों की तो प्रचुरता है ही, अन्य अलंकारों के साथ साथ सांग रूपक वाले पद भी अनेक हैं, परन्तु अंतिम रूप में कवि ने अलंकारों की झड़ी-सी लगा दी है। जिन पदों की भाषा आलंकारिक है उनके प्रायः प्रत्येक चरण में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा अथवा रूपक में से एक न एक अलंकार अवश्य मिलता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि व्रजभाषा के सभी रूपों पर सूरदास का पूरा पूरा अधिकार था और विषय के अनुसार भाषा लिखने में वे प्रायः सर्वत्र सफल हुए हैं।

१३. सा. २०९७।

२. पात्र के अनुसार भाषा-रूप—

सूर-काव्य में जितने पात्र आये हैं, स्थूल रूप से उनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है क. पौराणिक पात्र, ख. गोकुल-वृंदाबन-वासी पात्र और ग. मथुरा-द्वारिका-वासी पात्र। इन तीनों वर्गों के पात्रों की भाषा में जो अंतर है उसकी भी विवेचना करना आवश्यक है।

क. पौराणिक-पात्र—जिन पौराणिक पात्रों की सूर-काव्य में चर्चा है उनमें मुख्य पुरुष पात्र हैं—अंबरीष, अर्जुन, ऋषभदेव, कपिल, जड़भरत, दशरथ, दुर्योधन, धृतराष्ट्र, नारद, परशुराम, परीक्षित, पुरुरवा, प्रह्लाद, ब्रह्मा, भरत, भीष्म, महादेव, मैत्रेय, युधिष्ठिर, राम, रावण, लक्ष्मण, वामन, विदुर, विभीषण, शुकदेव, हनुमान आदि। और मुख्य स्त्री पात्र हैं - कुंती, कैकेयी, कौशल्या, पार्वती, मंदोदरी, सीता, सुमित्रा आदि। स्त्री और पुरुष, इन दोनों वर्गों के ये प्रायः सभी पात्र कुलीन, योग्य और विद्वान हैं। इसलिए सामान्य स्थिति में इन सभी की भाषा प्रायः मिश्रित है। अंतर उसमें जिन कारणों से होता है, उनमें तीन प्रधान हैं। पहला है तात्विक विवेचन की स्थिति जिसके फलस्वरूप भाषा में पारिभाषिक शब्द कुछ अधिक आ जाते हैं। इस प्रकार की भाषा के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। दूसरा कारण है पात्र का भावावेश जिसमें भाषा कभी-कभी साहित्यिक हो जाती है। इसका उदाहरण 'नमो नमो हे करुना-निधान' से आरंभ होनेवाले पद में मिलता है। परीक्षित द्वारा कहे गये इस पद की भाषा शुकदेव के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता के कारण साहित्यिक हो गयी है। तीसरा कारण है कवि की रुचि। जिन व्यक्तियों की कथा में कवि ने विशेष रुचि नहीं ली, उनके काव्यों की भाषा सामान्य श्रेणी की है; परंतु जिनमें कवि ने रुचि ली है—जैसे राम-कथा - उनके वक्तव्य विशेष स्थलों पर साहित्यिक भाषा में भी हुए हैं। इस प्रकार के उदाहरण भी पीछे दिये जा चुके हैं।

निम्नलिखित पदों की भाषा को इन पौराणिक पात्रों की प्रतिनिधि भाषा कहा जा सकता है—

१. कह्यौ सुक श्री भागवत बिचारि।
हरि कौ भक्ति जुगै जुग बिरधै, आन धर्म दिन चारि।
चिंता तजौ परीच्छित राजा सुनि सिख साखि हमार।
कमल नैन की लीला गावत कटत अनेक बिकार।
सतजुग सत, त्रेता तप कीजै द्वापर पूजा चारि।
सूर भजन कलि केवल कीजै, लज्जा कानि निवारि[१४]।

२. ऐसौ जिय न धरी रघुराइ।
तुम सौ प्रभु तजि मो सी दासी, अनत न कहुँ समाइ॥
तुमरो रूप अनूप भानु ज्यौं, जब नैननि भरि देखौं।

१४. सा. २-२।

ता छिन हृदय-कमल प्रफुलित ह्वै, जनम सफल करि लेखौं।
तुम्हरैं चरन-कमल सुख-सागर, यह व्रत हौं प्रतिपलिहौं।
सूर सकल सुख छाँड़ि आपनौ, बन-बिपदा सँग चलिहौं[१५]।

३. वै लखि आए राम रजा।
जल कैं निकट आइ ठाढ़े भए, दीसति बिमल ध्वजा।
सोवत कहा चेत रे रावन, अब क्यौं खात दगा।
कहति मंदोदरि, सुनु पिय रावन, मेरी बात अगा।
तृन दसननि लै मिलि दसकंधर, कंठनि मेलि पगा।
सूरदास प्रभु रघुपति आए, दहपट होइ लँका[१६]।

ख. गोकुल-वृंदावन-वासियों की भाषा - नंद, उपनंद, वृषभानु और उनके समव्यस्क अन्य गोप; कृष्ण, बलराम और उनके सखा, गोकुल-वृंदावन के प्रमुख पात्र हैं तथा कीर्ति, यशोदा और उनकी समवयस्क गोपियाँ; राधा और उसकी सखियाँ-सहेलियाँ प्रमुख स्त्री-पात्र हैं। इन सभी पात्र-पात्रियों की भाषा प्रायः मिश्रित है; परंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता है मुहावरों-कहावतों का प्रयोग। साधारण वार्तालाप में भी उपयुक्त अवसर पर इनकी भाषा से मुहावरों-कहावतों का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक किया गया है और भावावेश में तो कवि ने इनकी झड़ी ही लगा दी है। इस द्वितीय प्रकार के भावावेश के कारण परिवर्तित भाषा-रूप के उदाहरण तो आगे दिये जायँगे, सामान्य स्थिति में इन पात्र-पात्रियों की प्रतिनिधि भाषा निम्नलिखित पदों में मिलती है—

१. बोलि लियौ बलरामहिं जसुमति।
लाल, सुनौ हरि के गुन, काल्हहि तैं लँगरई करत अति।
स्यामहिं जान देहि मेरैं सँग, तू काहैं डर मानति।
मैं अपने ढिग तैं नहिं टारौं जियहिं प्रतीति न आनति।
हँसी महरि बल की बतियाँ सुनि, बलिहारी या मुख की।
जाहु लिवाइ सूर के प्रभु कौं, कहति बीर के रुख की[१७]।

२. दै री मैया, दोहनी, दुहिहौं मैं गैया।
माखन खाए बल भयौ, करौं नंद-दुहैया।
कजरी, धौरी सेंदुरी, धूमरि मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ मैं तुरत हीं, तू करि दै घैया।
ग्वालनि की सरि दुहत हौं, बूझहिं बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया[१८]।

१५. सा. ९-३५। १६. सा. ९-११४। १७. सा. ४२५। १८. सा. ६६६।

३. सखियनि यहै बिचार परचौ।
राधा कान्ह एक भए दोऊ, हमसौं गोप करचौ।
बृंदाबन तैं अबहीं आई, अति जिय हरष बढ़ाए।
औरै भाव, अंग छबि औरै, स्याम मिले मन भाए।
तब वह सखी कहति मैं बूझी, मोतन फिरि हँसि हेरचौ।
जबहिं कही सखि मिले तोहिं हरि, तब रिस करि मुख फेरचौ।
औरै बात चलावन लागी, मैं वाकौ पहिचानी।
सूर स्याम कैं मिलत आजुहीं, ऐसी भई सयानी[११]।

४. तब बोले हरि नंद सौं, मधुरैं करि बानी।
गर्ग बचन तुमसौं कही, नहिं निहचै जानी।
मैं आयौ संसार मैं, भुव - भार उतारन।
तिनकौं तुम धनि धन्य हौ, कीन्हौ प्रतिपारन।
मातु-पिता मेरैं नहीं, तुमतैं अरु कोऊ।
एक बेर ब्रज लोग कौं, मिलिहौं सुनौ सोऊ।
मिलन-हिलन दिन चारि कौ, तुम तौ सब जानौं।
मोकौं तुम अति सुख दियौ, सो कहा बखानौं[१]।

५. कहिबें जिय न कछू सक राखौ।
लाँबी मेलि दई है तुमकौं, बकत रहौ दिन आखौ।
जाकी बात कहौ तुम हमकौं, सु धौं कहौ को काँधी।
तेरैं कहौ पवन कौ भुस भयौ, बह्यौ जात ज्यौं आँधी।
कत स्रम करत सुनत को ह्याँ है, होत जु बन कौ रोयौ।
सूर इते पर समुझत नाहीं, निपट दई कौ खोयौ[२]।

६. गुप्त मते की बात कहौं, जो कहौ न काहू आगैं।
कै हम जानैं कै हरि तुमहूँ, इतनी पावहिं मागैं।
एक बेर खेलत बृंदाबन, कंटक चुभि गयौ पाइ।
कंटक सौं कंटक लै काढ़चौ, अपनै हाथ सुभाइ।
एक दिवस बिरहत बन भीतर, मैं जु सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि मनोहर, चढ़े कृपा करि रूख।
ऐसी प्रीति हमारी उनकी, बसतैं गोकुल बास।
सूरदास प्रभु सब बिसराई, मधुबन कियौ निवास[३]।

---

११. सा. १७२०। १. सा. ३११४। २. सा. ३५४०। ३. सा. ३८२२।

ऊपर के प्रायः सभी पद पात्र-पात्रियों की सामान्य मानसिक स्थिति में कहे गये हैं **और प्रायः** सभी की भाषा सरल और सादे ग्रामीण जीवन से मेल खाती है। इसमें प्रधानता तो अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की ही है; परंतु तत्सम शब्द भी वे ही प्रयुक्त हुए हैं जिनका उच्चारण बहुत सुगम है और जो उनकी भाषा में घुलमिल गये हैं। इस प्रकार की सरलता का निर्वाह सूरदास जैसे सरल और आडंबरहीन जीवन बितानेवाले कवि के ही वश की बात थी और अपनी इस सादगी में भी वे कदाचित् बेजोड़ ही हैं।

(ग) **मथुरा-द्वारका-वासियों की भाषा**—अक्रूर, उद्धव, कंस और उसके असुर सभासद, वसुदेव और अन्य यदुवंशी मथुरा-द्वारकावासी पुरुष-पात्रों में प्रमुख हैं एवं देवकी, रुक्मिणी, सत्यभामा तथा अन्य पुरनारियाँ स्त्री पात्रों में। गोकुल-वृंदावन के नर-नारियों से इन नागरिक पात्र-पात्रियों की शिक्षा-दीक्षा निश्चय ही अधिक होनी चाहिए और उसका प्रभाव इनकी भाषा पर पड़ना भी स्वाभाविक ही है। अतः मथुरा और द्वारिकावासी पात्र-पात्रियों की भाषा-मिश्रित भाषा-रूप की ओर तो कम, साहित्यिक की ओर अधिक झुकी हुई है; जैसे—

१. रथ पर देखि हरि-बलिराम।
निरखि कोमल चारु मूरति, निरखि मुक्ता-दाम।
मुकुट कुंडल पीत पट छबि, अनुज भ्राता स्याम।
रोहिनी-सुत एक कुंडल, गौर तनु सुख-धाम।
जननि कैसै धर्‌यौ धीरज, कहति सब पुर-बाम।
बोलि पठयौ कंस इनकौं, करै धौं कह काम।
जोरि कर बिधि सौं मनावति, आसिष दै दै नाम।
न्हात बार न खसै इनकौ, कुसल पहुँचैं धाम।
कंस कौ निरबंस ह्वैहै, करत इन पर ताम।
सूर-प्रभु नँद-सुवन दोऊ हंस-बाल उपाम[४]।

२. देखि री आवत वे दोऊ।
मनि कंचन की रासि ललित अति, यह उपमा नहिं कोऊ।
कीधौं प्रात मानसरवर तैं, उड़ि आए दोउ हंस।
इनकौं कपट करै मथुरापति, तौ ह्वैहै निरबंस।
जिनके सुने करत पुरुषारथ, तेई हैं की ओर।
सूर निरखि यह रूप माधुरी, नारि करतिं मन डौर[५]।

ये वाक्य मथुरा की नारियों के हैं जो श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्यों की कथा सुनकर उन पर पहले ही मुग्ध हो चुकी हैं और जो आज उनके दिव्य रूप का प्रत्यक्ष दर्शन करके

४. सा. ३०२९। ५. सा. ३०६१।

सौभाग्य सराहती हैं। स्पष्ट है कि यह भाषा सामान्य स्थिति की अपेक्षा प्रेम की मुग्धावस्था में निःसृत हुई है और श्रीकृष्ण-बलराम के रूप के कारण कुछ अधिक साहित्यिक भी हो गयी है। फिर भी इन पदों में मुहावरों का प्रयोग उनकी भाषा को अन्य पात्रों की भाषा से भिन्न कर देता है।

उद्धव की भाषा के दो रूप 'सूरसागर' में मिलते हैं। जब वे गोपियों को शुष्क ज्ञान का उपदेश देते हैं, तब उनकी भाषा दार्शनिक विवेचन के नीरस, पारिभाषिकता-प्रधान सामान्य भाषा-रूप के निकट पहुँच जाती है : जैसे—

वे हरि सकल ठौर के बासी।
पूरन ब्रह्म अखंडित, मंडित, पंडित मुनिनि बिलासी।
सप्त पताल ऊरध अध पृथ्वी, तल नभ बरुन बयारी।
अभ्यंतर दृष्टी देखन कौं, कारन-रूप मुरारी।
मन बुधि चित अहँकार, दसेंद्रिय प्रेरक थंभनकारी।
ताकैं काज बियोग बिचारत, ये अबला ब्रजनारी।
जाकौं जैसौ रूप मन रुचै, सो अपबस करि लीजै।
आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै।
षट दल अठ द्वादस दल निरमल, अजपा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि, यौं मिलिहैं बनमाली।
एकादस गीता स्रुति साखी, जिहिं बिधि मुनि समुझाए।
ते संदेस श्रीमुख गोपिनि कौं, सूर सु मधुप सुनाए[६]।

इसके विपरीत, जब वे गोपियों के प्रेम से प्रभावित होकर मथुरा लौटते हैं और श्रीकृष्ण से व्रजवासियों की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन करते हैं, तब भाषा का रूप पूर्णतया बदल जाता है। उसमें न अब प्रयास है, न शुष्कता और व्रजवासियों की सी मिश्रित शब्दावली में ही वे कहने लगते हैं —

१. सुनियै ब्रज की दसा गुसाईं।
रथ की धुजा पीत-पट भूषन, देखत ही उठि धाईं।
जो तुम कही जोग की बातें, सो हम सबै बताईं।
स्रवन मूँदि गुन-कर्म तुम्हारे, प्रेम मगन मन गाईं।
औरौ कछू सँदेस सखी इक, कहत दूरि लौं आई।
हुतौ कछू हमहूँ सौं नातौ, निपट कहा बिसराई।
सूरदास प्रभु बन बिनोद करि, जे तुम गाइ चराईं।
ते गाईं अब ग्वाल न घेरत, मानौं भईं पराई[७]।

६. सा ३८६६। ७. सा. ४०९९।

२. कहाँ लौं कहिऐ ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगनि, जैसैं दिवस बिहात ।
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत सब, मलिन बदन कृस गात ।
परम दीन जनु सिसिर हेम हत, अंबुजगन बिनु पात ।
जो आवत देखि दूरि तैं, उठि पूछत कुसलात ।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर चरननि लपटात ।
पिक चातक बन बसन न पावत, बायस बलि नहिं खात ।
सूर स्याम संदेसनि कैं डर, पथिक न उहिं मग जात[८] ।

रसिकवर श्रीकृष्ण ऊधव के इस हृदय-परिवर्तन को लक्ष्य करते हैं और उन्हीं की सी शब्दावली में व्रजवासियों के प्रति अपनी अविचल प्रीति की सांत्वनामय घोषणा करते हैं—

ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजन की छाहीं ।
वै सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं ।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं ।
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा-नंद निबाहीं ।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं[९] ।

मथुरा आने पर नागरिक वातावरण में पर्याप्त समय बिताने और शिक्षा ग्रहण करने के फलस्वरूप श्रीकृष्ण की भाषा में अब परिवर्तन हो जाना चाहिए था; परंतु उसका कोई संकेत उक्त पद की भाषा से नहीं मिलता । कारण है श्रीकृष्ण की मानसिक स्थिति । व्रजवासियों के निर्मल प्रेम के सामने वे जिस प्रकार मथुरा के राजसी वैभव को तुच्छ समझते हैं, उसी प्रकार उनकी स्मृति से पुलकित होने पर भाषा भी नागरिक संस्कार त्याग कर अपने मूल प्राकृतिक रूप में ही सामने आती है ।

मथुरा-द्वारका के अन्य स्त्री-पुरुषों के, सामान्य स्थिति के वक्तव्य 'सूरसागर' में नहीं के बराबर हैं । वे सब तो अब श्रीकृष्ण के परम प्रिय संपर्क का सुख भोग रहे हैं। अतएव उनके हर्षयुक्त हृदय से जो उद्‌गार निकलते हैं, उनकी भाषा मथुरा के नर-नारियों की भाषा से ही मिलती-जुलती है, जिसके उदाहरण आगे दिये जायँगे ।

इ. मनोभावों के अनुसार भाषा-रूप—

हर्ष-शोक, प्रेम-घृणा, क्रोध-ईर्ष्या आदि मनोभाव विशेष परिस्थिति में विविध कारणों से सजग होकर जिस प्रकार जीवन का सामान्य क्रम परिवर्तित कर देते हैं, उसी प्रकार

८. सा. ४११९ । ९. सा. ४१५७ ।

उसकी नियमित गति में भी तीव्रता ला देते हैं। भाव-विशेष की सजगता-जन्य इस परिवर्तन का पात्र-पात्री की भाषा पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। सूरदास ने श्रीकृष्ण की कथा को जिस रूप में अपनाया है उसमें अतिशय सुख के अनेक अवसर हैं। द्रौपदी की लाज-रक्षा नंद-गृह में पुत्र-जन्म, अनेक आपत्तियों से उसकी रक्षा, कंस-वध के पश्चात् भय और संकट से प्रजा का मुक्त होना, बारह वर्ष से विछुड़े पुत्रों से वसुदेव-देवकी की भेंट आदि के साथ साथ प्रिय समागम के अनेक सुखद प्रसंगों की चर्चा सूर-काव्य में मिलती है। सूरदास ने अपनी ओर से तो इन प्रसंगों का वर्णन असाधारण उल्लास से किया ही हैं, साथ साथ ऐसे अवसरों पर हर्षातिरेक और कृतज्ञता की जो लहर संबंधित पात्र-पात्रियों के हृदय-सागर में हिलोरें लेती है, भाषा के माध्यम से वह पाठक को भी आनंदसिक्त करने में समर्थ है; जैसे—

१. उठीं सखी सब मंगल गाइ।
जागु जसोदा, तेरैं बालक उपज्यौ, कुँवर कन्हाइ।
जो तू रच्यौ-सच्यौ या दिन कौं, सो सब देहि मँगाइ।
देहि दान बंदीजन गुनि-गन, ब्रज-बासिनि पहराइ।
तब हँसि कहति जसोदा ऐसैं, महरहिं लेहु बुलाइ।
प्रगट भयौ पूरब तप कौ फल, सुत-मुख देखौ आइ[१०]।

२. जल तैं आए स्याम तब, मिले सखा सब धाइ।
मातु-पिता दोउ धाइ कै, लीन्हौ कंठ लगाइ।
फेरि जन्म भयौ कान्ह, कहत लोचन भरि आए।
जहाँ तहाँ ब्रज-नारि गोप आतुर ह्वै धाए।
अंकम भरि भरि मिलत हैं, मनु निधनी धन पाइ।
मिली धाइ रोहिनि जननि, चूमति लेति बलाइ।
सखा दौरि कै मिले, गए हरि हम पर रिसि करि।
धनि माता, धनि पिता, धन्य सो दिन जिहिं अवतरि[११]।

३. गोबिंद गोकुल जीवन मेरे।
जाहि लगाइ रही तन-मन-धन, दुख भूलत मुख हेरैं।
जाके गर्व बच्यौ नहिं सुरपति, रह्यौ सात दिन घेरे।
ब्रज-हित नाथ गोबर्धन धारचौ, सुभग भुजनि नख नेरैं।
जाकौ जस रिषि गर्ग बखान्यौ, कहत निगम नित टेरे।
सोइ अब सूर सहित संकर्षन पाए जतन घनेरे[१२]।

१०. सा. १०-१४। ११. सा. ५८९। १२. सा. ३१९५।

४. आजु बजाई मुरली मनोहर, सुधि न रही कछु तन-मन मैं।
मैं जमुना-तट सहज जाति ही, ठाढ़े कान्ह बृँदावन मैं।
नाना राग-रागिनी गावत, धरे अमृत मृदु बैननि मैं।
सूर निरखि हरि अंग त्रिभंगी, वा छबि भरि लियौ नैननि मैं[१३]।

५. धाइ मिले पितु-मात कौं यह कहि मैं निजु तात।
मधुरैं दोउ रोवन लगे, जिन सुनि कंस डरात।
....

निहचै जननी जानि कंठ धरि रोवन लागी।
तब बोले बलराम, मातु, तुम तैं को भागी।
बार-बार देवै कहै, गोद खिलाए नाहिं।
द्वादस बरस कहाँ रहे, मातु-पिता बलि जाहिं[१४]।

इस सभी पदों में सूरदास के विभिन्न पात्र-पात्रियों के विविध अवसरों पर व्यक्त किये गये हर्षोद्‌गार हैं। अंतिम पद में माता देवकी प्रिय पुत्र को बारह वर्ष पश्चात् ललक कर कंठ लगाती है; परंतु दीर्घकालीन बंदी जीवन से मुक्ति, कंस के अत्याचारों से मुक्ति, लाल के प्रिय दर्शन का आनंद और उसको गोद में खिलाने से वंचित रहने, बाल क्रीड़ा का सुख न देख सकने के पश्चाताप, इन सब सम्मिलित भावों के सहसा उदीप्त हो जाने से उसके अश्रु भी तब तक नहीं थमते जब तक श्रीकृष्ण संकट के दिवसों के समाप्त हो जाने और भावी जीवन के सभी प्रकार से सुखमय होने का परम संतोषमय आश्वासन नहीं दे देते—

पुनि पुनि बोधत कृष्न, लिखौ मेटै नहिं कोई।
जोइ जोइ मन की साध कहौ करिहौं मैं सोई।
जे दिन गए सु तौ गए अब सुख लूटौ मातु।
तात नृपति रानी जननि जाके मोसौं तात।
जो मन इच्छा होइ तुरत देखौ मैं करिहौं।
गगन धरनि पाताल जात कतहूँ नहिं डरिहौं।
मातु हृदय की कहो तब, मन बाढ़्यौ आनंद।
महर सुवन मैं तौ नहीं, मैं बसुदेव कौ नंद।
राज करौ दिन बहुत जानि कै है अब तुमकौं।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि देउँ मथुरा घर-घर कौं।

१३. सा. १३६५। १४. सा. ३०९०।

रमा सेवकिनि देउँ करि, कर जोरै दिन जाम।
अब जननी जनि दुख करौ, करौ न पूरन काम[१५]।

श्रीकृष्ण के इन परम संतोषदायक वचनों को सुनकर वसुदेव-देवकी ही नहीं, समस्त भक्तजन भी आश्वस्त हो जाते हैं और स्वयं कवि हर्षातिरेक से गा उठता है—

तब वसुदेव हरषित गात।
स्याम रामहिं कंठ लाए, हरषि देवै मात।
अमर दिवि दुंदुभी दीन्ही, भयौ जैजैकार।
दुष्ट दलि सुख दियौ संतनि, ये वसुदेव कुमार।
दुख गयौ बहि हर्ष पूरन, नगर के नर-नारि।
भयौ पूरव फल सँपूरन, लह्यौ सुत दैत्यारि।
तुरत बिप्रनि बोलि पठये, धेनु कोटि मँगाइ।
सूर के प्रभु ब्रह्म पूरन, पाइ हरषे राइ[१६]।

पात्र-पात्रियों के हृदय में असाधारण आनंद का जो स्रोत उमड़ता है, उसको व्यक्त करने वाले निजी वक्तव्य सूर-काव्य में अधिक नहीं हैं। इसके कई कारण हैं। सुख के ऐसे व्यक्तिगत अवसरों को सूरदास ने बड़ी व्यापक दृष्टि से देखा है और उन्हें समस्त लोक के लिए आनंदकारी समझा है। दूसरी बात यह है कि ऐसे अवसरों पर लोक का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वयं कवि ने बड़े विस्तार से हर्षोद्‌गार व्यक्त किये हैं जिनमें पात्रों की आंतरिक प्रफुल्लता भी व्यंजित है। इसका उदाहरण अंतिम—'तब वसुदेव हरषित गात' से आरंभ होनेवाले—पद में मिलता है। इन सभी पदों में भाषा का मिश्रित रूप ही दिखायी देता है। व्यक्ति को अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करते समय भाषा का ध्यान रहता ही नहीं। यही कारण है कि सरल और स्वाभाविक भाषा में ही सूरदास ने ऐसे अधिकांश पद लिखे हैं। परंतु जिन पदों में श्रीकृष्ण के दर्शन से व्रज अथवा मथुरा- वासियों की प्रसन्नता प्रकट की गयी है अथवा स्वयं उन्हीं के मुख से उनके मोहक रूप के प्रति आसक्ति अभिव्यक्त करायी गयी है और उसकी असाधारणता के संबंध में भी कुछ संकेत किये गये हैं, वहाँ भाषा मिश्रित की अपेक्षा साहित्यिक अधिक हो गयी है। श्रीकृष्ण के प्रथम दर्शन पर मथुरा की नारियों ने उनका परिचय देते हुएजो पद पीछे कहे हैं, उनकी भाषा से इस कथन की पुष्टि होती है।

हर्षोद्‌गारों की अपेक्षा दुख और वियोग की स्थितियों में प्रकट किये गये विचार वाले पदों की संख्या बहुत अधिक है। सूर-काव्य में उस सगुण ब्रह्म की लीलाएँ गायी गयी हैं जो भू-लोक-वासियों के दुख से द्रवित होकर अवतार लेता है। अतएव सगुणोपासक भक्त-कवि की रचनाओं में ऐसे पदों की अधिकता होना स्वाभाविक ही था। बाल्यावस्था में श्रीकृष्ण को जब-जब संकटों का सामना करना पड़ा, तब-तब माता यशोदा,

१५. सा. ३०९०। १६. सा. ३०९१

पिता नंद तथा अन्य व्रजवासियों के हृदय की विकलता शब्द-रूप में द्रवित होकर बही है। साथ ही सूरदास ने प्रिय कृष्ण के मथुरा जाने पर उनके साथ अनेकानेक प्रेम-लीलाओं का सुख भोगनेवाली व्रजललनाओं की दयनीय दशा का भी वर्णन बड़े विस्तार से किया है। स्वयं गोपियों की तत्संबंधी उक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। प्रिय पुत्र के वियोग में माता-पिता का हृदय किस प्रकार रुदन करता है, इसको भी कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से लक्ष्य किया है जैसा कि निम्नलिखित पदों से स्पष्ट होता है —

१. जमुना तोहिं बह्यौ क्यों भावै ?
तोमैं कृष्न हेलुवा खेले, सो सुरत्यौ नहिं आवै।
तेरौ नीर सुची जो अब लौं, खार-पनार कहावै।
हरि-बियोग कोउ पाउँ न दैहै, को तट बेनु बजावै।
भरि भादौं की राति अष्टमी, सो दिन क्यौं न जनावै[१७]।

२. नंद पुकारत रोइ, बुढ़ाइ मैं मोहिं छाँड़यौ।
कछु दिन मोह लगाइ, जाइ जल-भीतर माँड़यौ।
यह कहि कै धरनी गिरत, ज्यौं तरु कटि गिरि जाइ।
नंद-घरनि यह देखि कै, कान्हहिं टेरि बुलाइ।
निठुर भए सुत आजु, तात की छोह न आवत।

× × ×

कहति उठी बलराम सौं कितहिं तज्यौ लघु भ्रात।
कान्ह तुमहिं बिनु रहत नहिं, तुमसौं क्यौं रहि जात।
अब तुमहूँ जनि जाहु, सखा इक देहु पठाई।
कान्हहिं ल्यावै जाइ, आजु अवसेर कराई।
छाक पठाऊँ जोरि कै, मगन सोक-सर-माँझ।
प्रात कछू खायौ नहीं, भूखे ह्वै गई साँझ।
कबहुँ कहति बन गए, कबहुँ कहि घरहिं बतावति।
कहँ खेलत हौ लाल, टेरि यह कहति बुलावति।
जागि परी दुख-मोह तैं रोवत देखे लोग।
जब जान्यौ हरि दह गिरयौ, उपज्यौ बहुरि बियोग।
धिक-धिक नंदहिं कह्यौ, और कितने दिन जीहौ।
मरत नहीं मोहिं मारि, बहुरि ब्रज बसिबौ कीहौ।
ऐसे दुख सौं मरन सुख, मन करि देखहु ज्ञान।
ब्याकुल धरनी गिरि परे, नंद भए बिनु प्रान[१८]।

१७. सा. ५६१। १८. सा. ५८९।

३. नंद घरनि यह कहति पुकारे।
कोउ बरषत, कोउ अगिनि जरावत, दई पर्‌यौ है खोज हमारे।
तब गिरिवर कर धरयौ कन्हैया, अब न बाँचिहैं मारत जारे।
जेंवन करन चली जब भीतर, छींक परी ती आजु सवारे।
ताकौ फल तुरतहिं इक पायौ, सो उबरयौ भयौ धर्म सहारे।
अब सबकौ संहार होत है, छींक किए ये काज बिगारे।
कैसेहुँ ये बालक दोउ उबरैं, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे[१९]।

प्रथम दो पद 'कालिय नाग-नाथन' प्रसंग के हैं और अंतिम है 'दावानल प्रसंग' का। एक विपत्ति से छुटकारा नहीं मिलता कि दूसरी आ घेरती है। ऐसी स्थिति में उस दैव के प्रति भी संदेह हो जाना नितांत स्वाभाविक है, जिसकी कृपा पर सुख के दिनों में पूर्ण विश्वास बना रहता है। अन्तिम पद में इसी बात की ओर संकेत किया गया है। दुख की अधिकता में लंबे वाक्य और क्रमबद्ध उद्‌गार नहीं निकलते। यह बात द्वितीय उदाहरण में देखी जा सकती है। दुखातिरेक से माता यशोदा की स्थिति विक्षिप्त-सी हो जाती है जिसका असंबद्ध प्रलाप भी इस पद में मिलता है। भाषा इन सभी पदों की सीधी-सादी और सामान्य रूप से मिश्रित है। दुख की अत्यधिकता में शरीर और वस्त्रों की तो सुध रहती नहीं; भाषा की चिंता कौन करता है? यह बात भी इन पदों की सरल और अनलंकृत भाषा के संबंध में सर्वथा सत्य है।

यह तो हुआ श्रीकृष्ण की व्रजवासकालीन आपत्तियों के कारण माता-पिता की दुख-मय अवस्था के प्रलापों की भाषा का परिचय; उनके मथुरा-प्रवास पर नंद-यशोदा का विलाप जिस शब्दावली में दिया गया है, उसका कुछ अनुमान इन पदों से हो सकता है—

१. जसोदा बार-बार यौं भाषै।
है कोउ ब्रज मैं हितू हमारौ, चलत गुपालहिं राखै।
कहा काज मेरे छगन-मगन कौं, नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक-सुत मेरे प्रान हरन कौं, काल-रूप ह्वै आयौ।
बरु वह गोधन हरौ कंस सब, मोहिं बंदि लै मेलौ।
इतनोई सुख कमल-नयन मेरी अँखियनि आगें खेलौ।
बासर बदन बिलोकत जीवौं, निसि निज अंकम लाऊँ।
तिहिं बिछुरत जौ जियौ कर्मबस तौ हँसि काहि बुलाऊँ।
कमलनयन गुन टेरत-टेरत, अधर बदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ दुखित नंद जु की रानी[२०]।

२. जसुमति अति हीं भई बिहाल।
सुफलक-सुत यह तुमहिं बूझियत, हरत हमारे बाल।

१९. सा. ५९५। २०. सा. २९७३।

ये दोउ भैया जीवन हमरे, कहति रोहनी रोई।
धरनी गिरति, उठति अति ब्याकुल, कहि राखत नहि कोई।
निठुर भए जब तैं यह आयौ, घरहू आवत नाहिं।
सूर कहा नृप पास तुम्हारौ, हम तुम बिनु मरि जाहिं [२१]।

३. मोहन नैंकु बदन-तन हेरौ।
राखौ मोहिं नात जननी कौ, मदन गुपाल लाल मुख फेरौ।
पाछैं चढ़ौ बिमान मनोहर, बहुरौ ब्रज मैं होत अँधेरौ।
बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखौ घोष जनम कौ खेरौ।
समदौ सखा स्याम यह कहि कहि, अपने गाइ-ग्वाल सब घेरौ।
गए न प्रान सूर ता अवसर, नंद जतन करि रहे घनेरौ[२२]।

४. कहा हौं ऐसे ही मरि जैहौं।
इहिं आँगन गोपाल लाल कौ, कबहुँ कि कनिया लैहौं।
कब वह मुख बहुरौ देखौंगी, कह वैसौ सचु पैहौं।
कब मोपै माखन माँगैंगे, कब रोटी धरि दैहौं।
मिलन आस तन प्रान रहत हैं, दिन दस मारग ज्वैहौं।
जौ न सूर आइहैं इते पर, जाइ जमुन धँसि लैहौं[२३]।

प्राण-प्रिय पुत्र का मथुरा-प्रवास माता यशोदा के जीवन का सबसे दुखमय प्रसंग था; परंतु उसमें आशा की एक किरण शेष थी। वह यह कि अनेकानेक आपत्तियों से जिस प्रकार श्रीकृष्ण की पहले रक्षा हो चुकी है, उसी प्रकार कंस को मार कर पिता नंद के साथ वे इस बार भी सकुशल ब्रज लौट आयँगे। परंतु माता यशोदा को जीवित रखनेवाली यह आशा उस दिन अंधकारमयी निराशा में परिणत हो गयी जब उसने पति को अकेले ही घर लौटते देखा। पुत्र के वियोग के अनंत दुख से अब उसका हृदय फटने लगा जिससे पति पर वह बार-बार खीझती और झुँझलाती है। इस अवसर पर यशोदा की भाषा का परिचय निम्नलिखित पदों से मिलता है –

१. जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै।
इक तौ जरी जात बिनु देखैं, अब तुम दीन्हौं फूँकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूक।
धिक तुम धिक ये चरन अहौ पति, अध बोलत उठि धाए।
सूर-स्याम-बिछुरन की हम पै दन बधाई आए[२४]।

२१. सा. २९७८। २२. सा. २९९०। २३. सा. ३०११। २४. सा. ३१३४।

२. कह ल्यायौ तजि प्रान जिवन धन।
राम कृष्न कहि मुरछि परी धर, जसुदा देखत ही पुर लोगन।
विद्यमान हरि-बचन स्रवन सुनि, कैसैं गए न प्रान छूटि तन।
सुनी न कथा राम-दसरथ की, अहौ न लाज भई तेरैं मन।
मंद हीनमति भयौ नंद अति, होत कहा पछिताने छन-छन।
सूर नंद फिरि जाहु मधुपुरी, ल्यावहु सुत करि कोटि जतन धन[२५]।

श्रीकृष्ण के व्रजवास-कालीन संकटों से उनके सखाओं और उनकी प्रिय व्रज-बालाओं को अत्यंत दुख होना तो स्वाभाविक था; परंतु उनके तत्संबंधी उद्‌गारवाले पद सूर-काव्य में बहुत कम हैं। हाँ, प्रेमलीलाओं के अवसर पर प्रियतम के अंतर्धान हो जाने पर उनकी सुकुमार प्रेमिकाएँ जिस वियोग-जन्य दुख का अनुभव करती हैं, उसके द्योतक वक्तव्यों की भाषा का परिचय नीचे लिखे पदों से मिल सकता है—

१. सखी मोहिं मोहनलाल मिलावै।
ज्यौं चकोर चंदा कौ, कीटक भृंगी ध्यान लगावै।
बिनु देखैं मोहिं कल न परति है, यह कहि सबनि सुनावै।
बिनु कारन मैं मान कियौ री, अपनेहि मन दुख पावै।
हा-हा करि-करि, पायनि परि-परि, हरि-हरि टेर लगावै।
सूर स्याम बिनु कोटि करौ जौ, और नहीं जिय आवै[२६]।

२. अहो कान्ह, तुम्हैं चहौं, काहैं नहिं आवहु।
तुमहीं तन, तुमहीं धन, तुमहीं मन भावहु।
कियौ चहौं अरस-परस, करौं नही माना।
सुन्यौ चहौं स्रवन, मधुर मुरली की ताना।
कुंज-कुंज जपत फिरौं, तेरी गुन-माला।
सूरज-प्रभु बेगि मिलौ, मोहन नँदलाला[२७]।

परंतु प्रियतम कृष्ण को मथुरा जाते देखकर कोमल कलेवरा गोपियों का सुकुमार और प्रेमपूर्ण हृदय असह्य वियोग का भार सहन नहीं कर पाता और निम्नलिखित शब्दों में विलख उठता है—

१. चलन कौं कहियत हैं हरि आज।
अबहीं सखी देखि आई है, करत गवन कौ साज।
कोउ इक कंस कपट करि पठयौ, कछु सँदेस दै हाथ।
सु तौ हमारौ लिये जात है, सरबस अपनैं साथ।

२५. सा. ३१३९। २६. सा. ११३४। २७. सा. ११३७।

सो यह सूल नाहिं सुनि सजनी, सहियै धरि जिय लाज।
धीरज जात, चलौ अबहीं मिलि, दूरि गऐं कह काज।
छाड़ौं जग जीवन की आसा, अरु गुरुजन की कानि।
बिनती कमल-नयन सौं करियै, सूर समै पहिजानि[२८]।

२. पाछैं ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पायँ।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाय।
पवन न भई, पताका अंबर, भई न रथ के अंग।
धूरि न भई चरन लपटाती, जातीं उहँ लौ संग।
ठाढ़ी कहा, करौ मेरी सजनी, जिहिं बिधि मिलहिं गुपाल।
सूरदास-प्रभु पठै मधुपुरी, मुरझि परी ब्रजबाल[२९]।

अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण के मथुरा जाते समय माता यशोदा के वियोग-वर्णन में ही कवि का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहा है। इसलिए ब्रजवासियों के तत्संबंधी कथन वाले पद इस प्रसंग में अधिक नहीं मिलते। परंतु आगे चलकर 'सूरसागर' में गोपियों के विरह-वर्णन को कवि ने बहुत विस्तार दिया है और प्रायः प्रत्येक पद में कोई न कोई ऐसी मार्मिक उक्ति पाठक को अवश्य मिल जाती है जिससे वह कवि की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाता है। वियोगिनी ब्रज-बालाओं के विरह-वर्णन वाले इन पदों को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – प्रथम में उनके पारस्परिक वचन हैं और द्वितीय में अपनी दयनीय दशा का वर्णन उन्होंने उद्धव से किया है। प्रथम वर्ग के कुछ उदाहरण ये हैं—

१. इहिं बिरियाँ बन तैं ब्रज आवत।
दूरहिं तैं वह बेनु अधर धरि, बारंबार बजावत।
कबहुँक काहूँ भाँति चतुर चित, अति ऊँचे सुर गावत।
कबहुँक लै-लै नाम मनोहर, धौरी धेनु बुलावत।
इहिं बिधि बचन सुनाइ स्याम घन, मुरछे मदन जगावत।
आगम सुख उपचार बिरह-जुर, बासर अंत नसावत।
रचि रुचि प्रम पियासे नैननि, क्रम क्रम बलहि चढ़ावत।
सूर सकल रसनिधि सुंदरघन, आँनद प्रगट करावत[३०]।

२. फिरि ब्रज बसौ गोकुलनाथ।
अब न तुमहिं जगाइ पठवैं, गोधननि के साथ।
बरजैं न माखन खात कबहूँ, दह्यौ देत लुटाइ।

२८. सा. २९८३। २९. सा. २९९९। ३०. सा. ३२०१।

अब न देहि उराहनौ, नँद-घरनि आगैं जाइ।
दौरि दाँवरि देहिं नहिं, लकुटी जसोदा पानि।
चोरी न देहिं उघारि कै, औगुन न कहिहैं आनि।
कहिहैं न चरननि देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहैं न करन सिंगार कबहूँ, बसन जमुना-कूल।
करिहैं न कबहूँ मान हम, हठिहैं न माँगत दान।
कहिहैं न मृदु मुरली बजावन, करन तुम सौं गान।
देहु दरसन नंद-नंदन, मिलन की जिय आस।
सूर हरि के रूप कारन मरत लोचन प्यास[३१]।

३. सखी इन नैंननि तैं घन हारे।
बिनहीं रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग दुख-पावस के मारे।
दुरि-दुरि बूँद परति कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्हीं, बिबि मूरत धरि न्यारे।
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे[३२]।

४. अब यह तनहिं राखि कह कीजै।
सुन री सखी, स्यामसुंदर बिनु, बाँटि बिषम बिष पीजै।
कै गिरिऐ गिरि चढ़ि सुनि सजनी, सीस संकरहि दीजै।
कै दहिऐ दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै।
दुसह बियोग बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे सोचि सोचि कर मींजै[३३]।

इसी प्रकार के लगभग ढाई सौ पदों में गोपियों के हृदयस्पर्शी वचन हैं जो श्रीकृष्ण के वियोग-जन्य दुख से अत्यंत व्यथित होकर उन्होने परस्पर कहे हैं। इनके पश्चात्, उद्धव के आगमन पर और उनका उपदेश सुनकर वे अपनी अनन्य प्रीति की दृढ़ता का परिचय देती हुई असह्य विरह-व्यथा का निवेदन करती हैं—

१. और सकल अंगनि तैं ऊधौ, अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिरातिं सिरातिं न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी।
मग जोवत पलकौ नहिं लावतिं, बिरह-बिकल भइँ भारी।
भरि गई बिरह बयारि दरस बिनु, निसि दिन रहत उघारी।

३१. सा. ३२२८। ३२. सा. ३२३४। ३३. सा. ३३६२।

ते अलि अब ये ज्ञान-सलाकैं, क्यौं सहि सकतिं तिहारी।
सूर जु अंजन आँजि रूप रस, आरति हरहु हमारी[३४]।

२. बहुत दिन गये ऊधौ, चरन-कमल सुख नहीं।
दरस हीन दुखित दीन, छिन-छिन बिपदा सही।
रजनी अति प्रेम पीर, बन गृह मन धरै न धीर।
बासर मग जोवत उर, सरिता बही नैन-नीर।
नलिनी जनु हेम घात, कंपित तन कदलि पात।
लोचन जल पावस भयौ, रही री कछु समुझि बात।
जौ लौं रही अवधि आस, दिन गनि घट रही स्वास।
अब बियोग बिरहनि तन तजिहैं कहि सूरदास[३५]।

३. ऊधौ, हमहिं कहा समुझावहु।
पसु-पंछी सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु।
त्रिन न चरत गो, पिवत न सुत पय ढूँढ़त बन-बन डोलैं।
अलि कोकिल दै आदि बिहंगम, भाँति भयानक बोलैं।
जमुना भई स्याम स्यामहिं बिनु, इंदु छीन छय रोगी।
तरुवर पत्र-बसन न सँभारत, बिरह बृच्छ भए जोगी।
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यौं मीन।
सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि-आस मैं लीन[३६]।

४. नंदनँदन सौं इतनी कहियौ।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि डारयौ, तद्यपि सुरति किए चित रहियौ।
तिनका-तोर करहु जनि हमसौं, एक बात की लाज निबहियौ।
गुन औगुननि दोष नहिं कीजतु, हम दासिनि की इतनी सहियौ।
तुम बिन प्रान कहा हम करिहैं, यह अवलंब न सुपनेहु लहियौ।
सूरदास पाती लिखि पठई, जहाँ प्रीति तहँ ओर निबहियौ[३७]।

५. (ऊधौ) देखत हौ जैसे ब्रजवासी।
लेत उसाँस नैन जल पूरत, सुरिरि सुमिरि अबिनासी।
भूलि न उठति जसोदा जननी, मनौ भुवंगम डासी।
छूटत नहीं प्रान क्यौं अटके, कठिन प्रेम की फाँसी।
आवत नहीं नंद मंदिर मैं, भयौ फिरत बनबासी।

३४. सा. ३५७०। ३५. सा. ३६०५। ३६. सा. ३७९८। ३७. सा. ४०६६।

परम मलीन धेनु दुर्बल भईं, स्याम-बिरह की त्रासी।
गोपी-ग्वाल-सखा बालक सब कहूँ न सुनियत हाँसी[३८]।

यह तो हुई श्रीकृष्ण के जीवन से संबंधित व्यक्तियों के वियोग-जन्य दुख की बात जो 'सूरसागर' के दशम स्कंध के मुख्य विषयों में प्रधान है। इसके पूर्व, प्रथम और नवम स्कंधों में भी संकट में पड़े कुछ पात्र-पात्रियों की करुणोक्तियाँ बहुत मार्मिक हैं—

१. राखौ पति गिरिवर-गिरधारी।
अब तौ नाथ, रह्यौ कछु नाहिंन, उघरत, नाथ अनाथ पुकारी[३९]।

२. रघुनाथ पियारे आजु रहौ (हो)।
चारि जाम बिस्राम हमारैं, छिन-छिन मीठे बचन कहौ (हो)।
बृथा होहु बर बचन हमारौ, कैकई जीव कलेस सहौ (हो)।
आतुर ह्वै अब छाँड़ि अवधपुर, प्रान-जिवन कित चलन कहौ (हो)।
बिछुरत प्रान पयान करैंगे, रहौ आजु पुनि पंथ गहौ (हो)।
अब सूरज दिन दरसन दुरलभ, कलित कमल कर कंठ गहौ (हो)[४०]।

३. फिरत प्रभु पूछत बन-द्रुम बेली।
अहो बंधु, काहूँ अवलोकी, इहिं मग बधू अकेली ?
अहो बिहंग, अहो पन्नग-नृप या कंदर के राइ।
अबकै मेरी बिपति मिटावौ, जानकि देहु बताइ[४१]।

४. मैं परदेसिनि नारि अकेली।
बिनु रघुनाथ और नहिं कोऊ, मातु-पिता न सहेली।
रावन भेष धरयौ तपसी कौ, कत मैं भिच्छा मेली।
अति अज्ञान मूढ़-मति मेरी, राम-रेख पग पेली।
बिरह-ताप तन अधिक जरावत, जैसै दव द्रुम बेली।
सूरदास प्रभु बेगि मिलावौ, प्रान जात हैं खेली[४२]।

दुख, शोक, वियोग और मानसिक क्लेश की स्थिति में कहे गये इन सभी उद्धरणों की भाषा सामान्यतया मिश्रित है। उसमें तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का प्रायः समान प्रयोग किया गया है और विदेशी शब्द भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं। कहावतों का प्रयोग इनमें कम है; परंतु मुहावरों के प्रयोग में उपयुक्तता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। दुख-शोक का आवेग जब असह्य हो जाता है और पात्र-पात्री को प्रलाप के आवेश में अपनी स्थिति तक का पता नहीं रहता, तब भाषा में तत्सम शब्दों की कुछ कमी हो

३८. सा. ४०९१। ३९. सा. १-२४८। ४०. सा. ९-३३। ४१. सा. ९-६४। ४२. सा ९-९४।

जाती हैं और भाषा का रूप जन-बोली के अधिक निकट जान पड़ता है। इसके विपरीत, पूर्व क्रीड़ाओं और संयोग-लीलाओं की स्मृति जहाँ सजग हो जाती है, वहाँ तत्सम शब्दों की संख्या मिश्रित रूप से कुछ बढ़ जाती है। इसी प्रकार गोपियों ने पूर्व स्मृति के रूप में प्रियतम श्रीकृष्ण के उस मनोहर और दिव्य रूप की जहाँ चर्चा की है, जिस पर आसक्त होकर वे हृदय हार बैठी थीं और लोक-लाज, कुल-कानि को भी उन्होंने सहर्ष त्याग दिया था, वहाँ भाषा का रूप पूर्णतया साहित्यिक हो जाता है, यद्यपि उसमें अलंकारों की योजना नहीं के बराबर है। आलंकारिक भाषा के उदाहरण वियोग में न हों, ऐसा तो नहीं है, परंतु उनकी संख्या बहुत कम है। गोपियों के सांग रूपकों में इस प्रकार की भाषा मिलती है, यद्यपि शुद्ध रूप में उनमें स्व-दुख वर्णन नहीं हैं।

सुख-दुख की सामान्य स्थितियों में प्रकट किये गये इन विचारों के अतिरिक्त आश्चर्य, प्रोत्साहन, उपालंभ, क्रोध, पश्चाताप, वीरावेश, व्यंग्य-विनोद आदि वृत्तियों और भावों के उमड़ने पर जिस प्रकार की भाषा विभिन्न पात्र-पात्रियों के मुख से निकलती है, उसकी भी सूरदास को पूरी जानकारी थी। अतएव प्रत्येक मनोभाव के उपयुक्त शब्दावली का उन्होंने सर्वत्र प्रयोग किया है।

क. आश्चर्ययुक्त स्थलों की भाषा—किसी के असाधारण कृत्य को देखकर सामान्य स्त्री पुरुषों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। स्त्रियों की भाषा ऐसी स्थिति में सामान्यतया मुहावरेदार हो जाती है; परंतु बालकों की शब्दावली में उनकी प्रकृति की छाया ही प्रतिबिंबित होती है। यदि व्यक्ति आश्चर्य के अनेक कार्य कर चुका हो, तो उसका नवीन अद्भुत कृत्य देखते ही पूर्व कर्मों का स्मरण भी प्रायः हो आता है जिससे हर्ष का अन्य भाव भी सजग होकर उक्ति को प्रशंसात्मक बना देता है। ऐसे स्थलों पर भाषा में तत्सम शब्दों की कुछ अधिकता हो जाती है। सूरदास के निम्नलिखित पदों में भाषा के ये तीनों रूप मिलते हैं।

१. देखौ री जसुमति बौरानी।
घर घर हाथ दिवावति डोलति, गोद लिए गोपाल बिनानी।
जानत नाहिं जगतगुरु माधौ, इहिं आए आपदा नसानी।
जाकौ नाउँ सक्ति पुनि जाकी, ताकौ देत मंत्र पढ़ि पानी।
अखिल ब्रह्मंड उदरगत जाके, जाकी जोत जल-थलहि समानी।
सूर सकल साँची मोहिं लागति जो कछु कही गर्ग मुख बानी[४३]।

२. ब्रज मैं को उपज्यौ यह भैया।
संग सखा सब कहत परस्पर, इनके गुन अगमैया।
जब तैं ब्रज अवतार धरचौ इन, कोउ नहिं घात करैया।
तृनावर्त पूतना पछारी, तब अति रहे नन्हैया।

४३ सा. १-२५८।

कितिक बात यह बका बिदारचौ, धनि जसुमति जिन जैया।
सूरदास प्रभु की यह लीला, हम कत जिय पछितैया[४४]।

३. चकित देखि यह कहैं नर-नारी।
धरनि-अकास बराबरि ज्वाला, झपटति लपटि करारी।
नहिं बरष्यौ, नहिं छिरक्यौ काहू, कहँ धौं गई बिलाइ।
अति आघात करति बन-भीतर, कैसैं गई बुझाइ[४५]।

४. ब्रज-बनिता सब कहति परस्पर, नंद महर कौ सुत बड़ बीर।
देखौ धौं पुरुषारथ इहिंकौ अति कोमल है स्याम सरीर।
गयौ पताल उरगि गहि आन्यौ, ल्यायौ तापर कमल लदाइ।
कमल-काज नृप ब्रज-मारत हो, कोटि जलज तिहिं दिए पठाइ।
दावागिनि नभ-धरनि बराबरि, दसहुँ दिसा तैं लीन्हौ घेरि।
नैन मुँदाइ कहा तिहिं कीन्हौ, कहूँ नहीं जो देखैं हेरि।
ये उतपात मिटत इनहीं पैं, कंस कहा बपुरौ है छार।
सूर-स्याम अवतार बड़ौ ब्रज, येई हैं कर्त्ता संसार[४६]।

श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्य देखकर व्रजवासियों को जो आश्चर्य होता है, वही उक्त पदों में अभिव्यक्त है। प्रथम और तृतीय पदों में व्रज-बालाओं की उक्तियाँ हैं। भाषा की दृष्टि से पहले पद में जहाँ अनेक मुहावरों का प्रयोग है, वहाँ तृतीय की भाषा सीधी-सादी है। दूसरे पद में बालकों का कथन भी इसी प्रकार की सरल भाषा में है। अंतिम पद में हैं तो गोपियों के पारस्परिक वचन; परन्तु, श्रीकृष्ण के आश्चर्यजनक पूर्व कृत्यों की स्मृति ने उनके मानस में हर्ष का ऐसा संचार किया है कि वाक्य प्रशंसात्मक हो गये हैं और भाषा में तत्सम शब्दों का, अन्य पदों की अपेक्षा, अधिक प्रयोग हुआ है।

ख. **प्रोत्साहनयुक्त स्थलों की भाषा**—कार्य-विशेष में सोत्साह प्रवृत्त करने के लिए कहे गये वाक्य 'सूरकाव्य' में मुख्यतया संयोग लीला प्रसंग में मिलते हैं। राधा किसी कारण से मान करती है और कृष्ण मनाने में जब असफल होते हैं, तब दूती दोनों को मिलाने का दायित्व अपने ऊपर लेती है। प्रिया की मान युक्त उदासीनता से खिन्न कृष्ण को वह अपने वचनों से उत्साहित करती है, राधा से कभी चाटुकारिता प्रधान वचन कहकर उसके रूप-गुण की प्रशंसा करती है, कभी मान करने पर सम्भाव्य अनिष्ट की ओर से शुभाकांक्षिणी बनकर, उसको सचेत करती है और इस प्रकार बड़ी आत्मीयता से उसके मान को अनुचित बताती है। इन प्रोत्साहन वाक्यों की भाषा का अनुमान निम्नलिखित उद्धरणों से हो सकता है—

---

४४ सा. ४२८। ४५ सा. ५९८। ४६ सा. ६००

१. कहा बैठे, चलै बनिहै, आपहूँ नहिं मानिहौं।
तुम कुँवर **घर ही के बाढ़े,** अब कछू जिय जानिहौ।
बेगि चलियै अनखिहै, तुम इहाँ वह उहँ जरति है।
वाकैं जिय **कछु और ह्वैहै,** कपट करि हठ धरति है।
राधिका अति चतुर जानौ, जाइ ता ढिग ही रहौ।
कहा जौ **मुख फेरि बैठी,** मधुर-मधुर बचन कहौ।
सूर प्रभु अब **बनै नाचैं, काछ जैसी तुम कछ्यौ।**
कहियै गुननि प्रबीन राधा, क्रोध बिष काहैं भछ्यौ[४७]।

२. स्याम चतुरई कहाँ गँवाई।
अब जाने **घर के बाढ़े हौ,** तुम ऐसैं कह रहे मुरझाई।
बिना **जोर अपनी जाँघनि के,** कैसैं सुख कीन्हौं तुम चाहत।
आपुन दहत अचेत भए क्यौं, उत मानिनि मन काहैं दाहत।
उहँई रहौ कहैंगी तुमकौ, कतहूँ जाइ रहे बहुनायक।
सूरस्याम मन-मोहन कहियत, तुम हौ सब ही गुन के लायक[४८]।

३. तू तौ प्रान **प्रान**-बल्लभ कैं, वै तुव चरन-उपासी।
सुनिहै कोऊ, चतुर नारि, कत **करति प्रेम की हाँसी।**

× × ×

इन **घोसनि** रूसुनौ करति है, करिहै कबहिं कलोलैं।
कहा **दियौ पढ़ि सीस स्याम कैं,** खींचि अपनौ सो लैं।
तोहिं हठ परयौ प्रानबल्लभ सौं, छूटत नहीं छुड़ायौ।
देखहु मुरछि परयौ मनमोहन, मनहुँ भुअंगिनि खायौ।

× × ×

जानहुगी तब मानहुगी मन, जब तनु काम दहैगौ।
करिहौ मान मदनमोहन सौं, **मानै हाथ रहैगौ**[४९]।

इन पदों की भाषा तो मिश्रित ही है; परंतु मुहावरों-कहावतों का, जैसा कि बड़े छपे अंश से स्पष्ट है, इनमें अधिक प्रयोग किया गया है। सीधी-सादी भाषा में इतनी अधिक स्पष्टता रहती है कि श्रोता को प्रत्यक्ष अर्थ के आगे सोचने का अवसर कम मिलता है, परंतु मुहावरों-कहावतों की अभिप्राय-सूचक सांकेतिकता, विशेष प्रभावो-त्पादक होने के साथ-साथ, श्रोता की चिंतन-वृत्ति को भी सजग करती है। सामान्य शब्दावली स्मृति में देर तक टिकती भी नहीं; परंतु लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपनी अर्थ-

४७ सा. २८१०। ४८ सा. २८१२। ४९ सा. २८२६।

विषयक विशिष्टता के कारण मस्तिष्क में बहुत समय तक चक्कर काटा करते हैं। ऊपर उद्धृत पदों की भाषा इसी दृष्टि से महत्व की है। प्रश्नवाचक वाक्यों की योजना ने भी कहीं-कहीं इस भाषा को बहुत प्रभावशालिनी बना दिया है।

ग. **उपालंभयुक्त स्थलों की भाषा**—बालक कृष्ण की 'अचगरी' और किशोर कृष्ण की छेड़छाड़ जब बहुत बढ़ जाती है, तब व्रज की गोपियाँ उपालंभ के लिए माता यशोदा के पास जाती हैं। इस अवसर पर कहे गये उनके वाक्यों में खीझ है, झुँझलाहट है और रोष भी है। वे कभी तो पुत्र के प्रति यशोदा के लाड़-प्यार का उपहास करती हैं, कभी कृष्ण की करतूतों और अपनी हानियों का बखान करती हैं और कभी गाँव छोड़ने की धमकी दे जाती हैं। ऐसे स्थलों की भाषा निम्नलिखित पदों में देखी जा सकती है—

१. कान्हहिं बरजति किन नँदरानी।
एक गाउँ कैं बसत कहाँ लौं करैं नंद की कानी।
तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया गंगा कैसौ पानी।
बाहिर तरुन किसोर वयस बर, बाट-घाट कौ दानी।
बचन बिचित्र, कमल-दल-लोचन, कहत सरस बर बानी।
अचरज महरि तुम्हारे आगैं, अबै जीभ तुतरानी[५०]।

२. सुनि-सुनि री तैं महरि जसोदा, तैं सुत बड़ो लड़ायौ।
इहिं ढोटा लै ग्वाल भवन मैं, कछु बिचरयौ कछु खायौ।
काकैं नहीं अनौखौ ढोटा, किहिं न कठिन करि जायौ।
मैं हूँ अपनैं औरस पूतैं बहुत दिननि मैं पायौ[५१]।

३. महरि स्याम कौं बरजति काहैं न।
जैसे हाल किए हरि हमकौं, भए कहूँ जग आहैं न।
और बात इक सुनौ स्याम की, अतिहिं भए हैं ढीठ।
बसन बिना अस्नान करति हम, आपुन मींड़त पीठ।
आपु कहति मेरौ सुत बारौ, हियौ उघारि दिखाऊँ।
सुनतहुँ लाज कहत नहिं आवै, तुमकौं कहा लजाऊँ[५२]।

४. देखौ महरि स्याम के ये गुन, ऐसे हाल करे सबके उन।
चोली, चीर, हार बिखराए। आपुन भागि इतहिं कौ आए।
× × ×
इनकैं गुन कैसे कोउ जानै। औरै कहत और धरि बानैं।
देन उरहनौ तुमकौं आईं। नीकीं पहरावनि हम पाई[५३]।

५०. सा. १०-३११। ५१. सा. १०-३३९। ५२. सा. ७७२। ५३. सा. ७९९।

उपालंभ की स्थिति साधारणतया खीझ और झुंझलाहट के बहुत बढ़ जाने पर आती है। परंतु गोपियों के उक्त वाक्यों से सूचित खीझ या झँझलाहट वास्तविक नहीं, कृत्रिम ही है। कारण यह है कि प्रिय कृष्ण के प्रति उनकी प्रीति असीम है और उनके प्रत्येक व्यवहार से उन्हें अपूर्वानंद ही मिलता है। उपालंभों के मिस कभी तो वे उनके दर्शन को जाती हैं और कभी गुरुजन को उँगली उठाने या बुरा-भला कहने का अवसर न देने के लिए उलाहना देती हैं। माता यशोदा से कहे गये उनके वाक्यों से यद्यपि इन मनोभावों की स्पष्ट सूचना नहीं मिलती; तथापि वे इस बात को समझती अवश्य हैं। अतएव उनकी शब्दावली में झुँझलाहट का सामान्य संकेत भर है; चुभनेवाले शब्दों का प्रयोग उन्होंने कहीं नही किया है। मुहावरों का प्रयोग उक्त वाक्यों में अवश्य अधिक है, जिनमें से कुछ बहुत अर्थगर्भित हैं। इनका प्रयोग एक तो ग्रामवासिनी गोपियों के स्वभावानुकुल है और दूसरे, खिझलाहट की उस स्थिति के अनुरूप जिसमें भाषा कुछ व्यंग्यपूर्ण हो ही जाती हैं। ऐसे अवसर पर सूरदास की भाषा की यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि गोपियों का व्यंग्य संयत ही है; वह श्रोता को खिझलाता भर है, उसको क्रोध से अन्धा नहीं कर देता। तत्सम-तद्भव शब्दों की दृष्टि से उपालंभ-प्रसंगों की भाषा प्रायः सर्वत्र मिश्रित है जो पात्र और मनोभाव, दोनों की दृष्टि से उपयुक्त है।

घ. **क्रोधयुक्त स्थलों की भाषा**—सूर-काव्य में प्राप्त क्रोध की व्यंजनावाले पदों को, स्थूल रूप से, दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे पद आते हैं जिनमें क्रोध की सामान्य स्थिति अभिव्यक्त है। खीझ, झुँझलाहट आदि हलके भावों का योग रहने के कारण क्रोध का यह रूप सर्वथा निष्क्रिय ही रहता है। दूसरे रूप में, इसके विपरीत, घृणा या तिरस्कार का भाव इतना प्रबल हो जाता है कि क्रोध का आवेश बहुत बढ़ जाता है। सहचर-भाव से प्रयुक्त व्यंग्य क्रोध के पहले रूप में साभिप्राय रहने पर भी अधिक तीखा नहीं होता; परन्तु दूसरी स्थिति में उसके तीखेपन की इतनी वृद्धि हो जाती है कि लक्षित श्रोता तो तिलमिला ही जाता है, पाठक को भी क्रोध के सक्रिय हो जाने की सम्भावना दीखने लगती है। क्रोध की सामान्य स्थिति में सूरदास द्वारा प्रयुक्त भाषा का परिचय निम्न पदों से मिलता है—

१. सुन री ग्वारि, कहौं इक बात।
   मेरी सौं तुम याहि मारियौ, जबहीं पावौ घात।
   अब मैं याहि जकरि बाँधौंगी, बहुतै मोहिं खिजायौ।
   साटिनि मारि करौं पहुनाई, चितवत कान्ह डरायौ[५४]।
२. सुनहु बात मेरी बलराम।
   करन देहु इनकी मोहिं पूजा, चोरी प्रगटत नाम[५५]।
३. कुँवरि सौं कहति बृषभानु-घरनी।
   नैंकु नहिं घर रहति, तोहि कितनौ कहति,

५४. सा. १०-३३०। ५५. सा ३७६।

रिसनि मोंहि दहति बन भई हरनी।
लरिकिनी सबनि घर, तोसी नहिं कोउ निडर,
चलति नभ चितै नहि तकति धरनी।
बड़ी करवर टरी, साँप सौं ऊबरी,
बात कैं कहत तोहिं लगति जरनी[५६]।

४. क्रोध करि सुता सौं कहति माता।
तोहिं बरजति मरी, अचगरी सिर परी, गर्व-गंजन नाम है बिधाता।
तोहि कछु दोष नहिं, भ्रमति तू जहाँ तहिं, नदी, डोंगर बनहिं पात-पाता।
मातु-पितु लोक की कानि मानै नहीं, निलज भई रहति नहिं लाज गाता।
भली नहिं उन करी, सीस तोकौं धरी, जगत मैं सुता तू महर ताता।
बात सुनिहै स्रवन, भई बिनही भवन, सूर डारै मारि आजु भ्राता[५७]।

प्रथम दो उदाहरणों में श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा का क्रोध व्यक्त हुआ है और अन्तिम दो में राधा के प्रति माता कीर्ति का। दोनों के कथन छोटे बच्चों को सम्बोधित करते हैं; इसलिए बहुत ही सरल शब्दों का प्रयोग इन वाक्यों में हुआ है। वाक्य-विन्यास भी बिल्कुल सीधा-सादा है। भाषा का रूप यद्यपि मिश्रित है, तथापि उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग समान अनुपात में नहीं है; प्रत्युत अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की ही इनमें प्रधानता है। यशोदा के क्रोध में कृत्रिमता होने से खीझ का भाव बहुत हल्का हो गया है जिससे भाषा को मुहावरेदार बनाने में सहायता मिली है। कीर्ति के प्रथम कथन में पुत्री के प्रति उमड़ता वात्सल्य क्रोध के वेग को कम कर देता है जिससे मुहावरों का प्रयोग स्वतः हो जाता है। परंतु अन्तिम पद में झुंझलाहट का शुद्ध रूप मुहावरों के अधिक प्रयोग में अपेक्षाकृत बाधक हुआ है।

उक्त वाक्य क्रोध की सामान्य स्थिति में कहे गये हैं। इनसे कुछ अधिक तीव्रता, जो उक्त अन्तिम पद में व्यंजित क्रोध से भी अधिक आवेगपूर्ण है, नीचे लिखे उदाहरणों में मिलती है—

१. फेंट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा
काहे कौं तुम रारि बढ़ावत, तनक बात कैं कामा।
मेरी गेंद लेहु ता बदलैं, बाँह गहत हौ धाई।
छोटौ बड़ौ न जानत काहूँ, करत बराबरि आई।
हम काहे कौं तुमहिं बराबर, बड़े नंद के पूत।
सूर स्याम दीन्हैं ही बनिहै, बहुत कहावत धूत[५८]।

५६. सा. ६९८। ५७. सा. १९७१। ५८. सा. ५३६।

२. तो सौं कहा धुताई करिहौं।
जहाँ करी तहँ देखी नाहीं, कह तोसौं मैं लरिहौं।
मुँह सम्हारि तू बोलत नाहीं, कहति बराबरि बात।
पावहुगे अपनौ कियौ अबहीं, रिसनि कँपावत गात[५९]।

३. झुकि बोली, ह्याँ तैं ह्वै हाती, कौनैं सिखै पठाई।
लै किनि जाहि भवन आपनैं, ह्याँ लरन कौन सौं आई।
काँपति रिसनि.....................................[६०]।

४. बोलि लीन्हौं कंस मल्ल चानूर कौं, कहा रे करत, क्यौं बिलम्ब कीन्हौ।
बंस निरबंस करि डारिहौं छिनक मैं, गारि दै-दै ताहि त्रास दीन्हौ[६१]।

इन चारों पदों में से प्रथम दो में श्रीकृष्ण और श्रीदामा के पारस्परिक क्रोधयुक्त वचन हैं, तीसरे में राधा ने दूती को और चौथे में कंस ने चाणर को क्रोधयुक्त स्वर में फटकारा है। अंतिम दो पदों में तो उसी स्वर में प्रत्युत्तर के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि दूती राधा को मनाने आयी थी और चाणूर कंस का अधीनस्थ मल्ल था; परंतु प्रथम में श्रीदामा की बाल-प्रकृति उसे प्रत्युत्तर के लिए प्रेरित करती है और वह चुभता हुआ 'धूत' शब्द कह जाता है। इसी प्रकार अंतिम दो पदों में सक्रियता के लिए भी अवकाश नहीं था; लेकिन प्रथम दो पदों के उत्तर-प्रत्युत्तर के पश्चात् मार-पीट तक की नौबत आ सकती थी; परंतु श्रीदामा को 'बड़े नंद के पूत' के ध्यान ने उससे विरत किया और श्रीकृष्ण फेंट छुड़ाकर कदम पर चढ़ गये—

रिस करि लीन्ही फेंट छुड़ाइ।
सखा सबै देखत हैं ठाढ़े, आपुन चढ़े कदम पर धाइ[६२]।

क्रोधावेश में मिश्रित या संयुक्त वाक्यों का प्रयोग प्रायः नहीं होता। उक्त पदों में सूरदास ने भी छोटे-छोटे वाक्य ही रखे हैं। क्रोध की तीव्रता के अनुकूल मुहावरे अवश्य बहुत चुभते हुए प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों की भाषा साधारण मिश्रित रूप में है। बालकों के वार्तालाप में तो तत्सम शब्दों की अधिकता हो ही नहीं सकती थी, राधा और कंस की शब्दावली में भी तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों की ही प्रधानता है।

ङ. पश्चात्ताप-युक्त स्थलों की भाषा—सूर-काव्य में पश्चाताप-युक्त स्थल मुख्यतः दो प्रकार के हैं—प्रथम, क्रोधावेश में किये गये कार्यों पर पश्चाताप और द्वितीय, अज्ञानतावश किये गये कार्यों पर पश्चाताप। दोनो के उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. मैं अभागिनि, बाँधि राखे, नंद-प्रान-अधार।
× × ×
नैन जल भरि ठाढ़ि जसुमति, सुतहिं कंठ लगाइ।
जरै रिसि जिहिं तुमहिं बाँध्यौ, लगै मोहिं बलाइ।

५९. सा. ५३७। ६०. सा. २८२६ ६१. सा. ३०६६। ६२. सा. ५३१।

नंद सुनि मोहिं कहा कहैंगे, देखि तरु दोउ आइ।
मैं मरौं तुम कुसल रहौ दोउ, स्याम-हलधर भाइ[६३]।

२. बरै जेंवरी जिहिं तुम बाँधे, परैं हाथ भहराइ।
नंद मोहिं अतिहीं त्रासत हैं, बाँध कुँवर कन्हाइ[६४]।

३. चूकि परी हरि की सेवकाई।
यह अपराध कहाँ लौं बरनौं, कहि कहि नंद महर पछिताई।
कोमल चरन-कमल कंटक कुस, हम उन पै बन गाइ चराई।
रंचक दधि के काज जसोदा बाँधे कान्ह उलूषल लाई।
इंद्र-प्रकोप जानि ब्रज राखे, बरुन फाँस तैं मोहिं मुकराई।
अपने तन-धन-लोभ, कंस-डर, आगैं कै दीन्हें दोउ भाई।
निकट बसत कबहुँ न मिलि आयौ, इते मान मेरी निठुराई।
सूर अजहुँ नातौ मानत हैं, प्रेम-सहित करैं नंद-दुहाई[६५]।

प्रथम दो उद्धरणों में माता यशोदा का पश्चाताप है और अंतिम में पिता नंद का। यशोदा उन सब उपकरणों के साथ अपने उन अंगों और मनोभावों को कोसती है जो प्रिय पुत्र को बाँधने में सहायक हुए थे। इसी प्रकार नंद भी उन सब बातों का स्मरण करते हैं जिन-जिन से अज्ञानतावश, कम से कम उनकी दृष्टि में, श्रीकृष्ण को कष्ट पहुँचा था। प्रथम दोनों पदों में, यशोदा के मस्तिष्क में एक ही बात के घूमते रहने से अनेक शब्दों की आवृत्ति हुई है जिससे भाषा का मिश्रित रूप बहुत सामान्य हो गया है; परंतु नंद की भाषा में, स्मृति के कुरेदन से वही अपेक्षाकृत तत्समता-प्रधान हो जाता है। मुहावरों का प्रयोग ऐसी स्थिति के उपयुक्त नहीं था; इसलिए सूर ने इन पदों की भाषा को उनसे बचाने का ही प्रयत्न किया है।

च. **वीरावेश-युक्त स्थलों की भाषा**—सूर-काव्य में वीर-रस-प्रधान स्थल बहुत ही कम हैं। श्रीकृष्ण और बलराम ने अनेकानेक राक्षसों और मल्लों का मान-मर्दन अवश्य किया; परंतु सूरदास की वृत्ति ऐसे प्रसंगों में रम न सकी; वीर-रसोद्रेक के ऐसे स्थलों को उन्होंने एक-दो पंक्तियों में ही प्रायः सर्वत्र समाप्त कर दिया। हाँ, कुछ उदाहरण पौराणिक प्रसंगों में अवश्य मिलते हैं जो वीर-भावावेश की दृष्टि से सुंदर कहे जा सकते हैं; जैसे—

१. आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ।
स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।

---

६३. सा. ३८७। ६४. सा. ३८९। ६५. सा. ३१६२।

इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि-बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ[६६]।

२. रावन-से गहि कोटिक मारौं।
जो तुम आज्ञा देहु कृपानिधि, तौ यह परिहस सारौं।
कहौ तौ जननि जानकी ल्याऊँ, कहौ तौ लंक बिदारौं।
कहौ तौ अबहीं पैठि सुभट हति, अनल सकल पुर जारौं।
कहौ तौ सचिव-सबंधु सकल अरि, एकहि एक पछारौं।
कहौ तौ तुव प्रताप श्री रघुबर, उदधि पखाननि तारौं।
कहौ तौ दसौ सीस, बीसौं भुज, काटि छिनक मैं डारौं।
कहौ तौ ताकौं तृन गहाइ कै, जीवत पाइनि पारौं।
कहौ तो सैना चारु रचौं कपि, धरनी-ब्योम-पतारौ।
सैल-सिला-द्रुम बरषि, ब्योम चढ़ि, सत्रु-समूह सँहारौं।
बार-बार पद परसि कहत हौं, हौं कबहूँ नहिं हारौं।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे बचन लगि, सिव-बचननि कौं टारौं[६७]।

३. रघुपति, मन संदेह न कीजै।
मो देखत लछिमन क्यौं मरिहैं, मोकौ आज्ञा दीजै।
कहौ तौ सूरज उगन देउँ नहिं, दिसि दिसि बाढ़ै ताम।
कहौ तौ गन समेत ग्रसि खाऊँ, जमपुर जाइ न राम।
कहौ तौ कालहि, खंड खंड करि टूक टूक करि काटौं।
कहौ तौ मृत्युहि मारि डारि कै, खोद पतालहिं पाटौं।
कहौ तौ चंद्रहि लै अकास तैं, लछिमन मुखहिं निचोरौं।
कहौ तौ पैठि सुधा के सागर, जल समस्त मैं घोरौं।
श्री रघुबर, मोसौं जन जाकैं ताहि कहा सँकराई।
सूरदास मिथ्या नहिं भाषत, मोहिं रघुनाथ दुहाई[६८]।

४. दूसरें कर बान न लैहौं।
सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, एकहि बान असुर सब हैहौं।
सिव-पूजा जिहिं भाँति करी है सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौं।
दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर-माला सिव-सीस चढ़ैहौं।
मनौ तूल-गन परत अगिनमुख, जारि जड़नि जम-पंथ पठैहौं।

६६. सा. १-२७०। ६७ सा. ९-१०८। ६८ सा. ९-१४८।

करिहौं नाहिं बिलंब कछू अब, उठि रावन सम्मुख ह्वै धैहौं।
इमि दलि दुष्ट देव-द्विज मोचन, लंक बिभीषन, तुमकौ दैहौं।
लछिमन-सिया समेत सूर कपि सब सुख सहित अजोध्या जैहौं[६९]।

प्रथम उदाहरण में भीष्म की और अंतिम में श्रीराम की प्रतिज्ञा है। दूसरे और तीसरे पदों में हनुमान की वीरोक्तियाँ हैं। मुहावरों कहावतों का प्रयोग इन पदों में बहुत कम हुआ है; लेकिन भाषा का मिश्रित रूप सामान्य से कुछ अधिक तत्समता-प्रधान है। द्वित्व वर्णों का प्रयोग न होने पर भी इन पदों की भाषा ओज-पूर्ण और बहुत प्रभावोत्पादक है।

छ. **व्यंग्य-और विनोद-पूर्ण स्थलों की भाषा**—सूर-काव्य में व्यंग्य और विनोद के जितने उदाहरण उद्धव-गोपी-संवाद में मिलते हैं, उतने अन्यत्र नहीं। प्रेममयी गोपियों को उद्धव का उपदेश है कि श्रीकृष्ण को भूलकर निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त हों। इनका यह मत इतने हठधर्मीपन के साथ सामने रखा जाता है कि गोपियों को वह फूटी आँखों नहीं सुहाता। उनके तर्कों से चिढ़कर कभी वे उनकी हँसी उड़ाती हैं, कभी उनके सिद्धांतों की; कभी उनके काले-पीले रूप पर व्यंग्य करती हैं, कभी भ्रमर-जैसी उनकी चंचल प्रवृत्ति पर। गोपियों की इन उक्तियों के मूल में स्वयं कवि की सगुण ब्रह्म के प्रति पूर्ण आस्था है जो उन्हें शुष्क वेदांतियों और इंद्रिय-निग्रही योग-साधकों के तर्कों का विनोद और व्यंग्ययुक्त स्वर में उत्तर देने को प्रेरित करती है। श्रीकृष्ण के परम आनंदमय रूप के प्रति अनन्यता का भाव गोपियों की अनेकानेक उक्तियों में इतनी स्पष्टता से व्यंजित है कि अंत में उद्धव-जैसे शुष्कहृदय व्यक्ति भी उससे प्रभावित होकर उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाने लगते हैं। इस दृष्टि से व्रज बालाओं के निम्नलिखित विनोद और व्यंग्यपूर्ण वाक्य निश्चय ही महत्व के हैं—

१. कोउ माई, मधुबन तैं आयौ।
सखी सिमिट सब सुनौ सयानी, हित करि कान्ह पठायौ।
जो मोहन बिछुरे ते गोकुल, इते दिवस दुख पायौ।
सो इन कमलनैन करुनामय, हिरदै माँझ बतायौ।
जाकौ जोगी जतन करत हैं, नैंकहुँ ध्यान न आयौ।
सो इन परम उदार मधुप ब्रज-बीथिनि माँझ बहायौ।
अति कृपालु आतुर अबलनि कौं, व्यापक अगह गहायौ।
समुझि सूर सुख होत स्रवन सुनि, नेति जु निगमनि गायौ[७०]।

२. परम हंस बहुतक सुनियत हैं, आवत भिच्छा माँगन[७१]।

३. ऊधौ, जाहु तुमहिं हम जाने।
स्याम तुमहिं ह्याँ कौं नाहिं पठायौ, तुम हौ बीच भुलाने[७२]।

---

६९ सा. ९-१५७। ७० सा. ३५१२। ७१ सा. ३५१५। ७२ सा. ३५२१।

४. सखी री, मथुरा मैं द्वै हंस।
वे अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीकै गंस।
ये दोउ नीर गँभीर पैरिया इनहि बधायौ कंस।
इनकै कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बंस।
अब इन कृपा करी ब्रज आये, जानि आपनो अंस।
सूर सु ज्ञान सुनावत अबलनि, सुनत होत मति भ्रंस[७३]।

५. मधुबन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले।
प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधुरिपुहिं सिधारे।
उहाँ कंस ह्याँ हम दीननि कौ, दूनौं काज सँवारे।
हरि कौं सिखै सिखावत हमकौ, अब ऊधौ पग धारे।
ह्वाँ दासी रति की कीरति कै, इहाँ जोग बिस्तारे[७४]।

६. आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े[७५]।

७. ऊधौ, तुम अपनौ जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागति, कत बेकाज ररौ।
जाइ करौ उपचार आपनौ, हम जु कहति हैं जी की।
कछुवै कहत कछुक कहि आवत, धुनि दिखियत नहिं नीकी।
साधु होइ तिहिं उत्तर दीजै, तुमसौं मानी हारि।
यह जिय जानि नंद-नंदन तुम, इहाँ पठाए टारि।
मथुरा राहौ बेगि इनि पाइनि, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सु बैद बेगि टोहौ किन, भए मरन के जोग[७६]।

८. निरगुन कौन देस कौ बासी।
मधुकर, कहि समुझाई सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।
कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहिं रस मैं अभिलाषी[७७]।

९. सुनि-सुनि ऊधौ, आवति हाँसी।
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कंस की दासी।

---

७३ सा. ३५८७। ७४ सा. ३५९४। ७५ सा. ३६०४। ७६. सा. ३६११।
७७. सा. ३६३१।

इंद्रादिक की कौन चलावै, संकर करत खवासी।
निगम आदि बंदीजन जाके, सेष सीस के वासी।
जाकैं रमा रहति चरननि तर, कौन गनै कुबिजा सी।
सूरदास प्रभु दृढ़ करि बाँधे, प्रेम-पुंज की पासी[७८]।

१०. ऊधो, धनि तुम्हरौ ब्यौहार।
धनि वै ठाकुर, धनि तुम सेवक, धनि हम बर्तनहार।
काटहु अंब बबूर लगावहु, चंदन की करि बारि।
हमकौं जोग भोग कुबिजा कौ, ऐसी समुझि तुम्हारि।
तुम हरि पढ़े चातुरी बिद्या, निपट कपट चटसार।
पकरौ साह चोर कौं छाँड़ौ, चुगलनि को इतबार।
समुझि न परै तिहारी मधुकर, हम ब्रजनारि गँवार।
सूरदास ऐसी क्यौं निबहै, अंधधुंध सरकार[७९]।

११. ऊधौ, जोग कहा है कीजतु।
ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजत।
कीधौं कछू खिलौना सुंदर, की कछु भूषन नीकौ[८०]।

गोपियों के इन वाक्यों की भाषा सामान्यतया मिश्रित है जिसमें तत्सम, तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों का लगभग समान रूप में प्रयोग हुआ है। विनोदपूर्ण उक्तियों की भाषा प्रायः सर्वत्र ऐसी ही है। परंतु श्रीकृष्ण के मनोहर और आकर्षक रूप के संक्षिप्त सांकेतिक वर्णन में, पूर्व की सुखद स्मृतियों की कसकभरी चर्चा में अथवा प्रियतम की असंभावित निष्ठुरता के उल्लेख में जब वे प्रवृत्त होती हैं तब भाषा का रूप कुछ अधिक तत्समता-प्रधान हो जाता है। व्यंग्य की सामान्य स्थिति में कहे गये वाक्यों की भाषा में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। व्यंग्य जब बहुत तीखा हो जाता है, तब तत्सम शब्दों के स्थान पर चुभते हुए मुहावरों का प्रयोग किया गया है जो अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से विशेष प्रभावशाली है। ऐसे वाक्यों में 'उदार', 'धरमीले', 'धन्य', 'परमहंस', 'हंस' आदि जो प्रशंसात्मक शब्द हैं, उनका विपरीतार्थ गोपियों को अभीष्ट है जिसकी व्यंग्यात्मक ध्वनि उक्तियों की तीव्रता को बहुत-कुछ संयत कर देती है।

भ्रमर-गीत-प्रसंग के अतिरिक्त भी सूर-काव्य के कुछ स्थलों पर व्यंग्य-विनोद-पूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं। ऐसे प्रसंगों में दो प्रधान हैं। प्रथम के उदाहरण प्रलय-मेघों के अभियान को देखकर कहे गये भयभीत व्रजवासियों के वाक्यों में मिलते हैं और द्वितीय के श्रीकृष्ण के संयोग-संबंधी वचनों का निर्वाह न करने पर, खिन्नता की स्थिति में,

---

७८. सा. ३६४३। ७९. सा. ३९०९। ८०. सा. ३९६६।

पुनः उन्हीं को सामने पाकर कहे गये प्रेमिकाओं के वाक्यों में। प्रथम प्रसंग की उक्तियों में केवल व्यंग्य है; द्वितीय में व्यंग्य और विनोद, दोनों का मिश्रण है।

इंद्र की परंपरागत सेवा में लगे व्रजवासियों को श्रीकृष्ण ने गिरि गोवर्द्धन का महत्व समझाया और उसकी पूजा के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया। पिता नंद, पुत्र के प्रस्ताव से सहमत हो गये तो सीधे-सादे व्रजवासी भी उनके साथ हो लिये। बड़े उत्साह से पूजन और भोजन की अपार सामग्री एकत्र की गयी। प्रत्यक्ष दर्शन देकर देव-रूप गिरि गोवर्द्धन सहस्र भुजाएँ पसारकर मनों भोजन चट कर गया। इंद्र ने व्रजवासियों द्वारा की गयी इस अवज्ञा से अपना घोर अपमान समझा और इसके प्रतिकार के लिए मेघों को व्रज पर प्रलय-वृष्टि करने की आज्ञा दी। धर्मभीरु व्रजवासी प्रलयंकरी घटाओं को देखकर, अत्यंत भयभीत होकर व्यंग्य के साथ कहते हैं—

१. बतियाँ कहति हैं ब्रज-नारि।
धरति सैंतति धाम-बासन, नाहिं सुरति सम्हारि।
पूजि आए गिरि गोबरधन, देति पुरुषनि गारि।
आपनौ कुलदेव सुरपति, धरचौ ताहि बिसारि।
दियौ फल यह गिरि गोबरधन, लेहु गोद पसारि।
सूर कौन उबारि लैहै, चढ़यौ इंद्र प्रचारि[८१]।

२. सूरदास गोबर्धन-पूजा कीन्है कौ फल लेहु बिहाने[८२]।

३. ब्रज-नर-नारि नंद-जसुमति सौं कहत, स्याम ये काज करे।
कुल-देवता हमारे सुरपति, तिनकौं सब मिलि मेटि धरे[८३]।

४. ब्रजबासी सब अति अकुलाने। काल्हिहिं पूज्यौं फल्यौ बिहाने।
कहाँ रहे अब कुँवर कन्हाई। गिरि गोबर्धन लेहिं बुलाई।
जेवन सहस भुजा धरि आवै। अब द्वै भुज हमकौं दिखरावै।
ये देवता खात ही लौं के। पाछे पुनि तुम कौन, कहौ के[८४]।

इन पदों की भाषा यों तो सामान्य रूप से मिश्रित है, परंतु भय और आकुलता के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग इसमें कम हुआ है। व्यंग्यात्मक ध्वनियुक्त मुहावरों का प्रयोग यों तो प्रायः प्रत्येक वाक्य में किया गया है, परंतु इनका वास्तविक चमत्कार अंतिम पद में देखा जा सकता है। व्यंग्योक्तियों की दृष्टि से ये उदाहरण सूर-काव्य के आदर्श उदाहरणों में हैं। दूसरी बात यह है कि व्यंग्य और विनोद में से, उक्त सभी वाक्यों में प्रथम की प्रधानता है; भयावह दृश्य-जन्य आकुलता के कारण विनोद-वृत्ति की सजगता के लिए इस प्रसंग में अवकाश ही नहीं था।

दूसरे वर्ग के व्यंग्य और विनोदपूर्ण उदाहरण संयोग-लीला-प्रसंग में मिलते हैं। रसिकवर श्रीकृष्ण संयोग के लिए उत्कंठिता समस्त व्रजबालाओं को प्रेम-प्रदान से तुष्ट

८१. सा. ८५९। ८२. सा. ८६०। ८३. सा. ८६२। ८४. सा. ९३३।

करता चाहते हैं; परन्तु इसमें कभी-कभी वे सामान्य नायक की तरह असफल होते हैं। एक प्रेमिका को वे मिलने के लिए वचन देते हैं, दूसरी उन्हें मार्ग या वन में ही आ घेरती है और उसको आनंद देने के लिए श्रीकृष्ण उसी के साथ चलने को विवश हो जाते हैं। कभी कोई व्रजवाला द्वार से उनको अन्यत्र जाते देख अपने आवास में आमंत्रित कर लेती है। इसी प्रकार अकस्मात दर्शन हो जाने का लाभ भी कोई-कोई प्रेमिका उठा लेती है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को जब अपने पूर्व प्रदत्त वचनों की याद आती है, तो वे अपराधी रूप में खीझ-भरी बैठी प्रेमिका के सम्मुख उपस्थित होते हैं। अन्यत्र विलास के चिह्न प्रियतम के अंगों और वस्त्रों पर अंकित देखकर जिस प्रकार के व्यंग्य-विनोद-युक्त वाक्यों से मानिनी नायिका उनका स्वागत करती है, उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत हैं—

१. बन तन तैं आए अति भोर।
राति रहे कहुँ गाइनि घेरत, आए हौ ज्यौं चोर।
अंग अंग उलटे आभूषन, बनहुँ मैं तुम पावत।
बड़भागी तुम तैं नहिं कोऊ, कृपा करत जहँ आवत[८५]।

२. जानति हौं जिहि गुननि भरे हौ।
काहैं दुराव करत मनमोहन, सोइ कहौ तुम जाहिं ढरे हौ।
निसि के जागे नैन अरुन दुति, अरु स्रम आलस अंग भरे हौ।
बंदन तिलक कपोलनि लाग्यौ काम-केलि उर नख उघरे हौ।
अब तुम कुटिल किसोर नंद-सुत, कहौ, कौन के चित्त हरे हौ।
एते पर ये समुझि सूर-प्रभु सौंह करन कौं होत खरे हौ[८६]।

३. आजु निसि कहाँ हुते हो प्यारे।
तुम्हरी सौं कछु कहि न जात छबि, अरुन नैन रततारे।
बोल के साँचे, आए भोर भए प्रगटित काम-कला रे।
दसन-बसन पर छापि दृगन छबि, दई बृषभानु-सुता रे।
अरु देखौ मुसकाइ इते पर, सर्बस हरत हमारे।
सूर स्याम चतुरई प्रगट भई, आगे तैं होहु न न्यारे[८७]।

४. मोहन, काहे कौं लजियात।
मूँदि कर मुख रहे सन्मुख कहि न आवत बात[८८]।

५. काहे कौं पिय भोरहीं मेरे गृह आए।
इतने गुन हमपैं कहाँ, जे रैनि रमाए[८९]।

---

८५. सा. २६३३। ८६. सा. २६३७। ८७. सा. २६९३।
८८. सा. २६७९। ८९. सा. २६८८।

६. कृपा करी उठि भोरहीं मेरैं गृह आए।
अब हम भईं बड़भागिनीं, निसि-चिह्न दिखाए[१०]।

मिश्रित भाषा का तत्सम-प्रधान जो रूप उद्धव-गोपी-प्रसंग की व्यंग्योक्तियों में मिलता है, लगभग वही इन पदों की भाषा का है। इसका कारण है प्रियतम के संयोग-चिह्नयुक्त अंगों-वस्त्रों के वर्णन की प्रवृत्ति। गोवर्द्धन प्रसंग के व्यंग्य-वाक्यों में मुहावरों का जितना अधिक प्रयोग है, उतना न होने पर भी गोपियों की इन उक्तियों में उनका सर्वथा अभाव भी नहीं है। विनोद की प्रवृत्ति ऐसे वाक्यों में कहीं-कहीं अवश्य दिखायी पड़ती है; परंतु ईर्ष्या, खीझ और मान के भावों ने उसका रूप अधिक निरखने नहीं दिया है।

सारांश यह कि विभिन्न मनोभावों की सजगावस्था में आवेशों की तीव्रता-अतीव्रता के अनुरूप भाषा-रूप में जो परिवर्तन साधारणतया होता है उसका भी सूरदास ने अपने काव्य में सर्वत्र ध्यान रखा है। मुहावरों-कहावतों की न्यूनता-अधिकता, तद्भव-अर्द्धतत्सम की अपेक्षा तत्सम शब्दों के कम-ज्यादा प्रयोग, विदेशी शब्दों के अपनाने में निसंकोच, वाक्य-विन्यास की कहीं सरलता और कहीं मिश्रित या समानाधिकरण वाक्यों की योजन. आदि ने विभिन्न वर्गीय मनोभावों और वृत्तियों के आवेश में कही गयी उक्तियों के अनुकूल भाषा-रूपों के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है।

४. **संवादों की भाषा**—संवादों का रूप वस्तुत-गेय पदों में उतना नहीं निखरता जितना क्रमबद्ध वर्णन में और सूर-काव्य का समस्त श्रेष्ठ अंश है गेय पदों के रूप में। जो पौराणिक कथाएँ अथवा श्रीकृष्ण की जीवन-लीलाएँ सामान्य पद्यबद्ध कथाओं के रूप में सूरदास ने लिखी हैं, उनमें भी उन्होंने विशेष रुचि नहीं ली और बड़ी द्रुतगति से कथा-सूत्र को आगे बढ़ाते हुए उन्हें समाप्त किया है। अतएव अनेक अवसर सुलभ रहने पर भी सूर-काव्य में संवादों की संख्या बहुत कम है। वस्तुतः संवादों के अन्तर्गत काव्य के वे ही स्थल लिये जा सकते हैं जिनमें प्रसंग-विशेष के संबंध में छोटे-छोटे क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर हों। उद्धव के एक प्रश्न को लेकर उत्तर में गोपियों के पचीसों पद-जैसे अंश संवाद नहीं कहला सकते। इस दृष्टि से सूर-काव्य में प्राप्त संवादों में मुख्य हैं—श्रीकृष्ण-दुर्योधन-संवाद. दुर्योधन-भीष्म-संवाद, हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-संवाद, हनुमान-राम-संवाद, निशिचरी जानकी-संवाद, श्रीकृष्ण नागिनि संवाद, यशोदा राधा-संवाद, कृष्ण गोपी-संवाद, राधा-दूती-संवाद और उद्धव गोपी-संवाद।

क. **श्रीकृष्ण-दुर्योधन-संवाद**—'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध के चार-पाँच पदों में यह संवाद मिलता है। इनमें तीन पदों के संवाद मुख्य हैं—

१. "सुनि राजा दुर्जोधना, हम तुम पैं आए।
पांडव-सुत जीवन मिले, दै कुसल पठाए।

१०. सा. २६८१।

छेम-कुसल अरु दीनता, दंडवत सुनाई।
कर जोरे बिनती करी, दुरबल-सुखदाई।
पाँच गाँउँ पाँचौ जननि, किरपा करि दीजै।
ये तुम्हरे कुल-बंस हैं, हमरी सुनि लीजै"।
"उनकी मोसौं दीनता कोउ कहि न सुनावौ।
पांडव-सुत अरु द्रोपदी कौ मारि गड़ावौ।
राजनीति जानौ नहीं, गो - सुत - चरवारे।
पीवौ छाँछ अघाइ कै, कब के रयवारे"।
"गाइ-गाँउँ के वत्सला मेरे आदि सहाई।
इनकी लज्जा नहिं हमैं, तुम राज-बड़ाई"[११]।

२. "हमतैं बिदुर कहा है नीकौ?
जाकैं रुचि सौं भोजन कीन्हौं, कहियत सुत दासी कौ।"
"द्वै बिधि भोजन कीजै राजा, बिपति परैं कै प्रीति।
तेरैं प्रीति न मोहिं आपदा, यहै बड़ी बिपरीति।
ऊँचे मंदिर कौन काम के, कनक-कलस जो चढ़ाए।
भक्त-भवन मैं हौं जु बसत हौं जद्दपि तृन करि छाए।
अंतरजामी नाउँ हमारौ, हौं अंतर की जानौं।
तदपि सूर मैं भक्तबछल हौं, भक्तनि हाथ बिकानौं[१२]।

३. 'हरि, तुम क्यौं न हमारैं आए?
षट-रस ब्यंजन छाँड़ि रसोई, साग बिदुर-घर खाए।
ताके झुगिया मैं तुम बैठे, कौन बड़प्पन पायौ।
जाति-पाँति कुलहूँ तैं न्यारौ, है दासी कौ जायौ।"
"मैं तोहिं सत्य कहौं दुरजोधन, सुनि तू बात हमारी।
बिदुर हमारौ प्रान पियारौ, तू बिषया-अधिकारी।
जाँति-पाँति सबकी हौं जानौं, बाहिर छाक मँगाई।
ग्वालनि कै सँग भोजन कीन्हौं, कुल कौं लाज लगाई।
जहँ अभिमान तहाँ मैं नाहीं, यह भोजन बिष लागै।
सत्य पुरुष सो दीन गहत है, अभिमानी कौ त्यागै।
जहँ जहँ भीर परै भक्तनि कौं तहाँ तहाँ उठि धाऊँ।

११. सा. १-२३८। १२. सा. १-२४३।

भक्तनि के हौं संग फिरत हौं, भक्तनि हाथ बिकाऊँ।
भक्तबछल है बिरद हमारौ, बेद-सुमृति हूँ गावैं[९३]।

इन तीनों पदों की भाषा सामान्य रूप में ही है। संवाद भी कला की दृष्टि से बहुत साधारण हैं; परंतु दीन और साधनहीन भक्तहृदय इनको पढ़कर बहुत आश्वस्त होता है और यही इस संवाद का उद्देश्य है।

ख. **दुर्योधन-भीष्म-संवाद**—इस शीर्षक से संबंधित केवल एक ही सुंदर पद 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध में है—

मतौ यह पूछत भूतलराइ।
"सुनौ पितामह भीषम, मम गुरु, कीजै कौन उपाइ।
उत अर्जुन अरु भीम, पंडु-सुत दोउ बर बीर गँभीर।
इत भगदत्त, द्रोन, भूरिस्रव, तुम सेनापति धीर।
जे जे जात, परत ते भूतल, ज्यौं ज्वाला-गत चीर।
कौन सहाइ, जानियत नाहीं, होत बीर निर्बीर।"
"जब तोसौं समुझाइ कही नृप, तब तैं करी न कान।
पावक जथा दहत सबहीं दल तूल-सुमेरु समान।
अबिगत, अबिनासी, पुरुषोत्तम, हाँकत रथ कै आन।
अचरज कहा पार्थ जौ बेधै, तीनि लोक इक बान!"
"अब तौ हौं तुमकौं तकि आयौ, सोइ रजायसु दीजै।
जातैं रहै छत्रपन मेरौ, सोई मंत्र कछु कीजै।
जा सहाइ पांडव-दल जीतौं, अर्जुन कौ रथ लीजै।
नातरु कुटुँब सकल संहरि कै, कौन काज अब जीजै?"
"तेरैं काज करौं पुरुषारथ, जथा जीव घट माहीं।
यह न कहौं, हौं रन चढ़ि जीतौं, मो मति नहिं अवगाहीं।
अजहूँ चेति, कह्यौ करि मेरौ, कहत पसारे बाहीं।
सूरदास सरवरि को करिहै, प्रभु-पारथ द्वै नाहीं[९४]।

यह संवाद भी पूर्वोक्त की तरह सामान्य ही है; केवल भीष्म पितामह जैसे प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध व्यक्ति के मुख से श्रीकृष्ण की महिमा दुर्योधन पर प्रकट कराना इसका उद्देश्य है।

ग. **हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-संवाद**—'सूरसागर' के सातवें स्कंध में नृसिंह-अवतार की कथा है। उसमें दो संवाद हैं—हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-संवाद और नृसिंह-प्रह्लाद-संवाद।

९३ सा. १-२४४। ९४ सा. १-२६९।

द्वितीय, पूर्वोक्त संवादों के ढंग का ही है; इसलिए उसको उद्धृत करना अनावश्यक है। प्रथम संवाद इस प्रकार है—

नृप कह्यौ, "मंत्र-जंत्र कछु आहि। कै छल करत कछू तू आहि।
तोकौं कौन बचावत आइ। सो तू मोकौं देहि बताइ"।
"मंत्र-जंत्र मेरैं हरि-नाम। घट-घट मैं जाकौ बिस्राम।
जहाँ-तहाँ सोइ करत सहाइ। तासौं तेरौ कछु न बसाइ।"
कह्यौ, "कहाँ सो मोहिं बताइ। नातरु तेरौ जिय अब जाइ।"
"सो सब ठौर","खंभहूँ होइ"? कह्यौ प्रहलाद,"आहि, तू जोइ[९५]।"

ओजपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर की दृष्टि से यह संवाद बहुत सुंदर है। बालक से वार्तालाप होने के कारण इसकी भाषा भी सीधी-सादी है जिसमें बहुत सरल तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। छोटे-छोटे वाक्यों के कारण इस संवाद में स्वाभाविकता है और कथा विकास में इनसे सहायता भी मिलती है।

घ. हनुमान-राम-संवाद— नवें स्कंध में हनुमान और राम का एक संक्षिप्त संवाद है—

मिले हनु, पूछी प्रभु यह बात।
"**महा मधुर प्रिय बानी बोलत**, साखामृग, तुम किहि के तात"?
"अंजनि कौ सुत, केसरि कैं कुल, पवन-गवन उपजायौ गात।
तुम को **बीर**, नीर भरि लोचन, मीन हीन-जल ज्यौं मुरझात"?
"दसरथ-सुत कोसलपुर-बासी, त्रिया हरी तातैं अकुलात।
इहिं गिरि पर कपिपति सुनियत है, बालि-त्रास कैसैं दिन जात"?
"महादीन, बलहीन, बिकल अति।" ....[९६]।

हनुमान और राम का यह प्रथम परिचयात्मक संवाद है; इसमें एक-दूसरे की स्थिति और आकृति को लक्ष्य करके परस्पर परिचय पूछा गया है। 'महा मधुर प्रिय बानी बोलत' कहकर जब राम, हनुमान की प्रशंसा करते हैं, तो उन्हीं के अनुकरण पर, उत्तर में उनके वीर वेश को लक्ष्य करके, हनुमान भी 'वीर' शब्द से उनको संबोधित करते हैं। यह पारस्परिक शिष्टाचार-निर्वाह इस परिचयात्मक संवाद की एक विशेषता है। भाषा कुछ तत्समता-प्रधान एवं वाक्य छोटे-छोटे और विषयानुकूल हैं।

ङ. निशिचरी-जानकी-संवाद— दूती के रूप में रावण द्वारा भेजी भागी निशिचरी से अशोकवाटिका में वंदिनी सीता का यह संवाद कवि सूरदास की नयी सूझ का परिचायक जान पड़ता है—

"समुझि अब निरखि जानकी मोहिं।
बड़ौ भाग गुनि, अगम दसानन, सिव बर दीनौ तोहिं।

९५ सा. ७-२। ९६ सा. ९-६९।

केतिक राम कृपन, ताकी पितु-मातु घटाई कानि।
तेरौ पिता जो जनक जानकी, कीरति कहौं बखानि।
बिधि संजोग टरत नहिं टारैं, बन दुख देख्यौ आनि।
अब रावन-घर बिलसि सहज सुख, कह्यौ हमारौ मानि।"
इतनौ बचन सुनत सिर धुनि कै, बोली सिया रिसाइ।
"अहौ ढीठ, मति-मुग्ध निसिचरी, बैठी सनमुख आइ।
तव रावन कौ बदन देखिहौं, दससिर-स्रोनित न्हाइ।
कै तन देउँ मध्य पावक के, कै बिलसैं रघुराइ।"
"जौ पै पतिव्रता-ब्रत तेरैं, जीवति बिछुरी काइ?
तब किन मुई, कहौ तुम मोसौं, भुजा गही जब राइ?
अब झूठौ अभिमान करति हौ, झुकति जो उनके नाउँ।
सुख हीं रहसि मिलौ रावन कौ, अपनैं सहज सुभाउ।"
"जौ तू रामहिं दोष लगावै, करौं प्रान कौ घात।
तुमरे कुल कौं बेर न लागै, होत भस्म संघात।
उनकै क्रोध जरै लंकापति, तेरैं हृदय समाई।
तौ पै सूर पतिब्रत साँचौ, जौ देखौं रघुराइ[९७]।

इस संवाद का आरंभ निशिचरी दूती के, चाटुकारी के उद्देश्य से कहे गये प्रशंसात्मक वाक्यों से होता है। इसके पश्चात् सीता की तिरस्कारयुक्त भर्त्सना का उत्तर वह भी व्यंग्यपूर्ण और चुटीले शब्दों में देती है जिसकी ध्वनि से मुँह चिढ़ाने और हाथ मटकाने का भाव भी सामने आ जाता है। दूती का अकाट्य तर्क क्षण भर के लिए तो सीता को स्तंभित कर देता है और उन्हें जैसे कोई उत्तर नहीं सूझता; परंतु अंत में उनके दृढ़ निश्चयात्मक वचन सुनकर दूती निरुत्तर हो जाती है। इस प्रकार क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर, अभिनयात्मक दृश्यांकन-कला, प्रश्नवाचक वाक्यों की योजना आदि की दृष्टि से यह संवाद अच्छा है।

च. नागिनि-कृष्ण-संवाद—कंस के मँगाये हुए कमल के फूल लाने की मन ही मन योजना बनाकर श्रीकृष्ण कालीदह में कूद गये। नाग सो रहा था। उसकी स्त्री कृष्ण के सुंदर बाल-स्वरूप पर मुग्ध होकर, पति के जागने के पूर्व ही वहाँ से भाग जाने की उनको सलाह देती है। पश्चात्, कृष्ण से उसका इस प्रकार संवाद होता है—

१. (नारि) कह्यौ, "कौन कौ बालक है तू, बार-बार कही भागि न जाई।
छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई"।

---

९७ सा. ९-७७।

× × ×

"मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याको अब देहि जगाई"।
"कहा कंस दिखरावत इनकौं, एक फूंक मैं ही जरि जाई"[१८]।

२. "कहा डर करौं इहिं फनिग कौ बाबरी ?"
"कह्यौ मेरौ मानि, छाँड़ि अपनी बानि, टेक परिहै जानि सब रावरी।
तोहि देखे मया, मोहिं अतिहीं भई, कौन कौ सुवन, तू कहा आयौ।
मरौ वह कंस, निरबंस वाकौ होइ, करचौ यह गंस तोकौ पठायौ"
"कंस कौ मारिहौं धरनि निरवारिहौं, अमर उद्धारिहौं उरग-धरनी।"
सूर-प्रभु के बचन सुनत उरगिनि कह्यौ, "जाहि अब क्यौं न, मति भई मरनी[१९]।"

३. "भागि-भागि सुत कौन कौ, अति कोमल तव गात।
एक फूंक कौ नाहिं तू, बिष ज्वाला अति तात"॥
तब हरि कह्यौ प्रचारि "नारि, पति देइ जगाई।
आयौ देखन याहि, कंस मोहिं दियौ पठाई।"
"कंस कोटि जरि जाहिंगे, बिष की एक फुंकार।
कही मेरी करि जाहि तू, अति बालक सुकुमार"।

× × ×

"बालक-बालक करति कहा, पति क्यौं न उठावै ?
कहा कंस, कह उरग यह, अबहिं दिखाऊँ तोहिं।
दै जगाइ मैं कहत हौं, तू नहिं जानति मोहिं"।
"छोटे मुँह बड़ी बात कहत, अबहीं मरि जैहै।
जो चितवै करि क्रोध, अरे, इतनेहिं जरि जैहै।
छोह लगत तोहिं देखि मोहिं, काकौ बालक आहि।
खगपति सौं सरवरि करी, तू बपुरौ को ताहि"।
"बपुरा मोकौं कहति, तोहिं बपुरी करि डारौं।
एक लात सौं चाँपि, नाथ तेरे कौं मारौं।
सोवत काहु न मारियै, चलि आई यह बात।
खगपति कौं मैं हीं कियौ, कहति कहा तू जात"।
"तुमहिं बिधाता भए, और करता कोउ नाहीं।
अहि मारौगे आपु तनक से, तनक सी बाहीं।
कहा कहौं, कहत न बनै, अति कोमल सुकुमार।

१८ सा. ५५०। १९ सा. ५५१।

देती अबहिं जगाइ कै, जरि-बरि होत्यौ छार"।
"तू धौं देहि जगाइ, तोहिं कछू दूषन नाहीं।
परी कहा तोहिं नारि, पाप अपनैं जरि जाहीं।
हमकौं बालक कहति है, आपु बड़े की नारि।
बादति है बिनु काजहीं, बृथा बढ़ावति रारि।"
"तुहीं न लेत जगाइ, बहुत जौ करत ढिठाई।
पुनि मरिहैं पछिताइ, मातु, पितु, तेरे भाई।
अजहुँ कह्यौ करि, जाहि तू, मरि लैहै सुख कौन।
पाँच बरस कै सात कौ, आगैं तोकौं हौन"[१]।

क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा पात्रों की प्रकृति का परिचय और कथा विकास में योग, दोनों दृष्टियों से यह वार्तालाप सुंदर है। नारी-हृदय की कोमलता और दयार्द्रता ने इस कथोपकथन के छोटे-छोटे वाक्यों को विशेष स्वाभाविक बना दिया है। इसी प्रकार तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों के बीच-बीच में मुहावरों का प्रयोग भी नारी-प्रकृति के अनुरूप ही हुआ है। इस विषय में उरग-नारी की भाषा व्रजबालाओं की भाषा से मिलती जुलती है। श्रीकृष्ण की बाल-प्रकृति के अनुसार उनकी भाषा सरल है और वाक्य-योजना भी; साथ-साथ उसमें वीर भाव के उपयुक्त ओज भी है।

छ. यशोदा-राधा-संवाद— किशोरी राधिका का अनुपम रूप और श्रीकृष्ण के साथ उसका हेल-मेल देखकर यशोदा का मातृ-हृदय प्रसन्नता से खिल जाता है। पहले यशोदा जी उसका परिचय पूछती हैं; फिर वे उसे चिढ़ाने के लिए उसके माता-पिता के संबंध में कुछ अनुचित बातें विनोद के साथ कहती हैं। कुशाग्रबुद्धि राधा इनका उत्तर इस प्रकार देती हैं कि माता यशोदा हर्षोन्मत्त होकर उसे छाती से लगा लेती हैं—

"नाम कहाँ तेरौ री प्यारी ?
बेटी कौन महर की है तू, को तेरी महतारी।
धन्य कोख जिहिं तोकौं राख्यौ, धनि घरि जिहिं अवतारी।
धन्य पिता माता तेरे" छबि निरखति हरि-महतारी।
"मैं बेटी बृषभानु महर की, मैया तुमकौं जानति।
जमुना-तट बहु बार मिलन भयौ, तुम नाहिंन पहचानति"।
ऐसी कहि, "वाकौं मैं जानति, वह तौ बड़ी छिनारि।
महर बड़ौ लंगर सब दिन कौ" हँसति देति मुख गारि।
राधा बोलि उठी "बाबा कछु तुमसौं ढीठौ कीन्हौ।"
" ऐसे समरथ कब मैं देखे", हँसि प्यारिहिं उर लीन्हौ[२]।

---

१. सा. ५८९। २. सा. ७०३।

इस सरस संलाप की भाषा बहुत सरल है। सात-आठ वर्ष की, गाँव में पली बालिका को अधिक तत्सम शब्दों का ज्ञान नहीं हो सकता। संभवतः इसी कारण यशोदा ने केवल 'माता-पिता' दो तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। 'धन्य' शब्द श्रीकृष्ण के अलौकिक कामों की प्रशंसा में इतने बार व्रज में प्रयुक्त हो चुका है कि सुख के आवेश में वे उसका प्रयोग भी कर जाती हैं। राधा केवल एक तत्सम शब्द, 'तट' का प्रयोग यहाँ करती है। इसी प्रकार उक्त कथोपकथन का वाक्य-विन्यास भी सीधा-सादा और स्वाभाविक है।

ज. श्रीकृष्ण-गोपी-संवाद—व्रज की प्रेममयी गोपियों से श्रीकृष्ण के संवाद अनेक अवसरों पर हुए हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—चीर-हरण-प्रसंग का संवाद, रास-लीला-प्रसंग का संवाद और दान-लीला प्रसंग का संवाद। भिन्न-भिन्न पात्रों और विविध प्रसंगों के जो संवाद ऊपर उद्धृत किये गये हैं, प्रथम अर्थात् चीर-हरण लीला से संबंधित संलाप भी भाषा और वाक्य-योजना की दृष्टि से लगभग वैसा ही है; अतः उसके उदाहरण देना अनावश्यक है। शेष दोनों प्रसंगों में एक नवीनता यह है कि इनमें पूरे छंदों या पदों में एक पात्र बात करता है और दूसरे छंद या पद में उत्तर मिलता है। रास-लीला के अवसर का संवाद संक्षिप्त है; परंतु दान-लीला से संबंधित वार्तालाप कई पदों में विस्तृत है। दोनों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. "गेह-सुत-पति त्यागि आईं, नाहिनैं जु भली करी।
पाप-पुन्य न सोच कीन्हौ, कहा तुम जिय यह धरी।
अजहुँ घर फिरि जाहु कामिनी, काहु सौं जो हम कहैं।
लोक-बेदनि बिदित गावत, पर-पुरुष नहिं धनि लहैं।"

\+ + +

"तुव दरस की आस पिय व्रत-नेम दृढ़ यह है धरचौ।
कौन सुत को मातु को पति कौन तिय को किनि करचौ।
कहाँ पठवत, जाहिं काकैं, कहौ कहँ मन मानिहैं।
यहाँ बरु हम प्रान त्यागैं, आईं जहँ सोइ जानिहैं"[३]।

२. "कौन कान्ह, को तुम, कह माँगत ?
नीकैं करि सबकौं हम जानति, बातैं कहत अनागत।
छाँड़ि देहु हमकौ जनि रोकहु, बृथा बढ़ावति रारि।
जैहै बात दूरि लौ ऐसी, परिहै बहुरि खँभारि।
आजुहिं दान पहिरि ह्याँ आए, कहा दिखावहु छाप।
सूर स्याम वैसैहिं चलौ, ज्यौं चलत तुम्हारौ बाप"[४]।

३. सा. ११८२। ४. सा. १५०७।

३. कान्ह कहत, "दधि-दान न दैहौ ?
लैहौं छीन दूध दधि माखन, देखत ही तुम रैहौ।
सब दिन कौ भरि लेउँ आजु हीं, तब छाड़ौं मैं तुमकौ।
उघटति हौ तुम मातु-पिता लौं, नहिं जानति हौ हमकौ"।
"हम जानति हैं तुमकौं मोहन, लै लै गोद खिलाए।
सूर स्याम अब भए जगाती, वै दिन सब बिसराए[५]।"

४. "गिरिवर धारचौ आपने घर कौ।
ताही कैं बल दान लेत हौ, रोकि रहत तिय-पर कौं।
अपनेहीं घर बड़े कहावत, मन धरि नंद महर कौं।
यह जानति तुम गाइ चरावन जात सदा बन वर कौ।
मुरली कर काछनि आभूषन मोर पखौवा सिर कौ।
सूरदास काँधे कामरिया और लकुटिया करकौं[६]।"

५. "यह कमरी कमरी करि जानति !
जाके जितनी बुद्धि हृदय मैं, सो तितनौ अनुमानति।
या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटंबर।
सो क़मरी तुम निंदति गोपी, जो तिहुँ लोक अडंबर।
कमरी कै बल असुर सँहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।
जाति-पाँति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग[७]।"

६. "को माता को पिता हमारे।
कब जनमत हमकौ तुम देख्यौ, हँसियत बचन तुम्हारे।
तुम माखन चोरी करि खायौ, कब बाँधे महतारी।
दुहत कौन को गैया चारत बात कही यह भारी।
तुम जानत मोहि नंद-ढुटौना, नंद कहाँ तैं आए।
मैं पूरन अबिगत अबिनासी, माया सबनि भुलाए[८]।"

७. "तुमकौं नंद-महर भरुहाए।
मात-गर्भ नाहिं तुम उपजे तो कहौ कहाँ तैं आए ?
घर-घर माखन नहीं चुरायौ ? ऊखल नहीं बँधाए ?
हा हा करि जसुमति कै आगैं, तुमकौं हमहिं छुड़ाए ?
ग्वलिनि संग-संग बृन्दावन, तुम नहिं गाइ चराए ?
सूर-स्याम दस मास गर्भ धरि, जननि नहीं तुम जाए[९] ?"

५. सा. १५०८। ६. सा. १५१४। ७. सा. १५१५। ८. सा. १५२०।
९. सा. १५२१।

८. "तुम देखत रैहौ, हम जैहैं।
गोरस बेंचि मधुपुरी तैं पुनि, याही मारग ऐहैं।
ऐसैं ही सब बैठे रैहौ बोलै ज्वाब न दैहैं।
घरि लै जैहैं जसुमति पै, हरि तब धौं कैसी कैहैं।
काहे कौं मोतिनि लर तोरी, हम पीतांबर लैहैं।
सूर स्याम सतरात इते पर, घर बैठे तब रैहैं[१०]।"

९. "मेरैं हठ क्यौं निबहन पैहौ ?
अब तौं रोकि सबनि कौं राख्यौं कैसे करि तुम जैहौ ?
दान लेहुगौ भरि दिन दिन कौ, लेख्यौ करि सब दैहौ।
सौंह करत हौं नंद बबा की, मैं कैहौं तब जैहौ।
आवति-जाति रहति याही पथ, मोसौं बैर बढ़ैहौ।
सुनहु सूर हम सौं हठ माँड़ति, कौन नफा कर लैहौ[११]।"

ऊपर उद्धृत रास-लीला-संबंधी संवाद बहुत साधारण हैं; उसमें अपेक्षित सजीवता नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि वंशी की मधुर ध्वनि को प्रियतम का सांकेतिक निमंत्रण समझकर दौड़ती आती युवतियों से कृष्ण ने सहसा जो प्रश्न कर दिये, वे सर्वथा अप्रत्याशित थे और इसलिए वे हतबुद्धि-सी हो जाती हैं। इसके विपरीत दान-लीला-प्रसंग का वार्तालाप बहुत संजीव और प्रवाहपूर्ण है। उससे गोपियों की चतुरता और तुरतबुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है। श्रीकृष्ण अथवा उनके सखा जिस स्वर में प्रश्न करते हैं, उसी में उन्हें उत्तर भी मिलता है। भावों की कृत्रिमता दोनों पक्षों में है जिससे क्रोध और व्यंग्ययुक्त उक्तियाँ तीखी होकर उभयपक्षीय श्रोताओं को चुभती नहीं, प्रत्युत सरस विनोद से पुलकित कर देती हैं। इन संलापों की भाषा मिश्रित है जिसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं है। चुने हुए मुहावरों के प्रयोग ने कहीं-कहीं भाषा को बहुत सरल बना लिया है। वाक्य सभी पदों के सीधे-सादे हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

झ. **दूती-राधा-संवाद**—संयोग के लिए दिये गये वचन का रसिकप्रवर श्रीकृष्ण को पालन न करते देख राधा जब मान करती है, तब वे इसे मनाने के लिए दूती को भेजते हैं। सारी परिस्थिति से अवगत यह दूती अपने कार्य में बड़ी कुशल होती है और नायिका का मान भंग करने के अनेक उपाय करती है। कभी वह उसका रूप-गुण बखानती है, कभी उसकी प्रशंसा और चाटुकारी करती है, कभी यौवन की अस्थिरता जताकर सुखोपभोग का उपदेश देती है, कभी उसकी अज्ञानता पर झुँझलाकर उसका उपहास करती है और कभी मान से संभाव्य अनिष्ट की बातकर शुभाकांक्षिणी के समान उसे सचेत करती है। इसी प्रकार मान के आवेश में राधा कभी उसकी बात ही नहीं सुनना चाहती, कभी उसको बुरी तरह झिड़क देती है, कभी प्रियतम की रस-लोलुपता पर व्यंग्य कसती है और कभी

१० सा. १५३७। ११. सा. १५३८।

उदासीनता के साथ संयोग प्रपंच में भविष्य में न पड़ने का अपना निश्चय उसे सुना देती है; जैसे—

"मानि मनायौ राधा प्यारी।
दहियत मदन मदन-नायक है, पीर प्रीति की न्यारी।
तू जु झुकति ही औरनि रूसत, अब कहि कैसैं रूसी?
बिनुहीं सिसिर तमकि तामस मैं, तू मुख कमल बिदूषी।
× × ×
तू तौ प्रान प्रानबल्लभ कैं, वै तुव चरन उपासी।
सुनिहै कोऊ चतुर नारि, कत करति प्रेम की हाँसी।
× × ×
जौ गौरी पिय-नेह-गरब तौ, लाख कहै किन कोई।
काहू लियौ प्रेम कौ परचौ, चतुर नारि है सोई।
कत हौ रही नारि नीची करि, देखति लोचन झूले।
मानौ कुमद रूठि उडुपति सौं, सकुचि अधोमुख फूले।
× × ×
जोबन-जल बरषा की सरि ज्यौं चारि दिना कौं आवै।
× + +
लै चलि भवन भावतेहिं भुज गहि, को कहि गारि दिवावै।"
झुकि बोली, "ह्याँ तैं ह्वै हाती, कौनैं सिखै पठाई?
लै किनि जाहि भवन आपनैं, ह्याँ लरन कौन सौं आई?"
+ + +
"जे जे प्रेम छके मैं देखे, तिनहिं न चातुरताई।
तेरैं मान-सयान सखी तोहिं, कैसैं कै समुझाई।
परिहै क्रोध-चिनगि भाँवरि मैं, बुझिहै नहीं बुझाई।
हौं जु कहति तैं बादि बावरी, तृन तैं आगि उठाई।"
× + +
इन द्योसनि रूसनौ करति है, करिहै कबहिं कलोलै?
कहा दियौ पढ़ि सीस स्याम कैं, खीचि आपनौ सो लै"[१२]।

दूती के वाक्यों की जिन विशेषताओं के सम्बन्ध में ऊपर संकेत किया गया है, वे प्रायः सभी इस पद की उक्तियों में मिलती हैं। राधा का वक्तव्य इसमें अवश्य संक्षिप्त

१२. सा. २८२६।

है। उसका वास्तविक रूप, श्रीकृष्ण की ओर से राधा को मनाने आयी हुई सखियों से होने वाले निम्नलिखित वार्तालाप में मिलता है—

"घायल जिमि मूर्छित गिरिधारी। अमी-बचन अब सींचि पियारी।
बहुनायक वै तू नहिं जानै। तिनसौं कहा इतौ दुख मानै।
बाहँ गहैं हरि कौं ढिग ल्यावैं। अब वै निज अपराध छमावैं।"
"गहति बाहँ तुमही किन जाई। मोसौं बाहँ गहावन आईं।
काल्हिहिं सौंह मोहिं उन दीनी। आजुहिं यह करनी पुनि कीनी।
देखि चुकी उनके गुननि, निज नैननि सुख पाइ।
तिन्है मिलावति मोहिं अब, बाहँ गहावति आइ।
मिलौं न तिनसौं भूलि, अब जौ लौं जीवन जियौं।
सहौं बिरह कौ सूल, बरु ताकी ज्वाला जरौं।
मैं अब अपनैं मन यह ठानी। उनकैं पंथ न पीवौं पानी।
कबहूँ नैन न अंजन लाऊँ। मृग-मद भूलि न अंग चढ़ाऊँ।
हस्त-बलय पट नील न धारौं। नैननि कारे घन न निहारौं।
सुनौं न स्रवननि अलि-पिक बानी। नील जलज परसौं नहिं पानी।"

× × ×

"तुम वै एक न दोइ पियारी। जल तैं तरँग होति नहिं न्यारी।
रिस-रूसनौ ओस-कन जैसौ। सदा न रहै चाहियै तैसौ।
तजि-अभिमान मिलहि पिय प्यारी। मानि राधिका कही हमारी।"
"चुप न रहति कह कहति मनावन। तुम आई हौ बात बनावन।
बहुत सही घर आई यातैं। सुरति दिवावति पिछली बातैं।
मोसौं बात कहति हौ काकी। जाहु घरनि अब कछू है बाकी।
को उनकी ह्याँ बात चलावत। हैं वै अब तुमहीं कौं भावत।
तुम पुनीत अरु वै अति पावन। आई हौ सब मोहिं मनावन[13]।

मान-प्रसंग के इस वार्तालाप में प्रवाह तो बहुत अधिक नहीं है; परन्तु भाषा का प्रयोग दोनों पक्षों के मनोभावों के अनुकुल हुआ है। दूती अथवा उसका कार्य करने वाली सखियाँ राधा का हित चाहती हैं। वे कहावतों और सूक्तियों का प्रयोग अधिक करती हैं जिससे राधा परिस्थिति को समझकर मान छोड़ दे; परन्तु राधिका की खीझ भरी उक्तियों में स्वाभाविक तीखापन है। उसके वाक्यों को कहीं तो शब्द की व्यंग्यात्मक ध्वनि ने और कहीं चुभते हुए मुहावरों के प्रयोग ने मनोदशा के सर्वथा अनुकुल बना दिया है।

१३. सा. २८२८।

ञ. उद्धव-गोपी-संवाद—यह प्रसंग सूर-काव्य के श्रेष्ठतम अंशों में है। इसमें उद्धव-गोपी का संवाद है अवश्य, परंतु वह क्रमिक नहीं है। प्रियतम कृष्ण के वियोग का दुख बहुत समय तक सहनेवाली गोपियों के पास कहने के लिए इतनी बातें हैं कि उद्धव की एक उक्ति सुनते ही वे पचासों पदों में उसका उत्तर देने को प्रस्तुत हो जाती हैं। यही कारण है कि 'सूरसागर' के भ्रमरगीत-प्रसंग में चार-पाँच प्रतिशत पद ही उद्धव के हैं; शेष में गोपियों की ही इतनी मार्मिक-मार्मिक उक्तियाँ हैं कि अन्त में उद्धव भी इन्हीं के रंग में रँग जाते हैं। इस प्रसंग के अंतिम भाग में सूरदास ने संक्षेप में उद्धव और गोपियों का क्रमबद्ध वार्तालाप भी दिया है जिसमें क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर के ढंग का निर्वाह किया गया है और जो पीछे उद्धृत दानलीला प्रसंग की पद्धति पर है। भ्रमरगीत के अनेक पद पिछले पृष्ठों में उद्धृत किये जा चुके हैं; अतएव यहाँ केवल क्रमबद्धात्मक कथोपकथन का ही कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है—

१. उद्धव—मैं तुम पै ब्रजनाथ पठायौ। आतम-ज्ञान सिखावन आयौ।

\+ \+ \+

जोग समाधि ब्रह्म चित लावहु। परमानंद तबहिं सुख पावहु।
गोपी—जोगी होइ सो जोग बखानै। नवधा-भक्ति दास रति मानै।
भजनानंद हमैं अति प्यारौ। ब्रह्मानंद सुख कौन बिचारौ।

\+ \+ \+

रूप-रासि ग्वारनि कौ संगी। कब देखैं वह ललित त्रिभंगी।
जौ तुम हित की बात बतावहु। मदन गुपालहिं क्यों न मिलावहु।
उद्धव—जाकैं रूप बरन बपु नाहीं। नैन मूँदि चितवौ मन माहीं।
हृदय-कमल तें जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै।

\+ \+ \+

इहिं प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ।
गोपी—हम ब्रज-बाल गोपाल उपासी। ब्रह्मज्ञान सुनि आवै हाँसी।

\+ \+ \+

नीरस ज्ञान कहा लै कीजै। जोग-मोट दासी सिर दीजै।
उद्धव—पारब्रह्म अच्युत अबिनासी। त्रिगुन-रहित प्रभु बरै न दासी।
नहिं दासी ठकुराइनि कोई। जहँ देखौ तहँ ब्रह्म है सोई।
उर मैं आनौ ब्रह्महि जानौ। ब्रह्म बिना द्विजौ नहिं मानौ।
गोपी—खरे करौ अलि जोग सवारौ। भक्ति-बिरोधी ज्ञान तुम्हारौ।

× × ×

नंदनँदन कौं देखैं जीवैं। जोग-पंथ पानी नहिं पीवैं।

× × ×

दुसह बचन अलि हमैं न भावैं। जोग कहा ओढ़ैं कि बिछावैं।

उद्धव—(ऊधौ कह्यौ) "धन्य ब्रजबाला। जिनके सरबस मदन गुपाला।

× × ×

तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारौ। भक्ति सुनाइ जगत निस्तारौ[१४]।

२. उद्धव—एकै अलख अपार आदि अबिगत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रीझैं सब कोई।
नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म कौ वास।
अबिनासी बिनसै नहीं, सहज जोति परगास।

गोपी—जौ तौ कर-पग नहीं, कहौ ऊखल क्यौं बाँध्यौ।
नैन नासिका मुखन चोरि दधि कौनैं खाध्यौ।
तबै खिलाए गोद लै कहे तोतरे बैन।
ऊधौ, ताकौ न्याउ यह, जाहि न सूझै नैन।

उद्धव—माया नित्यहि अंध, ताहि द्वै लोचन जैसे।
ज्ञानी नैन अनंत ताहि सूझत नहिं कैसे।

× × ×

गोपी—ऊधौ, कहि सति भाइ न्याइ तुम्हरैं मुख साँचै।
जोग प्रेम रस कथा कहौ कंचन की काँचै।

× × ×

उद्धव—धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य ये सब ब्रजबासी।
धनि यह पावन भूमि, जहाँ बिलसे अबिनासी।
उपदेसन आयौ हुतौ, मौहिं भयौ उपदेस[१५]।

इन संवादों की भाषा मिश्रित है। ब्रह्म की परिचयात्मक व्याख्या करते समय उद्धव अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं, जिससे वाक्य-योजना शिथिल हो गयी है। परंतु रसिकिनी गोपियाँ तार्किक वाद-विवाद में न पड़कर हार्दिक भावों को सहज भाषा में स्वाभाविक रूप से व्यक्त करती हैं जिससे उनके वाक्यों में हृदयस्पर्शिता का गुण आ गया है। इन संवादों की एक विशेषता है इनकी क्रमबद्धता; परंतु काव्य-कला की दृष्टि से ये अंश साधारण ही हैं। गोपियों का हृदय तो वस्तुतः उन पदों में हैं जो उद्धव के मुख से 'अलख', 'निरंजन'-जैसे शब्द सुनते ही विविध स्वरों में सुनायी देते हैं। ऐसे कुछ पद पीछे उद्धृत किये जा चुके हैं।

---

१४. सा. ४०९४। १५. सा. ४०९५।

ट. **कृष्ण-उद्धव-संवाद**—व्रज जाने के पूर्व और वहाँ से लौटने के बाद, दो बार उद्धव से श्रीकृष्ण का संवाद होता है। दोनों ही अवसरों का वार्तालाप क्रमबद्ध न होकर पूरे-पूरे पदों में है और कहीं कहीं एक पद के उत्तर में कई-कई पद भी कहे गये हैं। अंतर दोनों में यह है कि व्रज जाने के पूर्व होनेवाले संवाद में उद्धव की शंकाओं का समाधान करने अथवा उन्हें अपने कथन से सहमत करने के लिए श्रीकृष्ण को कई कई पद एक साथ कहने पड़ते हैं और व्रज से लौटने के पश्चात् के वार्तालाप में व्रजवासियों की उत्कट प्रीति की प्रशंसा करते हुए यही स्थिति उद्धव की हो जाती है; जैसे—

१. "सुनहु उपँगसुत मोहिं न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं, इहाँ नहीं मन लागत।
गोपी ग्वाल गाइ बन चारन, अति दुख पायौ त्यागत।
कहँ माखन-रोटी, कहँ जसुमति, जेंवहु कहि-कहि प्रेम"[१६]।

२. सुनहु ऊधौ, "मोहि ब्रज की सुधि नहीं बिसराइ।
रैन सोवति, दिवस जागत, नाहिनै मन आन।
नंद जसुमति, नारि-नर-ब्रज तहाँ मेरौ प्रान।"
कहत हरि सुनि उपँगसुत यह, "कहत हौं रस-रीति।
सूर चित तैं टरति नाहीं, राधिका की प्रीति"[१७]।

३. "सखा, सुनि मेरी इक ब्रात।
वह लता-गृह संग गोपिनि, सुधि करत पछितात।
बिधि लिखी नहिं टरत क्यौंहूँ," यह कहत अकुलात।
हँसि उपँग-सुत बचन बोले, "कहा करि पछितात।
सदा हित यह रहत नाहीं, सकल मिथ्या जात"[१८]।

४. "ऊधौ, तुम यह निस्चय जानौ।
मन बच क्रम मैं तुमहिं पठावत, ब्रज कौ तुरत पलानौ"[१९]।

५. "ऊधौ, बेगि ही ब्रज जाहु।
सुति-सँदेस सुनाइ मेटौ बल्लभिनि को दाहु"[२०]।

६. "ऊधौ, ब्रज कौ गमन करौ।
हमहिं बिना गोपिका बिरहिनी, तिनके दुःख हरौ"[२१]।

श्रीकृष्ण और उद्धव का यह वार्तालाप इनके व्रज जाने के पूर्व का है। व्रजवासियों की स्मृति से पुलकित होकर जब श्रीकृष्ण लगभग तीन पद कह जाते हैं, तब उद्धव हँसकर उपहास के स्वर में केवल डेढ़ पंक्ति कहने की आवश्यकता समझते हैं। यही क्रम

---

१६. सा. ३४२२। १७. सा. ३४२३। १८. सा. ३४२४। १९. सा. ३४२६। २०. सा. ३४२७। २१. सा. ३४२८।

आगे भी चलता रहता है। परंतु व्रज से उद्धव के लौटने के पश्चात् यह क्रम परिवर्तित हो जाता है। सुख-राशि श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की अनन्य भक्ति और परम प्रीति से प्रभावित होकर अब वे लौटे हैं। अतएव कई पदों में जब वे उनके प्रति अपने प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त कर चुकते हैं, तब श्रीकृष्ण को दो-चार पंक्तियाँ कहने का अवकाश मिलता है; जैसे—

१. "व्रज के निकट जाइ फिर आयौ।
गोपी-नैन-नीर-सरिता तैं, पार न पहुँचन पायौ।
तुम्हरी सीख सुनाव वैठि कै, चाहत पार गयौ।
ज्ञान ध्यान व्रत नेम जोग कौ, सँग परिवार लयौ।
इहिं तट तैं चलि जात नैंकु उत, विरह-पवन झकझोरे।
सुरति वृच्छ सो मारि बाहुवल, टूक टूक करि तोरे।
हौं हूँ बूड़ि चल्यौ वा गहिरैं, केतिक बुड़की खाईं।
ना जानौं वह जोग बापुरौ, कहँ धौं गयौ गुसाईं।
जानत हुतौ थाह वा जल की, औ तरिबे कौ धीर।
सूर कथा जु कहा कहौं उनकी, परचौं प्रेम की भीर"[२२]।

२. "जब मैं इहाँ तैं जु गयौ।
तब व्रजराज, सकल गोपीजन आगैं होइ लयौ"[२३]।

३. "सुनियै व्रज की दसा गुसाईं।
रथ की धुजा पीत-पट भूषन देखत ही उठि धाईं"[२४]।

४. "हरि जू, सुनहु बचन सुजान।
बिरह ब्याकुल छीन, तन-मन हीन लोचन-कान"[२५]।

५. "ऊधौ, भलौ ज्ञान समुझायौ।
तुम मोसौं अब कहा कहत हौ, मैं कहि कहा पठायौ।
कहवावत हौ बड़े चतुर पै, उहाँ न कछु कहि आयौ"[२६]।

६. "मैं समुझायौ अति अपनौं सौ।
तदपि उन्हैं परतीति न उपजी, सबै लख्यौ सपनौ सौ"[२७]।

७. "बातैं सुनहु तौ स्याम, सुनाऊँ।
जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, क्यौं न इतौ दुख पाऊँ"[२८]।

२२. सा. ४०९७। २३. सा. ४०९८। २४. सा. ४०९९। २५. सा. ४१०१।
२६. सा. ४१२४। २७. सा. ४१२५- २८. सा. ४१२६।

कृष्ण और उद्धव के इन दोनों संवादों की भाषा सामान्य मिश्रित है। शब्दों का चुनाव दोनों में एक सा है। पहले संवाद में कृष्ण जिस प्रकार गद्‌गद् कंठ से मार्मिक वाक्य कहते हैं, वही, बल्कि उससे भी अधिक, आर्द्र कंठ, दूसरे संवाद में उद्धव का है। मुहावरों का प्रयोग पूर्वोद्‌धृत संवादों की तुलना में, इन दोनों में बहुत कम है। कारण यह है कि शुद्ध भावातिरेक की स्थिति में कहे गये सरल वचन स्वतः प्रभावोत्पादक होते हैं, शाब्दिक या आर्थिक वक्रता इनके लिए अनावश्यक ही होती है। अतएव क्रमिक उत्तर-प्रत्युत्तर न होने पर भी ये संवाद मर्मस्पर्शिता के कारण सुन्दर हैं।

संवादों का वास्तविक महत्व वाक्‌चातुर्य में है और उसके उपयुक्त शब्द-चयन के लिए कौशलपूर्ण सतर्कता अपेक्षित है। इस दृष्टि से सूर काव्य का उद्धव-गोपी-संवाद वाला अंश सबसे महत्वपूर्ण है। अनेकानेक पदों में नयी-नयी उक्तियाँ और नये-नये अकाट्य तर्क गोपियों ने उद्धव के सामने प्रस्तुत करके अपने पक्ष का समर्थन किया और उन्हें निरुत्तर कर दिया। वास्तव में श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अनन्य प्रीतिमय भक्ति ने उनकी वाणी को विशेष दृढ़ता प्रदान कर दी थी जिसने उनकी भाषा को भी बहुत सशक्त बना दिया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामूहिक रूप से सूरदास के संवाद चाहे अधिक विशेषतायुक्त न भी हों; परंतु तर्क की स्पष्टता, विन्यास की सरलता और भाषा की सुबोधता ने उनको विषय, पात्र और परिस्थिति की दृष्टि से स्वाभाविक अवश्य बना दिया है।

५. सूक्तियों की भाषा--

सूर-साहित्य, विशेषतः 'सूरसागर', में सूक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। जीवन के अनेक सारपूर्ण तथ्यों को उन्होंने सूक्ति रूप में इस प्रकार लिखा है कि उनकी सत्यता से परिचित पाठक का चित्त सदैव चमत्कृत हो जाता है। ये सूक्तियाँ एक ओर तो कवि के अनुभव-जन्य ज्ञान का परिचय देती हैं और दूसरी ओर, कथन की प्रभावोत्पादकता-वृद्धि में सहायक होती हैं। सूरदास द्वारा इनके प्रयोग की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने प्रत्येक स्थल पर विषय के अनुरूप सूक्तियों का ही चयन किया है। उनकी कुछ सूक्तियाँ 'सूरसागर' के विभिन्न स्कंधों से यहाँ उद्‌धृत हैं—

१. दुख, सुख, कीरति भाग आपनैं, आइ परै सो गहियै[२९]।
२. प्रेम के सिंधु कौ मर्म जान्यौ नहीं, सूर कहि कहा भयौ देह बोरैं[३०]।
३. ताहि कैं हाथ निरमोल नग दीजियै, जोइ नीकैं परखि ताहि जानैं[३१]।
४. ससि-सन्मुख जो धूरि उड़ावै, उलटि ताहि कैं मुख परै[३२]।
५. जो कछु लिखि राखी नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोइ[३३]।
६. यह जग-प्रीति सुवा-सेमर ज्यौं, चाखत ही उड़ि जात[३४]।

२९. सा. १-६२। ३०. सा. ३१-२२२। ३१. सा. १-२२३। ३२. सा. १-२३४।
३३. सा. १-२६२। ३४. सा. १-३१३।

७. सुख-संपति दारा-सुत हय-गय छूट सबै समुदाइ।
छनभंगुर यह सबै स्याम बिनु अंत नाहिं सँग जाइ[३५]।

८. जीवन-जन्म अल्प सपनौ सौ, समुझि देखि मन माहीं।
बादर-छाँह, धूम-धौराहर, जैसें थिर न रहाहीं[३६]।

९. झूठे नाते जगत के सुत-कलत्र-परिवार[३७]।

१०. कियैं नर की स्तुती कौन कारज सरै, करै सो आपनौ जन्म हारै[३८]।

११. बिनु जानैं कोउ औषधि खाइ। ताकौ रोग सकल नसि जाइ[३९]।

१२. हारि-जीति नहिं जिय कैं हाथ। कारन-करता आनहिं नाथ[४०]।

१३. नर-सेवा तैं जौ सुख होइ। छनभंगुर थिर रहै न सोइ[४१]।

१४. नारि के रूप कौं देखि मोहै न जो, सो नहि लोक तिहु माहिं जायौ[४२]।

१५. (कह्यौ) बिषय सों तृप्ति न होइ। कैतो भोग करौ किन कोइ[४३]।

१६. धनि जननी जो सुभटहिं जावै।
भीर परें रिपु कौ दल दलि-मलि, कौतुक करि दिखरावै[४४]।

१७. अति रिस ही तैं तनु छीजै। सुठि कोमल अंग पसीजै[४५]।

१८. जहाँ बसे पति नाहिं आपनी, तजन कह्यौ सो ठौर[४६]।

१९. सूरदास ऊसर की बरषा, थोरे जल उतरानी[४७]।

२०. सिंहिनि कौ छौना भलौ, कहा बड़ौ गजराज[४८]।

२१. सेवक करै स्वामि सौं सरवरि, इन बातनि पति जाई[४९]।

२२. जाकौ मन जहँ अँटकै जाइ, ता बिनु ताकौं कछू न सुहाइ।
कठिन प्रीति कौ फंद है[५०]।

२३. (जैसें) चोर चोर सौं रातै, ठठा ठठा एकै जानि।
कुटिल कुटिल मिलि चलैं, एक ह्वै, दुहुनि बनी पहिचानि[५१]।

२४. धनी धन कबहूँ न पगटै, धरै ताहि छपाइ[५२]।

२५. बिष कौ कीट बिषहिं रुचि मानै, कहा सुधा रसहीं री[५३]।

२६. जाकी जैसी बानि परी री।
कोऊ कोटि करै नहिं छूटै, जो जिहिं धरनि धरी री[५४]।

---

३५. सा. १-३१७। ३६. सा. १-३१९। ३७. सा. २-२९। ३८. सा. ४-११।
३९. सा. ६-४। ४०. सा. ६-५। ४१. सा. ७-२। ४२. सा. ८-१०।
४३. सा. ९-८। ४४. सा. ९-१५२। ४५. सा. १०-१८३। ४६. सा. १०-३२३।
४७. सा. १०-३३७। ४८. सा. ५८९। ४९. सा. ९५३। ५०. सा. ११८०।
५१. सा. १२७९। ५२. सा. १८४३। ५३. सा. १९२४। ५४. सा. २३९६

२७. नाहिंन कढ़त और के काढ़ैं, सूर मदन के बान[५५]।
२८. प्यासे प्रान जाइँ जौ जल बिनु पुनि कह कीजै सिंधु अमी को[५६]।
२९. जीवन सुफल सूर ताही कौ, काज पराए आवत[५७]।
३०. प्रेम प्रेम तैं होइ, प्रेम तैं पारहिं जइयै।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहियै[५८]।

इन सूक्तियों की भाषा सीधी-सादी और अनलंकृत है। जिस उक्ति को अनुभव-जन्य सत्यता का बल प्राप्त हो, उसकी भाषा को साज-श्रृंगार की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए सूरदास ने व्याख्यात्मक और निष्कर्षात्मक, दोनों प्रकार की सूक्तियों को मिश्रित भाषा में ही लिखा है और उसको तत्सम शब्दों के अधिक प्रयोग से तो बचाया ही है, मुहावरों-कहावतों को भी उसमें बहुत कम स्थान दिया है। यह ठीक है कि कबीर, रहीम, तुलसी आदि की सूक्तियों के समान सूरदास की समवर्गीय उक्तियों का अभी तक विशेष प्रचार नहीं हो सका है, परन्तु इसका प्रधान कारण सूर-साहित्य का सर्वसुलभ न होना ही कहा जा सकता है। अतएव अब 'सूरसागर' के प्रकाशित हो जाने पर यह आशा अवश्य की जा सकती है कि अपने सरल और स्वाभाविक भाषा-रूप के कारण सूरदास की सूक्तियाँ लोकप्रिय हो सकेंगी।

मुहावरों के प्रयोग—

भाषा में मुहावरों के प्रयोग से सजीवता और सशक्तता आती है। रचना को जन-साधारण में प्रिय बनाने में भी मुहावरों का बहुत हाथ रहता है। जिस लेखक की भाषा जनता की बोली के जितना निकट होगी, उसमें सामान्यतया मुहावरों का प्रयोग उतना ही अधिक होना चाहिए। मुहावरेदार भाषा ही वास्तव में उसका स्वाभाविक रूप है। मुहावरों के प्रयोग से कभी-कभी भाषा पर लेखक के अधिकार का भी परिचय मिलता है। साधारणतः जन-संपर्क में अधिक रहनेवाले और विनोदी प्रकृति के व्यक्तियों की भाषा में मुहावरों का प्रयोग खूब मिलता है। सूरदास की भाषा में भी मुहावरों की प्रचुरता के ये ही मुख्य कारण हैं। प्रकृति से वे एकांतवासी नहीं थे। स्वभाव से वे विनोदी भी बहुत थे और जनसाधारण की भाषा को ही उन्होंने काव्य-भाषा का रूप देने का सफल प्रयास किया था। ऐसी स्थिति में मुहावरों का प्रेमी होना सूरदास के लिए स्वाभाविक ही जान पड़ता है।

सूरकाव्य में प्रयुक्त मुहावरों की सूची बहुत लंबी है। 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' में इनका प्रयोग अवश्य कम हुआ है; परंतु 'सूरसागर' में इनकी भरमार है और शायद ही कोई भावप्रधान पद उसमें ऐसा मिले जिसमें दो-चार मुहावरों का प्रयोग उन्होंने न किया हो। विषय के अनुसार 'सूरसागर' के जो तीन बड़े विभाग— (१) विनय पद और पौराणिक कथाएँ, प्रथम से नवम स्कंध तक; (२) श्रीकृष्ण

५५. सा. २५९९। ५६. सा. ३७३८। ५७. सा. ३३३४। ५८. सा. ४०९५।

की व्रज-लीला, दशम स्कंध, पूर्वार्द्ध; और (३) श्रीकृष्ण की मथुरा-द्वारका-लीला, दशम स्कंध उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कंध—पीछे किये गये हैं, उनमें से प्रथम और अंतिम में इनका प्रयोग बहुत कम और द्वितीय में बहुत अधिक किया गया है। इसके चार प्रमुख कारण हो सकते हैं—

पहला तो यह कि कवि को श्रीकृष्ण-कथा का यही अंश सर्वाधिक प्रिय है।

दूसरे, इस अंश में ग्रामीण पात्रों की, विशेषतः स्त्रियों की प्रधानता है जिनका स्वभाव ही मुहावरेदार जन-भाषा में बातचीत करने का होता है।

तीसरे, उक्त तीनों विभागों में से प्रथम और अंतिम का अधिकांश स्वयं कवि द्वारा वर्णित है, पात्रों को बोलने का उनमें बहुत कम अवसर मिला है; परन्तु द्वितीय भाग का अधिकांश पात्र-पात्रियों के पारस्परिक वचनों से पूर्ण है।

चौथा प्रमुख कारण यह है कि दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त शेष सभी स्कंधों में हर्ष, शोक, प्रेम, विरह आदि भावों की सामान्य स्थितियाँ ही पाठकों के सामने आती हैं जिनके वर्णन में सामान्य भाषा-रूप से भी काम चल जाता है। परन्तु दशम स्कंध में यदि हर्ष और प्रेम है तो चरम उत्कर्ष को पहुँचा हुआ और शोक या विरह की वेदना है तो अपार और निस्सीम। इसके अतिरिक्त अपनी प्रीति की अनन्यता को सिद्ध करने की कड़ी समस्या भी व्रजबालाओं के सामने आती है। इन सबकी व्यंजना सामान्य भाषा में अपेक्षित प्रभावात्मक रूप में हो ही नहीं सकती थी। अतएव उक्तियों की वक्रता और वाणी की विदग्धता के उपयुक्त मुहावरों के चयन और प्रयोग में उनका प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी था।

'सारावली' और 'साहित्यलहरी' के साथ-साथ 'सूरसागर' के उक्त तीनों वर्गों में प्राप्त मुहावरों में से कुछ के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

अ. **'सारावली के मुहावरे**— 'सूरसागर' के पौराणिक कथा-प्रसंगों की इतिवृतात्मक शैली पर ही 'सारावली' की रचना भी हुई है। अतएव बाइस सौ के लगभग पंक्तियों में चार सौ के लगभग में मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से कई तो तीन-चार बार दोहराये भी गये हैं। 'सारावली' से दस चुने हुए मुहावरों के प्रयोग इस प्रकार हैं—

१. अब **न परत मोकूँ कल** छिनहूँ चित मैं अति अकुलाई[५९]।
२. **गढ़ि गढ़ि छोलत** कहा रावरे लूटत हौ ब्रजबाल[६०]।
३. मन-क्रम-बचन यहै बर दीजौ **माँगत गोद पसारो**[६१]।
४. बालक बह्यौं सिंधु में हमरो सो नितप्रति **चित् लाग्यो**[६२]।
५. तरुन रूप धरि गोपिनि के हित **सबको चित हरि लीन्हो**[६३]।

---

५९. सारा. ८७४। ६०. सारा. ८८५। ६१. सारा. २२०। ६२. सारा. ५३९।
६३. सारा. ८७२।

६. तब हरि भिरे मल्ल-क्रीड़ा करि बहु बिधि **दाँव दिखाए**[६४]।
७. अति आनंद कुलाहल घर घर **फूले अंग न समात**[६५]।
८. जो तुम राजनीति सब जानत बहुत **बनावत बात**[६६]।
९. जसुमति माय धाय उर लीन्हो **राई-लोन उतारौ**[६७]।
१०. भूषन बसन आदि सब रचि रचि माता लाड़ लड़ावै[६८]।

आ. **'साहित्यलहरी' के मुहावरे**—कूट पदों का संकलन होने के कारण 'साहित्य-लहरी' में मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है ; क्योंकि गूढ़ार्थ-द्योतक सामासिक पदों की रचना में ही कवि का ध्यान अधिक केंद्रित रहा है। अतएव इस काव्य में प्रयुक्त मुहावरों में से केवल पाँच के उदाहरण परिचय के लिए पर्याप्त होंगे—

१. यहै चिंता **दहै छाती** कामघाती बीर[६९]।
२. का सतरात अली बतरावत उतने **नाच नचावै**[७०]।
३. निस दिन **पंथ जोहत** जाइ[७१]।
४. मोहिं आन बृषभान बबा की मैया **मंत्र न लैहै**[७२]।
५. मोहन मो **मन बसिगौ** माई[७३]।

इ. **'सूरसागर' के मुहावरे**—'सूरसागर' एक प्रकार से मुहावरों का भी 'सागर' है। एक शब्द से बने हुए अनेक मुहावरों को यदि स्वतंत्र प्रयोग मान लिया जाय तो दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' में लगभग बीस हजार मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से अनेक मुहावरे ऐसे भी जिनका प्रयोग बार-बार किया गया है। इस प्रकार केवल इस एक काव्य-कृति के आधार पर ऐसे मुहावरों का एक अच्छा कोश तैयार किया जा सकता है जो काव्यभाषा के सर्वथा उपयुक्त हैं। यहाँ 'सूरसागर' के विभिन्न अंशों से अलग-अलग मुहावरों के उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनसे स्पष्ट हो सकता है कि सूरदास भाषा की सजीवता-वृद्धि के लिए इनका प्रयोग आवश्यक समझते थे और इनसे युक्त भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था—

क्ष. **प्रथम से नवम स्कंध तक**—'सूरसागर' के इन नौ स्कंधों में लगभग ढाई हजार पंक्तियों में मुहावरों का प्रयोग किया गया है जिनमें से चुने हुए केवल पचास प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं—

१. बान-बरसा लगे करन अति क्रुद्ध ह्वै, पार्थ-**अवसान** तब सब **भुलाए**[७४]।
२. आजु-काल्हि दिन **चारि-पाँच** मैं लंका होति पराई[७५]।

---

६४. सारा ५२१। ६५. सारा. ६५०। ६६. सारा. ८२४। ६७. सारा. ४५७।
६८. सारा. १८२। ६९. लहरी. ५३। ७०. लहरी ८४।
७१. लहरी. २२। ७२. लहरी १०। ७३. लहरी ४३।
७४. सा. १-२७१। ७५. सा. ९-११७।

३. और पतित **आवत न आँखि-तर** देखत अपनौ साज[७६]।
४. यह तौ **कथा चलैगी** आगैं, सब पतितनि मैं हाँसी[७७]।
५. मंदिर की परछाया बैठ्यौ, **कर मींजै** पछिताइ[७८]।
६. नृप कह्यौ, मैं उत्तर नहिं पायौ। मेरौ **कह्यौ न मन मैं ल्यायौ**[७९]।
७. मारि न सकै, बिघन नहिं ग्रासै, जम न **चढ़ावै कागर**[८०]।
८. सूरदास के प्रभु सो करियै, **होइ न कान-कटाई**[८१]।
९. जब तोसौं समुझाइ कही नृप, तब तैं **करी न कान**[८२]।
१०. अब तौ **परचौ रहैगौ** दिन-दिन तुमकौं ऐसौ **काम**[८३]।
११. ताकौ **केस खसै** नहिं सिर तैं जौ जग बैर परै[८४]।
१२. तुमहीं कहौ कृपानिधि रघुपति। **किहिं गिनती मैं आऊँ**[८५]।
१३. सहसबाहु के सुतनि पुनि **राखी घात लगाइ**[८६]।
१४. सुवा पढ़ावति **जीभ लड़ावति,** ताहि बिमान पठायौ[८७]।
१५. लोक तिहुँ माहिं **कोउ चितु न आयौ**[८८]।
१६. **टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी,** टेढ़ै-टेढ़ै धायौ[८९]।
१७. कबहुँकि **फूलि** सभा मैं बैठ्यौ, मूँछनि **ताव दिखायौ**[९०]।
१८. भुजा छुड़ाइ, **तोरि तृन** ज्यौं हित, कियौ प्रभु निठुर हियौ[९१]।
१९. **दाउँ अबकैं परचौ पूरौ,** कुमति पिछली हारि[९२]।
२०. **दाँत चबात चले** जमपुर तैं धाम हमारे कौं[९३]।
२१. सूर श्री गोबिंद-भजन-बिनु **चले दोउ कर झारि**[९४]।
२२. **कीजै लाज नाम अपने की,** जरासंध सौं असुर सँघारौ[९५]।
२३. गनिका तरी आपनी करनी, **नाम भयौ** प्रभु तेरौ[९६]।
२४. दासी बालक मृतक निहारि। परी धरनि पर **खाइ पछारि**[९७]।
२५. बड़े पतित **पासंगहु नाहीं,** अजामिलि कौन बिचारौ[९८]।
२६. प्रभु मैं **पीछौ लियौ** तुम्हारौ[९९]।
२७. सूरदास ऐसे स्वामी कौं, **देहिं पीठि** सो अभागे[१]।

---

७६. सा. १-९६। ७७. सा. १-१९२। ७८. सा. ९-७५।
७९. सा. ५-४। ८०. सा. १-९१। ८१. सा. १-१८५।
८२. सा. १-२६९। ८३. सा. १-१९१। ८४. सा. १-३७। ८५. सा. ९-१७२।
८६. सा. ९-१४। ८७. सा. १-१८८। ८८. सा. ८-८। ८९. सा. १-३०१।
९०. सा. १-३०१। ९१. सा. ९-४६। ९२. सा. १-३०९। ९३. सा. १-१५१।
९४. सा. १-३०९। ९५. सा. १-१७२। ९६. सा. १-१३२। ९७. सा. ६-५।
९८. सा. १-१३१। ९९. सा. १-२१८। १. स. १-८।

२८. होड़ा-होड़ी मनहिं भावते किए पाप **भरि** पेट[2]।
२९. इहिं कृति कौ **फल** तुरत **चखैहौं**[3]।
३०. सूरदास बैकुंठ - पैठ मैं, **कोउ न फैंट पकरतौ**[4]।
३१. **परै बज्र** या नृपति - सभा पै, कहति प्रजा अकुलानी[5]।
३२. तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ, तऊ **न आयौ बाज**[6]।
३३. मन बिछुरैं तन छार होइगौ, **कोउ न बात पुछातौ**[7]।
३४. प्रिया-बियोग **फिरत मन मारे** परे सिंधु-तट आनि[8]।
३५. पटकि पूँछ **माथौ धुनि** लोटै, लखी न राघव - नारि[9]।
३६. अष्ट सिद्धि बहुरौं तहँ आईं । रिषभदेव ते **मुँह न लगाईं**[10]।
३७. निसि दिन फिरत रहत **मुँह बाए** अहमिति जनम बिगोइसि[11]।
३८. मिथ्याबाद आप-जस सुनि सुनि **मूँछहिं पकरि** अकरतौ[12]।
३९. अब **मेरी - मेरी करि** बौरे, बहुरौ बीज बयौ[13]।
४०. जिनके दारुन दरस देखि कै, पतित **करत म्यौं म्यौं**[14]।
४१. परम कुबुद्धि, तुच्छ रस लोभी, कौड़ी लगि मग की **रज छानत**[15]।
४२. पति अति **रोष मारि मनहीं** मन भीषम दई बचन बँधि बेरी[16]।
४३. लादत जोतत **लकुट बाजिहै** तब कहँ मूँड़ दुरैहौ[17]।
४४. कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, **खैंचि कहत हौं लीकौ**[18]।
४५. तिन देखत मेरौं पट काढ़त, **लीक लगै तुम लाज**[19]।
४६. हम कछु **लेन न देन** मैं, ये बीर तिहारे[20]।
४७. नगन न होति चकित भयौ राजा, **सीस धुनै, कर मारै**[21]।
४८. हौं बड़, हौं बड़ बहुत कहावत, **सूधैं करत न बात**[22]।
४९. सूरदास रावन कुल - खोवन **सोवत सिंह जगायौ**[23]।
५०. द्विज कुल - पतित अजामिल बिषयी, गनिका **हाथ बिकायौ**[24]।

त्र. **दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध)**—इस शीर्षक के अंतर्गत सभा के 'सूरसागर' में ४१६० पद दिये गये हैं। इनकी लगभग सोलह हजार पंक्तियों में सूरदास ने मुहावरों के प्रयोग किये हैं। यह ठीक है कि अनेक पंक्तियों में पूर्व प्रयुक्त मुहावरे दोहराये गये हैं; फिर भी

---

२ सा. १-१०६ । ३ सा. ७-५ । ४ सा. १-२९७ । ५ सा. १-९५० ।
६ सा. १-९६ । ७ सा. १-३०२ । ८ सा. ९-८३ । ९ सा. ९-७५ ।
१० सा. ५-२ । ११ सा. १-३३३ । १२ सा. १-२०३ । १३ सा. १-७८ ।
१४ सा. १-१५१ । १५ सा. १-११४ । १६ सा. १-२५२ । १७ सा. १-३३१ ।
१८ सा. १-१३८ । १९ सा. १-२५५ । २० सा. १-२३८ । २१ सा. १-२५७ ।
२२ सा. २-२२ । २३ सा. ९-८८ । २४ सा. १-१०४ ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सजीवता और सांकेतिकता की दृष्टि से इनमें से अधिकांश पदों की भाषा अत्यंत उत्कृष्ट है। दशम स्कंध से यहाँ लगभग सौ मुहावरों के ही उदाहरण दिये जा रहे हैं—

१. जोग की गति सुनत मेरैं **अंग आगि बई**[२५]।
२. निदरि बैठी सबनि कौं यह **पुलकि अंग न समाति**[२६]।
३. मैं तौ जे हरे हैं, ते तौ सोवत परे हैं, ये करे हैं कौनैं आन,
अँगुरीनि दंत दै रह्यौ[२७]।
४. तुम **बाँधति आकास** बात झूठी को सैहै[२८]।
५. **आस जनि तोरहु** स्याम, हमारी[२९]।
६. प्रीति के बचन बाँचे, बिरह अनल आँचे,
आपनी गरज कौ तुम **एक पायँ नाचे**[३०]।
७. मुरलिया स्यामहिं **और कियौ**[३१]।
८. अब तुम मोकौं करौ अजाँची, जो कहुँ **कर न पसारौं**[३२]।
९. **कान परी सुनियै नहीं** बहु बाजत ताल मृदंग[३३]।
१० सूरदास स्वामी बिनु गोकुल **कौड़ी हू न लहै**[३४]।
११ बहुत दिवस मैं **कौरैं लागी,** मेरी **घात न आयौ**[३५]।
१२. मानौ पून्यौ चंद्र **खेत चढ़ि** लरि स्वरभानु सौं घायल आयौ[३६]।
१३. आपु अपनी **घात निरखत खेल** **जम्यौ** बनाइ[३७]।
१४. कोउ बरषत, कोउ अगिनि जरावत, दई **परचौ है खोज हमारे**[३८]।
१५. तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया **गंगा कैसौ पानी**[३९]।
१६. दधि-माखन **गाँठी दै राखति,** करत फिरत सुत चोरी[४०]।
१७. वह मघवा बलि लेत है नित **करि करि गाल**[४१]।
१८. देखहु जाइ चरित तुम वाके जैसैं **गाल बजैहै**[४२]।
१९. चोरि-चोरि दधि-माखन मेरौ, नित प्रति **गौधि रहे हो** छींकैं[४३]।
२०. इक तैं एक **गुननि हैं पूरे** मातु, पिता अरु आपु[४४]।
२१. दियौ फल यह गिरि गोबरधन, लेहु **गोद पसारि**[४५]।
२२. तुम कुँवर **घर ही के बाढ़े** अब कछू जिय जानिहौ[४६]।

---

२५ सा. ३७०३। २६ सा. १२९८। २७ सा. ४८४। २८ सा. १४९१।
२९. सा. १०२९। ३०. सा. २५४९। ३१. सा. १२७७। ३२. सा. १०-३७।
३३. सा. २९०७। ३४. सा. ३१८०। ३५. सा. १०-२८८। ३६. सा. १६११।
३७. सा. १०-२४४। ३७. सा. ५९५। ३९. सा. १०-३११। ४०. सा. १०-३४२।
४१ सा. ८२३। ४२. सा. १७२४। ४३. सा. १०-२८७। ४४. सा. १२५६।
४५. सा. ८५९। ४६. सा. २८१०।

२३. आपुनि गई कमोरी माँगन, हरि **पाई** ह्याँ **घात**[47]।
२४. सखा साथ के **चमकि गए** सब, गह्यौ स्याम-कर धाइ[48]।
२५. चितवत **चित लै चुराइ,** सोभा बरनी न जाइ[49]।
२६. सूरदास प्रभु दूत दिनहिं दिन, पठवत चरित **चुनौती दैन**[50]।
२७. **छठ-आठैं** मोहिं कान्ह कुँवर सौं, तिनकी कहति प्रीति तोसौं है[51]।
२८. वह पापिनी दाहि कुल आई, देखि **जरति है** छाती[52]।
२९. बिना **जोर अपनी जाँघनि के** कैसैं सुख कीन्हौ तुम चाहत[53]।
३०. जाहु घरहिं तुमकौं मैं चीन्ही । तुम्हरी **जाति जानि** मैं लीन्ही[54]।
३१. **हाथ नचावति** आवति ग्वारिनि, **जीभ करै किन** थोरी[55]।
३२. अचरज महरि तुम्हारे आगैं, अबै **जीभ** तुतरानी[56]।
३३. ऊँच-नीच **जुवती** बहु **करिहैं,** सतएँ राहु परे हैं[57]।
३४. सूरदास जसुदा कौ नंदन, **जो कछु करै सो थोरी**[58]।
३५. **ज्यौं-त्यौं करि** इन दुहुनि सँघारौ, बात नहीं कछु और[59]।
३६. सूर स्याम मैं तुम न डरैहौं, **ज्वाब** स्वाल कौ दैहौं[60]।
३७. अतिहिं आईं गरब कीन्हे, गईं घर **झख मारि**[61]।
३८. ऐसैं **टूटि परी** उन ऊपर, तुमहीं कीन्हौ बैरी[62]।
३९. सूरदास प्रभु कह्यौ न मानत, **परचौ** आपनी **टेक**[63]।
४०. जनु हीरा हरि लियौ हाथ तैं, **ढोल बजाइ** ठगी[64]।
४१. लरिकिनी सबनि घर तोसी नहिं कोउ निडर,
चलत **नभ चितै नहिं तकत** धरनी[65]।
४२. जननी कहति, **दई की घाली**, काहें कौं इतराति[66]।
४३. (माई) नैंकहूँ न **दरद करति,** हिलकिनि हरि रोवै[67]।
४४. अचिरज आइ सुनौ री, भूषन **देखि न सकत** हमारौ[68]।
४५. सूर परेखौ काकौ कीजै, **बाप कियौ** जिन दूजौ[69]।
४६. **द्वै कौड़ी** के कागद-मसि कौ, लागत है बहु मोल[70]।

---

४७. सा. १०-२७० । ४८. सा. १०-३१४ । ४९. सा १०-१४६ ।
५०. सा. १७७६ । ५१. सा. १७१७ । ५२. सा. १३१५ ।
५३. सा. १८१२ । ५४. स.. ७९९ । ५५. सा. १०-२९३ । ५६ सा. १०-३११ ।
५७. सा. १०-८६ । ५८. सा. १०२९३ । ५९. सा. २९२६ । ६०. सा. १४०५ ।
६१. सा. १७४१ । ६२. सा. २०८७ । ६३. सा. ४११ । ६४. सा. ३२६५ ।
६५. सा. ६९८ । ६६. सा. १००३ । ६७. सा. ३४८ । ६८. सा. १५४१ ।
६९. सा. ३६५० । ७०. सा. ३२५४ ।

४७. अब ये भवन देखियत सूने, **धाइ धाइ** हमकौं ब्रज **खात**[७१] ।
४८. कीधौं कहुँ प्यारी कौं, **लागी** टटकी **नजरि**[७२] ।
४९. दंडौं काम-दंड पर-घर कौ **नाउँ न लेइँ बहोरी**[७३] ।
५०. गिरिधर कौं अपनैं बस कीन्हे, नाना **नाच नचावै** री[७४] ।
५१. त्रिभुवन मैं अति **नाम जगायौ**, फिरत स्माम सँगही-सँगही[७५] ।
५२. आजु मोहिं बलराम कहत हे, झूठहिं **नाम धरति हैं** तेरौ[७६] ।
५३. **करन देहु** इनकी मोहिं **पूजा**, चोरी **प्रगटत नाम**[७७] ।
५४. महादेव की **नारी छूटी**, अति ह्वै रहे अचेत[७८] ।
५५. गिरिधर बर मैं नैंकु न छाँड़ौं, मिली **निसान बजाइ**[७९] ।
५६. इनकौ गुन कैसें कहि आवै, सूर **पयारहिं झारत**[८०] ।
५७. देखौ जाइ आजु बन कौ सुख, कहा **परोसि धरचौ** है[८१] ।
५८. देन उरहनौं तुमकौं आईं । **नीकी पहरावनि** हम **पाईं**[८२] ।
५९. साटिनि मारि **करौं पहुँनाई,** चितवत कान्ह डरायौ[८३] ।
६०. **पाँच की सात लगायौ**, झूठी झूठी कै बनायौ,
साँची जौ तनक होइ, तौलौं सब सहियै[८४] ।
६१. असुर कंस **दै पान** पठाई[८५] ।
६२. जाकौं ब्रह्मा **पार न पावत,** ताहि खिलावत ग्वालिनियाँ[८६] ।
६३. बहियाँ गहत सतराति कौन पर, मग धरि डग कौन पर **होति पीरी-कारी**[८७] ।
६४. ततछन **प्रान पलटि गयौ** मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री[८८] ।
६५. **नाच कछचौ** तब **घूँघट छोरचौ** । लोक-लाजि सब **फटकि-पछोरचौ**[८९] ।
६६. **फूली फिरति** ग्वालि मन मैं री[९०] ।
६७. याकैं बल हम **बदत न काहुहिं,** सकल भूमि तृन चारचौ[९१] ।
६८. जा कारन तुम यह **बन सेयौ,** सो तिय मदन-भुअंगम खाई[९२] ।
६९. हौं तौ न भयौ री घर, देखत्यौ तेरी यौं अर,
फोरतौ बासन सब, **जानति बलैया**[९३] ।
७०. झूठैं ही यह **बात उड़ी** है, राधा-कान्ह कहत नर-नारी[९४] ।

---

७१. सा. ३२५१ । ७२. सा. ७५२ । ७३. सा. १९३८ । ७४. सा. १२३८ ।
७५. सा. २२४१ । ७६. सा. ३९९ । ७७. सा. ३७६ । ७८. सा. ११८३ ।
७९. सा. १६६३ । ८०. सा. २३०१ । ८१. सा. ४१४ । ८२. सा. ७९९ ।
८३. सा. १०-३३० । ८४. सा. १७३४ । ८५ सा. १०-५० । ८६. सा. १०-१३२ ।
८७. सा. २५९५ । ८८. सा. १०-१३५ । ८९. सा. १६६१ । ९०. सा. १०-२६६ ।
९१. सा. ४३३ । ९२. सा. ७४८ । ९३. सा ३७२ । ९४. सा. १७१० ।

७१. मेरी **बात गई** इन आगैं, अबहिं **करति बिनु पानी**[१५]।
७२. को इनकी ह्याँ **बात चलावै**, इतनौ हित है काकैं[१६]।
७३. **बातनि ही उड़ि जाहिं** और ज्यौं, त्यौं नाहीं हम काँची[१७]।
७४. न्हात **बार न खसै** इनकौ, कुसल पहुँचैं धाम[१८]।
७५. सूर सकल षटदरसन वै, हौं **बारहखरी पढ़ाऊँ**[१९]।
७६. यह सुनि नृपति हरष मन कीन्हौ, तुरतहिं **बीरा दीन्हौ**[१]।
७७. चतुराई अँग-अंग भरी है, पूरन ज्ञान, न **बुधि की मोटी**[२]।
७८. तिहिं कारन मैं आइकै तुव **बोल रखायौ**[३]।
७९. सूर स्याम तजि को **भुस फटकै** मधुप, तुम्हारे हेति[४]।
८०. अधर कंप रिस **भौंह मरोरयौ** मन हीं मन गहरानी[५]।
८१. नैंकहूँ नहिं **मंत्र लागत**, समुझि काहु न जाइ[६]।
८२. सूर सनेह ग्वालि **मन अँटक्यौ** अंतर प्रीति जाति नहिं तोरी[७]।
८३. जिहिं जिहिं भाँति ग्वाल सब बोलत, सुनि स्रवननि **मन राखत**[८]।
८४. वे सब ढीठ गरब गोरस कैं, **मुख सँभारि बोलत** नहिं बात[९]।
८५. कबहूँ बालक **मुँह न दीजियै, मुँह न दीजियै** नारी[१०]।
८६. काहे कौं **मुँह परसन** आए, जानति हौं चतुराई[११]।
८७. **मुँह पावति** तबहीं लौं आवति, औरै लावति मोहिं[१२]।
८८. भलौ काम है सुतहिं पढ़ायौ, बारे ही तैं **मूड़ चढ़ायौ**[१३]।
८९. मन ही मन बलबीर कहत हैं, ऐसे **रंग बनावत**[१४]।
९०. **रसना तारू सौं नहिं लावत** पीवै-पीव पुकारत[१५]।
९१. सूर स्यामसुंदर मुख देखैं बिनु री **रह्यौ न जाइ**[१६]।
९२. सूर स्याम गाइनि सँग आए मैया **लीन्हे रोग**[१७]।
९३. तुव प्रताप जान्यौ नहिं प्रभु जू, करै अस्तुति **लट छोरे**[१८]।
९४. लरिकनि कैं बर करत यह, **धरिहैं लाड़ उतारि**[१९]।
९५. जैसैं **लौन** हमारौ **मान्यौ**, कहा कहौं, कहि काहि सुनाऊँ[२०]।

---

९५ सा. १७६७ । ९६ सा. २७५८ । ९७ सा. ३६८६ । ९८ सा. ३०२१ ।
९९ सा. ४१२६ । १ सा. १०-६१ । २ सा. १९०१ । ३ सा. ७१६ ।
४ सा. ३८६१ । ५ सा. २४१४ । ६ सा. ७४५ । ७ सा. १०-३०५ ।
८ सा. ४९३ । ९ सा. १०-३०८ । १० सा. १५१८ । ११ सा. २५०५ ।
१२ सा. ७२३ । १३ सा. ३९१ । १४ सा. १०-१२५ । १५ सा. २३३१ ।
१६ सा. २३६० । १७ सा. ४९३ । १८ सा. ४८८ । १९ सा. १६१८ ।
२० सा. २२५९ ।

९६. घर-घर कहत बात नर-नारी। दूत सुन्यौ सो **स्रवन पसारी**[21]।
९७. स्वारथ मानि लेत रति करि कै, **बोलत हाँ जी, हाँ जी**[22]।
९८. घर-घर **हाथ दिवावति** डोलति, बाँधति गरैं बघनियाँ[23]।
९९. सूर स्याम अति करत अचगरी, कैसैंहुँ काहू **हाथ न आवै**[24]।
१००. सूर स्याम कैं **हाथ बिकानी** अलि अंबुज अनुरागे[25]।
१०१. मेरी जोरी है श्रीदामा **हाथ मारे जात**[26]।
१०२. करिहौ मान मदनमोहन सौं, मानै **हाथ रहैगौ**[27]।
१०३. अबहीं तैं **यह हाल करत है**, दिन-दिन होत प्रकास[28]।
१०४. सूर स्याम अब तजौ निठुराई, **गाँठि हृदय की खोलौ** जू[29]।

ज्ञ. दशम (उत्तरार्द्ध), एकादश और द्वादस स्कंध—इन स्कंधों के लगभग १६० पदों में मुहावरों के प्रयोग अधिक नहीं हैं। कारण यह जान पड़ता है कि कुछ तो इनके विषयों में से अनेक में कवि की रुचि ही नहीं थी और कुछ वह ग्रंथ-समाप्ति की शीघ्रता था। फिर जो मुहावरे इस भाग में प्रयुक्त भी हुए हैं वे बहुत प्रचलित और साधारण ही हैं; जैसे—

१. झूठे नर सौं **लेहिं अँकोरि**। लावैं साँचै नर कौ खोरि[30]।
२. सूर हृदय तैं टरत न गोकुल, **अंग छुअत हौं तेरौ**[31]।
३. मथुरा हू तैं गए सखी री, अब हरि **कारे कोसनि**[32]।
४. जज्ञ छाँड़ि हरि-पद **चित लायौ**[33]।
५. ज्यौं जुवारि रस-बींधि हारि गथ सोचत **पटकि चिती**[34]।
६. निरखि सुर-नर सकल मोहे, **रहि गए जहँ के तहाँ**[35]।
७. जब जब मोहिं घोष-सुधि आवत नैननि **बहति पनारी**[36]।
८. ऐसी प्रीति की **बलि जाउँ**[37]।
९. धरिहौं कहा जाइ तिय आगैं, **भरि-भरि लेत हियौ**[38]।
१०. नृप, मैं तोहिं भागवत सुनायौ। अरु तुम सुनि हिय माहिं बसायौ[39]।

'सारावली', 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर' से जो मुहावरे ऊपर संकलित किये गये हैं, वे सामान्य स्फुट विषयों, अंगों आदि से संबंधित हैं। यहाँ इनके अतिरिक्त

२१. सा. ९२२। २२. सा. २२५७। २३. सा. १०-८७। २४. सा. १४३३।
२५. सा. १००३। २६. सा. १०-२१३। २७. सा. २८२६। २८. सा. १०-६०।
२९. सा. २५०९। ३०. सा. १२-३। ३१. सा. ४२९५। ३२. सा. ४२५८।
३३. सा. १२-५। ३४. सा. ११-१। ३५. सा. ४१८६। ३६. सा. ४२७४।
३७. सा. ४२३०। ३८. सा. ४२३४। ३९. सा. १२-४।

'सूर-काव्य' में प्रयुक्त 'आँख'-संबंधी कुछ उदाहरण और दिये जाते हैं। कवि सूर नेत्र-ज्योति-हीन थे। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि नेत्रों का अभाव उन्हें कभी-कभी बहुत विकल कर देता हो। संभवतः इसी कारण-नेत्र संबंधी मुहावरे उनको बहुत प्रिय थे और उन्होंने उनमें से अनेक का प्रयोग अपने काव्य में किया है; जैसे—

१. तब नारायन **आँखि उघारी**[४०]।
२. हमरौ जोबन-रूप **आँखि** इनकी **गड़ि लागत**[४१]।
३. और पतित **आवत न आँखि तर** देखत अपनौ साज[४२]।
४. **आँखि दिखावत** हौ जु कहा तुम करिहौ कहा रिसाय[४३]।
५. हरि की माया कोउ न जानै **आँखि धूरि-सी दीनी**[४४]।
६. काहे कौं अब रोष दिखावत, देखत **आँखि बरत है** मेरी[४५]।
७. बहुरचौ भूलि न **आँखि लगी**[४६]।
८. अबकैं जौ परचौ करि पावौं अरु **देखौं भरि आँखि**[४७]।
९. तिहिं जल गाजत महावीर सब तरत **आँखि नहिं मारत**[४८]।

ऊपर कहा गया है कि सूर-काव्य के आधार पर मुहावरों का एक कोश तैयार किया जा सकता है। 'आँख' संबंधी उक्त मुहावरों से इस कथन की पुष्टि होती है। वीररस संबंधी पद सूर-काव्य में नहीं है और युद्धों का वर्णन भी उन्होने एक दो पंक्तियों में ही समाप्त कर दिया है। अतएव तद्विषयक मुहावरों का उसमें भले ही अभाव हो, परन्तु शृंगार, करुण और शांत रस के उपयुक्त मुहावरे उनके काव्य में बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं और इस दृष्टि से वे हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित कवियों से बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से मुहावरों के प्रयोग के संबंध में एक महत्व की बात यह भी स्पष्ट होती है कि सूरदास कहीं इनकी सप्रयास योजना में प्रवृत्त नहीं हुए। उनकी भाषा के सभी रूपों में मुहावरे सहज रीति से ही प्रयुक्त हुए हैं जिससे अर्थ-व्यंजना के साथ-साथ भाषा-सौंदर्य की स्वाभाविक वृद्धि हुई है। साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि अपने समय में प्रचलित अगणित मुहावरों में से सूरदास ने केवल उन्हीं का चयन किया है जिनमें दीर्घायु होने की क्षमता थी। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अधिकांश मुहावरे आज भी प्रचलित और लोकप्रिय हैं। तीसरी बात यह है कि सूरदास ने मुहावरों का रूप बिगाड़ने का प्रयत्न कहीं नहीं किया जिससे भाषा की सुबोधता और स्वच्छता सर्वत्र बनी रहती है। विदेशी शब्दों से बने मुहावरों को अपनाते समय भी उन्होंने इन बातों का बराबर ध्यान रक्खा है।

---

४०. सा. ११-३। ४१. सा. १४६१। ४२. सा. १-९६। ४३. सा. वें. २४४७ (७)। ४४. सा. ६९४। ४५. सा. ३५२८। ४६. सा. वें. २७९०। ४७. सा. ९-१६४। ४८. सा. ९-११२।

७ कहावतों के प्रयोग — मुहावरों के समान ही कहावतों के प्रयोग से भी भाषा सजीव और सशक्त होती है। मुहावरे, भाषा के सामान्य अर्थ में ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं; परन्तु कहावतों में जीवन के महत्वपूर्ण अनुभवों का सार इस प्रकार संकलित रहता है कि पाठक के सामने प्रसंग-विशेष का एक सांगोपांग चित्र-सा अंकित हो जाता है। सूर-काव्य में इनका भी प्रयोग अनेक पदों में हुआ है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध में ही इनकी अधिकता है; उसके अन्य स्कंधों, 'सारावली' और 'साहित्यलहरी' में इनके प्रयोग बहुत कम हुए हैं। 'सूरसागर' में प्राप्त कहावतों के कुछ प्रयोग यहाँ संकलित हैं—

१. **अँगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँचौ** कैसें दुरति दुराए [४९]।
२. सूरदास प्रभु **आक चचोरत, छाँड़ि ऊख कौ** मूढ़ [५०]।
३. **इत की भई न उत की** सजनी, भ्रमत भ्रमत मैं भई अनाथ [५१]।
४. **भई रीति हठि उरग-छछूँदरि छाँड़े बनै न खात** [५२]।
५. सूरदास **ऊसर की बरषा थोरे जल उतरानी** [५३]।
६. जोइ जोइ आवत वा मथुरा तैं, **एक डार के तोरे** [५४]।
७. कहौ मधुप, **कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े** [५५]।
८. सूर **मिलै मन जाहि जाहि सौं, ताकौ कहा करै काजी** [५६]।
९. सूरदास सुरपति रिस पाई। **कीरी तनु ज्यौं पंख उपाई** [५७]।
१०. **कुटिल कुटिल मिलि चलैं एक ह्वै** [५८]।
११. ज्यौं **गजराज काज के औरै, औसर दसन दिखावत** [५९]।
१२. सूरदास अबला हम भोरी **गुर-चींटी ज्यौं पागी** [६०]।
१३. जैसें **चोर चोर सौं रातै** [६१]।
१४. **छोटे मुँह बड़ी बात कहत**, अबहीं मरि जैहै [६२]।
१५. ऊधौ जौ जिय जानि कै, **देत जरे पर लौन** [६३]।
१६. करियै कहा, **लाज मरियै जब अपनी जाँघ उघारी** [६४]।
१७. **जूठौ खैयै मीठैं कारन**, आपुहिं खात अड़ावत [६५]।
१८. सूरदास प्रभु आपुहिं जैयै, **जैसी बयारि तैसी दीजै पीठि** [६६]।

---

४९. सा. १३०५। ५०. सा. ३७३३। ५१. सा. २३१७।
५२. सा. ३७३९। ५३. सा. १०-३३७। ५४. सा. ३५९५। ५५. सा. ३६०४।
५६. सा. ३१४७। ५७. सा. ९२३। ५८. सा. १२७९। ५९. सा. ३६४७।
६०. सा. ३९५८।
६१. सा. १२७९। ६२. सा. ५८९। ६३. सा. ३५२२। ६४. सा. १-१७३।
६५. सा. २३४१। ६६. सा. २५७१।

१९. **जैसौ कियौ लह्यौ फल तैसौ** हमहीं दूषन आयौ[६७]
२०. **जैसोइ बोइयै तैसोइ लुनिए,** कर्मन भोग अभागे[६८]।
२१. **जौ कोउ पर-हित कूप खनावै परै सु कूपहिं माहीं**[६९]।
२२. **ठठा ठठा एकै जानि**[७०]।
२३. सूरदास प्रभु दुरत **दुराए डुँगरनि ओट सुमेर**[७१]।
२४. **दाई आगें पेट दुरावति,** वाकी बुद्धि आजु मैं जानी[७२]।
२५. हम जातहिं वह उघरि परैगी, **दूध-दूध पानी सो पानी**[७३]।
२६. हम तन हेरि चितै **अपनौ पट देखि पसारहिं लात**[७४]।
२७. सूरदास कहुँ सुनी न देखी, **पोत सूतरी पोहत**[७५]।
२८. **बीस बिरियाँ चोर की तौ कबहुँ मिलिहै साधु**[७६]।
२९. **बोवत बबुर दाख फल चाहत,** जोवत है फल लागे[७७]।
३०. **मरे कौं मारत बड़े लोग** भाई[७८]।
३१. सूरदास प्रभु सीख बतावैं **सहद लाइ कै चाटी**[७९]।
३२. **सूधे होत न स्वान पूँछ-ज्यौं** पचि पचि बैद मरे[८०]।

कहावतों का प्रयोग साधारणतः वार्तालाप में अधिक होता है और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की इनके प्रति अधिक रुचि रहती है। ऊपर संकलित वाक्यों में से अधिकांश स्त्रियों के ही हैं। सूरदास की भाषा को इन कहावतों के प्रयोग से कहीं कहीं बड़ा बल मिला है— और जब हम देखते हैं कि उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक कहावतें आज भी ज्यों की त्यों, सामान्य वार्तालाप की भाषा में ही नहीं, काव्यभाषा में भी प्रयुक्त होती हैं तब इस अंध कवि की रचना-कुशलता पर हमें गर्वमिश्रित आश्चर्य होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से सूर की भाषा का अध्ययन

सूरदास को काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला था; फिर भी जब उनको हिंदी के सर्वप्रिय कवि गोस्वामी तुलसीदास के समकक्ष पद प्रदान किया जाता है, तब शास्त्रीय दृष्टि से उनकी भाषा का अध्ययन करना भी बहुत आवश्यक हो जाता है। इस शीर्षक के अंतर्गत सूरदास की भाषा के, जिन पक्षों का अध्ययन करना है, उनमें मुख्य हैं—१. सूर के छंद और उनकी भाषा, २. शब्दशक्तियाँ ३. ध्वनि, ४. अलंकार ५. गुण, रीति और वृत्ति, ६. रस और भाषा का संबंध एवं ७. सूर की भाषा के दोष।

(१) **सूर के छंद और उनकी भाषा**—अच्छी कविता के लिए जिस प्रकार भाषा का

---

६७. सा. १०१४। ६८. सा. १-६१। ६९. सा. ३६८७।
७०. सा. १६७९। ७१. सा. ४५८। ७२. सा. १७२३।
७३. सा. १७२३। ७४. सा. ३८९३। ७५. सा. ३६९०। ७६. सा. १७४१।
७७. सा. १-६१। ७८. सा. २३०३। ७९. सा. ३९२६। ८०. सा. ३७३०।

भाव के अनुकूल होना आवश्यक है उसी प्रकार छंदों का चुनाव भी भाव-विशेष के ध्यान से किया जाता है। भाषा और छंद, दोनों के भावानुकूल होने पर काव्य का सौंदर्य निखरता है। काव्य की श्री-वृद्धि का यह कार्य भाषा और छंद के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। छोटे छंदों में लिखी गयी कविता तभी सुंदर लगती है जब उसके साथ छोटे-छोटे सरस शब्दों का चुनाव किया गया हो; इसी प्रकार बड़े छंदों के लिए छोटे-बड़े, दोनों प्रकार के शब्दों का मिला-जुला प्रयोग किया जा सकता है। यह तो हुआ भाषा का सहयोग; और छंद का सहयोग भी कम महत्व का नहीं है। छंद तो स्फुट रूप से बिखरे शब्दों को नियमानुसार क्रम में रखने पर उनमें अपूर्व नाद-सौंदर्य की सृष्टि करता है जिससे भाव को हृदयंगम करने में कभी-कभी बहुत सहायता मिलती है। इसीलिए छंद के बंधन से मुक्ति पाने का प्रश्न उठने पर शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा था, 'छंद के बंधन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखायी पड़ता है[८१]।' इस कथन के द्वारा वे भी जैसे भाषा और छंद के घनिष्ठ संबंध की आवश्यकता का ही समर्थन करते हैं।

समस्त सूर काव्य, प्राचीन परंपरा के अनुसार, छंदबद्ध रूप में लिखा गया है। सामान्य काव्य से सूरदास के छंद-प्रयोग में एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने अधिकांश साहित्य को गेय रूप प्रदान किया है। उनके पद सफलतापूर्वक गाये जाते हैं और संगीतज्ञों को उनमें अपार आनंद मिलता है। काव्य-कला की कसौटी पर सामान्य और खरे उतरनेवाले, दोनों प्रकार के पदों में प्रायः यह गुण मिलता है। जिन साधनों से सूर-काव्य को संगीत की दृष्टि से यह सफलता मिल सकी, उनमें भाषा का भी प्रमुख स्थान है। सरल, विषय और भावानुकूल शब्दों की नियमित योजना ने उसमें संगीत की जो मधुरिमा भर दी, वह असाधारण है। उनके प्रायः सभी मर्मस्पर्शी पद बहुत छोटे—अधिक से अधिक आठ चरणों के हैं जिनमें सहज और भावपूर्ण शब्दों की अधिकता है। कवि स्वतः ऐसे पदों की रचना करते समय भावमग्न हो जाता है और वैसी स्थिति में उसकी विनोदी प्रकृति भी रसलीनता का अनुभव करती है जिसके फलस्वरूप भाषा-शैली के साथ खिलवाड़ करने के लोभ का संवरण करने में समर्थ होती है। ऐसे पदों में रूपक सरल हैं, उपमाएँ सुंदर और उत्प्रेक्षाएँ सहृदयता को उल्लसित करनेवाली हैं। इनके साहचर्य से भाषा इस प्रकार खिल उठी है कि संगीतज्ञ भी उस पर लट्टू हो जाता है। भाषा-संबंधी सूर का यह कौशल उनके समस्त सुंदर पदों में देखा जा सकता है।

वास्तव में गेय पदों की संगीतात्मकता के उपयुक्त शब्दावली का चयन सूरदास के लिए बहुत साधारण बात थी। बाल्यावस्था से ही जिस कवि ने गाने का अभ्यास किया हो, स्व-रचित पदों को जो आरंभ से ही गाता रहा हो और गुणज्ञों को रिझाने में भी समर्थ हुआ हो, उसके लिए संगीत की प्रकृति को समझना और उसके अनुकूल शब्दों का

८१. **आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १३५।**

चयन करना स्वभावतया सुगम हो जाता है। सूर ऐसे ही व्यक्ति थे। भक्त, कवि और गायक—एक ही व्यक्तित्व में मानव-समाज के तीन प्रमुख वर्गों के सामंजस्य ने उनको ऐसे सभी विषयों से परिचित करा दिया जो धर्मप्राण जनता को मोह सकते हैं; केवल भवुकों और सहृदयों को ही नहीं, मानव-मात्र को प्रभावित कर सकते हैं और काव्य को संगीत का अत्यंत मुग्धकारी रूप प्रदान कर सकते हैं। भाषा के प्रयोग इन तीनों क्षेत्रों में वे पचास वर्ष से भी अधिक समय तक करते रहे; फिर ब्रजभाषा उनकी मातृभाषा थी और उसी का संस्कार-परिष्कार, श्री और संपन्नता-वृद्धि उनके जीवन का प्रिय लक्ष्य रहा। अतएव इस प्रकृत संगीतज्ञ के काव्य में उपयुक्त भाषा देखकर नहीं, न देखकर अवश्य आश्चर्य हो सकता था; अस्तु।

सूर-काव्य में प्रयुक्त छंदों को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) छोटे छंद; जैसे उपमान, कुंडल, चौपई, चौपाई, चौबोला आदि; और (ख) बड़े छंद; जैसे—लावनी, विष्णुपद, वीर, सरसी, सार, हरिप्रिया आदि। इनमें से प्रत्येक वर्ग के कुछ छंदों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) छोटे छंद—(अ) **उपमान**—२३ मात्राएँ = १३, १०; अंत में दो गुरु—
सूरदासदंपति-दसा, कापै कहि जाई[८२]।

(आ) **कुंडल**—२२ मात्राएँ = १२, १०; अंत में दो गुरु—
चतुरानन-बल सँभारि, मेघनाद आयौ[८३]।

(इ) **चौपई**—१५ मात्राएँ, अंत में गुरु-लघु—
बाल-अवस्था मैं तुम धाइ, उड़ति भँभीरी पकरी जाइ[८४]।

(ई) **चौपाई**—१६ मात्राएँ; अंत में जगण, तगण या गुरु लघु न हो—
जाति-पाँति तिन सब बिसराई। भच्छ अभच्छ सबै सो खाई[८५]।

(उ) **चौबोला** – १५ मात्राएँ; अंत में गुरु—
बहुरि पुरान अठारह किये। पै तउ सांति न आई हिये[८६]।

(ख) बड़े छंद—(अ) **लावनी**—३० मात्राएँ = १६, १४; अंतिम वर्ण गुरु—
सूरदास तिहिंकौं ब्रज-बनिता, झकझोरति उर अंक भरे[८७]।

(आ) **विष्णुपद**—२६ मात्राएँ = १६, १०; अंत में गुरु—
सूरदास प्रभु-प्रिया-प्रेम-बस निज महिमा बिसरी[८८]।

(इ) **वीर**—३१ मात्राएँ = १६, १५; अंत में गुरु-लघु—
सूरदास प्रभु सिसु-लीला-रस आवहु देखि नंद सुख-धाम[८९]।

८२. सा. ७१५। ८३. सा. ९-९६। ८४. सा. ३-५। ८५. सा. ६-४।
८६. सा. १-२३०। ८७. सा. १०-८८। ८८. सा. ९-६३। ८९. सा. १०-१४७।

(ई) **सरसी**—२७ मात्राएँ = १६, ११; अंत में गुरु-लघु--
सूरज-प्रभु पर सकल देवता, बरषत सुमन अपार*

(उ) **सार**—२८ मात्राएँ = १६, १२; अंत में दो गुरु–
सूरदास प्रभु मधुर वचन कहि, हरषित सबहिं बुलाए[९०]।

(ऊ) **हरिप्रिया**—४६ मात्राएँ = १२, १२, १२, १० अंत में दो गुरु–
गावत गुन सूरदास, बढ्यौ जस भुव-अकास नाचत त्रैलोकनाथ, माखन के काजै[९१]।

इन छंदों के अतिरिक्त यद्यपि चद्र, तोमर, दोहा, भानु, राधिका, रूपमाला, रोला, शोभन, सवैया, सुखदा, हंसाल, हरी आदि अनेक छंदों का प्रयोग भी सूर-काव्य में किया गया है; तथापि छंदानुसार भाषा-रूप को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। उनमें से अधिकांश पद के अंतिम चरण हैं जिनसे विभिन्न छन्दों के भाषा-रूप के मिलान में विशेष सहायता मिल सकती है। इन उद्धरणों से एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि छोटे छन्दों में कवि की छाप के अतिरिक्त प्रायः सभी शब्द दो-तीन अक्षरों के ही हैं जबकि बड़े छन्दों में उनके साथ साथ कहीं-कहीं चार-पाँच अक्षरोंवाले शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि हैं ये बहुत कम। दूसरी बात यह है कि चौपई, चौपाई, चौबोला आदि छन्दों में प्रयुक्त भाषा में कुछ शिथिलता मिलती है, अन्य छन्दों की भाषा अपेक्षाकृत प्रवाहपूर्ण है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि सूरदास ने चौपई-जैसे छन्दों में इतिवृत्तात्मक प्रसंग अधिक लिखे हैं और भावात्मक विषयों के लिए अन्य छन्दों का प्रयोग किया है।

लय या गति और तुक, छंद के मुख्य अंग हैं जिनका घनिष्ठ संबंध शब्द-योजना से है। गेय काव्य में इन दोनों का महत्व और भी बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप गीति-काव्यकार शब्द-रूप-निर्माण-संबंधी कुछ स्वच्छंदता से भी काम लेता है। सूरदास में यह स्वच्छंदता तीन रूपों में दिखायी देती है—एक, शब्द-चयन में; दूसरे, उनके रूप-निर्माण में और तीसरे, भरती के अनावश्यक शब्दों के प्रयोग में। इनमें से अंतिम दो की सोदाहरण विवेचना काव्य-दोषों के अंतर्गत आगे की जायगी। प्रथम के संबंध में एक बात यह ध्यान देने की है कि सूरदास ने एक ही शब्द के तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव रूपों का तो मनमाना प्रयोग किया ही है, अरबी-फारसी और प्रांतीय शब्दों को भी निसंकोच अपनाया है। तात्पर्य यह है कि छंद की गति या लय के निर्वाह के लिए शब्द के सभी रूपों को उन्होंने समान समझा; केवल उसके तत्सम रूप का ही आग्रह कभी नहीं किया; प्रत्युत जिस रूप से भी छंद की संगीतात्मकता का निर्वाह वे कर सके, उन्होंने उसका स्वच्छंदता से प्रयोग किया। शुद्ध काव्य-भाषा की दृष्टि से, संभव है, किसी को यह बात खटकती हो, परंतु न हो भक्त के लिए शुद्धता का यह प्रश्न उतने महत्व का है और न गायक के लिए ही। भक्त तो केवल आंतरिक अनुभूति

* २९०६। ९०. सा. ५०३। ९१. सा. १०-१४६।

की स्पष्ट अभिव्यक्ति भर चाहता है और गायक के लिए मुख्य बात है ताल, लय और सुर के उपयुक्त आयोजन की। ऊपर कहा जा चुका है कि सूरदास के कवि, भक्त और गायक, तीनों रूप उनके काव्य में स्पष्ट हैं जिनमें से अंतिम दो तो सर्वत्र व्याप्त हैं। अतएव शब्द-चयन संबंधी स्वच्छंदता से काम लेने के वे निश्चय ही अधिकारी थे। परंतु यह उनकी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इस स्वच्छंदता का उपयोग उन्होंने प्रायः ऐसे ही स्थलों पर अधिक किया है जो सामान्य मिश्रित भाषा में लिखे गये हैं। साहित्यिक और आलंकारिक भाषा-युक्त पदों में उन्होने विशेष संयम से काम लिया है और भाषा की शुद्धता के निर्वाह के साथ-साथ ताल-सुर का भी पूरा ध्यान रखा है जिससे छंद की लय या गति में लालित्य की वृद्धि ही हुई है।

२. **शब्द-शक्ति और सूर की भाषा**—शब्द की शक्ति ही उसकी सार्थकता की द्योतक होती है और इसके अभाव में वह निरर्थक होता है। वाक्यों में प्रयुक्त होने पर शब्द की शक्ति प्रत्यक्ष होती है और प्रयोग की विशेषता होती है उसकी सुष्ठता में। सुष्ठु प्रयोग के लिए शब्द और उसके पर्यायों की समानार्थता, एकार्थता, अनेकार्थता, विशेषार्थता आदि का विधिवत् अध्ययन अपेक्षित है। काव्य में अभीप्सित अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि भाषा में शिष्टता, रमणीयता, चमत्कारिता और संवेदनशीलता भी हो। अतएव श्रेष्ठ साहित्य या काव्य में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो रचयिता में तो सुप्त भावों का उदय करें ही, पाठक या श्रोता को भी अनुरंचित करते हुए उसमें यथावसर सवेदनशीलता को यहाँ तक उद्‌बुद्ध करने में समर्थ हों कि वह निष्क्रिय या निश्चेष्ट न रहकर सजग और सक्रिय हो जाय। सूर की भाषा की शक्ति इस लक्ष्य की पूर्ति करने में कहाँ तक समर्थ हो सकी है, इसी की विवेचना प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत की जायगी।

क. **अभिधा शक्ति और सूर-काव्य**—सूर-काव्य के विनय-पद, पौराणिक कथाएँ, वात्सल्य-वर्णन, संयोग-लीला, रूप-चित्रण, मथुरा-द्वारका-लीला के सामान्य इति-वृत्तात्मक अंशों में तो अभिधा-शक्ति से द्योतित वाच्यार्थ की प्रधानता स्वभावतया है ही, विशेष भावपूर्ण स्थलों पर भी उसका चमत्कार देखा जा सकता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। भक्तप्रवर सूरदार को अपनी सरलता और सत्यता का ही बल था; आडंबर और कृत्रिमता से उन्हें चिढ़ थी। विनय-पदों में जिस घट-घटवासी आराध्य के प्रति उनका आत्म-निवेदन है, उसके सामने छल-कपट या चातुर्य-प्रदर्शन को सर्वथा हास्यास्पद समझकर, सीधे-सादे वाच्यार्थयुक्त वाक्य रखने में ही कवि को संतोष होता है। इसी प्रकार स्वस्थ-सुंदर बालक और किशोर कृष्ण के प्रति माता, पिता तथा अन्य गुरुजन का उमड़ता हुआ वात्सल्य भी प्रायः अभिधा शक्ति-संपन्न शब्दों में ही वर्णित है। राधा-कृष्ण-रूप-वर्णन करते समय प्रज्ञाचक्षु कवि दिव्य दर्शन से अपार आनंद में मग्न हो जाता है और संयोग-लीला के अवसर पर परम पुलकित। दोनों ही अवस्थाएँ मंत्रमुग्धवत् आत्म-समर्पण की हैं जिसके मूल में निश्छल भावना का होना अत्यंत आवश्यक है। सारांश यह है कि सूर-काव्य के उक्त प्रसंग ऐसे हैं जिनमें

सरल भावों की व्यंजना के लिए वाचक शब्दों का ही कवि ने अनेक पदों में प्रयोग किया है; जैसे—

१. जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं[१२]।

२. जिन जिनहीं केसव उर गायौ।
तिन तुम पै गोबिंद-गुसाईं, सबनि अभै-पद पायौ[१३]।

३. पसु जाके द्वारे पर होइ। ताकौं पोषत अह-निसि सोइ।
जो प्रभु कैं सरनागत आवै। ताकौं प्रभु क्यौं करि बिसरावै[१४]।

४. राजा, इक पंडित पौरि तुम्हारी।
चारौ बेद पढ़त मुख - आगर, ह्वै बामन - बपुधारी[१५]।

५. सकुचनि कहत नहीं महराज।
चौदह बर्ष तुम्हें बन दीन्हौ। मम सुत कौं निज राज[१६]।

६. कहौ कपि, रघुपति कौ संदेस।
कुसल बंधु लछिमन, बैदेही, श्रीपति सकल नरेस[१७]।

७. आजु नंद के द्वारैं भीर।
इक आवत, इक जात बिदा ह्वै, इक ठाढ़े मंदिर के तीर[१८]।

८. आँगन खेलत घुटुरुनि धाए।
नील जलद अभिराम स्याम तन, निरखि जननि दोउ निकट बुलाए[१९]।

९. जागहु हो ब्रजराज हरी।
लै मुरली आँगन ह्वै देखौ, दिनमनि उदित भए द्वि घरी[१]।

१०. देखौ री नँद - नंदन आवत।
बृंदाबन तैं धेनु - बृंद मैं बेन अधर धरे गावत[२]।

११. पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अंग पँच-रँग सारि।
किंकिनी कटि, कनित कंकन, कर चुरी झनकार[३]।

श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर माता-पिता और गोप-गोपियों के विरह का प्रसंग भी अत्यंत भावपूर्ण है। वियोग की तीव्रता में उनके मुख से कुछ ऐसी मार्मिक उक्तियाँ निःसृत होती हैं जिनके अर्थ-बोध में अभिधा शक्ति सहायक होती है। ऐसे वाक्यों का हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है; जैसे –

---

१२. सा. १-८६। १३. सा. १-१९३। १४. सा. २-२०।
१५. सा. ८-१४। १६. सा. ९-२२। १७. सा. ९-१५१। १८. सा. १०-२५।
१९. सा. १०-१०४। १. सा. ४०४। २. सा. ६१७। ३. सा. १०४३।

१. बहुत दुख पैयत हैं इहिं बात।
तुम जु सुनत हौ माधौ, मधुबन सुफलक-सुत सँग जात ४।
२. नहिं कोउ स्यामहिं राखै जाइ।
सुफलक-सुत बैरी भयौ मोकौं, कहति जसोदा माइ ५।
३. भोर भयौ ब्रज लोगन कौं।
ग्वाल सखा सब ब्याकुल सुनि कै, स्याम चलत हैं मधुबन कौं ६।
४. केतिक दूरि गयौ रथ माई।
नंद - नँदन के चलत सखी हौं, हरि सौं मिलन न पाई ७।
५. ब्रज तजि गए माधव कालि।
स्याम सुन्दर कमल लोचन, क्यौं बिसारौं आलि ८।

सूर-काव्य में वाचक शब्दों की अधिकता का दूसरा कारण यह है कि कवि पाठक या श्रोता को सामान्य अर्थ मात्र से अवगत कराने में ही कला की चरम सिद्धि नहीं समझता; प्रत्युत अर्थ-बोध के साथ-साथ वर्ण्य विषय का संपूर्ण चित्र भी उसके सामने प्रस्तुत कर देना चाहता है। अर्थ और दृश्य, इन दोनों के बोध में अभिधा शक्ति विशेष सहायक होती है। अतएव सामान्य अर्थ-ज्ञात के साथ-साथ चित्र या दृश्य के चित्रण में भी जब जब कवि प्रवृत्त होता है, तब तब उसे वाचक शब्दों का अधिक प्रयोग करना पड़ता है। सूरदास के निम्नलिखित उदाहरणों में यही बात देखी जा सकती है —

१. तरु दोउ धरनि गिरे भहराइ।
जर सहित अरराइ कै, आघात सब्द सुनाइ।
भए चकित लोग ब्रज के, सकुचि रहे डराइ।
कोउ रहे आकास देखत, कोउ रहे सिर नाइ ९।
२. प्रभु हँसि कै गेंदुक दई चलाइ, मुख पट दै राधा गई बचाइ।
ललिता पट - मोहन गह्यौ धाइ, पीतांबर मुरली लई छिड़ाइ।
हौं सपथ करौं छाँड़ों न तोहिं, स्यामा जू आज्ञा दई मोहिं।
इक निज सहचरि आई बसीठि, सुनि री ललिता, तू भई ढीठि १०।

अभिधा शक्ति के मुख्य तीन भेद होते हैं—(क्ष) रुढ़ि, (त्र) योग और (ज्ञ) योग रुढ़ि। सूरदास के निम्नलिखित वाक्यों में प्रयुक्त अधिकांश शब्द 'रूढ़ि' शक्ति-संपन्न हैं; क्योंकि उनका व्युत्पत्ति के आधार पर विभाजन नहीं किया जा सकता—

बौरे मन, रहन अटल करि जान्यौ।
धन - दारा - सुत - बंधु - कुँटुब - कुल निरखि निरखि बौरान्यौ।

४. सा. २९६६। ५. सा. २९७२। ६. सा. २९८२। ७. सा. २९९७। ८. सा. ३७६७। ९. सा. १८६। १०. सा. २८५६।

जीवन-जन्म अल्प सपनौ सौ, समुझि देखि मन माहीं।
बादर-छाँह, धूम-धौराहर, जैसें थिर न रहाहीं[११]।

सूरदास के नीचे लिखे वाक्यों में प्रयुक्त अनेक शब्द 'योग' वर्ग के उदाहरण हैं; क्योंकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन किया जा सकता है —

१. छाँड़ि कनक-मनि रतन **अमोलक** काँच की किरच गही[१२]।
२. **बालापन** खेलत ही खोयौ, **तरुनाई** गरबानौ[१३]।
३. **नृपति सुरसरी** कैं तट आइ[१४]।
४. भक्त **सात्विकी** सेवैं संत[१५]।
५. अस्व पाँच **ज्ञानेंद्रिय** पाँच[१६]।
६. देखि **सुरूप सकल कृष्नाकृति** कीनी चरन जुहारी[१७]।

सूरदास के निम्नलिखित वाक्यों में प्रयुक्त इंद्रजित (इंद्र को जीतनेवाला), घनस्याम (श्याम घन या घन के समान श्याम), चतुरानन (चार मुखवाला), जादौपति (यादवों का स्वामी), दससीस (दस सिर वाला), बीस भुज (बीस भुजाओं वाला), दामोदर (दाम या रस्सी हो पेट या कमर में जिसके, वह), धर्मपुत्र (धर्म का पुत्र) और महादेव (बड़ा देवता)—ये शब्द 'योग रूढ़ि' शक्ति-युक्त हैं; क्योंकि व्युत्पत्ति के आधार पर इनका सार्थक विभाजन तो किया जा सकता है; परंतु इस प्रकार प्राप्त कोष्ठक में दिये व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को छोड़कर क्रमशः मेघनाद, श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, श्रीकृष्ण, रावण, रावण, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर और शिव के लिए प्रयुक्त हुए हैं—

१. **इंद्रजित** चढ़चौ निज सैन सब साजि कै[१८]।
२. अंत के दिन कौं हैं **घनस्याम**[१९]।
३. कृपानिधान दानि **दामोदर**, सदा सवाँरन-काज[२०]।
४. अब किहिं सरन जाउँ **जादौपति**, राखि लेहु, बलि, त्रास निवारी[२१]।
५. बहुरौ **धर्म-पुत्र** पैं आयौ[२२]।
६. कुंभकरन **दससीस बीसभुज** दानव-दलहिं बिदारौं[२३]।
७. **चतुरानन** पग परसि कै लोक गयौ सुख पाइ[२४]।
८. **महादेव** कौं भाषत साधु[२५]।

ख. लक्षणा शक्ति और सूर-काव्य—शब्द का अर्थ कभी तो सीधा-सादा

---

११. सा. १-३१९। १२. सा. १-३२४। १३. सा. १-३२९। १४. सा. १-३४१। १५. सा. ३-१३। १६. सा. ४-१२। १७. सा. ८-१४। १८. सा. ९-१३६। १९ सा. १-७६। २०. सा. १-१०९। २१. सा. १-१६०। २२. सा. १-२८४। २३. सा. ९-१३७। २४. सा. ४९२। २५. सा. ४-४।

और स्पष्ट होता है, कभी सांकेतिक और चमत्कारपूर्ण। प्रथम का संबंध अभिधा शक्ति से रहता है और द्वितीय का लक्षणा अथवा व्यंजना से। इसी संबंध की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, 'भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ भाषा करती है, उसमें अर्थ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण-संबद्धता नहीं दिखायी पड़ती, वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और योग्य अथवा प्रकरणसंबद्ध अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, तो वह वाक्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है।... अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है'[२६]।

वास्तविकता यह है कि मनुष्य की बौद्धिकता उसे न साधारण शब्दों से संतुष्ट रहने देती है, न अर्थों से और न सामान्य भावाभिव्यंजन-प्रणाली से ही। स्व और अपर वर्गों की स्थिति एवं रीति-नीति का समय-समय पर अध्ययन करके, उनकी प्रकृति-जन्य विशेषताओं तथा नैसर्गिक दृश्यों एवं पदार्थों का जो अनुभव और ज्ञान उसने अर्जन किया है, अपनी अभिव्यंजना-प्रणाली में प्रभुविष्णुता लाने के लिए वह उसका उपयोग सदा से करता आया है। सुमनों की सुकुमारता का अनुभव करके किसी के कोमल करों को वह 'कमल' बताता है, उनकी स्निग्धता और सुगंधपूर्ण सरसता देखकर किसी सुंदर मुख की मधुर-मनोहर वाणी को 'फूलों का झड़ना' या उसकी सस्वरता को 'कोकिल का कूजन' समझता है। इसी प्रकार कलियाँ खिली हैं, चाँदनी फैली है आदि सीधे-सादे शब्दों का प्रयोग इन व्यापारों के लिए न करके कवि कहता है—कलियाँ 'मुस्करा' रही हैं, चाँदनी 'थिरक' रही है। ऐसे प्रयोगों में वह शब्दों के मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ से होता हुआ तत्संबंधी एक नवीन अर्थ का बोध कराता है जो असाक्षात् होते हुए भी अयोग्य, अनुपयुक्त या असंगत तो होता ही नहीं, साथ साथ पाठक या श्रोता के सामने वर्ण्य विषय, वस्तु या व्यापार का साकार या मूर्त-सा चित्र भी उपस्थित करता है जो कभी कल्पना और कभी प्रकृत ज्ञान द्वारा सहज ही ग्राह्य होता है। काव्यभाषा की चित्रमयिता नामक विशेषता प्रायः इस लक्षणाशक्ति की ही देन होती है। शुक्ल जी के शब्दों में, 'चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक पद्धति में वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार होता है'[२७] जिससे पाठक या श्रोता को विशेष रसानुभूति होती है। इतना ही नहीं, शब्दों के आर्थिक विकास या ह्रास की कहानी सुनाने में भी यही शक्ति प्रायः अधिक समर्थ होती है। मुहावरों और आलंकारिक प्रयोगों के रहस्य का उद्घाटन करने में भी 'लक्षणा' का बहुत हाथ रहता है और जहाँ प्रसंग या प्रयोग-विशेष में किसी शब्द के मुख्यार्थ से काम नहीं चलता, वहाँ यही अर्थ की संगति भी बैठाती है।

---

२६. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'इंदौर-सम्मेलन का भाषण', पृ० ७।
२७. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', पृ० ८०७।

सूरदास की भाषा में लक्षक प्रयोगों की संख्या भी बहुत अधिक है। ऊपर कहा गया है कि उनके काव्य की लगभग बीस हजार पंक्तियों में मुहावरों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें से अधिकांश मुहावरों में लक्षणा शक्ति का ही चमत्कार देखने को मिलता है। इस दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' को—समस्त सूरकाव्य को इस कारण नहीं कि 'सारावली और 'साहित्यलहरी' में मुहावरों के प्रयोग अधिक नहीं हैं—दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है वाचक शब्दों की प्रधानता वाले विषय आते हैं; यथा विनय पद, पौराणिक कथाएँ, वात्सल्य वर्णन, संयोग-लीला, मथुरा-द्वारका-लीला आदि। इन प्रसंगों के प्रायः प्रत्येक पद में चार-पाँच मुहावरों का प्रयोग किया गया है; परंतु जिन पदों में भावावेश की स्थिति का चित्रण है अथवा भावोद्रेक-जन्य उक्तियाँ हैं, उनमें लक्षक शब्दों की अधिकता हो गयी है; जैसे—

१. अर्जुन स्रवत नैन-जल धार। परयौ धरनि पर **खाइ पछार**[२८]।
२. सूर श्री गोपाल की **छबि, दृष्टि भरि भरि लेहु**[२९]।
३. सीत-बात कफ कंठ बिरोधै, **रसना टूटै बात**[३०]।
४. अंग सुभग सजि, ह्वै मधु-मूरति, **नैननि माँह समाऊँ**[३१]।
५. ततछन **प्रान पलटि गयौ मेरौ तन मन ह्वै गयौ कारौ री।**
देखत आनि **सँच्यौ उर अंतर, दै पलकनि कौ तारौ री**[३२]।
६. **मुरली मैं जीवन-प्रान बसत अहै** मेरौ[३३]।
७. सूर सनेह ग्वालि **मन अँटक्यौ** अंतर **प्रीति जाति नहिं तोरी**[३४]।
८. **जरै रिसि** जिहिं तुमहिं बाँध्यौ[३५]।
९. भलौ काम तैं सुतहिं पढ़ायौ। बारे ही तैं **मूड़ चढ़ायौ**[३६]।
१०. **आस जनि तोरहु** स्याम हमारी[३७]।

उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त 'पछार' खाने योग्य पदार्थ नहीं है, 'छबि' साकार पदार्थ नहीं है जो कहीं भरा जा सके, और न 'दृष्टि' पात्र है जिसमें या जिससे कुछ भरा जा सके। इसी प्रकार 'बात' के साथ टूटना, 'नैननि' में समाना, 'प्रान' का पलटना, 'तन-मन' का प्रिय-दर्शन से काला होना, प्रिय को 'उर' में संचित करना, 'पलकों' का ताला लगाना, 'मुरली' में जीवन-प्राण बसना, 'मन' का अटकना, 'प्रीति' का तोड़ा जाना, 'रिसि' का जलना, सुत को 'मूड' चढ़ाना, 'आस' को तोड़ना आदि प्रयोगों में भी लक्षणा का चमत्कार है जो सहृदयों को मुग्ध कर लेता है।

ये उदाहरण सूरदास के सामान्य प्रयोगों से लिये गये हैं; भावावेश की स्थिति में कही गयी उक्तियों में लाक्षणिक प्रयोगों की संख्या इनसे अधिक है। परंतु सूर-काव्य में लक्षणा का वास्तविक रूप निखरा है उपालंभों और संवादों में। मुरली और स्व-नेत्रों

२८. सा. १-२८६। २९. सा. १-३०७। ३०. सा. १-३१९। ३१. सा. १०-४९। ३२. सा. १०-१३५। ३३. सा. १०-२८४। ३४. सा. १०-३०५। ३५. सा. ३८७। ३६. सा. ३९१। ३७. सा. १०२९।

के प्रति गोपियों के उपालंभ, दान और मान-लीला-प्रसंग, विरह-वर्णन, उद्धव-गोपी संवाद आदि विषय ऐसे हैं जिनका वर्णन कवि ने बड़े चाव से किया है और तत्संबंधी पदों में लाक्षणिक वक्रता देखते ही बनती है; जैसे—

१. वह पापिनी दाहि कुल आई देखि **जरति है छाती**[३८]।
२. हमरौ जोबन-रूप, आँखि इनकी, **गड़ि लागत**[३९]।
३. **कंचन कलस** महारस भारे, हमहूँ तनक चखावहु[४०]।
४. तुम **बाँधति आकास** बात झूठी को सैहै[४१]।
५. लरिकनि कैं बर करत यह, **धरिहैं लाड़ उतारि**[४२]।
६. लोक-लाज सब **फटकि पछोरचौ**[४३]।
७. झूठैं ही यह **बात उड़ी है,** राधा-कान्ह कहत नर-नारी[४४]।
८. गाँस दियौ डारि, कह्यौ कुँवरि मेरी वारि, सूर-प्रभु-**नाम झूठैं उड़ायौ**[४५]।
९. नैना **भए बजाइ गुलाम**[४६]।
१०. नैन **परे बहु लूटि मैं,** नोखैं निधि पाई[४७]।
११. **रोम-रोम ह्वै नन गए** री[४८]।
१२. **नैना नैननि माँझ समाने**[४९]।
१३. (**नैना**) नँदलाल कैं **रंग गए रँगि,** अब नाहिंन बस मेरैं[५०]।
१४. मोर-मुकुट मुरली पीतांबर, **एक बात की बीस बनाई**[५१]।
१५. अंजन अधर, **सुमंत्र लिख्यौ** रति, **दीच्छा लेन** गए[५२]।
१६. हमारे **हिरदै कुलिसहु जीत्यौ**[५३]।
१७. वे बतियाँ **छतियाँ लिखि राखीं** जे नँदलाल कहीं[५४]।
१८. (ऊधौ) सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, **चाम के दाम चलावैं**[५५]।
१९. (ऊधौ) **काटे ऊपर लौन लगावत,** लिखि-लिखि पठवत चीठी[५६]।
२०. (मधुकर) जे कच कनक **कटोरा भरि-भरि** मेलत तेल-फुलेल[५७]।

लाक्षणिक प्रयोगों में शब्दों के वाच्यार्थ से काम नहीं चलता; प्रत्युत संबंधानुसार उनका नया संकेतित अर्थ ही संगत बैठता है। यही बात ऊपर के सब उद्धरणों में देखी जा सकती है। छाती का 'जलना' (दुख होना), जोबन-रूप का आँख में 'गड़ना' (खटकना), आकाश का 'बाँधना' (असंभव कार्य-संपादन का निष्फल प्रयत्न करना), लाड़ का 'उता-

---

३८. सा. १३५१। ३९. सा. १४६१। ४०. सा. १४६९। ४१. सा. १४९१।
४२. सा. १६१८। ४३. सा. २६६१। ४४. सा. १७१०। ४५. सा. १७११।
४६. सा. २२३९। ४७. सा. २२४३। ४८. सा. २२९२। ४९. सा. २२९७।
५०. सा. २३९५। ५१. सा. २६३२। ५२. सा. २६३४। ५३. सा. ३३८३।
५४. ३३९५। ५५. सा. ३६३९। ५६. ३६७२। ५७. सा. ३८१५।

रना' (धृष्टता का दंड देना), लोक-लाज को 'फटकना-पछोरना' (दूर कर देना, छोड़ देना), बात का 'उड़ना' (चर्चा होना), नाम का 'उड़ाना' (बदनाम करना), नेत्रों का 'गुलाम होना' (अत्यंत आसक्त होना), 'लूट में पड़ना' (प्रिय रूप के दर्शन से सुखी होना), 'दूसरों के नेत्रों में समाना' (दूसरे के नेत्रों पर अत्यंत मुग्ध होना), और किसी के 'रंग में रँगना' (वशीभूत होना), एक बात की 'बीस बनाना' (एक असत्य की रक्षा के लिए अनेक असत्य बातें कहना), रति का 'अधरों पर अंजन से सुमंत्र लिखना' (रति-प्रसंग में प्रिया के काजर लगे नेत्रों को चूमना), रति से 'दीक्षा लेने जाना' (कामाधीन होना), हृदय का 'कुलिश को जीतना' (बहुत ही निर्दयी या कठोर होना), बातों का छाती पर 'लिख रखना' (बहुत अच्छी तरह याद रखना), कुब्जा का 'चाम के दाम चलाना' (अंधेर करना), किसी प्रेमी का प्रेमिका को पत्र भेजकर 'जले पर नमक लगाना' (असंगत बात कहकर पीड़ित को और भी दुख देना), शृंगार के लिए बालों में 'कटोरा भर भर कर' (बहुत अधिक), तेल-फुलेल मेलना'—ये सभी प्रयोग ऐसे हैं जिनमें सामान्य वाच्यार्थ से काम नहीं चलता; इनके स्थान पर कोष्ठकों में दिये गये अथवा इनसे मिलते-जुलते अर्थ ही प्रसंग की दृष्टि से संगत बैठते हैं। इसी प्रकार तीसरे उदाहरण में 'कंचन कलस' से आशय उन्नत उरोजों' से है, 'सोने के सामान्य कलश' से नहीं।

लाक्षणिक प्रयोगों का अर्थानुसार वर्गीकरण करने पर उनके मुख्य चार भेद हो सकते हैं—(क) लक्षणलक्षणा, (ख) उपादान लक्षणा, (ग) सारोपा लक्षणा और (घ) साध्यवसाना लक्षणा। संबंध के अनुसार लक्षणा के दो भेद और किये जाते हैं—गौणी और शुद्धा। प्रथम का आधार गुण-सादृश्य होता है तो दूसरे का कार्यकारणभाव, तादर्थ्यता आदि अन्य संबंध। उक्त चार भेदों में पहले दो अर्थात् लक्षणलक्षणा और उपादान लक्षणा तो 'शुद्धा' होती हैं; क्योंकि इनका आधार प्रायः गुणसादृश्य नहीं होता [५८]; परंतु अंतिम दोनों लक्षणा-भेदों—सारोपा और साध्यवसाना—के दो-दो उपभेद और हो सकते हैं। सूर-काव्य में लक्षणा के इन सब भेदों-उपभेदों के उदाहरण भी मिलते हैं। कुछ भेदों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

क. **लक्षणलक्षणा**—सूरदास के निम्नलिखित प्रयोग इसके उदाहरण हैं—

१. नंद-द्वारैं भेंट लै लै उमह्यौ **गोकुल-ग्राम**[५९]।
२. यह सुनि दूत गयौ लंका मैं, सुनत **नगर** अकुलान्यौ[६०]।
३. **सबै ब्रज** है जमुना कैं तीर[६१]।

---

५८. श्रीपद्मनारायण आचार्य का 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', भाग १६, अंक ४, में प्रकाशित 'साहित्य की आत्मा और शक्ति' शीर्षक लेख का फुटनोट—"लक्षण-लक्षणा और उपादान लक्षणा में सादृश्य संबंध नहीं रहता; वे केवल शुद्धा ही होती हैं"। किसी-किसी के अनुसार उनके भी शुद्धा और गौणी दो-दो भेद होते हैं। (देखिए 'साहित्य-दर्पण' २-९); पर यह भेद व्यावहारिक नहीं होता।

५९. सा. १०-२६। ६०. सा. ९-१२१। ६१. सा. ४७५।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन वाक्यों में 'गोकुल ग्राम','नगर', 'सबै व्रज' स्थान और स्थिति सूचक सीधे-सादे अर्थ को छोड़कर अपने निवासियों के बोधक हैं। यही बात नीचे के उदाहरणों में भी देखी जा सकती है—

१. सूर सबै जुवतिनि कैं देखत, **पूजा करौं बनाइ**[६२]।
२. जाहु कान्ह महतारी टेरति, **बहुत बड़ाई** करि हम आईं[६३]।
३. नंद महर की कानि करत हौं न तु करती **मेहमानी**[६४]।
४. फँसिहारिनि, बटपारिनि हम भईं आपुन भए **सुधर्मा** भारि[६५]।

यहाँ 'पूजा करना','बड़ाई', 'मेहमानी' और 'सुधर्मा' शब्दों का प्रयोग सामान्य 'पूजन', 'प्रशंसा', 'स्वागत-सत्कार और 'धर्मात्मा' अर्थों में नहीं क्रमशः 'डाँटना,' 'फटकारना या दंड देना', 'बुरा भला कह आना', 'खरी-खोटी सुनाना', 'अधर्मी या अन्यायी' जैसे अर्थों में किया गया है।

ख. **उपादान लक्षणा**—सूरदास के निम्नलिखित उदाहरण 'उपादान लक्षणा' के हैं—

१. काली उरग रहै जमुना मैं, तहँ तैं कमल मँगावहु।

+ + +

पुहुप लैन जैहैं नँद-ढोटा, **उरग** करै तहँ घात[६६]।
२. कहि-कहि टेरत **धौरी कारी**।
देखौ धन्य भाग गाइन के प्रीति करत बनवारी[६७]।
३. लिखि नहिं पठवत हैं द्वै बोल।
द्वै कौड़ी के कागद-मसि कौ लागत है बहु मोल[६८]।

इन वाक्यों में 'उरग' (सर्प), धौरी (धवल, सफेद), 'कारी' (काली) और '**द्वै कौड़ी**' का मुख्यार्थ भी सामने रहता है और साथ साथ इनका लक्ष्यार्थ 'कालिय नाग', 'सफेद-काली गाएँ और 'अत्यंत तुच्छ' भी तत्काल स्पष्ट हो जाता है।

ग. **गौणी सारोपा लक्षणा**—सूरदास के निम्नलिखित पद में वर्ण्य विषय तो 'कारी रात' है, परंतु इसके-अर्थ पर गुण-सादृश्य के कारण दूसरे का आरोप किया गया है—

पिय बिनु नागिनि **कारी रात**।
जौं कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात[६९]।

उक्त पद में, 'काली रात' को डसने के समान कष्ट पहुँचानेवाले स्वभाव के कारण, 'नागिनि' कहा गया है। आरोप का आधार या विषय और आरोप्यमाण या विषयी, दोनों

६२. सा. १५४५। ६३. सा. १४२५। ६४. सा. १४७९। ६५. सा. १५८१।
६६. सा ५२२। ६७. सा. ६१३। ६८. सा. ३२५४। ६९. सा. ३२७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

का स्पष्ट उल्लेख होने से यह लक्षणा 'सारोपा' और दोनों में गुण अवगुण की समानता बतायी जाने के कारण लक्षणा 'गौणी सारोपा' है।

घ. **गौणी साध्यवसाना लक्षणा**—सूरदास के निम्नलिखित पद में उपमेयों (राधा के अंगों) का उपमानों (शरीर, कमल, सिंह, सरवर, गिरिवर, कंज, कपोत, अमृतफल, पुहुप, पल्लव, सुक, पिक, मृग-मद, काग, खंजन, धनुष, चंद्रमा, नाग आदि) में अध्यवसान हो जाने के कारण 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' के कई उदाहरण मिल जाते हैं—

अदभुत एक अनूपम **बाग**।
जुगल कमल पर **गज बर** क्रीड़त, तापर **सिंह** करत अनुराग।
हरि पर **सरबर,** सर पर **गिरिबर,** गिरि पर **फूले कंज-पराग**।
रुचिर **कपोत** बसत ता ऊपर, ताऊपर **अमृत फल** लाग।
फल पर **पुहुप** पुहुप पर **पल्लव,** ता पर **सुक, पिक, मृगमद, काग**।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक **मनिधर नाग**[७१]।

'दान-लीला' प्रसंग के एक अन्य पद में 'गौणी साध्यवसाना लक्षणा' के अनेक सुंदर उदाहरण मिलते हैं। श्रीकृष्ण गोपांगनाओं से कहते हैं—

लैहौं दान इनहिं कौ तुम सौं।
मत्त गयंद, हंस हम सौंहैं, कहा दुरावति हम सौं।
केहरि, कनक - कलस अमृत के, कैसैं दुरैं दुरावति।
बिद्रुम, हेम, बज्र के कनुका, नाहिन हमहिं सुनावति।
खग कपोत, कोकिला, कीर, **खंजन, चंचल मृग** जानति।
मनि कंचन के चक्र जरे हैं, एते पर नहिं मानति।
सायक, चाप, तुरय, बनिजति हौ, लिये सबै तुम जाहु।
चंदन, चँवर, सुगंध, जहाँ तहँ कैसैं होत निबाहु[७२]।

इस पद में उन उपमानों की लंबी सूची है जिनसे व्रजबालाओं के अंगों की उपमा दी गयी है। प्रमुख उपमान हैं—मत्त गयंद, हंस, केहरि, कनक-कलस, बिद्रुम, हेम, ब्रज के कनुका, खग कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल मृग, मनि-कंचन के चक्र, सायक, चाप, तुरय, चंदन, चँवर, सुगंध। इन उपमानों का गुण-सादृश्य जिन उपमेयों से है, उनकी सूची भी स्वयं श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दी है—

चिकुर चमर, घूँघट हय-बर, बर **भ्रुव-सारँग** दिखराऊँ।
बान-कटाच्छ, नैन-खंजन, मृग नासा सुक उपमाऊँ।
तरिवन चक्र, अधर-बिद्रुम छबि, **दसन बज्रकन** ठाऊँ।
ग्रीव-कपोत, कोकिला बानी, कुच घट कनक सुभाऊँ।

---

७१. सा. २११०। ७२. सा. १५४९।

जोबन-मद रस-अमृत् भरे हैं रूप रंग झलकाऊँ।
अंग सुगंध बास पाटंबर, गनि गनि तुमहिं सुनाऊँ।
कटि केहरि, गयंद गति सोभा, हंस सहित इकनाऊँ।
फेरि कियैं कैसैं निबहति हौ, घरहिं गए कहँ पाऊँ।
सुबहु सूर यह बनिज तुम्हारैं, फिरि फिरि तुमहिं मनाऊँ[७३]।

उपमेय और उपमानों, दोनों का स्पष्ट उल्लेख इस पद में कर दिया गया है; अतएव उनकी पुनः व्याख्या अनावश्यक है।

ङ. **शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा**—निम्नलिखित उदाहरण में 'हंस' का आरोप 'प्राण' पर और 'घट' का शरीर पर हुआ है; परंतु आरोप का एक विषय 'प्राण' लुप्त है। आरोप्यमाण शब्द द्वारा ही यहाँ इस अर्थ का बोध होता है कि एक बार शरीर से प्राण चले जाने पर वापस नहीं लौटते—

बिछुर्‌यौ **हंस** काय घटहू तैं फिरि न आव घट माहीं[७४]।

ग. **व्यंजना शक्ति**—कुछ प्रयोग ऐसे होते हैं जिनके द्वारा कुशल कलाकार साधारण अर्थ के अतिरिक्त कुछ विशेषार्थ भी ध्वनित करना चाहता है। साधारण पाठक भले ही ऐसे वाक्यों के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से संतुष्ट हो जाय, परंतु विज्ञ अध्येता के लिए ऐसे प्रयोगों का आनंद उन ध्वनितार्थ में रहता है, जो अभिधा और लक्षणा के कार्य-विरत हो जाने के पश्चात् व्यंजित होता है। सूर-काव्य में व्यंग्यार्थ-प्रधान पदों के अनेक सुंदर उदाहरण मुरली और स्व-नेत्रों के प्रति व्रज ललनाओं के उपालंभों, उनके विरह-वर्णन और उद्धव-गोपी-संवाद में मिलते हैं। सूरदास का एक पद है—

बरु ए बदरौ बरषन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन गरजि गगन घन छाए।
कहियत हैं सुर-लोक बसत सखि सेवक सदा पराए।
चातक-कुल की प्रीति जानिकै, तेउ तहाँ तैं धाए[७५]।

इस पद का मुख्यार्थ सीधा-सादा है—वर्षा ऋतु आरंभ हो गयी है। पानी बरसाने का समय जानकर बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे हैं। यद्यपि ये दूसरों के सेवक हैं और बहुत दूर सुरलोक में बसते हैं, तथापि अपने प्रेमी चातक-कुल की प्रीति का स्मरण करके उन्हें सुख-सांत्वना देने दौड़ पड़े हैं।

इस मुख्यार्थ का बोध कराने के पश्चात् अभिधा शक्ति अपने कार्य से विरत् हो जाती है। पश्चात्, सहृदय पाठक के लिए यह विशेषार्थ व्यंजित होता है—प्रिय कृष्ण, वर्षा ऋतु आरंभ हो गयी है। इतने दिन तुमने दर्शन न दिया। हमने यह सोचकर तुम्हारा वियोग सहन किया कि तुम्हे यहाँ आने का अवसर न मिला होगा; परंतु इस उद्दीपन-

७३. सा. १५५३। ७४. सा. ३२२९। ७५. सा. ३३०८।

क्वारी ऋतु में तो संयोग-सुख हमें अवश्य मिलना चाहिए । हमारी इस कामना में कोई नवीनता या विचित्रता नहीं समझी जानी चाहिए । प्राकृतिक व्यापार भी इसके पोषक या समर्थक हैं । देखो, परवशता के कारण, सुरलोक जैसे सुदूरवर्ती स्थान में बसनेवाले मेघ भी स्व-प्रिय चातकों की प्रीति का स्मरण करके, उन्हें संयोग-सुख देने के लिए दौड़ पड़े हैं। ये जड़ हैं, तुम चेतन हो; ये परवश हैं, तुम स्वतंत्र हो; ये इतनी दूर बसते हैं, तुम तो हमारे ग्राम के समीप ही हो । अब तक तुम कदाचित् विविध कार्यों में व्यस्त रहे, हमने भी तुम्हारा वियोग सहन किया; अब प्रेमवृत्ति को उद्दीप्त करनेवाली इस वर्षा ऋतु में तो हे प्रियतम, आकर हमें दर्शन दो ।

सूर काव्य में इस प्रकार के व्यंग्यार्थ-प्रधान वाक्य गोपियों के विरह-वर्णन और भ्रमरगीत प्रसंग में बहुत मिलते हैं । शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे स्थलों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – शाब्दी व्यंजना-प्रधान वाक्य और आर्थी व्यंजना-प्रधान वाक्य किसी वाक्य के व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में कभी तो अभिधा शक्ति या वाच्यार्थ सहायक होता है, कभी लक्षणा शक्ति या लक्ष्यार्थ और कभी कभी वाक्य का सामान्य व्यंग्यार्थ ही दूसरे व्यंग्यार्थ को ध्वनित करता है । अतएव शाब्दी व्यंजना-प्रधान वाक्यों के मुख्य दो भेद होते हैं—(क) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना और (ख) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना । इसी प्रकार आर्थी व्यंजना को तीन उपभेदों में विभाजित किया जा सकता है–(ग) वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना, (घ) लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना और (ङ) व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना ।

क. अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और अभिधा शक्ति प्रसंग के अनुसार उसके योग्य या उपयुक्त वाच्यार्थ का निर्देश करने में सहायक होती है । इस वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि कोई अन्य ध्वनि कथन या वाक्यार्थ से निकलती है तो इसका कारण 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' होती है; जैसे—

> निरखति **अंक** स्याम **सुंदर** के बार बार लावति लै छाती ।
> लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै ह्वै गइ **स्याम** स्याम जू की पाती[७६] ।

सूरदास की इस उक्ति में 'अंक' और 'स्याम' (**स्याम** स्याम जू की पाती) शब्दों के क्रमशः सामान्य अर्थ हैं 'अक्षर' और 'श्याम' या काली । इनके आधार पर पूरे वाक्य का अर्थ हुआ —'श्रीकृष्ण के अक्षरों (पत्र) को देखकर राधा उसे बार-बार छाती से लगाती है और उसके आनन्द-अश्रुओं से भीग जाने के कारण, स्याही के फैलने से श्याम की 'पाती' श्याम या काली (कृष्णमय) हो गयी । अभिधा द्वारा निर्देशित इस मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक बहुत मर्मस्पर्शी ध्वनि इन प्रयोगों से व्यंजित होती है—'श्रीकृष्ण का पत्र पाकर राधा को ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे उन्होंने दीर्घ वियोग के पश्चात् साक्षात् प्रिय को ही पा लिया हो । इस प्रकार वह पत्र ही साक्षात् प्रियतम का रूप हो गया । श्रीकृष्ण के 'अंक' (गोद, शरीर या आलिंगन) के स्पर्श से पुलकित होकर जिस प्रकार

७६. सा. ३४८७ ।

संयोगावस्था में वे उन्हें हृदय से लगातीं' वैसे ही बार-बार पत्र को छाती से लगाने लगीं। यह मार्मिक व्यंजना 'अंक' और 'श्याम'—इन दो प्रयोगों से ही संभव है; इनके स्थान पर समानार्थी पद रख देने से अभिधामूलक मुख्यार्थ तो अक्षुण्ण रहेगा, परन्तु व्यंजनामूलक व्यंग्यार्थ नष्ट हो जायगा।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में सामान्य निर्दिष्ट अर्थ तक पहुँचने के लिए जिन साधनों से काम लिया जाता है, उनमें मुख्य हैं संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निद्धि, सामर्थ्य, औचित्य और देश। सूरदास के अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना संबंधी प्रयोगों में भी इन्हीं साधनों को अपनाया गया है।

(अ) **संयोग**—प्रसिद्ध संबंध के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

मुरली नहिं करत **स्याम** अधरन तैं न्यारी[७८]।

इस वाक्य में 'मुरली' का प्रसिद्ध संयोग 'स्याम' शब्द के अनेक अर्थों में से केवल 'श्रीकृष्ण' का बोधक है।

(अ) **वियोग**—प्रसिद्ध वस्तु-संबंध के अभाव द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

स्रम कै सूर जाउँ **प्रभु** पासहिं, मन मैं भलैं मनाऊँ।
नवकिसोर मुख **मुरलि बिना** इन नैननि कहा दिखाऊँ[७९]।

इस उद्धरण में प्रसिद्ध संबंधित वस्तु 'मुरली' के अभाव से 'प्रभु' शब्द के अनेक अर्थों में से केवल पति, स्वामी या प्रियतम श्रीकृष्ण का बोध होता है।

(इ) **साहचर्य**—प्रसिद्ध सहचर की उपस्थिति द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

राधिका, **हरि** अतिथि तिहारे[८०]।

इस वाक्य में 'राधिका' के साहचर्य से 'हरि' के अनेक अर्थों में से केवल 'श्रीकृष्ण' का बोध होता है।

(ई) **विरोध**—प्रसिद्ध विरोधी की उपस्थिति के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

रे **दसकंध**, अंधमति, तेरी आयु तुलानी आनि।
सूर **राम** की करत अवज्ञा, डारैं सब भुज भानि।[८१]

इस उदाहरण में प्रसिद्ध विरोधी 'दसकंध' (रावण) की उपस्थिति से 'राम' शब्द से तात्पर्य जानकीपति श्रीरामचन्द्र से ही है, परशुराम, बलराम आदि से नहीं।

(उ) **अर्थ**—तात्पर्य या प्रयोजन के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

भीषम धरि **हरि** कौ **उर ध्यान**, हरि के देखत तजे परान[८२]।

हृदय में ध्यान किया जाता है परब्रह्म का। अतः यहाँ इस प्रयोजन के आधार पर

७७. सा. १९६६। ७८. सा. ४२५५। ७९. सा. ३४४०।
८०. सा. ९७९। ८१. सा. १-२८०

'हरि' शब्द का अर्थ ब्रह्मावतार श्रीकृष्ण से है; उसके अन्य अर्थ संगत नहीं हो सकते।

(ऊ) **प्रकरण**—प्रसंग या संदर्भ द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

मधुकर, **मधु** माधव की बानी[८२]।

इस वाक्य में 'मधु' का अर्थ प्रसंग या प्रकरण के अनुसार उसके अनेक अर्थों में से केवल 'मधुर' हो सकता है; क्योंकि 'वाणी' के विशेषण-रूप में यही संगत है।

(ऋ) **लिंग**[८३]—विशिष्ट गुण, धर्म-चिन्ह या लक्षण के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

पीन **पयोधर** सघन उनत अति, ता तर रोमावली लसी री[८४]।

यहाँ 'पयोधर' का अर्थ 'थन' या 'मेघ' न होकर, 'उरोज' है; क्योंकि 'पीन' और 'उन्नत' होना इन्हीं का लक्षण है।

(ए) **अन्य सन्निधि**—दूसरे शब्द की सन्निधि के द्वारा अर्थ-विशेष का द्योतन—

माखन-दधि **हरि** खात ग्वाल सँग[८५]।

इस उदाहरण में 'हरि' का अर्थ उसके अनेक अर्थों में से 'श्रीकृष्ण' ही होगा, क्योंकि 'माखन-दधि' की समीपता इसी की घोषणा करती है; 'हरि' शब्द के अन्य अर्थों की संगति निकटवर्ती 'माखन-दधि' से नहीं बैठती।

(ऐ) **सामर्थ्य**—कार्य या व्यवहार को सिद्ध करने की शक्ति के आधार पर अर्थ-विशेष का द्योतन—

इंद्रजीत लीन्ही तब **सक्ती** देवनि हहा करचौ।
छूटी बिज्जु-रासि वह मानौ, **भूतल बंधु परचौ**[८६]।

इस उद्धरण में 'सक्ती' शब्द अस्त्र-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि 'बिज्जुरासि' के समान छूटने और शत्रु को घायल करने या मारने की सामर्थ्य उसी में है।

(ओ) **औचित्य** अर्थ-विशेष का द्योतन उसकी प्रसंगानुकूल योग्यता के आधार पर करना—

ब्रज-बनिता-बर-बारि बृँद मैं **श्री** ब्रजराज बिराज्यौ[८७]।

इस काव्य में 'श्री' का अर्थ धन-संपति, लक्ष्मी या शोभा आदि संगत नहीं है। अतएव औचित्य के आधार पर यह केवल सम्मानसूचक प्रयोग है।

औ. **देश**—अर्थ-विशेष के द्योतन में स्थान के संबंध का आश्रय लेना—

---

८२. सा. ४४५०।

८३. **व्याकरण अथवा साधारण व्यवहार में 'लिंग' शब्द जिस अर्थ में आता है, यहाँ उससे भिन्न में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इसका तात्पर्य द्रव्य, वस्तु या पदार्थ के धर्म, गुण या लक्षण से है जो अन्य वस्तु या पदार्थ से उसकी भिन्नता प्रकट करने में समर्थ हो सके—लेखक।**

८४. सा. २४४७। ८५. सा. २२१५। ८६. सा. ९-१४४। ८७. सा. १०४९।

मुरली-धुनि **बैकुंठ** गई।
नारायन **कमला** सुनि दंपति अति रुचि हृदय भई[८८]।

यहाँ 'कमला' का अर्थ, बैकुंठ के संबंध से 'लक्ष्मी' ही स्पष्ट होता है और 'नारायण' तथा 'दंपति' शब्दों से इसकी पुष्टि होती है।

ख. लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—कवि या लेखक किसी प्रयोजन या व्यंग्यार्थ को जब ध्वनित या सूचित करना चाहता है, तब उसे लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसे स्थलों में 'लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना' ही उसके लाक्षणिक प्रयोगों की अभीष्ट ध्वनि को व्यंजित करती है। सूरदास का एक वाक्य है—

तैं **महानग** स्याम पायौ,प्रगटि कैसैं जाइ[८९]।

यहाँ 'महानग' का लक्ष्यार्थ है 'नीलम' और वाक्य का व्यंग्यार्थ है कि तू (राधा) बड़ी भाग्यशालिनी तो है ही, बहुत चतुर भी है, क्योंकि मूल्यवान निधि को गुप्त रखने की योग्यता भी तुझमें है।

ग. वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना—सूरदास की गोपियाँ शंकर जी का पूजन करके ध्यान लगाती हैं और कहती हैं—

बड़े देव तुम हौ त्रिपुरारी[९०]।

इस वाक्य का वाच्यार्थ स्पष्ट है—देवताओं में तुम सबसे महान हो। इस वाच्यार्थ में निहित व्यंग्यार्थ यह है कि आपकी कृपा से हमारा मनोरथ बहुत सरलता से पूर्ण हो सकता है। यह व्यंग्यार्थ 'बड़े देव' शब्दों पर नहीं, इनके अर्थ पर निर्भर है।

घ. लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना—किसी वाक्य या कथन के लक्ष्यार्थ में यदि व्यंग्यार्थ की ध्वनि रहती है तो वहाँ यह व्यंजना होती है। गोपियों की निम्नलिखित उक्ति में इसका चमत्कार देखा जा सकता है—

भूलिहुँ जनि आवहु इहिं गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चंद।
सुंदर-बदन स्याम कोमल तन, क्यौं सहिहैं नँद नंद।
मधुकर मोर प्रबल पिक चातक बन उपबन चढ़ि बोलत।
मनहुँ सिंह की गरज सुनत गोबच्छ दुखित तन डोलत।
आसन असन अनल बिष अहि-सम, भूषन बिबिध बिहार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुम प्रति धनुष धरे सत मार[९१]।

व्रजबालाएँ ऊधव के द्वारा प्रिय कृष्ण तक यह संदेश पहुँचाना चाहती हैं कि मथुरा में ही रहो, यहाँ मत आओ। कारण यह है कि गोकुल में चन्द्रमा, प्रचण्ड सूर्य के समान तप रहा है; मधुकर, मोर, पिक, चातक आदि कर्कश स्वर में बोल रहे हैं; आवास, भोजन और आभूषण आग के समान झुलसाने, विष के समान घातक और सर्प के

८८. सा. १०६४। ८९. सा. १८४३ ९०. सा. ७९९। ९१. सा. ४०६७।

समान डसनेवाले हो रहे हैं; एवं कामदेव तो धनुष-वाण लिये वृक्ष-वृक्ष पर घूम रहा है।

श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी गोपियों के इस संदेश का लक्ष्यार्थ यह है कि विरहावस्था में चद्रंमा; मधुकर, मोर, पिक और चातक के बोल; आवास, भोजन और आभूषण आदि सुखदायी न रहकर अत्यंत दुखंदायी हो गये हैं और कामदेव विरह-व्यथा को और भी उद्दीप्त करके हार्दिक क्लेश दे रहा है।

इस लक्ष्यार्थ के आधार पर यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता हैं कि संकट के अनेक अवसरों पर तुम हमारी पहले रक्षा कर चुके हो। आज चारों ओर से संकटों ने हमको घेर लिया है। अतएव पूर्व संबंध को स्मरण कर, यहाँ आकर हमारी रक्षा करो। हमारी पुकार केवल तुम्हीं तक है और तुम्हीं इन कष्टों से हमें छुटकारा दिला सकते हो। व्यंग्य की यह व्यंजना लक्ष्यार्थ पर आधारित है। ऊपर दिया गया पहला लक्ष्यार्थ शाब्दी व्यंजना द्वारा सिद्ध होता है और दूसरा अन्य अर्थ की ओर संकेत करता है।

ङ. **व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना**—गोपियों की निम्नलिखित उक्ति के व्यंग्यार्थ की व्यंजना उसके व्यंग्यार्थ द्वारा ही ध्वनित होती है—

> किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
> किधौं हरि हरषि इंद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेषनि।
> किधौं उहिं देस बगनि मग छाँड़े, धरनि न बूँद प्रवेसनि।
> चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधिकनि बधे बिसेषनि।
> किधौं उहि देस बाल नहिं झूलहिं, गावतिं सखि न सुबेसनि[१२]।

इस पद का वाच्यार्थ यह है—'क्या श्रीकृष्ण के देश में बादल नहीं गरजते? स्वयं उन्होंने इंद्र को इसके लिए कहीं रोक तो नहीं दिया है? कहीं सर्पों ने मेढकों को खा तो नहीं डाला है? अथवा बगलों ने वह मार्ग ही छोड़ दिया है? बधिकों ने सारे मोरों, चातकों और कोकिलों को मार डाला है? अथवा उस देश में किशोर-किशोरियाँ सुंदर वेश-भूषा धारण करके झूलती या गाती ही नहीं?

इस कथन का व्यंग्यार्थ यह है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आगमन से हमारी प्रेम-भावना विशेष उद्दीप्त ही उठी है और हम प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलने के लिए व्याकुल हो रही हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को भी हमसे मिलने की उत्कंठा होनी चाहिए थी; तब उनके यहाँ न आने का कारण क्या है? क्या उनके देश में वर्षा ऋतु का प्रवेश ही नहीं हुआ?

यह व्यंग्य पुनः दूसरे व्यंग्य की ओर संकेत करता है—प्रियतम श्रीकृष्ण हमको भूल गये हों अथवा वर्षा ऋतु के इस आगमन से—घन-गर्जन, दादुर-रटन, चातक-मोर-कोकिला- कूजन आदि सुनकर, किशोर-किशोरियों को झूलते-गाते और आमोद करते देखकर—उनके मन में प्रेम-भावना न जागती हो, उनको हमारी याद न आती हो और वे

१२. सा. ३३१०।

हमसे मिलने को उत्कंठित होकर यहाँ न आयें, इन सब बातों को तो हम मान ही नहीं सकतीं। इस उन्मादकारी ऋतु का हमारी तरह उन पर भी प्रभाव पड़ेगा, इसका भी हमें पूर्ण विश्वास है।

यह दूसरा व्यंग्यार्थ गोपियों के कथन के मूल व्यंग्यार्थ पर ही आधारित है। सूरदास के विरह-वर्णन विषयक पदों में इस प्रकार की 'व्यंग्यार्थसंभवा आर्थी व्यंजना-युक्त उक्तियों की प्रधानता है।

३. **ध्वनि**—सूरदास के विरह-वर्णन के अनेक पदों में ध्वनि का चमत्कार पाठक को मुग्ध कर लेता है। श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर नंद उनके साथ गये; परतु लौटे अकेले। प्रिय पुत्र के लिए माता के तड़पते हुए हृदय को इससे और भी चोट पहुँची और वे खीझकर पति से कहती हैं—

नंद, ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ[१३]।

इस उक्ति के ध्वनि-जन्य चमत्कार के प्रभाव की व्याख्या करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है–"ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है ! 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो; तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं जाती हूँ'। एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखायी दे रहा है। एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से युक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भाव-शवलता कहें या भाव-पंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य, 'नंद, ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष, इन तीनों की मिश्र व्यंजना–जिसे शवलता ही कहने से संतोष नही होता–पायी जाती है"*।

स्थूल रूप से 'ध्वनि' के दो मुख्य भेद हैं—एक, लक्षणामूला और दूसरी अभिधा-मूला। सूर-काव्य में इन दोनों के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

क. **लक्षणामूला ध्वनि**—वाक्य के वाच्यार्थ से जब वक्ता का आशय स्पष्ट न हो और ध्वनि, लक्षणा पर आधारित हो, तब 'लक्षणामूला ध्वनि' होती है। श्रीकृष्ण की प्रीति में पगी गोपियाँ, उद्धव को बार-बार निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते देख, उनके हठधर्मी-पन से खीझकर कहती हैं —

दुसह बचन अलि, हमैं न भावैं। जोग कहा, ओढ़ैं कि बिछावैं[१४]।

'ओढ़ैं कि बिछावैं' का लक्षणा से तात्पर्य है, 'हमारे किसी काम का न होना'। इस प्रयोग से, लक्षणामूला ध्वनि द्वारा वे स्पष्ट कह देती हैं कि सगुण के प्रति हमारी भक्ति अनन्य है, और तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की कथा हमारे लिए सर्वथा निरर्थक है।

ख. **अभिधामूला ध्वनि**–सूरदास का निम्नलिखित पद 'अभिधामूला ध्वनि' का सुंदर उदाहरण है—

१३. सा० ३१६८। *'सूरदास', पृ १८८। १४. सा० ४०१४।

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं आपै प्रान दह्यौ।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, सन्मुख बान सह्यौ।
हम जौ प्रीति करी माधव सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत, नैननि नीर बह्यौ[९५]।

इस पद का वाच्यार्थ स्पष्ट है। श्रीकृष्ण के विरह में दुखी गोपियों ने एक सत्य की पुष्टि अपने दृष्टिकोण से अनेक उदाहरण देकर की है और पद के वाच्यार्थ से गोपियों की वियोग-दशा ध्वनित होती है।

साहित्याचार्यों ने लक्षणामूला अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद किये हैं–(अ) 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य' और (आ) 'अत्यंततिरस्कृतवाच्य'। इसी प्रकार अभिधामूला ध्वनि के भी दो उपभेद हैं —(इ) 'असंलक्ष्यक्रम ध्वनि' और (ई) 'संलक्ष्यक्रम ध्वनि। सूर-काव्य में इन उपभेदों के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अ. **अर्थांतरसंक्रमित वाच्य**—अपने नेत्रों के प्रति उपालंभ देती हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं—

१. लोचन मेरे भृंग भए री।
लोक-लाज बन- घन बेली तजि आतुर ह्वै जु गए री[९६]।

२. मेरे नैन कुरंग भए।
जोबन-बन तैं निकसि चले ये, मुरली-नाद रए[९७]।

इन वाक्यों का वाच्यार्थ वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल नहीं है; प्रत्युत लक्षणा से उसका तात्पर्य है कि ये नेत्र भौंरों की तरह रसलोलुप और कुरंगों की तरह नाद-प्रेमी हो गये हैं। इस लक्ष्यार्थ से, 'भृंग' और 'कुरंग' शब्दों के अर्थांतर में संक्रमण कर जाने से, श्रीकृष्ण के दिव्य रूप के प्रति गोपियों की उत्कट आसक्ति ध्वनित होती है।

आ. **अत्यंत तिरस्कृत वाच्य**—लक्षणामूला ध्वनि के इस भेद में मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके, उससे नितांत भिन्न नवीन अर्थ लेना कवि को अभीष्ट रहता है। निम्न उदाहरण में 'धनि' (= धन्य, प्रशंसासूचक) शब्द के वाच्यार्थ का अर्थांतर अर्थात् तिरस्कार सूचक 'धिक्कार' अर्थ में संक्रमण होने से अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है—

ऊधौ धनि तुम्हरौ ब्यौहार[९८]।

इ. **असंलक्ष्यक्रम ध्वनि**—किसी किसी उक्ति के व्यंग्यार्थ में ध्वनित रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि की प्रतीति इतनी शीघ्रता से होती है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के मध्य का व्यवधान या क्रम जान ही नहीं पड़ता। जिस तरह बिजली का 'मेन स्विच' दबाते ही सारे घर में प्रकाश इतनी शीघ्रता से हो जाता है कि एक 'बल्ब' से दूसरे तक उसके पहुँचने

९५. सा० ३२८८। ९६. सा० २२७७। ९७. सा० २२८०। ९८. सा. ३९०९।

की क्रमिक गति का ज्ञान हो ही नहीं पाता; अथवा जिस प्रकार फूल की गंध और वायु का व्यवधान-रहित-सा घनिष्ठतम संबंध रहता है, उसी प्रकार किसी किसी उक्ति के वाच्यार्थ के साथ ही व्यंग्यार्थ की भी प्रतीति इस त्वरा से होती है कि दोनों का बोध लगभग साथ साथ ही होता है। सूरदास की निम्न उक्तियों में ऐसी ही ध्वनि का चमत्कार दिखायी देता है।

१. तुम जानति राधा है छोटी।

\+ \+ \+

सूरदास-प्रभु वै अति खोटे, **यह उनहूँ तैं अतिहीं खोटी**[९९]।

२. सूरदास सरबस जौ दीजै, **कारौ कृतहिं न मानै**[१]।

ये दोनों उक्तियाँ गोपियों की हैं। प्रथम, राधा को लक्ष्य करके परस्पर कही गयी है और दूसरी, श्रीकृष्ण के व्यवहार को लक्ष्य करके उद्धव से। दोनों उक्तियों के मूल में आंतरिक विनोद है और दोनों में रति-भाव ध्वनित है। अंतर इनमें यह है कि प्रथम वाक्य राधा-कृष्ण का प्रेम देखकर पुलकित होती हुई सखी का है और द्वितीय, श्रीकृष्ण की निष्ठुरता से कुछ खीझी हुई सखी का।

ई. संलक्ष्यक्रम ध्वनि - कभी-कभी रचना के वाच्यार्थ का बोध होने के पश्चात् ध्वनित व्यंग्यार्थ की प्रतीति तुरंत या साथ-साथ न होकर क्रमिक गति से होती है। सूरदास का एक पद है—

निर्गुण **कौन देस कौ बासी।**
मधुकर, कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।
कैसौ बरन, भेष है कैसौ, किहिं रस मैं अभिलासी[२]।

साधारण रूप से तो गोपियाँ यहाँ उद्धव से 'निर्गुन' की रूप-रेखा बताने को कहती हैं और उसके माता-पिता, वेश-भूषा, रूप-रंग आदि का परिचय पूछती हैं, परंतु इन बातों तक ही अर्थ सीमित नहीं रहता। इस पद का व्यंग्यार्थ है कि जब निर्गुण में रूप, रंग, गुण, आकार, कुछ है ही नहीं, तब उस पर मन टिकाया कैसे जा सकता है? उनके इस कथन से अंत में ध्वनि यह निकलती है निर्गुण हमारे लिए अगम है; अतएव इस पद में निर्गुण भक्ति का खंडन हुआ है।

४. अलंकार—काव्य को अलंकृत करने का अर्थ है बात को कुछ विशेषता के साथ कहना। काव्यगत इस विशेषता के अनेक रूप होते हैं। भाषा के अंग हैं वाक्य, शब्द और वर्ण जिनके संयोग से वक्ता अभिप्राय व्यक्त करता है। रचना को अलंकृत करने के उद्देश्य से कवि या लेखक इन सभी में ऐसी विशेषता लाने का प्रयत्न करता है जिससे पाठक या श्रोता का मन उसकी उक्ति में रम जाय। प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए

९९. सा. १९०१। १. सा. ३७५०। २ सा. ३६३१।

अप्रस्तुत विषयों का विधान भी कभी कभी आवश्यक हो जाता है और कल्पना के बिना तो कोई व्यक्ति कभी कवि हो ही नहीं सकता। इन दोनों की योजना में भी अलंकारों के साहचर्य से विशेषता आ जाती है। इस प्रकार भावों और विचारों की स्पष्टता के जितने भी साधन हो सकते हैं, सभी में कुछ न कुछ विशेषता लाकर अपने व्यक्तित्व की छाप उस पर लगाने का प्रयत्न कवि सदैव किया करता है और तभी उसकी रचना अलंकृत समझी जाती है।

अलंकारों के मुख्य भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। इनमें से भाषा को अलंकृत करने में शब्दालंकारों का ही विशेष योग रहता है। अतएव सूर काव्य में प्रयुक्त केवल शब्दालंकारों का सोदाहरण परिचय देता यहाँ अभीष्ट है। सूरदास ने जिन शब्दालंकारों का विशेष रूप से प्रयोग किया है, वे हैं अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश, यमक, वीप्सा और श्लेष।

क. **अनुप्रास**—इस अलंकार के पाँच भेद होते हैं—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट। इनमें से अंतिम में कवि ने कोई रुचि नहीं दिखायी है और पूर्वांतिम अर्थात् 'अंत्य' की कुछ चर्चा 'छंद और तुक' शीर्षक के अंतर्गत पीछे की जा चुकी है। अतएव अनुप्रासालंकार के प्रथम तीन भेदों की चर्चा ही यहाँ की जायगी।

अ. **छेकानुप्रास**—शब्दालंकारों में सूरदास का सबसे प्रिय अलंकार है 'छेकानुप्रास'। उनके प्रायः समस्त पदों में इसके अनेक उदाहरण सरलता से मिल सकते हैं; जैसे—

१. माया **नटी** लकु**टि** कर लीन्हे **को**टिक **नाच नचा**वै[३]।
२. **नाक निरै सुख** दुः**ख सूर** नहिं, जिहि की भजन प्रतीति[४]।
३. अप**नी** कर**नी** बिचारि गुसाईं काहे न **सूल सहौं**[५]।
४. **चर**चित **चं**दन नील कलेवर, **ब**रषत **बूँ**दनि सावन[६]।
५. चरन **पर**सि **पा**षान उड़त है, **क**त बेरी उड़ि जात[७]।
६. **धू**सर **धू**रि घुटुरुव**नि** रेंग**नि**.........................[८]।
७. धनि **ब्रज** **बास** आ**स** यह पूरन कैसैं **हो**ति हमारी[९]।
८. **अटपटात** **अलसात** **पल**क **पट** मूँद**त** कबहूँ कर**त** उघारे[१०]।
९. रितु बसं**त** **फू**ली **फु**लवाई। मंद सुगंध **ब**यार **ब**हाइ[११]।
१०. यह सु**नि** असुर**नि** जज्ञहिं त्यागि। दया-धर्म मारग अनुरागि[१२]।
११. मोकूँ **लाड़** **लड़ा**यौ उन जो **क**हँ लगि **क**रैं बड़ाई[१३]।
१२. कंद **मूल** फल दी**ने** गोध**न** सो निसि कौं मैं खायौ[१४]।
१३. **का**से **क**हो **स**मूचै भूषन **सु**मिर**न** करत बखानी[१५]।
१४. लै कर **गें**द **ग**ये हैं खेल**न** लरिक**न** संग कन्हाई[१६]।

३. सा. १-४२। ४. सा. २-१२। ५. सा. ३-२। ६. सा. ८-१३।
७. सा. ९-४१। ८. सा. १०-१०५। ९. सा. १४७। १०. सा. २६८२।
११. सा. ११-३। १२. सा. १२-२। १३. सा. ५४७। १४. सा. ९१३।
१५. लहरी. ५५। १६. सा. १०२।

१५. हरि सुर भषन बिना बिरहाने छीन लई तिन तातें[17]।

अनुप्रास के इस भेद से कवि को इतना प्रेम है कि अनेक विशेष्य-विशेषण और कर्त्ता-क्रिया-रूप इस प्रकार उसने रखे हैं कि वाक्य में छेकानुप्रास की योजना हो गयी है।

आ. वृत्यनुप्रास—'सूरसागर' में छेकानुप्रास की अपेक्षा वृत्यनुप्रास की योजना बहुत कम है; 'साराबली' और 'साहित्यलहरी' में भी इसकी योजना अधिक नहीं है। फिर भी लगभग एक सहस्र पंक्तियों में इस अलंकार के उदारण अवश्य मिलतेहैं; जैसे—

१. अ—अकरम अबिधि अज्ञान अवज्ञा अनमारग अनरीति[18]।

२. क—कामी कृपन कुचील कुदरसन को न कृपा करि तारचौ[19]। कंटक कर्म कामना कानन कौ मग दियौ दिखाई[20]। किंकिनी कटि कनित कंकन कर चुरी झनकार[21]। मुकुट कुंडल किरनि करननि किये किरनि की हान[22]।

३. ग—गरजत गगन गयंद गुंजरत[23]।

४. च—चत—चिंतत ही चित मैं चिंतामनि चक्र लिए कर धायौ[24]। चमकि चमकि चपला चकचौंधति[25]। अति चतुर चितवन चित चुरावति चलत ध्रुव धीरज हरैं[26]।

५. छ—छनहिं छन छबि छोर—३६४। छीर छींटि छल छोरे[27]।

६. ज—जग जानत जदुनाथ जिते जन निज भुज-स्रम सुख पायौ[28]। जल थल जीव जिते जग जीवन निरखि दुखित भए देव[29]। जनम जनम जब-जब जिहिं जिहिं जुग जहाँ जहाँ जन जाइ[30]। जोरि जोरि चित जोरि जुरान्यौ जोरचौ जोरि न जान्यौ[31]।

७. झ—रहीं झुकि झुकि झाँखि[32]।

८. ट—धरनि पग पटकि कर झटकि भौंहनि मटकि अटकि मन तहाँ रीझे कन्हाई। तब चलत हरि मटकि रहीं जुवती भटकि लटकि लटकनि छटकि छबि बिचारैं[33]।

९. त—ताकत नहीं तरनिजा के तट तरुवर महा निरास[34]।

१०. द—कह दाता जो द्रवै न दीनहिं देखि दुखित ततकाल[35]। दामिनि दुरि-दुरि देति दिखाई[36]।

---

१७. लहरी. उ. ४६.। १८. सा. १-१२९। १९. सा. १-१०१। २०. सा. १-१८७। २१. सा. १०-४३। २२. सा. १३७९। २३. सा. ३३०५। २४. सा. ८-३। २५. सा. ८७७। २६. सा. ४१८७। २७. सा. ७३२। २८. सा. १-१५। २९. सा. १-१५०। ३०. सा. २-१२। ३१. सा. ३६०१। ३२. सा. ३५८४। ३३. सा. १०४१। ३४. लहरी २६। ३५. सा. १-१५९। ३६. सा. ६१६।

११. **न**.—रूप-रहित निरगुन नीरस नित निगमहु परत न जानि[३७]।

१२. **प**—प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम कैं बनबास[३८]।

१३. **ब**—बिषधर बिषम-बिषम-बिष बाँचौ[३९]। बनमाली बामन बीठल बल, बासुदेव बासी ब्रज भूतल[४०]। बिरह बिभूति बढ़ी बनिता बपु सीस जटा बनवारि है[४१]। बिट्ठल बिपुल बिनोद बिहारन ब्रज कौ बसिबौ छाजै[४२]।

१४. **भ**—भद्रा भली भरनि भय हरनी[४३]।

१५. **म**—मोहन मुखमुरली मन मोहिनि बस करै[४४]। मधुर माधुरी मुकुलित पल्लव लागत परम सुहायौ[४५]।

१६. **र**—राजति रोम-राजी रेख[४६]।

१७. **ल**—लटकति ललित ललाट लटूरी[४७]। नंदलाल ललना ललचि ललचावै री[४८]।

१८. **स**—सूर सुकृत सेवक सोइ साँचौ जो स्यामहिं सुमिरैगौ[४९]। सदा सुभाव सुलभ सुमिरन बस[५०]। सासु की सौति सुहागिनि सो सखि[५१]। सूरदास स्वामी सखसागर सुंदर स्याम कन्हाई[५२]। सुरन सारंग के सम्हारत सरस सारंग नैन[५३]। सहित सैन सुत संग सिधारत सो सब सजे सरूप[५४]।

१९. **ह**—हारि मानि हहर्यौ हरि चरननि हरषि हियैं अब हेत करैं[५५]। हेरि हेरि अहेरिया हरि रहीं झुकि झुकि झाँखि[५६]। हो रही इह बिपत तेरी बिपत होइ सहाइ[५७]।

छेकानुप्रास की अपेक्षा वृत्यनुप्रास-योजना जहाँ भाषा का सौंदर्य अधिक बढ़ाती है, वहाँ प्रयास के कारण कभी कभी उसमें कृत्रिमता भी आ जाती है। परंतु सूर-काव्य में वृत्यनुप्रास-योजना से भाषा की श्रीवृद्धि तो हुई ही है, साथ ही कृत्रिम आडंबर के दोष से वह मुक्त भी रह सकी और प्रायः सर्वत्र उसमें अपेक्षित प्रवाह मिलता है।

इ. **श्रुत्यानुप्रास**—स्थान-विशेष से उच्चरित होनेवाले वर्णों की आवृत्ति में भी सूर बहुत कुशल हैं; जैसे—

१. धन्य नंद जसुदा के नंदन।
धनि राधिका धन्य सुंदरता धनि मोहन की जोरी[५८]।

---

३७. सा. ३५४१। ३८. सा. ३८१३। ३९. सा. १-८३। ४०. सा. ९८१।
४१. सा. २११६। ४२. सा. ३०९६। ४३. सा. ३८२८। ४४. सा. ६५२।
४५. सा. १०४२। ४६. सा. ६३५। ४७. सा. १०-११७। ४८. सा. ६२९।
४९. सा. १-७५। ५०. सा. १-१२१। ५१. सा. ९-४४। ५२. सा. १०-२१।
५३. लहरी. ६६। ५४. लहरी. ७४। ५५. सा. ९५५। ५६. सा. ३५८४।
५७. लहरी. १८। ५८. सा. १०४७।

२. उत **कोकिलागन करैं कुलाहल** इत सकल ब्रज-नारियाँ [५९] ।
३. **उरज उर** सौं **परस** कौ सुख **बरनि** का**पै** जाइ [६०] ।
४. ऐसे हम **देखे नँदनंदन** ।

स्याम सुभग तनु, पीत **बसन** ज**नु नील** जल**द** पर **तड़ित सुछंदन** [६१] ।

उक्त उदाहरणों में से प्रथम और चतुर्थ में दंत्य, द्वितीय में कंठच और तृतीय में ओष्ठच वर्णों की अधिकता है ।

ई. **ध्वन्यनुप्रास**—अनुप्रास के उक्त तीनों भेदों के अतिरिक्त अँगरेजी का एक अलंकार 'ध्वन्यनुप्रास' भी बहुत लोकप्रिय हो गया है । यह अलंकार उन स्थलों पर माना जाता है जहाँ वर्णों की ध्वनि से अर्थ भी प्रतिध्वनि-सा हो । सूर-काव्य में इस प्रकार के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं; जैसे—

१. अलप दसन कलबल करि बोलनि [६२] ।
२. अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया [६३] ।
३. बरत बन-पात, भहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायौ [६४] ।
४. घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए [६५] ।
५. घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थरराता ब्रज लोग डरपे [६६] ।

इन पंक्तियों की शब्द-योजना इस प्रकार की है कि प्रथम से बालक की 'अस्फुट' ध्वनि और द्वितीय से बच्चे की चाल की डगमगाहट-सी सुनायी देती है । इसी प्रकार अंतिम दोनों उदाहरणों की शब्दयोजना से वातावरण की भयानकता का सहज ही आभास मिल जाता है ।

अनुप्रास के उक्त उदाहरण विभिन्न पदों से संकलित हैं; परंतु सूर-काव्य में ऐसे भी कुछ पद मिलते हैं जिनके प्रत्येक चरण में अनुप्रास की योजना है । ऐसे केवल दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

१. जागिए गोपाल लाल, आनँद निधि नन्द-बाल,
जसुमति कहै बार-बार, भोर भयौ प्यारे,
नैन कमल-दल बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल ।
मदन ललित बदन ऊपर कोटि वारि डारे,
उगत अरुन, बिगत सर्वरी, ससांक किरन हीन ।
दीपक सु मलीन, छीन-दुति समूह तारे,
मनौ ज्ञान-घन-प्रकास, बीते सब भव-बिलास ।

---

५९. सा. १०७२ । ६०. सा. १०८१ । ६१. सा. १७८० । ६२. सा. १०-९१ ।
६३. सा. १०-११५ । ६४. सा. ५९६ । ६५. सा. ८५३ । ६६. सा. ८५५ ।

आस-त्रास-तिमिरि तोष-तरनि-तेज जारे,
बोलत खग-निकर मुखर, मधुर होइ प्रतीति सुनौ।
परम प्रान-जीवन-धन मेरे तुम बारे,
मनौ बेद बंदीजन सूत-बृन्द मागधगन।
बिरद बदत जै जै जै जैति कैटभारे,
बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज-चंचरीक।
गंजत कलकोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे,
मानौ बैराग पाइ, सकल सोक-गृह बिहाइ।
प्रेम-मत्त फिरत भृत्य, गुनत गुन तिहारे,
सुनत बचन प्रिय रसाल, जागे असिसय दयाल।
भागे जंजाल-जाल, दुख-कदंब टारे,
त्यागे भ्रम-फंद-द्वंद, निरखि कै मुखारबिंद[६७]।
सूरदास अति-अनंद मेटे मद भारे।

\+ \+ \+

२. स्याम के बचन सुनि, मनहिं मन रह्यौ गुनि,
काठ ज्यौं गयौ घुनि, तनु भुलानौ।
भयौ बेहाल नँदलाल कैं खयाल इहिं,
उरग तैं बाँचि फिरि ब्रजहिं आयौ।
कह्यौ दावानलहिं देखौं तेरे बलहिं,
भस्म करि ब्रज पतिहिं, कहि पठायौ।
चल्यौ रिस पाइ अतुराइ तब धाइ कै,
ब्रजजननि बन सहित जारि आऊँ।
नृपति के लै पान, मन कियौ अभिमान,
करत अनुमान चहुँ पास धाऊँ×।

(ख) **पुनरुक्ति प्रकाश**—सूरदास ने अनेक पदों में शब्द या शब्दों की इस प्रकार आवृत्ति की है कि उससे अर्थ की सुंदरता बढ़ जाती है। ऐसे स्थलों पर 'पुनरुक्ति-प्रकाश' अलंकार होता है। इसकी योजना सूर-काव्य की लगभग पाँच सौ पंक्तियों में मिलती है। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ संकलित हैं—

१. जनम सिरानौ **अटकैं अटकैं**[६८]।

---

६७. सा. १०-२०५। × सा. ५९०। ६८. सा. २९२।

२. बालक अबल अजान रह्यौ वह, **दिन दिन** देत त्रास अधिकाई[६९]।
३. **मंद-मंद** मुसुक्यानि, मनौ घन दामिनि **दुरि-दुरि** देति दिखाई[७०]।
४. **बार-बार** पिय **देखि-देखि** मुख **पुनि-पुनि** जुवति लजानी[७१]।
५. सुर-ललना पति-गति बिसराए, रहीं **निहारि-निहारि**[७२]।

पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार के उक्त उदाहरण विभिन्न पदों से चुने गये हैं। साथ ही 'सूरसागर' में कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनके प्रायः प्रत्येक पद में इसकी योजना है; जैसे—

रे मन, सुमिरि हरि-हरि-हरि।
सत जज्ञ नाहिंन नाम सम, परतीति करि करि करि।
हरि-नाम हरिनाकुस बिसारचौ, उठचौ बरि बरि बरि।
प्रहलाद-हित जिहिं असुर मारचौ, ताहि डरि डरि डरि।
गज-गीध-गनिका-ब्याध के अघ गए गरि गरि गरि।
रस-चरन-अंबुज बुद्धि-भाजन, लेहि भरि भरि भरि।
द्रौपदी के लाज कारन, दौरि परि परि परि।
पांडु-सुत के बिघन जेते, गये टरि टरि टरि।
करन, दुरजोधन दुसासन, सकुनि अरि अरि अरि।
अजामिल सुत-नाम लीन्हैं, गए तरि तरि तरि।
चारि फल के दानि हैं प्रभु, रहे फरि फरि फरि।
सूर श्री गोपाल हिरदै राखि धरि धरि धरि[७३]।

(ग) **यमक**—इस अलंकार की विशेष रूप से योजना 'साहित्यलहरी' में की गयी है जहाँ एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में अनेक बार प्रयोग किया गया है; जैसे—

उदै **सारँग** जान **सारँग** गयौ अपने देस[७४]।

यह पंक्ति पूरे पद का, जिसमें 'सारँग' शब्द दस बार आया है, केवल एक चरण है। इसमें प्रयुक्त पहले 'सारँग' का अर्थ है 'सूर्य' और दूसरे का 'चंद्रमा'। इस प्रकार की योजना में वस्तुतः आलंकारिक चमत्कार नहीं रहता। 'सूरसागर' के कुछ पदों में यमक के सुंदर उदाहरण भी मिलते हैं, यद्यपि इनकी संख्या सौ के आसपास ही होगी; जैसे—

१. ताके कोटि बिघन **हरि हरि** कै अभै प्रताप दियौ[७५]।
२. **तैं** जोबन-मद **तैं** यह कीन्यौ[७६]।

---

६९. सा. ७-४। ७०. सा. ६७६। ७१. सा. १०३७। ७२. सा. १०४५। ७३. सा. १-३०६। ७४. लहरी. ५६। ७५. सा. १-३८। ७६. सा. १-१७४।

३. सूरदास मानहुँ **करभा कर** बारंबार डुलावत[७७]।
४. **बिधि** की **बिधि** मेटि करति अपनी रस-रीति[७८]।
५. **बीरा** खात दोउ **बीरा** जब, दोउ जननी मुख देखि सिहानी[७९]।
६. बार - बार संकरषन भाषत, **बारन** बनि **बारन** करि न्यारौ[८०]।
७. छार सुगंध सेज पुहुपावलि, **हार** छुवैं हिय **हार** जरैंगौ[८१]।
८. ऊधौ **जोग जोग** हम नाहीं[८२]।

(घ) **वीप्सा**—आदर, आश्चर्य, उत्साह, घृणा, शोक आदि मानसिक विकारों को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने अनेक पदों में विस्मयादिबोधक अव्ययों की आवृत्ति की है। ऐसे स्थलों पर प्रायः 'वीप्सा' अलंकार के उदाहरण मिलते हैं; जैसे—

१. **त्राहि-त्राहि** कहि, **पुत्र-पुत्र** कहि, मातु सुमित्रा रोयौ[८३]।
२. **हाय-हाय** करि सखनि पुकारचौ[८४]।
३. **जय जय** धुनि अमरनि नभ कीन्हौ[८५]।
४. **सरन-सरन** अब मरत हौं, मैं नहिं जान्यौं तोहिं[८६]।
५. **साधु-साधु** पुनि-पुनि हरषित ह्वै मन ही मन भाष्यौ[८७]।
६. **धन्य-धन्य** दृढ़ नेम तुम्हारौ[८८]।
७. **हा हा** नाथ अनाथ करौ जिनि, टेरति बाँह पसारि[८९]।

(ङ) **श्लेष**—इस अलंकार के अनेक उदाहरण 'साहित्यलहरी' में ही अधिक मिलते हैं; एक पद ही पर्याप्त होगा—

कंत मो **सुमन** सो लपटात।
समुझ **मधुकर** परत नाहीं मोहिं तोरी बात।
हेमजुही है न जा सँग रहे दिन पस्चात।
कुमुदनी सँग जाहु करकें केसरी को गात।
सेवती संतापदाता तुमै सब दिन होत।
केतकी के अंग संगी रंग बदलत जोत[९०]।

इस पद में 'सुमन'='मोगरे'[(१) बेला फूल, (२) मेरे गले से], 'मधुकर'[(१) भौंरा, (२) रसिक नायक], 'हेमजुही' = 'सोनजुही' [(१) पुष्प विशेष, (२) सो = वह + न = नौन + जु = जो + ही = हृदय], 'कुमुदनी' [(१) पुष्प विशेष, कुँई; (२) बुरी बातों में आनंद लेने-वाली स्त्री], 'सेवती' [(१) पुष्प-विशेष, (२) सेव + ती, तिय = सेवा करने वाली स्त्री], 'केतकी' [१) पुष्प विशेष, (२) कितनी ही स्त्रियाँ] शब्द श्लिष्ट हैं।

७७. सा. ६३२। ७८. सा. ६५३। ७९. सा. १३९८। ८०. सा. ३०५३। ८१. सा. ३३६८। ८२. सा. ३९२४। ८३. सा. ९-१५१। ८४. सा. ५४०। ८५. सा. ५७९। ८६. सा. ५८९। ८७. सा. १०३२। ८८. सा. १०३४। ८९. सा. १०८८। ९०. लहरी. ७१।

५. सूर-काव्य में गुण, वृत्ति और रीति--मानव-प्रकृति गुणों का आदर करती है; सभी वस्तुओं में गुणों की खोज करना उसका स्वभाव है। स्थूल रूप से मानवीय गुण दो प्रकार के होते हैं— एक तो वाह्य शारीरिक गुण; जैसे सुकुमारता, स्निग्धता आदि; और दूसरे, आंतरिक गुण जैसे शूरता, उदारता, त्याग, सहनशीलता आदि। इसी प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ, दोनों में कुछ गुण माने जाते हैं जो काव्य को सुशोभित करते हैं और जिनके कारण रचना का विशेष आदर होता है। जिस प्रकार समाज में गुणहीन व्यक्ति समादृत नही होता, उसी प्रकार गुणहीन काव्य भी सहृदयों को रुचिकर नहीं लगता। काव्य-विषयक गुणों के तीन मुख्य भेद हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

वृत्ति—किसी मार्मिक और मनोहर प्रसंग का वर्णन करने के लिए कोमल, मधुर और समासरहित शब्दों का तथा सरल विषयों के लिए सुबोध शब्दों का प्रायः व्यवहार होता है। प्रसंग, रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ की इस प्रकार की उचित और उपयुक्त योजना को ही 'वृत्ति' कहते हैं। गुणों के तीन भेदों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—के अनुसार शब्दाश्रित वृत्तियाँ भी तीन मानी गयी हैं—मधुरा या उपनागरिका, परुषा और प्रौढ़ा या कोमला वृत्ति।

रीति—कवि अपना आशय प्रकट करता है वाक्यों में और वाक्य की रचना पद-संघटन पर निर्भर है। विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से अभीष्ट अर्थ का बोध कराने की उपयुक्ततम योग्यता किस शब्द में है और वाक्य में किस स्थान पर उसका प्रयोग करने से वह इस दायित्व का अधिकतम निर्वाह कर सकता है, विशिष्ट पद-रचना से अभिप्राय इन्हीं दो विषयों से है। शब्दों का चयन और वाक्य में उनका स्थान विषय, भाव, संस्कार आदि की दृष्टि से निर्धारित होता है। स्पष्टता और रसानुभूति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो कुछ कहना हो, सरल और सीधे ढंग से कहा जाय। स्थूल रूप से 'रीति' के अंतर्गत इन्हीं सब बातों का अध्ययन किया जाता है। संस्कृत शैलियों के आधार पर इसके भी प्रमुख तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौणी और पांचाली।

क. माधुर्यगुण, मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति—भाषा में माधुर्य गुण की योजना के लिए शब्दों के चुनाव का विशेष ध्यान रखा जाता है। सूरदास अपनी भाषा को माधुर्य गुण-युक्त बनाने के लिए इस विषय में सदैव सतर्क रहे हैं। इस गुण-युक्त भाषा की विशेष आवश्यकता प्रायः सरस और मार्मिक प्रसंगों के लिए होती है। श्रीकृष्ण की किशोरावस्था की प्रेम-लीलाओं के वर्णन में ऐसी भाषा के प्रयोग का सूरदास को बराबर अवसर मिला है। अपने आराध्य-युगल के रूप का वर्णन भी इसी भाषा में करने के कारण ही उन्हें अभिनंदनीय सफलता मिली है।

सूरदास ने अपनी भाषा में ट ठ ड ड़ ढ ढ़-आदि कर्णकटु वर्णों का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। संयुक्ताक्षर भी उनकी भाषा में बहुत कम मिलते हैं। मधुरता प्रकट करने वाले वर्णों अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा पाँचों पंचमाक्षरों—ङ, ञ, ण, न और म—से निर्मित शब्दों की अधिकता के कारण ऐसी भाषा में 'मधुरा' या 'उपनागरिका वृत्ति' और ललित पद-योजना के कारण 'वैदर्भी' रीति मानी जाती है। माधुर्य

गुण-युक्त भाषा में सूरदास ने प्रायः दो-तीन अक्षरों से बने छोटे शब्दों का ही प्रयोग अधिक किया है। इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

बिनु माधौ राधा-तन सजनी सब बिपरीत भई।
गई छपाइ छपाकर की छबि, रही कलंकमई।
अलक जु हुती भुवंगम हू सी, बट-लट मनहु भई।
तनु-तरु लाइ-बियोग लग्यौ जनु, तनुता सकल हुई।
अँखियाँ हुतीं कमल पँखुरी सी, सुछबि निचोरि लई।
आँच लगैं च्यौनो सोनो सौं यौं तनु धातु धई।
कदली दल सी पीठि मनोहर, मानौ उलटि ठई।
संपति सब हरि हरी सूर-प्रभु बिपदा देह दई[११]।

इस पद में केवल तीन बार 'ट' और एक बार 'ठ' का प्रयोग किया गया है और सो भी ऐसे शब्दों में जो बहुत सरल और प्रचलित हैं। 'बिपरीत', 'छपाकर', 'भुवंगम' और 'मनोहर'–केवल चार शब्द ऐसे हैं जो चार अक्षरों से बने हैं। शेष सभी शब्द एक, दो या तीन अक्षरों के हैं और कोमल वर्णों से ही निर्मित हैं। नौं शब्दों में अनुस्वार का प्रयोग है जिनसे भाषा की मधुरिमा और भी बढ़ गयी है। 'च्यौनौ' को छोड़कर और कहीं संयुक्ताक्षर का प्रयोग भी नहीं किया गया है। सूर काव्य में संयोग-वियोग-वर्णन और रूप-चित्रण प्रायः ऐसी ही भाषा में किया गया है।

ख. **ओज गुण, परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति**—जिस रचना को सुनकर चित्त में विशेष स्फूर्ति जान पड़े, मन शौर्य और उत्साह से भर जाय एवं आवेश उमड़ने लगे, वह ओजयुक्त मानी जाती है। सूर-साहित्य में इस प्रकार की रचनाओं की संख्या बहुत कम है। अपने आराध्य की जीवन लीला के जिस विशेष भाग के कीर्तन का भार उन्हें सौंपा गया था, उसका प्रतिपादन ओजपूर्ण भाषा में किया ही नहीं जा सकता था। जो दस पाँच उदाहरण उनके काव्य में ऐसी भाषा के मिलते भी हैं, उनका कारण श्रीमद्भागवत के क्रम या उसकी छाया के अनुकरण का प्रयास कहा जा सकता है। ऐसे स्थानों पर भी कवि की वृत्ति विषय में पूर्णतया लीन नहीं हुई है। अतएव वीर रस के योग्य विषयों का प्रतिपादन भी आदि से अंत तक उन्होंने ओजस्विनी भाषा में नहीं किया है।

ओजपूर्ण भाषा के शब्दों का निर्माण 'परुषा' वृत्ति से संबंधित ओजस् गुण को प्रकाशित करनेवाले वर्णों अर्थात् टवर्ग के अक्षरों, द्वित्व, संयुक्त वर्णो और र के संयोग से होता है। वाक्य-योजना में भी बड़े सामासिक पदों की प्रधानता के कारण इसमें 'गौड़ी' रीति मानी जाती है। सूर-काव्य में जो इने-गिने उदाहरण ओजपूर्ण भाषा में लिखे मिलते हैं; उनमें भी यह बात विशेष रूप से नहीं मिलती; जैसे—

१. आजु जौं हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ।

११. सा. ३४०४।

स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडवदल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ[१२]।

२. दूसरैं कर बान न लैहौं।
सुनि सुग्रीव, प्रतिज्ञा मेरी, एकहिं बान असुर सब हैहौं।
सिव-पूजा जिहिं भाँति करी है सोइ पद्धति परतच्छ दिखैहौं।
दैत्य प्रहारि पाप-फल-प्रेरित, सिर-माला सिव-सीस चढ़ैहौं।
मनौ तूल-गन परत अगिनि-मुख, जारि जड़नि जम-पंथ पठैहौं।
करिहौं नाहिं बिलंब कछू अब, उठि रावन सन्मुख ह्वै धैहौं।
इमि दमि दुष्ट देव-द्विज मोचन, लंक बिभीषन, तुमको दैहौं।
लछिमन सिया समेत सूर कपि,सब सुख सहित अजोध्या जैहौं[१३]।

पहले पद में भीष्म की और दूसरे में राम की प्रतिज्ञा है। दोनों पद बहुत ओजपूर्ण भाषा में लिखे जा सकते थे; परन्तु सूरदास ने इनमें भी सामान्य शब्दावली का ही प्रयोग किया है। इन पदों में कुछ सामासिक शब्दों का प्रयोग सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक किया गया है; परन्तु हैं ये सरल ही। इसी प्रकार संयुक्त वर्णों से युक्त जो शब्द—यथा सस्त्र, स्यंदन, कपिध्वज, पद्धति, परतच्छ, प्रहारि, प्रेरित, दुष्ट आदि—इन पदों में प्रयुक्त हुए हैं, वे भी सामान्य ही हैं।

भाषा को ओजपूर्ण और प्रभावशाली बनाने के लिए कभी कभी प्रश्नवाचक वाक्यों का भी प्रयोग किया जाता है। सूरदास ने भी ऐसे प्रश्नवाचक वाक्यों की तो नहीं, उनसे मिलते-जुलते वाक्यों की योजना श्रीराम के प्रति हनुमान के इन वचनों में की है.

१. कहौ तौ जननि जानकी ल्याऊँ, कहौ तौ लंक बिदारौं।
सैल-सिला-द्रुम बरषि, ब्योम चढ़ि, सत्रु-समूह-सँहारौं[१४]।

२. कहौ तो सूरज उगन देउँ नहिं, दिसि दिसि बाढ़ै ताम।
कहौ तौ गन समेत ग्रसि खाऊँ, जमपुर जाइ न, राम।
कहौ तौ कालहिं खंड-खंड करि टूक टूक करि काटौं।
कहौ तौ मृत्युहिं मारि डारि कै, खोदि पतालहिं पाटौं।
कहौ तौ चंद्रहिं लै अकास त, लछिमन मुखहिं निचोरौं।
कहौ तौ पैठि सुधा कैं सागर, जल समस्त मैं घोरौं[१५]।

इन वाक्यों में सामासिक पद और संयुक्ताक्षरों से बने शब्द बहुत कम हैं, केवल 'कहौ तौ' की अनेक बार आवृत्ति से ही भाषा में ओज लाने का सूरदास ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार की भी भाषा के उदाहरण सूर-काव्य में अधिक नहीं हैं।

१२. सा. १-२७०। १३. सा. ९-१५७। १४. सा. ९-१०८। १५. सा. ९-१४८।

ग. प्रसाद गुण, कोमला वृत्ति और पांचाली रीति जिस रचना में व्यक्त विचार, वाग्जाल से रहित होने के कारण, पूर्णतः स्पष्ट होते हैं, वह 'प्रसाद' गुण-युक्त कही जाती है। निर्मल जल के तल में पड़ी वस्तु जैसे ऊपर से ही दिखायी दे जाती है उसी प्रकार रचना को सुनते या पढ़ते ही रचयिता के तात्पर्य का बोध करानेवाला गुण 'प्रसाद' है। इसका संबंध 'प्रौढ़ा' या 'कोमला' वृत्ति और 'पांचाली' रीति से रहता है। सूर-काव्य में इस गुण-युक्त भाषा की ही प्रधानता है। विनय के पद, श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएँ, माता-पिता-गुरुजन की वात्सल्यमयी कामनाएँ आदि प्रसाद गुण-युक्त भाषा में ही सरल तथा रोचक ढंग से लिखी जा सकती थीं। भक्त को आत्मनिवेदन और स्व-दैन्य-प्रदर्शन के लिए कृत्रिमता या प्रयास युक्त शब्द-चयन का आश्रय लेने की चाह हो ही नहीं सकती; एवं बालकों की सरल क्रियाओं, उनकी भोली-भाली बातों और उनके प्रति वात्सल्य-जनित मनोकामनाओं का वर्णन भी सहज ढंग से होने पर ही हृदयहारी और आनंददायी हो सकता है। अतएव इन सभी विषयों का वर्णन सूरदास ने सरल,सुबोध और अति प्रचलित शब्दों में किया है; जैसे—

१. मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सौं कहाँ छिपी करुनामय, सबके अंतरजामी।
जो तन दियौ ताहि बिसरायौ, ऐसौ नोन-हरामी।
भरि भरि द्रोह बिषै कौं धावत, जैसैं सूकर ग्रामी।
सुनि सतसंग होत जिय आलस, बिषयिनि सँग बिसरामी।
श्री हरि-चरन छाँड़ि बिमुखन की निसि-दिन करत गुलामी।
पापी परम, अधम,अपराधी, सब पतितनि मैं नामी।
सूरदास-प्रभु अधम-उधारन सुनियै श्रीपति स्वामी[९६]।

२. हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उठाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद पुकारत, कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपनैं कर लै, तनक बदन मैं नावत।
कबहुँक चितै प्रतिबिंब खंभ मैं, लौनी लिए खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल–चरित नित-नित ही देखत मन भावत[९७]।

६. रस और भाषा का संबंध—कवि की सफलता स्वानुभूति के साधारणीकरण में है जिसके लिए भाषा का माध्यम प्रधान सहायक है। साधारणीकरण का तात्पर्य है रचयिता की अनुभूति से सामान्य पाठक की अनुभूति का तादात्म्य। साहित्यकार प्रसंग-

९६. सा. १-१४८। ९७. सा. १०-१७७।

विशेष को जिस दृष्टि से देखता और जिस उद्देश्य से चित्रित करता है, पाठक या श्रोता भी पढ़ या सुनकर उसी दृष्टि से देखने और उसी उद्देश्यानुभूति का अनुभव करने लगे— स्थूल रूप से इसी को 'साधारणीकरण' कहते हैं। इसकी सिद्धि सार्थक, उपयुक्त और उपयोगी भाषा अपनाने पर ही सम्भव होती है। मानवीय भावों का विकास संस्कार-संभूत प्रभावों के कारण यद्यपि विभिन्न दिशाओं में होता है, तथापि मूलतः सभी में समान भाव बीज-रूप में तो रहते ही हैं। कवि की रचना भाषा के माध्यम से साकार होकर इन्हीं समान भावों को कुरेदती-उकसाती है। भावुक होने के साथ-साथ जिस व्यक्ति का शब्द-भांडार जितना विस्तृत होगा, जिसकी भाषा भाव व्यंजना में जितनी समर्थ और स्पष्ट होगी, वह उतना ही सफल कवि या लेखक समझा जायगा अतएव भाषा का आश्रय भावाभिव्यक्ति के लिए तो आवश्यक है ही, उसकी सहायता पाठक या श्रोता के मन में समान रसानुभूति की सजगता के लिए भी अपेक्षित है।

रस-भेद और भाषा-रूप—रसों के मुख्य नौ भेद माने गये हैं—शृंगार (+वात्सल्य) हास्य, करुणा, वीर, अद्भुत, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शांत। भाषा-रूप की दृष्टि से इन रसों के तीन वर्ग बना लिये गये हैं। प्रथम में शृंगार, करुण और शांत; द्वितीय में वीर, रौद्र और बीभत्स; तथा तृतीय में हास्य, अद्भुत और भयानक माने गये हैं। प्रथम वर्ग के रसों के लिए माधुर्य गुण युक्त भाषा आवश्यक होती है और द्वितीय के लिए ओज-गुण-युक्त। प्रसाद गुण-प्रधान भाषा हास्य, अद्भुत और भयानक रसों में ही नहीं, प्रथम दोनों वर्गों के भी सब रसों के उत्कर्ष में सहायक होती है।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि माधुर्य या ओज गुणों के नियमानुसार वर्ण या शब्द-योजना मात्र से काव्यानंद प्राप्त हो जाता है। वास्तव में काव्य की आत्मा रस है और इसका आस्वादन अर्थोत्कर्ष द्वारा ही संभव है। वाक्य में विशिष्ट पद-योजना काव्य-शरीर के वाह्यावरण-रूप में रहती है जो अनुकूल होने पर सुरुचिवर्द्धक और मनोहारिणी जान पड़ती एवं रचना के प्रभाव को द्विगुणित कर देती है तथा प्रतिकूल होने पर अर्थोत्कर्ष में ही नहीं, रसास्वादन में भी विरोधिनी सिद्ध होती है। सारांश यह है कि रस-विशेष के परिपाक में जिस गुण-युक्त पद-योजना की अपेक्षा है, उसे अपनाने पर ही कवि का अभीष्ट सिद्ध होता है; क्योंकि तभी रचना में पाठक को रस-मग्न करने की क्षमता आती है।

संयोग-वियोग शृंगार (+वात्सल्य), करुण और शांत—इन तीन रसों के लिए माधुर्य गुण ऊपर आवश्यक कहा गया है। कारण यह है कि उक्त भावनाओं के जाग्रत होने पर प्राणी को एक प्रकार की मधुरता का अनुभव होता है और मधुर वर्णों की योजना इसकी पोषक एवं वर्द्धक होती है। सामान्यतः मधुरता की सबसे अधिक विद्यमानता जान पड़ती है संयोग शृंगार में और सबसे कम शांत रस में। परन्तु वियोग शृंगार वस्तुतः हृदयगत मधुर भाव का रूप निखारने में संयोग की अपेक्षा अधिक समर्थ होता है। संयोग-सुख प्राप्त करने की लालसा प्राणी-मात्र में रहती है; परन्तु प्रिय वस्तु या पात्र की अनुपस्थिति अथवा अप्राप्ति-काल में तत्संबंधी लालसा इतनी तीव्र हो जाती है कि इस व्यवधान में चित्त बराबर उसी में रमा रहता है। उसकी कसकभरी स्मृति हृदय

को सालनेवाली होने पर भी इतनी प्रिय लगती है कि चित्त उसे भुला नहीं पाता — भुलना चाहता भी नहीं। ऐसी स्थिति में अतीत की सुप्त स्मृतियाँ बार बार जाग्रत होकर प्राप्ति-लालसा की तीव्रता को बहुत बढ़ा देती हैं और हृदय प्रतिपल अत्यंत विकल रहता है। फलतः वियोग शृंगार में मधुर भाव संयोग की अपेक्षा तीव्रतर रूप में रहता है और यहीं उसका रूप भी अपेक्षाकृत अधिक निखरता है।

करुण रस में हृदय की तीव्रता एक प्रकार से विप्रलंभ शृंगार से भी बढ़कर होती है। कारण, प्रिय वस्तु या पात्र की अनुपस्थिति में तो मिलन की आशा बनी रहती है, परन्तु करुण स्थिति में उसकी ओर से प्राणी सर्वथा निराश हो जाता है और भविष्य उसके लिए सर्वथा अंधकारमय हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रकार के पाठकों और श्रोताओं की सहानुभूति भी संयोग सुख और वियोग दुख भोगनेवाले व्यक्ति से अधिक उस प्राणी के प्रति होती है जिसकी करुण दशा भावुक साहित्यकर को द्रवित कर देती है।

शांत रस में माधुर्य भाव की उपस्थिति के सम्बन्ध में मतभेद है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि सांसारिकता से निवृत्ति मिलने पर प्राणी को ऐसा आत्मसंतोष प्राप्त होता है जो उसके लिए निस्संदेह मधुर भाव-युक्त होता है। इसी के सन्निवेश के कारण शांत रस में भी माधुर्य भाव की योजना प्रायः कवियों ने की है।

सूर-काव्य में रस और भाषा का संबंध—सूर-काव्य में यों तो 'बीभत्स' को छोड़कर सभी रसों के उदाहरण देखे जा सकते हैं, परंतु मुख्य रूप से उन्होंने संयोग-वियोग शृंगार और वात्सल्य, करुण तथा शांत रसों का ही वर्णन किया है एवं गौण रूप से अद्‌भुत और हास्य का। 'बीभत्स' के उदाहरण उनके काव्य में न मिलने का मुख्य कारण यह है कि वे मधुर और सरस भावनाओं के ही कवि हैं और प्रतिपल अपने रसिकप्रवर आराध्य के संपर्क का आनंददायी अनुभव करते हैं।

क. शृंगार, करुण और शांत रसों की भाषा—शृंगार और करुण रसों के लिए तो सूरदास ने सदैव मधुर-भाव युक्त शब्दावली का प्रयोग किया है; परन्तु वात्सल्य और शांत में, जैसा पीछे कहा जा चुका है, सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ है। वात्सल्य के जिन पदों में बालक कृष्ण की आनंददायिनी लीलाएँ है, वे प्रायः प्रसाद गुणयुक्त भाषा में लिखे गये हैं, परंतु जिनमें माता की ममतामयी कामनाएँ-कल्पनाएँ हैं, उनकी भाषा में माधुर्य गुण प्रधान है। इसी प्रकार शांत-रस-सम्बन्धी जिन पदों में कवि ने अपनी दीनता का निश्छल और निष्कपट होकर वर्णन किया है, उनकी भाषा में माधुर्य नहीं, प्रसाद गुण की योजना है। इसके विपरीत, अपने इष्टदेव की महिमा-गान में जब वह लीन होता है, तब भाषा माधुर्य गुण-युक्त हो जाती है। वात्सल्य और शांत रसों की प्रसाद गुण-प्रधान भाषा के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। अतएव यहाँ संयोग-वियोग शृंगार-वात्सल्य, करुण और शांत रसों के माधुर्य-गुण-युक्त भाषा वाले पद ही उद्धृत किये जाते हैं—

१. संयोग शृंगार—

नवल निकुंज नवल नवला मिलि नवल निकेतन रुचिर बनाए।
बिलसत बिपिन बिलास बिबिध बर बारिज-बदन बिकच सचु पाए।

लागत चंद्र मयूख सु तिय तनु, लता-भवन-रंध्रनि मग आए।
मनहुँ मदन-बल्ली पर हिमकर, सींचत सुधा धार सत नाए।
सुनि सुनि सुचित स्रवन जिय सुन्दरि, मौन किये मोदति मन-लाए।
सूर सखी राधा माधव मिलि क्रीड़त रति रतिपतिहिं लजाए[१८]।

२. **वियोग शृंगार**——

नैन सलोने स्याम, बहुरि कब आवहिंगे।
वै जौ देखत राते राते, फूलनि फूली डार।
हरि बिनु फूल झरी सी लागत, झरि झरि परत अँगार।
फूल बिनन नहि जाउँ सखी री, हरि बिनु कैसे बीनौं फूल।
सुनि री सखी, मोहिं राम दुहाई, लागत फूल त्रिसूल।
जब मैं पनघट जाउँ सखी री, वा जमुना कैं तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है, इन नैननि कैं नीर।
इन नैननि कैं नीर सखी री, सेज भई घरनाउ।
चाहति हौं ताही पै चढ़ि कै, हरि जू कैं ढिग जाउँ।
लाल पियारे प्रान हमारे, रहे अधर पर आइ।
सूरदास प्रभु कुंजबिहारी, मिलत नही क्यौं धाइ[१९]।

३. **संयोग वात्सल्य**——

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की।
छिटकि रही चहुँ दिसि जु लटुरियाँ, लटकन लटकति भाल की।
मोतिनि सहित नासिका नथुनी, कंठ-कमल-दल-माल की।
कछुक हाथ, कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन बिसाल की।
सूरदास प्रभु-प्रेम-मगन भईं, ढिग न तजनि ब्रजबाल की[१]।

४. **वियोग वात्सल्य**——

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसेहिं धर्यौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, को कर नेति गहै।
सूने भवन जसोदा सुत के, गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै।
जो ब्रज मैं आनंद हुतौ, मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै[२]।

सा. १७. १९८७। १९. सा. ३२७५। १. सा. १०-१०५। २. सा. ३१८०।

५. करुण रस--

राखि लेहु अब नंदकिसोर।
तुम जो इंद्र की मेटी पूजा, बरसत है अति जोर।
ब्रजवासी तुम तन चितवत हैं, ज्यौं करि चंद चकोर।
जनि जिय डरौ, नैन जनि मूँदौ, धरिहौं नख की कोर।
करि अभिमान इंद्र झरि लायौ, करत घटा घनघोर[३]।

६. शांत रस--

माधौ जू, मन माया बस कीन्हौ।
लाभ-हानि कछु समुझत नाहीं, ज्यौं पतंग तन दीन्हौ।
गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर।
मैं मति-हीन मरम नहिं जान्यौ, परचौ अधिक करि दौर।
बिबस भयौं नलिनी के सुख ज्यौं, बिन गुन मोहिं गह्यौ।
मै अज्ञान कछू नहिं समुझचौ, परि दुख-पुंज सह्यौ।
बहुतक दिवस भए या जग मैं, भ्रमत फिरचौ मति-हीन।
सूर स्याम सुंदर जौ सेवै, क्यौं होवै गति दीन[४]।

इन सभी पदों का विषय सरस अथवा मार्मिक है जिसके लिए कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग और पंचमाक्षरों से निर्मित शब्दों का ही अधिकांश में प्रयोग किया गया है। कर्णकटु टवर्गीय वर्णों से बने शब्दों की भी इन पदों में बहुत कमी है और जहाँ ऐसे शब्द आये भी हैं, वहाँ या तो मधुर व्यंजनों के बीच में प्रयुक्त होने से वे स्वयं अपनी कटुता त्याग देते हैं या कवि उन्हें मधुर बनाने में प्रयत्नशील रहा है। संयुक्ताक्षर-युक्त शब्दों से भी ऐसे विषयों की भाषा को सूरदास ने बचाया है। बड़े-बड़े सामासिक पदों का भी इसमें अभाव है। अतएव इन उदाहरणों की भाषा सभी दृष्टियों से माधुर्य-गुण-युक्त है।

ख. **वीर, बीभत्स और रौद्र रसों की भाषा**—वीर, बीभत्स और रौद्र रसों के परिपाक से चित्त में एक प्रकार के आवेग का उदय होता है जो प्रथम में संयत, द्वितीय में कुछ तीव्र और तृतीय में अत्यंत उग्र हो जाता है। इन रसों के स्थायी भाव क्रमशः उत्साह, घृणा—विरोध या तिरस्कार की प्रवृत्ति—और क्रोध हैं जिनके जाग्रत होने पर चित्त सहसा दीप्तियुक्त हो जाता है। अतएव इन रसों के उत्कर्ष में ओजगुण-युक्त भाषा विशेष सहायक होती है।

सूर-काव्य में बीभत्स के उदाहरण तो हैं नहीं, वीर और रौद्र रसात्मक प्रसंगों का वर्णन भी उन्होंने इतना कम किया है कि इनकी योजनावाले पदों की संख्या एक प्रतिशत कठिनता से ही होगी। इन रसों के लिए सूरदास ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसका अनुमान निम्नलिखित उदाहरणों से हो सकता है—

---

३. सा. ८३५। ४. सा. १-४६।

१. वीररस—

(अ) गह्यौ कर-स्याम भुज मल्ल अपने धाइ, **झटकि** लीन्हौ तुरत **पटकि** धरनी।
भटकि अति सब्द भयौ, **खटक** नृप के हियैं, **अटकि** प्राननि परचौ **चटक** करनी।
लटकि निरखन लग्यौ, **भटक** सब भूलि गइ, **हटत** करि देउँ इहै लागी।
झटकि कुंडल निरखि, **अटक** ह्वै कै गयौ, **गटकि** सिर सौं रह्यौ मीच जागी[५]।
(आ) देखि नृप **तमकि** हरि **चमक** तहँई गए, **दमकि** लीन्हौ गिरहबाज जैसें।
घमकि मारचौ घाव, **गुमकि** हिरदै रह्यौ, **झमकि** गहि केस लै चले ऐसें[६]।

२. रौद्ररस—

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ।
ब्रज-घातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ।
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौं, लोग देउँ बहाइ।
खात-खेलत रहे नीकैं, करी उपाधि बनाइ।
बरस दिन मोहिं देत पूजा, दई सोउ मिटाइ।
रिस सहित सुरराज लीन्हें, प्रलय मेघ बुलाइ[७]।

साधारणतः वीर और रौद्र रसोत्कर्ष के लिए कर्णकटु टवर्गीय, संयुक्त, द्वित्व आदि वर्णों से निर्मित्त बड़े सामासिक शब्दों की योंजना की जाती है। परंतु सूरदास के उक्त उदाहरणों में से केवल प्रथम में 'ट' युक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है; शेष दोनों में नहीं। प्रथम दो पदों में 'टक' या 'टकि' और 'मक' या 'मकि' की आवृत्ति अवश्य मिलती है जिससे भाषा में ओज आ गया है। संयुक्त या द्वित्व वर्णों से बने शब्द भी इनमें बहुत सामान्य हैं। सारांश यह है कि वीर और रौद्र रसों के लिए भी सूरदास ने सामान्य शब्दावली से ही काम निकाला है और कृत्रिम शाब्दिक आडंबर के चक्कर में वे कहीं नहीं पड़े हैं।

ग. हास्य, अद्‌भुत और भयानक रसों की भाषा—प्रसाद गुण की विशेषता है उसकी प्रयास और कृत्रिमतारहित सरलता। भावों को स्पष्टतम रूप में दूसरों तक पहुँचाना साहित्य के समस्त रूपों का चरम ध्येय है और प्रसाद गुण इसकी सिद्धि में विशेष सहायक होता है। हास्य, अद्‌भुत और भयानक रसों के लिए प्रसाद गुण-युक्त भाषा की आवश्यकता बताने का तात्पर्य भी यही है कि सप्रयास माधुर्य अथवा ओजगुण युक्त पद-योजना इन रसों की अनुभूति में बाधक होती है। सूर-काव्य में प्राप्त इन रसों के प्रसंगों में प्रायः सर्वत्र इस बात का ध्यान रखा गया है; जैसे:—

५. सा. ३०७३। ६. सा. ३०७९। ७. सा. ८५२।

१. हास्य रस—

मेरे आगैं महरि जसोदा तोकौं गारी दीन्ही।
वाकी घात सबै मैं जानति, वै जैसी मैं चीन्ही।
तोकौं कहि पुनि कह्यौ बाबा कौ बड़ौ धूत बृषभान।
तब मैं कह्यौ, ठग्यौ कब तुमकौं, हँसि लागी लपटान।
भली कही तू मेरी बेटी, लयौ आपनौ दाउ।
जौ मोहिं कह्यौ सबै गुन उनके, हँसि हँसि कहत सुभाउ।
फेरि फेरि बूझति राधा सौं सुनत हँसतिं सब नारि।
सूरदास बृषभानु-घरनि जसुमति कौं गावति गारि[८]।

२. अद्‌भुत रस—

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपनैं रँग खेलत।
सिव सोंचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़्यौ सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दंतीनि सकेलत।
मुनि-मन भीत भए, भुव कंपति, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रज-बासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत[९]।

३. भयानक रस—

मेघ दल प्रबल ब्रज लोग देखैं।
चकित जहँ-तहँ भए निरखि बादर नए, ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं।
ऐसे बादर सजल, करत अति महाबल, चलत घहरात करि अंधकाला।
चकित भए नंद, सब महर चकित भए, चकित नर नारि हरि करत ख्याला।
घटा घनघोर फहरात, अररात, दररात, थररात, बज लोग डरपे।
तड़ित आघात तरात उतपात सुनि नर नारि सकुचि तन प्रान अरपे।
कहा चाहत होन, भई कबहूँ जौन, कबहुँ आँगन भौन बिकल डीलैं[१०]।

ऊपर दिये गये हास्य और अद्‌भुत रसों के उदाहरणों में तो सूरदास ने सामान्य शब्दावली का प्रयोग किया है; परतु अंतिम में वातावरण की भयानकता सूचित करने के लिए ध्वनात्मक शब्दों की योजना और दीर्घ स्वरों की पुनरावृत्ति गयी है। सारांश यह है कि विभिन्न रसों के लिए उपयुक्त शब्द-चयन में कवि सूर सिद्धहस्त हैं।

७. सूर की भाषा के कुछ दोष—भावाभिव्यंजन की कामना समस्त साहित्य का मूल है। जो बातें इसकी पूर्ति में अधिक से अधिक सहायक होती हैं, वे 'गुण' हैं और

८. सा. ७०९। ९. सा. १०-३३। १०. सा. ८५५।

जो विरोधिनी होती हैं, वे दोष हैं। ये दोष तीन प्रकार के होते हैं—पद या शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। भाषा के अध्ययन में पद या शब्द-दोषों की चर्चा ही विशेष रूप से की जाती है। अतएव प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत सूरदास की भाषा को लेकर केवल पद-दोषों की सोदाहरण विवेचना करना ही पर्याप्त होगा।

'काव्य-प्रकाश' के अनुसार पद-दोष सोलह प्रकार के होते हैं – श्रुतिकटु, च्युत-संस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्ट, विधेयांश और विरुद्ध मतिकृत[११]। जिस कवि को स्वयं अपनी कविता लिखने और आगे चलकर उसमें संशोधन-परिवर्द्धन करने का अवसर न मिला हो, उसके काव्य में यदि इनमें से कुछ दोष मिल जायँ तो आश्चर्य की बात नहीं होगी। सूरदास की काव्यभाषा में भी इनमें से कुछ दोष अवश्य मिलते हैं जिनमें से कुछ के उदाहरण पीछे भी दिये जा चुके हैं; कुछ यहाँ और दिये जाते हैं।

क. श्रुतिकटु—मधुर शब्दों के स्थान पर कानों को खटकनेवाले परुष या कठोर शब्दों का प्रयोग करने पर 'श्रुतिकटु' दोष होता है। यह दोष सूर की भाषा में बहुत कम मिलता है। इसके अपवादस्वरूप उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखे जा सकते हैं-

१. राधे कत रिस सरसतई।
तिष्ठति जाइ बारबारनि पै होति अनीति नई[१२]।
२. **धनुर्भंजन** जज्ञ हेत बोले इन्हैं और डर नहीं सब कहि सँतोषे[१३]।
३. **विद्राचारि** गुपाल लाल की, सूरदास तजि सर्बस लूट्यौ[१४]।

'तिष्ठति'-जैसे संस्कृत क्रिया-प्रयोग सूरदास के समस्त काव्य में बहुत कम हैं और 'धनुर्भंजन'-जैसे विसर्ग-संधि वाले उदाहरण भी अपवादस्वरूप ही मिलते हैं। इसी प्रकार 'विद्राचारि'-जैसे प्रयोग भी उनकी सरस और सरल शब्दावली में 'श्रुतिकटु' दोष के अन्तर्गत आ सकते हैं।

ख. च्युत-संस्कार—काव्य की भाषा जहाँ व्याकरणसम्मत न हो और रचना में जहाँ व्याकरण के सामान्य नियमों की अवहेलना की गयी हो, वहाँ यह दोष होता है। इसके अन्तर्गत लिंग, वचन, कारक, समास, संधि आदि सभी प्रकार के दोष आ जाते हैं। सूरदास की काव्यभाषा में यह दोष कई पदों में मिलता है; जैसे—

अ. लिंग-दोष—

१. सुनि **मेरी अपराध** अधमई, कोऊ निकट न आवै[१५]।
२. प्रभु, राखि लेहु हम **सरन तिहारे**[१६]।
३. माता **सँटिया द्वैक** लगाए[१७]।

---

११. 'काव्य प्रकाश', सप्तम उल्लास, श्लोक ५०-५१, पृ० १६८। १२. सा. २८०६। १३. सा. २९६७। १४. सा. २७०२। १५. सा. १-१५७। १६. सा. ३८५। १७. सा. ३९१।

प्रथम वाक्य में 'मेरी' संबंधकारकीय स्त्रीलिंग सर्वनाम है। इसके आगे 'अपराध' शब्द सम्बन्धी रूप में आया है। 'अपराध-अधम₂' युग्म के साथ सम्बन्धकारकीय स्त्रीलिंग विभक्ति या सर्वनाम बोलचाल की भाषा में भले ही प्रयुक्त हो जाय, काव्य-भाषा में इसका प्रयोग दोष ही समझा जायगा। दूसरे वाक्य में 'सरन' स्त्रीलिंग संज्ञा है जिसके साथ पुल्लिग सम्बन्धकारकीय शब्द 'तिहारे' आना भी दोष है। तीसरे में 'सँटिया' स्त्रीलिंग के साथ पुल्लिग क्रिया 'लगाए' रखने में दोष आ गया है।

आ. वचन-दोष—

१. ललनासहित **सुमनगन** बरषत, धन्य धन्य व्रज लेखत[१८]।
२. निरखि **कुसुमगन** बरषत सुरगन प्रेम मुदित जस गावैं[१९]।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'सुमन' और 'कुसुम' शब्द प्रायः सर्वत्र बहुवचन में आते हैं। इनके साथ पुनः 'गन' जोड़ना अनावश्यक है।

इ. कारक-दोष—व्रजभाषा में प्रायः सभी कारकों की विभक्तियों का लोप कर दिया जाता है; परंतु ऐसा करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अर्थ समझने में किसी प्रकार की कठिनाई, अथवा एक से अधिक अर्थ वाक्य-विशेष से निकलने की संभावना न हो। सूरदास ने विभक्तियों का लोप समझ-बूझ कर किया है, फिर भी ऐसे वाक्य कुछ पदों में मिल ही जाते हैं जिनके ठीक अर्थ-बोध में कठिनाई हो सकती है; जैसे—

संकर पारबती उपदेसत तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति द्वार[२०]।

इस वाक्य में न 'संकर' के साथ विभक्ति है और न 'पारवती' के साथ। विज्ञ पाठक तो जानता है कि उपदेश देनेवाले शंकर ही हो सकते हैं; परंतु नया पाठक पार्वती को भी उपदेशक मानने की भूल कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि विभक्तिरहित शब्दों में पहला ही कर्त्ताकारक में प्रयुक्त होता है, तब नीचे लिखे वाक्य दोषयुक्त हो जायँगे—

१. **दुरबासा दुरजोधन** पठयौ पांडव अहित बिचारी[२१]।
२. **हिरनकसिप इनहीं** संहारयौ[२२]।
३. भली भई **नृप मान्यौ तुमहूँ**[२३]।
४. भली करी, **उनि स्याम बँधाए**[२४]।

दूसरे वाक्य में 'इनहीं' और तीसरे में 'तुमहूँ' के साथ 'हीं' ओर 'हूँ' के योग से इन सर्वनामों को बलात्मक रूप दिया गया है। इस प्रकार ये दोनों शब्द विभक्तिरहित ही हैं। अब सभी वाक्यों में विभक्तिरहित प्रथम रूपों—'दुरबासा', 'हिरनकसिप', नृप', 'उनि'—को कर्त्ताकारक में समझा जाय तो संगत अर्थ नहीं निकलता। अतएव विभक्ति-लोप के कारण इन सभी में कारक-दोष है।

१८. सा. १०४४। १९. सा. १०५५। २०. सा. २-३। २१ सा. १-१२२। २२. सा. ७-७। २३. सा. १५०७। २४. सा. २२७०।

ई. **समास दोष**—राम-स्याम **निधि-पियूष** नैननि भरि पीजै[२५]।

यहाँ 'पीयुष-निधि' सामासिक पद को 'निधि-पियूष' लिखना खटकता है; क्योंकि इससे अर्थ-बोध में कठिनता होती है। ऐसे उदाहरण सूरकाव्य में बहुत हैं।

उ. **संधि-दोष** - सूर-काव्य में संधियों के कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो बड़े विचित्र जान पड़ते हैं। इनमें वास्तविक दोष भले ही न माना जाय; परंतु इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे प्रयोग प्रचलित नहीं हैं; जैसे—

१. बहुरि संखासुरहिं मारि **बेदाऽनि** दिए[२६]।

२. तुमसौं नृप जग मैं अब **नाह**[२७]।

३. निरखि जदुबंस कौ रहस मन मैं भयौ, देखि अनिरुद्ध कौं **मूरछाई**[२८]।

इन वाक्यों में प्रयुक्त 'वेदाऽनि', 'नाह' और 'मूरछाई' शब्द क्रमशः 'वेद+आनि', 'न+आह' और 'मूरछा+आई' की संधि से बनाये गये हैं[२९]। इस प्रकार के प्रयोग सरल होते हुए भी काव्यभाषा में खकटते हैं।

ऊ. **प्रत्यय-दोष**—

१. स्याम काम तनु **आतुरताई** ऐसे स्यामा बस्य भए री[३०]।

२. जहाँ तहाँ दधि धरयौ, कहौं कह **उज्ज्वलताई**[३१]।

३. कहाँ तब लहति ही **निठुरताई**[३२]।

'आतुरता', 'उज्ज्वलता' और 'निठुरता' सामान्य भाववाचक संज्ञा रूप हैं। इनमें पुनः भाववाचक प्रत्यय 'ई' जोड़ना दोष है। सूर-काव्य में इस प्रकार के प्रयोग सौ से भी अधिक मिलते हैं।

३ असमर्थ—अर्थ-विशेष को प्रकट करने के लिए जब ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जिसमें उसका बोध कराने की शक्ति न हो तब यह दोष होता है। सूरदास के कुछ पदों में यह दोष भी पाया जाता है; जैसे—

मेली सजि मुख अंबुज भीतर उपजी **उपमा मोटी**[३३]।

यहाँ 'उपमा' के विशेषण-रूप में 'मोटी' ठीक ठीक अर्थ का संकेत नहीं करता।

४. निरर्थक[३४]—सूर-काव्य में सौ से अधिक स्थलों पर छंद की पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्दों का निष्प्रयोजन प्रयोग हुआ है; जैसे—

२५. सा. ३७००। २६. सा.८-१६। २७. सा. ९-४। २८. सा. ४१९७।

२९. विचित्र संधियों के इन उदाहरणों को 'विसंधि' नामक वाक्य-दोष के अंतर्गत भी रखा जा सकता है - लेखक।

---

३०. सा. १०९९। ३१. सा. ८४१। ३२. सा. १३६३। ३३. सा. १०-१६४।

३४. इस शीर्षक के अंतर्गत दिये गये उदाहरणों में से कुछ को 'न्यूनपद', 'अधिकपद' और 'कथितपद' नामक वाक्य-दोषों के अंतर्गत भी दिया जा सकता है—लेखक।

१. करनी करुनासिंधु की, **मुख** कहत न आवै[३५]।
२. काकैं बल बैर तैं **जु** राम तैं बढ़ायौ[३६]।
३. सूर स्याम मुख निरखि जसोदा मनहीं मन **जु** सिहानी[३७]।
४. जहाँ तहँ करत अस्तुति **मुखनि** देव-नर धन्य जै शब्द तिहुँ भुवन भारी[३८]।
५. चढ़ि बिमान सुर सुमन **जु** बरषैं, जै जै धुनि नभ पावनौ[३९]।

पहले, तीसरे और चौथे वाक्यों में 'मुख' और 'मुखनि' शब्द व्यर्थ हैं; क्योंकि इनके न होने पर भी अर्थ पूर्ण रहता है। शेष वाक्यों में 'जु' का निरर्थक प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार नीचे लिखे वाक्यों में भी 'जज्ञहु', 'सब्द', 'दोउ' और 'जुगुल' शब्द अनावश्यक हैं।

१. अस्वमेध **जज्ञहु** जो कीजै, गया, बनारस अरु केदार[४०]।
२. अमर बिमान चढ़े सुख देखत जै धुनि **सब्द** सुनाई[४१]।
३. अंजन **दोउ** दृग भरि दीन्हौ[४२]।
४. **जुगल** जंघनि खंभ रंभा नाहिं समसरि ताहिं[४३]।

'मेध' का अर्थ ही है जज्ञ; अतएव पुनः 'जज्ञहु' लिखना निरर्थक है। 'धुनि' का प्रयोग करने के बाद 'शब्द' भी अनावश्यक ही है। 'दृग' और 'जंघनि' सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं; इनका एकवचन-रूप सूचित करने की तो आवश्यकता होती है और सूर ने अनेक अवसरों पर ऐसा किया भी है, जिसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं; परंतु इनके साथ 'दोऊ' या 'जुगल'-जैसे प्रयोग व्यर्थ ही हैं।

५. **ग्राम्य**—कुछ पदों में सूरदास ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो सभ्य समाज की शालीनता के उपयुक्त नहीं जान पड़ते; जैसे—

१. पारथ-तिय कुरुराज सभा मैं बोलि करन चहै **नंगी**[४४]।
२. जैसें जननि जठर अंतरगत सुत अपराध करै।
तौऊ जतन करै अरु पोषै, **निकसै** अंक भरै[४५]।

'नंगी' और 'निकसै' शब्दों में गँवारूपन है, साहित्यिक भाषा की गंभीरता नहीं।

६. **क्लिष्टत्व**— किसी शब्द या पद की अर्थ-प्रतीति में जब बाधा पड़े और उसका अर्थ-ज्ञान विलंब से हो, तब 'क्लिष्टत्व' दोष होता है। सूरदास की 'साहित्यलहरी' में तो यह दोष प्रायः प्रत्येक पद में मिलता ही है, 'सूरसागर' में भी ऐसे कुछ पद हैं जिनकी अर्थ-प्रतीति सरलता से नहीं होती[४६]। 'कूट पदों की भाषा' शीर्षक के

---

३५. सा. १-४। ३६. सा ९-९७। ३७. सा. १०-२०८।
३८. सा. ६०२। ३९. सा. २८३२। ४०. सा. २-३। ४१. सा. १०-२२।
४२. सा. १०-१८३। ४३. सा. १०-२३४। ४४. सा. १-२१। ४५. सा. १-११७।
४६. 'सूरसागर', पद संख्या २०८५, २०८६, २४६९, २४९५, २६२४, २६९६ आदि।

अंतर्गत इस प्रकार के अनेक उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। यहाँ एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

गिरजा-पति-पितु-पितु-पितु ही ते सौ गुन सो दरसावै।
ससि-सुत बेद-पिता की पुत्री आजु कहा चित चावै[४७]।

यहाँ 'गिरजा-पति-पितु-पितु-पितु' और 'ससि-सुत बेद-पिता की पुत्री' के अर्थ 'समुद्र' (गिरिजापति = शिव ; पितु = ब्रह्मा ; ब्रह्मा पितु = कमल ; कमल-पितु = जल अर्थात् समुद्र) और 'यमुना' (शशि-सुत = चंद्रमा का पुत्र = बिधु ; वेद चार हैं, अतः बुध से चौथा ग्रह हुआ शनि ; शनि-पिता = सूर्य ; सूर्य की पुत्री = यमुना नदी) बिना संकेत के समझ में नहीं आ सकते। ऐसे उदाहरणों में 'किलष्टत्व' दोष है।

७. **अनुचितार्थ और विरुद्धमतिकृत**—दो-एक पदों में सूरदास ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ का बोध कराते हैं ; जैसे—

१. अब रघुनाथ मिलाऊँ तुमकौ **सुंदरि**, सोक निवारि[४८]।
२. बर्ष दिवस कौ नेम लेइ सब, **रुद्रहिं** सेवहु मन बच क्रम अब[४९]।

पहला वाक्य सीता जी के प्रति हनुमान का है। 'सुन्दरि' शब्द रूप-प्रशंसावाची होने के कारण यहाँ अभीष्ट अर्थ से प्रतिकूल की प्रतीति कराता है, तभी तो सीता जी इस संबोधन से शंकित होकर कहती हैं—

स्रवन मूँदि, मुख आँचर ढाँप्यौ, अरे निशाचर चोर।
काहे कौं छल करि करि आवत, धर्म-बिनासन मोर[५०]।

'रुद्र' का तात्पर्य मुख्यतः शिव के उस रूप से है जिससे 'उन्होने कामदेव को भस्म किया था और दक्ष के यज्ञ का नाश किया था'[५१] इसी से 'रौद्र' शब्द बना है। युद्ध-प्रसंग में प्रायः 'रुद्र' का प्रयोग किया जाता है, वर-प्राप्ति-प्रसंग में नहीं।

उक्त प्रमुख दोषों के अतिरिक्त सूरदास की वाक्य-रचना में सर्वनाम और क्रिया-शब्दों के कुछ प्रयोग भी खटकते हैं। उनके कुछ संबोधनों में मर्यादोल्लंघन भी हुआ है। वाक्यांशों, उपवाक्यों या वाक्यों की खटकनेवाली आवृत्ति उनके काव्य में कहीं कहीं मिलती है तो कहीं शब्दों का रूप विकृत करने में उन्होने मनमानी की है। इन बातों के भी उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१ वाक्य-दोष—शिव-पार्वती का वार्तालाप हो रहा है। पति के गले में मुंडमाला देखकर पार्वती पूछती हैं—यह मुंडमाल कैसी है ?

सिव बोले तब बचन रसाल। उमा, **आहि यह सो** मुँडमाल।
जब जब जनम तुम्हारौ भयौ। तब तब मुंडमाल मैं लयौ[५२]।

४७. लहरी, १५। ४८. सा. ९-८३। ४९. सा. ७९९। ५०. सा. ९-८३।
५१. देखिए, 'हिंदी शब्द-सागर', चौथा भाग, पृ. २९५८।
५२. सा. १-२२६।

दूसरा वाक्य पूर्ण है ; परंतु 'आहि यह सो मुँडमाल' उपकाव्य वाक्य-रचना की दृष्टि से अपूर्ण ही रह जाता है।

२. **आवृत्ति दोष**—सूरदास ने एक ही विषय को लेकर अनेक पद लिखे हैं। विषय के सीमित होने पर भी दृष्टिकोण की कुछ न कुछ विशेषता या उक्ति की नवीनता प्रायः उनके प्रत्येक पद में मिलती है; साथ ही शब्दावली भी सभी पदों में एक सी नहीं है। नये पद, नयी तुक, नया दृष्टिकोण—इन सब नवीनताओं के कारण विषय की समानता रहने पर भी पाठक का मन नहीं ऊबता। यह ठीक है कि प्रत्येक कवि की शब्द-सूची निश्चित रहती है; किसी भी विषय पर रचना करते समय वह उसी में से शब्द चुनता है और इस प्रकार एक ही शब्द सैकड़ों बार प्रयुक्त होता है; परंतु नवीन वातावरण में नये शब्दों के साहचर्य से पाठक को उसकी आवृत्ति खटकती नहीं; कभी कभी तो रुचिकर ही प्रतीत होती है। सूरदास ने भी प्रायः सर्वत्र ऐसा ही किया है। फिर भी प्रयत्न करने पर अपवादस्वरूप ऐसे पद उनके काव्य में मिल जाते हैं जिनमें शब्द-विशेष को ही नहीं, तीन तीन चार चार शब्दों के वाक्यांशों या उपवाक्यों को ही कवि ने दोहरा दिया है। उदाहरणार्थ प्रथम स्कंध के एक पद में यह पंक्ति मिलती है—

कामी, कृपिन, कुचील, कुदरसन को न कृपा करि तार्‌यौ[५३]।

दस पदों के बाद ही इस पंक्ति के तीन विशेषण इसी क्रम से दोहरा दिये गये हैं —

कामी, कुटिल, कुचील, कुदरसन अपराधी मतिहीन[५४]।

चौदह पदों के बाद इनमें से तीन विशेषण फिर दोहराये गये हैं—

हौं तो कुटिल, कुचील कुदरसन[५५]।

नब्बे पदों के बाद फिर सबकी आवृत्ति है—

कपटी कृपन कुचील कुदरसन दिन उठि बिषय बासना बानत[५६]।

इस शब्द-समूह की आवृत्ति एक कारण से बहुत खटकती है और वह है विषय की एकता। संभव है अन्य प्रसंग में इसी क्रम में प्रयुक्त होने पर भी ये शब्द इतना न खटकते, क्योंकि नये विषय में दृष्टिकोण भी थोड़ा-बहुत अवश्य भिन्न हो जाता। इसी प्रकार प्रथम स्कन्ध के एक पद में युधिष्ठिर अर्जुन से पूछते हैं—

राजा कह्यौ, **कहा भयौ तोहिं, तू क्यौं कहि न सुनावै मोहिं**[५७]।

लगभग इन्हीं शब्दों को शृंगी ऋषि के पिता अपने पुत्र से दोहराते हैं—

सुत सौं कह्यौ, **कहा भयौ तोहिं। क्यौं न सुनावत निज दुख मोहिं**[५८]।

कुछ पदों में निम्नलिखित उपवाक्य या वाक्य भी ज्यों के त्यों दोहराये गये हैं—

१. अ. तुम **सम द्वितिया और न कोई**[५९]।

---

५३. सा. १-१०१। ५४. सा. १-१११। ५५. सा. १-१२५। ५६. सा. १-२१७।
५७. सा. १-२८६। ५८. सा. १-२९०। ५९. सा. २-३५।

आ. ता **सम द्वितिया** और न कोइ[६०]।

इ. तातैं द्वितिया और न कोई[६१]।

२. अ. **सौ** बातनि की एकै बात[६२]।

आ. **सौ** बातनि की एकै बात[६३]।

३. अ. **कोउ न** आवत नेरे[६४]।

आ. **कोउ न** आवत नेरे[६५]।

अ. मेरौ कह्यौ **मानि करि** लीजै[६६]।

आ. मेरौ बचन **मानि करि** लेहु[६७]।

जैसे वाक्य थोड़े-बहुत अंतर के साथ कहीं कहीं एक ही पद में मिल जाते हैं।

आवृत्ति-संबंधी ऊपर दिये गये अधिकांश उदाहरण पौराणिक प्रसंगों के हैं जिनमें कवि ने विशेष रुचि नहीं ली है। परंतु जो विषय कवि को विशेष प्रिय है उससे संबंधित पदों में ऐसी आवृत्ति न मिलती हो, सो बात भी नहीं है। नीचे लिखे उदाहरण इस कथन की पुष्टि करते हैं—

१. अ. **कापर नैन** चढ़ाए डोलति ब्रज मैं **तिनुका तोर**[६८]।

आ. **कापर नैन** चलावति आवति, जाति न **तिनका तोर**[६९]।

२. अ. **मंदमंद** मुसुक्यानि मनौ घन, **दामिनि दुरि दुरि देति दिखाई**[७०]।

आ. बिकसत बदन दसन अति चमकत, **दामिनि दुरि दुरि देति दिखाई**[७१]।

३. अ. **चमकि चमकि चपला चकचौंधति,** स्याम कहत मन धीर[७२]।

आ. **चपला चमकि चमकि चकचौंधति,** करति सब्द आघात[७३]।

३. **क्रिया-दोष**—दो-एक वाक्यों में सूरदास के क्रिया-प्रयोग बिलकुल कथावाचकों के ढंग पर हैं; जैसे—

तब नारद गिरिजा पै गए। तिनसौं या बिधि **पूछत भए**[७४]।

इस वाक्य का 'पूछत भए' क्रियारूप काव्यभाषा के उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

४. **संबोधनों में मर्यादोल्लंघन**—माता, पिता, सास, श्वसुर, पति आदि गुरुजन का नाम लेना हमारे समाज में अनुचित समझा जाता है। कहीं कहीं सूरदास यह बात भुला बैठे हैं; जैसे—

१. रामहिं राखौ कोऊ जाइ।

जब लगि भरत अजोध्या आवैं, कहति कौसिला माइ।

६०. सा. ६-४। ६१. सा. ८-२। ६२. सा. ५-२। ६३. सा. ७२। ६४. सा. १-७९। ६५. सा. १-८५। ६६. सा. ४-५। ६७. सा. ४-५। ६८. सा. १०-३१०। ६९. सा. १०-३२०। ७०. सा. ६१६। ७१. सा. ६११। ७२. सा. ८७४। ७३. सा. ८७७। ७४. सा. १-२२६।

पठवौ दूत भरत कौं ल्यावन, बचन कह्यौ बिलखाइ।
दसरथ बचन राम बन गवने, यह कहियौ अस्थाइ[७५]।

२. भरत कह्यौ, तैं **कैकई** कुमंत्र कियौ[७६]।

३. लोटति धरनि परी सुनि सीता, समुझति नहिं समुझाइ।
....

दुरलभ भयौ दरस **दसरथ** कौ, सो अपराध हमारे[७७]।

४. बंधू करियौ राज सँभारे।
....

कौसल्या, कैकई, सुमित्रा दरसन साँझ सबारे[७८]।

५. जननी, हौं रघुनाथ पठायौ।
रामचंद्र आए की तुमकौं देन बधाई आयौ[७९]।

इन वाक्यों में कौशल्या, पति 'दशरथ' का; भरत, माता 'कैकेयी' का; सीता, श्वसुर 'दशरथ का; राम, माता कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा का; और हनुमान, स्वामी 'रामचंद्र' का नाम लेते हैं। ये संबोधन निश्चय ही खटकते हैं।

५. **तुक-दोष**—कुछ पदों में सूरदास ने तुक का भी उचित निर्वाह नहीं किया है, यद्यपि ऐसे स्थलों की संख्या है बहुत कम; जैसे—

१. जब लगि भजै न चरन **मुरारि**। तब लगि होइ न भव जल **पार**[८०]।

२. तृन दसननि लै मिलि दसकंधर, कंठनि मेलि **पगा**।
सूरदास प्रभु रघुपति आए, दहपट होइ **लँका**[८१]।

३. आवन आवन कहि गए ऊधौ, करि गए हम सौं **छल**।
हृदय की प्रीति स्याम जू जानत, कितिक दूरि **गोकुल**[८२]।

४. मधुकर देखौ स्याम **दसा**।
इती बात तुमसौं कहियत हैं, जौ तुम स्याम **सखा**।
जे कारे ते सबै कुटिल हैं, मृतकनि के जो **हता**।
तुम बिरहिनी बिरह दुख जानत, कहियौ गूढ़ **कथा**[८३]।

'मुरारि पार', 'पगा-लँका', 'छल-गोकुल', और 'दसा-सखा-हता-कथा' प्रयोगों का तुक दोष वास्तव में खटकता है।

६. **विकृत रूप**—शब्दों का रूप विकृत करने की थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता कवियों को रहती है; परन्तु शब्द का विकृत रूप, मूल से इतना भिन्न नहीं हो जाना चाहिए कि

७५. सा. ९-४७। ७६. सा. ९-४८। ७७. सा. ९-५२।
७८. सा. ९-५४। ७९. सा. ९-८७। ८०. सा. ५-४। ८१. सा. ९-११४।
८२. सा. ३८२९। ८३. सा. ३९५५।

सहज ही पहचाना न जा सके। सूरदास ने यद्यपि इस बात का ध्यान रखा है; फिर भी उनके कुछ विकृत शब्द, मूल रूप से भिन्न हो गये हैं कि दूसरे भिन्नार्थक शब्द का भ्रम होता है। ऐसे रूप कहीं तो तुकांत के लिए गढ़े गये हैं और कहीं, चरण के बीच, अनुप्रास की संगति मिलाने अथवा मात्रा-पूर्ति के लिए।

ख. **तुकांत के लिए विकृत रूप**—ऐसे रूपों की संख्या सौ से भी अधिक है; जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. राजसूय मैं चरन पखारे स्याम लिए कर **पानौ**[८४]।
२. जूठनि की कछु संक न मानी, भच्छ किए सत **भाई**[८५]।
३. भयौ सुरुचि तैं उत्तम **क्वार**[८६]।
४. एक गाउँ कैं बसत कहाँ लौं करैं नंद की **कानी**[८७]।
५. मथनहारि सब ग्वारि बुलाईं भोर भयौ उठि मथौ **दह्यौ**[८८]।
६. सूर स्याम मुख कपट, हृदय रति, जुवतिनि कैं अति **भर्म**[८९]।
७. सुनि सूरदासहिं भयौ अनंद, पूजी मन की **साधिका**[९०]।

उक्त उदाहरणों में प्रयुक्त 'पानौ' = पानी, 'भाई' = भाव, 'क्वार' = कुमार, 'कानी' = कानि = लज्जा, 'दह्यौ' = दही, 'भर्म' = भ्रम, 'साधिका' = साध = कामना शब्द तुकांत के लिए विकृत किये गये हैं। इनमें से कुछ रूपों से दूसरे अर्थों यथा पाणि = हाथ, भ्राता, क्वार मास, एक आँख की, जलाया, साधना करनेवाली—का भ्रम होता है। 'भर्म' रूप भी मूल से दूर हो गया है।

ख. **अनुप्रास, पाद-पूर्ति आदि के लिए विकृत रूप**—इस वर्ग के रूपों की संख्या भी पर्याप्त है। इनमें से अधिकांश तो स्पष्ट हैं; परंतु दो-चार खटकते भी हैं; जैसे -

१. भू **भर** हरन प्रगट तुम भूतल, गावत संत समाज[९१]।
२. बहुरि करि कोप हल अग्र पर **नग्र** धरि, गंग मैं डारि चाहत डुबायौ[९२]।
३. सूरदास **लछि** दई कृपा करि टारी निधि न टरै[९३]।

इन वाक्यों में 'भर', 'नग्र' और 'लछि' क्रमशः 'भार', 'नगर' और लक्ष्मी' के विकृत रूप हैं। इनके मूल का पता पूरी पंक्ति पढ़ने पर लगता है।

७. **अशुद्ध प्रयोग**—तुकांत-निर्वाह के लिए सूरदास ने व्याकरण के नियमों की भी उपेक्षा की है। व्रजभाषा काल-रचना में अधिकांश क्रियाएँ दोनों लिंगों में समान रूप से व्यवहृत होती हैं; परंतु 'तकारांत' पुल्लिग रूप स्त्रीलिंग में 'तिकारांत' हो जाते हैं। सूरदास ने इस नियम का निर्वाह प्रायः सर्वत्र किया है; केवल तुकांत के लिए दो चार स्थलों पर इसका उल्लंघन किया गया है; जैसे—

८४. सा. १-११। ८५. सा. १-१३। ८६. सा. ४-९।
८७. सा. १०-३११। ८८. सा. ५२०। ८९. सा. १०३२। ९०. सा. १०७२।
९१. सा. १-२१५। ९२. सा. ४२०९। ९३. सा. ४२४२।

जैसैं तृषावंत जल अँचवत, वह तौ पुनि **ठहरात**।
यह राधा आतुर छबि लै उर **धारति** नैंकु नहीं **तृपितात**[१४]।

इस उदाहरण में राधा स्त्रीलिंग के साथ एक स्थान पर तो सूरदास ने 'धारत' पुल्लिग क्रिया के स्त्रीलिंग-रूप 'धारति' का प्रयोग किया है; परंतु चरणांत में 'ठहरात' की तुक निभाने के लिए राधा के लिए ही पुल्लिग रूप 'तृपितात' ही चलने दिया है। यही बात नीचे के उदाहरण में भी देखने को मिलती है—

भीजत कुंजनि मैं दोउ नागर नागरि आवत।
....
वै हँसि ओट करत पीतांबर, ये चूनरी उढ़ावत[१५]।

यहाँ 'नागरि' के साथ 'उढ़ावत' क्रिया पुल्लिग रूप में प्रयुक्त हुई है; क्योंकि तुक का निर्वाह इसी रूप से हो सकता था।

सूर-काव्य के भाषा-संबंधी दोषों की जो विवेचना ऊपर की गयी है, उसके संबंध में एक बात यह कही जा सकती है कि कवि, विशेषतः गीतिकार, को इनमें से बहुत सी बातों की स्वतंत्रता रहती है और प्रायः सभी कवियों ने इससे लाभ उठाकर ऐसे प्रयोग किये हैं। दूसरी बात यह है कि कवि को स्वयं संशोधन-परिवर्द्धन का अवसर न मिलने के कारण भी कुछ दोष उसकी भाषा में रह जाना संभव है; अन्यथा उनमें से अधिकांश इतने सामान्य हैं कि उनका सुधार बहुत सरलता से किया जा सकता था। तीसरे, लिपिकारों और संपादकों का सूर की भाषा को दोषयुक्त बनाने में कितना हाथ रहा है, इसके जानने का यद्यपि कोई साधन हमारे पास नहीं है, फिर भी सहस्रों पदों की सुसंगठित और प्रवाहपूर्ण भाषा देखकर यह अनुमान स्वभावतः होता है कि सामान्य दोषों की संख्या बढ़ाने का कुछ न कुछ दायित्व उन पर अवश्य है। जो हो, इन दोषों में से अधिकांश उन प्रसंगों पर लिखे गये पदों में मिलते हैं जिनमें कवि ने विशेष रुचि नहीं ली, जो कला की दृष्टि से सामान्य और शिथिल हैं एवं सूर-काव्य में जिनके रहने से कवि का महत्व घटता ही है, बढ़ता नहीं। काव्य-कला की दृष्टि से सूर काव्य का जो महत्वपूर्ण अंश है, उसमें ऐसे दोषों की संख्या एक तो अपेक्षाकृत कम है; दूसरे, अन्य विशेषताओं के कारण खटकनेवाली सामान्य बातों की ओर पाठक का ध्यान प्रायः जाता भी नहीं। हिंदी-जगत में कवि की ख्याति का कारण उसके काव्य का यही भाग है। अतएव इसकी काव्यभाषा अपने गुणों के कारण सदैव समादृत रहेगी।

---

१४. सा. २१२१। १५. सा. १९९२।

६. सांस्कृतिक दृष्टि से सूर की भाषा का महत्व

सूर और समकालीन समाज—कवि या लेखक समाज से कितना ही उदासीन क्यों न हो, अपने युग की संस्कृति और सामाजिक विचारधारा के संबंध में कुछ न कुछ संकेत वह अपनी रचनाओं में कर ही देता है। यह ठीक है कि काव्य में ऐसा सामयिक चित्रण सांगोपांग नहीं हो सकता और गीतिकाव्य में तो इसके लिए और भी कम अवकाश रहता है, परंतु धर्म-प्राण देश की जनता के अत्यंत प्रिय आराध्य की लोक-लीला को कवि सूर ने जब अपनी रचना का विषय बनाया, तब अपने समय की सांस्कृतिक स्थिति का परिचय कराने का अवसर उसको स्वभावतः मिल गया। विभिन्न वर्गों के आचार-विचार, नियम-सिद्धांत, निष्ठा-विश्वास, धर्म और कला-संबंधी उनकी मान्यताएँ, समाज में प्रचलित रीतियाँ-नीतियाँ आदि विषयों से संबंधित सूरदास की शब्दावली का संकलन करने पर हमें तत्कालीन जन-जीवन का अच्छा परिचय मिल जाता है।

सूरदास ने गोकुल-वृंदावन के ग्राम्य जीवन के चित्रण में जितनी रुचि दिखायी है, उतनी नागरिक जीवन का परिचय देने में नहीं। अयोध्या, मथुरा और द्वारका—प्राचीन भारत के इन तीन प्रमुख नगरों से संबद्ध अपने आराध्य की कथाएँ उसने गौण रूप में अपनायी हैं। इनमें से अयोध्या का तो उसने, एक प्रकार से नाम भर लिया है; मथुरा के राजमार्ग पर अपने इष्टदेव के साथ वह कुछ समय के लिए घूमा है और द्वारका में वासुदेव कृष्ण के ऐश्वर्य-वर्णन में भी उसकी रुचि कम ही रमी है। अतएव नागरिक जीवन-संबंधी उसके संकेत बहुत सामान्य हैं। हाँ, इन नगरों की वास्तुकला और वैभव-संपन्नता का वर्णन अवश्य उसने कुछ विस्तार से किया है।

सूर काव्य में प्राप्त तत्कालीन सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने-वाली शब्दावली आगे के पृष्ठों में संकलित है जिससे कवि के तद्विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान हो सके। सुविधा के लिए ऐसे शब्द-समूह को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—वातावरण-परिचायक शब्द, सामान्य जीवन-चर्या-संबंधी शब्द और सांस्कृतिक जीवन-चर्या-संबंधी शब्द।

क्ष. **वातावरण-परिचायक शब्द**—सूरदास ने श्रीकृष्ण की उन लीलाओं का ही विशेष रूप से वर्णन किया है जो उन्होंने गोकुल और वृंदावन के गोपों-गोपिकाओं के बीच में की थीं। गो-पालन, गैयों की सेवा करना, वन वन जाकर उनको चराना, उनसे प्राप्त दूध-दही को या उससे बनाये दही-माखन को निकटवर्ती मथुरा नगर में जाकर बेचना—ये ही उन गोप-गोपियों के दैनिक कार्य थे। उनका सारा समय प्रकृति के बीच ही बीतता था। उनका पारिवारिक और सामाजिक जीवन सुखी था। मथुरा

कें राजा से उनका संबंध इतना ही था कि वे वर्ष में एक-दो बार जाकर कर दे आते थे। जीवन के इन सब अंगों के परिचायक जो वातावरण-सूचक शब्द सूर-काव्य में मिलते हैं, स्थूल रूप से, उनको चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक।

क. भौगोलिक वातावरण-परिचायक शब्द—सूरदास ने जिन कीट-पतंगों, छुद्र जंतुओं, जलचरों, पक्षियों, पशुओं, पेड़-पौधों, फलों और फूलों की चर्चा की है, उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—

अ. **कीट-पतंग तथा छुद्र जंतु**—अलि[91] (= चंचरीक[92], छपद[93], भँवर[94], मधुकर[95], मधुप[96], षटपद[97]), अहि[98] (= उरग[99], नाग[1], व्याल[2], भुअंग[3]), खद्योत[4], झिली[5], दादुर[6], पिपीलिका[7], भृंगी[8] और मूसा[9]।

आ **जलचर**—कच्छप[10], कमठ[11], ग्राह[12], नक्र[13], मकर[14] या मगर[15] और मीन[16]।

इ. **पक्षी**—उलूक[17], कपोत[18] या पारावत[19], काग[20] या बायस[21], कीर[22], (= सुक[23], सुवटा[24], सुवा[25]), कुलाल[26], केकी[27] (= मयूर[28], मोर[29]), कोक[30] (= चक्रवाक[31], चकवा[32]), कोकिल[33] (= कोकिला[34], पिक[35]), खंजन[36] या खंजरीट[37], गरुड़[38], गीध[39], चातक[40], (= पपीहरा[41], पपीहा[42]), चकोर[43], तमचुर[44], बग[45], भरुही[46], मराल[47], हंस[48], लालमुनैयाँ[49], सचान[50], सारस[51] और सारिका[52]।

---

९१. सा. ३५९९। ९२. सा. १०.२०५। ९३. सा. ३५९४। ९४. सा. २८५३।
९५. सा. ३५०३। ९६. सा. १०-२०७। ९७. सा. ३६०४। ९८. सा. ११५८।
९९. सा. ५७३। १. सा. ३२६०। २. सा. ४१४१। ३. सा. ७४३।
४. सा. ९५०। ५. सा. २८५३। ६. सा. ३३१३। ७. सा. १-१५२।
८. सा. १-३३९। ९. सा. २-१४। १०. सा. २-५८। ११. सा. १-०२२१।
१२. सा. १-९९। १३. सा. १-१०९। १४. सा. ६२७।
१५. सा. ९७६। १६. सा. १.३३७। १७. सा. १९२४।
१८. सा. ७३९। १९. सा. ४१६५। २०. सा. ३१५२।
२१. सा. ४२७६। २२. सा. ७३९। २३. सा. १०४९। २४. सा. २-२६।
२५. सा. १-३४०। २६. सा. २-९। २७. सा. २८५३। २८. सा. ४१०५।
२९. सा. ६१५। ३०. सा. २८५३। ३१. सा. १०-४९। ३२. सा. ३३३२।
३३. सा. ६२२। ३४. सा. २८५३। ३५. सा. ६१५। ३६. सा. २६६७।
३७. सा. ११९७। ३८. सा. ५७३। ३९. सा. ९-६०। ४०. सा. १०-२१८।
४१. सा. २८३०। ४२. सा. ६२२। ४३. सा. १-२९९। ४४. सा. १०-२०२।
४५. सा. ३३२४। ४६. सा. ४१६९। ४७. सा. १०९१। ४८. सा. १-३३७।
४९. सा. १०-२४। ५०. सा. १-९७। ५१. सा. १०४९। ५२. सा. ३३६४।

ई. **पशु** – अज[५३], अजा[५४], ऊँट[५५], कपि[५६] (= बानर[५७], मरकट[५८]), करिनि[५९] या गजिनी[६०], कुरंग[६१], मिरग[६२] (= मृग[६३], मृगा[६४]), हरिनि[६५] कूकर[६६] या स्वान[६७], केहरि[६८] या सिंह[६९], खर[७०] या गर्दभ[७१], कुंजर[७२] (= गज[७३], गयंद[७४], गय[७५], न.ग[७६], हाथी[७७], गाय[७८] (= गो[७९], धेनु[८०], सुरभी[८१]), जंबुक[८२] (= सृगाल[८३], सियार[८४], स्यार[८५]), तुरंग[८६] (= तुरग[८७], तुरय[८८], हय[८९]), बछरा[९०], बराह[९१] (= बाराह[९२], सूकर[९३]), बसह[९४], (= बैल[९५], बृष[९६], बृषभ[९७]) बिलाव[९८], बृक[९९], भैंसौ[१], मंजार[२], महिष[३], मेढ़ा[४], रिच्छ[५], लंगूर[६], ससा[७]।

उ. **पेड़-पौधे** असोक[८], आम[९] या रसाल[१०], कदंब[११], कदली[१२], करबीर[१३], कुंद[१४], कोबिद[१५], ढाक[१६], तमाल[१७], ताल[१८], तुलसी[१९], नीप[२०], नीम[२१], पलास[२२], पीपर[२३], बदरी[२४], बट[२५], मलय[२६], सिवारि[२७] या सेवार[२८], लवँग लता[२९]।

ऊ. **फल** – अंब[३०] (= अँबुआ[३१], रसाल[३२]), ककरी[३३], खीरा[३४],

---

५३, सा. ४-५। ५४. सा. १-१६६। ५५. सा २-१४। ५६ सा. ९-१६६।
५७. सा. ९-७५। ५८. सा. ४१६९। ५९. सा. २८६२। ६०. सा २९११।
६१. सा. २२८०। ६२ सा. १-२२१। ६३. सा. १-४९। ६४. सा. ९-६०।
६५. सा. ६१५ ६६. सा २-१४। ६७. सा. ३७३०। ६८. सा ९-६३।
६९. सा. १५५१। ७०. सा. १-३३२। ७१. सा १-१६४।
७२. सा. १-१८३। ७३. सा. ५८९। ७४. सा. ६१८। ७५. सा. १५५१।
७६. सा १-२८६. ७७. सा. ३६०४। ७८. सा. १-५१। ७९. सा. १०-२०२।
८०. सा. ६११। ८१. सा. ६२०। ८२ सा. ४१६९। ८३. सा ९.१५८।
८४. सा. १-४१। ८५. सा. १-२८६। ८६. सा. १५५०। ८७. सा. १-२८६।
८८. सा. १५४९। ८९. सा. १५५१। ९०. सा. ६१९। ९१. सा. ६१५।
९२. सा. १०-२२१। ९३. सा. २-१६। ९४. सा. ९७६। ९५. सा. १-३३१।
९६. सा. २-१४। ९७. सा. १-२८६। ९८. सा. २-१४। ९९. सा. १-२०१।
१. सा. २-१४। २. सा. १६१८। ३. सा. ९७६। ४. सा. ९७६।
५. सा. ९-७५। ६. सा. ९-९६। ७. सा. ४२०५। ८. सा. ९-७५।
९. सा. ९२४। १०. सा. २८४९। ११. सा. ७८५। १२. सा. १०९१।
१३. सा. १०९१। १४. सा. ३३१४। १५. सा. ३३१४। १६. सा. ९-४२।
१७. सा. ६८८। १८. सा. १०९१। १९. सा. १०९१। २० सा. ७८४।
२१. सा. ९२४। २२. सा. २८५३। २३. सा. १४८८। २४. सा. १०९१।
२५ सा. १०९१। २६. सा. १०९१। २७. सा. १-९९। २८. सा. ४१८३।
२९. सा. ३३१४। ३०. सा. २९१७। ३१. सा. २८५४। ३२. सा. २८४९।
३३. सा. ३२९६। ३४. सा. ४०४१।

दाड़िम [३५], निबुआ [३६], श्रीफल [३७]।

ए. **फूल**—अंबुज [३८] (=इंदीवर [३९], कंज [४०], कमल [४१], कुसेसय [४२], जलज [४३], जलजात [४४], तामरस [४५], पुष्कर [४६], बारिज [४७], राजिव [४८], राजीव [४९], सतदल [५०], सरोज [५१]), अतिसी [५२], कदंब [५३], कनिआरी [५४], कनीर [५५], कनेल [५६], करना [५७], कुंद [५८], कुमुद [५९], कुमुदिनि [६०], कूजा [६१], केतकि [६२] या केतकी [६३], केवरा [६४], चंपक [६५], चमेलि [६६] या चमेली [६७], जूही [६८], टेसू [६९], निवारी [७०], पाटल [७१], बंधूक [७२], बकुल [७३], बेला [७४], मरुआ [७५] या मरुवौ [७६], माधवी [७७], मालती [७८], मोगरी [७९], सेमर [८०] और सेवती [८१]।

कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों और फल-फूलों आदि के साथ साथ इनके प्रमुख अंगों-उपांगों या उनसे संबंधित अन्य पदार्थों की भी चर्चा सूरदास ने यत्र-तत्र की है। सम्मिलित रूप से यह सूची इस प्रकार है—अंकुर [८२], अंकुस [८३], अंडा [८४], किंजल्क [८५], केंचुरि [८६], चोंच [८७], थन [८८], पंख [८९], पराग [९०], मकरंद [९१], परिमल [९२], पल्लव [९३], पाँखि [९४], पिंजरा [९५], भुस [९६], मंजरी [९७], मृनाल [९८], साँकर [९९], सुंडि [१], सृंग [२] और सौरभ [३]।

---

३५. सा. ९-६३। ३६. सा. २९१७। ३७. सा. २८५४।
३८. सा. ११५९। ३९. सा. १८११। ४०. सा. १०-२१८।
४१. सा. १०-२०२। ४२. सा. १८११। ४३. सा. १०४९। ४४. सा. २८६३।
४५. सा. २७८९। ४६. सा. ५५४। ४७. सा. २८७५। ४८. सा. १८१३।
४९. सा. १८११। ५० सा. १८१३। ५१ सा. २८७५। ५२. सा ११५९।
५३. सा. १०९?। ५४. सा. १०९५। ५५. सा. २९०३। ५६. सा. २९१७।
५७. सा. १०९५। ५८. सा. १०९१। ५९. सा. १०-२०२। ६०. सा. १०९१।
६१. सा. १०९५। ६२. सा. २९०३। ६३ सा. २९१७। ६४. सा. २९११।
६५. सा. १०७६। ६६. सा. २९१७। ६७. सा. १०९५। ६८. सा. १०९५।
६९. सा. २८५४। ७०. सा. ३३१४। ७१. सा. २८४४। ७२. सा. ११९७।
७३. सा. १०९१। ७४. सा. ३३१४। ७५. सा. १०९५। ७६. सा. २९०३।
७७. सा. २९०३। ७८. सा. १०९१। ७९. सा. ३३१४।
८०. सा. १-१००। ८१. सा १०९५। ८२. सा. ११६१।
८३. सा. ४०३७। ८४. सा. ४१५९। ८५. सा. १-३२९।
८६. सा. ११५८। ८७. सा. ९-१६। ८८. सा. ६१६। ८९. सा. ९-६०।
९०. सा. २८५३। ९१. सा. ११५९। ९२. सा. २८५४। ९३. सा. २८४८।
९४. सा. ९-१६४। ९५. सा. १०-२४। ९६. सा. १-३३१। ९७. सा. २८५३।
९८. सा. ११९७। ९९. सा. ४०३७। १. सा. २६१०। २. सा. १-३३१।
३. सा. २-२६।

इनके अतिरिक्त ग्राम और नगर के जिन भागों में मनुष्य वास और विचरण करता है, अथवा जिनसे किसी अन्य प्रकार से संबंधित है उनकी सूची भी सूर-काव्य में मिलती है। ऐसे स्थानों में कुछ मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और कुछ प्रकृति द्वारा; जैसे—

अखारा[४], अटा[५] या अटारी[६], अवास[७], आस्रम[८], उपवन[९], कँगूरनि[१०], कुंज[११], कूप[१२], कोट[१३], खाई[१४] खोह[१५], गुफा[१६], गुहा[१७], घाट[१८], छीलर[१९], डोंगर[२०], दह[२१], देहरी[२२], नगपति[२३], नदी[२४], सरिता[२५], परबत[२६], पुलिन[२७], फुलवारी[२८], बजार[२९], वन[३०], बस्ती[३१], बाइ[३२] या बापी[३३], बाग[३४], बापिका[३५], बारी[३६], बिपिन[३७], बीथी[३८], भवन[३९], मठ[४०], महल[४१], सदन[४२], सभा[४३], सरवर[४३], सरितापति[४५] (=उदधि[४६], सागर[४७], सिंधु[४८]), सेतु[४९], हाट[५०]।

ख. **पारिवारिक वातावरण-परिचायक शब्द**—अग्रज[५१] या दाऊ[५२], अर्धंगी[५३], (=धरनी[५४], तिया[५५], तिरिया[५६], त्रिय[५७], दारा[५८], पत्नी[५९], बनिता[६०], बाम[६१], भामिनी)[६२], अली[६३] (सखी[६४], सजनी[६५], सहेलरी[६६], सहेली)[६७], कंत[६८] (=पति[६९], पिय[७०]) गुरु भगिनी[७१], जननी[७२] (महतारी[७३] मा[७४], माई[७५], मात[७६], माता[७७], मातु[७८], मैया[७९]) जमाता[८०], जार[८१], जेठी[८२],

---

४. सा. ९-४ । ५. सा. ३७८१ । ६. सा. ९-१०० । ७. सा. ९-८३ ।
८. सा. १८९३ । ९. सा. १०-७८ । १०. सा. ३०२० । ११. सा. २८५३ ।
१२. सा. ९-९६ । १३. सा. ४२६२ । १४. सा. ४२६२ । १५. सा. ३५३९ ।
१६. सा. १६१८ । १६. सा. ४०७६ । १८. सा. २८७४ । १९. सा. १-१६६ ।
२०. सा. ९२५ । २१. सा. ५३९ । २२. सा. १०-१३५ । २३. सा. ९-९६ ।
२४. सा. १०-३२ । २५. सा. २८३० । २६. सा. १०-३२ । २७. सा. २८३० ।
२८ सा. २८६४ । २९. सा. १०-२८ । ३०. सा. ४१६५ । ३१. सा. ३५७९ ।
३२. सा. ९-९६ । ३३. सा. १-१४० । ३४. सा. ९-९१ । ३५. सा. १०-२०५ ।
३६. सा. ९-६० । ३७. सा. २८५३ । ३८ सा. २८५३ । ३९. सा. ९-४९ ।
४०. सा. ९-६६ । ४५. सा. ३०२० । ४२. सा. ९-५३ । ४३. सा. ९-१६६ ।
४४. सा. ९-९६ । ४५. सा. ९-१०४ । ४६. सा. २८३० । ४७. सा. १-११६ ।
४८. सा. ५४५ । ४९. सा. ९-१२४ । ५०. सा. १०-२८ । ५१ सा. ३४६५ ।
५२. सा. ७५२ । ५३. सा. ४२३० । ५४. सा. ९-७३ । ५५. सा. ८०० ।
५६. सा. ३२७३ । ५७. सा. ५६९ ५८. सा. १६१८ । ५९. सा. ९-१२४ ।
६०. सा. १-५० । ६१. सा. ९-४० । ६२. सा. ९-११९ । ६३. सा. १०-२४ ।
६४. सा. ९-४४ । ६५. सा. ९-४४ । ६६. सा. १०-४० । ६७. सा. ९.९४ ।
६८. सा. २८५१ । ६९. सा. १८७२ । ७०. सा. ९-४४ । ७१. सा. ९-१३७ ।
७२. सा. ९-५३ । ७३. सा १०-११ । ७४. सा. ५९५ । ७५. सा. ९-८१ ।
७६. सा. १०-२११ । ७७. सा. ९-४९ । ७८. सा. ९-९४ । ७९. सा. १०-१०१ ।
८०. सा. ९-२७ । ८१. सा. १६१८ । ८२. सा. ४२०५ ।

डिंभ[८३], ढोटा[८४] (छोहरा[८५], पुत्र[८६], पूत[८७], बालक[८८], लरिका[८९], सुत[९०]), तनया[९१], दंपति[९२], दास[९३] (=भृत्य[९४], सेवक[९५]), दासी[९६] या लौंडी[९७], देवर[९८], ननद[९९] या ननदी[१], ठाकुर[२], (=नाथ[३], स्वामी[४]) नानी[५], परदेसिनि[६], पास परोसिनै[७], पाहुनी[८], पिता[९] (=पितु[१०], बाप[११]), प्यौसार[१२], बंधु[१३] या बंधू[१४], भाई[१५] (=भैया[१६], भ्रात[१७]), बधू[१८], भगिनी[१९] या भैंनी[२०], मेहमान[२१], संतान[२२], सखा[२३], सजन[२४], समधी[२५], ससुर[२६], सहोदर[२७], सास[२८] या सासु[२९], सौति[३०], स्वामिनी[३१]।

इनके अतिरिक्त 'गुसाईं' शब्द का प्रयोग 'सूरसागर' के एक पद में पिता के लिए आदरसूचक संबोधन के रूप में किया गया है—

होहु बिदा घर जाहु गुसाईं, माने रहियौ नात।
धकधकात हिय बहुत सूर उठि चले नंद पछितात।[३२]

'तात' या 'ताता' का प्रयोग तो सूरदास ने पिता, पुत्र और प्रभु, तीनों अर्थों में किया है; जैसे—

१. **तात** (=पिता) बचन रघुनाथ माथ धरि जब बन गौन कियौ[३३]।
२. सूनौ भवन सिंहासन सूनौ, नाहीं दसरथ **ताता** (=पिता[३४])।
३. चौदह बरष **तात** (=पिता) की आज्ञा मोपै मेटि न जाई[३५]।
४. मिले हनु, पूछी प्रभु यह बात।
महा मधुर प्रिय बानी बोलत, साखामृग तुम किहिं के **तात** (=पुत्र)[३६]।
५. कहत नंद, जसुमति सुनि बात।

---

८३. सा. १०-११७। ८४. सा. १०-३२। ८५. सा. १६१८।
८६. सा. ९-१५१। ८७. सा. १०-३२। ८८ सा. ९-४६।
८९. सा. १०-२२०। ९०. सा. १-५०। ९१. सा. २८३५।
९२. सा. २८५१। ९३. सा. १०-२१८। ९४. सा. १०-२०५। ९५. सा. ३३१४।
९६. सा. ९ ७९। ९७. सा. ३६५२। ९८. सा. ९-३४। ९९. सा. १९२१।
१. सा. १९१६। २. सा. ९-१५४। ३. सा. ९-१५१। ४. सा. १-१४८।
५. सा. ३४४२। ६. सा. ९-७४। ७. सा. १०-४०। ८. सा. १०-१८२।
९. सा. ९-९४। १०. सा. १-२७५। ११. सा. ३६५०। १२. सा. ९-१२४।
१३. सा १-३३६। १४. सा. ९-५४। १५. सा. ९-५९। १६. सा. १०-२१७।
१७. सा. ९-५२। १८. सा. ९-८१। १९. सा. ९-१७३। २०. सा. १३६०।
२१. सा. ३५१६। २२. सा. १-५०। २३. सा. १०-२१९। २४. सा. १८७२।
२५. सा. १-१५१। २६. सा. ३५६६। २७. सा. १-३३६। २८. सा. १०-२७६।
२९. सा. १०-१३५। ३०. सा. ९-४९। ३१. सा. ९-१५२। ३२. सा. ३१२४।
३३. सा. ९-४६। ३४. सा. ९-४९। ३५. सा. ९-५३। ३६. सा. ९-६९।

अब अपनैं जिय सोच करति कत, जाके त्रिभुवन पति से **तात** (=पुत्र[३७])
६. जानिहौं अब बाने की बात।
मोसौं पतित उधारौं प्रभु जौ, तौ बदिहौं निज **तात** (=प्रभु[३८])।

ग. सामाजिक वातावरण-परिचायक शब्द—अहीर[३९], अहीरि[४०], आभीर[४१], कनधार[४२] (केवट[४३], धींवर[४४], मल्लाह[४५]), कपालिक[४६], कहार[४७], कुलाल[४८], गंधिनि[४९], गढ़ैया[५०], गनिका[५१] या बेस्या[५२], गारुड़ी[५३], चोलिनि[५४], जगा[५५], जमन[५६], जरैया[५७], जाचक[५८], जैनी[५९], जोगिनि[६०], जोगी[६१], ढाढ़िनि-ढाढ़ी[६२], तपसी[६३], दरजिनि[६४], दरजी[६५], दाई[६६], दानव[६७], नट[६८], नाइनि[६९], निसाचर[७०], पसुपति[७१], पारधी[७२], बंदीजन[७३], बटाऊ[७४], बढ़ैया[७५] (=बढ़ई), बारिनि[७६], बैद्य[७७], ब्रह्मचारी[७८], भाट[७९], भिक्षुक[८०], महंत[८१], महावत[८२], मागध[८३], मालिनि[८४], माली[८५], रँगरेजिनि[८६], रजक[८७], राकस[८८], सतगुरु[८९], सुतहार[९०], सुनार[९१], सुनारि[९२], सूत[९३]।

घ. राजनीतिक वातावरण परिचायक शब्द—उजीर[९४], कटक[९५] (=चमू[९६], दल[९७], फौज[९८], सेना[९९] [चतुरँगिनि], सैन[१]), खवास[२], चर[३] (दूत[४], धावन[५]), छरीदार[६], जगाती[७], जसूस[८], जोधा[९] (=भट[१०],

---

३७. सा. ९८६ । ३८. सा. १-१७९ । ३९. सा. ७४० । ४०. सा. ३५४९ ।
४१. सा. ३७६८ । ४२. सा. ९-८९ । ४३. सा. ९-४० । ४४. सा. ९-४२ ।
४५. सा. ३२९६ । ४६. सा. ९-११ । ४७. सा. ५-४ । ४८. सा. ३७८१ ।
४९. सा. १०७५ । ५०. सा. १०-४१ । ५१. सा. २८५३ । ५२. सा. २९१४ ।
५३. सा. ७४६ । ५४. सा. १०७५ । ५५ सा. १०-३९ । ५६. सा. ९-११ ।
५७. सा. १०-४१ । ५८. सा. १०-३० । ५९. सा. ९-११ । ६०. सा. ९-९१ ।
६१. सा. १-३५ । ६२. सा. १०-३१ । ६३. सा. ९-९४ । ६४. सा. १०७५ ।
६५. सा. ३०४७ । ६६. सा. १०-१६ । ६७. सा. ९-१७४ । ६८. सा. २३८९ ।
६९. सा. १०-४० । ७०. सा. ९-९५ । ७१. सा. ९-१६९ । ७२. सा. १-९७ ।
७३. सा. १०-३५ । ७४. सा. ३६७० । ७५. सा. १०-४१ । ७६. सा. १०-१९ ।
७७. सा. ९-३ । ७८. सा. ४०९४ । ७९. सा. १०-२८ । ८०. सा. १०-३५ ।
८१. सा. ४०४५ । ८२. सा. ४०३७ । ८३. सा. १०-२८ । ८४. सा. १०-३२ ।
८५. सा. ९-१०३ । ८६. सा. २४८५ । ८७. सा. ३०४८ । ८८. सा. ९-७९ ।
८९. सा. ४०३७ । ९०. सा. १०-४० । ९१. सा. १०-४१ । ९२. सा. १७७५ ।
९३. सा. १०-२८ । ९४. सा. १-६४ । ९५. सा. ९-१०६ । ९६. सा. ३७६८ ।
९७. सा. ९-१५५ । ९८. सा. १-१४४ । ९९. सा. ३३१३ । १. सा. ९-१३६ ।
२. सा. १-१४१ । ३. सा. २८४७ । ४. सा. १-१४१ । ५. सा. ३३२४ ।
६. सा. १-४० । ७. सा. १५०८ । ८. सा. ४२६७ । ९. सा. ९-१०५ ।
१०. सा. ३३१३ ।

सुभट[११], सूर[१२], सूरमा[१३], द्वारपाल[१४], नकीब[१५], नरपति[१६], (=नृप[१७], नृपति[१८] भुवाल[१९], भुवाला[२०], भूप[२१], भूपति[२२], भूपाल[२३], महीपती[२४]), राई[२५], राजा[२६], रानी[२७], परजा[२८] या प्रजा[२९], पहरुआ[३०], पाटरानी[३१], पायक[३२], पौरिया[३३], प्रतिहार[३४], बन्दी[३५], बनैत[३६] या बानैत[३७], मंत्री[३८], मोदी[३९], रखवारे[४०], रथी[४१], सारथी[४२] या सूत[४३] और सुलतान[४४]।

सूरदास के समकालीन भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण-परिचायक उक्त शब्दों को, सूर-काव्य में इनके प्रयोग की दृष्टि से, स्थूल रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में भौगोलिक, पारिवारिक और सामाजिक वातावरण संबंधी शब्द आते हैं जो सूर-काव्य में सर्वत्र बिखरे मिलते हैं। द्वितीय वर्ग में केवल राजनीतिक वातावरण का परिचय देनेवाले शब्द आते हैं जो 'सूरसागर' के उन पदों में ही मिलते हैं जिनके वर्ण्य विषय की स्पष्टता के लिए सांग रूपकों का आश्रय लिया गया है और जिनकी संख्या बहुत ही कम है। पारिवारिक संबंध और सामाजिक वर्ग यों तो ग्राम और नगर, दोनों में समान रूप से होते हैं; परंतु सूरदास ने इनमें से अधिकांश की चर्चा श्रीकृष्ण की गोकुल-वृंदावन-लीला के साथ ही की है। यही कारण है कि पारिवारिक संबंधों के लिए तत्सम शब्दों का व्यवहार कम किया गया है और सामाजिक वर्गों में भी धनियों, महाजनों, व्यवसयियों आदि की चर्चा सूर-काव्य में नहीं की गयी है। तात्पर्य यह है कि उक्त सूचियों से तत्कालीन ग्राम्य वातावरण का तो मुख्य रूप से और नागरिक वातावरण का केवल गौण रूप से ही परिचय मिलता है।

त्र. **सामान्य जीवनचर्या-संबंधी शब्द**—सूरदास की रचनाओं में लगभग एक सहस्र शब्द ऐसे प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे तत्कालीन जीवन-चर्या का अच्छा परिचय मिलता है। जन-जीवन के जिन अंगों से इनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध है, उनको सात वर्गों में रखा जा सकता है—क. खानपान, ख वस्त्र, ग. आभूषण, घ. व्यवहार की अन्य वस्तुएँ, ङ. मनोविनोद, च. वाणिज्य-व्यवसाय और छ. लोकव्यवहार।

११. सा. ९-९७। १२. सा. १९४२। १३. सा.. २४६१।
१४. सा. १-१४१। १५. सा. १-१४१। १६. सा. ४१८३। १७. सा. ४१८३।
१८. सा. ४१८५। १९. सा. ९-१०५। २०. सा. १०-४। २१. सा. १-४०।
२२. सा. ४१६२। २३. सा. १६१८। २४. सा. २९१३। २५. सा. ९-४४।
२६. सा. १-१४४। २७. सा. १-११। २८. सा. ९-५४। २९. सा. ९-५५।
३०. सा. १८७२। ३१. सा. ३१५०। ३२. सा. १-१४१। ३३. सा. ३२२७।
३४. सा. ४-१२। ३५. सा. ३७६८। ३६. सा. ४१६२। ३७. सा. १-१४१।
३८. सा. ९-४६। ३९ सा. १-१४१। ४०. सा ९-१०५। ४१. सा. ४१६२।
४२. सा. ४१८३। ४३. सा. १-१४१। ४४. सा. १-१४५।

क. **खानपान**—सूर-काव्य में जिन जिन विषयों की सूचियाँ मिलती हैं, उनमें सबसे लंबी सूची भोज्य पदार्थों की हैं। इसके दो प्रमुख कारण जान पड़ते हैं। मुख्य तो यह है कि छप्पन प्रकार के भोजन तैयार करना जब हमारे यहाँ सामान्य मुहावरा रहा है, तब परम आराध्य के भोग के लिए, अपनी विनीत तथा श्रद्धामयी कृतज्ञता प्रकट करते हुए जो पदार्थ उपस्थित किये जाते हैं, उनकी संख्या का पर्याप्त बढ़ जाना नितांत स्वाभाविक ही माना जायगा। पुष्टिमार्गीय 'सेवा' में भोज्य वस्तुओं की संख्या को बहुत अधिक महत्व दिये जाने के मूल में भी संभवतः उक्त मनोवृत्ति ही है।

दूसरा कारण यह है कि प्रति दिन चार बार भगवान् का भोग लगता है और प्रति बार सब नहीं तो कुछ नये व्यंजन अवश्य तैयार किये जाते हैं। इसी प्रकार रोज़ रोज़ के व्यंजनों में, स्वाद और पौष्टिकता, दोनों दृष्टियों से, कुछ न कुछ नवीनता रखनी ही पड़ती है। तीज-त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर तो यह संख्या और भी बढ़ जाती है।

सूरदास ने चार समय के भोजनों की चर्चा अपने काव्य में की है—कलेऊ, दोपहर का भोजन, छाक और सायंकाल का भोजन या 'बियारी'। कलेऊ से तात्पर्य, प्रातःकालीन भोजन से है और 'छाक' दोपहर या तीसरे पहर उन ग्वाल-बालों के लिए भेजी जाती है, जो वन में गाय चराने के लिए जाते हैं। 'छाक' में कौन कौन पदार्थ रहते हैं, इसकी चर्चा सूर-काव्य में विस्तार से नहीं मिलती, शेष तीनों अवसरों से सम्बन्धित व्यंजनों की सूचियाँ सूरदास ने बड़े मनोवेग से प्रस्तुत की हैं। दही, माखन, मेवा, पकवान, मिठाइयाँ आदि पदार्थ तो प्रायः प्रत्येक समय के भोजन में मिलते हैं, परन्तु तरकारियाँ और फल कलेऊ में अधिक नहीं रहते, दोपहर और सायंकाल के भोजनों में इनकी भरमार रहती है।

अ. **कलेऊ**—सूरदास ने कलेऊ का वर्णन यों तो कई पदों में किया है, परन्तु उसके लिए प्रस्तुत भोज्य पदार्थों का पूर्ण ज्ञान केवल चार पदों से हो सकता है। पहले पद[४५] में जिन पदार्थों की चर्चा है, वे हैं -अँदरसे, खजूरी, खिरलाड़ु (लौंग लगे), खुरमा, गालमसूरी, गूझा (पूर भरे), घृत-पूरी, घेवर- (घिरत चभोरे), जलेबी, दधि, दधिबरा, दहिरौरी, दूध (अधावट), दूधबरा, पचकौरी, प्यौसर (सोंठ-मिरिच की), मधु, माखन, मालपुआ, मिठाई (खोवामय), मिसिरी, मोतीलाड़ू, लाड़ू, सक्करपारे, साढ़ी, सीरा, सेव और हेसमि।

दूसरे पद[४६] में कुछ व्यंजन तो ऊपर दिये हुए ही हैं, नये ये हैं—आम, ऊख रस, केरा, खारिक, खीरा, खुबानी, खोपरा, खोवा, चिउरा, चिरौंजी, दाख, पिराक, फेनी, श्रीफल, सफरी, सुहारी।

तीसरे पद[४७] में उक्त व्यंजनों में से कुछ के अतिरिक्त 'षटरस के मिष्टान्न' और

४५. सा. १०-१८३। ४६. सा. १०-२११। ४७. सा. १०-२१२।

ये पदार्थ हैं—किसमिस, गरी, छुहारे, तरबूजा, पिस्ता, बादाम और रोटी। चौथे पद[४८] में केवल खाझा और मटरी—दो ही नये पदार्थ हैं। कलेऊ के अन्त में तमोल[४९] या बीरी[५०] भी खिलायी गयी है।

आ. **दोपहर का भोजन**—सूरदास ने दोपहर के भोजन में जो पदार्थ गिनाये हैं, उनमें से मुख्य ये हैं[५१]—अगस्त की फरी, अँचार, अँदरसा, अदरख, इँडहर, इमली की खटाई, उभकौरी, ककरी, ककोरा, कचनार, कचरी, कचोर, कचौरी, कढ़ी (खाटी), करवँदा, करील के फूल, करेला, कुनरू, केला, खाँड़ की खीर, खीचरी, खीरा, खोवा, गालमसूरी (मेवा और कपूर पड़ी), गोझा, घेवर, चने का साग, चिचींडा, चौराई, छाँछ, छुंगारी, जलेबी, टेटी, ढरहरी (मूँग की, हींग पड़ी), तोरई, दही (मलाईदार), निबुआ, निमोना, पकौरी, परवर, पाकर की कली, पानौरा, पापर, पूरी, पेठा, फाँगफरी, फेनी (मिस्री-दूध में मिली), बथुआ, बरा, (खट्टे, खारे, मीठे), बरी, बेसन-सालन, भाँटा-भरता (खटाई पड़ा), भात (पसाया हुआ, रामभोग भात), माखन (तुलसी पड़ा), मालपुआ, मुँगछी, रतालू, राइता, राम तरोई, रोटी (अजवाइन और सेंधा नमक पड़ी बेसन की रोटी), लाड़ू, लापसी, लुचई, सरसों (साग), सहिजना के फूल, सिखरन, सींगरी, सुहारी, सूरन, सेम, सेव, सोवा आदि। अन्त में 'पीरे पान पुराने बीरा' दिये जाते हैं।

इ. **बियारी**—रात्रि के भोजन के लिए सूरदास ने 'बियारी' शब्द का प्रयोग किया है। 'सूरसागर' के एक पद[५२] में बियारी' में निम्नलिखित व्यंजन गिनाये गये हैं—अँदरसा, अमिरती, इलाचीपाक, उरद की दाल, कढ़ी, काचरी, कूरबरी, केरा, कौरी, खरबूजा (छिला हुआ), खरिक, खाँड़ की खीर, खाजा, खूआ, गरी, गिंदौरी, गुझा, गुड़बरा, (कोरे और भिजे), गोंदपाक, घेवर, चने की भाजी और दाल, चिंचिडा, चिरौरी, चौराई, जलेबी, झोरी, तिनगरी, दाख, दूध, निमोना (बहुत मिरचदार), पतबरा, पनौ (पना), पापर, पालक, पिंड, पिंडारू, पिंडीक, पिठौरी पूआ (घी चभोरे), पेठापाक, पोई (नीबू निचुड़ी), पौर, फुलौरी, फेनी, बथुआ, बदाम, बनकौरा, बरी, बाटी, बेसन-दोने (बेसन के बने अनेक पदार्थ), बेसन-पुरी, भात (घृत सुगन्धि में पसाया नीलावती चाँवर), भिंडी, मसूर की दाल, मिथौरि, मूँग की दाल, मूँग पकौरा, मूरा (उज्जवल, चरपरे और मीठे), मेथी, रोटी, लापसी, लाल्हा, लावनि-लाडू, लुचुई, लोनिका, सरसों, सीरा, सेव और सोवा। इनके अतिरिक्त 'हींग हरद म्रिच' के साथ तेल में छौंके, तथा अदरख, आँवरे और आँब पड़े हुए कपूर से सुवासित अनेक सालन। अन्त में कपूर-कस्तूरी से सुवासित पान।

---

४८. सा. ८१०। ४९. सा. १०-२११। ५०. सा. १०-१८३। ५१. सा. १२१३। ५२. सा. ३९६।

'बियारी' का वर्णन 'सूरसागर' के दो-तीन पदों में और मिलता है। उनमें से एक[५३] में खजूरी, गालमसूरी, दूधबरा, मोतिलाड़ू आदि तथा दूसरे[५४] में अथानी, करौंदा, मैंदा की पूरी, सूरन आदि नये व्यंजन दिये गये हैं।

कलेऊ, दोपहर का भोजन और 'बियारी' के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले उक्त व्यंजनों के अतिरिक्त सूर-काव्य में कुछ और भोज्य पदार्थों की भी चर्चा यत्र-तत्र की गयी है; जैसे—अन्न[५५], कदुआ[५६] या कुम्हड़ा[५७], गोरस[५८], ज्वारि[५९], चिउरा[६०], तंदुल[६१], तिल[६२], दधि-ओदन[६३], धान[६४], मूली[६५], मोदक[६६], लहसुन[६७] सातू-साग[६८]।

यह तो हुआ मनुष्यों का भोजन। राक्षसों के भोजन की चर्चा सूरदास ने नहीं की है। बानरों में हनुमान के भोजन की चर्चा एक स्थान पर अवश्य है। अशोकवाटिका में वे 'अगनित तरु फल सुगंध मृदुल मिष्ट खाटे'[६९] से तृप्त होते हैं।

भोजन के लिए प्रयुक्त होनेवाले मसालों में अजवाइन, खटाई, मिरच, सेंधा (नमक), हरद, हींग आदि की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। धनिया[७०], राई[७१] और लोन[७२] की चर्चा स्वतंत्र पदों में मिलती है। शेष मसालों की सूची वाणिज्य की वस्तुओं के अंतर्गत आगे दी जायगी।

पेय पदार्थों में जल या नीर[७३] और दूध तो सभी प्राणियों के लिए सामान्य रूप से आवश्यक होते हैं। स्त्री-पुरुष विशेष अवसरों पर, यथा होली में, बारुनी का उपयोग करते है, परंतु निशाचर सदा मद-पान करते हैं[७४]।

ख. वस्त्र—सूरदास ने बच्चों, स्त्रियों और पुरुषों के लिए जो वस्त्र गिनाये हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है। बच्चों के लिए काछनी[७५], झगा या झगुली[७६], पिछौरी[७७], बगा[७८] आदि; पुरुषों के लिए कमरी, कामरि[७९], कामरिया[८०] या कामरी[८१], धोती[८२], और पितंबर[८३] या पीतांबर[८४]; और स्त्रियों के लिए अँगिया[८५] (= कंचुकि[८६], कंचुकी[८७], चोली[८८]), अँतरौटा[८९], चूनरि[९०], चूनरी[९१] या चूनी[९२], निचोल[९३] निलांबर[९४], लहँगा[९५]—दच्छिनचीर

---

५३. सा. १०-२२७। ५४. सा. १०-२४१। ५५. सा. १०-३०।
५६. सा. ८९२। ५७. सा. ३६०४। ५८. सा. १०-३३७। ५९. सा. ३५२९।
६०. सा. १०-२१७। ६१. सा. ४२२८। ६२. सा. ११२४। ६३. सा. ९-१६४।
६४. सा. ३६०४। ६५. सा. ३२४१। ६६. सा. २८६२। ६७. सा. ३१५२।
६८. सा. ४१८०। ६९. सा. ९-९६। ७०. सा. ३६०४। ७१. सारा. न. पृ. २७।
७२. सा. ३६३९। ७३. सा. ३९६। ७४. सा. ९-७५। ७५. सा. १६१८।
७६. सा. १०-३९। ७७. सा. ९-२०। ७८. सा. १०-३९। ७९. सा. २८७७।
८०. सा. ४५२। ८१. सा. २८२६। ८२. सा. ९८३। ८३. सा. २८२६।
८४. सा. ३४४०। ८५. सा. १०५३। ८६. सा. १६१८। ८७. सा. ७८४।
८८. सा. २०१७। ८९. सा. १-४४। ९०. सा. २८३२। ९१. सा. १०४३।
९२. सा. २८३१। ९३. सा. १०४९। ९४. सा. १०५५। ९५. सा.

तिपाइ कौ लहँगा[९६]—,(पँचरंग) सारि[९७] या सारी[९८], सूथन[९९] आदि वस्त्रों का सूरदास ने विशेष रूप से उल्लेख किया है। उपरना या उपरैना का उल्लेख स्त्री और पुरुष दोनों के साथ हुआ है; जैसे—

१. (**गोपाल**) तुम्हारी माया महा प्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौ (**हौ**)।

\+ + +

पहिरे राती चूनरी, सेत **उपरना** सोहै हो[१]।

२. लियौ **उपरना** छीनि, दूरि डारनि अँटकायौ[२]।

३. लकुटी, मुकुट, **पीत उपरैना** लाल काछनी काछें[३]।

इनमें से प्रथम उदाहरण में 'माया', दूसरे में 'गोपी' और तीसरे में श्रीकृष्ण को 'उपरना' या 'उपरैना' ओढ़े कहा गया है। अंतर यह है कि अंतिम में उसके साथ 'पीत' विशेषण है जो पीताम्बर की याद दिलाता है।

ऊपर जिन वस्त्रों का उल्लेख हुआ है, वे ग्राम और नगर के प्रायः सभी बच्चों, पुरुषों और स्त्रियों के लिए हैं। विशेष स्थिति में, वनवासी राम 'बलकल बसन' पहने और 'दृढ़ फेंट' बाँधे हैं[४]। इसी प्रकार जोगियों के 'कंथा पहरने' का उल्लेख 'सूरसागर' में है।

पहनने की अन्य वस्तुओं में, पैरों में पनही[५] या पाँवरि[६], तथा सर पर पगिया[७] और मुकुट[८] का उल्लेख सूरदास ने किया है।

ग. **आभूषण**—सूर-काव्य में जिन आभूषणों की चर्चा की गयी है, उनमें मुख्य ये हैं—अंगद[९] (केपूर[१०] या बाजूबंद[११]), अँगूठी[१२] (= मुंदरी[१३], मुद्रा[१४], मुद्रिका[१५]), कंकन[१६], कंठश्री[१७] या कंठसिरी[१८], करनफूल[१९], किंकिनी[२०], कुंडल[२१], खुठिला[२२], खुभि[२३] या खुभी[२४], गजदंती[२५], गंजमोतिनिहार[२६], घुँघरू[२७] या नूपुर[२८], चुरी[२९] या चूरी[३०], चूरा[३१] या चूरौ[३२], चौकी[३३], छुद्रघंटिका[३४],

---

९६. सा. २९०१। ९७. सा. १०४३। ९८. सा. १०२४। ९९. सा. १ ५४।
१. सा. १-४४। २. सा. १६१८। ३. सा. २८२६। ४. सा. ९-५८।
५. सा ९-१९। ६. सा. ९-५३। ७. सा. २८७५। ८. सा २८२६।
९. सा. ४५९। १०. सा. ५१२। ११. सा. १५४०। १२. सा. ९-८६।
१३. सा. ९-८३। १४. सा- ९-८८। १५. सा. १०५३। १६. सा. १०४३।
१७. सा. १०४३। १८. सा. ११८०। १९. सा. १५४०। २०. सा. १०-१५१।
२१. सा. ११८०। २२. सा. १४७५। २३. सा २८२६। २४. सा. १०५५।
२५. सा. २९०१। २६. सा. ११८०। २७. सा. १०५६। २८. सा. १०५५।
२९. सा. १०४३। ३०. सा. ३२३०। ३१. सा. २९०१। ३२ सा. २८२६।
३३. सा. १०४३। ३४. सा. १५४०।

छुद्रावलि [३५], मेखला [३६]), जेहरि [३७], झूमका [३८], टाड़ [३९] (जराइ कौ) टीकौ [४०], तरिवन [४१] या तरौन [४२], ताटंक [४३], तिरनी [४४], तौकी [४५], दुलरी [४६], नकवेसरि [४७], नथ [४८], नौसरिहार [४९], पदिक [५०], पहुँचिया [५१] या पहुँची [५२], पैंजनी [५३], बलय [५४], बहुँटा [५५], बिछिया [५६], बेसरि [५७], माला [५८], मानिकहार [५९], मुक्तामाल [६०], मोतिनिलर [६१], मोतीहार [६२], सीसफूल [६३], हमेल [६४], हारावलि [६५] आदि। इन आभूषणों में से अधिकांश स्त्रियों के हैं। बच्चों के लिए किंकिनी, कुंडल, घुँघरू, छुद्रघंटिका (छुद्रावलि या मेखला), पहुँची, पैंजनी, मुक्तामाल आदि के अतिरिक्त कठुला [६६] और बघनहा [६७] भी बताये गये हैं। पुरुषों के आभूषणों में अंगद या केयूर, कुंडल, मुद्रिका, मुक्तामाल या मोतीहार मुख्य हैं।

घ. व्यवहार की सामान्य वस्तुएँ—दैनिक जीवन में उपयोगी जिन वस्तुओं की चर्चा सूर-काव्य में है, स्थूल रूप से, उनको नौ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-अ. सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ, आ. शासक वर्ग के उपयोग की वस्तुएँ, इ. पात्र, ई. धातु, उ. रत्न, ऊ. रंग, ए. सुगंधित पदार्थ, ऐ. वाहन और ओ. अस्त्र-शस्त्र।

अ. सामान्य व्यक्ति के उपयोग की वस्तुएँ—ईंधन [६८], ऊखल [६९], ऐपन [७०], कापरा [७१], किवारा [७२], कुंजी [७३], चूल्हा [७४]. छरी [७५], झोरी [७६] या झोली [७७], तारौ [७८], तूल [७९], दर्पन [८०], दीप [८१] या दीपक [८२], दोना [८३], दोहनि [८४], पटरी [८५], पतिया [८६] या पाती [८७], पनवारे [८८], परदा [८९], पलँग [९०] या प्रजंक [९१], पलिका [९२], पालनौ [९३], पावड़े [९४],

३५. सा. ५१२। ३६. सा. ४५१। ३७. सा. १०४३।
३८. सा. १०५७। ३९. सा. ४०६०। ४०. सा. १५४०।
४१. सा. २०२७। ४२. सा. १०-२४। ४३. सा. १०४३। ४४. सा. ११८०।
४५. सा. १५४०। ४६. सा. ५१२। ४७. सा. ३८१५। ४८. सा. ३८१५।
४९. सा. १५४०। ५०. सा. ४५१। ५१. सा. ४५१। ५२. सा. १०५३।
५३. सा. १०-१५१ ५४. सा. १४७५। ५५. सा. १५४०। ५६. सा. १०५८।
५७. सा. १०४३। ५८. सा. ११८०। ५९. सा. १४७५। ६०. सा. १०४९।
६१. सा. ४५१। ६२. सा. १४७५। ६३. सा. २८४१। ६४. सा. १४७५।
६५. सा. १६१८। ६६. सा. १०-१५१ ६७. सा. १०-१५१ ६८. सा. ३७८१।
६९. सा. ४०९५। ७०. सा. १०-४०। ७१. सा. १०-४०। ७२. सा. ९-७६।
७३. सा. १८७२। ७४. सा. ९९५। ७५. सा. २८२६। ७६. सा. २८७२।
७७. सा. ३३१२। ७८. सा. १८७२। ७९. सा. ९-९७। ८०. सा. २८२६।
८१. सा. २४९५। ८२. सा. २८२६। ८३. सा. ९-१६४। ८४. सा. ६११।
८५. सा. ३४९५। ८६. सा. ३११०। ८७. सा. २८४०। ८८. सा. १०-८९।
८९. सा. १७२८। ९०. सा. १-२३९। ९१. सा. ९-७५। ९२. सा. २६४१।
९३. सा. १०-४१। ९४. सा. ९-१६९।

पीढ़ा[९५], पूतरी[९६], पोत[९७], प्रतिमा[९८], वहनिया[९९], मथानी[१], रेसम[२], लकुट[३] या लकुटिया[४], सन[५], सींक[६], सूत[७], सूतरी[८], सेज[९], हिंडोरना[१०]।

आ. **शासकों के उपयोग की वस्तुएँ**—छत्र[११], चमर[१२] या चँवर[१३], चमू[१४] या फौज[१५], दरबार[१६], धुजा[१७], पताक[१८], बैरख[१९], सिंहासन[२०] आदि।

इ **पात्र**—कटोरा[२१], कटोरी[२२], कमोर[२३] या कमोरी[२४], कलस[२५], कूँडी[२६], कोपर[२७], गागरि[२८], घट[२९], झारी[३०], थार[३१], थालिका[३२], माट[३३], मटकी[३४]।

ई **धातु और खनिज पदार्थ**—ईंगुर[३५], कंचन[३६] (=कनक[३७], सोना[३८], हाटक[३९], हेम[४०]), काँच[४१], खरि[४२], गेरू[४३], ताँबा[४४], पारा[४५], बंदन[४६], (सिंदूर[४७] या सेंदूर[४८]), रोरी[४९], रूपा[५०] आदि।

उ. **रत्न**—नीलम[५१], पन्ना[५२], पिरोजा[५३], प्रवाल[५४] (=बिद्रुम[५५], मूँगा[५६]), फटिक[५७] या स्फटिक[५८], बज्र[५९] या हीरा[६०], मनि[६१], मरकत[६२], मानिक[६३], मुक्ता[६४] या मोती[६५], लाल[६६]।

---

९५. सा. १०-५०। ९६. सा. १०-४०। ९७. सा. ३६९०।
९८. सा. २८२६। ९९. सा. १०-३३७ १. सा. १६१८।
२. सा. १०-४१। ३. सा. २८७४। ४. सा. २८९५।
५. सा. ९-९७। ६. सा. १०-२४। ७. सा. ९-९७।
८. सा. ३६९०। ९. सा. २६५०। १०. सा. २८३०।
११. सा. ९-१६०। १२. सा. १६१८। १३. सा. ३७६८। १४. सा. २७८५।
१५. सा. २७८५। १६. सा. २९०४। १७. सा. ९-१६०। १८. सा. ९-१५८।
१९. सा. २८६२। २०. सा. १-४०। २१. सा. ३८१५। २२. सा. ३९६।
२३. सा. २८६६। २४. सा. १५४८। २५. सा. २८२६। २६. सा. ९-२५।
२७. सा. ९-१६९। २८. सा. २८९२। १९. सा. ३७८१। ३०. सा. १०-२०८।
३१. सा. १०-१७। ३२. सा. ९२२। ३३. सा. १०-२४। ३४. सा. १६१८।
३५. सा. २८५४। ३६. सा. १०-४। ३७. सा. १०-४२। ३८. सा. ३:९२।
३९. सा. १०-१५१। ४०. सा. १०-२१८। ४१. सा. १६१८। ४२. सा. ३५७७।
४३. सा. ३१५२। ४४, सा ३०९२। ४५. सा. ३२९६। ४६. सा. २८३०।
४७. सा. ३१५२। ४८ सा. २५१९। ४९. सा. १०-४०। ५०. सा. ३०९२।
५१. सा. २८३२। ५२. सा. ४१८६। ५३. सा. १०-८४। ५४. सा. १०-८४।
५५. सा. २८३२। ५६. सा. ३२३५। ५७. सा. २८३५। ५८. सा. २८३२।
५९. सा. २८४१। ६०. सा. १०-४१। ६१. सा. १०-४२। ६२. सा. २८४१।
६३. सा. २८३३। ६४. सा. ९-१२४। ६५. सा. १०-८४। ६६. सा. १०-८४।

ऊ. रंग अरुन[67] (राता या राती[68], लाल[69], लोहित[70]), उज्जवल[71] या गौर[72], कुसुंभी[73], धवल[74] (=सित[75], सेत[76], स्वेत[77]), नील[78], पियरी[79], पीत[80], पीरी[81], स्याम[82] या स्यामल[83], हरित[84] या हरी[85] आदि।

ए. **सुगंधित पदार्थ**—अरगज[86] या अरगजा[87], कपूर[88], कस्तूरी[89] या मृगमद[90], कुमकुम[91], केसर[92], चंदन[93], चोवा[94], फुलेल[95]। इन सभी पदार्थों का उल्लेख प्रायः शृंगार-सज्जा के प्रसंग में हुआ है। इनके अतिरिक्त जावक[96], महाउर[97] या महावर[98] का उल्लेख भी हुआ है, यद्यपि विशिष्ट सुगंधित पदार्थों में उसकी गिनती नहीं है।

ऐ. **वाहन**—जहाज[99]; नाव[1] या नौका[2], विमान[3], रथ[4] या स्यंदन[5] आदि।

ओ. **अस्त्र-शस्त्र**—असि[6] (=करवार[7], खड्ग[8]), (लौहजटित) आगर[9], कमान[10] (=कोदंड[11], चाप[12], धनु[13], धनुष[14], पिनाक[15], सरासन[16]), कवच[17] या सनाह[18], कुंत[19] या नेजा[20], गदा[21], गोला[22], चक्र[23], छूरी[24], तूनीर[25] या निषंग[26], दारू[27], दिव्यबान[28], पनच[29], पलीता[30], बज्र[31], बरछी[32], बान[33], तीर[34] (=सर[35], सायक[36]),

---

६७. सा. २८३२। ६८. सा. २८७३। ६९. सा. २८३१। ७०. सा. २८६३।
७१. सा. १९१२। ७२. सा. २८२२। ७३. सा. १९९१। ७४. सा. २८४६।
७५. सा. २८६९। ७६. सा. ७८४। ७७. सा. २८३१। ७८. सा. २८३१।
७९. सा. १०-१५१। ८०. सा. २८३२। ८१. सा. २८७३। ८२. सा. २८३२।
८३. सा. २८३३। ८४. सा. १९१२। ८५. सा. २८३२।
८६. सा. १९०१। ८७. सा. २०१०। ८८. सा. ३१५२। ८९. सा. ४२५२।
९०. सा. ४१८६। ९१. सा. २६४७। ९२. सा. ४१८५। ९३. सा. १०-४०।
९४. सा. २८५४। ९५. सा. ३८१५। ९६. सा. २५२२। ९७. सा. २६२४।
९८. सा. ११८०। ९९. सा. ३८१८। १. सा. ९-८९। २. सा. १-९९।
३. सा. २८३०। ४. सा. ९-४६। ५. सा. ४१६५। ६. सा. २८२६।
७. सा. ४२२१। ८. सा. १-१४४। ९. सा. ९-९६। १०. सा. ४२६७।
११. सा. ३०४९। १२. सा. ९-१५८। १३. सा. ९-४४। १४. सा. ९-५८।
१५. सा. ९-९१। १६. सा. २८४६। १७. सा. २८४७। १८. सा. ३३१३।
१९. सा. ९-७५। २०. सा. १९८६। २१. सा. ४२२१। २२. सा. ४२६७।
२३. सा. ९-१५८। २४. सा. ३१८५। २५. सा. ९-४४। २६. सा. २८४७।
२७. सा. ४२६७। २८. सा. ९-९६। २९. सा. ३०३९। ३०. सा. ४२६७।
३१. सा. ४१८३। ३२. सा. ४२२१। ३३. सा. ४१८३।
३४. सा. २२३९। ३५. सा. ९-९१। ३६. सा. ९-१५८।

ब्रह्मफाँस[३७], ब्रह्मबान[३८]; मुगदर[३९], मुसल[४०], सक्ति[४१], साँग[४२], सिर-स्त्रान[४३], सूल[४४], हल[४५] आदि।

ङ. खेल और व्यायाम - सूरदास के अनुसार कृष्ण और उनके सखा सबसे पहले 'दौड़' का खेल खेलते हैं। 'तारी' देकर सब सखा भागते हैं और श्याम उन्हें छूने को दौड़ते हैं[४६]. कभी कभी वे 'आँखमुदाई' खेलते हैं[४७]। श्रीकृष्ण की आँख मूँद कर माता यशोदा उसके कान में बलराम के छिपने का स्थान बता देती हैं; परन्तु श्रीकृष्ण अपनी होड़ श्रीदामा से मानकर उसी को दौड़कर पकड़ लेते हैं और उसे 'चोर' बना देते हैं[४८]। गैया चराने जाने पर मैदान में उन्हें गेंद खेलने की इच्छा होती है और तब श्रीदामा जाकर गेंद ले आता है[४९]। गेंद खेलने का ढंग भी बिलकुल सीधा-सादा है। एक भागता है, दूसरा गेंद मारता है तीसरा रोकता और फिर मारता है; इसी तरह खेल चलता रहता है[५०]। भौंरा-चक-डोरी से भी उनका पर्याप्त मनोरंजन होता है[५१]। बच्चों को पतंग उड़ाने का भी शौक रहता है। सूरदास ने कृष्ण और उनके सखाओं से पतंग तो नहीं उड़वायी है, परन्तु गुड़ी-डोर[५२] की चर्चा अवश्य की है जिससे स्पष्ट होता है कि उनके समय में मनोरंजन का यह भी एक साधन था।

ये तो हुए श्रीकृष्ण के बाल्यकाल के खेल। युवावस्था में वे घोड़े पर चढ़कर चौगान खेलते हैं। सभी खिलाड़ी उच्चैःश्रवा-जैसे घोड़ों पर सवार होकर आते हैं। दो दल बटते हैं और कंदुक से खेल शुरू हो जाता है[५३]।

इनके अतिरिक्त हेलुआ या जलकेलि की गणना किशोरावस्था और युवावस्था के खेलों में की जा सकती है। सूरदास ने इसका वर्णन अनेक पदों में बड़े विस्तार से किया है। रास के उपरांत श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ जलक्रीड़ा करती हैं। किसी को जरा भी भय नहीं है[५४]। वे परस्पर जल छिड़कती हैं[५५]। कृष्ण और राधा 'बाहाँजोरी' खड़े होते हैं; अन्य सखियों में कोई जाँघ तक जल में है, कोई कमर, कोई हृदय और कोई गले तक[५६]। जलबिहार का विनोदमय सुख सबको पुलकित कर देता है[५७]।

यों तो ऊपर के सभी खेलों से मनोरंजन के साथ साथ व्यायाम भी हो जाता है, परन्तु कंस के मल्लों की 'मल्लक्रीड़ा' में व्यायाम का भाव जितना है, उतना मनोरंजन का नहीं। बलराम और कृष्ण जब बड़े बड़े मल्लों को हरा देते हैं तब यह मानना पड़ता है कि उन्होंने भी 'कुश्ती' का अभ्यास किया होगा, यद्यपि सूर ने इसकी चर्चा नहीं की है। और 'सूरसागर' में रावण के योद्धा तो लंका में ठौर-ठौर पर 'कुंत-असि-बान' का निरंतर अभ्यास करते ही हैं[५८]।

---

३७. सा. ९-१०४। ३८. सा. ९-९७। ३९. सा. ९-१०४। ४०. सा. ४१८३।
४१. सा. ४१६२। ४२. सा. ४१८३। ४३. सा. ९-१५८।
४४. सा. ४१६२। ४५. सा. ४१८३। ४६. सा. १०-२१३। ४७. सा. १०-२३९।
४८. सा. १०-२४०। ४९. सा. ५३२। ५०. सा. ५३३। ५१. सा. ६६९।
५२. सा. २८८१। ५३. सा. ४१६६। ५४. सा. ११५७। ५५. सा. ११५८।
५६. सा. ११६२। ५७. सा. ११६१। ५८. सा. ९-७५।

च. वाणिज्य-व्यवसाय—नागरिक जीवन के चित्रण की ओर अधिक ध्यान न देने के कारण सूरदास ने अपने काव्य में तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय की चर्चा नहीं की है। 'दान-लीला' प्रसंग के एक पद [५९] में उन्होंने व्यापार-योग्य ऐसी वस्तुओं की एक सूची दी है जो पंसारी के यहाँ मिलती हैं और जिनमें अधिकांश मसाले हैं; यथा—अजवाइन, आलमजीठ, कटजीरा, कायफर, कूट, चिरइता, दाख, नारियर, पीपरि, बहेरा, बाइबिडंग, मिरिच, लाख, लौंग, सुपारी, सेंदुर, सोंठि, हर्रें और हींग।

माल [६०] को मोल लेने के लिए पास में कौड़ी [६१], टका [६२] या दाम [६३] तो चाहिए ही, एक चीज के बदले में दूसरी चीज भी, सूरदास के अनुसार, ली जा सकती है, यदि दोनों समान उपयोग या मूल्य की हों। मूली के पत्तों के बदले मुक्ताहल कोई नहीं दे सकता—

मूली के पातन के क्वैना को मुक्ताहल दैहै [६४] ?

छ. सामान्य लोकव्यवहार—यों तो भोजन के पहले कनक-थार में हाथ धुलाना[६५]-जैसी सामान्य व्यवहार-संबंधी अनेक बातें सूर-काव्य में बिखरी मिलती हैं, परन्तु इस शीर्षक के अंतर्गत केवल दो मुख्य विषयों से सम्बन्धित शब्दों का ही संकलन करना लेखक का अभीष्ट है—अ. शिष्टाचार और आ. स्वागत-सत्कार।

अ. शिष्टाचार—दूसरों के प्रति शिष्टाचार-प्रदर्शन के उद्देश्य से, सूर-काव्य में जिन नमस्कारात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें से जुहारा, दंडवत, नमस्कार, नमस्ते, पालागन, प्रनाम आदि मुख्य हैं; जैसे—

१. सूर आकासबानी भई तबै तहँ, यहै बैदेहि है, करु **जुहारा** [६६]।
२. देखि सुरूप सकल कृष्णाकृति, कीनी **चरन जुहारी** [६७]।
३. जामवंत सुग्रीव बिभीषन करी **दंडवत** आइ [६८]।
४. **नमस्कार** मेरौ जदुपति सौं कहियौं परि के पाइँ [६९]।
५. नमो **नमस्ते** बारंबार। मधुसूदन गोबिंद पुकार [७०]।
६. लछिमन **पालागन** कहि पठयौ, हेत बहुत करि माता [७१]।
७. ये बसिष्ठ कुल-इष्ट हमारे, **पालागन** कहि सखनि सिखावत [७२]।
८. भरत सत्रुहन कियौ **प्रनाम**, रघुबर तिन्ह कंठ लगायौ [७३]।
९. तब **परनाम** कियौ अति रुचि सौं, अरु सबहिनि करि जोरे [७४]।

उक्त सभी शब्द पूज्य व्यक्तियों के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं,

---

५९. सा. १५२८। ६० सा. १५२६। ६१. सा. १५४५। ६२. सा. १९७२।
६३. सा. १९७२। ६४. सा. ४२४७। ६५. सा. ३९६। ६६. सा. ९-७६।
६७. सा. ८-१४। ६८. सा. ९-१६१। ६९. सा. ४१६०। ७०. सा. ४३०१।
७१. सा. ९-८७। ७२. सा. ९-१६७। ७३. सा. ९-५५। ७४. सा. ३४८१।

परंतु एक पद में पुत्र को मनाती हुई यशोदा 'पालागौं' का प्रयोग करती है जिससे खीझी हुई माता के हृदय का व्यंग्य प्रकट होता है—

(आछे मेरे) लाल हो, ऐसी आरि न कीजै ।
पालागौं हठ अधिक करौं जनि, अति रिस तैं तन छीजै [७५] ।

बड़ों को प्रणाम करने पर उनसे आशीर्वाद भी मिलता है। लक्ष्मण के 'पालागन' के उत्तर में सीता जी 'असीस' देती हैं—

दई असीस तरनि सन्मुख ह्वै, चिरंजीवौ दोउ भ्राता [७६] ।

आ. **स्वागत-सत्कार**—यों तो सूर-काव्य में अनेक स्थलों पर स्वागत-सत्कार का वर्णन किया गया है, परंतु ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त सामग्री की जानकारी के लिए केवल तीन स्थलों की चर्चा करना पर्याप्त होगा—वनवास के पश्चात् अयोध्या लौटने पर श्रीराम का स्वागत, श्रीकृष्ण का संदेश लेकर आनेवाले उद्धव का गोपियों द्वारा स्वागत, और अक्रूर द्वारा श्रीकृष्ण का स्वागत ।

श्रीराम के वन से लौटने पर अयोध्या में स्वागत का जो आयोजन किया जाता है वह इस प्रकार है —

जब सुन्यौ भरत पुर निकट भूप। तब रची नगर रचना अनूप।
प्रति प्रति गृह तोरन ध्वजा धूप। सजे सजल कलस अरु कदलि यूप।
दधि दूब हरद फल फूल पान। कर कनक थार तिय करति गान।
सुनि भेरि बेद-धुनि संख नाद। सब निरखत पुलकित अति प्रसाद [७७] ।

\+ \+ \+

दधि फूल दूध कनक कोपर भरि, साजत सौंज बिचित्र बनाई।
बरन बरन पट परत पाँवड़े, बीथिनि सकुच सुगंध सिंचाई।
पुलकित रोम हरष गदगद स्वर, जुवतिनि मंगलगाथा गाई।
निज मंदिर मैं आनि तिलक दै, द्विजगन मुदित असीस सुनाई [७८] ।

उद्धव के व्रज आने पर गोप-गोपियाँ उनके स्वागत का इस प्रकार आयोजन करती हैं—

ब्रज घर-घर सब होत बधाइ ।
कंचन कलस दूब दधि रोचन लै बृंदाबन आइ ।
मिलि ब्रजनारि तिलक सिर कीनौ, करि प्रदच्छिना तासु [७९] ।

\+ \+ \+

---

७५. सा. १०.१९०। ७६. सा. ९-८७। ७७. सा. ९-१६६। ७८. सा. ९-१६९।
७९. सा. ३४७९।

अर्घ आरती साजि तिलक दधि माथैं कीन्यौ।
कंचन कलस भराइ और परिकरमा दीन्यौ।
गोप भीर आँगन भई, मिलि बैठी सब जाति।
जलझारी आगैं धरी, पूछत हरि कुसलाति[८०]।

सुफलक-सुत अक्रूर को श्रीकृष्ण के शुभागमन की ज्यों ही सूचना मिलती है, वह—

मिल्यौ सु आइ पाइ सुधि मग मैं बार बार परि पांइ।
गयौ लिवाइ सुभग मंदिर मैं, प्रेम न बरन्यौ जाइ।
चरन पखारि धारि जल सिर पर, पुनि पुनि दृगनि लगाइ।
बिबिध सुगंध चीर आभूषन, आगैं धरे बनाइ[८१]।

सारांश यह है कि परम प्रिय या पूज्य व्यक्ति के शुभागमन पर गृह-तोरण सजाना, जलभरे कंचन कलस प्रस्तुत करना, कदलि-यूप बनाना, कनक-थाल या कोपर में दधि-दूब-रोचन-फल-फूल-पान आदि लेकर युवतियों का मंगलगान करना, वेद-पाठ होना, भेरि-शंख-ध्वनि करना, बरन बरन के पट-पाँवड़े बिछाना, बीथियों को सुगंध से सिंचाना आदि आयोजनों की चर्चा सूर-काव्य में मिलती है। पश्चात् प्रिय या पूज्य व्यक्ति का दर्शन होने पर उसको अर्घ्य देकर, चरणामृत को सिर और दृगों से लगाकर, आरती करके, दधि का तिलक माथे पर लगाकर, 'प्रदच्छिना' या 'परिकरमा' करने का भी उसमें उल्लेख है। अंत में शक्ति और श्रद्धा के अनुसार सुगंधि-चीर-आभूषण आदि प्रस्तुत किये जाते थे। निस्संदेह स्वागत का ऐसा उत्साहपूर्ण आयोजन उभय पक्षों का हृदय पुलकित करने में समर्थ होता है।

ञ. सांस्कृतिक जीवन-चर्या संबंधी शब्द—संस्कृति का संबंध मुख्य रूप से समाज की आंतरिक विचारधारा से होता है। स्थूल रूप से इसके अंतर्गत जन साधारण के सामाजिक, पौराणिक, धार्मिक तथा अन्य विश्वास, पर्व-उत्सव-योजना, संस्कार संबंधी कृत्य, कला-कौशल आदि विषय आते हैं। इनसे संबंधित, सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दावली का संकलन इस उद्देश्य से यहाँ करना अभीष्ट है जिससे कवि के समकालीन हिंदू समाज की सांस्कृतिक जीवन-चर्या का संक्षिप्त रूपरेखा, उनकी भाषा के आधार पर, प्रस्तुत की जा सके।

क. सामाजिक विश्वास— सूरदास ने यों तो समाज-संगठन, वर्ण व्यवस्था या वर्ण-महत्ता आदि के संबंध में कहीं विचार नहीं किया और —

सत्रु-मित्र हरि गनत न दोइ। जो सुमिरै ताकी गति होइ।
\+ \+ \+
राव-रंक हरि गनत न दोइ। जो गावहि ताकी गति होइ[८२]।

जैसे वाक्य लिखकर वर्णों के ऊँच-नीच के भेद को जड़-मूल से ही उड़ा दिया; परंतु

---

८०. सा. ४०९५। ८१. सा. ४१६०। ८२. सा. २-५।

एक पद में श्रीकृष्ण और कुब्जा के संग की अनुपयुक्तता पर विचार करते करते गोपियों के मुख से उन्होंने कहलाया है— काग-हंस, लहसुन-कपूर, काँच-कंचन, गेरू-सिंदुर के संग की तरह तो कुब्जा और कृष्ण की संगति अनुपयुक्त है ही, उनका साथ उस तरह से खटकनेवाला है; जैसे —

भोजन साथ सूद्र बाम्हन के, तैसौ उनकौ साथ[८३]।

कवि और भक्त सूर की उदारता को दबानेवाला यह वाक्य ब्राह्मण को श्रेष्ठ और शूद्र को नीच माननेवाली जन-मनोवृत्ति का ही परिचायक है।

ख. पौराणिक विश्वास—सूरदास ने पौराणिक विश्वास के अनुसार श्रीकृष्ण को पर-ब्रह्म का अवतार माना है और उनके लिए अबिगत[८४], अबिनासी[८५], कला-निधान[८६], जगतगुरु[८७], जगतपिता[८८], जगदीस[८९], जगन्नाथ[९०], जगपाल[९१], दीनानाथ[९२], पुरुषोत्तम[९३], बिस्वंभर[९४], मधुसूदन[९५], सकल गुन-सागर[९६], सुखसागर[९७], सुरसाई[९८], आदि बड़े व्यापक अर्थवाले शब्दों का प्रयोग किया है। यों तो 'आदि निराकार' के चौबीस अवतारों को गिनाना वे नहीं भूले हैं[९९], परंतु श्रीराम और श्रीकृष्ण की एकता की चर्चा उन्होंने बड़े विस्तार से की है—

इंद्रादि देवता स्तुति करते हैं—

जै गोविंद माधव मुकुंद हरि। कृपा-सिंधु कल्यान कंस-अरि।
प्रनतपाल केसव कमलापति। कृष्न कमल-लोचन अगतिनि गति।
रामचंद्र राजीव नैन बर। सरन साधु श्रीपति सारंगधर।
बनमाली बामन बीठल बल। बासुदेव बासी-ब्रज-भूतल।
खर दूखन त्रिसिरासुर खंडन। चरन-चिन्ह दंडक भुव मंडन।
बकी-दवन बक-बदन बिदारन। बरुन बिषाद नंद निस्तारन।
रिषि मष त्रान ताड़का-तारक। बन बसि तात वचन प्रतिपालक।
काली दवन केसि कर पातन। अघ अरिष्ट धेनुक अनुघातन।
रघुपति प्रबल पिनाक-बिभंजन। जग हित जनकसुता मन रंजन।
गोकुल पति गिरिधर गुनसागर। गोपी रवन रास रति नागर।
करुनामय कपिकुल हितकारी। बालि बिरोधि कपट मृग हारी।
गुप्त गोप कन्या ब्रत पूरन। द्विज नारी दरसन दुख चूरन।
रावन कुंभकरन सिर छेदन। तरुवर सात एक सर भेदन।

---

८३. सा. ३१५२। ८४. सा. १-२६९। ८५. सा. १-२६९।
८६. सा. १-७। ८७ सा. १-३। ८८. सा. १-३।
८९. सा. १-३। ९०. सा. १०-१६२। ९१. सा. १-१६५।
९२. सा. १-२२। ९३. सा. १-२६९। ९४. सा. २६५१। ९५. सा. ४२२६।
९६. सा. १-२२१। ९७. सा. १-२२। ९८. सा. १-३०७। ९९. सा. २-३६।

संख चड़ चानूर सँहारन। सक्र कहै मम इच्छा कारन।
उत्तर क्रिया गीध की करी। दरसन दै सबरी उद्धरी[१]।

पद के एक चरण में श्रीराम और दूसरे में श्रीकृष्ण की स्तुतिवाले ऐसे उदाहरण समस्त भक्ति-साहित्य में बहुत कम मिलेंगे। दोनों की शक्तियों को भी कवि ने एक ही रूप में देखा है। सीता जी को जिस प्रकार उन्होंने 'जगत जननी[२]' कहा है, उसी प्रकार राधा जी को भी 'सेस महेस गनेस सुकादिक नारदादि की स्वामिनि, जगदीस-पियारी, जगत-जननि, जगरानी' आदि बताया है[३]।

इनके अतिरिक्त अनेक पौराणिक प्रसंग भी कवि ने लिखे हैं। गोबर्द्धन-प्रसंग में इंद्र की पराजय, बाल-वत्स-हरण प्रसंग में ब्रह्मा का भ्रम, मोहिनी-दर्शन-प्रसंग में महादेव का मोह आदि विषयों के द्वारा कवि अपने आराध्य की सर्वश्रेष्ठता इंगित करता है। नारद[४] और वेद[५] उसके आराध्य की स्तुति करके इस पौराणिक विश्वास की पुष्टि करते हैं। कवि उनके विराट् रूप की आरती का वर्णन[६] एवं अनन्य भक्ति की महिमा[७], नाम-माहात्म्य[८] और प्रभु की भक्त-वत्सलता[९] का भी गान करता है। गुरु[१०], भक्त[११] और सतसंग-महिमा[१२] बताने के साथ साथ गंगा या विष्णु-पादोदक[१३] और यमुना[१४] की स्तुतियाँ वह सुनाता है और भागवत्[१५], वाराणसी[१६], मथुरा[१७], वृन्दावन[१८], तथा व्रज[१९] के माहात्म्य का भी वर्णन करता है।

इनके अतिरिक्त 'अछै बृच्छ बट'[२०], चंद्रमा को राहु का ग्रसना[२१], पूर्ण चंद्रमा को देखकर सागर की तरंगों का बढ़ना[२२], चंद्रमा के रथों में मृगों का जुता होना[२३], अमृत का देवेंद्र के पास होना और उसकी वृष्टि से मृतकों का जी उठना[२४] आदि प्रसंग भी प्राचीन आख्यानों से संबंधित हैं जिनमें प्रयुक्त शब्दावली से तत्कालीन हिंदू समाज की, पौराणिक प्रसंगों के प्रति, विश्वासमयी निष्ठा का सहज ही परिचय मिल जाता है। हनुमान को 'आकाशवाणी'[२५] और कंस को 'अनाहतबानी'[२६] सुनायी देना भी पौराणिक विश्वास का फल कहा जायगा। अष्टसिद्धि[२७], उच्चैःस्रवा[२८], (धवल बरन) ऐरावत[२९], कल्पद्रुम[३०], कामधेनु[३१] या सुरधेनु[३२], कौस्तुभ मनि[३३], चिंतामनि[३४], नव निद्धि[३५] आदि के

---

१. सा. ९८१। २. सा. ९-६०। ३. सा. १०५५।
४. सा. ४३०२। ५. सा. ४३००। ६. सा. २-२८। ७. सा. २-९।
८. सा. १-८९ और १-२३२। ९. सा. १-२६७। १०. सा. ६-५। ११. सा. ३-१३।
१२. सा. २-१७। १३. सा. ९-१० और ९-१२। १४. सा. १-२२२ और १-२२३।
१५. सा. १-२२७ और १-२३०। १६. सा. १-३४०। १७. सा. ३०९६ से ९७।
१८. सा. २-६। १९. सा. ४९०-४९२ और ३४१६। २०. सा. ८५४।
२१. सा. ९-७५। २२. सा. ९-११६। २३. सा. ३३५७। २४. सा. ९-१६३।
२५. सा. ९-७६। २६. सा. १०-४। २७. सा. ३०९२। २८. सा. ४१६६।
२९. सा. ९७६। ३०. सा. २८३३। ३१. सा. १-१६४। ३२. सा. ४८७।
३३. सा. ११८०। ३४. सा. १-१६४। ३५. सा. ३०९२।

साथ-साथ किन्नर[३६], गंधर्व[३७], विद्याधर[३८] आदि देवजातियाँ भी पौराणिक हैं। पृथ्वी को कमठ, शेषनाग आदि धारण किये हैं[३९], दिशाओं की रक्षा दिग्गज और दिग्पाल करते हैं[४०]–ये विश्वास भी पौराणिक ही हैं। श्रीकृष्ण की लीला देखने को देवताओं का उपस्थित होना[४१] और प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य की सिद्धि पर फूल बरसाने लगना[४२]—ऐसे उल्लेखों के मूल में भी पौराणिक विश्वास ही समझना चाहिए।

ग. **धार्मिक विश्वास**—धर्मप्राण हिंदू समाज आदि से ही आस्तिक रहा है। ईश्वर के अस्तित्व में ही नहीं, उसकी ऐसी दयालुता-उदारता आदि में भी उसका विश्वास रहा है जिससे प्रेरित होकर वह जीव या प्राणी के बड़े से बड़े पापों को भुलाकर उसको सहर्ष अपना सकता है और उसकी आंतरिक कामना के अनुसार सद्गति दे सकता है। यही नहीं, सारी लौकिक विभूति को, धर्म-भाव रखनेवाला व्यक्ति, अपने आराध्य या कुलदेव की ही देन समझता है। सूरदास ने भारतीय जनता की इस मनोवृत्ति को समझा था। इसलिए उनके सभी पात्र ईश्वर की दयालुता में विश्वास रखते हैं। गोवर्द्धन-पूजा के पूर्व व्रजवासी सुरपति को ही अपना कुलदेव समझते थे। उनकी पूजा का स्मरण कराती हुई माता यशोदा कहती है कि हमारे यहाँ जो कुछ है, सब कुलदेव की कृपा से ही है—

जाकी कृपा बसत व्रज भीतर, जाकी दीन्ही भई बड़ाई।
जाकी कृपा दूध-दधि पूरन, सहस मथानी मथति सदाई।
जाकी कृपा अन्न-धन मेरैं, जाकी कृपा नवौ निधि आई।
जाकी कृपा पुत्र भए मेरैं, कुसल रहौ बलराम कन्हाई[४३]।

किसी भी आशातीत लाभ को हिंदू स्त्रियाँ मानवीय पुरुषार्थ का फल न मानकर, सदय दैव की दया-प्रेरित देन अथवा अपने पुण्यों का फल समझती हैं। यही भाव यशोदा की प्रकृति में मिलता है जब पुत्र होने पर वह कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करती है—

सत संजम तीरथ-व्रत कीन्हैं तब यह संपति पाई[४४]।

लौकिक विभूतियों का योग भी ईश्वर को अर्पण करके ही भोगने का हमारे यहाँ विधान है। इसका निर्वाह कम से कम भोजन के पूर्व भगवान का भोग लगाने में तो किया ही जाता है। महराने से नंद जी के यहाँ आया हुआ पाँडे तो इष्टदेव का ध्यान करके भोग लगाता ही है —

घृत मिष्टान्न खीर मिस्रित करि परसि कृष्न हित ध्यान लगायौ[४५]।

अशोकवाटिका में हनुमान भी फलों का भोजन करने के पूर्व प्रभु को अर्पण कर देते हैं—

---

३६. सा. ११८०। ३७. सा. ४-५। ३८. सा. १०-६। ३९. सा. ९-७६।
४०. सा. ५७६। ४१. सा. ८४१। ४२. सा. ५७९ और १३९६।
४३. सा. ८११। ४४. सा. १०-१६। ४५. सा. १०-२४८।

मनसा करि प्रभुहिं अर्पि भोजन करि डाटे[४६]।

इसी प्रकार दैहिक, दैविक और भौतिक संकटों से उद्धार होने पर भी नंद या यशोदा, दोनों अपने पुरुषार्थ का गर्व न करके ईश्वर की कृपा या अपने पूर्व जन्म के पुण्यों का ही स्मरण करते हैं। प्रलंबासुर के हाथ से जब कृष्ण बचकर आते हैं, तब यशोदा कहती है—

धर्म सहाई होत है जहँ तहँ, स्त्रम करि पूरब पुन्य पच्यौ री[४७]।

ऐसे ही नंद जब वरुण के यहाँ से वचकर आते हैं, तब भी यशोदा कहती है—

अब तौ कुसल परी पुन्यनि तैं[४८]

जहाँ व्रजवासियों को ईश्वर की कृपा पर विश्वास है, वहाँ कुछ भूल-चूक हो जाने पर वे भयभीत भी हो जाते हैं। यशोदा जब कुल-देवता की पूजा भूल जाती है तब उसके कोप से डरती है और तुरंत क्षमा माँग लेती है—

छमा कीजौ मोहिं, हौं प्रभु तुमहिं गयौ भुलाई[४९]।

नंद जब हरि-पूजा करके भोग लगाते हैं और देवता को खाता न देख बालक कृष्ण, इस पर उपहास-सा करता हुआ, पूछ बैठता है—

कहत कान्ह, बाबा तुम अरप्यौ, देव नहीं कछु खाइ[५०]।

तब बालक ने देवता का उपहास किया, इससे भयभीत होकर वे कृष्ण से कहते हैं—हाथ जोड़ो, जिससे सकुशल रहो—

सूर स्याम देवनि कर जोरहु, कुसल रहै जिहिं गात[५१]।

यों तो 'स्त्रवन कीरतन सुमिरन पाद-सेवन अरचन ध्यान बंदन'[५२] आदि भक्ति के विविध रूपों की चर्चा सूर-काव्य में है, परन्तु व्रजवासियों का विश्वास पूजा, व्रत, स्नान, दान, तीर्थयात्रा, तप आदि में विशेष रूप से दिखाया गया है।

अ. **पूजा**—इंद्र, गोबर्द्धन, शिव, पार्वती, सूर्य और शालग्राम की पूजा की चर्चा सूर-काव्य में अनेक पदों में है। इन्द्र की पूजा का चलन व्रज में गोबर्द्धन की पूजा के पूर्व बताया गया है। इसके लिए नन्द के यहाँ विशेष आयोजन होता है। चारो ओर मंगल-गान हो रहा है। प्रातःकाल की पूजा के लिए साँझ से ही भाँति-भाँति के नेवज करके धर दिये गये हैं। इंद्र की पूजा के लिए यह सारा भोग है; वह अपवित्र न हो जाय, इस डर से उसे छुआछूत से बचाया जाता है[५३]। बच्चों को इतनी समझ नहीं होती; वे भोग को कहीं अपवित्र न कर दें, इसलिए यशोदा सारे नेवज, श्याम से बचाकर, सैंतकर रखती है[५४]।

४६. सा. ९-९६। ४७. सा. ६०६। ४८. सा. ९८५। ४९. सा. ८१४। ५०. सा. १०-२६१। ५१. सा. १०-२६१। ५२. सा. ९-५। ५३. सा. ८९१। ५४. सा. ८९३।

गोबर्द्धन-पूजा के लिए सभी घरों में नाना प्रकार के भोजन बनते हैं। सबके द्वार पर बधाई बजती है। शकटों में देव-'बलि' सजाकर सब गोबर्द्धन के पास ले चलते हैं। दधि-लवनी-मधु-मिठाई-पकवान आदि के इतने प्रकार तैयार किये गये हैं कि कवि उनका वर्णन नहीं कर पाता और नन्द के घर से तो सामग्री से भरे सहस्र शकट चलते हैं[५५]। नियत स्थान पर पहुँच कर बिप्र बुलाये जाते हैं और वे 'जग्यारंभ' करते हैं[५६]। द्विज सामवेद का गान करते हैं। सुरपति की पूजा मेटकर गोबर्द्धन को तिलक लगाया जाता है। पश्चात्, उसे दूध से नहलाकर सब 'देवराज' कहते और माथ नवाते हैं[५७]। दूध के अनन्तर गंगाजल से भी उनको स्नान कराया जाता है। अन्त में व्रजवासी उनका भोग लगाते हैं। इसी प्रकार ठौर-ठौर पर वेदी रचकर गोबर्द्धन की बहुविधि पूजा की जाती है[५८]।

पति या सौभाग्य की कामना से स्त्रियाँ शिव का पूजन करती हैं। व्रजबालाओं के मन में भी जब श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना जन्मती है, तब वे गौरी-पति को पूजती हैं। वे बड़े नेम-धर्म से रहती और अनेक प्रकार से उनकी मनुहारि करती हैं। कमल-पुहुप, मालूर-पत्र-फल तथा नाना सुगंधित सुमनों से शिव जी की पूजा का आयोजन किया जाता है[५९]।

'सिव-संकर' जब गोपियों की कामना पूरी करते हैं और उनकी तपस्या का फल देते हैं अर्थात् जब कृष्ण उनको पति-रूप में प्राप्त हो जाते हैं, तो वे पुहुप-पान, नाना फल, मेवा, आदि अर्पण करके यह कहती हुई उनके पैरों पड़ती हैं कि त्रिपुरारी! तुम्हें धन्य हैं। तुम्हारी पूजा करते ही हमें 'पूरन' फल प्राप्त हो गया[६०]।

पार्वती की पूजा की चर्चा सूरदास ने रुक्मिणी-विवाह के प्रसंग में की है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए रुक्मिणी 'गौरि-मंदिर' में पूजा करने जाती है और हाथ जोड़कर उन्हें बहु विधि मनाती है[६१]। साथ की सखियाँ धूप-दीप आदि पूजा-सामग्री लेकर आयी हैं। कुँअरि ने गौरी का पूजन करके बिनती की—'बर देउ जादवराई' और पूजा का उद्देश्य भी वह बहुत सरल भाव से सुना देती हैं—मैं पूजा कीन्हीं इहि कारन[६२]। उसकी बात सुनकर गौरी मुसकाती हैं और रुक्मिणी प्रसाद पाकर अंबिका-मंदिर से बाहर आती है[६३]।

बालक कृष्ण को गोद में खिलाने का सुख भी माता यशोदा 'शिव-गौरि' की सम्मिलित कृपा से मिला समझती हैं[६४]।

सूर्य की पूजा का उल्लेख यों तो 'सूरसागर' के कई पदों में है, परंतु उसकी विधि विस्तार से नहीं दी गयी है। माता यशोदा जब कृष्ण के साथ राधा को पहिली बार देखती हैं, तब इसका सुंदर रूप देखकर सविता से विनती करती हैं—

---

५५. सा. ९०१ । ५६. सा. ८४१। ५७. सा. ९०६। ५८. सा. ८४१।
५९. सा. ७६६। ६०. सा. ७९८। ६१. सा. ४१८०। ६२. सा. ४१८९।
६३. सा. ४१८१। ६४. सा. १०-८०।

सूर महरि सविता सों बिनवति, भली स्याम की जोरी[६५]।

हरि को 'भरतार' रूप में पाने की कामना रखनेवाली गोपियाँ भी रवि से विनय करती हैं[६६]। जब उनकी कामना पूरी हो जाती है, तब वे पुनः हाथ जोड़कर सूर्य को 'पय-अंजलि' देती हैं और स्वीकार करती हैं कि तुम्हारे समान फलदाता कोई नहीं है[६७]। अशोकवाटिका में सीता जी के सामने पहुँचकर हनुमान, लक्ष्मण को 'पालागन' कहते हैं। सीता जी तब 'तरनि सम्मुख' होकर ही उनको 'असीस' देती हैं[६८]।

शालग्राम की पूजा नंद जी करते हैं। यमुना में स्नान करके, झारी में यमुना-जल भरकर, कंज-सुमन लेकर वे घर आते हैं। पैर धोकर वे मंदिर में जाते हैं। उनका ध्यान प्रभु-पूजा में ही लगा है। वे स्थल लीपते, पात्र माँजते-धोते और विधिवत् पूजा करते हैं[६९]। घंटा बजाकर वे देवमूर्ति को नहलाते, चंदन लगाते, पट-अंतर देकर भोग लगाते और आरती करते हैं[७०]।

आ. **व्रत**—'चंद्रायन' और एकादशी—दो व्रतों की चर्चा सूर ने मुख्य रूप से की है। इनमें से प्रथम का तो केवल नामोल्लेख ही है[७१]; द्वितीय का वर्णन विस्तार से है। अंबरीष की कथा को लेकर सूरदास एकादशी के निराहार व्रत पर अधिक जोर देते हैं[७२]। नंद जी एकादशी का 'बिधिवत, जल-पान-बिवर्जित निराहार' व्रत करते हैं। अपना मन वे सब ओर से हटाकर केवल नारायण में लगाते हैं। दिन इस प्रकार ध्यान करते बीतता है, रात में वे जागरण करते हैं। देव-मंदिर पाटंबर से छाया जाता है, पुहुपमालाओं की 'मंडली' बनायी जाती है। चंदन से स्थान लीपकर और चौक पूरकर वे शालग्राम को बैठाते हैं। पश्चात् धूप-दीप-नैवेद्य चढ़ाकर वे आरती करते और माथ नवाते हैं। रात का तीसरा पहर इस प्रकार बिताकर वे महरि से पारण की विधि करने को कहते हैं। तब वे धोती-झारी लेकर जमुना-तट जाते हैं। वहाँ वे झारी भरकर 'देह-कृत' करते, माटी से कर-चरन पखारते, उत्तम बिधि से मुखारी करते और तब स्नान के लिए जल में उतरते हैं[७३]। आगे नंद जी का वरुण के दूतों द्वारा पकड़ा जाना और श्रीकृष्ण द्वारा मुक्त होना वर्णित है। अंत में कवि कहता है—

जो या पद कौं सुनै सुनावै। एकादसि ब्रत कौ फल पावै[७४]।

इ. **स्नान**—शारीरिक स्वच्छता की दृष्टि से स्नान को भी हमारे यहाँ धर्म का एक अंग माना गया है। विशेष स्थानों और अवसरों पर स्नान का विशेष महत्व भी सूरदास ने बताया है। गंगा में स्नान का माहात्म्य बताते हुए कवि कहता है—

गंग प्रवाह माहिं जो न्हाइ। सो पवित्र ह्वै हरिपुर जाइ[७५]।

इसी प्रकार सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र-स्नान का महत्व बताते हुए श्रीकृष्ण यादवों से कहते हैं—

---

६५. सा. ७०२। ६६. सा. ७६७-६८। ६७. सा. ७९८। ६८. सा. ९-८७।
६९. सा. १०-२६०। ७०. सा. १०-२६१। ७१. सा. २-३। ७२. सा. ९-५।
७३. सा. ९८३। ७४. सा. ९८४। ७५. सा. ९-९।

बड़ौ परब रबि ग्रहन कहा कहौं तासु बड़ाई ।
चलौ सकल कुरुखेत, तहाँ मिलि न्हैयै जाई[७६] ।

गंगा, यमुना, सिंधु, सरस्वती, गोदावरी आदि नदियों में स्नान की विशेष महिमा है; परंतु सूरदास की सम्मति में ये सब नदियाँ वहाँ आ जाती हैं, जहाँ हरि-कथा होती है[७७] ।

ई. **दान**—दान के विविध रूपों का वर्णन 'सूरसागर' में है। आनंदोत्सवों के दान की चर्चा तो आगे की जायगी, यहाँ विपत्ति से छुटकारा पाने पर कृतज्ञता-स्वरूप दिये गये दान का एक उदाहरण दिया जाता है । यमुना में स्नान करते समय नंद जी को वरुण के दूत पकड़ ले जाते हैं। श्रीकृष्ण वहाँ से उन्हें छुड़ा लाते हैं। तब यशोदा कहती है—

अब तौ कुसल परी पुन्यनि तैं, द्विजनि करौ कछु दान[७८] ।

उ. **तीर्थयात्रा**—कुरुक्षेत्र[७९], केदार[८०], गया[८१], नीमसार[८२], बनारस[८३], बारानसी[८४], वेनी[८५] आदि तीर्थ-स्थानों की चर्चा सूरदास ने की है। और व्रज को तो परम तीर्थ उन्होंने माना ही है जिसकी परिक्रमा करने का आदेश श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा को दिया है—

ब्रज परिकर्मा करहु देह कौ पाप नसावहु[८६] ।

परन्तु सूरदास की दृष्टि में तीर्थों में स्नान आदि का महत्व गोपाल की लीला का गान करने के सामने कुछ नहीं है—

जो सुख होत गुपालहिं गाऐं
सो सुख होत न जप तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाए[८७] ।

इसी प्रकार सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में तीर्थ-यात्रा का जो कुछ भी महत्व हो, भक्त कवि सूरदास की सम्मति में तो जहाँ हरि-कथा हो, वहीं सब तीर्थ होते हैं—

सर्व तीर्थ कौ बासा तहाँ । सूर हरि कथा होवै जहाँ[८८] ।

ऊ. **तप**—श्रीकृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना रखनेवाली गोपियाँ नियमादि की साधना करती और संयमित जीवन बिताती हैं । उनका 'तप' छहों ऋतुओ में चलता रहता है वे न 'सीत से भीति' करती हैं और न उन्हें भूख-प्यास की ही चिंता है। गेह-नेह सबको बिसारकर निरंतर तप में लगे रहने से वे बहुत 'कृस' हो जाती हैं[८९] । छहों ऋतुओं में वे 'त्रिविध काल' स्नान करती हैं, नेम से रहती हैं और 'चतुर्दस निसि' भोग रहित रहकर जागती हैं । मनसा, वाचा और कर्म से वे श्याम का ही ध्यान करती हैं[९०] ।

---

७६. सा. ४२७५ । ७७. सा. १.२२४ । ७८. सा. ९८५ ।
७९. सा. ४२७५ । ८०. सा. २-३ । ८१. सा. २-३ ।
८२. सा. १-२२८ । ८३. सा. २-३ । ८४. सा. १-४०३ । ८५. सा. २-३ ।
८६. सा. ४९२ । ८७. सा. २-६ । ८८. सा. १-२२४ । ८९. सा. ७६७ ।
९०. सा. ७८२ ।

ए. **अन्य**—उक्त विषयों के अतिरिक्त समस्त मंगलकार्यों में कुलदेव अथवा प्रमुख देवी-देवताओं का स्मरण भी व्रजवासियों की धर्म-भावना का ही द्योतक है। यहाँ तक कि 'सोहिलो' के प्रथम चरण में ही गोरी, गनेस्वर और देवी सारदा से बिनती की जाती है[९१]। 'सराध' को भी एक धर्म-कर्म माना गया है जिसके न करने से धर्म की हानि होती है[९२]।

घ. सामान्य विश्वास—जन-मनोवृत्ति के पारखी सूरदास ने अपने समकालीन समाज के अनेक ऐसे विश्वासों का उल्लेख अपने काव्य में किया है जो आज भी साधारणतः मान्य हैं। ऐसे विश्वासों को शकुन-अशकुन, स्वप्न, कवि-प्रसिद्धि और अन्य विश्वास—इन चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अ. **शकुन-अशकुन**—साहित्य में शकुन का वर्णन मुख्यतः शुभ सूचनाओं का पूर्वाभास कराने के उद्देश्य से होता है। किसी शुभ संवाद के ज्ञात होने के पूर्व शकुनों से पाठक की उत्सुकता बढ़ती है। सूर-काव्य में भी शकुनों का उल्लेख इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ है। कौए का बोलना, मृगमाला का दाहिनी ओर दिखायी देना, पुरुषों के दाहने और स्त्रियों के बायें अंग फकड़ना आदि शकुनों की चर्चा सूर-काव्य में की गयी है।

'सूरसागर' के नवें स्कंध में अशोकवाटिका में बैठी सीता जी जब पति और देवर के लिए चिंतित हो रही हैं, तभी उनके 'नयन-उर' फड़कने लगे और 'सगुन जनायौ अंग'। इससे उन्हें विश्वास हो जाता है—

आज लहौं रघुनाथ-सँदेसौ, मिटै बिरह-दुख संग[९३]।

और तभी हनुमान वहाँ प्रकट होकर सीता जी को पति और देवर का कुशल-समाचार एवं संदेश देते हैं।

वनवास की अवधि समाप्त होने पर माता कौशल्या जब पुत्रों से मिलने के लिए 'सगुनौती' करती हैं, तभी 'सुकाग' उड़कर 'हरी डार' पर बैठ जाता है। माता आश्वस्त हो जाती है और अंचल में गाँठ देकर प्रसन्न हृदय से कौए को 'दधि-ओदन' देने और उसकी चोंच तथा पंखों को सोने के पानी से मढ़ाने की बात कहती है[९४]।

एक विरहणी गोपी के आँगन में कौए को बोलता सुनकर दूसरी उसे सांत्वना देती है—

तेरैं आवैंगे आजु सखी, हरि खेलन कौं फागु री।
सगुन सँदेसौ हौं सुन्यौ, तेरैं आँगन बोलै काग री[९५]।

कंस ने सुफलक-सुत अक्रूर को यह आदेश देकर गोकुल भेजा कि जाकर बलराम और कृष्ण को मथुरा लिवा लाओ। चित्त में बहुत दुखी होते, कंस को भरपेट कोसते और दोनों भाइयों की खैर मनाते हुए अक्रूर गोकुल की ओर चले[९६]। रथ हाँकते ही उन्हें

---

९१. सा. १०-४०। ९२. सा. १-२९०। ९३. सा. ९-८३। ९४. सा. ९-१६४। ९५. सा. २८५९। ९६. सा. २९४३।

दाहिनी ओर 'मृगमाला' के दर्शन हुए। इस शुभ शकुन से वे अत्यंत प्रसन्न और पूर्ण आश्वस्त हो गये--

दाहिनैं देखियत मृग-माल।
मानौ इहिं सकुन अबहिं इहिं बन आजु, इनहिं भुजनि भरि भेटौं गोगोपाल[१७]।

श्रीकृष्ण के कहने से व्रजवासियों को धैर्य देने के लिए उद्धव गोकुल जाते हैं। अभी वे मधुबन से चले ही हैं कि गोपियों को इसका आभास हो जाता है और इसका कारण हैं दो शकुन। पहला, उनके कान के पास आकर एक भौंरा बार-बार गूँजता या गाता है। दूसरा, छत पर बैठे हुए कौओं को जब वे, 'हरि आ रहे हैं ?' कहकर उड़ाती हैं, तब तो वे उड़ते नहीं; परंतु जब 'हरि का समाचार मिलेगा' ? कहकर उड़ाती हैं, तब वे तुरंत उड़ जाते हैं। इससे वे निष्कर्ष निकालती हैं--

सखी परस्पर यह कही बातैं, आजु स्याम कै आवत हैं।
किधौं सूर कोऊ ब्रज पठयौ, आजु खबरि कै पावत हैं[१८]।
+ + +
इनि सगुननि कौ यहै भरोसौ, नैननि दरस दिखावैं[१९]।
+ + +
आजु कोउ नीकी बात सुनावैं।
कै मधुबन तैं नंद-लाड़िलौ, कैऽब दूत कोउ आवै[१]।

कुरुक्षेत्र तीर्थ में ग्रहण-स्नान के लिए पहुँचकर श्रीकृष्ण जब व्रजवासियों को भी वहीं बुला लाने को दूत भेजते हैं, तब गोपियों को अनेक शकुन होते हैं; जैसे-- बायस का गहगहाकर पूर्व दिसि में बोलना, कुच-भुज-नैन-अधर फड़कना और बिना बात के अंचल-ध्वज का डोलना'। इन सब शकुनों का फल सुनाती हुई सखी कहती है --

आजु मिलावा होइ स्याम कौ, मानौ सुनि सखी राधिका भोली।
+ + +
सोच निवारि करौ मन आनँद, मानौ भाग दसा बिधि खोली[२]।

वर्षों के बिछुड़े मित्र श्रीकृष्ण से मिलने को जाते हुए सुदामा जी मार्ग में चिंतित हैं कि वे मिलेंगे या नहीं और मिलेंगे तो कैसे; तभी भले सुगुन' होते हैं और द्वारका पहुँचते ही वे हरि को दरसन' पा लेते हैं[३]।

किसी अनिष्ट की प्रत्यक्ष सूचना मिलने के पूर्व अशकुनों द्वारा उसका आभास कराया जाता है। ऐसा करने से यद्यपि अशुभ संवाद से मिलनेवाला दुख किसी प्रकार कम नहीं होता, तथापि ये अशकुन उसको सहन करने के लिए कुछ कुछ वातावरण

१७. सा. २९४६। १८. सा. ३४५३। १९. सा. ३४५४।
१. सा. ३४५५। २. सा. ४२७६। ३. सा. ४२२७।

तो तैयार कर ही देते हैं। सूरदास की अशकुन-योजना का भी यही उद्देश्य निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

काली दह के फूल मँगवाने के लिए कंस एक दूत नंद जी के पास भेजता है और कहला देता है, 'फूल न भेजने पर व्रज को उजाड़ दूँगा'[४]। स्थिति भयानक है; क्योंकि यह सर्वविदित है कि फूल लेने जानेवाला वहाँ से जीवित नहीं लौट सकता और यदि फल न भेजे गये तो कंस न जाने क्या कुदशा कर डालेगा। इसीलिए दूत के वृंदावन पहुँचने के पूर्व ही नंद जी को एक अशकुन द्वारा परोक्ष सूचना मिल जाती है कि कोई भयानक विपत्ति आनेवाली है—

महर पैंठत सदन भीतर, छींक बाईं धार।
सूर नंद कहत महरि सौं, आजु कहा बिचार[५]।

काली दह के फूलों के लिए पिता को चिंतित देखकर कृष्ण वहाँ जाने का निश्चय करते हैं और श्रीदामा की गेंद लाने के बहाने दह में भहराकर कूद पड़ते हैं[६]। साधारण व्यक्ति उस दह से बचकर नहीं आ सकता; इस कारण कृष्ण के जीवन के लिए आशंकित होकर सब सखा हाय हाय कर रोने लगते हैं। तभी निम्नलिखित अशकुन माता यशोदा को इस दुर्घटना की पूर्व सूचना-सी दे देते हैं—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छींकी।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु ठीकी।
आइ अजिर निकसी नँदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।
मंजारी आगैं ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन आई।
ब्याकुल भई, निकसि गई बाहिर, कहँ धौं गए कन्हाई।
बाएँ काग, दाहिनैं खर-स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई[७]।

नंद जी इस समय बाहर थे। उन्होंने ज्यों ही घर में पैर रखा त्योंही उन्हें भी अनेक अशकुनों ने चिंतित कर दिया—

देखे नंद चले घर आवत।
पैठत पौरि छींक भई बाएँ, दाहिनैं धाह सुनावत।
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई[८]।

महाभारत के अंत में द्वारका जाने पर अर्जुन को कृष्ण-सहित समस्त यादवों के क्षय होने की सूचना मिलती है। यह दारुण समाचार सुनकर वे पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। दारुक के बहुत समझाने-बुझाने पर और श्रीकृष्ण का संदेस सुनाने पर अर्जुन अपने साथ अनाथ यादव नर-नारियों को लेकर लौटते हैं। मार्ग में भीलों से लड़ाई होती

४. सा. ५२६। ५५. सा. २४. ६. सा. ५३९ ७. सा. ५४०।
८. सा. ५४१।

है और वे खूब लूट-मार करते हैं। युधिष्ठिर आदि तक ये सब कुसंवाद नहीं पहुँचे हैं, परंतु निम्नलिखित अशकुन किसी अनिष्टकारी दुर्घटना की आशंका से उन्हें चिंतित कर देते हैं—

रोवैं बृषभ, तुरग अरु नाग। स्यार द्यौस, निसि बोलैं काग।
कंपै भुव, वर्षा नहिं होइ। भयौ सोच नृप-चित यह जोइ[९]।

इ. **स्वप्न**—सूरदास का समकालीन जन-समाज स्वप्नों को भी सर्वथा असत्य या निरर्थक नहीं समझता। अशोकवाटिका में सीता जी बहुत दुखी हो रही हैं तथा हरण की घड़ी से अब तक पति और देवर की कोई सूचना न मिलने से बहुत चिंतित हैं, तभी त्रिजटा आकर रावण की दुर्दशा के उस दृश्य का वर्णन करती है, जो उसने स्वप्न में देखा था। अंत में वह बड़े विश्वास के साथ कहती है—

या सपने कौ भाव सिया, सुनि कबहुँ बिफल नहिं जाइ[१०]।

स्वप्न द्वारा भावी कार्यों की सूचना से संबंधित पात्र संकेतित या संभावित घटना के विषय में कुछ देर सोचने के लिए विवश हो जाते हैं। आगे चलकर जब वह दृश्य सत्य या प्रत्यक्ष हो जाता है, तब पात्र-पात्री को पूर्व 'स्वप्न' का तुरंत स्मरण हो आता है। कालीदह में कूदने के पूर्व श्रीकृष्ण सोते से झझक पड़ते हैं और पूछने पर माता से कहते हैं—

सपनैं कूदि परचौ जमुना दह, काहूँ दियौ गिराइ[११]।

दूसरे दिन जब वे सत्य ही कालीदह में कूद पड़ते हैं और रोते-पीटते हुए सखा आकर इसकी सूचना देते हैं, तब माता कहती है—

सपनौ परगट कियौ कन्हाई।
सोवत ही निसि आजु डराने, हमसौं कहि यह बात सुनाई[१२]।

स्वप्न में यदि कोई देवता कुछ करने का आदेश दे तो साधाणतः धर्मभीरु समाज उसके अनुसार काम अवश्य करता है। इंद्र की पूजा के आयोजन की सूचना जब सात बरस के बालक कृष्ण को मिलती है, तब वह पिता नंद तथा अन्य उपस्थित गोपों से स्वप्न में 'गोबर्धनराज' के दर्शन होने और उनकी पूजा का आदेश दिये जाने की बात कहता है। यह सुनकर समस्त गोप इंद्र की पूजा छोड़कर गोवर्धन पूजने को तैयार हो जाते हैं।

सूर-काव्य में उन्हीं स्वप्नों को सत्य होता दिखाया गया है जो अकस्मात् उस व्यक्ति के संबंध में दिखायी देते हैं जिसका उस दिन जरा भी ध्यान न हो। इसके विपरीत, कारण-विशेष से जिस संबंधी या प्रिय व्यक्ति का निरन्तर ध्यान किया जा रहा हो, वह यदि स्वप्न में दिखायी दे, तब संबंधित दृश्य या घटना के सत्य होने की संभावना पर किसी को विश्वास नहीं होता। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर दिन-रात उनका ध्यान

---

९. सा. १-२८६। १०. सा. ९-८३। ११. सा. ५१७। १२. सा. ५४४।

करनेवाली वियोगिनी गोपियों को पहले तो नींद ही नहीं आती कि स्वप्न दिखायी दें, पर यदि जरा देर को वे सो जाती हैं और प्रियतम के मिलन का कोई दृश्य उन्हें दिखायी देता है, तब कभी तो कोयल कूक कर उन्हें जगा देती है[13], कभी वे स्वयं चौंककर उठ बैठती हैं[14] और कभी स्वप्न में प्रिय-संयोग-सुख से पुलकित होने के कारण जाग जाती हैं। ऐसे अवसरों पर वियोग-जन्य वास्तविक स्थिति उन्हें और भी विकल कर देती है[15]।

ई. कवि-प्रसिद्धि—कुछ बातें समाज में ऐसी प्रचलित होती हैं जिनकी सत्यता-असत्यता की परख करने की आवश्यकता न समझकर कवि-वर्ग उनको ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। सूर-काव्य में ऐसी जो कवि-प्रसिद्धियाँ मिलती हैं, उनमें चकवा चकवी या चकई का सरोवर या जलाशय के निकट रहना और रात में दोनों का वियोग हो जाना[16], चकोर[17] या चकोरी[18] का चंद्रमा की ओर देखना अर्थात् चंद्रिका का पान करना, चातक या चातकी का बरषा (स्वाती) जल के लिए प्यासा होना[19], हंस का मुक्ताफल-भोगी होना[20] आदि मुख्य हैं। इसी प्रकार युद्ध में वीरता से लड़कर मरनेवाले वीरों का सूर्यलोक होते हुए स्वर्ग जाना भी कवि-वर्ग में प्रसिद्ध रहा है—

सुभट मरै तौ मंडल भेदि भानु कौ, सुरपुर जाइ बसावै[21]।

उ. कुछ अन्य विश्वास—सूर-काव्य में जन-समाज, विशेषतः स्त्री-समाज, के कुछ ऐसे विश्वासों की भी चर्चा है, जो आज भी सर्वथा लुप्त नहीं हुए हैं। इनमें से मुख्य मुख्य ही यहाँ संकलित हैं।

बच्चे के ऊपर रुपया, पैसा, गहना आदि निछावर करने के मूल में स्त्रियों का यह विश्वास है कि इससे बच्चे के भावी रोग-धोग और कष्ट-संकट दूर हो जाते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण की तृणावर्त से रक्षा होने पर जब गोपियाँ 'अभूषन वारि वारि'[22] देती हैं, तब उनके हृदय में उक्त भाव ही हिलोरें लेता है।

बच्चे के ऊपर से 'पानी उतार कर पीने' के मूल में भी ऐसा ही विश्वास है कि इससे उसकी विपित्त टल जाती है। कभी कभी दैवी एवं मानवीय आपत्तियों से रक्षा होने पर भी ऐसा किया जाता है। तृणावर्त से बालक कृष्ण की रक्षा होने पर 'पीवति सूर वारि सब (= गोपियाँ) पानी'[23]।

विशेष अवसरों पर पुत्र के संकट अपने ऊपर ले लेने की कामना रखनेवाली माता भी ऐसा ही करती है। असाधारण सुंदरी रुक्मिणी से जब श्रीकृष्ण का विवाह होता है, तब उनकी मनोहर जोड़ी देखकर माता देवकी 'वारकर पानी पीती और असीस देती' है—

देवकी पियौ वारि पानी, दै असीस निहारती[24]।

---

१३. सा. ३२५९। १४. सा. ३२६२ और ३२६५। १५. सा. ३२६०-६१।
१६. सा. १-३३७। १७. सा. १-२९९। १८. सा. १-१६९। १९. सा. ४१८४।
२०. सा. ३५२९। २१. सा. ९-१५२। २२. सा. १०-७८। २३. सा. १०-७८।
२४. सा. ४१८६।

बच्चा जब कोई असंभावित या अद्भुत कार्य कर देता है, तब माता-पिता तथा अन्य गुरुजन आशंकित होकर उस पर किसी अपदेवता की छाया मान लेते हैं और सयानों' से 'हाथ दिलाते' घुमते हैं जिससे वह पुनः सामान्य स्थिति में आ जाय। बालक कृष्ण के मुख में तीनों लोकों को और पुत्र के साथ साथ अपने को भी देखकर माता यशोदा बहुत चकित और आशंकित होकर घर-घर 'हाथ दिलाती' घूमती है—

घर घर हाथ दिवावति डोलति, बाँधति गरैं बघनियाँ[२५]।

बालक कृष्ण जब कुछ अनमना हो जाता है, तब माता यशोदा यह समझ कर कि कहीं 'नजर' न लग गयी हो, पागल-सी उसे गोद में लिये 'घर घर हाथ दिवावति' डोलती है[२६]। इसी प्रकार 'नजर' का प्रभाव दूर करने के लिए कभी तो 'राई-लोन' उतारती है[२७] और कभी 'मंत्र पढ़कर' पानी देती है[२८]। राधा को अनमनी देखकर वृषभानु की घरनी भी 'टटकी नजरि' लगने की शंका करती है[२९]। जब पता लगता है कि राधा को 'काले ने खाया' है, और बड़े बड़े 'गारुड़ी' 'जंत्र-मंत्र' करके भी उसे जिला नहीं सके, तब कृष्ण एक 'मंत्र' से विषहर का विष दूर करने जाते हैं[३०]।

बच्चे को अच्छे वस्त्राभूषण पहनाने पर भी 'राई-लोन' उतार दिया जाता है जिससे उसे किसी की नजर न लग जाय। माता यशोदा भी ऐसा ही करती है—

कबहुँ अंग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि[३१]।

अच्छे घराने के बच्चे यदि किसी बाहरी व्यक्ति के सामने अच्छा खाते-पीते हों और यह टोंक दे अथवा ललचायी दृष्टि से देख भर ले, तब भी बच्चों को दीठि या नजर लग जाने का डर रहता है। इसीलिए यशोदा कहती हैं—

बाहर जनि कबहुँ कुछ खैयै, दीठि लगैगी काहु[३२]।

ङ. पर्वोत्सव—भारतीय जीवन में पर्वोत्सवों की अधिकता इस बात की द्योतक है कि वे केवल परलोक की ही चिन्ता नहीं करते थे, इहलोक के भी सुख भोगना जानते थे। सूरदास के समय में जीवन को आनंदमय बनाने के उद्देश्य से, भगवान की लीला के बहाने, अनेक प्रकार के उत्सवों की योजना की जाती थी। उनके काव्य में दीपमालिका, होली आदि पर्वों तथा रास, हिंडोरा, फुलमंडली, डोल आदि उत्सवों का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। यद्यपि रास-लीला जैसे आयोजनों के मूल में आध्यात्मिक भाव भी रहा है, परंतु सामान्य जनता उतनी गहराई में न जाकर राम-लीला के ढंग पर 'रास' जैसी कृष्ण-लीलाएँ करके उत्साह के साथ उनमें आज भी भाग लेती है। सूरदास ने इन पर्वोत्सवों के लिए जिन-जिन वस्तुओं को आवश्यक समझा है, उनकी सूची और जिस ढंग से उसका आयोजन किया जाता है, उसकी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट है।

---

२५. सा. १०-८३। २६. सा. १०-२५८। २७. सा. ५४४। २८. सा. १०-२५८।
२९. सा. ७५२। ३०. सा. ७५८। ३१. सा. १०-११८। ३२. सा. ९८७।

अ. पर्व—'दीपमालिका' और 'होली', दो पर्वों का वर्णन सूरदास ने विशेष रूप से किया है। दीपमालिका के साथ 'अन्नकूट' या 'गोबर्द्धन-पूजा' भी होती है जिसका संक्षिप्त वर्णन पीछे हो चुका है। मुख्य दिवस दीपमालिका का ही होता है जिसकी दीप्ति सूरदास ने 'कोटि रवि-चंद्र के समान' बतायी है। सब घरों के झरोखों आदि में मणि-मुक्ताओं की झालरें लटक रही हैं। गजमोतियों के चौक पुराये गये हैं जिनके बीच-बीच में लाल 'प्रबालिका' हैं। व्रज-बालिकाओं के साथ राधा जी समस्त श्रृंगार करके कंचन थालियों में झलमल दीप और अन्य सामग्री लेकर, 'करतालिका' पटक पटक कर गाती-गवाती, हँसती-हँसाती, नंद जी के द्वार पर पहुँचती हैं[३३]। बलराम और मोहन पिश्ता, दाख, बादाम, छुहारा, खुरमा, खाझा, गूझा, मटरी आदि मेवा, मिठाई और पकवान लिये बैठे हैं तथा नाम ले लेकर वे प्रत्येक गोपी-ग्वाल को दे रहे हैं[३४]। 'सरद कुहू निसा' के इस पर्व पर सब आनंदित हैं, घर-घर में थापें दी जा रही हैं और मंगलचार हो रहे हैं[३५]।

होली का उत्सव, सूरदास के अनुसार, सरस वसंत ऋतु की प्रथम पंचमी से ही आरंभ हो जाता है। कुमारी राधिका अपनी सखियों के साथ 'छरी' लेकर कमलनयन श्रीकृष्ण और उनके सखाओं पर दौड़ती है। 'चोवा-चंदन-अगर-कुमकुमा' आदि से सुगंधित रंग पिचकारियों में भर भरकर छिड़का जा रहा है, गुलाल अबीर उड़ाया जा रहा है, 'ताल-मृदंग-बीना-बाँसुरी-डफ' आदि बज रहे हैं। झुम-झूमकर युवक-युवतियाँ, सब 'झूमक' गा रहे हैं और 'तरुनीं बाल सयानी', सब गालियाँ भी गा रही हैं[३६]। अवसर पाकर श्याम, राधा पर 'गेंदुक' चलाते हैं; परंतु वह मुख पर पट देकर बचा जाती है[३७]। कंचन के माट और 'कमोर' सुगंधित रंगों से भरकर कभी कृष्ण 'बृषभानु की पौरि' जाते हैं[३८] और कभी 'व्रज की बीथिनि बीथिनि' में 'नील-अरुन-सित-पीत' वस्त्र पहने, हो हो करते डोलते हैं[३९]।

होली खेलनेवालों की बारात' का वर्णन भी सूरदास ने किया है जिसमें अनेक खिलाड़ी 'खरों' पर भी सवार हैं[४०]। गुलाल इतना उड़ाया जाता है कि 'बादर' लाल हो गये हैं और 'सिगरे अटा-अटारी' रँग जाते हैं। गालियाँ भी गायी जाती हैं जिनमें नंद महर तक का बखान कर दिया जाता है[४१]। उत्तर में गोप भी 'बरसाने' का नाम लेकर 'गारी' देते-दिवाते हैं[४२]। फाग खेलकर सब 'फगुआ' की माँग करते हैं[४३]। माता यशोदा सब बालाओं को रंग-रंग की 'पहिरावनि'[४४] तथा मेवा, मिश्री, अनेक रत्न[४५] आदि देती हैं। श्रीकृष्ण भी अपने सखाओं को उनकी इच्छानुसार 'फगुआ' देते हैं[४६]। अंत में सब यमुना में स्नान करने जाते हैं[४७]। पश्चात्, सब 'सेत-अरुन कोरे

---

३३. सा. ८०९। ३४. सा. ८१०। ३५. सा. ८४१।
३६. सा. २८५४। ३७. सा. २८५६। ३८. सा. २८६६।
३९. सा. २८६९। ४०. सा. २९१४। ४१. सा. २८७८।
४२. सा. २८९५। ४३. सा. २८९७। ४४. सा. २८९९।
४५. सा. २९१५। ४६. सा. २९१६। ४७. सा. २९०१।

पाटंबर' पहनते और आभूषण धारण करते हैं। द्विजगण दूब-दधि लेकर 'रोचन-रोरी' का तिलक करते हैं और श्याम 'कंचन की बोरी' विप्र और बंदीजन को देते हैं[४८]।

आ. **उत्सव**--रास, हिंडोरा, फूलमंडली और डोल—इन चार उत्सवों का सूरदास ने विशेष रूप के वर्णन किया है। 'सरद निसि' को वृन्दा विपिन में 'जमुना पुलिन' पर रास आरंभ होता है। 'स्याम स्यामा' तथा अन्य व्रज-बालाएँ आदि सभी प्रकार के सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर नृत्य करते हैं[४९]। प्रातःकाल 'रास रस से स्रमित' श्रीकृष्ण के साथ समस्त गोपियाँ यमुना में जल-विहार का आनन्द लेती हैं[५०]।

'हिंडोरा' वर्षा ऋतु का उत्सव है। 'बिसकरमा' को बुलाकर 'हिंडोरना' गढ़ाया जाता है; कंचन के खंभ हैं, 'मरुव-मयारि' चाँदी की हैं[५१]।' हिंडोरने में विद्रुम मुक्ता आदि लटक रहे हैं[५२]। बैठने के लिए रत्नजटित पटुलियाँ हैं जिनमें बीच बीच में बिद्रुम, हीरा, लाल आदि जड़े हुए हैं। हिंडोरने से मोतियों की झालरें भी लटक रही हैं[५३]। गोप-बालाएँ सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके झुंड के झुंड झूलने आ जाती हैं[५४]। सखियों में कोई तो 'झोंटा'[५५] देकर झुलाती है, कोई गाती है, कोई संग 'मचती' है, कोई 'मचने' को कहती है, कोई डरती और हा हा करके विनय करती है कोई प्रिय की भुजा पकड़कर हिंडोरे से उतार देने को कहती है[५६]। इसी प्रकार गोपी झुलाती हैं और बनवारी गाते हैं[५७]।

'रास' और 'हिंडोरे' का वर्णन तो सूरदास ने विस्तार से किया है, परतु 'फूल' या 'फूलमंडली' और 'डोल' का वर्णन बहुत संक्षेप में है। 'फूलमंडली' ग्रीष्म का उत्सव है। फूली हुई फुलवारियों में, सुगंधित पुष्पों के बीच आनंद मनाया जाता है। सूरदास ने भी फूलों के फूले हुए कुंजों में, फूलों का महल बनाकर, फूलों की सेज बिछाकर, हर्ष से फूले दंपति का 'मगन' होकर विहार करना बताया है[५८]।

डोल' का उत्सव वसंत ऋतु में मनाया जाता है। गोकुलनाथ वृषभानुनंदिनी के साथ 'डोल' में बिराजते हैं। सबके वस्त्राभूषण आदि वैसे ही हैं जैसे 'हिंडोरे' के उत्सव में वे धारण करते हैं। प्रिय के साथ सब व्रज-सुंदरियाँ खेलती हैं, हँसती हैं, गाती हैं और परस्पर मीठे स्वर में संलाप करती हैं[५९]।

च. **संस्कार**—सूरदास ने अपने काव्य में मुख्य रूप से नौ संस्कारों—पुत्र-जन्म, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन, यज्ञोपवीत, विवाह और अन्त्येष्टि—का वर्णन किया है।

अ. **पुत्रजन्म**--राम और कृष्ण, दोनों के जन्म-संस्कारों का वर्णन सूरदास ने किया है—प्रथम का संक्षेप में और द्वितीय का विस्तार से। राम के जन्म पर सखियाँ

---

४८. सा. २९०८। ४९. सा. ११४८। ५० सा. ११५७।
५१. सा. २८३०। ५२. सा. २८३१। ५३. सा. २८३२।
५४. सा. २८३०। ५५. सा. २८३३। ५६. सा. २८३४। ५७. सा. २८३५।
५८. सा. २४५६। ५९. सा. २९१९।

मंगल गाती हैं, ऋषि अभिषेक कराते हैं और आँगन में 'सामवेद-धुनि' छा जाती है। महाराज के यहाँ पुत्र जन्म हुआ है; इसलिए अधीनस्थ शासकों के यहाँ से 'टीका' आने का भी उल्लेख मिलता है—

रघुकुल प्रगटे हैं रघुबीर।
देस देस तैं टीकौ आयौ, रतन कनक मनि हीर[६०]।

अयोध्या के घर घर में मंगल-बधाई होती है। 'मगध बंदी सूत' के लिए 'गो गयंद हय चीर' लुटाये जाते हैं[६१]। राजा ने दान देते समय 'महा बड़े नग हीर' भी नहीं बचाये अर्थात् सर्वस्व लुटा दिया[६२]।

कृष्ण का जन्मोत्सव-वर्णन अपेक्षाकृत विस्तार से है। आरंभ में 'नार' छेदने की चर्चा है। 'मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ' लेकर भी 'दाई' झगड़ा करती है[६३]। 'कंचन के अभरन', 'मोतिनि थार भरे'[६४] और 'हार-रतन' पाकर ही वह संतुष्ट होती है। तब वह 'नार' छेदकर बधाई देती है[६५]। ताल-मृदंग[६६], 'पनब-निसान-रुंज-मुरज सहनाई'[६७], 'डफ-झाँझ-भेरि-पटह'[६८] आदि बजते हैं। बारिनि बंदनवार बाँधती है[६९]। कंचन कलश सजाये जाते[७०] हैं। चंदव से 'चौक' लीपा जाता है, आरती सँजोकर धरी जाती है। सात सींकों से 'सथिया' बनाया जाता है[७१]।

ऋषिगण 'अच्छत-दूब' लिये द्वार पर खड़े हैं। गोकुलवासियों में कुछ तो परस्पर 'हरद दही'[७२] और कुछ 'चोवा-चंदन-अबिर' छिड़कते हैं[७३]। कुछ सिर पर 'दधि-दूब' धरते हैं[७४] और 'बृद्ध तरुन बाल' सब नाचते हैं। सबने गोरस की कीच मचा रखी है। गोकुल की सारी भूमि लुटाये गये रत्नों से छा गयी है[७५]। स्त्रियाँ समस्त सुंदर वस्त्राभूषण धारण करके 'कंचन थाल' में 'दूब-दधि-रोचन' लेकर 'बधाई' गाती हुई नंद जी के घर जाती हैं[७६]। वहाँ दस-पाँच सखियाँ मिलकर 'मंगलगीत' गाती और उत्सव मनाती हैं[७७]।

नंदजी स्नान करके 'कुश' हाथ में लेकर[७८], सभा के बीच में सिर पर दूब धरकर बैठते हैं[७९]। 'नांदीमुख' श्राद्ध करके वे 'पितरों' को पूजते और संतुष्ट करते हैं। फिर चंदन से विप्रों का तिलक करते हैं; वस्त्राभूषण पहना कर सबके 'पैर पड़ते' हैं। ताँबे से खुर, चाँदी से पीठ और सोने से सींग मढ़ी हुई अनगिनती गैयाँ उन्होंने ब्राह्मणों को दान में दी हैं। पश्चात् इष्ट-मित्र-बंधुओं के माथे पर मृगमद-मलय कपूर का उन्होंने तिलक किया; सबको मणि-मालाएँ पहनायीं और वस्त्रादि देकर संतुष्ट किया। कुल-

६०. सा. ९-१८। ६१. सा. ९-१८। ६२. सा ९-१६।
६३. सा. १०-१५। ६४. सा. १० १६ व १६-१०। ६५. सा. १०-१८।
६६. सा. १०-१९। ६७. सा. १०-२२। ६८. सा. १०-२४। ६९. सा. १०-१९।
७०. सा. १०-२४। ७१. सा. १०-२६। ७२. सा. १०-१९।
७३. सा. १०-२८। ७४. सा. १०-२४। ७५. सा. १०-२१।
७६. सा. १०-२२। ७७. सा. ११-२४। ७८. सा. १०-२४। ७९. सा. १०-३१।

बधुओं को भी उन्होंने अनेक प्रकार के अंबर और साड़ियाँ दीं। तदनंतर बंदीजन-मागध सूतवृन्द में से जिसने जो माँगा, उसे वही दिया और तब—

आए पूरन आस कै सब मिलि देत असीस।
नंदराइ कौ लाडिलौ, जीवै कोटि बरीस[८०]।

द्वार पर ढाढ़ी और ढाढ़िनि 'हुरके' बजाते और मनचाही वस्तु पाकर मस्तक नवाते हैं[८१]। नंद जी के द्वार पर आज जो याचक बनकर आये थे, वे इतनी धन संपत्ति ले गये कि फिर 'जाचक न कहायें'[८२]। अपार दान-सामग्री लेकर मार्ग में जाते हुए वे ऐसे जान पड़ते थे जैसे कहीं के 'भूप' जा रहे हों[८३]।

आ. **छठी**—यह संस्कार 'सोहिलौ' से आरंभ होता है। पास-परोसिनें, सखी-सहेलरी, सब एकत्र हो जाती हैं। मालिनि 'तोरना' बाँधती है आँगन में केले 'रोपे' जाते हैं, सुनार सोने का 'ढोलना' गढ़कर लाता है, ललन की 'आरती' का आयोजन होता है। नाइन महावर लगाती है। 'दाई' को 'लाख टका, झूमका और साड़ी नेग' में दी जाती है। विश्वकर्मा बढ़ई ढोलना' गढ़कर लाता है। कोरे कपड़े निकाले जाते हैं। जाति-पाँति के स्त्री-पुरुषों की 'पहरावनी' करके 'काजर-रोरी-ऐपन' से छठी कौ चार' होता है[८४]।

इ. **नामकरण**—ऋषिराज गर्ग नंद-भवन में पधारते हैं। नंद जी उनके चरण धोकर चरणोदक लेते और बड़े आदर से 'अरघासन' देते हैं[८५]। गर्ग जी तब 'लगन सोधकर और जोतिष गनिकै' नवजात शिशु के अनेक 'गुन' या 'लक्षण' बताते हैं[८६]। व्रज-वासी उनको सुन-समझकर बहुत आनंदित होते हैं[८७]। बिप्र-सुजन-चारन बंदीजन आदि भी तब नंद-गृह आते हैं और दान-मान पाकर सुखी होते हैं[८८]।

ई. **अन्नप्राशन**—कुछ दिन कम 'षट' मास के होने पर 'अनप्रासन' संस्कार होता है। विप्र बुलाकर 'राशि सोधकर' सुदिन निश्चित किया जाता है। सखियाँ बुलायी जाती हैं जो नंद जी का नाम लेकर 'गारी' गाती हैं[८९]। उनकी पाँति' की व्रज बधुओं में कोई ज्योनार करती है, कोई घी के पकवान बनाती है और कोई नाना प्रकार के व्यंजन तैयार करती है। अपनी जाति के सब लोगों को नंद जी बुलाते हैं और आदर से बैठाते हैं। माता यशोदा उबटन लगाकर कान्ह को स्नान कराती और 'पट भूषन' पहनाती है। पुत्र के तन में 'झगुली', सिर पर लाल 'चौतनो' और दोनों हाथ पैरों में चूरा' देखकर माता फूली नहीं समाती। नंन जी तब बालक को गोद में लेकर मंडली के बीच में बैठते और उसका मुँह जुठराते हैं—

षटरस के परकार जहाँ लगि लै लै अधर छुवावत।
+ + +
तनक तनक जल अधर पौंछि कै जसुमति पै पहुँचाए[९०]।

---

८०. सा. १०-२७। ८१. सा. १०-३१। ८२. सा. १०-३३। ८३. सा. १०-३५।
८४. सा. १०-४०। ८५. सा. १०-८५। ८६. सा. १०-८६। ८७. सा. १०-८७।
८८. सा. १०-८७। ८९. सा. १०-८८। ९०. सा. १०-८९।

इसके उपराँत 'पनवारे परसाये' जाते हैं और सब लोग बड़ी रुचि से भोजन करते हैं[९१]।

उ. वर्षगाँठ बालक कृष्ण जब वर्ष भर का होता है, तब प्रथम वर्षगाँठ संस्कार किया जाता है। माता यशोदा बच्चे को स्नान कराती, पोंछती और वस्त्राभूषण पहनाती है। गले में 'मणिमाला' और सिर पर 'चौतनी' पहने माथे पर 'डिठौना' लगाये, आँख में अंजन डलाये और शरीर पर 'निचोल' पहने बालक 'कलबल' बोलता है[९२]। आँगन चंदन से लिपाया जाता है, मोतियों से चौक पूरा जाता है और शुभ घड़ी निश्चित करने के लिए विप्र बुलाया जाता है। 'अच्छत-दूब-दल' 'बँधाकर लाल की गाँठ जुड़ायी जाती है[९३]। व्रज-नारियाँ सुंदर तान से मंगल गाती हैं और माता बालक की छवि पर 'तृन तोड़ती' है[९४]।

ऊ. कनछेदन – कान्ह कुँवर को, 'कनछेदन' के पूर्व बहलाने के लिए, हाथ में 'सोंहारी और गुड़ की भेली' दी जाती है। सींक से कानों के पास 'रोचना' का चिह्न-सा लगाया जाता है। कंचन के दो 'दुर' पहले ही से तैयार करा लिये गये हैं। तब नौआ बहुत शीघ्रता से कान छेद देता है। बालक पर 'मनि-मुकुता' निछावर किये जाते हैं और सारे गोकुल में सुख-सिंधु लहराता है[९५]।

ए. यज्ञोपवीत—कंस-वध के पश्चात् हरि-हलधर का यज्ञोपवीत संस्कार होता है। गर्ग जी से दोनों 'गायत्री' मंत्र सुनते हैं। ब्राह्मणों को अनेक धेनु दान में दी जाती हैं। नारियाँ मंगलचार गाती हैं[९६]। लोक-लोक से टीका आता है। 'ढोल-निसान-संख' बजते हैं और माता देवकी हरि-हलधर पर 'रतन-पट-सारी' आदि वस्तुएँ निछावर करती है[९७]।

ऐ. विवाह—राम-जानकी, वसुदेव-देवकी, राधा-कृष्ण और रुक्मिणी-कृष्ण—इन चार विवाहों का वर्णन सूरदास ने मुख्य रूप से किया है। राम का विवाह धनुष-भंग के पश्चात् होता है। राजा दशरथ जनक के यहाँ 'बरात' सजाकर पहुँचते हैं, मोतियों से 'चौक' पुराये जाते हैं, विप्रगण 'बेद-धुनि' करते हैं, युवतियाँ मंगल गाती हैं। विवाह के पश्चात् राम, सखियों के बीच में बैठी जानकी जी का 'कंकन' खोलते हैं। 'कनक-कुंडी' में 'पूँगीफल-जुत निरमल जल' रखा जाता है। इसमें राम जानकी 'जूप' खेलते हैं[९८]।

देवकी के विवाह का विवरण कवि ने नहीं दिया है। केवल मंगलचार के साथ देवकी के विदा होने और दहेज-रूप में 'हय-गय-रतन-हेम-पाटंबर' दिये जाने मात्र की चर्चा की है[९९]।

राधा से कृष्ण के गंधर्व-विवाह का वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। उबटन-स्नान-शृंगार के पश्चात् 'कुँवरि' 'चौरी' में लायी जाती है और हरि मोर-मुकुट का मौर धारण करके वर-रूप में आते हैं। सब गोपियाँ 'नेवते' आयी हैं और वे मिलकर

---

९१ स.. १०-८९। ९२. सा. १०-९४। ९३. सा. १०-९५।
९४. सा. १०-९६। ९५.सा. १०-१८१। ९६. सा. ३०९३।
९७. सा. ३०९४। ९८. सा. ९-२५। ९९. सा. १०-४।

'मंगल' गाती हैं। नव फूलों का मंडप छाया जाता है, वेदी बनती है जिसमें श्याम-श्यामा बैठते हैं। 'गारियाँ' गायी जाती हैं, 'पाणिग्रहण' होता है और तब 'भाँवरें' पड़ती हैं[1]। इसके उपरांत सखियाँ पहले तो कृष्ण से राधा के 'कंकन' की 'गाँठ' खोलने को कहती हैं और तब राधा से[2]। कृष्ण का मोर-मुकुट इस समय 'सेहरे-'सा बँधा जान पड़ता है[3]।

रुक्मिणी से कृष्ण के विवाह का वर्णन भी इसी प्रकार विस्तार से है। वर अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से सज्जित है। उसके सिर पर 'सेहरा' है और वह चपल घोड़े पर सवार है। 'बरात' के लोग भी खूब सजे-सजाये हैं। 'संख-भेरि-निसान' आदि बजते हैं। 'भाट' बिरद बोलते हैं, मुहूर्त शोधकर 'चौरी' रची जाती है। मुक्ताहल से 'चौक' पुराया जाता है।

अब वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वधू को उसकी सखियाँ मंडप में लाती हैं। वेद-विधि से कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह होता है। विप्रों को अनगिनती गैयाँ दान में मिलती हैं, याचक दान पाकर 'अजाची' हो जाते हैं। तब वर-वधू मंदिर में जाते हैं। बहन सुभद्रा आरती उतारती है। माता देवकी 'वारकर' पानी पीती और असीस देती है। युवतियाँ तब दोनों को 'जुआ' खिलाती और अन्य 'कुल-ब्यौहार' कराती हैं[4]।

ऋ. अंत्येष्टि—राजा दशरथ की अंत्येष्टि का वर्णन सूरदास ने किया है। उनके 'विमान' के साथ गुरु और पुरजन चलते हैं। श्मशान पर पहुँचकर 'चंदन-अगर-सुगंध-घृत' आदि से चिता' बनायी जाती है। जिस पर राजा का शव रखकर भस्म किया जाता है। इसके बाद 'तिल-अंजलि' दी जाती है। दस दिन तक 'जल-कुंभ' और 'दीप-दान' आदि की क्रिया होती है। ग्यारहवें दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और 'नाना बिधि' दान दिया जाता है[5]। अंत्येष्टि करनेवाले पुत्र भरत ने सर भी मुड़ाया है। उनका 'मुंडित केस-सीस' देखकर राम बहुत दुखी होते हैं[6]।

सीता हरण के अवसर पर, उनका विलाप सुनकर, रावण से युद्ध करनेवाला जटायु जब राम के दर्शन करके और सारा प्रसंग सुनाकर मरता है, तब ये अपने हाथ से उसे जलाते हैं[7]। इसी प्रकार शबरी के 'हरि-लोक' सिधारने पर भी राम 'तिल-अंजलि' देते हैं[8]।

छ. कला-कौशल—वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य—ये पाँच मुख्य कला-भेद हैं। इनमें से प्रथम तीन के सौंदर्य का अनुभव हमें नेत्रेंद्रिय द्वारा होता है और अंतिम दो का श्रवणेंद्रिय द्वारा। प्रथम वर्ग में से वास्तुकला से संबंधित शब्दावली सूर-काव्य में अधिक है। और द्वितीय वर्ग में से संगीत कला की। अन्य कलाओं में से 'पाहन-पूतरी'[9], 'प्रतिमा'[10],

---

१. सा. १०७२। २. सा. १०७३। ३. सा. १०७४।
४. सा. ४१८६। ५. सा. ९५०। ६ सा. ९५२। ७. सा. ९-६६।
८. सा. ९-६७। ९. सा. २७८८। १०. सा. १०-३४०।

आदि में मूर्तिकला का, एवं पर्वो-त्योहारों के शुभ अवसरों पर दीवार या गच पर विशेष रूप से, एवं 'बनमुद्रा घसि कै'[११] अंगों पर सामान्य रूप से, बनाये गये चित्रों में चित्र-कला का अभ्यास माना जा सकता है। गीति[१२], छंद, पद आदि काव्यकला के सामान्य अंग मात्र सूर-काव्य में मिलते हैं। नंद जी के यहाँ और अयोध्या, मथुरा तथा द्वारका के राजमहलों में कलापूर्ण भवनों का निर्माण एवं उनके झज्जों[१३], अट्टालिकाओं, झरोखों[१४], कँगूरों[१५] आदि पर विद्रुम और स्फटिक की पच्चीकारी का काम, कनक या मणिखंभ, काँच या कनक के सुंदर गच आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध वास्तु-कला से है।

संगीत-कला से सम्बन्धित शब्द सूर-काव्य में सबसे अधिक हैं। राग-रागिनियों और वाद्यों के जितने नाम उन्होंने गिनाये हैं, उतने संभवतः हिंदी के किसी कवि के काव्य में नहीं मिलेंगे। यों तो सूरदास ने 'छह राग, छतीस रागिनी',[१६] 'तीन ग्राम इकईस मूर्छना, कोटि उनचास तान',[१७] सरगम'[१८] आदि संगीत कला से सम्बन्धित अनेक बातें अपने काव्य में दी हैं, परंतु मुख्य रूप से उन्होंने रागों और बाजों के नाम ही गिनाये हैं जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं--

अ. **प्रमुख रागों के नाम**--असावरि[१९] या आसावरी[२०], अहीरी[२१], ईमन[२२], करनाटी[२३], कान्हरौ[२४], केतकी[२५], केदारौ[२६], गुंडमलार[२७], गुनकली[२८], गौड़ मल्हार[२९], गौड़ी[३०], गौरी[३१], जैजैवंती[३२], जैतश्री[३३], टोड़ी[३४], देव या देवगंधार[३५], देवगिरी,[३६] देशाक[३७], नट[३८], नटनारायन[३९], नायकी[४०], पंचम[४१], पुर्वी[४२], प्रभाती[४३], बिभास[४४], बिहार या बिहाग[४५], बेलावल या बिलावल[४६], भूपाली[४७], भैरव[४८], मलार[४९], मारू[५०], मालकोस[५१], मालवाई[५२] मेघमालव[५३], रामकली[५४], ललित[५५], श्री[५६], षट[५७], सारंग[५८], सूआ[५९], सोरठी[६०] आदि।

---

११ सा. १०-२४। १२. सा. वें. ३११२। १३. सा. २९०२।
१४. सा. ८०९। १५. सा. ४३०७। १६. सा. १२३८।
१७. सा. १३५३। १८. सा. ११५१। १९. सा. २८३१।
२०. सारा. १०१६। २१. सा. ३२१७ । २२. सारा. १०१३। २३. सा. २१४०।
२४. सारा १०१३। २५. सारा. १०१७। २६. सा. १०-२४२। २७. सा. २८३१।
२८. सारा १०१७। २९. सारा. १०१५। ३०. सा. १२२०। ३१. सा. १२२०।
३२. सारा. १०१७। ३३. सारा. १०१६। ३४. सा. २८३१। ३५. सारा १०१६।
३६ सारा. १०१६। ३७. सारा. १०१६। ३८. सा. २१४१। ३९. सा. १२२०।
४०. सारा. १०१४। ४१. सारा. १०१२। ४२. सारा. १०१६ ४३. सा. १०१८।
४४. सारा. १०१५। ४५. सारा. १०१४। ४६. सारा. १०१५। ४७. सारा. १०१३।
४८ सा. २८३१। ४९. सा. २८०८। ५०. सा. ३७६८। ५१. सारा. १०१२।
५२. सा. २८३१। ५३. सारा. १०१३। ५४. सारा. १०१७। ५५. सारा. १०१२।
५६. सारा. १०१६। ५७. सारा. १०१२। ५८. सा. १२२०। ५९. सा. १०१८।
६०. सा. २८३१।

आ. **बाजे** आउज[६१] या आउझ[६२], अमृतकुंडली[६३], उपंग[६४], करताल[६५], किन्नरी[६६], गिरगिरी[६७], गोमुख[६८], चंग[६९], झाँझ[७०], झालरी[७१], डफ[७२], डिमडिम[७३], ढोल[७४], तुंबुर[७५], तूर[७६], निसान[७७] या नीसान[७८], पखाउज[७९], पटह[८०], बाँसुरी[८१], (= बेनु[८२], मुरलिया[८३], मुरली[८४]), बीना[८५], भेरि[८६], महुअरि[८७], मिरदंग[८८] या मृदंग[८९], मुरज[९०], रबाब[९१], रुंज[९२], संख[९३], सुरमंडल[९४], हुरका[९५] आदि ।

सूर-काव्य से जो सूचियाँ ऊपर दी गयी हैं, उनसे कवि के समकालीन समाज की सांस्कृतिक स्थिति का बहुत-कुछ परिचय सहज ही मिल जाता है। परंतु इस संबंध में इतना ध्यान रखना भी आवश्यक है कि पौराणिक कथा-वार्ता आदि में समय समय पर सम्मिलित होते रहने से सूरदास ने अनेक वस्तुओं के नाम ऐसे भी दे दिये होंगे जो उनके समय में बहुत लोकप्रिय न होंगी। उदाहरण के लिए जितने आभूषण या बाजे सूरदास ने गिनाये हैं, जन-साधारण उन सभी से परिचित रहा हो, यह बहुत आवश्यक नहीं है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि व्रज की तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान कराने में उक्त शब्दावली से पर्याप्त सहायता मिलती है।

---

६१. सा. ९-७५। ६२. सा. २८६७। ६३. सा. २८८८। ६४. सा. ११८०।
६५. सा. २८६४। ६६. सा. २८६७। ६७. सा. २९१७। ६८. सा. २८८८।
६९. सा. २८६६। ७०. सा. ९-७५। ७१. सा. २८६७। ७२. सा. २८६७।
७३. सा. २९०६। ७४. सा. २९०६। ७५. सा. २८८८। ७६. सा. १०-४०।
७७. सा. ११४४। ७८. सा. ११८०। ७९. सा. ९-७५। ८०. सा. २८८८।
८१. सा. २८६७। ८२. सा. ११८०। ८३. सा. २८८१। ८४. सा. ११८०।
८५. सा. ३३५७। ८६. सा. १०-४०। ८७. सा. २८६०। ८८. सा. २८२८।
८९. सा. ४१८५। ९०. सा. ११८०। ९१. सा. ११८०। ९२. सा. २८६०।
९३. सा. ४१८६। ९४. सा. २९१६। ९५. सा. १०-३१।

७. उपसंहार

समकालीन और परवर्ती व्रजभाषा-कवियों से सूर की भाषा की तुलना एवं अध्ययन का सारांश

सूर के समकालीन व्रजभाषा कवि—व्रजभाषा के जो कवि सूरदास के समकालीन थे, उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में वल्लभ-संप्रदाय के कवि और उनमें भी विशेष रूप से अष्टछापी कवि आते हैं जिनसे सूरदास का नित्य का परिचय था और दूसरे वर्ग में वे कवि हैं जिनसे सूरदास का घनिष्ठ संबंध नहीं था।

क. **समकालीन अष्टछापी कवि**—अष्टछाप के आठ कवियों में सूरदास के अतिरिक्त कुंभनदास (संवत् १५२५-१६३९), परमानंददास (संवत् १५५०-१६४०), कृष्णदास अधिकारी (संवत् १५५२से१६३२ या १६३८तक किसी समय)[९६], नंददास (संवत् १५९०-१६३९),चतुर्भुजदास (संवत् १५९७-१६४२),गोविंद स्वामी(संवत् १५६२-१६४२)और छीत स्वामी (संवत् १५६७-१६४२) हैं। इन सबका देहांत संवत् १६४२ में या इसके पूर्व होना माना गया है। इस प्रकार सूरदास के समकालीन तो ये कवि थे ही, निवास भी बहुत समय तक इन सबका एक ही स्थान पर रहा। अतएव इनकी व्रजभाषा में एक प्रकार से समानता होनी चाहिए। एक दूसरे से जो अंतर या विशेषता कवि-विशेष की भाषा में मिलती है, उसका मूल कारण उसका अध्ययन या उसकी बहुज्ञता ही मान सकते हैं। भाषा के परिमार्जन में अभ्यास का भी महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु परिमाण में सूरदास की रचना सबसे अधिक होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इन अष्टछापी कवियों में से किसी ने भी काव्य-रचना का उनसे अधिक अभ्यास किया था। केवल भाषा-सौंदर्य की दृष्टि से यदि इन कवियों का श्रेणी-विभाजन किया जाय तो इनका क्रम, स्थूल रूप से, इस प्रकार होगा—नंददास, परमानंददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, कुंभनदास और कृष्णदास अधिकारी। इनमें से अंतिम पाँच कवियों की भाषा में कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो सूरदास से बढ़कर कही जा सके। परमानंद की भाषा में अवश्य सरसता, सूरदास से कुछ अधिक है; परंतु इसका कारण उनकी रचना का परिमाण में अपेक्षाकृत कम होना ही जान पड़ता है। 'परमानंद-सागर' में लगभग दो हजार पद हैं। विभिन्न स्थानों से प्राप्त, परमानंददास के नाम से प्रचलित, सभी पदों को यदि संकलित कर लिया जाय तो इनकी संख्या लगभग दो हजार तक पहुँच जाती है[९७]। इतने ही पद यदि सूरदास के चुन लिये जायँ तो निश्चय ही भाषा की सरसता में वे परमानंदास के पदों से घटकर नहीं होंगे।

---

९६. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २५४-५५।
९७. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० ३२०।

नंददास की भाषा कुछ ग्रंथों में अवश्य सूरदास से अधिक साहित्यिक कही जा सकती है जिसमें अनुप्रास का लालित्य एक ओर उसके सौंदर्य की वृद्धि करता है और संस्कृत की कोमलकांत पद-योजना दूसरी ओर उसे सौष्ठव प्रदान करती है। यह ठीक है कि भाषा की दृष्टि से नंददास के सर्वश्रेष्ठ काव्यभाग की समता करनेवाले अनेक पद सूर-साहित्य में भी मिल जायँगे; परंतु इनके आधार पर व्यापक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास इसी भाषा में रचना करना चाहते थे। वास्तव में सूर-साहित्य का आंशिक भाग व्रजप्रदेश की उस चलती भाषा में लिखा गया था जो अपने अनलंकृत और अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक रूप में वहाँ प्रचलित थी और साहित्यिक दृष्टि से जिसका पूरा-पूरा परिष्कार नहीं हो पाया था। सूरदास ने इसके ठेठ माधुर्य की रक्षा करते हुए उसे साहित्यिक रूप दिया नंददास ने सूरदास से प्रेरणा ली और व्रजभाषा के चलते हुए रूप की अधिक चिंता न करके, उसके परिष्कृत रूप को अपनाया और संस्कृत पदावली के साहचर्य से इसे साहित्यिक बनाने का प्रयास किया।

ख. **समकालीन अन्य कवि**[९८]—व्रजभाषा के जिन अन्य कवियों ने सूरदास के समय में रचनाएँ कीं उनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – कृष्ण भक्त, रामभक्त और शेष कवि। प्रथम वर्ग में गदाधर भट्ट (रचनाकाल संवत् १५८०-१६००), हितहरिवंश (रचनाकाल संवत् १६००-१६४०), मीराबाई (संवत् १५५७-१६३०), स्वामी हरिदास (कविताकाल संवत् १६००-१६१७), सूरदास मदनमोहन (संवत् १५९०-१६००), हरीराम व्यास (संवत् १६२० के आसपास) आदि मुख्य हैं। द्वितीय वर्ग में गोस्वामी तुलसीदास (संवत् १५८९-१६८०) और नाभादास (सं० १६५७ में वर्तमान) को ही सूरदास का समकालीन कहा जा सकता है, यद्यपि इनकी मृत्यु के पश्चात् भी बहुत वर्षों तक वे दोनों जीवित रहे थे। अन्य समकालीन कवियों के तृतीय वर्ग में कृपाराम (रचनाकाल संवत् १५९८), नरोत्तमदास (संवत् १६०० में वर्तमान), बीरबल (संवत् १६६० में वर्तमान), गंग (संवत् १६४० में वर्तमान्), नरहरि (लगभग संवत् १५६२-१६६७) आदि प्रमुख हैं।

उक्त कवियों में से अधिकांश कवियों की भाषा सूरदास की समस्त रचना से तुलना करने पर, संस्कृत पदावली की प्रचुरता की दृष्टि से भले ही, बढ़कर मान ली जाय; परन्तु यदि, गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर किसी भी कवि की रचना के परिमाण में सूरदास के पद चुन लिये जायँ, तो किसी भी दृष्टि से उसकी भाषा सूर से बढ़कर नहीं मानी जा सकेगी। तुलसीदास की भाषा अवश्य संस्कृत की पदावली और साहित्यिक परिष्कार की दृष्टि से सूरदास से बढ़कर कही जा सकती है जिसका स्पष्ट कारण यह है कि उनका अध्ययन, साहित्यिक ज्ञान और पांडित्य सूरदास से बढ़ा-चढ़ा था; परन्तु गोस्वामी जी की व्रजभाषा-रचनाओं में चलती भाषा का वह स्वाभाविक और ठेठ माधुर्य

---

९८. **इन कवियों का समय पं० रामचंद्र शुक्ल के 'इतिहास' के आधार पर दिया गया है—लेखक।**

उस उपयुक्त अनुपात में नहीं दिखायी देता जो सूर की उल्लेखनीय विशेषता है। अवधी के प्रथम प्रतिष्ठित कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदास की उस भाषा की रचनाओं में जो अन्तर है, एक प्रकार से किसी सीमा तक वही अन्तर सूरदास और गोस्वामीजी की व्रजभाषा में कहा जा सकता है। जायसी ने संस्कृत पदावली का सहारा लेकर भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न कभी नहीं किया; परन्तु सूरदास की रचनाओं में, इसके विपरीत, पचासों ऐसे पद मिलते हैं, जो तुलसीदास जी की भाषा के समकक्ष निस्संकोच रूप से रखे जा सकते हैं।

सूर के परवर्ती व्रजभाषा कवि – सूरदास के समकालीन जिन साहित्यकारों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सभी भक्तिकाल के अंतर्गत आते हैं, यद्यपि सबका विषय भक्तकवियों की तरह इष्टदेवों का लीला-गान मात्र नहीं था। इस युग के अनेक कवि ऐसे भी बच जाते हैं जो विषय की दृष्टि से तो भक्ति-परंपरा में ही आते हैं, परन्तु अवस्था में वे सूरदास के परवर्ती थे। अतएव भक्ति-परंपरा के शेष और सूरदास के पश्चात् होनेवाले रीतिकाल के कवियों को, सामूहिक रूप से, दो वर्गों में रखा जा सकता है – रीति-परंपरा वाले शास्त्रज्ञ कवि और इस शास्त्रीय प्रवृत्ति में सक्रिय रुचि न रखने-वाले भावुक कवि। साहित्य के इतिहासों में इन कवियों की संख्या दो सौ से अधिक है। यहाँ दोनों वर्गों के चुने हुए कवियों की भाषा-संबंधी संक्षिप्त चर्चा ही पर्याप्त होगी।

क. रीति परंपरा के कवि[९९] — सूरदास के परवर्ती इस वर्ग के कवियों में केशव-दास (संवत् १६१२-७४), चिंतामणि त्रिपाठी (जन्म संवत् १६६६ के लगभग), बिहारीलाल (१६६० से १७२० तक वर्तमान), मतिराम (जन्म संवत् १६७४ के लगभग), भूषण (जन्म संवत् १६७० के आसपास) देव, (जन्म संवत् १७३०), भिखारीदास (कविताकाल संवत् १७८५ से १८१० तक), पद्माकर (संवत् १८१०-१८९० , प्रतापसाहि (कविताकाल संवत् १८८०-१९१० तक) आदि कवि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध में प्रमुख उल्लेखनीय बात यह है कि ये कवि किसी भी बात को अनलंकृत भाषा में कहना ही नहीं चाहते हैं। अनुप्रास की सप्रयास योजना के भार से इनकी भाषा प्रायः सर्वत्र दबी दिखायी देती है और यमक-श्लेष का चमत्कार दिखाने का कोई भी अवसर पाते ही उसको अपनाने के लिए ये ललक उठते हैं। ऐसे स्थलों पर न तो व्याकरण के नियमों का पूरा पूरा ध्यान इनको रह जाता है, न शब्द-रूपों की विकृति-अविकृति का ही यथोचित विचार ये रख पाते हैं और न भाषा की विशुद्धता-रक्षा के लिए ही विशेष सतर्क रहते हैं। भाषा सभी प्रकार से सजायी-सँवारी होनी चाहिए—यही इनका आदर्श है जिसके लिए सदैव सावधानी से प्रयास करते रहने के फलस्वरूप सजावट या शृंगार के साथ-साथ अनुप्रासमयी कोमल पद योजना की दृष्टि से भी इनकी भाषा सूरदास से बढ़कर ही ठहरती है। परन्तु हिंदी की प्रांतीय बोलियों और अरबी-फारसी-जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों का जितना मिश्रण सूरदास की भाषा

९९. इन कवियों का समय पं० रामचंद्र शुक्ल के 'इतिहास' के आधार पर दिया गया है—लेखक।

में मिलता है उससे कुछ अधिक ही देशी-विदेशी शब्द इस वर्ग के कवियों की भाषा में मिलते हैं। अतएव, स्थूल रूप से, कहा जा सकता है कि सूरदास की भाषा में यदि ग्रामीण स्वस्थता और सरलता के दर्शन होते हैं तो रीति-परम्परा के इन कवियों की भाषा में नागरिक जीवन की, विविध प्रसाधनों पर आधारित, गर्वीली सुन्दरता के, जो नवयुग की देन होने पर भी अपनी कृत्रिमता से बार बार ऊब उठती है।

ख. अन्य परवर्ती कवि––इस वर्ग में संत, कृष्णभक्ति और राम-भक्ति-परंपरा के प्रमुख कवियों के साथ साथ सूरदास के परवर्ती वे सभी कवि आ जाते हैं जो भक्तियुग या रीतिकाल में व्रजभाषा में काव्य-रचना करके ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इनकी बड़ी लंबी सूची में से केवल रहीम (संवत् १६१०-१६८३), सुंदरदास (संवत् १६५३-१७४६), रसखान (रचनाकाल संवत् १६६५-७५), सेनापति (जन्म संवत् १६४६ के आसपास), लाल कवि (रचनाकाल संवत् १७६०-७०), घनआनंद (संवत् १७४६-१७९६), महाराज सावंतसिंह 'नागरीदास' (कविताकाल संवत् १७८०-१८२०), चाचा हितवृन्दावनदास (कविताकाल संवत् १८००-४५) आदि प्रतिनिधि कवियों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इस वर्ग के कवियों का आदर्श वस्तुतः सूरदास-जैसे कवियों से मिलता-जुलता था। काव्य के भाव और कला पक्षों में से रीति-परंपरा के कवियों ने द्वितीय की ओर इतना अधिक ध्यान दिया कि प्रथम की स्थान स्थान पर उपेक्षा-सी हो गयी। इसके विपरीत, इस वर्ग के कवि भाव-चित्रण में इतना अधिक तल्लीन हुए कि कला पक्ष का उन्हें जैसे ध्यान ही न रह गया। फिर भी व्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन तथा सत्य अर्थ में कवि होने के कारण भावों की अनुगामिनी होकर भी उनकी भाषा इस प्रकार निखर उठी कि उसके सहज सौंदर्य के सामने रीति-परंपरा के अनेक कवियों की अलंकृत भाषा की आयास-प्रदत्त आभा भी फीकी सी पड़ गयी। इस वर्ग के कवियों में घनआनंद के अतिरिक्त शेष प्रायः सभी कवियों की भाषा, यदि सूर-साहित्य का चुना हुआ भाग सामने हो तो, अधिक से अधिक उसके समकक्ष ही कही जा सकेगी। घनआनंद की भाषा अवश्य सूरदास से अधिक सरस है तथा प्रौढ़ता और परिष्कृति में भी सूर की अधिकांश भाषा उसके समकक्ष नहीं कही जा सकती।

उन्नीसवीं शताब्दी के व्रजभाषा-कवियों में प्रतिनिधि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र माने जा सकते हैं। उनके पश्चात् उल्लेखनीय आधुनिक कवियों में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और श्री 'वियोगीहरि' ही ऐसे हैं जिनका व्रजभाषा के प्रति अनन्य प्रेम रहा है। भारतेंदु जी की व्रजभाषा उतनी संगठित नहीं कही जा सकती जितनी 'रत्नाकर' और 'वियोगीहरि' जी की भाषा है। सूरदास की अधिकांश रचनाओं में भी वैसी गठन और प्रौढ़ता नहीं दिखाती देती; परंतु वियोगी हरि का तो नहीं, 'रत्नाकर' जी का आदर्श बहुत-कुछ सूरदास के परवर्ती रीतिकालीन ग्रंथकारों से मिलता जुलता रहा है, यद्यपि उनका सा उक्ति-वैचित्र्य और सूझ-बूझ का चमत्कारी कौशल उन कवियों में भी कम ही दिखायी देता है। अतएव 'रत्नाकर' जी की रचनाओं में व्रजभाषा का वह प्रसादगुण संपन्न और परिचित रूप नहीं है जो सूरदास और घनआनंद में हैं। वियोगी

हरि जी की भाषा में प्रसादगुण तो सूरदास के समान ही है; परंतु मधुरता और सरसता सूर-काव्य की भाषा में ही अधिक है।

समीक्षा का सारांश—यों तो सामान्य भाषा से ही विषय-विशेष के संबंध में कवि के विचारों का परिचय मिल जाता है, परंतु काव्यभाषा, इसके अतिरिक्त, तीव्रतम आवेगों की वैसी ही अनुभूति पाठक को भी कराती है जैसी स्वयं उसके प्रयोगकर्त्ता के अंतस्तल में उमड़ती है। जब तक सामान्य भाषा में यह गुण नहीं आता, तब तक वह काव्यभाषा का मान्य पद प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं होती। सूरकाव्य जिस भाषा में रचा गया है, उसमें काव्यभाषा की उक्त विशेषता प्रायः सर्वत्र मिलती है। जिन प्रसंगों को कवि ने चलताऊ ढंग से लिखा है, पाठक या श्रोता भी उनको बड़े उदासीन भाव से पढ़ता या सुनता है, उसमें उसको रस नहीं मिलता। कारण यह है कि ऐसे स्थलों की भाषा सामान्य ही है, काव्यभाषा नहीं जिसके सामने विशेष दायित्व के निर्वाह का प्रश्न रहता है। परंतु जिन प्रसंगों में कवि की अंतरात्मा रमी है, जिन विषयों में लीन होकर वह अपने अस्तित्व को ही कुछ समय के लिए भूल गया है और पात्रों की हृदयानुभूति से उसकी भावना का तादात्म्य हो गया है, उसकी भाषा वस्तुतः काव्य-भाषा है जो पाठक या श्रोता की भी समान भावानुभूति को सजग करने में पूर्ण समर्थ है।

सूरदास के विनय-पदों को गाते-गाते पाठक का स्वर दीन, करुण और आर्द्र हो जाता है। बाल-लीला-प्रसंग पढ़ते पढ़ते उसका वात्सल्य उमड़ने लगता है, नंद-यशोदा के सुख को अपना सुख समझकर उसका स्वर गद्गद् हो जाता है, संयोग श्रृंगार के पदों से उसकी प्रेम-वृत्ति सजग हो जाती है और सुखातिरेक से गोपियों के समान वह अपना भाग्य सराहता है; एवं श्रीकृष्ण के प्रवास पर अपने परम प्रिय के वियोग का मार्मिक अनुभव करके कभी नंद-यशोदा के साथ बिसूरता है, कभी प्रेमोन्मादिनी गोपिकाओं के साथ निर्मोही प्रेमी पर खीझता है, कभी दुर्दैव को कोसता है और कभी अपनी विवशता पर आँसू बहाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन विषयों के पदों में जिस भाषा का उपयोग सूरदास ने किया है वह सर्वत्र प्रसंगावेग की मंद और तीव्र गति के अनुकूल है और उसमें पूर्ण भार-वहन की अपेक्षित सामर्थ्य भी है। फलस्वरूप, ऐसे स्थलों की समर्थ भाषा कवि की भावाकुलता से पाठक को परिचित कराने के साथ साथ आकुलता की वैसी ही तरंगें इसके मानस में भी लहरा देती हैं।

और उक्त गुण सूरदास की भाषा में आ सका केवल उनकी आयासहीनता के कारण। कूट पदों में उनकी विनोदी प्रवृत्ति ने भाषा के साथ खिलवाड़ किया है; उसमें जैसे प्रयास की सारी शक्ति उसने समाप्त कर दी है। इन पदों से विज्ञ पाठक चमत्कृत भले ही हो, परंतु अभीष्ट अर्थ-प्राप्ति के लिए मानसिक व्यायाम और उद्योग करते करते उसका सर दुख जाता है। अतएव अपने काव्य के भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी स्थलों के लिए सूरदास ने जिस भाषा को स्वीकार किया, वह सर्वथा प्रयास-रहित है। वस्तुतः विषय-लीनता की यथार्थ स्थिति में कवि का ध्यान

भाषा की ओर जाता ही नहीं। और यदि कभी वह भाषा को सप्रयास अलंकृत करने में प्रवृत्त होता है तो समझना चाहिए कि कवि की अनुभूति इतनी प्रबल थी ही नहीं कि उसकी वृत्ति विषय में पूर्णतया रम सकती। रूप-वर्णन वाले पदों में भाषा की आलंकारिकता भी इस बात का सबल प्रमाण है कि सूर की रचना में हृदय और मस्तिष्क, दोनों का योग है —हृदय का योग विषय-निर्वाचन मात्र में और मस्तिष्क का उसके कल्पनाप्रधान चामत्कारिक वर्णन में। भावपूर्ण पदों की रचना में, इसके विपरीत, कवि का हृदय-पक्ष इतना प्रधान हो जाता है कि मानसिक सूझबूझ की उछल-कूद में रुचि लेने अथवा कल्पना का चमत्कार दिखाने की ओर उसका ध्यान जाता ही नहीं। व्यवहार में जिस प्रकार हृदय की मुग्धता बाह्याकर्षण की अपेक्षा नहीं रखती; उसी प्रकार रुचिकर विषय पाकर कवि के हृदय में उमड़ने-वाले उद्‌गार भी भाषा के साज-शृंगार की प्रतीक्षा नहीं करते।

भावातिरेक की स्थिति में रचे गये पदों में सूरदास ने भाषा की शुद्धता की भी बहुत अधिक चिंता नहीं की है। तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्‌भव, देशज, देशी-विदेशी, नये-पुराने, किसी भी शब्द से काम लेने में उन्होने कभी संकोच नहीं किया है। भाव-व्यंजना ही जब कवि का एकमात्र ध्येय होता है, तब किसी प्रकार का प्रतिबंध वह अपने ऊपर नहीं लगाना चाहता। उसे तो सार्थक एवं उपयुक्त शब्द चाहिए. वह किसी भी भाषा का क्यों न हो, यद्यपि उसका प्रचलित होना अवश्य आवश्यक है। इस आयासहीनता की स्थिति में भी सूरदास ने इतना ध्यान बराबर रखा कि कोई अनुपयुक्त अथवा अप्रचलित शब्द उनकी रचना में न आ जाय। इसके लिए उन्हें शब्दों के रूप भले ही विकृत करने पड़े हों, नये तद्‌भव और अर्द्धतत्सम रूप भले ही गढ़ने पड़े हों, परंतु असमर्थ शब्द का प्रयोग करना उन्हें कभी स्वीकार नहीं हुआ।

विकासोन्मुख भाषा का प्रवाह वेगवती सरिता के समान होता है जिसका मार्ग सर्वथा परिवर्तित कर देने का प्रयास बुद्धिमानी का नहीं समझा जा सकता। सूरदास इस रहस्य से अवगत जान पड़ते हैं। काव्य-रचना के लिए उन्हें जो व्रजभाषा प्राप्त हुई थी, उसमें मौखिक या लिखित, जो भी साहित्य रहा हो, थी वह विकास की प्रारंभिक अवस्था में ही और एक सीमित क्षेत्र की भाषा ही। उसकी स्वाभाविक मधुरता, सरसता, प्रांजलता, लोच अदि गुणों ने भले ही क्षेत्रीय तथा अन्य कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि काव्भाषा बनने की सम्यक सामर्थ्य सूरदास के पूर्व तक, उसे नहीं प्राप्त हो सकी थी। गूढ़-गंभीर भावों की व्यंजना में तो वह असमर्थ थी ही नहीं, उसका न सौंदर्य निखर सका था, और न उसका शब्द-कोश ही भरा–पुरा था। उसका रूप भी अनगढ़, मिश्रित और एक सीमा तक अनिश्चित था।

व्रजभाषा की श्री और समृद्धि-वृद्धि के लिए सूरदास ने व्रजभाषा को अपनाकर, उसका रूप निखारा; उसकी मधुरता, सुकुमारता, प्रांजलता आदि को प्रत्यक्ष सिद्ध करके क्षेत्र बढ़ाया, उसको लोकप्रिय बनाया और उसको काव्यभाषा के मान्य पद पर प्रतिष्ठित

किया। साथ साथ भाषा का संस्कार-परिष्कार करके विषयानुकूल उसके मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक रूपों के विकास में योग दिया जिससे उसका सौंदर्य निखर आया और वह सभी प्रकार के मनोभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति से संपन्न हो सकी। यही नहीं, संगीत के सहयोग से सूरदास की व्रजभाषा का नैसर्गिक माधुर्य तो निखरा ही, वह लचीलापन और सौकुमार्य भी उसको प्रदान किया गया जिसके लिए कुछ आधुनिक भारतीय भाषाएँ आज भी लालायित हैं।

समृद्धि-वृद्धि के लिए उन्होंने उसके शब्द-भांडार को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। जनबोली, प्रांतीय और देशी-विदेशी भाषाओं के सैकड़ों पदों, मुहावरों और लोकोक्तियों को अपनाने के साथ साथ अनेक आवश्यक शब्दों का उन्होंने निर्माण भी किया। विदेशी प्रयोगों के संबंध में उन्होंने निश्चित नीति निर्धारित की कि उनको किस रूप में अपनाया जाय और उनके आधार पर किस प्रकार नवीन रूपों का निर्माण किया जाय जो व्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुरूप हों। विदेशी शब्दों को निसंकोच अपनाकर भी अपनी भाषा पर उनका प्रभाव इतना अधिक उन्होंने नहीं पड़ने दिया कि वह खटकने लगता। तात्पर्य यह है कि अन्य भाषाओं के शब्द-रूपों को ग्रहण करके भी उन्होंने व्रजभाषा की मूल प्रकृति की रक्षा का सदैव प्रयत्न किया। अपनी भाषा में अन्य बोलियों और विभाषाओं के ऐसे शब्द ही उन्होंने सम्मिलित किये जिन्होंने सर्वथा उसी के अनुशासन में रहना स्वीकार कर लिया, जो उसके व्याकरण से शासित होकर ही विभिन्न रूप-रचना के लिए प्रस्तुत हो सके। ऐसे शब्दों में अधिकांश व्रजक्षेत्र की जनभाषा में बहुत समय से प्रचलित थे और घुलमिल कर उसी का अंग हो गये थे। इस कारण एक तो उनमें 'बाहरीपन' रह ही नहीं गया था और यदि कुछ था भी तो कवि द्वारा प्रयुक्त होने के पूर्व उसको त्याग देना उन्होने सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

'सूरसागर' में आदि से अंत तक अनेक प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनका वर्णन कवि ने कई कई पदों में किया है। विषय की समानता रखते हुए सहृदय पाठक इन प्रसंगों से ऊबता नहीं; उसको प्रत्येक पद में कुछ न कुछ नवीनता ही मिलती है। जिन गुणों के कारण ऐसे पदों में यह विशेषता आ सकी, उनमें भाषा का भी प्रमुख स्थान है। कहीं तो इन पदों का आरंभ सूरदास ने नयी तुक से किया है, कहीं भाषा के मिश्रित, साहित्यिक और आलंकारिक रूपों में से एक को छोड़कर दूसरे अथवा तीसरे को अपनाया है, कहीं मुहावरों-कहावतों के प्रयोग से भाषा को लाक्षणिकता प्रदान की है और सबसे बड़ी बात यह है कि शब्दों की आवृत्ति से वे बराबर बचते रहे हैं। भाषा-संबंधी ये चारों विशेषताएँ सूर-काव्य के प्रायः समस्त मार्मिक प्रसंगों में देखने को मिलती है। जिस अंध कवि को स्व-रचित काव्य संशोधन-परिवर्द्धन के लिए कभी न मिला हो, उसकी स्मरण शक्ति निस्संदेह असाधारण रही होगी; तभी तो वह एक ही प्रसंग को कई कई पदों में लिखकर भी शब्दों और तुकों की आवृत्ति से बचा सका। वाक्यांशों अथवा उपवाक्यों की आवृत्ति के जो दो-चार उदाहरण इने-गिने पदों में देखने को मिलते भी हैं, वे एक तो बहुत सामान्य हैं और दूसरे, उनकी आवृत्ति इतनी बार नहीं हुई है कि सरलता से पाठक

को उनका पता लग सके । इससे स्पष्ट है कि सूरदास का शब्द-कोश अन्नपूर्णा के भांडार की भाँति सदैव पूर्ण रहता था । शब्द-चयन के लिए मस्तिष्क को टटोलने की आवश्यकता तो उन्हें कभी पड़ती ही नहीं थी । अतएव यदि कहा जाय कि भाषा-भांडार की अक्षयता ने सूर-काव्य की रसात्मकता-वृद्धि में सदैव योग दिया, तो कोई आत्युक्ति न होगी

आशय यह है कि विषय का प्रतिपादन सूरदास ने सदैव ऐसी भाषा में किया है जो उपयुक्त होने के साथ साथ सभी वर्गों के पाठकों के लिए बोधगम्य है । सामान्य और विज्ञ पाठक क्रमशः उसके वाच्य और लक्ष्यार्थ से संतुष्ट हो जाते हैं तो भावुक और सहृदय उसकी वक्रता, और व्यंग्ययुक्त ध्वनि पर मुग्ध होते हैं । मुहावरों-कहावतों के प्रेमियों के लिए मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री उनके काव्य में विद्यमान है, तो विषयानुकूल भाषा के प्रसाद और माधुर्य गुणों की सरस धाराएँ सभी काव्य रसिकों को रससिक्त करके अभीष्ट तृप्ति प्रदान करती हैं ।

यहाँ एक शंका का समाधान करना आवश्यक है । अष्टछाप के अन्य आठ कवि सूरदास के समकालीन थे और सभी ने व्रजभाषा में उत्कृष्ट रचना की है । ऐसी स्थिति में व्रजभाषा के प्रारंभिक विकास, उसकी श्री-समृद्धि-वृद्धि और क्षेत्र-विस्तार का अधिक श्रेय सूरदास को क्यों दिया जाय और क्यों न यह स्वीकार किया जाय कि अष्टछाप के समस्त कवियों के सम्मिलित उद्योग का ही सुफल था व्रजभाषा का वह संस्कार, परिष्कार और विकास जिससे उसका प्रसार-प्रचार बढ़ा और रूप भी अत्यंत आकर्षक हो गया ? इस प्रश्न में बल है, इसमें संदेह नहीं । यह भी ठीक है कि अष्टछाप के सभी कवियों के आराध्य एक हैं, वर्ण्य विषय प्रायः समान हैं, दृष्टिकोण में बहुत-कुछ समानता है और शैली भी मिलती-जुलती है; फिर भी अन्य सात कवियों से सूरदास की व्रजभाषा की देन अधिक महत्वपूर्ण है । स्वयं कवि सूर ही अपने समवर्गियों से कई बातों में भिन्न हैं । पहली बात है सूरदास की अंधता जिसने कवि के साथ सबसे बड़ा उपकार यह किया कि उसे सांसारिकता के सभी बंधनों और आकर्षणों से हटाकर एक ही केंद्रित विषय में लीन कर दिया । सूरदास की चमत्कारपूर्ण और अनूठी उक्तियाँ लीनता की देन हैं जिसके मूल में उनकी अंधता का वरदान मानना चाहिए ।

दूसरी बात है सूरदास की जन्मजात विरक्ति जिसने आरंभ से ही उसे स्वांतःसुखाय काव्य-रचना की प्रेरणा दी, अपनी अकिंचनता पर गर्व करने का बल दिया और सांसारिक वैभव की निस्सारता, जीवन की क्षणभंगुरता जैसे विषयों पर मनन करने की योग्यता भी प्रदान की । अंधता और विरक्ति के सम्मिलित योग से वह अध्ययन से भी वंचित रहा जिससे मस्तिष्क से अधिक उसके हृदय का विकास हो गया; तर्कप्रधान बुद्धि की अपेक्षा हृदय की भावुकता प्रधान हो गयी जिससे सगुण लीलाओं में ही उसकी वृत्ति रम सकी । रचना की अधिकता, विभिन्न विषयों को हृदयंगम करने में सहायक ग्राहक वृत्ति, विविध राग-रागिनियों का अपार ज्ञान आदि अन्य बातें हैं जिनमें सूरदास अपने समवर्गियों से आगे हैं । इन सबका सम्मिलित परिणाम यह है कि सूरदास, कवि के नाते जिस प्रकार उनसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार भाषा-निर्माता के रूप में भी । और यही कारण है कि

व्रजभाषा-विकास में अकेले सूरदास का जितना योग रहा, उतना अष्टछाप के सभी कवि नहीं दे पाये।

सूरदास की भाषा के सम्बन्ध में पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—'सूर में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचारधारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग नहीं देते, केवल पाद पूर्त्यर्थ लादे गये जान पड़ते हैं'[1]। इस सम्बन्ध में निवेदन है कि जो अंध कवि साधन-हीनता के कारण स्वयं अपना काव्य लिख न सका हो, न जिसे दूसरे की लिखी प्रति दोहराने का ही अवसर मिला हो, उसकी रचना में यदि उक्त दोष हो तो किसी सीमा तक क्षम्य ही समझा जायगा। परंतु शुक्ल जी का उक्त कथन, सूरदास के लगभग उन दो सहस्र पदों के सम्बन्ध में, जो कवि की महत्ता के कारण हैं और स्वयं शुक्ल जी ही जिनकी प्रशंसा करते नहीं थकते, ठीक नहीं कहा जा सकता। शुक्ल जी द्वारा संकेतित उक्त दोष तो वस्तुतः उन पदों में मिलता है जो सूरदास द्वारा सर्वथा अरुचि से लिख दिये गये थे। ऐसे पद कवि की रचना का किसी भी रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करते और 'कर्था-पूर्त्यर्थ' होने के कारण बहुत साधारण हैं। अतएव सूरदास की भाषा में दिखाये गये उक्त दोष को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

बाबू श्यामसुंदरदास ने प्रतिभावान् कवियों की भाषा को 'भावों की क्रीत दासी'[2] कहा है। इससे तात्पर्य यह है कि भावों के सामने भाषा अनुचरी-सी रहती है और उनकी आवश्यकतानुसार उपयुक्त शब्द अनायास प्रस्तुत हो जाते हैं। वह भावों के संकेत पर ही सेविका की भाँति सदैव प्रस्तुत रहती है। रीतिकालीन अनेक कवियों की भाषा ने अपने में इतनी चमक-दमक पैदा कर ली है कि कभी कभी पाठक का ध्यान भाव की ओर न जाकर भाषा की ओर ही आकृष्ट हो जाता है। सूरदास की भाषा कभी ऐसा दुस्साहस नहीं करती; उसे अपने दायित्व और अपनी मर्यादा का सदैव पूरा पूरा ध्यान रहता है।

रीतिकालीन कवियों की भाषा-विषयक विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने एक स्थान पर कहा है—'उसमें ऐसे ऐसे ललित और भाव-व्यंजक शब्द मिलते हैं और ऐसे प्रयोग और मुहावरे कि मन यही चाहता है कि पद को केवल शब्द और मुहावरे के लिए याद कर लिया जाय'[3]। सूरदास में यद्यपि यह विशेषता पचासों पदों में पायी जाती है और उनकी सैकड़ों पंक्तियाँ अनायास विशिष्ट प्रयोगों के कारण एक बार पढ़ते ही कंठस्थ हो जाती हैं, तथापि न तो केवल भाषा-चमत्कार-वृद्धि के लिए सूरदास ने इनका प्रयोग किया है और न केवल भाषा-चमत्कार-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही यह आयोजन किया गया है। सूरदास की वाणी भाव-रूप कृष्ण के लिए गोपियों की सी अनन्यता धारण किये हुए है जिसका सारा सुख उसके निखरने में, सारा शृंगार उसके बोध में और सारा चयनायास उसके उपयुक्त बनने के लिए है। कोरे चमत्कार-प्रेमी-उद्धवों से उसका कभी मेल नहीं खाता।

१. पंडित रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १७६।
२. साहित्यालोचन', पृ० ८३।
३. डा० भगीरथ मिश्र, 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ४१२।

अंत में विजय भी उसी की होती है और सभी उद्धव भाव-विभोर होकर भाषा की अनन्यता की प्रशंसा करते नहीं अघाते।

अपने परम प्रिय आराध्य की जन्मभूमि की भाषा की श्री-समृद्धि और व्यंजनाशक्ति-वृद्धि के लिए इस अंध कवि ने जो अभिनंदनीय कार्य किया, वह साधारण नहीं था और न सामान्य व्यक्ति के बूते का ही था। अतएव यह देखकर चकित रह जाना पड़ता है कि सर्वप्रमुख प्राकृतिक देन -- नेत्रेंद्रिय--से वंचित यह अंध कवि अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक किस निष्ठा के साथ काव्य-रचना में रत रहकर उक्त महान् कार्य का संपादन कर सका। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को श्रीकृष्ण के लीला-गान मात्र के लिए उत्साहित किया था। उनकी आज्ञा का सर्वांशतः पालन करने के साथ साथ सूरदास ने श्रीकृष्ण की लीला-भूमि की भाषा को भी अमर कर दिया। अपनी जननी के ऋण से सूरदास किस प्रकार मुक्त हुए, इसका पता तो हमें नहीं है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि व्रजभाषा को श्री-स्मृद्धि के साथ अपूर्व गौरव प्रदान करके मातृभाषा के ऋण से वे अवश्य मुक्त हो गये। उनके इस अभिनंदनीय कार्य के सम्बन्ध में, संक्षेप में, यही कहना होता है कि व्रजभाषा को पाकर कवि सूर कृतकृत्य हो गया और व्रजभाषा उसको पाकर धन्य हो गयी।

परिशिष्ट एक

सूर-काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या

किसी कवि के काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या का पता लगाना मुख्यतः दो दृष्टियों से उपयोगी होता है। एक तो इससे स्थान-विशेष की भाषा की स्थिति, शक्ति, और प्रकृति का परिचय मिल जाता है और दूसरे, कवि के भाषा-ज्ञान और भाषा-संबंधी उसके दृष्टिकोण का पता चलता है। इन दोनों प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति कवि-विशेष की रचनाओं में प्रयुक्त शब्दों की संख्या-मात्र दे देने से नहीं हो सकती। वस्तुतः इस प्रकार के अध्ययन के तीन प्रमुख पक्ष हैं—प्रथम, कवि द्वारा प्रयुक्त तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय शब्द-भेदों की संख्या ज्ञात करना, द्वितीय, विभिन्न विषयों पात्रों और भावों के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूप में तत्सम, अर्द्धतत्सम और तद्भव देशी विदेशी शब्दों के अनुपात में अंतर ज्ञात करना और तृतीय, यह जानना कि प्रमुख शब्द अथवा उसका विकृत रूप कवि के काव्य में अपवाद-स्वरूप, सामान्य और विशेष अथवा सर्वत्र, किस प्रकार प्रयुक्त हुआ है।

उक्त पक्षों को ध्यान में रख कर किसी कवि की रचना का अध्ययन करना है तो बहुत रोचक और उपयोगी; परंतु यदि प्रामाणिक रचना और सुसंपादित प्रामाणिक पाठ सुलभ न हो तो अध्येता का कार्य बहुत कठिन हो जाता है, सूरदास के संबंध में यह अभाव दोहरा है। पहले तो उनके प्रामाणिक ग्रंथों की संख्या में ही मतभेद है, फिर उनके प्राप्त संस्करणों का पाठ भी सर्वमान्य नहीं है। नागरी-प्रचारिणी सभा का जो संस्करण कई वर्ष पूर्व निकला था वह तो अधूरा था ही, जो नया और पूर्ण संस्करण सभा की ओर से प्रकाशित हुआ है, उसका पाठ भी बंबई, कलकत्ते और लखनऊ के संस्करणों से भिन्न है। अतएव इसके प्रकाशित होने के पूर्व तक तो, हिंदी के इस सर्वोत्तम गीति-काव्य के प्रामाणिक संस्करण की समस्या थी ही, आज भी उसके क्रम और और पाठ से सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं। उधर 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर-सारावली' की कोई प्राचीन प्रति न मिलने से इनका पाठ तो सर्वथा असंपादित है ही, इनकी प्रामाणिकता भी, कुछ विद्वानों की सम्मति में, संदिग्ध है।

ऐसी स्थिति में, शब्द-संख्या-संबंधी अध्ययन के लिए सुगम मार्ग यही हो सकता है कि नागरी-प्रचारिणी सभा के 'सूरसागर' को, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर' के आदि में दी गयी 'सूरसागर-सारावली' को और लहरियासराय से प्रकाशित 'साहित्य लहरी, को प्रामाणिक मान लिया जाय। प्रस्तुत प्रबंध के अध्ययन के लिए यही किया गया है, यद्यपि, कई स्थलों पर, विशेष कारणों से, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' के अतिरिक्त, नवल किशोर प्रेस के 'सूरसागर' के साथ प्रकाशित 'सारावली' के भी उदाहरण दिये गये हैं।

शब्द-संख्या-अध्ययन के जिन तीन पक्षों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमें से द्वितीय अर्थात विभिन्न प्रसंगों, पात्रों और भावों के अनुसार तत्सम, अर्द्ध तत्सम और तद्भव देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों के अनुपात के संबंध में स्पष्ट संकेत प्रस्तुत प्रबंध के पाँचवें अध्याय में स्थान-स्थान पर किये गये हैं। इसी प्रकार तृतीय अर्थात् किस शब्द का प्रयोग कवि ने विशेष रूप से किया है, किसका सामान्य रूप से, कौन शब्द रूप सूर-काव्य में सर्वत्र पाया जाता है और कौन अपवादस्वरूप आदि बातें तीसरे और चौथे अध्यायों में यथावसर कही गयी हैं। भाषा के शुद्ध साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से वस्तुतः इसी प्रकार का निर्देशन रोचक और उपयोगी होता है।

अब रह जाता है प्रथम पक्ष अर्थात् सूरदास द्वारा प्रयुक्त शब्दों की संख्या का प्रश्न। इनकी गणना भी दो प्रकार से होती है। प्रथम के अनुसार केवल मूल रूपों की गणना की जाती है और विकृत रूप उसी के अंतर्गत समझ लिये जाते हैं। द्वितीय के अनुसार मूल के साथ-साथ समस्त विकृत रूपों की भी गणना होती है। प्रथम अर्थात् मूल रूपों की गणना, भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करनेवालों के लिए रोचक होती है और विकृत रूपों का संकलन उस वर्ग के पाठकों के लिए उपयोगी होता है, जो भाषा-विशेष की प्रवृत्ति और उसके व्याकरण के नियमों से परिचित नहीं होते और जिन्हें एक शब्द के लिंग, वचन और काल के अनुसार परिवर्तित विभिन्न रूपों को पहचानने में कठिनाई होती है।

सूर-काव्य में प्रयुक्त मूल और विकृत रूपों की सम्मिलित संख्या तो लगभग पचीस हजार है; परंतु मूल रूप लगभग आठ हजार हैं। इनमें से आधे के लगभग संज्ञा शब्द हैं। लगभग एक चौथाई में विशेषण और अव्यय शब्द हैं और शेष सर्वनाम और क्रिया शब्द हैं। संज्ञा, विशेषण और अव्यय शब्द इस प्रकार की गणना में उतने महत्व के नहीं होते जितने सर्वनाम और क्रिया-शब्द होते हैं। सूर-काव्य में विभिन्न कारकों में प्रयुक्त विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त मूल और विकृत लगभग सात सौ सर्वनाम[१]-रूपों की सूची पीछे दी गयी है। दस पाँच रूप भले ही उसमें छूट गये हों, यों वह सूची पूर्ण है और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सूरदास ने मूल और विकृत विभक्तिरहित और विभक्तियुक्त लगभग सात सौ सर्वनामरूपों का प्रयोग अपने काव्य में किया है[२]।

उक्त गणना के अनुसार सूर-काव्य में प्रयुक्त मूल क्रिया-रूपों की संख्या लगभग तेरह सौ और उनके विकृत रूपों की सख्या लगभग पाँच हजार है। यद्यपि चौथे

१. प्रस्तुत प्रबंध के पृष्ठ १८७, १९३, २०५, २२२-२, २२९, २३५-६, २३९-४०, २४५, २४७, २५२, २५४, २५९-६०, २६९ २७३ और २७४।

२. एक ही सर्वनाम-रूप कारक के जितने भेदों में प्रयुक्त हुआ है, उसके उतने ही विकृत रूप मानकर उक्त गणना की गयी है। बलात्मक रूप अवश्य छोड़ दिये गये हैं— लेखक।

परिच्छेद में लिंग, वचन और काल के अनुसार क्रिया के विकृत रूपों के पर्याप्त उदाहरण दिये जा चुके हैं, परंतु उनसे मूल क्रिया-रूपों की गणना में कोई सहायता नहीं मिल सकती। अतएव सुविधा के लिए यहाँ लगभग एक हजार मूल क्रिया-शब्दों की सूची दी जा रही है जिनके विकृत रूप सूर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। इन क्रियाओं में से अधिकांश रूप अकर्मक हैं। इनमें से बहुत सी-क्रियाओं के सकर्मक और प्रेरणार्थक रूपों का स्वतंत्र प्रयोग भी सूर-काव्य में हुआ है; परंतु उनके भी अकर्मक मूल रूप ही यहाँ दिये गये हैं। जो सकर्मक रूप यहाँ दिये गये हैं, उनमें अधिकांश ऐसे हैं जिनके अकर्मक रूपों का प्रयोग या तो हुआ ही नहीं है या बहुत कम हुआ है।

अँकुरना, अँगवानना, अँगोछना, अँचवना, अँजोरना, अँटकना, अकनना, अकबकाना, अकरना, अकर्षना अकुचना, अकुलाना, अकूतना, अगियाना, अगोटना, अगोरना, अघाना, अटकना, अटकरना, अटपटाना, अठलाना, अड़ना, अतुराना, अथवना, अधिकाना, अधीनना, अनखना, अनरना, अनुभवना, अनुमानना, अनुरागना, अनुराधना, अनुसरना, अनुहरना, अनैसना, अन्हाना, अपडरना, अपनाना, अपमानना, अपसोचना, अपसोसना, अपहरना, अभिलाषना, अभिसरना, अमातना, अमाना, अरंभना, अरगाना, अरथाना, अरपना, अरबराना, अरराना, अरसना, अराधना, अरुझना, अरुनना, अरोगना, अरोहना, अलगाना. अलसाना, अलापना, अवगारना, अवगाहना, अवतरना, अवराधना, अवरेखना, अवलंघना अवलंबना, अवलोकना, अवसेरना, असीसना, अहुटना, अहना।

आँकना, आँचना, आँजना, आचरना, आदरना, आनंदना, आनना, आना, आपूरना, आराधना, आसना।

इठलाना, इतराना।

उकठना, उकसना, उखरना, उगना, उगलना, उगाहना, उघटना, उघरना, उचकना, उचटना, उचना, उचरना या उच्चरना, उच्छलना या उछलना, उजरना, उझकना, उठना, उड़ना, उतरना, उदमानना, उदवना, उद्धरना, उधरना, उनवना, उनमानना, उपचारना, उपजना, उपटारना, उपदेसना, उपराजना, उपहासना, उपाटना, उपारना, उपासना, उफनना, उबटना, उबरना, उमँगना, उमचना, उमड़ना, उमहना, उरझना, उरसना, उलंघना, उलटना, उलीचना, उवना, उसरना, उससना।

ऊबना, ऊभना।
ऐंचना, ऐंठना, ऐंड़ना।
ओंछना, ओटना, ओड़ना, ओढ़ना, ओपना।
औंधना, औटना।

कँपना, कटना, कढ़ना, कतरना, कथना, कदराना, कमाना, करना, करषना, करारना, कराहना, करुआना, करोना, कलपना, कलमलाना, कलोलना, कल्हरना, कसकना, कसना, कहना, कहरना, काँधना, काछना, किचकिचाना, किटकिटाना, किलकारना, कीलना,

कुँभिलाना या कुम्हलाना, कुढ़ना, कुरवारना, कूँजना, कूकना, कूटना, कूदना, कोपना, कोरना, कोसना, कौंधना, क्रीड़ना।

खंडना, खगना, खचना, खटकना, खटाना, खतियाना, खनना, खरचना, खरभरना, खसना, खाना, खिलना, खिसाना या खिसियाना, खीजना या खीझना, खुदना, खुलना, खूँदना, खूटना, खेना, खेलना, खैंचना, खोंसना, खोना, खोजना, खोरना, खोलना।

गँधाना, गँवाना, गँसना, गटकना, गठना, गड़ना, गढ़ना, गनना या गिनना, गमना या गवनना, गरजना, गरना या गलना, गरबना या गरबाना, गरराना, गवाँना, गहगहाना, गहना, गहरना, गाजना, गाना, गिरना, गिलना, गीधना, गुंजना या गुंजारना, गुनना, गुमकना, गुहना, गुहराना या गोहराना, गूँथना, गूँदना, गेरना, गोना या गोवना, ग्रसना, ग्रहना।

घटना, घबराना, घमकना, घसना, घहरना, घालना, घिनाना, घिरना, घिसना, घुनना, घुमड़ना या घुमरना, घुड़कना या घुरकना, घुरना, घुलना, घुसना, घूँटना, घूमना, घेरना, घोरना या घोलना।

चकचौंधना, चखना, चचोरना, चटकना, चटचटाना, चटपटाना, चटाना, चढ़ना, चपना, चपरना, चमकना, चमचमाना, चरचना, चरना, चलना, चसना, चहना या चाहना, चाँपना, चाटना, चापना, चाबना, चिंतना, चितवना, चीतना, चीन्हना, चुंबना, चुगना, चुचाना, चुचुकारना, चुनना, चुभना, चुराना या चोराना, चुवना, चुसना, चुहचुहाना, चूकना, चूना, चूमना, चूरना, चेतना, चोटना-पोटना, चौंकना, चौंधना या चौंधियाना।

छँटना, छकना, छटकना, छनना, छपना या छिपना, छमना, छरना, छलकना, छलना, छहरना, छाँड़ना, छाना, छाजना, छिटकना, छिड़कना या छिरकना, छिदना, छिनना, छिपना, छींटना, छीजना, छीलना, छुटना, छूना, छेंकना, छेदना, छोभना, छोड़ना या छोरना।

जँचना, जँभाना या जम्हाना, जकड़ना या जकरना, जकना, जगना या जागना, जगमगाना, जटना, जड़ना या जरना, जताना, जनना, जनमना या जन्मना, जपना, जमना, जरना या जलना, जाँचना, जानना, जाना, जीतना, जीना, जीमना या जेंवना, जुटना, जुठारना, जुड़ना या जुरना, जुड़ना, जुतना, जूझना, जोवना या जोहना, जोहारना।

झँखना, झँपना, झकझोरना, झकना, झगड़ना या झगरना, झझकना, झटकना, झनकारना, झपटना, झमकना, झमना, झरना, झरहरना, झलकना, झलमलाना, झहनना, झहरना, झाँकना, झिझकारना, झिड़कना या झिरकना, झुँझाना या झुँझलाना, झुकना, झुठवना, झुनकना, झुरना, झूमना, झूरना, झूलना, झेरना, झेलना, झोंकना।

टंकोरना, टकटकाना, टकटोरना या टकटोहना, टकराना, टटोलना, टपकना, टरना या टलना, टूटना, टूठना, टेकना, टेरना, टोकना, ढोना, ढोरना।

ठगना, ठटना, ठठकना या ठिठकना, ठठना, ठयना, ठहरना, ठाढ़ना, ठेलना, ठोंकना।

डगडोलना, डगमगाना, डटना, डबडबाना, डरना या डरपना, डसना, डहकना, डहना, डाँटना, डाढ़ना, डारना या डालना, डासना, डिगना, डीठना, डुलना या डोलना, डूबना।

ढँढोरना, ढकना, ढकिलना, ढरकना, ढरना या ढलना, ढरहरना ढहना ढीलना, ढुकना, ढुरना, ढूँढ़ना, ढोना, ढोरना ।

तकना, तचना, तजना, तड़कना या तरकना, तड़तड़ाना या तरतराना तड़पना, तनना, तपना, तमकना, तमतमाना, तयना, तरजना, तड़फड़ाना या तरफराना, तरसना, तरहरना, तलना, तलफना, ताकना, ताड़ना, तानना, ताना, तापना, तिनकना या तिनगना, तुतराना या तुतलाना, तुभना, तुलना, तूठना, तूलना, तैरना, तोड़ना या तोरना, तोषना, तोसना, त्यागना, त्रासना, तृपिताना ।

थकना, थपना, थमना, थरथराना, थरसना, थर्राना, थहाना, थिरकना, थिरना।

दंडना, दचना, दरकना, दरपना, दरसना, दलकना, दलना, दहकना, दहना, दहरना या दहलना, दाँकना, दागना, दाधना, दिपना या दीपना, दीखना या दीसना, दुखना, दुतकारना, दुबकना, दुरना, दुलराना या दुलारना, दुहना, दूमना, दृढ़ाना, देना, दोषना, दौंचना, दौड़ना या दौरना, दुवना ।

धँसना, धकधकाना या धगधागाना, धड़कना या धरकना, धधकना, धपना, धरना, धरहरना, धसकना या धसना, धाना या धावना, धापना, धारना, धिरवना या धिराना, धुँगारना, धुकना, धुनना, धुपना, धुरना, धुलना, धूतना, धोना, धौंकना, धौंसना, ध्यानना या ध्याना।

नकोटना या नखोटना, नँचना, नचना या नाचना, नजिकाना, नटवना, नमना या नवना, नसना, नाखना, नाटना या नाठना, नाना या नावना, नापना, नारना, निंदना, निकलना या निकसना, निगलना, निग्रहना, निघटना, निचुड़ना, निदरना, निपजना, निपटना या निबटना, निपाटना, निबरना, निबहना, निभना, निमज्जना, निरखना, निरधारना, निरबहना, निरवारना या निरुवारना, निर्माना, निवारना, निवेरना, निस्तरना, निहारना, निहोरना, नुचना, नेवतना, नोकना, नोवना, न्योतना ।

पँवरना, पकड़ना या पकरना, पकना, पखारना, पगना, पचना, पछड़ना, पछताना या पछिताना, पछोड़ना या पछोरना, पजरना, पटकना, पटतरना, पठाना, पड़ना, पढ़ना, पतिआना, पतीजना या पतीनना, पधारना, पनपना, परखना, परगासना, परचना, परजरना, परतेजना, परबोधना, परसना, परागना, पराना, परिरंभना, परिहरना, परेखना, पलटना, पलना, पलाना, पलेड़ना, पलोटना या पलोवना, पसरना, पसीजना, पहचानना, पहनना, पहुँचना, पाना, पारना, पिघलना, पिछड़ना, पिटना, पिराना, पिसना, पीना, पीसना, पुकारना, पुचकारना, पुजना, पुरना या पुरवना, पुलकना, पूछना, पेखना, पेरना या पेलना, पैठना, पैरना, पोंछना, पोतना, पोषना या पोसना, पोहना, पौढ़ना, प्रगटना, प्रचारना, प्रजारना, प्रबोधना, प्रमानना, प्रसंसना, प्रहारना ।

फंदना, फँसना, फटकना, फटकारना, फटना, फड़कना या फरकना, फबना, फरना या फलना, फरहरना, फहरना, फाँकना, फाँदना, फिरना, फिसलना, फुंकना, फुफकारना, फुरना, फुसलाना, फूटना, फूलना, फेंकना, फेरना, फैलना, फोड़ना।

बकना, बकसना, बखानना, बगरना, बचना, बझना, बटना, बढ़ना, बनना, बनिजना, बरना, बहकना, बहना, बहराना, बाँछना, बारना, बिकलना, बिकसना, बिचरना, बिचलना, बिचारना, बिडरना, बितताना, बिथकना, बिथरना, बिदरना, बिधना, बिनसना बिमोचना, बिमोहना, बिरचना, बिरमना, बिराजना, बिरुझना, बिलपना, बिलमना, बिलसना, बिलोकना, बिलोना, बिसमरना, बिस्तरना, बींधना, बीतना, बुढ़ाना. बेचना, बैठना या बैसना, बोधना, बोलना, ब्यापना, ब्याहना, ब्रीड़ना।

भंजना, भखना या भच्छना, भजना, भटकना, भड़कना, भनना, भभरना, भरना, भरभराना या भरहरना, भरमना, भरुहाना, भागना, भानना, भाना, भारना, भाषना, भासना, भिड़ना, भिदना, भीगना या भीजना, भुरकना, भुरवना, भुगतना, भूँकना या भूँसना, भुराना, भूँजना, भूनना, भूलना, भेंटना, भेजना, भेदना, भेषना या भेसना, भ्रमना, भ्राजना।

मंडना, मँडराना, मचकना, मचना, मचलना, मजना या मज्जना, मटकना, मढ़ना, मथना, मनसना, मनुहारना, मरना, मरोड़ना, मर्दना, मलना, मल्हराना या मल्हाना, मसकना, मसलना, माँगना, माँचना या माचना, माँड़ना या माड़ना, माखना, मातना, मानना, मापना, मिटना, मिलना, मीड़ना, मुँदना, मुकरना, मुड़ना या मुरना, मुरकना, मुरछना, मुरझना, मुसकाना या मुसकराना, मूठना, मेलना, मोकना, मोचना मोहना।

रँगना, रंजना, रँभाना, रखना, रगड़ना, रचना, रच्छना, रजना, रटना, रताना, रनना, रपटना, रबकना, रमना, रलना, रसना, रहना, रहसना, राँचना, राँधना, राँभना, राचना, राजना, रातना, राहना, रिंगाना, रिझाना, रिसाना, रीतना, रुँधना, रुकना, रूठना, रूरना, रूसना, रेंगना, रेलना, रोकना, रोना, रोपना, रौरना।

लंघना, लखना, लगना, लचकना, लजना, लटकना, लटना, लटपटाना, लड़ना लदना, लपकना, लपटना, लपेटना, लरखराना, लरजना, ललकना, ललकारना, ललचना, लसना, लहना, लहराना, लहलहाना, लाधना, लाना, लालना, लावना, लिखना, लीपना, लीलना, लुकना, लुटना, लुढ़कना, लुढ़ना, लुनना, लुभाना, लुरना, लेखना, लेना, लोकना, लोचना, लोटना, लोपना, लोभना, लोरना, लोलना, लौटना।

संकोचना, संचरना, संतापना, संतोषना, संधानना, संभवना, संभारना, सँवरना, संहारना, सकना, सकपकाना, सकसकाना, सकाना, सकुचना, सकेलना, सकोपना, सगुनाना, सचना, सचरना, सजना, सटकना, सतराना, सताना, सधना, सनना, समाना, सरना, सरराना, सरसना, सरापना, सराहना, ससंकना, सहना, सहराना, सहारना, साखना, सापना, सालना, सिंगारना, सिधाना या सिधारना, सिमटना, सियराना,

सिरजना, सिराना, सिसकना, सिरहना, सिहाना सींचना सीखना सुधरना, सुनना, सुपनाना, सुमिरना, सुरझना. सुलगना, सुहाना सूँघना, सूखना, सूझना, सूलना, सेराना, सोहना सौंपना ।

हँकारना, हटकना, हटना, हठना, हनना, हनाना, हयना हरना, हरषना, हरुआना, हलराना, हहरना, हाँकना, हारना, हालना, हिचकना, हिराना हिलकना, हिलाना, हींसना, हुलसना, हूँकना, हेरना, होना ।

सूदरास द्वारा प्रयुक्त शब्दों की उक्त गणाना, 'व्रजभाषा-सूरकोश' के आधार पर की गयी है । इस कोश' का संपादन प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने, लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष, डा० दीदनदयालु गुप्त के निर्देशन में, आज से दस वर्ष पूर्व आरंभ किया था । अतएव उक्त गणना अनुमान पर आधारित नहीं समझनी चाहिए ।

परिशिष्ट दो

सूर-काव्य और उसकी संपादन-समस्या

हस्तलिखित साहित्य--

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक व्रजभाषा-साहित्य के उत्थान का स्वर्णयुग रहा। इन तीन सौ वर्षों के जिन कवियों की कृतियाँ हस्तलिखित रूप में आज उपलब्ध हैं, उनकी संख्या ही एक सहस्र के लगभग है, तब वास्तविक संख्या तो कहीं अधिक रही होगी। मुद्रण-कला का प्रचलन होने के पूर्व किसी हस्तलिखित रचना की प्रतियाँ प्राप्त करने के लिए लिपिकारों का मुँह जोहना पड़ता था। एक तो कुछ लिपिकारों का हस्तलेख बहुत अस्पष्ट और अपठनीय होता था और दूसरे, व्रजभाषा की सामान्य जानकारी भर इनकी योग्यता थी; प्रतिलिपि का कार्य कितने दायित्व का है, इसका ध्यान भी कम ही लोग रखते थे। उन दिनों भारतीय भाषाओं में संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भाषा की शिक्षा आजकल की तरह समान रूप से सारे देश में नहीं दी जाती थी; शिक्षा की विधि और उसके रूप पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ही। फिर रचना की मूल प्रति का सभी लिपिकारों को सुलभ रहना भी संभव नहीं था। फल यह हुआ कि एक ग्रंथ की प्रतिलिपियाँ समय समय पर अनेक लिपिकारों द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों में की गयीं और उनके पाठ में इतना भेद हो गया कि उसके मूल रूप का पता लगाना एक जटिल समस्या बन गयी। प्रतिष्ठित साहित्यकारों की रचना में अपना भी कुछ भाग मिला देने का चाव कुछ लेखकों और कवियों में इतना बढ़ा कि ऐसे प्रक्षिप्त अंशों को अलग करके ग्रंथकार की मूल रचना प्राप्त कर लेना भी कठिन हो गया। पाठ-संबंधी सबसे अधिक दुर्गति उन रचनाओं की हुई जो गेय काव्य के रूप में प्रचलित रहीं। सामान्यतः सभी गायक संगीत-शास्त्र में पारंगत नहीं होते और जनसाधारण गेय काव्य का आनंद सदैव लेता रहा है; अतएव सुर-ताल की सुविधानुसार भिन्न भिन्न रुचि के व्यक्ति गेय काव्य में निस्संकोच और निरंतर परिवर्तन करते रहे। इन सब कारणों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी में मुद्रण-कला का प्रचलन हो जाने के पश्चात् जब प्राचीन कवियों के ग्रंथों को प्रकाशित करने का प्रश्न सामने आया, तब व्रजभाषा के हस्तलिखित ग्रंथों के अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव सभी साहित्य-प्रेमियों ने किया जिससे उनके मूल रूप का पता लगाया जा सके और उनके प्रामाणिक संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकें।

प्रामाणिक संस्करण की समस्या—

मुद्रण-कला का प्रचलन हो जाने के अनंतर प्रमुख प्राचीन कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं के शुद्ध संस्करण तैयार करने की ओर हिंदी के विद्वानों का ध्यान गया

तो, परंतु विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में हिंदी को जब तक स्थान नहीं मिला, तब तक यह कार्य बड़ी शिथिल और अनियमित रीति से चला, क्योंकि इस ओर प्रायः वे ही साहित्य-प्रेमी प्रवृत्त हुए जो साधनहीन होने पर भी स्वांतःसुखाय साहित्य-सेवा किया करते थे और यही जिनका व्यसन था। अन्य विषयों के साथ-साथ उपाधि-परीक्षा के लिए हिंदी-साहित्य का अध्ययन भी स्वीकृत हो जाने के पश्चात् इस कार्य में कुछ तेजी आयी। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, रहीम, बिहारी, देव, भूषण, पद्माकर आदि कवियों की संपूर्ण, संक्षिप्त अथवा प्रमुख रचनाओं के संस्करण धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगे। इस संबंध में सबसे अधिक संतोष की बात यह थी कि डाक्टर श्यामसुंदरदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० बेनीप्रसाद, लाला भगवानदीन आदि विश्वविद्यालयों से संबंधित विद्वानों के अतिरिक्त सर्वश्री मायाशंकर याज्ञिक, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मिश्रबंधु कृष्णबिहारी मिश्र, वियोगी हरि, रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक ऐसे साहित्य-प्रेमी भी प्राचीन काव्य-रत्नों का उद्धार करने को प्रवृत्त हुए जो अध्यापन-कार्य द्वारा आजीविका-अर्जन नहीं करते थे। दूसरी बात यह है कि केवल पाठ्यग्रंथ तैयार करना नहीं, प्राचीन कृतियों को प्रामाणिक ढंग से प्रकाशित करना ही इनका प्रमुख उद्देश्य था। इन विद्वानों के सत्प्रयत्न से अंधकार में पड़े अनेक रत्न तो प्रकाश में अवश्य आये; परंतु कमी यह बनी रही कि इनके प्रकाशित अनेक संस्करणों का पाठ सर्वसम्मत नहीं था; यहाँ तक कि सन् १९३७ में डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने लिखा था कि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा संपादित 'बिहारी-सतसई' को छोड़कर व्रजभाषा का कदाचित् कोई भी दूसरा ग्रंथ वैज्ञानिक ढंग से संपादित होकर अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है[1]।

संपादकों की कठिनाई—

प्राचीन साहित्य के संपादन में रुचि रखनेवालों के सामने आरंभ से ही दो प्रकार की कठिनाइयाँ रही हैं। पहली तो यह कि जिन व्यक्तियों या संस्थाओं के पास प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं, उनकी प्रतिलिपि करने की अनुमति देना तो दूर की बात, उनमें से अधिकांश उनको दिखाने को भी तैयार नहीं होते। ऐसी स्थिति में सभी प्रतियों के पाठ संपादकों को सुलभ नहीं हो पाते जिनका परस्पर मिलान करके संभावित मूल पाठ का पता लगाया जा सके। दूसरे, जो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध भी हैं, विविध स्थानों, विभिन्न समयों और भिन्न-भिन्न योग्यतावाले प्रतिलिपिकारों की कृपा से उनके पाठों में इतना अंतर मिलता है कि मूल या सर्वसम्मत पाठ का पता लगा लेना सरल नहीं होता। प्राचीन व्रजभाषा-काव्य की जो इनी गिनी हस्तलिखित प्रतियाँ अरबी-फारसी या उर्दू में लिखी मिलती हैं, उनकी बात तो जाने दीजिए, एक ग्रंथ की देवनागरी लिपि में लिखी दो प्रतियों में ही पाठ-संबंधी बहुत अंतर दिखायी देता है। ऐसे भेदों के उदाहरण देते हुए डाक्टर धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है—'प्रायः **ज** के स्थान पर **य** तथा **ख** के स्थान पर मिलता

१. **'व्रजभाषा-व्याकरण' का वक्तव्य, पृ० ३।**

है। आवश्यकता पड़ने पर **ष** के लिए भी **ष** ही लिखा मिलता है, यद्यपि उच्चारण की दृष्टि से कदाचित् उसका उच्चारण भी **श** के समान **स** हो गया था। अंतस्थ **य** का निर्देश करने के लिए **य** अक्षर अनेक हस्तलिखित पोथियों में पाया जाता है। **श** और **ष**, दोनों के स्थान पर प्राय: **स** का ही प्रयोग हुआ है। **ज्ञ** के स्थान पर प्राय: उच्चारण के अनुरूप **ग्य** मिलता है। **व** और **ब** का भेद बहुत ही कम किया गया है। कदाचित् दोनों का उच्चारण **ब** ही होता था। दंत्योष्ठ्य **व** का निर्देश करने के लिए **व़** अक्षर पाया जाता है। **इ, ई, ऐ** के स्थान पर **इ़, इ़ी अै** का प्रयोग भी अनेक प्रतियों में किया गया है। अर्द्धचंद्र और अनुस्वार में यद्यपि साधारण भेद किया गया है, किंतु अक्सर नहीं भी किया जाता है। अनुनासिक व्यंजन के पूर्व स्वर पर अनुस्वार के प्रयोग से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस स्वर के अनुनासिक उच्चारण की ओर लेखकों का ध्यान उसी समय जा चुका था, जैसे **कल्यांन, धांम, स्यांम, ज्ञांन**। कभी-कभी जहाँ अनुस्वार चाहिए वहाँ भी नहीं लगा मिलता है, जैसे **नाँऊँ** के स्थान पर **नाऊँ**। ह्रस्व और दीर्घ **ए** और **ओ** के लिए पृथक् लिपि-चिह्न भारत की किसी भी प्राचीन वर्णमाला में नहीं मिलते। **ऐ** और **औ** व्रज में व्यवहृत होनेवाले मूलस्वर तथा साधारण संयुक्त स्वर (अ + इ, अ + उ) दोनों ही के स्थान पर व्यवहृत हुए हैं।'[२]

इनके अतिरिक्त स्थान या समय के अंतर के कारण शब्दों की वर्तनी में लिपिकारों ने और भी स्वतंत्रता से काम लिया है। एक प्रति में **राम, काम, नैक**-जैसे शब्द अकारांत रूप में लिखे हैं तो दूसरी में उन्हें **रामु, कामु, नैंकु** करके उकारांत रूप दे दिया गया है। कुछ शब्दों के एकारांत और ऐकारांत—जैसे **नेक-नैंक, हें-हैं, के-कै आदि**—ओकारांत और औकारांत—जैसे **लजानो- लजानौ, आयो-आयौ, को-कौ आदि**—तथा निरनुनासिक और सानुनासिक – जैसे **कौ-कौं, नैक-नैंक, कै-कैं आदि**—दोनों रूप एक ही प्रति में पाये जाते हैं जिनमें से कौन किस रचना के लिए प्रामाणिक माना जाय, कहना सरल नहीं है। इसी प्रकार एक ही शब्द के विभिन्न रूपों में से किसको चुना जाय, यह समस्या संपादकों को बराबर उलझन में डाले रहती है। यदि वे शब्दों को एक रूप देने का प्रयत्न करते हैं, जैसा स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'बिहारी-रत्नाकर' और 'सूरसागर' में अथवा डाक्टर श्यामसुंदर ने 'कबीर-ग्रंथावली' का संपादन करते समय किया था, तो भी हिंदी के अनेक विद्वान सहमत नहीं होते; और यदि अन्य संपादकों की तरह शब्दों के विभिन्न रूप रखते हैं तो भी सबको संतोष नही होता। किसी संस्करण में भाषा का मिश्रित रूप तो आपत्ति का कारण होता ही है, परंतु यदि उसे ठेठ रूप दिया जाय तो भी विद्वानों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि यह आवश्यक नहीं कि कवि-विशेष ने ठेठ रूपों का ही प्रयोग किया हो✻। ऐसी स्थिति में संपादक की कठिनाइयों का अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं।

---

२. **'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ३९-४०।**

✻**डा० धीरेंद्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ४१।**

साथ-साथ आर्थिक कठिनाई भी प्रायः सभी संपादकों के सामने आरंभ से रही है। हमारा यह दुर्भाग्य है कि न तो हमारे प्रकाशकों की साहित्यिक प्रकाशनों में इतनी रुचि है कि वे परिश्रम से शोधित ग्रंथों का उपयुक्त रूप में प्रकाशन करके उचित पारिश्रमिक दे सकें, न हिंदी-भाषी जनता में साहित्य के प्रति इतना प्रेम है कि ऐसे ग्रंथों को सोत्साह क्रय कर सके, न हमारी साहित्यिक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी है कि ऐसे कार्यों में लगे व्यक्तियों की पर्याप्त सहायता कर सकें अथवा उनके लिए अपेक्षित साधन ही जुटा सकें और न हमारा शासक-वर्ग ही इन कार्यों को इतने महत्व का समझता रहा है कि ऐसे प्रयत्नों का सम्मान करे अथवा उनके कर्त्ताओं को प्रोत्हासित करने के उद्देश्य से उचित रूप से पुरस्कृत कर सके। अतएव समय-साध्य, व्यय-साध्य और श्रम-साध्य संपादन-कार्य में प्रायः वे ही विद्वान संलग्न रह सके जिनमें साहित्य के प्रति सहज अभि-रुचि थी, साहित्य सेवा जिनके लिए एक व्यसन था, जो साधन-संपन्न थे और जिनको संपादन-कार्य से थोथी ख्याति अथवा आर्थिक लाभ का लोभ नहीं था।

संपादकों का दृष्टिकोण और कार्य—

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन ग्रंथों के सभी संपादकों का दृष्टिकोण उसके मूल रूप को प्रकाश में लाना रहा है, परंतु सफलता इने-गिने व्यक्तियों को ही मिल सकी है। इसका कारण यह नहीं माना जा सकता कि उनका, व्रजभाषा और उसके साहित्य का अध्ययन और ज्ञान अधूरा था अथवा उनमें शोध-संबंधी लगन का अभाव था; प्रत्युत वास्तविकता यह है कि प्रायः सभी प्रयत्न व्यक्तिगत रूप में किये गये जिससे प्रत्येक युग की व्रजभाषा की प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन-संबंधी सर्वमान्य सिद्धांत कभी निश्चित नहीं किये जा सके। दूसरी बात यह कि संपादन-कार्य में लगे हुए व्यक्तियों में से अधिकांश का दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टि से पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं था और उनमें से अनेक तो पाश्चात्य भाषातत्वज्ञों द्वारा निर्धारित नियमों को ही हिंदी भाषा के विभिन्न रूपों में घटित करते तथा उनके उदाहरण ढूँढ़ते रहे। व्यक्तिगति रुचि के अनुसार इन विद्वानों ने प्राचीन पाठों में से, बिना विशेष माथा-पच्ची किये, एक स्वीकार कर लिया; कभी कभी अर्थ की संगति के लिए अपनी इच्छानुसार उसमें संशोधन भी कर लिये। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो यह पद्धति अनुपयुक्त थी ही, उन स्वर्गीय साहित्य-कारों के प्रति यह कार्य एक अक्षम्य अपराध था और भावी अध्येताओं के लिए इन लोगों ने शोध-कार्य-संबंधी पथ-प्रदर्शन न करके उनके मार्ग को और भी जटिल बना दिया।

उचित दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता——

तात्पर्य यह कि हिंदी में प्राचीन साहित्य के उद्धारकों ने यद्यपि संपादन-संबंधी ध्येय का आदर्श रूप अपने सामने रखा अवश्य, तथापि अधिकांश के कार्य को वस्तुतः वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। अनेक पाठों में से, अर्थ-संगति की दृष्टि से एक को स्वीकार कर लेना अथवा शब्द-विशेष के वर्तनी-संबंधी अनेक रूपों में से एक को विशुद्ध

मानकर उसी के अनुसार सभी वैसे शब्दों में एकरूपता लाने के लिए निसंकोच परिवर्तन कर देना—अधिकांश हिंदी-संपादकों की यही प्रणाली आरंभ से रही है। वस्तुतः यह 'संपादन करना नहीं, ग्रंथों को अपने मतानुसार शोध देना हुआ'[३]। वैज्ञानिक संपादन-कार्य इससे कहीं कठिन है। ग्रंथ-विशेष की अधिक से अधिक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करके, उनमें से कभी प्राचीनतम को और कभी रचयिता के स्थान में प्राप्त प्रति को आधार मानकर, रचनाकाल की परिस्थिति के अनुसार, भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, 'प्रत्येक संदिग्ध शब्द का तुलनात्मक और ऐतिहासिक ढंग से अध्ययन करके वह पाठ स्थिर करना जो ग्रंथकार ने वास्तव में लिखा होगा, वैज्ञानिक संपादन कहलाता है'[४]। स्पष्ट है कि इस कार्य में सफलता पाने के लिए व्यक्ति में विद्वता के साथ साथ अपार धैर्य और लगन तो अपेक्षित है ही, यदि वह पर्याप्त साधन-संपन्न नही है तो तद्विषयक विद्वानों का सहयोग और किसी प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था का संरक्षण भी कम से कम इस रूप में आवश्यक हो ही जाता है कि कोरी व्यवसायी मनोवृत्ति वाले प्रकाशकों के अस्वीकार कर देने पर वह संपादित ग्रंथ के प्रकाशन का व्यवस्थित प्रबंध करके संपादक का श्रम सार्थक कर सके। यही कारण है कि व्यक्तिगत रूप से किये गये इने-गिने प्रयत्नों को छोड़कर प्रायः समस्त संपादन-कार्य नागरी-प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिंदुस्तानी अकेडमी आदि के तत्वावधान अथवा विभिन्न विश्वविद्यालयों के संरक्षण में ही संपन्न हो सका है।

सूर-काव्य के पाठ की समस्या—

सूरदास जन्मांध थे अथवा बाद में अंधे हुए, इस संबंध में विद्वानों में भले ही मतभेद हो, परन्तु इस विषय में प्रायः सभी एकमत हैं कि कवि ने स्वयं अपनी रचनाओं की कोई प्रति कभी नहीं लिखी। वल्लभाचार्य जी से भेंट होने पूर्व उन्होंने जो विनय-पद रचे थे, उनको उन्होंने स्वयं लिखा भी था, ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। जो विद्वान यह मानते हैं कि वे जन्मांध थे[५], वे तो कवि के द्वारा लिखे जाने के पक्ष में हो ही नहीं सकते, परन्तु जिनका इस विषय में मतभेद है वे भी इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि रचनाकाल की अवस्था में सूर अवश्य अंधे और कुछ लिखने-पढ़ने में सर्वथा असमर्थ थे[६]। अतएव यह सर्वमान्य है कि सूरदास के रचे पद मित्र या शिष्य सुनते ही लिख लेते थे। एक ही व्यक्ति ने सदैव इन पदों को लिखा नहीं होगा; फलस्वरूप कवि के समय में ही पदों के शब्द-रूपों में वर्तनी-संबंधी

---

३. डा० धीरेंद्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', पृ० ४१।

४. डा० धीरेंद्र वर्मा, 'व्रजभाषा-व्याकरण', वक्तव्य, पृ० ३।

५. (क) महाराज रघुराजसिंह, 'रामरसिकावली', 'सूरदास' शीर्षक प्रसंग।
(ख) 'अष्टछाप', काँकरोली, पृ० ४-५।

६. डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २०३।

अंतर हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। स्वयं सूरदास किस रूप को मानते थे अथवा किसके प्रति उनकी रुचि विशेष थी, इसका भी प्रश्न उठाना निरर्थक है, क्योंकि इसके जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। सूरदास के रचे पदों के, मित्रों या शिष्यों द्वारा समय-समय पर लिखे पाठों का धीरे-धीरे प्रचार बढ़ने लगा। कुछ प्रेमी भक्तों ने उनकी प्रतिलिपियाँ कर या करा लीं और कुछ ने केवल कंठ करके उनके रस का आस्वादन कर जीवन को सार्थक माना। अनेक गायक भी इन पदों को गा-गाकर आजीविका-अर्जन में लगे। अतएव, संभव है कि सूर-काव्य के दो पाठ उनके जीवन के अन्तिम-काल में ही प्रचलित हो गये हों—एक तो लिखित पाठ और दूसरा, क़ंठस्थ पाठ।

क. लिखित पाठ—कवि के मित्रों और शिष्यों द्वारा लिखित संग्रहों की प्रतिलिपियों में प्राप्त पाठ। ऐसी अनेक प्रतिलिपियाँ वल्लभसंप्रदायी मंदिरों में और काव्य-प्रेमियों के पास सुरक्षित रहीं। भाषा की दृष्टि से ऐसी प्राचीन प्रतियों का पाठ किसी सीमा तक शुद्ध माना जा सकता है।

ख. कंठस्थ पाठ—भक्तों और गायकों के कंठों में सुरक्षित पाठ। किसी भी कवि के गेय पदों को कंठ करनेवाले भक्तों और गायकों के उद्देश्य और दृष्टिकोण में अन्तर रहता है। अतएव इस प्रकार के पाठ भी दो रूपो में मिलते हैं—

अ. भक्तों का कंठस्थ पाठ – निजी अथवा दूसरों के मनोरंजन के लिए तथा मंदिर की कीर्तन-सेवा और आध्यात्मिक साधना के लिए अनेक साधु और भक्त प्रतिष्ठित कवियों की रचनाएँ कंठ कर लेते हैं। इसी प्रकार सूरदास के पद कंठस्थ करके इस वर्ग के व्यक्तियों ने अपने साथ-साथ उनको भी उत्तरी भारत के विभिन्न धर्म-स्थानों में पहुँचा दिया। कालांतार में यह पाठ भी लिपिबद्ध हुआ। इन कंठस्थ पदों के पाठ में कुछ परिवर्तन तो उच्चारण-सुविधा और अर्थ-सुगमता की दृष्टि से अनजान में ही होते रहे और कुछ स्थानीय विभाषाओं और बोलियों के मिश्रण के कारण धीरे-धीरे होते गये।

आ. गायकों का कंठस्थ पाठ—गायकों की मंडली में सुरक्षित कंठस्थ पदों के पाठ में प्रायः स्वर और ताल की दृष्टि से समय समय पर परिवर्तन किये गये। राग-रागिनियों के संबंध में गायक-गायिकाओं की रुचि में सदैव भिन्नता रहती है और सभी संगीतज्ञ दूसरे रागों के पदों को अपने प्रिय रूप में ढालने का प्रयत्न किया करते हैं। सूरदास के पदों का यह पाठ विभिन्न संगीत-संग्रहों में प्राप्त है।

सूर-काव्य के सभी प्रतिलिपिकारों के दृष्टिकोण और ज्ञान में तो स्वाभाविक अन्तर सदैव रहा ही, समय का व्यवधान भी प्रायः कम नहीं था। सामान्य युग में भी सौ, दो सौ वर्ष के अंतर से भाषा का रूप बहुत-कुछ बदल जाता है, फिर सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक, सौ-सवा सौ वर्षों को छोड़कर, बराबर राजनीतिक उथल-पुथल ही रही। अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं का प्रचलन भी देश में दिन-दिन अधिक

होता गया और अकबर के राजत्वकाल में, फारसी के राजभाषा हो जाने पर, देश की कोई भाषा उसके प्रभाव से न बच सकी। यद्यपि प्रतिलिपिकार का भाषाक्षेत्र-विशेष के इन सब परिवर्तनों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता, क्योंकि उसे तो प्राप्त रचना या ग्रंथ की प्रतिलिपि भर कर देनी होती है, तथापि इस व्यवधान के कारण एक सी प्रकृति न रखने-वाली भाषाओं के पारस्परिक संबंध का कुछ न कुछ प्रभाव शिक्षित समाज पर अवश्य पड़ता है और उसी के अनुसार प्रतिलिपिकारों की भाषा भी परोक्ष रूप से हर पीढ़ी में कुछ न कुछ परिवर्तित होती रहती है। हस्तलिखित ग्रंथों के अधिकांश लेखक प्रायः अपने कार्य का गुरुत्व नहीं समझते और दायित्व के निर्वाह में भी बहुत सावधान नहीं रहते, क्योंकि वे जानते हैं कि मूल पाठ से मिलान करके प्रतिलिपि की शुद्धता-अशुद्धता जाँचने का प्रश्न प्रायः नहीं ही उठता। जिन लेखकों ने स्वयं अपने लिए प्रतिलिपियाँ तैयार कीं, उन्होंने तो कभी-कभी यहाँ तक स्वतंत्रता से काम लिया कि स्व-रचित अनेक रचनाएँ भी उनमें निसंकोच सम्मिलित कर दीं। अतएव कुछ तो उक्त कारणों से और कुछ हस्त-लेख के दोष से समस्त प्राचीन काव्य-साहित्य के समान ही सूर-काव्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियों का पाठ भी बहुत भिन्न और कहीं-कहीं तो अस्पष्ट हो गया है।

सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ—

सूरदास के नाम से लगभग दो दरजन ग्रंथों का उल्लेख विभिन्न शोध-विवरणों में हुआ है। अधिकांश विद्वान इन ग्रंथों में से केवल तीन—'सूरसागर', 'सूर सारावली' और 'साहित्यलहरी'—को ही अष्टछापी सूरदास की रचनाएँ मानते हैं। 'सूरसागर' की जो प्रतियाँ आज तक प्राप्त हुई हैं उनमें से कुछ में लिपिकाल दिया हुआ है और कुछ में नहीं। लिपिकालवाली प्रतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. सरस्वती-भण्डार, उदयपुर की संवत् १६९७ की प्रति। इस प्रति का विवरण राजस्थानी खोज-रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ है[७]। इसका लिपिकाल 'प्राक्कथन' (पृष्ठ ग) में संवत् १६९५ दिया हुआ है, परन्तु 'विशेष परिचय' (पृष्ठ १५८) में १६९७। इस पुस्तकालय की ग्रंथ सूची में 'सूरसागर' की एक प्रति का लिपिकाल संवत् १६९७ दिया हुआ है[८]। अतः यही ठीक जान पड़ता है। यह प्रति राठौर वंश की मेड़तिया शाखा के महाराज किशनदास के पठनार्थ लिखी गयी थी। इसमें ८१२ चुने हुए पद हैं। अब तक प्राप्त 'सूरसागर' की समस्त प्रतियों में कदाचित यही सबसे प्राचीन है।

२. संवत् १७३५ की प्रति। खोजरिपोर्ट[९] में इसका संरक्षण-स्थान अज्ञात लिखा है और अब यह प्रति भी प्राप्त नहीं है।

---

७. **'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', प्रथम भाग, पृ० १५८।**

८. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282.

९. **'हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज-रिपोर्ट', सन् १९०६।**

३. पं० नटवरलाल चतुर्वेदी, कुआँ गली, मथुरा की संवत् १७४५ की प्रति। इसमें दशम, एकादश और द्वादश स्कंध ही हैं। १७४५ इसकी पद संख्या है या लिपि संवत्—यह भी स्पष्ट नहीं होता[१०]।

४. बाबू केशवदास शाह, काशी की संवत १७५३ की प्रति। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सन् १९३४ में प्रकाशित 'सूरसागर' का पाठ जिन प्रतियों से मिलान करके निर्धारित किया गया था, उनमें यह सबसे प्राचीन मानी गयी है[११]।

५. सरस्वती-भंडार, उदयपुर[१२] की संवत् १७६३ की प्रति। इसमें केवल १७० चुने हुए पद हैं। अतएव इसे 'सूरसागर' नहीं कहना चाहिए। परंतु प्राचीन प्रति होने के कारण पाठ-सिद्धांत-निर्णय की दृष्टि से यह कुछ काम की हो सकती है।

६. ठा० रामप्रताप सिंह, बरौली, भरतपुर की संवत् १७९८ की प्रति। इसमें २०९५ पद हैं। दशम स्कंध के अंतर्गत इसमें केवल १ पद है, परंतु बारहवें में १७४५ पद हैं। जान पड़ता है कि दशम स्कंध के ही पद बारहवें में मिल गये हैं। यदि ऐसा नहीं है और बारहवें स्कंध की पद-संख्या वास्तव में ठीक है, तो यह प्रति बड़े महत्व की है[१३] और इससे 'सूरसागर' की पद-संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो जाने की आशा है।

७. वृंदावन की संवत् १८१३ की प्रति। इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था[१४]।

८. संवत् १८१६ की प्रति। इसका संरक्षण-स्थान और विवरण अज्ञात है[१५]।

९. श्री गणेश बिहारी मिश्र, (मिश्र-बंधुओं में ज्येष्ठ) जौनपुर की संवत् १८५४ की प्रति। इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था[१६]।

१०. श्यामसुंदरदास अग्रवाल, मशकगंज, लखनऊ की संवत् १८६६ की प्रति। इसमें ३९६४ पद हैं[१७]। आजकल यह प्रति अग्रवाल जी के उत्तराधिकारी लाला मोहन लाल अग्रवाल के पास है। डा० दीनदयालु गुप्त ने यह प्रति दो बार देखी है[१८]।

---

१०. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६।

११. 'सचित्र सूरसागर', निवेदन, पृष्ठ २।

१२. (क) राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, पृ० २५९।

(ख) A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282-83.

१३. खोज रिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६, पृ० २६९।

१४. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

१५. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६।

१६. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

१७. खोज रिपोर्ट, सन् १९०१, पृ० २९।

१८. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० १६८।

११. बाबू कृष्णजीवनलाल, वकील, महावन, मथुरा की संवत् १८६७ की प्रति। इसमें 'दशम स्कंध' नहीं है[१९]। बारहवें स्कंध में १७४५ पद हैं। जान पड़ता है, दशम स्कंध के पद ही बारहवें में सम्मिलित हो गये हैं। यदि ऐसा नहीं है तो ठा० रामप्रतापसिंह की तरह यह प्रति भी बहुत महत्वपूर्ण है।

१२. बिजावरराज-पुस्तकालय की संवत् १८७३ की प्रति। इसका विशेष विवरण अज्ञात है[२०]।

१३. श्री मातंगध्वजप्रसाद सिंह, बिसवाँ, अलीगढ़ की संवत् १८७६ की प्रति। यह दो भागों में है। प्रथम में १ से ९ स्कंध की कथा ४६२ पदों में है और दूसरे में दशम, एकादश और द्वादश स्कंधों की कथा १३४२ पदों में है। इसमें कुल २८०४ पद हैं[२१]।

१४. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की संवत् १८८० की प्रति। इसका उपयोग 'रत्नाकर' जी ने किया था[२२]।

१५. राय राजेश्वरबली, दरियाबाद की संवत् १८८८ की प्रति। यह फारसी लिपि में है। इसकी लिखावट सुंदर है। अक्षरों के नीचे नुकते नहीं दिये गये हैं। 'रत्नाकर' जी ने इसका उपयोग किया था और मतभेद के अवसर पर पाठ-निर्धारण में उन्हें इससे विशेष सहायता मिली थी[२३]।

१६. कालाकाँकर, राज-पुस्तकालय की संवत् १८८९ की प्रति। 'रत्नाकर' जी ने इसका उपयोग किया था[२४]।

१७. पं० शिवनारायण वाजपेयी, वाजपेयी का पुरवा, सिसैया, बहराइच की संवत् १८९९ की प्रति। विशेष विवरण अज्ञात है[२५]।

१८. पं० लालमणि वैद्य, पुवायाँ, सहारनपुर की संवत् १९०० की प्रति। यह तीन भागों में है और उपलब्ध प्रतियों में कदाचित् सबसे बड़ी है[२६]।

१९. जानीमल खानचंद, काशी की संवत् १९९२ की प्रति। यह प्रति पुस्तकाकार है[२७]।

---

१९. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४, संख्या १८५।
२०. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८।
२१. खोज रिपोर्ट, सन्१९१७-१९।
२२. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० १।
२३. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
२४. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
२५. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, पृ० १४३३।
२६. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४।
२७. (क) 'सचित्र सूरसागर' का निवेदन, पृ० २।
(ख) 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का निवेदन, पृ० १।

२०. नागरी-प्रचारिणी सभा काशी की संवत् १९०९ की प्रति। यह राजा सूबासिंह के पढ़ने के लिए लिखी गयी थी[२८]।

२१. काँकरौली राज-पुस्तकालय की संवत् १९१२ की प्रति। यह पुराने देशी कागज पर लिखी हुई है[२९]।

२२. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की संवत् १९१६ की प्रति। विशेष विवरण अज्ञात है[३०]।

२३. रायकृष्णदास, काशी की संवत् १९२६ की प्रति। यह श्री गयाप्रसाद वैश्य की पत्नी के लिए पं० नाथूराम गौड़ ने लिखी थी[३१]।

'सूरसागर' की उक्त २३ प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें लिपिसंवत् दिया हुआ है जिससे उनकी प्राचीनता का पता लगता है। इनके साथ-साथ इस ग्रंथ की ११ ऐसी प्रतियों का भी उल्लेख विविध खोज-विवरणों में है जिनका लिपिकाल अज्ञात है। इनका संक्षिप्त ज्ञातव्य परिचय इस प्रकार है —

१. प्राप्तिस्थान—दतिया राज-पुस्तकालय। इस पुस्तकालय में 'सूरसागर' की दो प्रतियाँ हैं[३२]।

२. प्राप्तिस्थान—भारतेंदु बाबू हरिश्चंद पुस्तकालय, चौखंभा, काशी। प्रति खंडित है; इसमें केवल दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध है। श्री राधाकृष्णदास ने इस प्रति का उपयोग किया था[३३]।

३. प्राप्तिस्थान—बाबू रामदीन सिंह, बाँकीपुर, पटना। यह प्रति भी अपूर्ण है। इनमें केवल प्रथम से नवम स्कंध तक के पद ही हैं। बाबू राधाकृष्णदास ने इसका भी उपयोग किया था[३४]।

४. प्राप्तिस्थान - श्री १०८ महाराज काशिराज बहादुर का पुस्तकालय। दूसरी और तीसरी प्रतियों की तरह यह भी खंडित प्रति है। इसमें दशम उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कंधों के ही पद हैं। इसका उपयोग भी बाबू राधाकृष्णदास ने किया था[३५]।

५. प्राप्तिस्थान— पं० लालमणि मिश्र, शाहजहाँपुर। इस प्रति से 'रत्नाकर' जी को 'अधिक पद' लिखने में विशेष सहायता मिली थी[३६]।

---

२८. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
२९. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन' पृ० २।
३०. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
३१. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।
३२. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८।
३३. 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का 'निवेदन', पृ० १।
३४. 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का 'निवेदन', पृ० १।
३५. 'सूरसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस) का 'निवेदन', पृ० १।
३६. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० १।

६. प्राप्तिस्थान – नागरी प्रचरिणी सभा, काशी। यह प्रति पुस्तकाकार है[३७]।

७. प्राप्तिस्थान—बाबू पूर्णचंद नाहर, कलकत्ता। इस पुस्तकाकार प्रति के पाठ अच्छे हैं। 'रत्नाकर' जी को कई अवसरों पर इससे बहुमूल्य सहायता मिली थी। अक्षर कई प्रकार के होने पर भी प्रति सुपाठ्य है[३८]।

८. प्राप्तिस्थान—बाबू श्यामसुंदरदास, काशी। यह प्रति अब नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी की संपत्ति है[३९]।

९. प्राप्तिस्थान—स्वर्गीय पंडित बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०। भट्टजी के पास 'सूरसागर' की दो प्रतियाँ थीं; परंतु दोनों में से एक भी पूर्ण नहीं थी[४०]।

१०. प्राप्तिस्थान—भिगाराज पुस्तकालय, बहराइच। इसमें २१२४ पद हैं[४१]।

१ . ाप्तिस्थान—सरस्वती-भंडार, उदयपुर। इसका विशेष विवरण अज्ञात है[४२]।

सूरदास के सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रंथ 'सूरसाग़र'[४३] के अतिरिक्त 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' नामक दो और ग्रंथ उनके बनाये कहे जाते हैं। 'सूरसारावली' जिस रूप में लखनऊ और बंबई के 'सूरसागरों' के साथ प्रकाशित है, वैसी किसी प्रति का पता अभी तक नहीं लगा है और न तत्संबंधी कोई उल्लेख ही किसी खोजरिपोर्ट में हुआ है। सूरदास के इस नाम के एक ग्रंथ का विवरण राजस्थान की खोजरिपोर्ट में अवश्य मिलता है[४४], परंतु नाम-साम्य होने पर भी यह ग्रंथ 'सूरसागर' के पदों का ही संग्रह जान पड़ता है, क्योंकि 'ब्रज त पावस पै न गयी' से आरम्भ होनेवाला पद इसके अंतिम पद के रूप में उद्धृत किया गया है। सरस्वती-भंडार, उदयपुर की ग्रंथ-सूची में 'सूर-सारावली' नामक जिस काव्य का उल्लेख है[४५], संभवतः उसी का विवरण राजस्थानी रिपोर्ट में मिलता है, क्योंकि दोनों का लिपिसंवत् १७७५ ही है।

---

३७. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

३८. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० २।

३९. 'सचित्र सूरसागर' का 'निवेदन', पृ० ३।

४०. 'खोजरिपोर्ट', सन् १९२३-२५, पृ० १४३४।

४१. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, पृ० १४३६-३७।

42. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), page 282-83.

४३. 'सूरसागर' की उक्त प्रतियों के अतिरिक्त कुछ और प्रतियों का उल्लेख पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनंदन-ग्रंथ' में प्रकाशित अपने "'सूरसागर' का विकास और उसका स्वरूप" शीर्षक लेख (पृ० १२३-१२९) में किया है—लेखक।

४४. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित-ग्रंथों की खोज', प्रथम भाग, पृ० १५९।

45. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 284-85.

१. 'साहित्यलहरी' की भी किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के प्राप्त होने का उल्लेख किसी खोजरिपोर्ट में नहीं है[४६]। दो अपूर्ण कूट-पद-संग्रहों की चर्चा कई स्थानों पर अवश्य हुई है और उनके साथ टीका भी मिलती है। दोनों संग्रहों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

'सूरदास जी के दृष्टकूट' अथवा 'सूर-शतक सटीक'—प्राप्तिस्थान—भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र पूस्तकालय, चौखंभा, काशी। खोजविवरण के अनुसार यह सटीक संग्रह श्री वल्लभ-संप्रदाय के आचार्य, काशीस्थ श्री गोपाल लाल जी के शिष्य बालकृष्ण ने अपने गुरु की आज्ञा से गुजरात माननगर में प्रस्तुत किया था[४७]। श्री राधाकृष्णदास ने सूरदास जी के सम्बन्ध में भारतेंदु हरिश्चंद्र जी की एक टिप्पणी उद्धृत की है। उसमें भी दृष्टकूटों की एक टीका का उल्लेख किया गया है[४८]। इस ग्रथं की दो सटीक प्रतियाँ काँकरौली विद्याविभाग के पुस्तकालय में और एक प्रति नाथ-द्वार निज पुस्तकालय में होने का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने किया है[४९]।

२. **सूर-पदावली गूढ़ार्थ**—इसका प्राप्तिस्थान और इसके टीकाकार का नाम अज्ञात है। डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार यह सूरदास के दृष्टकूटों की विद्वतापूर्ण टीका है जिसमें अनेक पदों के तीन-तीन या चार-चार तक अर्थ दिये गये हैं[५०]।

उक्त तीन प्रमुख ग्रंथों के अतिरिक्त सूरदास के नाम से प्राप्त २२ ग्रंथों का उल्लेख विविध शोध-विवरणों और अनुसंधानपूर्ण ग्रंथों में समय-समय पर हुआ है जिनमें से कुछ निश्चय ही 'सूरसागर' के कवि-रचित नहीं हैं। अकारक्रम से उनके नाम और संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं—

१. **एकादशी माहात्म्य**—इस ग्रंथ की संवत् १९२३ की लिखी एक प्रति प्राप्त हुई है जिसमें लेखक का नाम सूरजदास दिया हुआ है। इस ग्रंथ में ६३ पद्य हैं। खोजरिपोर्ट में इसका विषय इस प्रकार बताया गया है—प्रथम बंदना, तत्पश्चात् सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र और इनके पुत्र रोहितास की प्रशंसा तथा कथा-वार्ता आदि का वर्णन है[५१]। अवधी भाषा, दोहा-चौपाई-शैली; गणेश, शारदा आदि तैंतीस देवता और माता-पिता की स्तुति के क्रम आदि को देखते हुए यह ग्रंथ सूर-कृत नहीं जान पड़ता।

---

४६. 'साहित्यलहरी' अथवा 'दृष्टकूट पद' की कुछ अन्य प्रतियों का उल्लेख पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनदन-ग्रंथ' में प्रकाशित अपने '"सूरसागर' का विकास और उसका स्वरूप" शीर्षक लेख (पृ० १३०-३१) में किया है—लेखक।

४७. खोजरिपोर्ट, सन् १९००, सं० ६, पृ० २०।

४८. 'सूरसागर' (वेंक्टेश्वर प्रेस) में 'श्री सूरदास जी का जीवन चरित्र', पृ० ४।

४९. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ २९४।

50. Report on the search for Hindi Mss. in the Delhi Province for 1931, pages 14 and 45.

५१. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८७ बी, पृ० ३७४।

२. **(सूरदास-कृत) कबीर**—इस छोटी-सी पुस्तक में होली के कबीरों की शैली में राधा-रानी के नखशिख का वर्णन है[५२]। जान पड़ता है कि 'सूरसागर' के ही तत्संबंधी पदों को कबीरों की शैली में राधा-रानी के किसी भक्त ने ढाल लिया है।

३. **गोबर्द्धन-लीला**—इस प्रति में ३०० पद हैं। खोजरिपोर्ट में इस ग्रंथ के जो उद्धरण दिये हुए हैं[५३], वे वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' में २२२ पृष्ठ के कुछ पदों से मिल जाते हैं[५४]। अतः यह सूरदास का स्वतंत्र ग्रंथ न होकर, उनके स्फुट पदों का संकलन मात्र है।

४. **(सूरसागर) दशम स्कंध**—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख खोजरिपोर्टों में है। एक की पद-संख्या खोज रिपोर्ट में १९१३ दी गयी है[५५], दूसरी प्रति बाबू पद्मनरेश सिंह (लबेदपुर, बहराइच) के पास है जिसमें १०३ पत्र हैं[५६]। ये ग्रंथ वस्तुतः 'सूरसागर' के ही 'दशम स्कंध' के संक्षिप्त संस्करण हैं।

५. **दशम स्कंध टीका**[५७]—इस ग्रंथ में भी 'सूरसागर' के ही पद संकलित हैं। इसका लिपिकाल अज्ञात है।

६. **नलदमयंती**[५८]—बाबू राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' की भूमिका में इस ग्रंथ को सूरदास-कृत लिखा है[५९]। बाद को मिश्रबंधुओं ने भी 'नवरत्न' में इसे उन्हीं की रचना कहा है[६०]। परंतु इधर डाक्टर मोतीचंद के एक लेख के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि इस काव्य के लेखक 'सूरदास' नाम-धारी होने पर भी 'सूरसागर' के कवि से भिन्न हैं और उनका संबंध सूफी संप्रदाय से है[६१]।

७. **नागलीला**—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख खोजरिपोर्टों में है। एक का लिपिसंवत् १८८९ है[६२] और दूसरी का १९३४[६३]। दोनों प्रतियों में सूरदास जी के

---

५२. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, द्वितीय भाग, सं० ४१६ सी, पृ० १४३०।

५३. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६, पृ० ३७२।

५४. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८१।

५५. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४, पृ० ३२४।

५६. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ जे, पृ० १४३७।

५७. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४ डी।

५८. खोजरिपोर्ट, सन् १९०९-११, 'भूमिका', पृ० ८।

५९. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २६५।

६०. 'नवरत्न', चतुर्थ संस्करण, पृ० २३९।

६१. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ४०, अंक २ में प्रकाशित डा० मोतीचंद एम० ए०, पी-एच० डी० का 'कवि सूरदास-कृत नल-दमयंती काव्य' शीर्षक लेख, पृ० १२१-१३८।

६२. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६, सं० १८७।

६३. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, पृ० ३२४।

कालीय नाग-नाथन-लीला संबंधी पदों का संग्रह है। अतः इस ग्रंथ का भी स्वतंत्र महत्व नहीं है।

८. **पद-संग्रह**—सूरदास के पदों के इस संग्रह की दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—एक जोधपुर के[६४] और दूसरी दतिया के[६५] राज-पुस्तकालय में है। केवल 'पद' नाम से सूर-दास-कृत पदों का एक संकलन उदयपुर के सरस्वती-भंडार नामक पुस्तकालय में है[६६]। इसी प्रकार इस पुस्तकालय की ग्रंथ-सूची में 'फुटकर-पद' नाम से एक और संग्रह का उल्लेख हुआ है[६७]। इन सबमें 'सूरसागर' के चुने हुए पद हैं।

९. **प्राणप्यारी**—खोजरिपोर्ट में यह पूरी रचना उद्धृत है। इसमें ३२ पद हैं और विषय 'श्याम-सगाई' है[६८]। डा० गुप्त ने इसे सूर की संदिग्ध रचना माना है[६९]।

१०. **भागवत भाषा**—इस नाम से प्राप्त दो प्रतियों का उल्लेख खोज-रिपोर्टों में है; एक का लिपिकाल संवत् १७४५ है[७०] और दूसरी का संवत् १८६७[७१]। वास्तव में यह स्वतंत्र ग्रंथ नहीं हैं; 'सूरसागर' का ही व्याख्यात्मक नाम 'भाषा-भागवत' समझना चाहिए।

११. **भँवरगीत**—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख एक खोजरिपोर्ट में[७२] और एक अपूर्ण प्रति का सरस्वती-भंडार पुस्तकालय की ग्रंथ-सूची में है[७३]। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस नाम की जिन प्रतियों की आलोचना की है[७४], वे संभवतः वर्तमान युग में संकलित हुई हैं। उक्त तीनों प्राचीन प्रतियों में भी 'सूरसागर' के ही पद संगृहीत हैं।

१२. **मानसागर**—इस नाम के सूर-कृत ग्रंथ की एक प्रति का उल्लेख सरस्वती

---

६४. खोजरिपोर्ट, सन् १९०२, सं० २९२, पृ० ८२०।

६५. खोजरिपोर्ट, सन् १९०६-८, पृ० ३२४।

६६. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 224-25.

६७. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 234-35.

६८. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६ एफ, पृ० ३७३।

६९. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय,' प्रथम भाग, पृ० २८२।

७०. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८६ ए।

७१. खोजरिपोर्ट, सन् १९१२-१४, सं० १८५ ए, पृ०२३६।

७२. खोजरिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ ए और ४१६ बी, पृ० १४२८-२९।

73. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 242-43.

७४. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८६।

भंडार पुस्तकालय की सूची में हैं[७५] और दूसरी, डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार, नाथद्वार पुस्तकालय में है। काँकरौली के पुस्तकालय में मानलीला' नाम से, स्वतंत्र ग्रंथ-रूप में, इसकी कई प्रतियाँ देखने का भी उन्होने उल्लेख किया है[७६]। संवत् १९९९ के कार्तिक मास की 'व्रजभारती' में पंडित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने संपूर्ण 'मानसागर' प्रकाशित किया था जो वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' के पृष्ठ ४०९ से १२ तक के पदों से मिलता है। अतएव 'मानलीला' या 'मानसागर', 'सूरसागर' से उद्धृत एक छोटी सी रचना है।

१३. **राम-जन्म**—इसके कवि का नाम खोजरिपोर्ट में सूरजदास दिया हुआ है[७७]। अवधी भाषा और दोहे-चौपाई-शैली में होने के कारण यह ग्रंथ 'सूरसागर' के कवि का नहीं हो सकता।

१४. **रुक्मिणी विवाह**[७८]—इस संग्रह में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-विवाह-संबंधी पद 'सूरसागर' से उद्धृत कर लिये गये हैं।

१५. **विष्णुपद**—संवत् १९०४ की लिखी हुई इस पुस्तक की एक अपूर्ण प्रति मिली है जिसमें श्रीकृष्ण-लीला, यशोदा-नंद का श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य, राधा-कृष्ण-प्रेम आदि विषयों से संबंधित पद संकलित हैं[७९]। 'सूरसागर' से ही इसमें चुने हुए पदों का संग्रह किया गया है।

१६. **ब्याहलो**—इसमें राधाकृष्ण-विवाह संबंधी २२ पद हैं। खोजरिपोर्ट में आदि, मध्य या अंत के उद्धरण नहीं हैं[८०]; इसलिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ सूर का है या नहीं। इसी नाम के और भी तीन ग्रंथ खोज में मिले हैं—एक, बिहारिनीदास-कृत[८१]; दूसरा, हितहरिवंश-संप्रदाय के ध्रुवदास-कृत[८२] और तीसरा, नारायणदास-कृत[८३]। सूरदास के नाम से प्राप्त ग्रंथ के उद्धरण न होने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन्हीं तीनों में से किसी को सूरदास-कृत कह दिया गया है अथवा किसी ने उक्त नाम पसंद करके, 'सूरसागर' से तद्विषयक पदों का संकलन करके, उसे ही सूर-कृत प्रसिद्ध कर दिया है।

---

75. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 246-47.

७६. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

७७. खोजरिपोर्ट, सन् १९१७-१९, सं० १८७ ए, पृ० ३७४।

७८. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ ई, पृ० १४३२।

७९. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, दूसरा भाग, सं० ४१६ डी, पृ० १४३१।

८०. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २४४ ए, पृ. ३२३।

८१. खोज रिपोर्ट, सन् १९०६-८, सं० २१८ ए।

८२. खोज रिपोर्ट, सन् १९०९-११, सं० ७३ एल।

८३. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय,' प्रथम भाग, पृ० २८२।

१७. सुदामा-चरित्र[८४]—इस संग्रह में सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता-संबंधी पद 'सूरसागर' से उद्धृत कर दिये गये हैं।

१८. सूर पच्चीसी—ज्ञान-संबंधी २५ दोहे इसमें संगृहीत हैं[८५]। यह पद वेंकटेश्वर प्रेस के 'सूरसागर' में पृ० ३१२ पर 'परज' राग के अंतर्गत प्रकाशित है। अतएव यह भी सूरदास का स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। इसकी एक प्रति उदयपुर के केवलराम दादूपंथी के पास है जो 'वाणी-संग्रह' नामक विविध ग्रंथों के एक संकलन में संगृहीत है[८६]।

१९. सूर-पदावली—सूर के पदों के स्फुट संग्रह अथवा 'सूरसागर' के संक्षिप्त संस्करण ही 'सूर-पदावली' के नाम से मिलते हैं। ऐसे बारह संकलन बीकानेर के अनूप-संस्कृत पुस्तकालय में वर्तमान होने की सूचना श्री अगरचंद नाहटा ने दी है जिनमें से ग्यारह में कृष्ण-चरित् संबंधी पद हैं[८७]। उदयपुरी सरस्वती-भंडार की ग्रंथ-सूची में भी एक 'पदावली' का उल्लेख है[८८]। इन सब पदावलियों का महत्व 'पद-संग्रहों' के समान ही समझना चाहिए।

२०. सूर-सागर-सार—खोज-रिपोर्ट के संपादक ने इसे कवि का नया प्रामाणिक ग्रंथ माना है[८९]; परंतु उद्धरण-रूप में जो पद उन्होंने दिये हैं वे 'सूरसागर' के नवम स्कंध के ही हैं। इसलिए यह भी स्वतंत्र ग्रंथ नहीं, कवि के ३७० पदों का संग्रह मात्र है। डा० दीनदयालु गुप्त ने 'सूर-सागर-सार' को 'सूर-सारावली' का ही परिवर्तित नाम कहा है[९०]; परन्तु 'सूर-सारावली' नाम से भी सूरदास के स्फुट पदों के संकलन मिलते हैं जिनमें से एक का विवरण पीछे दिया जा चुका है। अतएव 'सूर-सागर सार' को 'सूर-सागर' के ही पदों का संग्रह मानना उचित जान पड़ता है।

२१. सेवाफल—इस ग्रंथ की दो प्रतियों का उल्लेख डा० दीनदयालु गुप्त ने किया है—एक, नाथद्वार निज पुस्तकालय में है और दूसरी, काँकरौली विद्या-विभाग में[९१]। उनके विवरण के अनुसार इस ग्रंथ में केवल एक लंबा पद है जिसे वे सूर-कृत ही मानते हैं।

---

८४. खोज रिपोर्ट, सन् १९२३-२५, द्वितीय भाग, सं० ४१६ ई पृ० १४३२।

८५. खोज रिपोर्ट, सन् १९१२-१४, सं० १८५ बी, पृ० २३२।

८६. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० ५८-५९-६०।

८७. 'व्रजभारती,' वर्ष ९, अंक ३ में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा का 'सूर-पदावली' की प्राचीन प्रतियाँ' शीर्षक लेख, पृ० १९।

88. A Catalogue of Mss. in the Library of H. H. the Maharana of Udaipur (Mewar), pages 282-83.

८९. खोज रिपोर्ट, सन् १९०९-११, सं० ३१३, पृ० ४२१।

९०. 'अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

९१. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

२२. **हरिवंश-टीका**—सूरदास के नाम से इस ग्रंथ की सूचना 'कैटेलोगस कैटेलोग्रम'[९२] और दक्षिण-कालेज पुस्तकालय, पूना की ग्रंथ-सूची[९३] में है। परंतु संस्कृत में होने के कारण यह ग्रंथ 'सूरसागर' के अंधकवि का नहीं हो सकता।

इनके अतिरिक्त 'सूर-रामायण', 'दान-लीला', 'सूर-साठी' आदि सूरदास के कुछ ग्रंथों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है और इनमें से कुछ प्रकाशित भी हुए हैं। वास्तव में इनमें भी 'सूरसागर' के ही तद्विषयक पद उद्धृत कर लिये गये हैं। परंतु स्वतंत्र रचना न होने के कारण ही इन संकलनों का महत्व समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि कवि के मूल काव्य के संपादन में कभी-कभी इनसे बड़ी सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। इतना तो निश्चित ही है कि 'सूरसागर' के जो पद उक्त संकलनों में दिये हुए हैं, उनमें से अधिकांश काव्य-कला की दृष्टि से सामान्य कोटि के नहीं हो सकते। अतएव इनकी सहायता से सूरसागर' के श्रेष्ठ भाग का वैज्ञानिक रीति से संपादन किया जा सकता है और इस कार्य की समाप्ति के साथ साथ पाठ-निर्णय-संबंधी जो सिद्धांत निश्चित किये जायँ, उनके आधार पर शेषांश का संपादन-कार्य संपन्न हो सकता है। बाबू राधाकृष्णदास की तो बात दूर, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी अपने संस्करण के संपादन में इन फुटकर संग्रहों से कोई सहायता नहीं ली थी। इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में 'दशम स्कंध', 'भागवतभाषा', 'सूर-सागर-सार', 'सूर-पदावली', पद-संग्रह', और 'भ्रमरगीत' जैसे संकलनों से पाठ-निर्धारण में तो सहायता मिलेगी ही, संभव है, इनमें कुछ नये पद भी मिल जायँ। अतएव सूर-काव्य-संपादकों के लिए ये ग्रंथ सर्वांशतः उपेक्षणीय नहीं हैं।

सूर-काव्य के प्रकाशित संस्करण--

मुद्रण-कला का आविष्कार हो जाने के पश्चात् सूर-काव्य के स्फुट संग्रहों के प्रकाशन की ओर लोगों का ध्यान गया। प्राचीन काव्यों के प्रतिलिपिकारों की मनोवृत्ति और प्रणाली के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि उन्होंने संपादकों के कार्य को सुगम न करके बहुत कठिन बना दिया था। दूसरी बात यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के संपादक तो वैज्ञानिक संपादन-पद्धति से परिचित थे ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक उनके दृष्टिकोण में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। फिर भी इन सबके प्रयत्न से इतना लाभ तो हुआ ही कि सूर-साहित्य किसी न किसी रूप में सर्वसाधारण के लिए ही नहीं, काव्य-प्रेमियों और आलोचकों के लिए भी सुलभ हो गया जिससे प्रामाणिक पाठ-संबंधी चर्चा प्रारंभ होने लगी और सूर-साहित्य की भाषा तथा कला की आलोचना भी संभव हो सकी।

मुद्रित सूर-साहित्य दो रूपों में प्राप्त है। एक तो सूर-काव्य के स्वतंत्र संग्रह के

---

92. Catalogus Catalogorum by Theodor Aufrecht, pages 731 & 761.

93. A Catalogue of Samskrit Mss. in the Library of the Deccan college, page 603.

रूप में और दूसरे, विभिन्न कवियों की रचनाओं के साथ पाठ्यग्रंथों के रूप में। पाठ्यग्रंथों के संपादकों ने प्रायः स्वतंत्र रूप से प्रकाशित संग्रहों में से कवियों की रचनाओं को ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया और उनके पाठ-शोधन का कोई प्रयत्न नहीं किया। अतएव वैज्ञानिक संपादन की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। स्वतंत्र रूप से प्रकाशित सूर-पद-संग्रह भी दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं प्रथम तो ऐसे संग्रह जो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किये गये हैं और जिनके संपादकों ने थोड़ा-बहुत पाठ-संशोधन-कार्य भी किया है। दूसरे, वे संग्रह जो प्रथम वर्ग के संपादकों के श्रम से लाभ उठाकर संकलित कर लिये गये हैं और जिनके संग्रहकारों ने पाठ-निर्णय या शोध की कोई आवश्यकता नहीं समझी है।

क. सूरसागर—

सूर-साहित्य के संपूर्ण संस्करणों के प्रकाशन का प्रबंध इन संकलनों से पहले ही आरंभ हो गया था और वास्तव में वही महत्व का भी है। सन् १८६४ में लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से 'सूरसागर' का एक संस्करण प्रकाशित हुआ[९४]। इसके प्रथम पृष्ठ पर यह वक्तव्य है—अयोध्यापुरी के महाराजा मानसिंह कायम जंग प्रतापी की अनुमति से मुंशी नवलकिशोर ने मुंशी जमुनाप्रसाद को संयुक्त करके पं० कालीचरण से अत्यंत शुद्ध करके छपवाया[९५]। इस संस्करण के आदि में 'सूर-सारावली' भी प्रकाशित है। इस संस्करण में दो भाग हैं—प्रथम में भिन्न-भिन्न रागों के अनुसार कीर्तन के पद हैं और द्वितीय में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के अंतर्गत तत्संबंधी पद हैं। इस संस्करण में स्कंधों के अनुसार पदों के न दिये जाने का प्रधान कारण संभवतः यह है कि इसका संकलन मुख्यतः प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'रागसागर' श्रीकृष्णानंद व्यास द्वारा संग्रहीत और बंगीय साहित्य-परिषद्, कलकत्ता की ओर से तीन बड़े भागों में प्रकाशित 'राग-कल्पद्रुम' नामक ग्रंथ में दिये हुए पदों में से किया गया है। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, 'राग-कल्पद्रुम' विभिन्न राग-रागिनियों के अनुसार संकलित बृहत् संग्रह है जिसमें सूरदास जी के कुछ ऐसे पद मिलते हैं जो अन्य हस्तलिखित प्रतियों में भी नहीं पाये जाते। इस दृष्टि से यह संस्करण अवश्य महत्व का है।

इसके पश्चात् भारतेंदु जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने 'सूरसागर' के पद-संकलन का कार्य आरंभ किया। परंतु उनके असामयिक देहावसान से यह महत्वपूर्ण कार्य प्रारंभ होते-होते ही समाप्त हो गया। पश्चात्, उनकी संकलित सामग्री का उपयोग

---

९४. नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९३४ में राजसंस्करण के रूप में प्रकाशित 'सूरसागर' के प्रथम खंड के आरंभ में सहायक ग्रंथों की एक सूची दी गयी है। इसमें चौदहवीं संख्यक प्रति सन् १८८९ में कलकत्ता और लखनऊ, दोनों स्थानों से प्रकाशित बतायी गयी है। मेरे पास लखनऊ की १८६४ की प्रकाशित प्रति है। जान पड़ता है, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के पास उसका दूसरा संस्करण रहा होगा—लेखक।

९५. 'सूरसागर', नवलकिशोर प्रेस, प्रथम संस्करण, आवरण का वक्तव्य।

उनके संबंधी बाबू राधाकृष्णदास ने किया और कई वर्ष के परिश्रम के उपरांत बंबई के वेंकटेश्वर प्रेस से 'सूरसागर' और 'सूरसारावली' का सम्मिलित संस्करण प्रकाशित कराया। बाबू राधाकृष्णदास के इस कार्य का सर्वत्र स्वागत हुआ और सूर की कला काव्यालोचना का प्रिय विषय बन गयी।

परंतु प्राचीन व्रजभाषा और सूर की काव्य-भाषा के अध्ययन में रुचि रखनेवाले विद्वानों को उक्त संस्करणों से पूर्ण संतोष न हो सका। इसमें संदेह नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के उस युग में जब वर्तमान साधनों का सर्वथा अभाव था, उक्त दोनों संस्करणों को तैयार करने में पर्याप्त श्रम और व्यय करना पड़ा होगा; परंतु एक तो उस समय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ सुलभ न होने और दूसरे, वैज्ञानिक संपादन-कला प्रणाली का ज्ञान न होने के कारण, वे संस्करण न तो व्रजभाषा-अध्ययन की दृष्टि से प्रामाणिक आधार माने जा सकते हैं और न पाठ की शुद्धता की दृष्टि से ही। बंबई के संस्करण की सामग्री के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि उसमें संगृहीत सभी पद प्रामाणिक रूप से अष्टछापी सूरदास-कृत नहीं कहे जा सकते[९६]। वास्तव में बाबू राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' की तीन ऐसी अपूर्ण प्रतियों को अपना आधार बनाया था जो कहने को तो तीन प्रतियाँ थीं, परंतु वास्तव में बारहों स्कंधों के 'सूरसागर' की एक पूर्ण प्रति ही होती थीं जैसा कि उन प्रतियों के विवरण[९७] से स्पष्ट है—

अ. पूज्यपाद श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के पुस्तकालय में पुस्तकों को उलटते-पलटते एक बस्ते में 'सूरसागर' का केवल दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध हाथ आया।

इ. इसी बीच बाँकीपुर जाने का संयोग हुआ और वहाँ मित्रवर बाबू रामदीनसिंह जी के यहाँ 'सूरसागर' का प्रथम से नवम स्कंध तक देखने में आया।

उ. दशम उत्तरार्द्ध और एकादश-द्वादश स्कंध श्री महाराज काशिराज बहादुर के पुस्तकालय से मँगाया गया।

प्रथम संस्करण के मुद्रित हो जाने के पश्चात् बाबू राधाकृष्णदास को काशी के जानीमल खानचंद्र की कोठी में एक संपूर्ण प्रति होने की सूचना मिली। कोठी के स्वामी श्री गिरिधरदास की कृपा से उक्त प्रति प्राप्त करके उसके आधार पर पाठ का मिलान करने के बाद प्रथम संस्करण के अंत में बहुत से नये पद और पदों के भाग दे दिये गये। सन् १९३४ में 'सूरसागर' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने पर वे सब उनमें सन्निवेशित कर दिये गये[९८]। आशय यह कि यह द्वितीय आवृत्ति पहली से बहुत उपयोगी बन गयी। इस आवृत्ति में एक प्रकार से प्राचीन पाठ सुरक्षित है और अन्य 'शोधित' पाठों की अपेक्षा भाषा-संबंधी अध्ययन के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

---

९६. **'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८०।**

९७. **'सूरसागर', वेंकटेश्वर प्रेस, द्वितीय संस्करण, निवेदन, पृ० १।**

९८. **'सूरसागर', वेंकटेश्वर प्रेस, द्वितीय संस्करण, 'निवेदन', पृ० १।**

सूर-काव्य के उक्त दोनों संस्करणों[९९] के आधार पर 'सूरसागर' के दो संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित किये गये। एक का संपादन प्रयाग विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग के तत्कालीन प्रोफेसर डा० बेनीप्रसाद ने सन् १९२२ में किया जिसके दूसरे संस्करण का संशोधन डा० धीरेन्द्र वर्मा ने १९२६ में और तीसरे का डा० रामकुमार वर्मा ने १९३३ में किया था। दूसरा संक्षिप्त संस्करण श्री वियोगी हरि जी के संपादकत्व में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित किया गया। इन दोनों में सूरदास जी के चुने हुए सुन्दर पद संकलित हैं जिनसे कवि की काव्य-कला के अध्ययन में और विविध विषयों के छोटे-छोटे संग्रहों के प्रकाशन में सहायता मिलती रही है; परन्तु प्राचीन व्रजभाषा-रूप और सामान्य संपादन-सिद्धांत निश्चित न होने के कारण दोनों के पाठों में बहुत अंतर हैं। 'सूरसागर' की हस्तलिखित प्रतियों से पाठ का मिलान करने के साधन बंबई और लखनऊ के संस्करणों के प्रकाशन-काल में तो सुलभ नहीं थे, परन्तु इन संक्षप्ति संस्करणों के संपादकों ने भी, संभवतः समयाभाव के कारण, प्राप्त और उपलब्ध सामग्री से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जिससे प्रामाणिक पाठ और भाषा के सर्वसम्मत रूप की समस्या पूर्ववत् बनी रही।

'बिहारी-सतसई' का श्री जगन्नाथदास 'रत्नकार' द्वारा संपादित संस्करण जब प्रकाश में आया तब सभी विद्वानों ने मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की। संभवतः इसी से प्रोत्साहित होकर 'रत्नकार' जी ने 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण का अभाव दूर करने का निश्चय किया था। 'बिहारी-रत्नाकर' के संपादन का प्रयास तो बहुत-कुछ व्यक्तिगत रूप में किया गया था, परन्तु 'सूरसागर' के कार्य में श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने नागरी-प्रचारिणी सभा का सहयोग स्वीकार कर लिया और स्वयं भी 'सूरसागर' की लगभग एक दरजन हस्तलिखित प्रतियों[१] का संग्रह करने में बहुत धन व्यय किया। कई वर्षों के परिश्रम से सूरदास के समस्त पदों की अकारक्रम से सूची बनाकर विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों से उनका पाठ मिलाते हुए 'सूरसागर' के तीन चौथाई अंश का संपादन उन्होंने कर लिया। नागरी-प्रचाणिणी सभा से प्रकाशित 'सूरसागर' के निवेदन के अनुसार, 'पाठ-शुद्धि के अन्तर्गत छंदों का संशोधन, चरणों का क्रम-निरूपण तथा

---

९९. लखनऊ और बंबई से प्रकाशित संस्करण के अतिरिक्त पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'पोद्दार-अभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित अपने '"सूरसागर' का विकास और उसका रूप" शीर्षक लेख (पृ० १२९-३०) में आगरा, कलकत्ता, काशी, जयपुर और मथुरा से प्रकाशित 'सूरसागर' की कुछ प्रतियों का उल्लेख किया है। उनमें अधिकांश लीथो की छपी हैं। दिल्ली और मथुरा की प्रतियों का प्रकाशन वर्ष उन्होंने सन् १८६० दिया है। इस प्रकार वे लखनऊ की प्रति से भी पहले की छपी बतायी गयी हैं—लेखक।

१. जिन प्रतियों का उपयोग इस संस्करण के तैयार करने में किया गया था, वे सब अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ही थीं, सत्रहवीं शताब्दी या उससे पहले की नहीं—'व्रजभारती', वर्ष ९, अक १, पृ० ८।

पद-प्रयोगों की निश्चित पद्धति का अनुसरण आदि संपादन-सम्बन्धी आवश्यक अंग पूरे हो गये थे, परन्तु अभी शेष चतुर्थांश का संकलन करने के अतिरिक्त अनेक पाठों में से सबसे सुन्दर और उपयुक्त पाठ चुनकर रखना तथा संपूर्ण संपादित अंश को अंतिम रूप देना बाकी रह गया था कि कराल काल ने उन्हें कवलित कर लिया[२]। सभा को जब यह सारी सामग्री प्राप्त हो गयी तब उसने इसके प्रकाशन का निश्चय किया और इसे समाप्त करने का भार मुंशी अजमेरी जी को सौंपा। कुछ समय पश्चात्, उनके कार्य से विरत हो जाने पर सर्वश्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामचंद्र शुक्ल, केशवराम मिश्र, सभा के प्रकाशन मंत्री और नन्ददुलारे वाजपेयी की एक समिति बनायी गयी जिसके तत्वावधान में वाजपेयी जी ने लगभग चार वर्षों में उक्त कार्य को पूरा किया। ऐसे परिश्रम से संपादित ग्रंथ-रत्न को नागरी-प्रचारिणी सभा बड़े उत्साह से राज-संस्करण के रूप में सुन्दर और आकर्षक ढंग से प्रकाशित करना चाहती थी; परन्तु आठ खंड छपने के पश्चात् अनेक कारणों में यह योजना स्थगित कर देनी पड़ी और सीधे-सादे ढंग से दो बड़े भागों में संपूर्ण 'सूरसागर' प्रकाशित कर दिया गया। अब तक प्रकाशित इस ग्रंथ के सभी संस्करणों में संपादन की वैज्ञानिक रीति का निर्वाह बहुत अंश में सभा द्वारा प्रकाशित इसी संस्करण में किया गया है, यद्यपि शब्द-रूप-सम्बन्धी जिस निश्चित नीति के आधार पर यह कार्य संपन्न हुआ है, उससे सभी विद्वान पूर्णतः सहमत नहीं हैं।

'रत्नाकर' जी के अतिरिक्त दो-एक अन्य विद्वान भी 'सूरसागर' के संपादन में लगे थे जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं मथुरा के श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी। सूर-काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करने के लिए उन्होंने दूर-दूर के स्थानों की कई यात्राएँ की थीं और उन्हें 'सूरसागर' की कुछ प्राचीन प्रतियाँ मिली भी थीं जिनमें एक कदाचित् सत्रहवीं शताब्दी की भी है। चतुर्वेदी जी ने कार्य तो बहुत ठीक ढंग से आरम्भ किया था, परन्तु बाद में, संभवतः व्यक्तिगत कठिनाइयों और सामूहिक सहयोग के अभाव के कारण, वह असमाप्त रह गया, यद्यपि अब भी वे इसको समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

ख. सूर-सारावली—

यह ग्रंथ लखनऊ और बम्बई के 'सूरसागरों के आरंभ में प्रकाशित है। लखनऊ के संस्करण में तो कोई भूमिका है नहीं, बंबई की प्रति में भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि बाबू राधाकृष्णदास ने किन किन प्राचीन प्रतियों के आधार पर उसका संपादन किया था। शोध-कार्य के विवरणों की जो सूची पीछे दी गयी है, उनमें से किसी में भी 'सूर-सारावली' की कोई प्राचीन प्रति मिलने का उल्लेख नहीं है। इधर 'सूरसागर' के साथ-साथ भी 'सारावली' का स्वतंत्र रूप से संपादन किसी आधुनिक विद्वान ने संभवतः अभी तक नहीं किया है[३]।

---

२. 'सूरसागर' (राजसंकरण), नागरी-प्रचारिणी सभा, 'वक्तव्य', पृ० १।

३. प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने लखनऊ और बंबई के 'सूरसागरों' के आरम्भ में प्रकाशित 'सूरसारावलियों' के आधार पर इसे स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करा दिया है।

ग .साहित्यलहरी—

इस ग्रंथ का 'साहित्यलहरी' नाम से सर्वप्रथम संकलन-संपादन भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने किया था। उनके स्वर्गवास के सात-आठ वर्ष पश्चात् सन् १८९२ में उसका प्रकाशन बाँकीपुर (पटना) के बाबू रामदीनसिंह ने किया। इस संस्करण के अंत में सूरदास जी का लंबा जीवनचरित दिया हुआ है ; परंतु उसमें यह उल्लेख नहीं है कि उन्होंने किस प्राचीन प्रति के आधार पर उक्त ग्रंथ का संपादन किया था। उनके संस्करण के मुखपृष्ठ पर लिखा हुआ 'संगृहीत' शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियों से ही उन्होंने इसके पद संकलित किये होंगे। परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कारण, भारतेंदु जी के एक प्रकार से समकालीन सरदार कवि (कविता-काल सन् १८४५ से १८८३) की 'सूर के दृष्टकूटों की टीका' उनके सामने अवश्य रही होगी और उसका उन्होंने पूरा-पूरा उपयोग भी किया होगा। 'साहित्यलहरी' के उक्त संस्करण में ११८ पदों की टीका समाप्त करने के पश्चात् लिखा है—'इति श्री कूट पद सूरदास टीका संयुक्त संपूर्णम्'[४]। इसके पश्चात् ४९ पदों की टीका 'उपसंहार अक्षर क' के अंतर्गत है जिसके आरंभ में यह वक्तव्य है—'इस टीका के सिवाय और भी कुछ भंजनों का अर्थ सरदार कवि ने लिखा है, वह मूल अर्थ समेत नीचे प्रकाशित किया जाता है'[५]। इसके अनंतर 'उपसंहार अक्षर ख' के अंतर्गत ४ पद और दिये हुए हैं और इनके आरंभ में 'बाबू चंडीप्रसादसिंह संगृहीत'[६] लिखा हुआ है जिससे स्पष्ट है कि ये ४ पद सरदार कवि की प्रति में नहीं होंगे। 'साहित्यलहरी' का जो नया संस्करण पुस्तक भंडार, लहरियासराय से प्रकाशित हुआ, उसमें खड्गविलास प्रेस के ही पद हैं। इसके टीकाकार श्री महादेवप्रसाद ने एक 'व्रजभाषा टीका' के प्रकाशित होने की बात लिखी है[७] ; परन्तु उसका विशेष विवरण नहीं दिया है। अनुमान होता है कि उनका आशय सरदार कवि की टीका से ही रहा होगा।

अब प्रश्न यह है कि 'मुनि पुनि रसन के रस लेष' से आरम्भ होनेवाले पद की अंतिम पंक्ति 'नंदनंदनदास हित साहित्यलहरी कीन'[८] के आधार पर जब प्रायः सभी

---

४. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चंद्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० ११७।

५. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चंद्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० ११८।

६. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चंद्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पृ० १६१।

७. 'साहित्यलहरी', (पुस्तक-भंडार) प्रथम संस्करण, सन् १८३९, 'वक्तव्य', पृ० ९।

८. 'साहित्यलहरी सटीक' (भारतेंदु हरिश्चंद्र संगृहीत), प्रथम संस्करण, सन् १८९२, पद १०९, पृ० १०१-१०२।

विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि सूरदास के समय में ही 'साहित्यलहरी' के पदों का संकलन हो गया था, तब उसकी कोई प्राचीन संपूर्ण प्रति क्यों नहीं मिलती ? पीछे 'सूरदास जी के दृष्टकूट', 'सूर-शतक सटीक' अथवा 'गूढ़ार्थ पदावली' नाम से सूरदास-कृत कूटपदों के जो संग्रह मिलते हैं, क्या उनको ही कवि द्वारा संगृहीत 'साहित्यलहरी' का मूल रूप माना जाय ? इन प्रश्नों का निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता और अनुमान यही होता है कि साहित्यलहरी' जिस रूप में आज उपलब्ध है वह कवि सूर द्वारा संकलित नहीं हो सकती; अधिक से अधिक उन्होंने केवल ११८ पदों का संकलन किया या कराया होगा जो प्राचीन 'शतकों' में मिलते हैं।

सूरदास के प्रामाणिक ग्रंथ—

सूरदास के नाम से प्राप्त प्रकाशित-अप्रकाशित जिन ग्रंथों की चर्चा पीछे की गयी है अथवा जिनका नामोल्लेख भर किया गया है, वे अकारक्रम से इस प्रकार हैं —

क्रम संख्या	काव्य का नाम	प्रकाशित-अप्रकाशित
१	एकादशी माहात्म्य	अप्रकाशित
२	कबीर (सूर-कृत)	अप्रकाशित
३	गोवर्द्धन-लीला	अप्रकाशित
४	दशमस्कंध-भाषा	अप्रकाशित
५	दान-लीला	अप्रकाशित
६	नल-दमयंती	अप्रकाशित
७	नाग-लीला	अप्रकाशित
८	पद-संग्रह या पदावली (सूर-कृत)	अप्रकाशित
९	प्राण-प्यारी	अप्रकाशित
१०	भँवरगीत	प्रकाशित
११	भागवतभाषा	अप्रकाशित
१२	मान-लीला या मानसागर	अप्रकाशित
१३	राधा-रस-केलि-कौतुहल	प्रकाशित
१४	राम-जन्म	अप्रकाशित
१५	ब्याहलो्	अप्रकाशित
१६	साहित्यलहरी	प्रकाशित
१७	सूर-पचीसी	प्रकाशित
१८	सूर-रामायण	प्रकाशित
१९	सूर-साठी	प्रकाशित
२०	सूर-सारावली	प्रकाशित
२१	सूर-शतक	अप्रकाशित
२२	सूर-सागर	प्रकाशित

२३	सूर-सागर-सार	अप्रकाशित
२४	सेवाफल	अप्रकाशित
२५	हरिवंश-टीका	अप्रकाशित

इनमें से 'गोवर्द्धन-लीला', 'दशमस्कंध भाषा', 'दान-लीला', 'नाग-लीला', 'पद-संग्रह' या 'पदावली', 'भँवरगीत', 'भागवत-भाषा', 'मान-लीला' या 'मानसागर' अथवा 'राधा-रस-केलि-कौतूहल[९]', 'ब्याहलो', 'सूर-पचीसी', 'सूर-रामायण', 'सूर-साठी', 'सूर-शतक', 'सूर-सागर-सार', और 'सेवाफल' नामक ग्रंथ 'सूर-सागर' अथवा 'साहित्य-लहरी' से संकलित उनके अंश मात्र हैं। 'एकादशी-माहात्म्य', 'नल-दमयंती', 'राम-जन्म', और 'हरिवंश-टीका' सूर की अप्रामाणिक रचनाएँ हैं[१०]। 'प्राण-प्यारी' उनकी संदिग्ध-रचना मानी जाती है[११]। 'सूरसागर' तो उनकी सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है, परन्तु 'साहित्यलहरी' और 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मिश्रबन्धु[१२], पं० रामचंद्र शुक्ल[१३], डा० दीनदयाल गुप्त[१४], और पं० नंददुलारे वाजपेयी[१५] तथा कुछ अन्य विद्वान[१६] 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' को सूरदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं, परन्तु डा० व्रजेश्वर वर्मा इनसे सहमत नहीं हैं[१७]।

सूर-कृत ग्रंथों के प्रामाणिक-संस्करणों की आवश्यकता अब भी है—

'सूरसागर', 'साहित्यलहरी' और 'सूर-सारावली' के प्रकाशित संस्करणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'सूरसागर' के संपादन में 'रत्नाकर' जी ने विशेष परिश्रम किया था; फिर भी उसके पाठ और तत्संबंधी सिद्धांतों से सभी विद्वान सहमत नहीं हैं। इधर 'सूरसागर' की अनेक पूर्ण-अपूर्ण प्रतियों का और भी पता लगा है जिनका विवरण पीछे दिया गया है। इस सबके आधार पर व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं, व्रजभाषा-विशेषज्ञों की समिति द्वारा जब 'सूरसागर' का संपादन किया जायगा, तभी उससे सबको संतोष हो सकेगा। इस कार्य के संपादन में तीन प्रकार की—प्रामाणिक ग्रंथ-निर्णय, पाठ-निर्णय

---

९. डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'मानलीला', 'मानसागर' और 'राधा-रस-केलि-कौतूहल'—एक ही ग्रंथ के तीन नाम हैं—'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २८३।

१०. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

११. 'अष्टछाप और 'वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम भाग, पृ० २९८।

१२. 'हिंदी-नवरत्न', चतुर्थ संस्करण, पृ० २३२।

१३. 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० १९४-९५।

१४. 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय', प्रथम-भाग, पृ० २७८ और २९८।

१५. 'महाकवि सूरदास', पृ० ६१-६२।

१६. (क). श्री पारीख और मीतल, 'सूर-निर्णय', पृ० १४३ और १५२।
(ख) डा० बेनीप्रसाद, 'संक्षिप्त सूरसागर', 'भूमिका', पृ० ९।

१७. 'सूरदास', द्वितीय संस्करण, पृ० ५०।

और क्रम-निर्णय की—कठिनाइयाँ हैं। इनमें से द्वितीय के अंतर्गत पद-संख्या-निर्णय की और तृतीय के अंतर्गत 'सूरसागर' के संग्रहात्मक अथवा द्वादश स्कंधात्मक रूप-निर्णय की समस्याएँ भी आ जाती हैं। प्रामाणिक ग्रंथ-निर्णय में 'सारावली' की प्रामाणिकता का प्रश्न कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण है। इस संबंध में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के विचार स्वतंत्र रूप से प्रकाशित 'सारावली' की भूमिका में देखे जा सकते हैं। पद-संख्या-समस्या के संबंध में यहाँ केवल इतना संकेत करना पर्याप्त जान पड़ता है कि सूरदास ने सहस्रावधि या लक्षाधिक पदों की रचना की, ऐसा कभी-कभी कहा गया है। वस्तुत: इस उल्लेख से सूर के पदों की निश्चित संख्या नहीं समझनी चाहिए; प्रत्युत ये शब्द हजारों या लाखों अथवा 'हजार या लाख से अधिक' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

'सूरसागर' के क्रम-निर्णय का प्रसंग उठाने के पूर्व उसके संपादकों को यह निश्चित करना है कि उसका संग्रहात्मक रूप प्रामाणिक है अथवा स्कंधात्मक।

नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' संग्रहात्मक है जो नित्य-कीर्तन, बधाई, बाल-लीला, (माटी भक्षण), माखन-चोरी, दामोदर लीला, अघासुर-बध, बत्स-हरण-लीला, राधा-कृष्ण प्रथम मिलन, गोबर्धन लीला, गोचारण-लीला, काली-दमन लीला, दावानल-पान लीला, गोदोहन लीला, स्याम भुवंग-डसन लीला, वस्त्रहरण लीला पनघट-लीला, दान-लीला, अनुराग लीला, मुरली के पद, रासलीला, विनय के पद, मथुरा-गमन-लीला और भ्रमरगीत संबंधी पद आदि मुख्य शीर्षकों में विभाजित है और इनमें से कुछ के पुन: उपशीर्षक दिये गये हैं। इस संस्करण का संपादन अयोध्या के महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की देखरेख में पं० कालीचरण ने किया था। इस संस्करण के संग्रहात्मक होने का मुख्य कारण है श्री कृष्णानंद व्यास के 'रागकल्पद्रुम' को आधार-रूप में स्वीकार किया जाना। बंबई और काशी से प्रकाशित 'सूरसागर' स्कंधात्मक हैं। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ दोनों रूपों की मिलती हैं।

उक्त विवादग्रस्त विषय के संबंध में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का मत है कि 'सूरसागर' अपने मूल रूप में 'संग्रहात्मक' रहा होगा और श्रीकृष्ण-लीला के प्रसंगों को लेकर रचे गये पद एक साथ ही संगृहीत रहे होंगे। यह क्रम वल्लभसंप्रदाय में कवि के प्रवेश के बाद पचीस-तीस वर्षों तक चलता रहा होगा। पश्चात्, सूरदास द्वारा रचित पदों को श्रीमद्भागवत के क्रम से व्यवस्थित करके, छूटे हुए प्रसंगों को उसमें सम्मिलित करने का सुझाव सूरदास के सामने उपस्थित किया होगा। यह सुझाव सभी दृष्टियों से उपयुक्त था और कवि की काव्य-प्रतिभा से परिचित सभी व्यक्तियों ने मुक्तकंठ से उसका समर्थ ही नहीं किया, उसकी उपयुक्तता की प्रसंसा भी की। भक्त कवि सूरदास का तो इसमें दोहरा लाभ था—इष्टदेव के लीला-गान के साथ-साथ संप्रदाय में मान्य धर्मग्रंथ की कथाओं की भाषा में रचना का पुण्य भी प्राप्त करना। फलतः उन्होंने सहर्ष ही उक्त सुझाव के अनुसार पद-रचना आरंभ कर दी। इस प्रकार 'सूरसागर' का मूल रूप संग्रहात्मक था और उस रूप में सूरदास के इष्टदेव की लीला के चुने हुए प्रसंगों पर लिखे पद ही थे; यह संग्रहात्मक रूप कवि के रचना-काल के पूर्वार्द्ध की कृति थी।

इस पूर्वार्द्ध काल के अंत तक सूर-काव्य की जितनी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं वे सब, और कालांतर में उन प्रतियों से पुन: लिखी गयीं सभी प्रतिलिपियाँ संग्रहात्मक हैं।

कवि के जीवन के अंतिम चतुर्थांश में 'सूरसागर' के संग्रहात्मक रूप को श्रीमद्-भागवत के क्रमानुसार रूप दिया गया। यह कार्य सूरदास के मित्रों या शिष्यों द्वारा संपन्न हुआ; कवि का योग इसमें इतना ही था कि छूटे हुए प्रमुख प्रसंगों का वर्णन उसने चलताऊ ढंग से करके क्रम का निर्वाह भर कर दिया। सूर-काव्य का यह अंश बहुत साधारण है और उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है कि कवि ने सरुचि नहीं, केवल कहने को वह अंश रचा था। 'सूरसागर' का यह रूप स्कंधात्मक था और इसकी प्रतियाँ उसी रूप में आज प्राप्त हैं।

एक शंका यहाँ यह उठायी जा सकती है कि 'सूरसागर' का संग्रहात्मक से स्कंधात्मक रूप परिवर्तन एक महत्वपूर्ण घटना थी; तब समकालीन साहित्य या वार्ताओं में उसकी चर्चा क्यों नहीं की गयी है? इसका समाधान करना कठिन नहीं है। वल्लभाचार्य, उनके पुत्र अथवा संप्रदाय के जिन अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की सूरदास के काव्य में रुचि थी, वे नित्य कीर्तन, वर्षोत्सव और लीला-गान-संबंधी स्फुट संकलनों में प्राप्त उनके चुने हुए पदों से संतुष्ट रहते होंगे, 'सूरसागर' के स्वरूप का प्रश्न सूरदास के अंतरंग मित्रों और शिष्यों के बीच प्रसंगवश उठा होगा जिसे सूरदास ने मान तो लिया, परंतु विशेष महत्व नहीं दिया, अन्यथा वह रचना इतनी साधारण न होती। यही कारण है कि समकालीन साहित्य में तद्विषयक कोई उल्लेख नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि वस्तुत: समकालीन साहित्य में सूरदास की प्रामाणिक जीवनी देने का कहीं प्रयत्न नहीं किया गया है, अन्यथा उनकी 'अंधता' आज एक विवादग्रस्त बात न होती। तीसरे, समस्त सूर-साहित्य गेय काव्य के रूप में प्रस्तुत और ग्रहण किया गया था, पारायण-काव्य के रूप में नहीं जिससे उसके क्रम या स्वरूप को विशेष महत्व दिया जाता। वार्ताओं में भी तत्संबंधी उल्लेख न मिलने का कारण यही है कि उनमें भक्तों की गुण-चर्चा, भक्ति-महिमा आदि की गाथा है, व्यक्तिगत प्रसंगों का संकलन नहीं।

'साहित्यलहरी' के जो दो संस्करण बाँकीपुर और लहरियासराय से प्रकाशित हुए थे, उनमें प्रथम तो अप्राप्य है और दूसरे में पदों का संकलन मात्र है, उनके संपादन का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। अब 'सूरसागर' का एक प्रकार से संपूर्ण संस्करण प्रकाश में आ गया है; अतएव आवश्यकता है कि सभी कूट पदों का उसमें से संग्रह करके, विषयक्रमानुसार उनका वर्गीकरण करने के पश्चात् यह ग्रंथ संपूर्ण कर दिया जाय। इससे तो प्राय: सभी विद्वान सहमत हैं कि 'साहित्यलहरी' दृष्टकूट पदों का सकलन है। अतएव सूरदास के सभी कूट-पद एक स्थान पर संकलित कर देने की योजना किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं कही जा सकती, विशेषकर उस स्थिति में जबकि कवि द्वारा संगृहीत इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति आज उपलब्ध नहीं है।

'सूरसारावली' लखनऊ और बंबई से प्रकाशित 'सूरसागरों' के आरंभ में छपी हुई

है, स्वतंत्र रूप से, जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक को ज्ञात है, इस ग्रंथ का कोई संस्करण प्रकाश में नहीं आया है। इस कार्य की वास्तविक संपन्नता प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की प्राप्ति पर ही निर्भर है। 'साहित्यलहरी' के पद तो 'सूरसागर' की विभिन्न प्रतियों और सूरदास के स्फुट पद-संग्रहों में मिल भी जाते हैं, परंतु 'सारावली' की कोई प्राचीन प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है जिसके कारण ही उसे सूर-कृत मानने में कुछ विद्वानों को आपत्ति है। इन पंक्तियों के लेखक को, इस ग्रंथ की प्राचीन प्रति न मिलने के कारण, अभी निराश होने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। एक तो अभी खोजकार्य ही अल्प हुआ है और दूसरे, 'सारावली' की जो प्रतियाँ दोनों 'सूरसागरों' के साथ मुद्रित हैं, किसी प्राचीन प्रति के आधार पर ही संकलित हुई होगी जो आज उपलब्ध नहीं है।

सूर-साहित्य-संबंधी कई आलोचनात्मक प्रबंध इधर प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे उस महाकवि के काव्य में विद्वानों की बढ़ती हुई रुचि का पता चलता है। फिर भी, इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में, सूर-साहित्य और सूर की काव्य-कला का समुचित अध्ययन अभी नहीं हो सका है। प्रामाणिक संस्करण का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण है। हिंदी के प्राचीन साहित्य के अनुसंधान-प्रेमी अध्येता इस पुनीत कार्य में स्वांतः सुखाय संलग्न होंगे तभी सूर-काव्य का प्रामाणिक संस्करण प्रकाश में आ सकेगा और तभी उसका सम्यक मूल्यांकन संभव हो सकेगा।

नामानुक्रमणिका

(क) लेखक

(ख) ग्रंथ

(ग) अभिनंदन-ग्रंथ, कोश, खोज-विवरण, ग्रंथ-सूची और पत्र-पत्रिकाएँ।

समाप्त